वीर-सेवा-मन्दिर ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १८

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोश)

द्वितीय भाग ([illegible])

सम्पादक
बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन

प्रकाशक
वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज
दिल्ली-६

मूल्य
रु. २५.००

वी. नि. संवत् २४९९
विक्रम संवत् २०३०
सन् १९७३

मुद्रक
रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस
२३, दरियागंज, दिल्ली-६
कम्पोजिंग गीता प्रिंटिंग एजेंसी

Vir Sewa Mandir Series Text No. 15

JAIN LAKṢAṆĀVALI

(An authentic discriptive dictionary of Jaina philosophical terms)

Vol. II
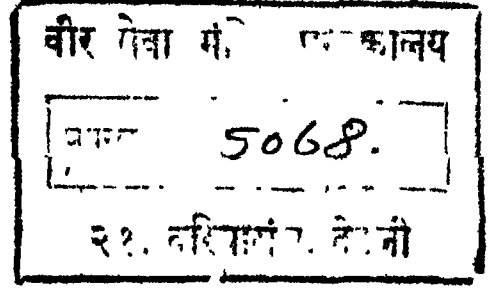
EDITED BY
BALCHANDRA SIDDHĀNTASHĀSTRI

VIR SEWA MANDIR
21, Daryaganj, Delhi

Vir Samvat 2499
V. Samvat 2030
A.D. 1973

Rs. 25-00

प्रकाशकीय

प्राचीन भारतीय विद्याओं के व्यापक सन्दर्भ में जैन वाङ्मय, इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के अध्ययन-अनुशीलन और प्रकाशन के जिस उद्देश्य से 'वीर-सेवा-मन्दिर' की स्थापना की गयी थी, उस दिशा में 'जैन लक्षणावली' का प्रकाशन एक विशेष कदम है। इसका प्रथम भाग (अ-औ) दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था और उसका देश-विदेश में सर्वत्र स्वागत व सराहना हुई। अब द्वितीय भाग पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हार्दिक संतोष का अनुभव हो रहा है।

'वीर-सेवा-मन्दिर' और उसकी शोध-प्रवृत्तियां :

'वीर-सेवा-मन्दिर' की स्थापना स्व. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने अपने जन्म-स्थान सरसावा, जिला सहारनपुर (उ. प्र.) में अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया), विक्रम संवत् १९९३, दिनांक २४ अप्रैल सन् १९३६ में की थी। इस संस्था के माध्यम से स्व. मुख्तार साहब ने तथा संस्था से सम्बद्ध अन्य विद्वानों ने जैन वाङ्मय के अनेक दुर्लभ, अपरिचित और अप्रकाशित ग्रन्थों की खोज की तथा प्राचीन पाण्डुलिपियों के सम्यक् परीक्षण पर्यालोचन और सम्पादन की नींव डाली। संस्था ने जो ग्रन्थ प्रकाशित किये उनकी विस्तृत शोधपूर्ण प्रस्तावनायें न केवल उन ग्रन्थों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, प्रत्युत जैन आचार्यों और उनकी कृतियों पर भी विशद प्रकाश डालती हैं।

आचार्य समन्तभद्र पर मुख्तार साहब की अगाध श्रद्धा थी। आचार्य समन्तभद्र भारतीय दार्शनिक जगत में अद्वितीय माने जाते हैं और उनके ग्रन्थ जैन दर्शन के आधार-ग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मुख्तार साहब ने आचार्य समन्तभद्र के जीवन पर सर्वप्रथम विस्तार के साथ प्रकाश डाला। उनके ग्रन्थों का सम्पादन किया। उनका विद्वत्तापूर्ण विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया। दिल्ली में उन्होंने सन् १९२९ में समन्तभद्राश्रम की स्थापना की थी और 'अनेकान्त' नामक शोधपूर्ण मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। बाद में यही संस्था 'वीर-सेवा-मन्दिर' के रूप में प्रतिष्ठित हुई और 'अनेकान्त' उसका मुख-पत्र बना।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार :

आचार्य जुगलकिशोर का सम्पूर्ण जीवन साहित्य और समाज के लिए समर्पित रहा। उनका जन्म मगसिर सुदी एकादशी, वि. सं. १९३४ में, सरसावा में हुआ था। कुछ समय तक उन्होंने मुख्तार का कार्य कुशलता के साथ किया। वह जैन समाज के पुनर्जागरण का युग था। मुख्तार साहब एक क्रान्तिकारी समाज सुधारक के रूप में आगे आये। उन्होंने सामाजिक क्रान्ति की दिशा को सुदृढ़ शास्त्रीय आधार दिये। उनके द्वारा रचित 'मेरी भावना' के कारण वे जन-मानस में पैठ गये।

मुख्तार साहब अपने अनवरत स्वाध्याय, सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पकड़ और प्रतिभा-सम्पन्नता के कारण बहुश्रुत विद्वान् बने। ऐतिहासिक अनुसन्धान, आचार्यों का समय-निर्णय, प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्यक् परीक्षण तथा विश्लेषण करने की उनकी अद्भुत क्षमता थी। उनके प्रमाण अकाट्य होते थे। उनकी यह साहित्य-सेवा अर्ध शताब्दी से भी अधिक के दीर्घकाल में व्याप्त है। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे अध्ययन

और अनुसन्धान के कार्य में लगे रहे। 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित उनका अन्तिम ग्रन्थ 'योगसार-प्राभृत' उनकी विद्वत्ता का उन्नत सुमेरु है। 'वीर-सेवा-मन्दिर' उनका मूर्तिमान् कीर्तिस्तंभ है।

बाबू छोटेलाल सरावगी :

'वीर-सेवा-मन्दिर' को सुदृढ़ आधार देने और सुप्रतिष्ठित करने में कलकत्ता निवासी स्व. बाबू छोटेलाल सरावगी का विशेष योगदान रहा है। वह मुख्तार साहब के प्रति गहरी आत्मीयता रखते थे। 'वीर-सेवा-मन्दिर' को सरसावा से दिल्ली लाने तथा यहां विशाल भवन निर्माण कराने में उनका अनन्य हाथ रहा। वे प्रारम्भ से ही आजीवन संस्था के अध्यक्ष रहे तथा तन-मन-धन से इसके विकास के लिए प्रयत्नशील रहे। वास्तव में वे 'वीर सेवा मन्दिर' के प्राण थे।

छोटेलाल जी सत्प्रवृत्तियों के धनी, अध्ययनशील तथा उदारचेता व्यक्ति थे। जैन साहित्य और संस्कृति के विकास के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। जैन-दर्शन, इतिहास, कला और पुरातत्व के अनुसन्धान कार्य में उनकी बड़ी रुचि थी। इन विषयों के अनुसन्धान के लिए वे कल्पवृक्ष थे। रायल एशियाटिक सोसाइटी के वे एक सम्मानित सदस्य थे। डा. एम. विन्टरनित्ज ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' भाग २ में छोटेलाल जी का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है। यदि छोटेलाल जी का सहयोग प्राप्त न हुआ होता तो संभवतया डा. विन्टरनित्ज अपने इतिहास-ग्रन्थ में जैन साहित्य का इतना विशाल और गंभीर सर्वेक्षण प्रस्तुत न कर पाते। छोटेलाल जी का विद्वत्समाज से अत्यन्त निकट का संबंध था। जैन ही नहीं, इतिहास और पुरातत्व के क्षेत्र में कार्य करने वाले भारतीय तथा विदेशी विद्वानों से उनकी बड़ी मित्रता थी। खंडगिरि और उदयगिरि उन्हीं की पुरातात्त्विक खोज के परिणाम-स्वरूप प्रकाश में आये। 'जैन बिबलियोग्राफी' उनका अमर कीर्तिस्तम्भ है।

पुरातत्व एवं इतिहास के प्रेमी होने के साथ-साथ छोटेलाल जी एक सफल समाजसेवी एवं नेता भी थे। वे समाज की विभिन्न संस्थाओं तथा गतिविधियों में बराबर सक्रिय सहयोग देते रहे।

'वीर सेवा मन्दिर' के उक्त दोनों ही आधार-स्तंभ अब नहीं रहे, फिर भी उनके कृतित्व के रूप में उनकी कीर्ति अमर है। अनुसन्धान के क्षेत्र मे उनका स्मरण सदा गौरव के साथ किया जाता रहेगा।

आभार :

वीर सेवामन्दिर के साथ साहू शान्तिप्रसाद जी का नाम अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। वह न केवल अनेक वर्षों से उसके अध्यक्ष है, अपितु उसकी अभिवृद्धि में सक्रिय योगदान देते रहते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे उनकी प्रारम्भ से ही गहरी दिलचस्पी रही है। इस अवसर पर हम उनका विशेष रूप से आभार मानते है।

"जैन लक्षणावली" या पारिभाषिक शब्द-कोश :

'जैन लक्षणावली' के प्रकाशन की कल्पना मुख्तार साहब ने सन् १६३२ में की थी। जैन वाङ्मय मे अनेक शब्दों का कुछ विशेष अर्थों में प्रयोग किया गया है। यह अर्थ उनके प्रचलित अर्थ से भिन्न है। अतएव जैन वाङ्मय के सामान्य अध्येता के लिए सहज रूप में उनको समझ पाना कठिन है। मुख्तार साहब की कल्पना थी कि दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन साहित्य के सभी प्रमुख ग्रन्थों से इस प्रकार के शब्द उनकी परिभाषाओं के साथ संकलित करके, हिन्दी अनुवाद के साथ, पारिभाषिक कोश तैयार किया जाय। इस कल्पना के अनुसार लगभग चार सौ ग्रन्थों से शब्द और उनकी परिभाषायें संकलित की गईं। इस प्रकार के कार्य प्रायः नीरस लगने वाले तथा श्रम और समय साध्य होते हैं।

पूरी 'लक्षणावली' का प्रकाशन तीन भागों में होगा। हर्ष है कि तीसरे भाग का भी मुद्रण आरम्भ हो गया है। आशा है, इस महायज्ञ की पूर्णाहुति शीघ्र सम्भव होगी।

—महासचिव

सम्पादकीय

लक्षणावली प्रथम भाग के प्रकाशित होने के लगभग दो वर्ष बाद उसका यह द्वितीय भाग भी पाठकों के कर-कमलो में पहुंच रहा है। जैसा कि प्रथम भाग के सम्पादकीय में निर्देश किया जा चुका है, वे ही कठिनाइयां इस भाग के सम्पादन-कार्य में भी रही है व उनके दूर करने मे समय की अपेक्षा भी रही है। इस भाग मे मैं पूरे 'प' को समाविष्ट करना चाहता था, पर इसके प्रकाशन मे अब अधिक विलम्ब करना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त अन्तिम तीसरे भाग की जिल्द के प्रमाण की भी कल्पना करते हुए इस भाग में स्वरान्त 'प' का ही समावेश किया गया है। अगले भाग का प्रारम्भ संयुक्त 'प (प्र)' से होगा।

प्रथम भाग की प्रस्तावना में प्रस्तुत लक्षणावली में उपयुक्त ग्रन्थों में से १०२ ग्रन्थों का परिचय कराकर शेष ग्रन्थों का इस भाग में परिचय कराने की सूचना की गई थी। परन्तु सम्पादन क्षेत्र में विशेष ख्यातिप्राप्त श्रीमान् डा. आ. ने. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट. की राय थी कि ग्रन्थपरिचय में समय व शक्ति को न लगा कर यदि आगे का कार्य शीघ्र सम्पन्न कराया जा सके तो ठीक होगा। इसे ठीक समझ कर इस भाग में शेष ग्रन्थों का परिचय नहीं कराया गया है।

इस भाग के अन्तर्गत लक्षणों में से कितने ही लक्षणो की विविधता पर प्रस्तावना मे कुछ प्रकाश डालना चाहता था, पर विलम्ब को देखते हुए फिलहाल उसे भी स्थगित कर दिया है।

इस भाग के सम्पादन में भी श्री पन्नालाल जी अग्रवाल, पं. परमानन्द जी शास्त्री और पं. पार्श्वदास जी न्यायतीर्थ का सहयोग पूर्ववत् उपलब्ध होता रहा है।

सुप्रसिद्ध लेखक विद्वान् श्री अगरचन्द जी नाहटा बीकानेर ने प्रस्तुत लक्षणावली के सम्पादन-कार्य में उपयोग करने के लिए हमें अपने व्यक्तिगत संग्रह मे से स्थानांग सूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति और कुछ अंश व्यवहारसूत्र भाष्य (पीठिकानन्तर द्वि. उद्देशक च. विभाग पृ. १-८७, गा. १-३८२ और तृ. उद्देशक च. विभाग पृ. १-३७, गा. १-१७६) देने की कृपा की है, इसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं।

वीर सेवा मन्दिर के अध्यक्ष श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी जैन तथा महासचिव श्री महेन्द्रसेन जी जैनी की जो स्नेहपूर्ण प्रेरणा प्राप्त होती रही है उसको देख स्वास्थ्य आदि की कुछ प्रतिकूलता के रहते हुए भी मैं प्रस्तुत कार्य में उद्यत रहा हूं। इस कृपा के लिए मैं आप दोनों महानुभावों को नहीं भूल सकता।

दीपावली
२५-१०-७३

बालचन्द्र शास्त्री

जैन लक्षणावली प्रथम भाग पर लोकमत

Prof. Dr. Klaus Bruhn
D-1000 Berlin-38

It is a Matter of great Satisfaction that Pandit Balchandra Siddhantashastri is publishing the Jaina Laksnavali. This will be a Standard work in the field of Jaina Studies, and I feel that the restriction to laksana's is not a limitation but a special advantage of the work. Definitions are a literary element in its own right which deserves special attention and should not get lost in an ocean of quotations. It is in keeping with this scheme, that Pandit Balchandra has included a highly interesting essay on Lakshnavaisistya in his learned Introduction. I very much hope the parts two and three will follow soon. May be the second part has already left the press.

Let me also congratulate your institution on the initiative taken in connection with the publication of this brilliant work, which will be one of the most important titles in your Granthamala

मा. श्रमण अक्टूबर १९७२

(पा. विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी)

किसी भी धर्म या दर्शन का अध्ययन करते समय उसके पारिभाषिक शब्दों का सही ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि उनका उस शाखा मे विशिष्ट अर्थ होता है। जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रचलित अर्थज्ञान करना उसके अध्येताओं के समक्ष सदैव एक गम्भीर समस्या रही है।

प्रस्तुत लक्षणावली में विद्वान् सम्पादक ने जैन साहित्य के अध्येताओं की कठिनाई को ध्यान में रखकर जैन परम्परा के करीब चार सौ संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों से विशिष्ट शब्दों का चयन करके उनका प्रचलित अर्थ स्पष्ट किया है। जैन परम्परा में इस प्रकार के शब्दकोश की काफी समय से आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। प्रस्तुत कृति से जैन साहित्य के अध्येताओं को बहुत सहायता प्राप्त होगी। ·· मुद्रणकार्य बहुत अच्छा हुआ है।

पा. वीरवाणी जयपुर, १८ नवम्बर १९७२

जैन वाङ्मय में अनेक पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका प्रयोग प्रचलित अर्थ को छोड़कर विशिष्ट अर्थ में होता है। फलतः उनका सही बोध न होने से सर्व साधारण की तो बात क्या, विद्वानो—जैनेतर

साहित्यकारों तक को बड़ी असुविधा होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दिगम्बर श्वेताम्बर आम्नाय के ४०० ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की संस्कृत व हिन्दी परिभाषा दी गई है जिससे उनका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।······यह ग्रन्थ सर्वांगरूप से उपयोगी बनाया गया है।

मा. तीर्थंकर इन्दौर, दिसम्बर १९७२

वस्तुत: प्रस्तुत कोश एक स्मारक है जिसे शताब्दियों तक भुलाया नहीं जा सकेगा······। यह जैनों का ग्रन्थ न रहकर अर्थ विज्ञान के क्षेत्र की एक बेजोड़ निधि बन गया है। प्राच्य विद्या के अध्येता इसे छोड़कर शायद ही आगे बढ़ पायें।

'कोश' को आद्यन्त देख जाने पर पूरा विश्वास हो जाता है कि संपादक ने कोशीय न्यास का बड़ी सजगता के साथ आकलन-आलोचन-विश्लेषण किया है। पार्श्वतिक दृष्टि से भी ग्रन्थ का अपना व्यक्तित्व है। संपादक का असली व्यक्तित्व हिन्दी-व्याख्या वाले अंशों में प्रगट हुआ है। इन अंशों में सभी संदर्भों को बड़ी सावधानी और सम्पूर्णता से निचोड़ा गया है। यदि भावी जिल्दों में इन्हीं के अंग्रेजी अनुवाद और सम्मिलित कर लिए जाएं तो यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्द्धन होगा। ······ छपाई निर्दोष, मूल्य सर्वथा उचित।

पा. तीर्थंकर (मराठी), ५ फरवरी १९७३

(गोपालनगर, डोंबिवली पूर्व, जि. ठाणे)

चारशे दिगंबर-श्वेतांबर ग्रंथांच्या साह्याने हा कोश तयार करण्यात आला आहे एक शब्द, उदाहरणार्थ 'अनुप्रेक्षा' हा घेतला तर त्याचा जैन परिभाषेनुसार प्रमाण अर्थ कोणता हे थोडक्यात देऊन तो शब्द कोण कोणत्या ग्रंथात कोणत्या श्लोकात आढळतो हे यात दिले आहे अनुप्रेक्षा (भावना) शब्द दहा ग्रंथातून आढळतो तर अनुप्रेक्षा (स्वाध्याय) शब्द सतरा ग्रंथातून आढळतो तो श्लोक आणि ग्रंथनाम दिले आहे अशाच पद्धतीने शब्दाची माहिती इथे आढळते। अभ्यासूनी आनंद विभोर व्हावे असा हा उपक्रम आहे।

सा. जैन बोधक (मराठी) दि. १५-१-१०७३ (सोलापुर)

जैन संसारा मध्ये प्रकाशित अनेक ग्रंथामध्ये हे अत्युपयोगी प्रकाशन आहे. जैन दर्शन, न्याय, सिद्धांत आदि ग्रंथामध्ये जे लक्षणात्मक शब्द आले आहेत त्यांचे विवेचन स्थान ग्रंथ आदिचा उल्लेख करून यांत दिलेला आहे. सर्व धर्मामध्यें विविध पारिभाषिक पद आहेत. त्या पारिभाषिक शब्दांचा अर्थ आम्नायानुसार केला जातो. किंवा करणें इष्ट आहे. त्या प्रमाणें अर्थ न केल्यास जिज्ञासु बुचकळ्यांत पडतो आणि ग्रंथांचे हृद्य नीट समजू शकत नाही, म्हणून अशा पारिभाषिक शब्द कोषांची फार जरूरी आहे। हे कार्य अत्यंत परिश्रमसाध्य आहे. शेकडों ग्रथाचे परिशीलन करून, अध्ययन करून, लक्षणावली तयार करावी लागते।

□□□

२

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोष)

कक्वकुशील—विद्या-योगादिभिः परद्रव्यापहरण-दम्भप्रदर्शनपरः कक्वकुशीलः। (भ. आ. विजयो. १६५०)।

विद्या व मंत्रादि के प्रयोग द्वारा दूसरों के द्रव्य के अपहरणविषयक दम्भ को दिखाने वाले साधु को कक्वकुशील कहते हैं।

कच्छपरिंगित दोष—१. कच्छभरिंगियं कच्छपरिंगितं चेष्टितं कटिभागेन कृत्वा यो विदधाति बन्दनां तस्य कच्छपरिंगितदोषः। (मूला. वृ. ७-१०६)। २. ठिउविट्ठरिंगण जं त कच्छवरिंगिय जाण। (प्रव. सारो. १५८)। ३. कच्छपरिङ्गनमूर्ध्वस्थितस्य 'तित्तिसणयरा' इत्यादिसूत्रमुच्चारयत उपविष्टस्य वा अहो 'कायं काय' इत्यादिसूत्रमुच्चारयतोऽग्रतोऽभिमुखं पश्चादभिमुख च रिङ्गतश्चलतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ४. निषेदुग· कच्छपवद्रिङ्खा कच्छपरिङ्गितम्। (अन. ध. ८–१००)। ५. कच्छपस्येव जलचरजीवविशेषस्येव, रिङ्गणम् अग्रतोऽभिमुख पश्चादभिमुख च यत्किञ्चिच्चलनं तच्च यत्र करोति शिष्यः तत्कच्छपरिङ्गितं जानीहि। (प्रव. सारो. वृ. १५८)। ६. स्थितस्योद्ध्वस्थानेन 'तेत्तीसन्नयराए' इत्यादिसूत्रमुच्चारयतः, उपविष्टस्य वाऽऽसीनस्य 'अहोकायं काय' इत्यादिसूत्रं भणतः कच्छपस्येव जलचरजीवविशेषस्य रिङ्गनम्—अग्रतोऽभिमुखं प्रागभिमुखं च यत्किञ्चिच्चलनं तद्यत्र करोति शिष्यः तदिदं कच्छपरिङ्गितं नामेति। (आव. हरि. वृ. मल. हे. टि. पृ. ८८)।

१ कछुए के समान रेंग करके कटिभाग से आचार्य की वन्दना करने को कच्छपरिङ्गित दोष कहते हैं। ३ जैसे कछुआ रेंगते (चलते) हुए कभी आगे को मुख करके देखता है और कभी पीछे को मुख करके देखता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वस्थित (खड़े) होकर 'तित्तिसणयरा' इत्यादि सूत्र का उच्चारण करते हुए अथवा बैठने पर 'अहो कायं काय' इत्यादि सूत्र का उच्चारण करते हुए, कभी आगे की ओर, और कभी पीछे की ओर चलते हुए वन्दना करना; इसे कच्छपरिंगित कहते हैं। यह वन्दना का सातवां दोष है।

कटक—बंसकंबीहि अण्णोण्णजणणाए जे किज्जंति घरावणादिवाराणं ढंकणट्ठं ते कडया णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४०)।

बांस की कमचियों को परस्पर जोड़कर जो घर आदि के द्वारों को ढांकने के लिए टटिया (जाली जैसी) बनायी जाती है उन्हें कटक कहते हैं।

कटकरण—कटकरणं कटनिर्वर्तकं चित्राकारमयोमयं पाइल्लगादि। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८४, पृ. १९५)।

चटाई बनाने के काम में आने वाले चित्राकार लोहे के पाइल्लग (उपकरणविशेष) आदि कटकरण कहलाता है।

कटु—१. वैशद्यच्छेदनकृत्कटुः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०)। २. श्लेष्मभेदपाटवकृत् कटुः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२३)।

२ जो रस कफ-नाशक होकर पटुता (नैपुण्य) को भी करता है, वह कटु रस माना जाता है।

कटुक नामकर्म—जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गला कडुवरसेण परिणमंति तं कडुवणाम। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल कड़वे रस-

रूप से परिणत होते हैं उसे कटुक नामकर्म कहते हैं।

कठिन—अनमनात्मकः कठिनः। (अनु. हरि. वृ. पृ. ६०; त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२३)।

नहीं नमने वाली वस्तु के स्पर्श को कठिन स्पर्श कहते हैं।

कण्ठहीन कुट—यस्य पुनरोष्ठपरिमण्डलाभावः स कण्ठहीनकुटः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

ओठों के घेरे से रहित घड़े को कण्ठहीन कुट कहते हैं।

कण्ठहीन कुट समान—यस्तु किञ्चिदूनं सूत्रार्थमवधारयति, पश्चादपि च तथैव स्मृतिपथमवतारयति स कण्ठहीनकुटसमानः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

जैसे गला रहित घड़ा अल्प जल को अपने भीतर रखता है, उसी प्रकार जो शिष्य गुरु के द्वारा बतलाये हुए सूत्रार्थ को कुछ कम अवधारण करता है और तदनुसार अल्प ही स्मरण करता है, उसे कण्ठहीन कुट समान कहते है।

कण्डक—देखो काण्डक। प्रथमस्थानात् द्वितीयं स्थानं स्पर्द्धकापेक्षया अनन्तभागवृद्धम्, यावन्ति प्रथमे स्थाने स्पर्द्धकानि तावद्भ्योऽनन्तभागाधिकानि द्वितीये स्थाने स्पर्द्धकानि भवन्तीत्यर्थः। ततोऽपि तृतीयं स्थानमनन्तभागवृद्धम्। एवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि स्थानानि तावद् वाच्यानि यावदङ्गुलासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति, तेषां च समुदाय एकं कण्डकम्। (पञ्चसं. मलय. वृ. अनु. प्र. ४६, पृ. ४३)।

स्पर्धकों की अपेक्षा प्रथम स्थान से द्वितीय स्थान अनन्तवें भाग से अधिक होता है, अर्थात् प्रथम स्थान में जितने स्पर्धक हों उनके अनन्तवें भाग से अधिक वे द्वितीय स्थान में होते हैं। तृतीय स्थान उससे भी अनन्तवें भागसे अधिक होता है। इस प्रकार उक्त क्रम से अंगुल के असंख्यातवें भागगत प्रदेशराशि प्रमाण तक वे स्थान उत्तरोत्तर अनन्तवें भाग से अधिक होते जाते हैं। इन सबके समुदाय का नाम एक कण्डक (काण्डक) होता है।

कथा—१. तव-संजमगुणधारी जं चरण कहिंति सब्भाव। सव्वजगजीवहियं सा उ कहा देसिया समए॥ (दशवै. नि. २१०)। २. द्रव्यं फलं प्रकृतमेव हि सप्रभेदं क्षेत्रं च तीर्थमथ कालविभाग-भावौ। अङ्गानि सप्त कथयन्ति कथाप्रबन्धे तैः संयुता भवति युक्तिमती कथा सा॥ (वरांग. १–६)। ३. पुरुषार्थोपयोगित्वात् त्रिवर्गकथनं कथा। (म. पु. १, ११८)। ४. तन्नामोच्चारण-तद्गुणोत्कीर्तन-तच्चरितवर्णनादिका वचनपद्धतिः कथा। (ध. २ अधि. —अभि. रा. भा. ३, पृ. ४०२)।

१ तप व संयम गुणों के धारक साधु जो समस्त लोक के प्राणियों के लिए हितकर चरित्र का निरूपण करते हैं उसे कथा कहते हैं।

कदर्य—१. यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं सचिनोति स कदर्यः। (नीतिवा. २–६)। २. यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति, न तु क्वचिदपि व्ययते, स कदर्यः। (योगशा. स्वो. विव. १–५२, पृ. १५५)।

१ जो सेवकों (नौकरों) के लिये और स्वयं अपने लिए भी पीड़ा पहुंचाकर धन का संग्रह किया करता है उसे कदर्य कहा जाता है।

कदलीघात—१. विस-वेयण-रत्तक्खय-भय सत्थग्गहण-संकिलेसेहि। आहारोस्सासाणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ॥ (धव. पु १, पृ. २३ उद्.; गो. क. ५७)। कदली (केले के स्तम्भ) के समान जो विष, वेदना, रक्त क्षय, भय, शस्त्राघात, संक्लेश आहार और श्वास के निरोध आदि के द्वारा सहसा आयु का घात होता है उसे कदलीघात कहते हैं।

कनक—माणुस-पसु-पक्खिमारणीयो तरु-गिरिसिहर-वियारणीयो असणीयो कणया जाम। (धव. पु. १४, पृ. ३५)।

जिनके द्वारा मनुष्य, पशु और पक्षी मर जाते हैं तथा वृक्ष और पर्वतशिखर विदीर्ण हो जाते हैं, ऐसे अशनियों (वज्रों) को कनक कहा जाता है।

कनङ्करा—काय पानीयाय, नङ्कराः बोधिस्थनिश्चलीकरणपाषाणाः कनङ्कराः कानङ्करा वा—ईषन्नगरा इत्यर्थः। (विपाक. अभय. वृ. पृ. ४५)।

क शब्द का अर्थ जल है और नङ्कर का अर्थ है नाव को स्थिर करने वाले पत्थर। अभिप्राय यह है कि नौका यदि डगमगाती है तो उसे स्थिर करने के लिए जो उसमें कुछ पत्थर डाल दिये जाते हैं वे कनङ्कर कहलाते हैं, अथवा पानी में उसे रोकने के लिए जिस पत्थर से रस्सी या सांकल को बांध दिया जाता है उसे कनङ्कर समझना चाहिए।

कन्दक (काण्डक)—हत्थिधरणट्ठमोहिद्दवारिबंधो कंदश्रो णाम, हरिण-वराहादिमारणट्ठमोहिद्दकंदा वा कंदश्रो णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३४) ।

हाथी को पकड़ने के लिए जो वारिबन्ध (गड्ढा) बनाया जाता है उसे कन्दक (खन्धक) कहते हैं, अथवा हरिण और शूकर आदि के वध के लिए जो बाण बनाये जाते हैं वे काण्डक कहलाते हैं ।

कन्दर्प—रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः । (स. सि. ७–३२; भ. आ. विजयो. १८० व ६५१; भ. आ. मूला. १८०) । २. कन्दर्पो नाम रागसंयुक्तो ऽसभ्यो वाक्प्रयोगो हास्यं च । (त. भा. ७–२७) । ३. कहकहकहस्स हसणं कंदप्पो अनिहुया य संलावा । कंदप्पकहाकहणं कंदप्पुवएस संसा य ॥ (बृहत्क. १२९६) । ४. रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः । चारित्रमोहोदयापादितात् रागोद्रेकात् प्रहाससंयुक्तो योऽशिष्टवाक्प्रयोगः स कन्दर्प इति निर्धियते । (त. वा. ७, ३२, १) । ५. कन्दर्पः कामः, तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगः कन्दर्प उच्यते, रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रो मोहोद्दीपको नर्मेति भावः ।(श्राव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८३०; श्रा. प्र. टी. २९१) । ६. चारित्रमोहोदयापादितात्रागोद्रेकाद्यो हास्यसयुक्तोऽशिष्टवाक्प्रयोगः स कन्दर्पः । (चा. सा. पृ. १०) । ७. रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कन्दर्पः । (रत्नक. टी. ३, ३५) । ८ तथा कन्दर्पः कामस्तद्धेतुस्तत्प्रधानो वा वाक्प्रयोगोऽपि कन्दर्पः । (योगशा. स्वो. विव. ३, ११५) । ९. कन्दर्पः कामस्तद्धेतुस्तत्प्रधानो वाक्प्रयोगोऽपि कन्दर्पो रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग इत्यर्थः । (सा. ध. स्वो. टी. ५–१२) । १०. कन्दर्पः कामः तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगोऽपि कन्दर्प एव, मोहोद्दीपक वाक्कर्मेति भावः । (ध. बि. मु. वृ. ३–३०) । ११. रागाधिक्यात् वर्करसंवलितोऽशिष्टवचनप्रयोगः कन्दर्पः । (त. वृत्ति श्रुत. ७, ३२) । १२. अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्राक्तव्रतस्य यः । रागोद्रेकात्प्रहासादिमिश्रो वाग्योग इत्यपि ॥ (लाटीस. ६–१४१) ।

१ राग की अधिकता से हास्यमिश्रित अशिष्ट वचनों के बोलने को कन्दर्प कहते है । ३ कहकहा मारकर हंसना (अट्टहास), स्वांग के साथ परिहास करना, गुरु आदि के साथ भी अनिभृत—कठोर व कुटिलतापूर्ण—भाषण करना, कामकथा का निरूपण करना, और काम का उपदेश करना; इस सब को कन्दर्प कहा जाता है ।

कन्दर्पभावना—देखो कन्दर्पी भावना । १. कंदप्पकुक्कुआइय चलसीला णिच्चहासणकहो य । विम्भावितो य परं कदप्पं भावणं कुणइ ॥ (भ. आ. १८०) । २. कंदप्पे कुक्कुइए, दवसीले यावि हासणकरे य । विम्हावितो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ (बृहत्क. १२९५) । ३. रागोद्रेकजनितहासप्रवर्तितो वाग्योगः, काययोगः परविस्मयकारी वा कन्दर्पभावनेत्युच्यते । (भ. आ. विजयो. टी. १८०) ।

२ कन्दर्पवान्, कौत्कुच्यवान्—शरीर की कुचेष्टा से युक्त, द्रवशील—शीघ्रतापूर्वक बिना विचारे संभाषण आदि करने वाला, हास्य को उत्पन्न करने वाला और दूसरे को आश्चर्यान्वित करने वाला कन्दर्प (कन्दर्पी) भावना को करता है ।

कन्यानृत—देखो कन्यालीक । तत्र कन्याविषयमनृतं कन्यानृतम् अभिन्नकन्यकामेव भिन्नकन्यकां वक्ति विपर्ययो वा । (श्रा. प्र. टी. २६०) ।

कन्याविषयक असत्य बोलने का नाम कन्यानृत है —जैसे एक ही कन्या को अन्य बतलाना अथवा इसके विपरीत अन्य कन्या को एक बतलाना ।

कन्यालीक—देखो कन्यानृत । १. तत्र कन्याविषयमलीकं कन्यालीकं भिन्नकन्यायामभिन्नं विपर्ययं वा वदतो भवति; इदं च सर्वस्य कुमारादिद्विपदविषयस्यालीकस्योपलक्षणम् । (योगशा. स्वो. विव. २, ५४) । २. तत्र कन्यालीकं यथा भिन्न कन्यामभिन्नां वा विपर्यय वा वदतो भवति । (सा. ध. स्वो. टी. ४–३९) ।

देखो कन्यानृत ।

कपाटमुद्रा—अभयाकारौ समश्रेणीस्थिताङ्गुलीकौ करौ विधायाङ्गुष्ठयोः परस्परग्रथनेन कपाटमुद्रा । (निर्वाणक. १९, ९ २) ।

समान पंक्ति में स्थित अंगुलियों से युक्त हाथों के दोनों पंजों को फैला करके तथा दोनों अंगूठों को परस्पर मिलाकर अभयमुद्रा में अवस्थित करने को कपाटमुद्रा कहते हैं ।

कपाटसमुद्घात—कवाडसमुग्घादो णाम पुव्विल्लबाहल्लायामेण वादवलयवदिरित्तसव्वखेत्तापूरणं । (धव. पु. ४, पृ. २८–२९); तदो विदियसमए

दोहि वि पासेहि छुत्तवादवलयं देसूणचोद्दसरज्जुप्राय-दं सगविक्खंभबाहल्लं सेसट्ठिदीए घादिदप्रसंखेज्ज-भागं घादिदसेसाणुभागस्स घादिदाणंतभागं कवाडं करेदि। (धव. पु. १०, पृ. ३२१); बिदियसमए पुव्वावरेण वादवलयवज्जियलोगागासं सव्वं पि सगदेहविक्खंभेण वाविय सेसट्ठिदि-प्रणुभागाणं जहा-कमेण प्रसंखेज्ज-प्रणंतभागे घादिदूण जमवट्ठाणं तं कवाडं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ८४)।

केवलसमुद्घात के समय द्वितीय समय में पूर्व-पश्चिम में दोनों पार्श्व भागों से वातवलय को छूते हुए कुछ कम चौदह राजु लम्बे और अपने शरीर-विस्तार प्रमाण मोटे केवली जिनके आत्मप्रदेशों का वातवलयों को छोड़कर शेष सब ही लोकाकाश में फैल जाना; इसका नाम कपाटसमुद्घात है।

कपित्थदोष—१. यः कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य कपित्थदोषः। (मूला. वृ. ७–१७)। २. छप्पइयाण भएणं कुणइ य पट्टं कवि-ट्ठं व ॥ (प्रव. सारो. २५८)। ३. षट्पदिकाभयेन कपित्थवच्चोलपट्टं संवृत्य मुष्टौ गृहीत्वा स्थानं कपित्थदोषः; एवमेव मुष्टिं बद्ध्वा स्थानं इत्यन्ये। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ४. मुष्टिं कपि-त्थवद् बद्ध्वा कपित्थः ××× ॥ (अन. ध. ८, ११७)। ५. षट्पदिकाभयेन कपित्थवद् वृत्ताकार-त्वेन संवृत्य जङ्घादिमध्ये कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति कपित्थदोषः १४। एवमेव मुष्टिं बद्ध्वा स्थानमित्य-न्ये। (प्रव. सारो. टी. २५८)।

३ मधुमक्खियों के भय से कैंथ फल के समान चोल-पट्ट (साधु का वस्त्रविशेष—कटिवस्त्र) से आच्छा-दित कर व उसे मुट्ठी में लेकर स्थित होना, यह कपित्थ नामका एक कायोत्सर्ग का दोष (१४वां) है।

कपोतलेश्या— १. रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय-भयबहुलो। असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥ ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पि व परं पि मण्णंतो। तूसइ अइथुव्वंतो ण य जाणइ हाणि-वड्ढि वा ॥ मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं पि थुव्वमाणो दु। ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेय तु काउस्स ॥ (प्रा. पंचस. १, १४७–४९; गो. जी. ५१२–१४)। २. मात्सर्य-पैशून्य-परपरिभवात्म-प्रशंसा-परपरिवाद-वृद्धि-हान्यगणनात्मीयजीवितनि-राशता-प्रशस्यमानधनदान-युद्धमरणोद्यमादि कपोत-लेश्यालक्षणम्। (त. वा. ४, २२, १०, पृ. २३९)। ३. काऊ कवोदवण्णा ×××। (धव. पु. १६, पृ. ४८५ उद्.)। ४. शोक-भी-मत्सरासूया-परनिन्दा-परायणाः। प्रशंसति सदात्मानं स्तूयमानः प्रहृष्यति ॥ वृद्धि-हानी न जानाति न मूढः स्वपरान्तरम्। अहं-काराग्रहग्रस्तः समस्तां कुरुते क्रियाम् ॥ श्लाघितो नितरां दत्ते रणे मर्तुमपीहते। परकीययशोध्वंसी युक्तः कापोतलेश्यया ॥ (पंचसं. अमित. १, २७६ से २७८)।

२ मत्सरभाव रखना, चुगली करना, दूसरे का अप-मान करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरे की निन्दा करना, हानि-लाभ का विचार न करना, जीवन से निराश होना, प्रशंसा करने वाले को धन देना और युद्ध में मरने का उद्यम करना; इत्यादि कपोतले-श्या के लक्षण हैं।

कमण्डलुमुद्रा—उन्नतपृष्ठहस्ताभ्यां संपुटं कृत्वा कनिष्ठिके निष्कास्य योजयेदिति कमण्डलुमुद्रा। (निर्वाणक. १९–९)।

दोनों हथेलियों को पोला करके परस्पर मिलाने तथा दोनों कनिष्ठिकाओं को बाहिर निकालने पर कमण्डलुमुद्रा होती है।

कमल—१. ××× तं पि गुणिदव्वं। चउसी-दीलक्खेहि कमलं णामेण णिद्दिट्ठं ॥ (ति. प. ४, २९८)। २. चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं कम-लम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–६७)।

चौरासी लाख से गुणित कमलाङ्ग को कमल कहते हैं।

कमलाङ्ग—१. णलिणं चउसीदिहदं कमलंगं णाम ×××। (ति. प. ४–२९८)। २. ज्ञेयं वर्षसहस्रं तु तच्चापि दशसंगुणम्। पूर्वाङ्गं तु तदभ्यस्तमशी-शीत्या चतुरग्रया ॥ तत्तद्गुणं च पूर्वाङ्गं पूर्वं भवति निश्चितम्। पूर्वाङ्ग [पर्वाङ्गं] तद्गुणं तच्च पूर्व [पर्व] संज्ञं तु तद्गुणम् ॥ नियुताङ्गं परं तस्मात् नियुतं च ततः परम्। कुमुदाङ्गं ततश्च स्यात् कुमुदं तु ततः परम् ॥ पद्माङ्गं पद्ममप्यस्मात् नलिनाङ्ग-मथैव च। नलिनं कमलाङ्गं च कमलं चाप्यतः परम्। (ह. पु. ७, २४–२७)। ३. पूर्वं चतुरशी-तिघ्नं पूर्वाङ्गं [पर्वाङ्गं] परिभाष्यते। पूर्वाङ्गताडि-तं तत्तु पर्वाङ्गं पर्वमिष्यते ॥ गुणाकारविधिः सोऽयं योजनीयो यथाक्रमम्। उत्तरेष्वपि संख्यानविकल्पेषु

निराकुलम् ।। ××× नलिनं कमलाङ्गं च तथान्यत् कमलं विदुः । (म. पु. ३, २१६–२४; लो. वि. ५, १२८–३३) । ४. चतुरशीतिमहापद्मशतसहस्राण्येकं कमलाङ्गम् । (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–६७) ।

१ चौरासी से गुणित नलिन प्रमाण एक कमलाङ्ग होता है । ४ चौरासी लाख महापद्मों का एक कमलांग होता है ।

कर (हस्त)— करश्चतुर्विंशत्यंगुलः । (समवा. अभय. वृ. ९६, पृ. ९८) ।

चौबीस अंगुलों को एक कर या हस्त कहते हैं ।

कर (वन्दनादोष)— करः—कर इव राजदेयभाग इव—अर्हत्प्रणीतो वन्दनककरोऽवश्यं दातव्य इति धिया वन्दनम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०) ।

जैसे राजा को भूमि आदि का कर (टैक्स) देना आवश्यक होता है, उसी प्रकार जिनदेव का कहा हुआ वन्दना रूप धार्मिक कर देना चाहिए, ऐसी बुद्धि से जो वन्दना की जाती है वह कर नामक दोष से दूषित होती है । यह वन्दना के ३२ दोषों में एक (२४वां) है ।

करण (परिणाम)—१. कम्मबंधादिपरिणामणसमत्थो जीवस्स सत्तिविसेसो करणमिति वुच्चति । (कर्मप्र. चू. १, पृ. २) । २. ××× भण्णइ करणं तु परिणामो । (धर्मसं. हरि. ७९४) । ३. करणाः परिणामाः । (धव. पु. १, पृ. १८०); कधं परिणामाणं करणसण्णा ? ण एस दोसो, असिवासीणं व साहयतमभावविवक्खाए परिणामाणं करणत्तुवलंभादो । (धव. पु. ६, पृ. २१७) । ४. करणं नाम सम्यक्त्वाद्यनुगुणो विशुद्धिरूपः परिणामविशेषः । (आव. नि. मलय. वृ. १०६, पृ. ११३) । ५. करणानि वीर्यविशेषरूपाणि । (पंचसं. मलय. वृ. १, पृ. १) । ६. करणं पुनर्भण्यते तीर्थकरगणधरैः, परिणामो—जीवस्याध्यवसायविशेषः । तदुक्तम्—करणं परिणामोऽत्र सत्त्वानामिति । (धर्मसं. मलय. वृ. ७९४) ।

१ जीव की जो विशिष्ट शक्ति कर्मबन्धादि के परिणमाने में समर्थ होती है उसे करण कहा जाता है । ३ जीव के परिणामविशेष को करण कहते हैं ।

करण (कारक)—१. साधकतमं करणः । (जैनेन्द्र. १, २, १३८) । २. करणं तु साधकतमत्वम् । (न्यायकु. १–३, पृ. ३६) । ३. ××× साधकविशेषस्यातिशयवतः करणत्वात् । तदुक्तं जैनेन्द्रे—साधकतमं करणमिति । (न्यायदी. पृ. १३) ।

१ अतिशय साधक कारक को करण कहते हैं ।

करणसत्य—करणसत्यं यत्प्रतिलेखनाक्रियां यथोक्तां सम्यगुपयुक्तः कुरुते ।। (समवा. अभय. वृ. २७, पृ. ४६) ।

आगमानुसार सम्यक् उपयोग के साथ प्रतिलेखन क्रिया के करने को करणसत्य कहते हैं ।

करणानुयोग—१. लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ।। (रत्नक. २–३) । २. द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगः स यत्र वै । त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यानं कुलपत्रेऽधिरोपितम् ।। (म. पु. २–९९)। ३. अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् । शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ।। (उपासका. ९१७) । ४. त्रिलोकसारे जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं करणानुयोगो विज्ञेयः । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२) । ५. चतुर्गतियुगावर्तलोकालोकविभागवित् । हृदि प्रणेयः करणानुयोगः करणातिगैः ।।(अन. ध. ३, १०)।

१ लोक-अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चारों गतियों के स्वरूप को स्पष्ट दिखलाने वाले ज्ञान को करणानुयोग कहते हैं ।

करणापर्याप्तक—ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निवर्तयन्ति, अथ चावश्यं पुरस्तान्निवर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तकाः । (षडशीति मलय. वृ. ३) ।

जिन जीवों के करणों की—शरीर व इन्द्रियादिक की—अभी रचना नहीं हुई है, किन्तु आगे नियम से होने वाली है उन्हें करणापर्याप्तक या निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहते हैं ।

करणोपशामना—देखो अकरणोपशामना । १. जा सा करणोवसामणा सा दुविहा—देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि । देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि । ×× × जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि । (क. पा. पृ. ७०७–८)। २. दंसणमोहणीये उवसमिते उदयादिकरणेसु काणि वि कर-

कानि उवसंताणि, काणि वि करणाणि अणुवसंताणि, तेणेसा देसकरणोवसमणा त्ति भण्णदे। (जयध. क. पा. टि. २, पृ. ७०७); सव्वेसिं करणाणमुवसामणा सव्वकरणोवसामणा। (जयध.—क. पा. टि. १, पृ. ७०८)। ३. तत्र करणं क्रिया यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणसाध्यः क्रियाविशेषः, तेन कृता करणकृता। (कर्मप्र. उपश. १, मलय. वृ.)।

३ यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति करणों के द्वारा सिद्ध किये जाने वाले क्रियाविशेष से जो उपशमना की जाती है उसे करणोपशामना कहते हैं।

करुणरस—१. पियविप्पओग-बंध-वह-वाहि [बंधव-वह-वाहि] विणिवाय-संभमुप्पण्णो। सोइअ-विलविअ-पम्हाणरुण्णलिंगो रसो करुणो॥ करुणो रसो जहा— पज्झायकिलामिअयं बाहागयपप्पुअच्छिअं बहुसो। तस्स विओगे पुत्तिय दुब्बलयं ते मुहं जायं॥ (अनुयो. गा. ७८–७९, पृ. १३९)। २. प्रियविप्रयोग-बांधवव्याधिनिपातसंभ्रमोत्पन्नः सोचित-विलपित-अम्लानरुदितलिंगो रसः करुणः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७०)।

१ इष्ट के वियोग, बन्धन, वध, व्याधि, मरण और परचक्र आदि की भीति से उत्पन्न होने वाला करुणरस कहलाता है। उसके चिह्न हैं शोक, विलाप, म्लानता और रुदन।

करुणा—देखो कारुण्य। × × × परदुःखविनाशिनी तथा करुणा। (षोडशक ४–१५)।

दूसरे जीवों के दुःखों के दूर करने की इच्छा को करुणा कहते हैं।

कर्कशनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं कक्खडभावो होदि तं कक्खडं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। २. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गलानां कर्कशभावो भवति तत्कर्कशनाम। (मूला. वृ. १२–१९४)। ३. यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु कर्कशः स्पर्शो भवति, यथा पाषाणविशेषादीनाम्, तत्कर्कशनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७३)।

१ जिस कर्म के उदय से शरीरपुद्गलों में कर्कशता (कठोरता) उत्पन्न होती है उसे कर्कश नामकर्म कहते हैं।

कर्कशवचन—कर्णशष्कुलिविवराभ्यर्णगोचरमात्रेण परेषामप्रीतिजननं हि कर्कशवचः। (नि. सा. वृ. ६२)।

जो वचन कानों में प्रवेश करते ही दूसरों के लिए अप्रीतिकर होता है उसे कर्कशवचन कहते हैं।

कर्ण—ध्यात्वा हृद्यष्टपत्राब्जं श्रोत्रे हस्ताग्रपीडिते। न श्रूयेताग्निनिर्घोषो यदि स्वः पंच वासरान्॥ दश वा पंचदश वा विंशतिं पंचविंशतिम्। तदा पंच-चतुस्त्रि-द्व्येकवर्षैर्मरणं भवेत्॥ (योगशा. ५–१२५, १२६)।

हृदय में अष्टदल कमल का ध्यान कर दोनों कानों को हाथों से दबाने पर यदि अग्नि का तड़तड़ादि-रूप शब्द पांच, दश, पन्द्रह, बीस, अथवा पच्चीस दिन न सुना जाय तो क्रम से पांच, चार, तीन, दो और एक वर्ष में मरण होने वाला है, ऐसा जानना चाहिए। यह कर्ण का लक्षण है।

कर्णसंस्कार—१. ह्रस्वयोर्लम्बतापादनम्, दीर्घयोर्वा ह्रस्वकरणम्, तन्मलनिरासोऽलंकारग्रहणं कर्णसंस्कारः। (भ. आ. विजयो. ९३)। २. ह्रस्वीकरण-लम्बीकरण-मलापकर्षणाभरणादिकः कर्णसंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

छोटे कानों को लम्बा करना, लम्बे कानों को छोटा करना, उनका मैल निकालना और कुण्डल आदि आभरण पहिनना; इत्यादि प्रकार से कानों का शृंगार करने को कर्णसंस्कार कहते हैं।

कर्ता—सुहमसुहं करेदि त्ति कत्ता। (धव. पु. १, पृ. ११९); शुभमशुभं करोतीति कर्ता। (धव. पु. ९, पृ. २२०)।

शुभ या अशुभ परिणाम करने वाले जीव को कर्ता कहते हैं।

कर्ता (कारक)—१. एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो। जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता॥ जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स। कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं॥ जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स। णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स॥ (समयप्रा. ९७–९८ व १३६)। २. स्वतंत्रः कर्ता। (जैनेन्द्र. १ २, ११२)। ३. यः परिणमति स कर्ता × × ×॥ (नाटकस. ३–६)।

जीव जो भाव करता है उसका वह कर्ता होता है, अथवा जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है। जो क्रिया के करने में स्वतंत्र होता है वह कर्ता कहलाता है। मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति

स्वरूप इन तीन प्रकार के निमित्तभूत परिणाम-विकारों के विषय में, वस्तुतः शुद्ध, निरंजन व वस्तुभूत चैतन्य मात्र भाव की अपेक्षा एक होने पर भी जो अशुद्ध, सांजन और अनेक भावरूपता को प्राप्त होकर तीन प्रकार का उपयोग होता है उसमें जिसको वह उपयोग (तत्स्वरूप आत्मा) करता है उसका वह कर्ता होता है। जिस भाव को आत्मा करता है उसी भाव का वह कर्ता होता है। ज्ञानी के ज्ञानमय भाव होता है और अज्ञानी के अज्ञानमय भाव होता है।

कर्तृत्व—१. कर्तृत्वमिति शुभाशुभकर्मणो निर्वर्तकत्वं योगप्रयोगसामर्थ्यात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २, ७)। २. कर्तृता हि ज्ञान-चिकीर्षा-प्रयत्नाधारतेष्यते। (न्यायकु. १-३)।

१ योगप्रवृत्ति के वश शुभ व अशुभ कर्मों को उत्पन्न करना, इसका नाम कर्तृत्व है। वह जीवका अनादि साधारण पारिणामिक भाव है। २ विवक्षित कार्य का ज्ञान, उसके करने की इच्छा और तद्रूप प्रयत्न इन तीनों की आधारभूता का नाम कर्तृता है।

कर्म (कार्य)—१. कम्मं जमणायरिग्रोवएसिग्रं सिप्पमन्नहाऽभिहिग्रं। किसि-वाणिज्जाइयं घड-लोहाराइभेग्रं च॥ (आव. नि. ६२८)। २. इह कर्म यदनाचार्योपदेशजं सातिशयमनन्यसाधारणं गृह्यते। ××× तत्र भारवहन-कृषि-वाणिज्यादि-कर्म। (आव. नि. हरि. वृ. ६२८)।

१ जो कृषि व वाणिज्य आदि कार्य अनाचार्य—आचार्य से भिन्न व्यक्ति—के द्वारा उपदिष्ट हो वह कर्म कहलाता है। जैसे बोझा ढोना, एवं खेती व व्यापार आदि करना। जो इस सब कर्म में कुशल होता है उसे कर्मसिद्ध कहा जाता है।

कर्म (ज्ञानावरणादि)—१. अंजणचुण्णपुण्णसमुग्गोव्व सुहुम-थूलादि-अणेगविहपरिणएहिं अणंतेहिं पोग्गलेहिं णिरंतरं णिचिते लोगे परिच्छिण्णा एव पोग्गला कम्मपरिणामणजोग्गा बंधमाणजीवपरिणामपच्चएण बद्धा णाणादिलद्धिघातिणो सुह-दुक्खसुहासुहाउ-नाम-उच्चाणीयागोयंतरायपोग्गला कम्मंति वुच्चति। (कर्मप्र. चू. १, पृ. २)। २. आत्मपरिणामेन योगभावलक्षणेन क्रियते इति कर्म। (त. वा. ५, २४, ६, पृ. ४८८ पं. २१)। ३. नाणादिपरिणतिविघायणादिसामत्थसंजुयं कम्मं। (धर्मसं. ६०६)। ४. कीरइ जओ जिएणं मिच्छाताईहिं चउगइगएणं। तेणिह भण्णइ कम्मं अणाइयं तं पवाहेणं॥ (कर्मवि. गा. २)। ५. कर्ममिथ्यात्वा-संयम-कषाय-योगकारणसंचितपुद्गलप्रचयः। (आ. मी. वसु. वृ. ८)। ६. तत्र ज्ञानावरणाद्यष्टविधमात्मनः पारतंत्र्यनिमित्तं कर्म। (लघीय. अभय. वृ. ७-४, पृ. ६८)। ७. क्रियते—मिथ्यात्वाविरतिकषाय-योगानुगतेनात्मना निर्वर्त्यत इति कर्म। (उत्तरा. नि. शा. वृ. २-६६, पृ. ७२)। ८. ज्ञानादिपरिणति-विघातनादिसामर्थ्यसंयुत-ज्ञान - दर्शनादिपरिणतिविघातसातासातानुभवादिसामर्थ्यार्पितं कर्म। (धर्मसं. मलय. वृ. ६०६)।

१ अंजनचूर्ण से परिपूर्ण डिब्बे के समान सूक्ष्म व स्थूल आदि अनन्त पुद्गलों से परिपूर्ण लोक में जो कर्मरूप परिणत होने योग्य नियत पुद्गल जीवपरिणाम के अनुसार बन्ध को प्राप्त होकर ज्ञान-दर्शन के घातक (ज्ञानावरण व दर्शनावरण) तथा सुख-दुःख, शुभ-अशुभ आयु, नाम, उच्च व नीच गोत्र और अन्तराय रूप पुद्गलों को कर्म कहा जाता है।

कर्म (क्रिया)—देशाद् देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दात्मकः परिणामोऽर्थस्य कर्म। (न्यायकु. ७, पृ. २८१)।

एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में कारणभूत पदार्थ के परिस्पन्दात्मक परिणाम का नाम कर्म (क्रिया) है।

कर्म (कारक)—××× यः परिणामो भवेत् तत्कर्म। (नाटकस. ३-६)।

आत्मा का जो परिणाम होता है, उसे कर्म जानना चाहिए।

कर्मकिल्विष—कर्मणा उक्तरूपेण किल्विषाः अधमाः कर्मकिल्विषाः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५, पृ. १८३)।

आधाकर्म से किल्विष—निकृष्ट कार्य करने वाले—जीवों को कर्मकिल्विष कहा जाता है।

कर्मक्षयसिद्ध—सो कम्मक्खयसिद्धो जो सव्वक्खीण-कम्मंसो॥ दीहकालरयं जं तु कम्मं सेसिग्रमट्ठहा। सिग्रं धंतं ति सिद्धस्स सिद्धत्तमुवजायइ॥ (आव. नि. ६५२-५३)।

जो समस्त ही कर्मों का क्षय कर चुका है वह कर्म-क्षयसिद्ध कहलाता है। अब जीव अनादिपरंपरा से बांधे हुए आठ प्रकार के शेष कर्म-रज को ध्मा-

नाग्नि से भस्म कर देता है, तब उसके सिद्ध अवस्था उत्पन्न होती है।

कर्मचेतना—१. वेदंतो कम्मफलं मये कदं जो दु मुणदि कम्मफलं। सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ (समयप्रा. ४०८)। २. ××× एक्को कज्जं तु ××× चेदयदि ×××॥ पंचा. का. ३८)। ३. ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनम् अज्ञानचेतना। सा द्विधा—कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना। (समयप्रा. अमृत. वृ. ४१७); तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना। (समयप्रा. अमृत. वृ. ४१८)। ४. कर्मचेतना कोऽर्थः इति चेत्—मदीयं कर्म मया कृतं कर्मोत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत् सा बन्धकारणभूता कर्मचेतना भण्यते। (समयप्रा. जय. वृ. ४१८)। ५. अन्ये तु प्रकृष्टतरमोहमलीमसेनापि प्रकृष्टज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन मनाग्वीर्यान्तरायक्षयोपशमासादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुख-दुःखानुरूपकर्मफलानुभवनसंबलितमपि कार्यमेव प्राधान्येन चेतयन्ते। (पंचा. का. अमृत. वृ. ३८); एक्को कज्जं तु—अथ पुनरेकस्तेनैव चेतकभावेनोपलब्धसामर्थ्येनेहापूर्वकेष्टानिष्टविकल्परूपं कर्म कार्यं तु वेदयति अनुभवति। (पंचा. का. ज. वृ. ३८)।

२ अपने स्वभावभूत ज्ञान को छोड़कर अन्यत्र—पर में—'मैं करता हूं इस प्रकार का जो अनुभव होता है, इसे कर्मचेतना कहते हैं।

कर्मजा प्रज्ञा—१. उवदेसेण विणा तवविसेसलाहेण कम्मजा तुरिमा। (ति. प. ४, १०२१)। २. तवच्छरणबलेण गुरूवदेसणिरवेक्खेणुप्पण्णपण्णा कम्मजा णाम, ओसहसेवाबलेणुप्पण्णपण्णा वा। (धव. पु. ९, पृ. ८२)। ३. दुश्चरतपश्चरणबलेन गुरूपदेशमन्तरेण समुत्पन्ना कर्मजा। (चा. सा. पृ. ९७)।

२ गुरु के उपदेश के बिना तपश्चरण के बल से उत्पन्न होने वाली बुद्धि को कर्मजा प्रज्ञा कहते हैं। अथवा औषधि सेवन के बल से जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसे कर्मजा प्रज्ञा कहते हैं।

कर्मठ—××× कर्मठः कर्मशूरः कर्माणि घटते। (योगशा. स्वो. विव. १–५५)।

जो कार्य करने में शूर हो उसे कर्मठ कहते हैं।

कर्मदलिकनिषेक—देखो कर्मनिषेक। १. आबाहूणिया कम्मट्ठिती कम्मणिसेगो। (षट्खं. १, ९–६, ६, ९, १२, १५ इत्यादि—पु. ६, पृ. १५० आदि)। २. अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९४, पृ. ४७९)।

आबाधा या अबाधा काल से रहित कर्मों की स्थिति को कर्मनिषेक या कर्मदलिक निषेक कहते हैं।

कर्मद्रव्यपुद्गलपरिवर्तन—१. एकस्मिन् समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन पुद्गला ये गृहीताः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। उक्तं च—सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण। असइं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे॥ (स. सि. २–१०; भ. आ. विजयो. १७७३; त. वृत्ति श्रुत. २–१०)। २. कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन् समये जीवेनैकेनाष्टविधकर्मभावेन ये पुद्गला गृहीताः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णास्ततो गृहीतानगृहीतान् मिश्राननन्तवारानतीत्य त एव कर्मस्कन्धास्तेनैव विधिना तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनमिति। (मूला. वृ. ८–१४)। ३. कर्मपुद्गलपरिवर्तनमुच्यते एकस्मिन् समये केनचिज्जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये गृहीताः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिसमयेषु निर्जीर्णाः पूर्वोक्तक्रमेणैव त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य कर्मभावं प्राप्नुवन्ति तावत्कालं कर्मपुद्गलपरिवर्तनं भवति। शेषसर्वविशेषो नोकर्मपरिवर्तनवत् ज्ञातव्यः। (गो. जी. जी. प्र. ५६०)।

१ एक जीव ने एक समय में आठ प्रकार के कर्मरूप से परिणत जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, तत्पश्चात् एक समय अधिक आवलीकाल के पश्चात् द्वितीयादि समयों में उन्हें निर्जीर्ण कर दिया। पुनः अनन्त वार अगृहीत और अनन्त वार मिश्र पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण किया व छोड़ा तथा मध्य में गृहीत पुद्गलों को अनन्त वार ग्रहण किया व छोड़ा। इस प्रकार गृहीत, अगृहीत और मिश्र परमाणुओं को अनन्तवार ग्रहण करने के पश्चात् निर्जीर्ण कर देने पर उसी जीव के जब वे ही कर्मपुद्गल पूर्वोक्त प्रकार से कर्मरूपता को

प्राप्त होते हैं तब इतने काल में उसका कर्मद्रव्य-परिवर्तन पूरा होता है।

कर्मद्रव्यभाव—कम्मदव्वभावो णाणावरणादिदव्व-कम्माणं अण्णाणादिसमुप्पायणसत्ती। (धव. पु. १२, पृ. २)।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों में अज्ञानादि उत्पन्न करने की जो शक्ति होती है उसे तद्व्यतिरिक्त कर्मद्रव्य-भाव कहते हैं।

कर्मद्रव्यसंसार—कर्मद्रव्यसंसारो ज्ञानावरणादि-विषयः। (भा. सा. पृ. ८०)।

ज्ञानावरणादिरूप आठों कर्मों के पुद्गल परमाणुओं को कर्मद्रव्यसंसार कहते हैं।

कर्मनिषेक —देखो कर्मदलिकनिषेक।

कर्मनारक—कम्मणेरइओ णाम णिरयगदिसहगद-कम्मदव्वसमूहो। (धव. पु. ७, पृ. ३०)।

नरकगति के साथ आये हुए कर्मद्रव्य के समूह को कर्मनारक कहते हैं।

कर्मपुरुष—कर्म अनुष्ठानम्, तत्प्रधानः पुरुषः कर्म-पुरुषः कर्मकरादिकः। (सूत्रकृ. शी. वृ. ४, १, ५७)।

अनुष्ठान-प्रधान कर्मयोगी पुरुष को कर्मपुरुष कहते हैं।

कर्मप्रवाद —१. बंधोदयोपशमनिर्जरापर्याया अनुभव-प्रदेशाधिकरणानि स्थितिश्च जघन्य-मध्यमोत्कृष्टा यत्र निर्दिश्यते तत्कर्मप्रवादः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७६; धव. पु. ९, पृ. २२२)। २. कम्मपवादं णाम पुव्वं वीसण्ह वत्थूणं २० चत्तारिसयपाहुडाणं ४०० एगकोडि-असीदिलक्खपदेहि १८०००००० अट्ठविहं कम्मं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. १२१); ३. अथवा ईर्यापथकर्मादिसप्तकर्माणि यत्र निर्दिश्यन्ते तत्कर्मप्रवादम्। (धव. पु. ९, पृ. २२२)। ४. कम्म-पवादो समोदाणिरियावहकिरियातवाहाकम्माणं वण्णणं कुणइ। (जयध. पु. १, पृ १४२)। ५. अशीतिलक्षैककोटिपदं कर्मणां बन्धोदयोदीरणोपशम-निर्जरादिप्ररूपकं कर्मप्रवादम् १८०००००० । (श्रुत-भक्ति टी. १२, पृ. १७६)। ६. कर्मप्रवादमष्टमं ज्ञानावरणादिकं कर्म प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशादि-भिर्भेदैरन्यैश्चोत्तरोत्तरभेदैर्यत्र वर्ण्यते तत्कर्मप्रवादम्, तत्पदपरिमाणमेका पदकोटी अशीतिश्च सहस्राणीति। (समवा. अभय. वृ. १४७, पृ. १३१)। ७. कर्मणः प्रवादः प्ररूपणमस्मिन्निति कर्मप्रवादमष्टमं पूर्वम्। तच्च मूलोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं बहुविकल्पबन्धो-दयोदीरणसत्त्वाद्यवस्थं ज्ञानावरणादिकर्मस्वरूपं सम-वधानेर्यापथतपस्याधाकर्मादि वर्णयति। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३६६)। ८. कर्मबन्धोदयोपशमोदीरणा-निर्जराकथकमशीतिलक्षाधिककोटिपदप्रमाणं कर्म-प्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)।

१ जिस पूर्वश्रुत में कर्म की बन्ध, उदय, उपशम एवं निर्जरा रूप अवस्थाविशेषों का, अनुभव व प्रदेशों के आधारों का तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति का निर्देश किया जाता है उसे कर्मप्रवादपूर्व कहते हैं।

कर्मफलचेतना—१. वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो दु हवदि जो चेदा। सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ (समयप्रा. ४१९)। २. कम्माणं फलमेक्को × × ×। चेदयदि × × ×॥ (पंचा. का. ३८)। ३. ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्म-फलचेतना। (समयप्रा. अमृत. टी. ४१७); एके हि चेतयितारः प्रकृष्टतरमोहमलीमसेन प्रकृष्टतरज्ञा-नावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन प्रकृष्टतरवी-र्यान्तरायावसादितकार्य-कारणसामर्थ्याः सुख-दुःखरूपं कर्मफलमेव प्राधान्येन चेतयन्ते। (पंचा. का. अमृत. वृ. ३८); निर्मलशुद्धात्मानुभूत्यभावोपार्जितप्रकृष्ट-तरमोहमलीसेन चेतकभावेन प्रच्छादितसामर्थ्यः सन्ने-को जीवराशिः कर्मफलं वेदयति। (पंचा. का. जय. वृ. ३८)। ४. उदयागतं कर्मफलं वेदयन् शुद्धात्मस्वरूप-मचेतयन् मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयनिमित्तेन यः सुखि-तो दुःखितो वा भवति स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतम्? बीजं कारणम्। कस्य? दुःखस्य। इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता। कर्मफलचेतना कोऽर्थः इति चेत् स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासम्भवं व्यक्ता-व्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्ष-विषादमयं सुख-दुःखानुभवनं यत् सा बन्धकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते। (समयप्रा. जय. वृ. ४१९)।

३ अतिशय बलवान् वीर्यान्तराय के निमित्त से जिन जीवों (स्थावर) के कार्य करने का सामर्थ्य विनष्ट हो रहा है वे अतिशय तीव्र ज्ञानावरण के उदय से प्रभावहीन होकर जो चेतक स्वभाव मोह की उत्कटता से मलिन हो रहा है ऐसे चेतक स्वभाव से

प्रमुखतया एक मात्र सुख-दुःखरूप कर्मफल का ही जो अनुभव करते हैं, वह कर्मफलचेतना कहलाती है।

कर्मभावचेतना— १. वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं जो दु कुणदि कम्मफलं। सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ वेदंतो कम्मफलं मये कदं जो मुणदि कम्मफलं। सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥ (समयप्रा. ४१७-४१८)। २. उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्वभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति, मया कृतं कर्मेति च भणति; स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं? बीजं कारणम्। कस्य दुःखस्य। इति गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्मभावचेतना व्याख्याता। (समयप्रा. जय. वृ. ४१७, ४१८)।

उदयप्राप्त शुभ-अशुभ कर्म का अनुभवन करता हुआ अज्ञानी जीव स्वस्वभाव से भ्रष्ट होकर जो यह विचार करता है कि यह कर्म मेरा है व मैंने उसे किया है, इसे कर्मभावचेतना कहते हैं। इस अज्ञानरूप कर्मभावचेतना का फल यह होता है कि वह फिर से भी दुःख के कारणभूत उस आठ प्रकार के कर्म को बांधता है।

कर्मभूमि—१. अथ कथं कर्मभूमित्वम्? शुभाशुभकर्मणोऽधिष्ठानत्वात्। ननु सर्वलोकत्रितयं कर्मणोऽधिष्ठानमेव? तत एव प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते प्रकर्षेण यत् कर्मणोऽधिष्ठानमिति। तत्राशुभकर्मणस्तावत् सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनम्, शुभस्य च सर्वार्थसिद्ध्यादिस्थानविशेषप्रापणस्य कर्मणः उपार्जनं तत्रैव, कृष्यादिलक्षणस्य षड्विधस्य कर्मणः पात्रदानादिसहितस्य तत्रैवारम्भात् कर्मभूमिव्यपदेशो वेदितव्यः। (स. सि. ३-३७)। २. ××× यतः प्रकृष्टं शुभकर्म सर्वार्थसिद्धिसौख्यप्रापकं तीर्थकरत्वमहर्द्धिनिर्वर्तकं वा असाधारणम्। अशुभकर्म च प्रकृष्टं कलङ्कलपृथिवीमहादुःखप्रापकम् अप्रतिष्ठाननरकगमनं च कर्मभूमिष्वेवोपार्ज्यते, द्रव्य-भव-क्षेत्र-काल-भावापेक्षत्वात् कर्मबन्धस्य। सकलसंसार-[निवारण]कारणनिर्जराकर्म चात्रैव प्रवर्तते। ततो भरतादिष्वेव कर्मभूमय इति युक्तो व्यपदेशः। षट्कर्मदर्शनाच्च। षण्णां कर्मणां असि-कृषि-मषि-विद्या-वणिक् शिल्पानामत्रैव दर्शनाच्च कर्मभूमिव्यपदेशः युक्तिमान्। (त. वा. ३, ३७, २-३)। ३. कृष्यादिकर्मप्रधाना भूमिः कर्मभूमिः। (स्थाना. ३, १, १३०)।

१ जहां पर (भरत, ऐरावत व विदेह क्षेत्रोंमें) सातवें नरक में ले जाने योग्य अशुभ कर्म का तथा सर्वार्थसिद्धि आदि प्रापक शुभ कर्म का उपार्जन सम्भव है तथा जहां पर असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, और शिल्परूप षट्कर्मों के साथ पात्रदानादि भी देखे जाते हैं उसे कर्मभूमि कहते हैं।

कर्ममङ्गलम्—कर्ममङ्गलं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशधाप्रविभक्ततीर्थकरनामकर्मकारणैर्जीवप्रदेशनिबद्धतीर्थकरनामकर्म माङ्गल्यनिबन्धनत्वान्मङ्गलम्। (धव. पु. १, पृ. २९)।

दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणों के द्वारा जो तीर्थङ्कर नामकर्म जीव के प्रदेशों से सम्बद्ध होता है वह चूंकि मांगल्य का कारण है, अतः उसे कर्ममङ्गल कहा जाता है।

कर्ममास—१. ××× तीसं दिणा मासो॥ (ज्योतिष्क. ३०)। २. सावनमासस्त्रिंशदहोरात्र एव, एष च कर्ममास ऋतुमासश्चोच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५)। ३. उउ इति ऋतुः, स च किल लोकरूढ्या षष्ठ्यहोरात्रप्रमाणो द्विमासात्मकः, तस्यार्धमपि मासोऽवयवे समुदायोपचारात् ऋतुरेव, अर्थात् परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणः एष एव ऋतुमासः कर्ममास इति वा सावनमास इति वा व्यवह्रियते। उक्तं च—एस चेव उउमासो कम्ममासो सावनमासो भन्नइ इति। (व्यव. मलय. वृ. २, १५)। ४. त्रिंशदहोरात्रा एतावत्कर्ममासपरिमाणम्। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७); त्रिंशताऽहोरात्रैरेकः कर्ममासः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२, ७५, पृ. २१६)।

१ तीस दिन-रात का एक कर्ममास होता है।

कर्मयोग—१. सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते। योगो वाङ्मानसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। कर्मणा कृतो योगः कर्मयोगः। (स. सि. २-२५)। २. कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणम्। सर्वाणि शरीराणि यतः प्ररोहन्ति तद्बीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते। योगः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। कायादिवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः योग इत्याख्यायते।

कर्मनिमित्तो योगः कर्मयोगः। तस्यां विग्रहगतौ कार्मणशरीरकृतो योगो भवति यत्कृतं कर्मादानम्। यदुपपादिता चाऽमनस्कस्यापि विग्रहार्था गतिः। (त. भा. २, २५, ३–४)। ३. कर्म कार्मणं शरीरम्, कर्मैव योगः कर्मयोगः। कार्मणशरीरालम्बनात्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपा क्रियेत्यर्थः। (त. श्लो. २–२५)। ४. जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः। प्राहुर्देहान्तरप्राप्तिः कर्मग्रहणकारणम्॥ (त. सा. २-९७)। ५. निखिलशरीराङ्कुरबीजभूतं कर्मणां वपुः कर्म इति कथ्यते। ××× वाङ्मनस्कायवर्गणाकारणभूतं जीवप्रदेशपरिस्पन्दनं योगः कथ्यते, कर्मणा विहितो योगः स कर्मयोगः। स कर्मयोगो विग्रहगतावुत्तरशरीरग्रहणे भवति। (त. वृत्ति श्रुत. २–२५)।

१ कर्म से अभिप्राय अन्य सब शरीरों के कारणभूत कार्मण शरीर का है; वचन, मन और काय वर्गणाओं के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन (हलन-चलन) होता है उसका नाम योग होता है; अतः उक्त कार्मणशरीरभूत कर्म के द्वारा जो योग—आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन—होता है उसे कर्मयोग जानना चाहिए।

कर्मवर्गणा (कम्मवग्गणा)—कम्मवग्गणा णाम अट्ठकम्मखंधवियप्पा। (धव. पु. १४, पृ. ५२)।

आठ कर्मस्कन्धों के भेदभूत वर्गणा का नाम कर्मवर्गणा है।

कर्मसमुत्था बुद्धि—देखो कर्मजा बुद्धि। १. उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिघोलणविसाला। साहुक्कारफलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी॥ हेरण्णिए १ करिसए २ कोलिअ ३ डोवे अ ४ मुत्ति ५ घय ६ पवए ७। तुन्नाए ८ वड्ढइय ९ पूयइ १० घड ११ चित्तकारे अ १२॥ (नन्दी. गा. ६७–६८, पृ. १७४; आव. नि. ९४६-४७, उपदेशपद ४६–४७)। २. उवओगोऽभिनिवेसो मणसो सारो य कम्मसब्भावो। कम्मो णिच्चब्भासो कम्मपसंगो हि तप्पभवो॥ परिघोलणं वियारो विन्नासो वा तदत्थमीहा वा। साहुकयं सुट्ठु त्ति य साहुक्कारो पसंसत्ति॥ चित्तोवओगवाणा हि दिट्ठसारत्ति दिट्ठपरमत्था। कम्मपसंगपरिघोलणेहिं सुवियारवित्थिण्णा॥ विउसेहितो संसुट्ठुकयं साहुकारओ अहवा। सेसं पि फलं तेण उ तीसे तप्फलवती तो सा॥ आदीहकालपुव्वावरचिंतणओ भवे सयं मणसा। एगग्गस्स ततो जा संजायति जा य कज्जाणं॥ (विशेषा. भा. ३६१२–३६)। ३. अनाचार्यकं कर्म ××× कादाचित्कं वा कर्म ××× कर्मजा इति, कर्मणो जा कर्मजा। (आव. हरि. वृ. ९३८, पृ. ४१५)। ४. कर्मजा पुनः धीः साधुकारफला अनाचार्यजं कर्म, तत्र पुनः पुनरुपयोगात् प्रतिक्षणमभ्यस्यतस्तादृशी बुद्धिरुत्पद्यते येन प्रथमादिकर्मातिशायी पाश्चात्यं कर्मोपजायते। (त. भा. हरि. वृ. ९–६)।

१ जो बुद्धि उपयोग की स्थिरता से कर्म (क्रिया या कार्य) की यथार्थता को जानती है, कर्म के अभ्यास व विचार से विस्तार को प्राप्त होती है, और साधुकार (प्रशंसा के साथ फलवती—आर्थिक लाभ आदि रूप फल से संयुक्त—होती है वह कर्मसमुत्था—कर्मजा—बुद्धि कहलाती है। उसके स्पष्टीकरण के लिए हैरण्यिक (सुनार), कर्षक, कौलिक (जुलाहा), दर्वी (परोसने वाली), मौक्तिक, (मणिकार), घृतविक्रयी, प्लवक (बन्दर), तुन्नाग—फटे वस्त्रादि ठीक करने वाला, बढ़ई, आपूपिक, घटकार और चित्रकार, ये बारह उदाहरण दिये गये हैं।

कर्मसंवत्सर—१. संवच्छरो उ बारस मासो पक्खा य ते चउव्वीसं। तिन्नेव सया सट्ठा हवंति राइंदियाणं तु॥ इय एस कमो भणिओ नियमा संवच्छरस्स कम्मस्स। कम्मो त्ति सावणो त्ति य उउ त्ति य तस्स नामाणि॥ (ज्योतिष्क. २, ३१–३२)। २. एवंविधद्वादशमासनिष्पन्नः सावनसंवत्सरः, स चायं त्रीणिशतान्यह्नां षष्ट्यधिकानि (३६०)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ३. कर्म—लौकिको व्यवहारः, तत्प्रधानः संवत्सरः कर्मसंवत्सरः, लोको हि प्रायः सर्वोऽप्यनेनैव संवत्सरेण व्यवहरति तथा चैतद्गतं मासमधिकृत्यान्यत्रोक्तम्—कम्मो निरंसयाए मासो व्यवहारकारगो लाए (?)। सेसाओ संसयाए ववहारे दुक्करो घेत्तुं। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७, पृ. १६६); कर्मसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि रात्रिंदिवानाम्—तिन्नि सया पुण सट्ठा कम्मो संवच्छरो होइ। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७); विसमं पवालिणो परिणमंति अणुउसु दिंति पुप्फफलं। वासं न सम्म वासइ तमाहु संवच्छरं कम्मं॥ यस्मिन् संवत्सरे

वनस्पतयो विषमं—विषमकालं—प्रवालिनः परिणमन्ति—प्रवालः पल्लवाङ्कुरस्तद्युक्ततया परिणमन्ति, तथा अनृत्त्व [अनृतुष्व] स्व-स्वऋत्वभावेऽपि पुष्पं फलं च ददाति प्रयच्छति, तथा वर्षं पानीयं न सम्यक् यस्मिन् संवत्सरे मेघो वर्षति तमाहुर्महर्षयः संवत्सरं कर्म्मं, कर्मसंवत्सरमित्यर्थः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५८, पृ. १७२)।

१ बारह मास, चौबीस पक्ष या तीन सौ साठ दिन रात प्रमाण काल को कर्मसंवत्सर कहते हैं। २ जिस वर्ष में वृक्षों के पत्र, पुष्प और फल अपनी ऋतु के पूर्व ही आ जावें या बिना ऋतु के भी आ जावें, और जिस वर्ष मेघ समय पर जलवर्षा न करें, उसे भी कर्मसंवत्सर कहते हैं।

कर्मसिद्ध—कम्मं जमणायरिओवएसयं सिप्पमण्णहाऽभिहिअं। किसिवाणिज्जाईयं घड-लोहाराइभेयं च॥
जो सव्वकम्मकुसलो जो जत्थ सुपरिनिट्ठिओ होइ।
सज्झगिरिसिद्धओ विव स कम्मसिद्ध त्ति विन्नेओ॥
(आव. नि. ९२८–२९)।

जो सह्यगिरिसिद्धक के समान अनाचार्योपदिष्ट असि, मषि, कृषि आदि कर्मों में कुशल है उसे कर्मसिद्ध कहते हैं।

कर्मस्थिति—१. ××× सव्वकम्माणं ठिदीओ ण घेप्पंति, किंतु एकस्सेव कम्मट्ठिदी घेप्पदि। कुदो? गुरूवदेसादो। तत्थ वि दंसणमोहणीयस्स चेव सत्तरिसागरोवमकोडाकोडिमेत्ताए गहणं कादव्वं, पाहण्णियादो। कुदो पहाणत्तं? संगहिदासेसकम्मट्ठिदीए। (धव. पु. ४, पृ. ४०३); कम्मट्ठिदि त्ति वुत्ते सत्तरिसागरोवमकोडाकोडिमेत्ता (ठिदी) घेत्तव्वा। (धव. पु. ७, पृ. १४५)।

कर्मों में दर्शनमोहनीय की जो सत्तर कोडाकोडि सागरोपम प्रमाण सर्वोत्कृष्ट स्थिति है, उसी का कर्मस्थिति से ग्रहण होता है, अन्य सब कर्मस्थितियों का नहीं।

कर्मस्थित्यनुयोगद्वार—कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे सव्वकम्माणं सत्तिकम्मट्ठिदिमुक्कड्डणोकड्डणजणिदट्ठिदिं च परूवेदि। (धव. पु. ९, पृ. २३६); कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे एत्थ महावाचया अज्जणंदिणो संतकम्मं करेंति, महावाचया ट्ठिदिसंतकम्मं पयासंति। (धव. पु. १६, पृ. ५७७)।

जिस अर्थाधिकार में सब कर्मों की शक्तिस्थिति और उत्कर्षण-अपकर्षणजनित स्थिति की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम कर्मस्थिति है। यह महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों में से २२वां अनुयोगद्वार है।

कर्महानि—कर्महानिर्मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां यथासम्भवमुपशमः क्षयोपशमः क्षयो वा। (सा. ध. स्वो. टी. १–६)।

सम्यक्त्व के रोकने वाले मिथ्यात्वादिक कर्मों का जो यथासम्भव उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है; इसका नाम कर्महानि है।

कर्महुङ्कित—कर्महुङ्कितः कृतब्रह्महत्यादिमहापातकः। (प्रा. वि. पृ. ७४)।

ब्रह्महत्या आदि महापापों के करने वाले पुरुष को कर्महुङ्कित कहते हैं।

कर्मार्य—१. कर्मार्या यजन-याजनाध्ययनाध्यापन-प्रयोग कृषि-लिपि-वाणिज्य-योनिपोषणवृत्तयः। (त. भा. ३–१५)। २. कर्मार्यास्त्रेधा—सावद्यकर्मार्या अल्पसावद्यकर्मार्या असावद्यकर्मार्याश्चेति। सावद्यकर्मार्याः षोढा—असि-मषी-कृषि-विद्या-शिल्प-वणिक्कर्मभेदात्। ××× षडप्येते अविरतिप्रवणत्वात् सावद्यकर्मार्याः। अल्पसावद्यकर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च, विरत्यविरतिपरिणतत्वात्। असावद्यकर्मार्याः संयताः, कर्मक्षयार्थोद्यतविरतिपरिणतत्वात्। (त. वा. ३, ३६, २)। ३. यजनैर्याजनैः शास्त्राध्ययनाध्यापनैरपि। प्रयोगैर्वाप्तयावृत्तिमन्त कर्मार्यकाः स्मृताः॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ६७६)।

१ यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, प्रयोग, कृषि, लेखन, व्यापार और योनिपोषण कर्मों से आजीविका करने वालों को कर्मार्य कहते हैं। २ सावद्यकर्मार्य, अल्पसावद्यकर्मार्य और असावद्यकर्मार्य के भेद से कर्मार्य तीन प्रकार हैं। सावद्यकर्मार्य—असि-मषी आदि छह कर्मों से आजीविका करने वाले। अल्प सावद्यकर्मार्य—देशविरति के परिपालक श्रावक और श्राविकायें। असावद्य कर्मार्य—सर्व कर्मक्षय में उद्यत संयत (महाव्रती)।

कर्मेन्द्रिय— ××× कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि वचनादिक्रियानिमित्तानि सन्ति ××× उपयोगसाधनेषु ह्येन्द्रियव्यपदेशो युक्तो न क्रियासाधनेषु। (त. वा. २, १५, ५–६)।

जो भाग वचनादिक्रिया की कारण हैं उन वचन, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ को कर्मेन्द्रिय कहा जाता है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक—१. कम्माणं मज्झगयं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं। भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥ (ल. न. च. १८; बृ. न. च. १९१)। २. कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा संसारी जीवः सिद्धसदृक्शुद्धात्मा। (आलापप. पृ. १५८)।

२ जो द्रव्यार्थिक नय संसारी जीव को कर्मरूप उपाधि से रहित सिद्धसमान शुद्ध ग्रहण करता है वह कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध पर्यायार्थिक—१. देहीणं पज्जाया सुद्धा सिद्धाण भणइ सारित्था। जो इह अणिच्च सुद्धो पज्जयगाही हवे स णओ ॥ (ल. न. च. ३१; बृ. न. च. २०४)। २. कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावो नित्यशुद्धपर्यायार्थिको यथा—सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः। (आलापप. पृ. १५९)।

२ जो पर्यायार्थिक नय संसारी जीवों की अवस्थाओं को सिद्ध अवस्था के समान स्वीकार करता है उसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक—१. भावेसु राययादी सव्वे जीवंमि जो दु जपेदि। सो हु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहिसावेक्खो ॥ (ल. न. च. २१; बृ. न. च. १९४)। २. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा—क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा। (आलापप. पृ. १५८)।

१ जो जीव में कर्मजनित राग-द्वेषादि भावों को बतलाता है उसे कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक-नय कहते हैं।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध पर्यायार्थिकनय—१. भणइ अणिच्चा सुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जो हु। होइ विभाव अणिच्चो असुद्धओ पज्जयात्थणओ ॥ (ल. न. च. ३२; बृ. न. च. २०५)। २. कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको यथा—संसारिणामुत्पत्ति-मरणे स्तः। (आलापप. पृ. १५९)।

२ जो संसारी जीवों की उत्पत्ति व मरण को स्वीकार करता है उसे कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहा जाता है।

कर्वट—१. ××× गिरिवेढिवं च कव्वडयं ॥ (ति. प. ४-१३९८)। २. पर्वतावरुद्धं कव्वडं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३५)। ३. कव्वडणामाणि तहा धरणीधरपरिउडा भणसमिद्धा। (जं. दी. प. ७-५०)। ४. कर्वटं कुनगरम्। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. १७५; औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७४)।

१ पर्वत से वेष्टित ग्राम को कर्वट कहा जाता है। ४ कुत्सित नगर का नाम कर्वट है।

कर्वटकथा—कर्वटं सर्वत्र पर्वतेन वेष्टितो देशः, कथात्र सम्बध्यते कर्वटकथा। (मूला. वृ. ९-८९)।

जो देश सब ओर पर्वत से घिरा हुआ हो उसे कर्वट और उससे सम्बद्ध कथा को कर्वटकथा कहा जाता है।

कर्ष (कंस)—१. अर्धतृतीयधरणानि सुवर्णः, स च कंसः। (त. वा. ३, ३८, ५)। २. अड्ढाइज्जा धरणा य सुवण्णो सो य पुण करिसो ॥ (ज्योतिष्क. १-१८)। ३. अर्धतृतीयानि धरणान्येकः सुवर्णः, स एव चैकः सुवर्णः कर्ष इत्युच्यते। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. १-१८)।

अढ़ाई धरण (मापविशेष) प्रमाण एक सुवर्ण होता है। इसको कर्ष भी कहा जाता है।

कर्षक— ××× कर्षकः कर्षणात्तथा। (पद्मच. ६-२०९)।

जो खेत को जोतता व बोता है वह कर्षक (कृषक) कहलाता है।

कलह—परसन्तापजननं कलहः। (धव. पु. १२, पृ. २८५)।

दूसरों को सन्ताप उत्पन्न करने का नाम कलह है।

कलहप्राभृत—कलहणिमित्तगद्दह-जर-खेटयादिदव्वमुवयारेण कलहो। तस्स विसज्जणं कलहपाहुडं। (जयध. पु. १, पृ. ३२५)।

कलह के कारणभूत गधा, जीर्ण वस्तु और खेट (विष) आदि द्रव्यों को उपचार से कलह और उसके विसर्जन (भेजने) को कलहप्राभृत कहा जाता है।

कलहवाक्—परोप्परविरोहहेदुकलहवाया। (अंग-प. २९२)।

परस्पर विरोध के कारणभूत वचन को कलहवाक् कहा जाता है।

कलहकर—तत्र कलहो वाचिकं भण्डनम्, तत्करणशीलो ऽप्रशस्तक्रोधाद्यौदयिकभाववशतः कलहकरः। (आव. नि. मलय. वृ. १०८६, पृ. ५६७)।

वाचनिक लड़ाई का नाम कलह है, निन्द्य क्रोधादि के वश होकर जो स्वभावतः इस कलह का करने वाला होता है वह कलहकर कहलाता है।

कला—१. त्रिंशत्काष्ठा कला। (धव. पु. ६, पृ. ६३)। २. चित्तकम्म—पत्तच्छेज्जादी कला णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ३. त्रिंशत्काष्ठाभिः कला। (पंचा. का. ज. वृ. २५)। ४. षोडशाभिः काष्ठाभिः कला। (नि. सा. वृ. ३१)।

१ तीस काष्ठाओं (नेत्रनिमेषों) की एक कला होती है। २ चित्रकर्म और पत्रछेदन आदि को कला कहा जाता है।

कल्क—कल्को नाम प्रसूत्यादिषु रोगेषु क्षारपातनमथवाऽत्मनः शरीरस्य देशतः सर्वतो वा लोध्रादिभिरुद्वर्तनम्। (व्यव. मलय. वृ. ३, पृ. ११७)।

प्रसूति आदि रोगों में भस्म या नमक को गिराना अथवा अपने शरीर के थोड़े से भाग में या पूरे ही शरीर में लोध्र (लोभान) आदि द्रव्यों से उबटन करने को कल्क कहते हैं।

कल्ककुरुक—कक्ककुरुया य माया नियडीए डंभणं ति जं भणियं। (प्रव. सारो. ११५)।

माया व्यवहार का नाम कल्ककुरुक है। अभिप्राय यह कि शठता से दूसरों को जो ठगा जाता है या धोखा दिया जाता है उसे कल्ककुरुक कहते हैं।

कल्प (स्वर्ग)—१. प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः। (त. सू. ४-२४)। २. प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः भवन्ति, सौधर्मादय आरणाच्युतपर्यन्ता इत्यर्थः। (त. भा. ४-२४)। ३. इन्द्रादयः प्रकारा वक्ष्यमाणा दश एषु कल्प्यन्ते इति कल्पाः। (त. वा. ४, ३, ३)। ४. इन्द्रादिदशतया कल्पनात् कल्पाः। सौधर्मादयोऽच्युतान्ताः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१८); इन्द्रादिदशकल्पनात्मकत्वात् कल्पाः सौधर्मादयोऽच्युतपर्यवसाना इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-२४)।

२ ग्रैवेयकों से पहिले, अर्थात् सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त, कल्प कहे जाते हैं। ३ इन्द्र-सामानिक आदि दश भेदों की जहाँ तक—सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त—कल्पना है वहाँ तक देवविमानों की कल्प संज्ञा है।

कल्प (अनुष्ठेय)—या कुशलेन परिणामेन बाह्यवस्तुप्रतिसेवना सा कल्पः। (व्यव. मलय. वृ. १, ३६, पृ. १६)।

कुशल परिणाम से—विवेकपूर्वक सावधानी के साथ—बाह्य वस्तुओं का जो सेवन किया जाता है, इसका नाम कल्प है।

कल्प (काल)—१. ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ दो वि मिलिदाओ कप्पो हवदि। (धव. पु. ९, पृ. १३६)। २. उत्सर्पिण्यवसर्पिणीनामकाभ्यां द्वाभ्यां कालाभ्यां कल्पः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ३-२७)।

१ दश कोडाकोडि सागर प्रमाण अवसर्पिणी और उतना ही उत्सर्पिणी, ये दोनों मिलकर कल्प-काल कहे जाते हैं।

कल्पद्रुममह—देखो कल्पवृक्षमह। १. दत्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्तते। कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः॥ (म. पु. ३८-३१)। २. कल्पवृक्षोऽर्थिनः प्रार्थितार्थैः संतर्प्य चक्रवर्तिनि [तिभिः] क्रियमाणो महः। (चा. सा. पृ. २१; कार्तिके. टी. ३९१)। ३. किमिच्छकेन दानेन जगदाशाः प्रपूर्य यः। चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः॥ (सा. ध. २-२८)। ४. कल्पद्रुमैरिवाशेषजगदाशा प्रपूर्यते। चक्रिभिर्यत्र पूजायां सा कल्पद्रुमाभिधा॥ (भावसं. वाम. ५५७)। ५. चक्रिभिः क्रियमाणा या कल्पवृक्ष इतीरिता। (धर्मसं. श्रा. ९-३०)।

१ याचकों को किमिच्छक—उनकी इच्छा के अनुसार—दान देकर चक्रवर्तियों के द्वारा जो पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम या कल्पवृक्ष पूजा कहा जाता है।

कल्पना—१. कल्पना हि जाति-द्रव्य-गुण-क्रियापरिभाषाकृतो बाह्यबुद्धिविकल्पः। (त. वा. १, १२, ११)। २. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना। (सिद्धिवि. वृ. १-८, पृ. ३७ पं. १); अभिलापवती प्रतीतिः कल्पना। (सिद्धिवि. टी. १-८, पृ. ३८ पं. ३)। ३. अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्राध्यारोपः कल्पना। (न्यायकु. १-३, पृ. १५)।

२ शब्द सम्बन्ध के योग्य प्रतिभास से युक्त प्रतीतिका नाम कल्पना है।

कल्पवृक्ष—देखो कल्पद्रुम।

कल्पव्यवहार—देखो कल्प्यव्यवहार। यतीनां योग्यसेवनसूचकमयोग्यसेवनप्रायश्चित्तकथकं कल्पव्यवहारम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)।

जो शास्त्र मुनि जनों के लिए योग्य वस्तुओं के सेवन और अयोग्य का सेवन होने पर उसके लिए प्रायश्चित्त का निरूपक है उसका नाम कल्पव्यवहार है।

कल्पाकल्प—देखो कल्प्याकल्प्य। कालमाश्रित्य यति-श्रावकाणां योग्यायोग्यनिरूपकं कल्पाकल्पम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)।

जो शास्त्र काल के आश्रय से मुनि और श्रावकों के के लिए योग्य-अयोग्य वस्तुओं की प्ररूपणा करता है वह कल्पाकल्प कहलाता है।

कल्पातीत—१. कल्पानतीताः कल्पातीताः। (स. सि. ४-१७; त. वा. ४-१७)। २. नवग्रैवेयका नवानुदिशाः पञ्चानुत्तराश्च कल्पातीताः, कल्पातीतनामकर्मोदये सति कल्पातीतत्वात् तेषामिन्द्रादिदशतयकल्पनाविरहात् सर्वेषामहमिन्द्रत्वात्। (त. श्लो. ४-१७)। ३. विमानोपपन्नकाः ग्रैवेयकानुत्तरलक्षणविमानोत्पन्नाः, कल्पातीता इत्यर्थः। (स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७७)। ४. कल्प आचारः, कल्पमतीताः अतिक्रान्ताः कल्पातीताः अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकादिनिवासिनः, ते हि सर्वेऽप्यहमिन्द्राः, ततो भवन्ति कल्पातीताः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-३८, पृ. ७०)। ५. तथा यथोक्तरूपात् कल्पादतीता अपेताः कल्पातीताः। (बृहत्सं. वृ. २)। ६. कल्पेभ्योऽतीताः अतिक्रान्ताः उपरितनक्षेत्रवर्तिनः नवग्रैवेयकदेवा नवानुदिशामृताशनाश्च पंचानुत्तरनिवासिनो निर्जराश्च त्रिप्रकारा अपि अहमिन्द्राः कल्पातीताः कथ्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ४-१७)।

१ जो कल्पों से अतीत हैं—इन्द्र-सामानिक आदि दस भेदों की कल्पना से रहित हैं—वे कल्पातीत कहलाते हैं। ४ कल्प नाम आचार (व्यवहार) का है। उस कल्प से जो रहित हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। अभिप्राय यह है कि अधस्तन-अधस्तन ग्रैवेयक से लेकर अनुत्तर विमानों तक के देव कल्पातीत माने गये हैं। इसका कारण यह है कि वे सब अहमिन्द्र—इन्द्रादि की कल्पना से रहित हैं।

कल्पिका—१. या कुशलेन—ज्ञानादिरूपेण—परिणामेन बाह्यवस्तुप्रतिसेवना सा कल्पः, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्। कल्प्यः प्रतिषेवणा कल्पिका इति भावः। (व्यव. मलय. वृ. १-३६, पृ. १६)। २. या पुनः कारणे क्रियते सा कल्पिका। (व्यव. मलय. वृ. २ ३८, पृ. १४)।

ज्ञानादिरूप कुशल परिणाम के साथ जो बाह्य वस्तु का सेवन किया जाता है, इसे कल्पिका कहते हैं।

कल्पित—१. कप्पियं नाम जं जस्स असंतेण भावेण दिट्ठंतो कज्जइ। एत्थ गाहा—जह अम्हे तह तुम्हे तुब्भेवि य होहिहा जहा अम्हे। अप्पाहेइ पडंतं पंडुयपत्तं किसलयाणं॥ एयं कप्पियं। (दशवै. चू. पृ. ४०)। २. कल्पितं स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितमुच्यते। (दशवै. हरि. वृ. १-५३, पृ. ३४)।

जिस वस्तु का वस्तुतः सद्भाव न हो, किन्तु किसी को समझाने के लिए दृष्टान्त के रूप में कल्पना की गई हो, उसे कल्पित कहते हैं। जैसे—वृक्ष से गिरते हुए जीर्ण धवल पत्र नवजात कोमल पत्तों को सन्देश देते हैं कि जैसे हम हैं वैसे तुम भी हो—तुम भी हमारे समान जीर्ण होकर गिरने वाले हो। (पत्ते आपस में बातचीत नहीं कर सकते, फिर भी अभिमान के निराकरणार्थ किसी को उनका कल्पित दृष्टान्त दिया गया है।)

कल्पोपग—देखो कल्पोपन्न।

कल्पोपपन्न—१. कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः। (स. सि. ४-१७)। २. कल्पेषूपपन्नाः। × × × उक्तमेतत्—इन्द्रादिदशतया कल्पनासद्भावात् कल्पा इति। (त. वा. ४-१७)। ३. कल्पोपपन्ना इन्द्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पोपपन्ननामकर्मोदयवशवर्तित्वाच्च। (त. श्लो. ४-१७)। ४. इन्द्रादिदशतया कल्पनात् कल्पाः सौधर्मादयोऽच्युतान्ताः, तेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१८)। ५. कल्पोपपन्नकाः सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्नाः। (स्थानां. अभय. वृ. २, १, ७७)। ६. कल्पः आचारः, स चेह इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशादिव्यवहाररूपः, तमुपगाः प्राप्ताः कल्पोपगाः सौधर्मेशानादिदेवलोकनिवासिनः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-३८, पृ. ७०)। ७. तत्र कल्पः स्थितिविशेष उच्यते "कल्पः स्थितिर्जीतं मर्यादेत्यनर्थान्तरमिति"

वचनप्रामाण्यात् । स्थितिविशेषश्चेहेन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशादिव्यवस्थारूप: प्रतिपत्तव्य:, तं कल्पं स्थितिविशेषरूपम् उपपन्ना: प्रतिपन्ना. कल्पोपपन्ना: । (बृहत्सं. मलय. वृ. २) । ८. कल्पेषु षोडशेषु स्वर्गेषु उपपन्ना: संबद्धा: कल्पोपपन्ना: । (त. वृत्ति श्रुत. ४–१७) ।

१ जो देव कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं । २ कल्प का अर्थ है इन्द्र-सामानिक आदि व्यवहाररूप आचार, इस प्रकार के आचार को प्राप्त देव कल्पोपग या कल्पोपन्न कहलाते हैं ।

कल्प्यव्यवहार—देखो कलप्यव्यवहार । १. कल्प्यववहारे साहूणं जोग्गमाचरणं अकप्पसेवणाए पायच्छित्तं च वण्णेइ । (धव. पु. १, पृ. ९८); कप्पववहारो साहूणं जं जम्हि काले कप्पदि पिच्छ-कमण्डलु-कवली-पोत्थयादि परूवेदि. अकप्पसेवणाए कप्पस्स असेवणाए च पायच्छित्तं परूवेदि । (धव. पु. ६, पृ. १९०) । २. रिसीणं जो कप्पइ ववहारो तम्हि खलिदे जं पायच्छित्तं तं च भणइ कप्पववहारो । (जयध. पु. १, पृ. १२०) । ३. कल्प्यं योग्यम्, व्यवह्रियते अनुष्ठीयते अस्मिन्ननेनेति वा कल्प्यव्यवहार: शास्त्रम् । तत् ऋषीणां योग्यमनुष्ठानविधानम् अयोग्यसेवायां प्रायश्चित्तं च वर्णयति । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६८) । ४. यतीनां कल्प्यं योग्यमाचरणम्, आचरणच्यवने तदुचित्त-प्रायश्चित्तं च प्ररूपयत्कल्प्यव्यवहारम् । (श्रुतभक्ति टी. २५, पृ. १७९–८०) । ५. कप्पववहारो जहिं ववहिज्जइ जोगकप्पमाजोगा । सत्थं अवि इसिजोग्गं आयरणं कहदि सव्वत्थ ।। (अंगप. ३–२७, पृ. ३०९) ।

१ साधुओं के लिए पीछी, कमण्डलु, कवली व पुस्तक आदि जिस जिस उपकरण की जिस काल में आवश्यकता होती है उसको तथा अग्राह्य वस्तु के सेवन और ग्राह्य वस्तु के असेवन से उत्पन्न दोष के प्रायश्चित्त को भी जिसमें प्ररूपणा की जाती है उसका नाम कल्प्यव्यवहार है ।

कल्प्याकल्प्य—१: कप्पाकप्पियं साहूणं जं कप्पदि जं च ण कप्पदि, तं सव्वं वण्णेदि । (धव. पु. १, पृ. ९८); कप्पाकप्पियं साहूणं जं कप्पदि जं च ण कप्पदि, तं दुविहं पि दव्व-खेत्त-कालमस्सिदूण परूवेदि । (धव. पु. ६, पृ. १९०–९१) । २. साहूणमसाहूणं च जं कप्पइ, जं च ण कप्पइ तं सव्वं दव्व-खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण भणइ कप्पाकप्पियं । (जयध. पु. १, पृ. १२१; श्रुतभ. टी. २५; अंगप. ३–२८, पृ. ३०९) । ३. कल्प्यं चाकल्प्यं च कल्प्याकल्प्यं वर्ण्यते अस्मिन्निति कल्प्याकल्प्यम् । तत् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानामाश्रित्य साधूनामिदं कल्प्यं योग्यम्, इदमकल्प्यम् अयोग्यमिति विभागं वर्णयति । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६८)। ४. सागार-यतीनां कालविशेषमाश्रित्य योग्यायोग्यविकल्पमाचरणं निरूपयत् कल्प्याकल्प्यं स्तौमि । (श्रुतभ. टी. २५, पृ. १८०) । ५. कप्पाकप्पं तं चिय साहूणं जत्थ कप्पमाकप्पं । वण्णिज्जइ आसिच्चा दव्वं खेत्तं भवं कालं ।। (अंगप. ३–२८, पृ. ३०९) ।

१ जिस शास्त्र में द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा साधुओं को जो ग्रहण करने योग्य है और जो ग्रहण योग्य नहीं है, इस सब की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम कल्प्याकल्प्य है ।

कल्याण—कल्यं सुखमारोग्यं शोभनत्वं वा, तदणतीति कल्याणम्, तदस्यास्तीति कल्याण: । (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ५, २७) ।

सुख, आरोग्य व सुन्दरता आदि के प्रगट होने को कल्याण कहते हैं ।

कल्याणनामधेयपूर्व—१. रवि-शशि-ग्रह-नक्षत्र-तारागणानां चारोपपाद-गतिविपर्ययफलानि शकुन-व्याहृतमर्हद्बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहाकल्याणानि च यत्रोक्तानि तत्कल्याणनामधेयम् । (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ९, पृ. २२३) । २. कल्लाणामधेयं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० विसदपाहुडाणं २०० छव्वीसकोडिपदेहि २६००००००० रवि-शशि-ग्रह नक्षत्र-तारागणाणां चारोपपाद-गतिविपर्ययफलानि शकुनव्याहृतमर्हद्-बलदेव-वासुदेव-चक्रधरादीनां गर्भावतरणादिमहा-कल्याणानि च कथयनि । (धव. पु. १, पृ १२१, १२२) । ३. कल्लाणपवादो गह-णक्खत्त-चंद-सूर-चारविसेसं अट्ठगमहाणिमित्तं तित्थयर-चक्कवट्टि-बल-नारायणादीणं कल्लाणाणि च वण्णेदि । (जयध. पु. १, पृ. १४५) । ४. षड्विंशतिकोटिपदं अर्हद्-बलदेव-चक्रवर्त्यादीनां कल्याणप्रतिपादकं कल्याणनामधेयम् । (श्रुतभ. २३, पृ. १७६) । ५. कल्लाणवादपुव्वं छव्वीसगुकोडिपयप्पमाणं तु । तित्थहर-

चक्कवट्टीबलदेवसमद्धचक्कीणं ॥ गब्भावयरणउच्छव सिरत्थवराबीसु पुण्णहेदु च । सोलहभावणकिरिया-तवाणि वण्णेदि (स)विसेसं ॥ गरचंदसूरगहण-गहणक्खत्तादिचारसउणाइं । तेसिं च फलाइं पुणो वण्णेदि सुहासुहं जत्थ ॥ (अंगप. २, १०४-६, पृ. २९९-३००) । ६. तीर्थंकर-चक्रवर्ति-बलभद्र-वासुदेवेन्द्रादीनां पुण्यव्याकीर्णं षड्विंशतिकोटिपदप्रमाणं कल्याणपूर्वम् । (त. वृत्ति श्रुत. १-२०) ।

१ जिस पूर्वश्रुत में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारागण के संचार, उपपाद एवं विपरीत गति के फल तथा शकुन-अपशकुन के फल व तीर्थंकर, बलदेव, वासुदेव एवं चक्रवर्ती आदि के गर्भादि महाकल्याणकों की प्ररूपणा की जाती है, उसे कल्याणनामधेय पूर्व कहते हैं ।

कल्योजकल्योज राशि—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा, से तं कलिओग-कलिओगे । (भगवती भा. ४, ३५, १, २, पृ. ३३१)। जिस राशि में चार का भाग देने पर एक संख्या शेष रहे उसे कल्योज-कल्योज कहते हैं । जैसे—१३ (१३÷४=३¼) ।

कल्योजकृतयुग्म—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा से तं कलिओग-कडजुम्मे । (भगवती ४, ३५, १, २, पृ. ३३१) । जिस राशि में चार का भाग देने पर चार शेष रहें अर्थात् शेष कुछ न रहे उसे कल्योजकृतयुग्म कहते हैं । जैसे १६ (१६÷४=४) ।

कल्योज-त्र्योज—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा से तं कलिओगतेयोए । (भगवती ४, ३५, १, २, पृ. ३३१) ।

जिस राशि में चार का भाग देने पर तीन शेष रहें, उसे कल्योज-त्र्योज कहते हैं । जैसे—१५ (१५÷४=३¾) ।

कल्योजद्वापरयुग्म—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा, से तं कलिओगदावरजुम्मे । (भगवती ४, ३५, १, २, पृ. ३३१) । जिस राशि में चार का भाग देने पर दो शेष रहें उसे कल्योजद्वापरयुग्म कहते हैं । जैसे—१४ (१४÷४=३½) ।

कवच—१. कवचे यथा कवचस्य शरशतनिपातदुःखनिवारणक्षमता एवमाचार्येण निर्यापकेन धर्मोपदेशश्चतुर्गतिपरिभ्रमणे दुःसहानि दुःखानि ननु कर्मपरवशतया भुक्तानि निष्फलानि(?) । इदं पुनर्दुःखसहनं निर्जरार्थं प्रवर्त्यमानं सकलदुःखान्तं सुखमप्यतीन्द्रियमचलमनुपममव्याबाधात्मकं सम्पादयिष्यतीति क्रियमाणो दुःखनिवारणसामान्यात् कवचशब्देनोच्यते । (भ. आ. विजयो. ७०) । २. कवचं धर्मोपदेशेन दुःखनिवारणम् । (अन. ध. स्वो. टी. ७-९८; भ. आ. मूला. टी. ७०) ।

१ जिस प्रकार कवच सैकड़ों बाणों के लगने से उत्पन्न होने वाले दुःख के निवारण में समर्थ होता है उसी प्रकार निर्यापक आचार्य के द्वारा किया गया उपदेश चतुर्गति के दुःखों के — जिन्हें कर्म के परवश होकर पूर्व में भोगा है—निवारण में समर्थ होता हुआ अतीन्द्रिय, शाश्वत, अनुपम एवं अव्याबाध सुख को उत्पन्न करने वाला है । इसीलिये दुःख के निवारण में कवच की समानता रखने के कारण आचार्य के द्वारा किये जाने वाले इस धर्मोपदेश को कवच शब्द से कहा जाता है ।

कवचमुद्रा—पुनर्मुष्टिबन्धं विधाय कनीयस्यंगुष्टौ प्रसारयेदिति कवचमुद्रा । (निर्वाणक. १९-४) । मुट्ठी बांध करके कनिष्ठा और अंगुष्ठ के फैलाने को कवचमुद्रा कहते हैं ।

कवल—किं कवलप्रमाणम् ? सालितंदुलसहस्से ट्ठिदे जं कूरपमाणं तं सव्वमेगो कवलो होदि । एसो पयडिपुरिसस्स कवलो परूविदो । (धव. पु. १३, पृ. ५६) ।

हजार शालि धान के चावलों के होने पर जो कूर (भात) का प्रमाण होता है वह सब पुरुष का प्राकृतिक एक ग्रास (कौर) माना जाता है ।

कव्वाडभृतक—कव्वाडभृतकः क्षितिखानकः ओडादिः, यस्य स्वं कर्माप्यंते द्विहस्ता त्रिहस्ता वा त्वया भूमिः खनितव्यैतावत्ते धनं दास्यामीति एवं नियम्यतेति । (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २७१, पृ. १९२) ।

तुम दो या तीन हाथ भूमि खोदो, मैं तुम्हें इतना धन दूंगा, इस प्रकार ठेका पर भूमि खोदने वाले मनुष्य को कव्वाडभृतक कहा जाता है।

कषशुद्ध—१. विधि-प्रतिषेधौ कष इति। (ध. बि. २-५३)। २. विधिः अविरुद्धकर्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यम्—यथा स्वर्ग-केवलार्थिना तपोध्यानादि कर्तव्यं समिति-गुप्तिशुद्धा क्रिया इत्यादि। प्रतिषेधः पुनः 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि, नानृतं वदेत्' इत्यादि। ततो विधिश्च प्रतिषेधश्च विधि-प्रतिषेधौ, किमित्याह—'कषः' सुवर्णपरीक्षायामिव कषपट्टके रेखा। इदमुक्तं भवति—यत्र धर्मे उक्तलक्षणो विधिः प्रतिषेधश्च पदे पदे सुपुष्कल उपलभ्यते स धर्मः कषशुद्धः। (ध. बि. मु. वृ. २-३५)।

कर्तव्य कार्य के विधायक—जैसे स्वर्ग या केवलज्ञान के अभिलाषी को तप व ध्यान आदि करना चाहिए—और अकर्तव्य कार्य के निषेधक—जैसे किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिए, असत्यभाषण नहीं करना चाहिये आदि—वाक्य कष हैं—धर्म के विषय में कसौटी के समान हैं। अभिप्राय यह है कि जिस धर्म में पूर्वोक्त विधि और प्रतिषेध पद-पद में प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं वह धर्म कषशुद्ध कहलाता है।

कषाय—१. कम्मं कसभवो वा कसमाओ सि जओ कसाया तो। कसमाययंति व जओ गमयंति कसं कसायत्ति॥ आओ व उवायाणं तेण कसाया जओ कसस्साया। जीवपरिणामरूवा जेण उ नामाइनियमोऽयं॥ (विशेषा. ३५४५-४६)। २. सुह-दुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स। संसारगदी मेरं तेण कसाओ त्ति णं विंति॥ (प्रा. पंचसं. १-१०९; धव. पु. १, पृ. १४२ उद्.; गो. जी. २८१)। ३. चारित्रमोहविशेषोदयात् कलुषभावः कषाय औदयिकः। चारित्रमोहस्य कषायवेदनीयस्योदयादात्मनः कालुष्यं क्रोधादिरूपमुत्पद्यमानं कषत्यात्मानं हिनस्तीति कषाय इत्युच्यते। (त. वा. २, ६, २); कषत्यात्मानमिति कषायः। क्रोधादिपरिणामः कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः। (त. वा. ६, ४, २)। ४. 'कष गतौ' इति कषशब्देन कर्माभिधीयते भवो वा, कषस्य आया लाभाः प्राप्तयः कषायाः क्रोधादयः। (आव. हरि. वृ. १०९, पृ. ७७)। ५. कषः संसारः, तस्यायाः प्राप्तयः कषायाः कषायमोहनीयम्। (पंचसं. स्वो. वृ. १-१२३, पृ. ३५)। ६. क्रोधादयोऽप्रीति-गर्व-परवञ्चना-मूर्च्छालक्षणाः कषायाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)। ७. सुख-दुःखबहुशस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः। ××× (धव. पु. १, पृ. १४१; धव. पु. ७, पृ. ७); दुःखशस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्तीति कषायाः क्रोध-मान-माया-लोभाः। (धव. पु. ६, पृ. ४१); सुख-दुःखशस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः। (धव. पु. १३, पृ. ३५९)। ८. कषन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कषायाः। कषायशब्देन वनस्पतीनां त्वक्-पत्र-मूल-फलरसैः उच्यते। स यथा वस्त्रादीनां वर्णमन्यथा संपादयति एवं जीवस्य क्षमामार्दवार्जव-संतोषाख्यगुणान् विनाश्यान्यथा व्यवस्थापयन्तीति क्रोध-मान-माया-लोभाः कषाया इति भण्यन्ते। (भ. आ. विजयो. २७); कषन्ति हिंसन्ति आत्मक्षेत्रमिति कषायाः। अथवा तरूणां वाल्कलरसः कषायः, कषाय इव कषायः। (भ. आ. विजयो. ११५)। ९. कषणादात्मनो घातात् कषायः कुगतिप्रदः। (त. श्लो. ६, ४, २)। १०. ये चारित्रपरीणामं कषन्ति शिवकारणम्। क्रुन्मानवंचनालोभास्ते कषायाश्चतुर्विधाः। (पंचसं. अमित. १-२०३)। ११. क्रोधादिपरिणामवशेन कषन्तीति कषायाः। (मूला. वृ. १२-१५६); दुःखसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्तीति कषायाः। (मूला. वृ. १२-१५९)। १२. चारित्रपरिणामानां कषायः कषणान्मतः। (त. सा. २-८३)। १३. ××× कषायः कर्षतीत्यसौ। (आचा. सा. ५-१५)। १४. कष्यते ऽस्मिन् प्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति कषः संसारः, तस्मिन् आ समन्तादयन्ते गच्छन्त्यैभिरसुमन्त इति कषायाः। यद्वा कषाया इव कषायाः, यथा हि तुवरिकादिकषायकलुषिते वाससि मञ्जिष्ठादिरागः श्लिष्यति चिरं चावतिष्ठते तथैतत् कलुषित आत्मनि कर्म सम्बध्यते चिरतरस्थितिकं च जायते तदायत्तत्वात् तत्स्थितेः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८०, पृ. १९०)। १५. तत्र कृषन्ति - विलिखन्ति कर्मक्षेत्रं सुख-दुःखफलयोग्यं कुर्वन्ति कलुषयन्ति वा जीवमिति निरुक्तिविधिना कषायाः। उक्तं च—सुहदुक्खबहुसईयं कम्मक्खेत्तं कसंति ते जम्हा। कलुसंति जं च जीवं तेण कसायत्ति वुच्चति॥ अथवा कषति—

हिंसन्ति देहिन इति कषं कर्म भवो वा, तस्यायाः उपादानहेतुत्वात् कषं वा प्रापयन्ति गमयन्ति देहिन इति कषायाः। उक्तं च—कम्मं कसं भवो वा कसमाओ सिं जओ कसायाओ। कसमाययंति व जओ गमयंति कसं कसाय त्ति॥ (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २४९)। १६. कष्यन्ते हिंस्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्ननेनेति वा कषः संसारः कर्म वा, तस्यायाः लाभाः प्राप्तय इति कृत्वा, अथवा कषं संसारमयन्त एभिरिति कृत्वा। (योगशा. स्वो. विव. ४-६)। १७. कषन्ति हिंसन्ति शुद्धचिद्विवर्तलक्षणप्राणैर्वियोजयन्त्यात्मानमिति कषायाः, अथवा वनस्पतीनां त्वग्मूलफलाश्रितो रसविशेषः कषायः, कषाय इव कषायः। (भ. आ. मूला. २७)। १८. कषच्छष-शिषेत्यादिदण्डकधातुः हिंसार्थः। कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारः, 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पा. ३, ३, १८); इति घ प्रायग्रहणात्, अन्यथा हि हलन्तत्वात् 'हलश्च' (पा. ३, ३, १२१) इति घञ् स्यात्। कषमयन्ते गच्छन्ति एभिर्जन्तव इति कषायाः क्रोधादयः। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ५, ७३)। १९. कष[ष]न्ति हिंसन्ति परस्परं प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः संसारः, तमयन्ते अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् गमयन्ति प्रापयन्ति ये ते कषायाः। (प्रज्ञाप. मलय. १३-१८२, पृ. २८५); 'कृष विलेखने' कृषन्ति—विलिखन्ति कर्मरूपं क्षेत्रं सुख-दुःखशस्योत्पादनायेति कषायाः, ××× यदि वा कलुषयन्ति —शुद्धस्वभावं सन्तं कर्ममलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः। ××× उक्तं च—सुहदुक्खबहुस्सइयं कम्मक्खेत्तं कसंति ते जम्हा। कलुसंति जं च जीवं तेण कसाय त्ति वुच्चंति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४, १८६, पृ. २९०)। २०. तत्र कषाया नाम कष्यन्ते हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः संसारः, तमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः क्रोधादयः परिणामविशेषाः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १५)। २१. सम्मत्त-देस-सयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे। घादंति वा कसाया ××× ॥ (गो. जी २८२); कषायाः संयमविरुद्धास्तीव्रपरिणामाः कषायाः भावक्रोधादयः। (गो. जी. म. प्र. टी. ३५)। २२. कषन्ति हिंसन्ति संयमगुणमिति कषायाः। (गो. जी. जी. प्र. ३४)। २३. तत्र अन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम्। (पञ्चाध्यायी २-११३५)। २४. कषन्त्यात्मानमेवात्र कषायाविति दर्शिताः। पञ्चविंशतिसंख्याका मोहकर्मोदयोद्भवः॥ (जम्बू. च. १३-१०८)। २५. कालुष्यं स्यात् कषायः ××× (अध्यात्मक. मा. ४-२)। २६. कष्यन्ते हिंस्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः संसारस्तस्यायाः लाभाः कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। (संग्रहणी दे. वृ. २७२, पृ. १२४)। २७. 'कषति हिनस्त्यात्मानं दुर्गतिं प्रापयतीति कषायः—अथवा कषायो न्यग्रोधत्वक्-बिभीतक-हरीतकादिकवस्त्रे मंजिष्ठादिरागश्लेषहेतुर्यथा तथा क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणकषायः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-४)। कषन्ति हिंसन्ति सम्यक्त्वादीनीति कषायाः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१४); कषन्तीति कषायाः दुर्गतिपातलक्षणस्वभावाः कषायाः। (त. वृत्ति श्रुत. ८-२)।

१ कर्म अथवा संसार को कष कहा जाता है। इस प्रकार के कष अर्थात् कर्म या संसार को जो प्राप्त कराया करते हैं, उनका नाम कषाय है। ३ चारित्रमोह के भेदभूत कषायवेदनीय के उदय से आत्मा में जो क्रोधादिरूप कलुषता उत्पन्न होती है वह चूंकि आत्मा का विघात करती है, अतएव उसे कषाय कहा जाता है।

कषाय (रसविशेष) — अन्नरुचिस्तम्भनकर्मा कषायः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०; त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२३)।

जिसके सेवन से अन्न के खाने की रुचि बढ़े, और जो स्तम्भक हो, उसे कषायरस कहते हैं।

कषायकुशील—१. वशीकृतान्यकषायोदयः संज्वलनमात्रतंत्राः कषायकुशीलाः। (स. सि. ९-४६; चा. सा. पृ. ४५)। २. येषां तु संयतानां सतां कथञ्चित् संज्वलनकषाया उदीर्यन्ते ते कषायकुशीलाः। (त. भा. ९-४८)। ३. वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतंत्रत्वात् कषायकुशीलाः। (त. वा. ९, ४६, ३)। ४. कषायैः संज्वलनक्रोधाद्युदयलक्षणैः कुशीलः कषायकुशीलः। (प्रव. सारो. वृ. ७२५)। ५. शमितान्यकषाया ये ससंज्वलनमात्रकाः। ते कषायकुशीलाः स्युः ××× ॥ (ह. पु. ६४, ६२)। ६. कषायाः संज्वलनाख्यास्तदुदयात् कुत्सितं शीलमेषामिति कषायकुशीलाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४८)। ७. संज्वलनमात्रोदयः कषायोदयस्तेन

योगात् मूलोत्तरगुणभृतोऽपि × × × कषायकुशीला उच्यन्ते। (त. श्लो. ९-४६)। ८. संज्वलनाऽपर-कषायोदयरहिताः संज्वलनकषायमात्रवशवर्तिनः कषायकुशीलाः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-४६)।

१ अन्य कषायों के उदय पर विजय पाकर भी जो केवल संज्वलन कषाय के वशीभूत होते हैं वे कषाय-कुशील कहे जाते हैं।

कषायरस नामकर्म—जस्स कम्मस्स उदएण सरी-रपोग्गला कसायरसेण परिणमंति तं कषायरसं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल कषाय रस से परिणत होते हैं उसे कषायरस नामकर्म कहते हैं।

कषायलोक—कोधो माणो माया लोभो उदिण्णा जस्स जंतुणो। कषायलोगं वियाणाहि अणंतजिण-देसिदं॥ (मूला. ७-५१)।

जिस जीव के क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का उदय पाया जावे उसे कषायलोक जानना चाहिए।

कषायविवेक—द्रव्यतः कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविधः— भ्रूलतासंकोचनं पाटलेक्षणता अधरावमर्दनं शस्त्रनिकटीकरणम् इत्यादिकायव्या-पाराकरणम्, हन्मि ताडयामि शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च। परपरिभवादिनिमित्तचित्त-कलंकाभावो भावतः क्रोधविवेकः। तथा मानकषाय-विवेकोऽपि वाक्कायाभ्यां द्विविधः—गात्राणां स्तब्ध-ताकरणं शिरस उन्नमनम् उच्चासनारोहणादिकं च यन्मानसूचनपरं तस्य कायव्यापारस्याकरणम्, मत्तः को वा श्रुतपारगः सुचरितः सुतपोधरश्चेति वचना-प्रयोगश्च। एवमेवैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहं-कारवर्जनं भावतो मानकषायविवेकः। वाक्काया-भ्यां मायाविवेको द्विप्रकारः—अन्यं ब्रुवतः इवान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, मायां न करोमि न कारयामि नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः, अन्यत् कुर्वत् इवान्यस्य कायेना-करणं कायतो मायाविवेकः। लोभकषायविवेको-ऽपि द्विविधः—यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य करप्रसारणं द्रव्यदेशानपायिता तदुपादातुकामस्य कायेन निषेधनं हस्तसंज्ञया निवारणं शिरश्चालनया वा, एतस्य कायव्यापारस्य अकरणं कायेन लोभविवेकः शरीरेण वा द्रव्यानुपादानम्, एतन्मदीयं वास्तु-ग्रामादिकं वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारणं लोभविवेकः नाहं कस्यचिदीशो न च मम किंचिदिति वचनं वा। ममेदं भावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभ-विवेकः। (भ. आ. विजयो. १६८)।

कषायविवेक द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार का है। उनमें भी प्रत्येक काय और वचन के भेद से दो प्रकार का है। ये सब क्रोधादि के भेद से चार चार प्रकार के हैं। यथा—भृकुटियों को संकोचित करना, नेत्रों का लाल होना, अधरोष्ठ का दबाना और शस्त्र को समीप करना; इत्यादि जो क्रोध की सूचक शरीर की प्रवृत्ति हुआ करती है उसका न करना, यह द्रव्यतः कायिक क्रोधकषाय-विवेक कहलाता है। मैं मारता हूं या ताडित करता हूं, इत्यादि क्रोध के सूचक वचनों का प्रयोग नहीं करना; इसका नाम वाचनिक क्रोधकषाय-विवेक है। मन में दूसरों के परिभव आदि का कलुषित विचार न आने देना, इसे भावतः क्रोध-विवेक जानना चाहिए। इसी प्रकार से पृथक्-पृथक् मान, माया और लोभ कषायों के सम्बन्ध में सम-झना चाहिये।

कषायवेदनीयकर्म—१. तत्र क्रोधादिकषायरूपेण यद्वेद्यते तत्कषायवेदनीयम्। (श्रा. प्र. टी. १६; धर्मसं. मलय. वृ. ६१३; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३, २९३, पृ. ४६८)। २. जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५९)।

२ जिस कर्म के उदय से जीव कषाय का वेदन करता है उसे कषायवेदनीय (चारित्रमोहनीय का भेद) कहते हैं।

कषायसमुद्घात—१. द्वितयप्रत्ययप्रकर्षोत्पादित-क्रोधादिकृतः कषायसमुद्घातः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७७)। २. कसायसमुग्घादो णाम कोध-भयादीहि सरीरत्तिगुणविप्फुज्जणं। (धव. पु. ४, पृ. २६); कसायतिव्वदाए सरीरदो जीवपदेसाणं तिगुणविप्फुंजणं कसायसमुग्घादो णाम। (धव. पु. ७, पृ. २९९)। ३. तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्य-क्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति कषायसमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. १०)। ४. कषायेण कषायोदयेन, समुद्घातः कषायसमुद्घातः, स च कषायचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः। × × × अथ

समुद्घात इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—समिति एकीभावे, उत् प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः। केन सह एकीभावगमनम् ? इति चेत् उच्यते—अर्थात् वेदनादिभिः। तथा हि—यदा आत्मा वेदनादिसमुद्घातगतो भवति तदा वेदनाद्यनुभवज्ञानपरिणत एव भवति, नान्यज्ञानपरिणतः। प्राबल्येन घातः कथम् ? इति चेत् उच्यते—इह वेदनादिसमुद्घातपरिणतो बहून् वेदनीयादिकर्मपुद्गलान् कालान्तरानुभवनयोग्यान् उदीरणाकरणेनाकृष्य उदयावलिकायां प्रक्षिप्यानुभूयानुभूय निर्जरयति—आत्मप्रदेशेभ्यः शातयतीति भावः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १७)। ५. तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनं संग्रामे सुभटानां रक्तलोचनादिभिः प्रत्यक्षदृश्यमानमिति कषायसमुद्घातः। (कार्तिके. टी. १७६)।

२. कषाय की तीव्रता से जीवप्रदेश जो शरीर से तिगुने फैल जाते हैं, इसे कषायसमुद्घात कहते हैं। ४ समुद्घात में 'सम्' का अर्थ एकीभाव और उत् का अर्थ प्रबलता है, जीव जब वेदनादिरूप किसी समुद्घात को प्राप्त होता है तब वह एक मात्र वेदना आदि के अनुभवज्ञान से परिणत होता है—अन्य ज्ञान से परिणत नहीं होता, यही वेदनादि के साथ उसका एकीभाव है। साथ ही जब वह उक्त वेदनादिसमुद्घात को प्राप्त होता है तब वह कालान्तर में अनुभवन के योग्य बहुत से वेदनादिरूप कर्मपुद्गलों का उदीरणा करण के द्वारा अपकर्षण करके उन्हें उदयावली में प्रक्षिप्त करता हुआ अनुभवपूर्वक निर्जीर्ण करता है— आत्मप्रदेशों से पृथक् करता है। यही प्रबलता से घात है। इससे यह अभिप्राय हुआ कि कषायोदय से जो पूर्वोक्त प्रकार समुद्घात होता है उसे कषायसमुद्घात समझना चाहिये।

कषायसल्लेखना—१. अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहणा भणिदा। (भ. आ. २५९)। २. सद्ध्यानप्रकरैः कषायविषया सल्लेखना श्रेयसी, (आचा. सा. १०-१०)। ३. कषायाः क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणास्तेषां सल्लेखना सन्यासः सर्वथा परिहारः। (आरा. सा. टी. २२)।

काक-अन्तराय— काक-श्वादिविड्उत्सर्गो भोक्तुमन्यत्र यात्यधः। यतौ स्थिते वा काकाख्यो भोजनत्यागकारणम्॥ (अन. ध. ५-४३)।

साधु के भोजन के लिए जाते समय अथवा स्थित होने पर काक व कुत्ता आदि के द्वारा बीट के कर देने पर काक नाम का अन्तराय होता है जो भोजन के परित्याग का कारण है।

काकलेश्या—कायलेस्सिया णाम तदियो वादवलओ। कधं तस्स एसा सण्णा ? कागवण्णत्तादो। सो कागलेस्सिओ णाम। (धव. पु. ११, पृ. १६)।

तीसरा तनुवातवलय चूंकि कौवे के समान वर्णवाला है, अतः उसे काकलेश्या कहा जाता है।

काकादिपिण्डहरण— काकादिपिण्डहरणं काकगृध्रादिना करात्। पिण्डस्य हरणे × × × अश्नतः × × ×॥ (अन. ध. ५-४६)।

भोजन करते समय काक व गिद्ध आदि के द्वारा साधु के हाथ से भोजन हर ले जाने पर काकादिपिण्ड-हरण नाम का अन्तराय होता है।

काङ्क्षा—१. ऐहलौकिक-पारलौकिकेषु विषयेष्वाशंसा काङ्क्षा। सोऽतिचारः सम्यग्दृष्टेः। (त. भा. ७-१८)। २. × × × कंखा अन्नन्नदंसणग्गाहो (श्रा. प्र. ८७)। ३. × × × दर्शनेषु वा (आशंसा)। तथा चागमः—कंखा अण्णण्णदंसणग्गाहो। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७-१८)। ४. काङ्क्षा गार्द्धयम् आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलम्। × × × दर्शनाद् व्रताद् दानात् देवपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुलं रूपं वित्तं स्त्री-पुत्रादिकं शत्रुमर्दनं स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा सातिशयं स्यादिति काङ्क्षा इह गृहीता। एषा अतिचारो दर्शनस्य। (भ. आ. विजयो. ४४); काङ्क्षा गार्द्धयम्। (भ. आ. विजयो. २१२)। ५. कंखा कुग्गाहपणीयदरिसणेसु गाहो अभिलासो। अओ भणियं—कंखा अन्नोन्नदंसणग्गाहो। (पंचाशक चू. पृ. ४६)। ६. काङ्क्षा अन्यान्यदर्शनग्रहः। (योगशा. स्वो. विव. २-१७)। ७. या रागात्मनि भङ्गुरे परवशे सन्तापतृष्णारसे, दुःखे दुःखदबन्धकारणतया संसारसौख्ये स्पृहा। स्याज्ज्ञानावरणोदयैकजनितभ्रान्तेरिदं दृक्तपोमाहात्म्यादुदियान्ममेत्यतिचरत्येषैव काङ्क्षा

१ परिणामों की विशुद्धि का नाम कषायसल्लेखना है। अभिप्राय यह है कि क्रोधादि कषायों के कृश करने को कषायसल्लेखना कहते हैं।

दृक्षम् ॥ (भग. व. २–७५) । ८. कंखा आकांक्षा । सा च प्रतिनियतविषयैव ग्राह्या, ××× ततो दर्शन-व्रत-दान - देवार्चन-तपोजनितपुण्यमाहात्म्यात् कुलं रूपं वित्तं स्त्री-पुत्रादिकं शत्रूपमर्दनं स्त्रीत्वं पुंस्त्वं सातिशयं मे भूयादित्याशंसनं दर्शनस्य मलः स्यात् । (भ. आ. मूला. ४४) । ९. इह-परलोक-भोगाकाङ्क्षणं काङ्क्षा (त. वृत्ति श्रुत. ७–२३; कार्तिके. टी. ३२६) ।

१ इस लोक व पर लोक सम्बन्धी विषयों की इच्छा करना, इसका नाम कांक्षा है । ४ कांक्षा का अर्थ गृद्धि (लोलुपता) व आसक्ति होता है । सम्यग्दर्शन, व्रत, दान, देवपूजा और तपश्चरण से उपार्जित पुण्य के द्वारा मुझे कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रु का विनाश तथा स्त्री या पुरुष पर्याय विशेषता से संयुक्त प्राप्त हो; ऐसी इच्छा करना, इसका नाम कांक्षा है । यह सम्यग्दर्शन को दूषित करने वाली—उसका अतिचार—है ।

काणकक्रयी—काणकक्रयी बहुमूल्यमपि अल्पमूल्येन चौराहृतं काणकं हीनं कृत्वा क्रीणातीति । (प्रश्न-व्या. अभय. वृ. पृ. १६३) ।

जो चोर के द्वारा लाये गये बहुत मूल्य वाले भी कानक को—कनकनिर्मित आभूषणादि को—हीन करके थोड़े से मूल्य में ले लेता है उसे कानकक्रयी कहते हैं ।

कानन—सामान्यवृक्षवृन्दं नगरासन्नं काननम् । (जीवाजी. मलय. वृ. १४२) ।

नगर के समीपवर्ती साधारण वृक्षों के समुदाय को कानन कहते हैं ।

कापटिक—परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः कापटिकः । (नीतिवा. १४–६) ।

दूसरे के मर्म के जानने वाले प्रगल्भ छात्र को कापटिक कहते हैं ।

कापोतलेश्या—१. रूसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोयभयबहुलो । असुयदि परिभवदि परं पसंसदि य अप्पयं बहुसो ॥ ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणमिव परं पि मण्णंतो । तूसदि अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणि-वड्ढीओ ॥ मरणं पत्थेइ रणे देदि सुबहुअं हि थुव्वमाणो दु । ण गणइ अकज्ज-कज्जं लक्खणमेदं तु काउस्स ॥ (प्रा. पंचसं. १, १४७–४९; धव. पु. १, पृ. ३८९ उ.; गो. जी. ५११–१३) । २. नील-लोहितवर्णद्रव्योपलिप्तद्रव्याव-ष्टम्भात् कापोतलेश्या ××× कापोतलेश्यायाः प्रातिलोम्येनानिष्टपरिणामापेक्षा अनिष्टा अनिष्ट-तरा अनिष्टतमा चेति । आसां षण्णामपि लेश्यानां जम्बूवृक्षफलभक्षकदृष्टान्तेनागमप्रसिद्धेन ग्रामघातक-पुरुषषट्केन च प्रसिद्धिरापाद्या । (त. भा. सिद्ध. वृ. २–६) । ३. कसायाणुभागफद्दयाणमुदयमागदाणं जहण्णफद्दयपहुडि जाव उक्कस्सफद्दया त्ति ठइदाणं छब्भागविहत्ताणं चउत्थभागो तिव्वो, तदुदएण जाद-कसाओ काउलेस्सा णाम । (धव. पु. ७, पृ. १०४) ।

१ दूसरे के ऊपर क्रोध करना, निन्दा करना, दूसरों को दुःख देना, वैर करना, शोक और भय से ग्रस्त रहना, दूसरे के ऐश्वर्यादि को सहन न कर सकना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी प्रशंसा करना, दूसरे का विश्वास न करना, अपने समान दूसरों को भी बेईमान समझना, अपनी प्रशंसा करने वाले पर प्रसन्न होना, अपनी हानि वृद्धि को न समझना, रण में मरना चाहना, स्तुति करने वाले को बहुत धन देना, कार्य-अकार्य की गणना न करना; इत्यादि प्रकार की मनोवृत्ति या भावों की कलुषता को कापोतलेश्या कहते हैं । २ नील और लाल वर्णयुक्त द्रव्यों के आश्रय से जो परिणति होती है, उसका नाम कापोतलेश्या है ।

कापोतलेश्यारस—जह तरुणअंबयरसो तुवर-कविट्ठस्स वावि जारिसओ । इत्तो वि अणंतगुणो रसो उ काऊए नायव्वो ॥ (उत्तरा. ३४–१२) ।

कच्चे आम या कच्चे कैथ के खट्टे रस से भी अनन्तगुणा कापोतलेश्या का रस होता है ।

कापोतलेश्यावर्ण—अयसीपुप्फसंकासा कोइलच्छ-दसन्निभा । पारेवयगीवनिभा काउलेस्सा उ वण्णओ ॥ (उत्तरा. ३४–६) ।

वर्ण की अपेक्षा कपोतलेश्या अलसी के फूल, कोकिलच्छद (एक वनस्पति) और कबूतर के गले के वर्ण के समान होती है ।

काम (पुरुषार्थ)—१. आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः । (नीति. ३–१; योगशा. स्वो. विव. १–५२) । २. संकल्परमणी-यस्य प्रीतिसंभोगशोभिनो रुचिरस्याभिलाषस्य नाम काम इति स्मृतिरिति वचनात् कामश्च यथेष्टाभि-मानिकरसानुविद्धसर्वेन्द्रियप्रीतिहेतुः कुलाङ्गनासङ्गि-

नां सुप्रतीतः। (सा. ध. स्वो. टी. २–५१)।

१ जिसके आश्रय से अभिमान पूर्ण रस से सम्बद्ध होकर सभी इन्द्रियों को प्रीति उत्पन्न होती है, उसे काम कहते हैं।

काम (अरिषड्वर्गान्तर्गत)—तत्र परपरिगृहीता-स्वनूढासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः। (योगशा. स्वो. विव. १–५६; ध. बि. मु. वृ. १–१५)।

पर स्त्री अथवा अविवाहित स्त्रियों के विषय में दुष्ट अभिप्राय रखना, इसका नाम काम है। यह अरिषड्वर्ग के अन्तर्गत काम का लक्षण है।

कामकथा—रूवं वग्रो य वेसो दक्खत्तं सिक्खियं च विसएसु। दिट्ठ सुयमणुभूयं च संथवो चेव कामकहा॥ (दशवै. नि. १९२)।

सुन्दर रूप, यौवन अवस्था, आकर्षक वेषभूषा, दाक्षिण्य (मृदुता), विषयों की शिक्षा, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत और संस्तव (परिचय); इनके आश्रय से जो चर्चा की जाती है वह कामकथा कहलाती है।

कामतीव्राभिनिवेश—१. कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः। (स. सि. ७–२८, त. वा. ७, २८, ४)। २. कामस्य प्रवृद्धः परिणामः अनुपरतवृत्त्यादिः कामतीव्राभिनिवेशः इत्युच्यते। (त. वा. ७, २८, ४; चा. सा. पृ. ७)। ३. कामस्य कन्दर्पस्य तीव्रः प्रवृद्धः अभिनिवेश अनुपरतप्रवृत्तिपरिणामः कामतीव्राभिनिवेशः, यस्मिन् काले स्त्रियां प्रवृत्तिरुक्ता तस्मिन्नपि काले कामतीव्राभिनिवेशः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२८)। ४. कामसेवायां प्रचुरतृष्णाबहुला कांक्षा, यस्मिन् काले स्त्रियां प्रवृत्तिरुक्ता तस्मिन् काले कामतीव्राभिनिवेशः। (कार्तिके. टी. ३३७–३८)। ५. कामतीव्राभिनिवेशो दोषोऽतीचारसंज्ञकः। दुर्दान्तवेदनाक्रान्तस्मरसंस्कारपीडितः। (लाटीसंहिता ६–७८)।

१ कामसेवन की बढ़ी हुई परिणति को कामतीव्राभिनिवेश कहते हैं।

कामतीव्राभिलाष—देखो कामतीव्राभिनिवेश। १. कामे तीव्राभिलाषश्चेति सूचनात् काम-भोगतीव्राभिलाषः। कामाः शब्दादयः, भोगा रसादयः, एतेषु तीव्राभिलाषः अत्यन्ततदध्यवसायित्वम्। (श्रा. प्र. टी. २७३)। २. तथा कामे कामोदयजन्ये मैथुने अथवा सूचनात् सूत्रमिति न्यायात् कामेषु काम-भोगेषु तत्र कामौ शब्द-रूपे, भोगा गन्ध-रस-स्पर्शाः, तेषु तीव्राभिलाषः अत्यन्ततदध्यवसायित्वं यतो वाजीकरणादिनाऽनवरतसुरतसुखार्थं मदनमुद्दीपयति। (ध. बि. मु. वृ. ३–२६)।

२ काम से अभिप्राय मैथुन क्रिया का है, तद्विषयक उत्कट इच्छा रखना, इसका नाम कामतीव्राभिलाष है। अथवा शब्द और रूप को काम तथा गन्ध, रस और स्पर्श को भोग कहा जाता है। इन पांचों के विषय में उत्कट इच्छा रखना, यह कामतीव्राभिलाष नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार है।

काम-भोगाशंसाप्रयोग — काम-भोगाशंसाप्रयोगः जन्मान्तरे चक्रवर्ती स्यां वासुदेवो महामण्डलिकः सुभगो रूपवानित्यादि, एतद्वर्जयेद् भावयेच्चाशुभं जन्मपरिणामादिरूपं संसारपरिणाममिति। (श्रा. प्र. टी. ३८५)।

पर भव में मैं चक्रवर्ती, नारायण, महामण्डलीक, सुन्दर व रूपवान् होऊँ; इत्यादि प्रकार की इच्छा करने को काम-भोगाशंसाप्रयोग कहते हैं।

कामराग — कामरागः प्रियप्रमदादिविषयसाधनवस्तुगोचरः। (उपदे. मु. वृ. १८९)।

प्यारी स्त्री आदि के विषयों की साधनभूत अभीप्सित वस्तुओं में जो राग होता है उसे कामराग कहते हैं।

कामरूप, कामरूपित्व— १. जुगवं बहुरूवाणि जं विरयदि कामरूवरिद्धी सा॥ (ति. प. ४–१०३२)। २. कामरूपित्वं नानाश्रयानेकरूपधारणं युगपदपि कुर्यात्। तेजोनिसर्गे सामर्थ्यमेतदादि इति इन्द्रियेषु मतिज्ञानविशुद्धिविशेषात् दूरात् स्पर्शनाऽऽस्वादन-घ्राण-दर्शन-श्रवणानि विषयाणां कुर्यात्। (त. भा. १०–७, पृ. ३१६)। ३. युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वमिति। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। ४. युगपदनेकरूपधारणं कामरूपित्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०–७)। ५. इच्छिदरूवग्गहणसत्ती कामरूवित्तं णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७६)। ६. युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वमिति, यथाभिलषितैकमूर्तार्थाकारं स्वाङ्गस्य मुहुर्मुहुः करणं कामरूपित्वमिति वा। (चा. सा. पृ. ९८)। ७. कामरूपित्वं युगपदेव नानाकाररूपविकरणशक्तिः। (योगशा. स्वो. विव. १–८)। ८. अनेकरूपकरणं मूर्ताकारकरणं वा कामरूपित्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ एक साथ अनेक रूपों के रचने की शक्ति को कामरूप ऋद्धि कहते हैं। २ अनेक आश्रय वाले नाना रूपों को एक ही साथ धारण करना, तेजोलेश्या आदि (शीतलेश्या) के छोड़ने का सामर्थ्य प्राप्त होना, तथा इन्द्रियों में मतिज्ञान की विशुद्धिविशेष से रूपादि विषयों का देश व प्रमाण के नियमोल्लंघनपूर्वक ग्रहण करना; इसे कामरूपित्व ऋद्धि कहा जाता है।

कामविनय— शब्दादिविषयसम्पत्तिनिमित्तं यथा तथा प्रवर्तनं कामविनयः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. २६, पृ. २४)।

इन्द्रियों के अभीष्ट शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिए जिस किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करने को कामविनय कहते हैं।

काय—१. आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः। (त. वा. ६, ७,७, पृ. ६०३; धव. पु. १, पृ. १३८)। २. अप्पप्पवुत्तिसंचिदपोग्गलपिंडं वियाण काओ त्ति। (प्रा. पंचसं. १–७५; धव. पु. १, पृ. १३६ उद्.)। ३. सप्तानां कायानां सामान्यं कायः। (धव. पु. १. पृ. ३०८); आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः. पृथिवीकायादिनामकर्मजनितपरिणामो वा कार्यकारणोपचारेण कायः, चीयन्ते अस्मिन् जीवा इति व्युत्पत्तेर्वा कायः। (धव. पु. ७, पृ. ६)। ४. जाई अविणाभावी तस-थावर-उदयजो हवे काओ। (गो. जी. १८७)। ५. जीवस्य निवासादि शरीरं कायोऽभिधीयते, चीयते पुद्गलैरवयवसमाधानद्वारेण निर्वर्त्यत इति काय इति भावः। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ६६)। ६. औदारिकशरीरनामकर्मोदयवशात् पुद्गलैश्चीयते इति कायः। (चा. सा. पृ. ३६)। ७. जातिनामकर्माविनाभावित्रस-स्थावरनामकर्मोदयाज्जातः आत्मनस्त्रसत्वपर्यायः स्थावरत्वपर्यायश्च कायः इति जिनमते सर्वज्ञवीतरागसमये भणितो भवेत्। कायते—त्रस इति स्थावर इति च व्यवहर्तुं जनैः शब्द्यते—कथ्यते इति कायः। ××× चीयते पुष्टिं नीयते पुद्गलस्कन्धैरिति कायः औदारिकादिशरीरम्। (गो. जी. म. प्र. टी. १८१)। ८. जातिनामकर्मोदयाविनाभावि-त्रस-स्थावरनामकर्मोदयजनितः आत्मनः त्रसत्व-स्थावरत्वपर्यायः कायो नाम। (गो. जी. जी. प्र. टी. १८१)।

१ अपनी प्रवृत्ति से जो पुद्गलपिण्ड संचित होता है उसे काय कहते हैं। ३ पृथिवी काय आदि नामकर्मविशेषके उदय से प्राप्त अवस्थाविशेष को काय कहा जाता है।

कायक्रिया—१. कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते, तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया। (भ. आ. विजयो. ११८८)। २. कायस्य औदारिकादिशरीरस्य सम्बन्धिनी क्रिया परिणामः। उपकरणग्रहण-निक्षेपण-गमनादिकर्मलक्षणा कायक्रिया। (भ. आ. मूला. ११८८)।

१ काय शब्द से यहां (कायक्रिया की निवृत्तिस्वरूप कायगुप्ति के प्रकरण में) शरीर सम्बन्धी क्रिया का अभिप्राय रहा है, उसकी कारणभूत जो आत्मा की क्रिया है उसे कायक्रिया कहा गया है।

कायक्लेश—१. ठाण-सयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गये[हे]हिं बहुएहिं। अणुवीचीपरितावो कायकिलेसो हवदि एसो॥ (मूला. ५–१५६)। २. अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतधोवणं चेव। कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य॥ (भ. आ. २२७)। ३. आतपस्थानं वृक्षमूलनिवासो निरावरणशयनं बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः, तत् षष्ठं तपः। ××× यदृच्छयोपनिपतितपरिषहः, स्वयंकृतः कायक्लेशः। (स. सि. ६–१६)। ४. कायक्लेशोऽनेकविधः। तद्यथा—स्थानवीरासनोत्कटुकासनैकपार्श्वदण्डायतशयनातापनाप्रावृतादीनि। (त. भा. ६–१६)। ५. कायक्लेशः स्थानमौनातपनादिरनेकधा। प्रतिमास्थानं वाचंयमत्वम् आतपनं वृक्षमूलवासः इत्येवमादिना शरीरपरिखेदः कायक्लेश इत्युच्यते। (त. वा. ६, १६, १३)। ६. चीयत इति कायः देहस्तस्य क्लेशः अवनामादिलक्षणः कायक्लेशः। (आव. नि. हरि. वृ. ११०८, पृ. ५१६)। ७. कायः शरीरम्, तस्य क्लेशो बाधनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१६)। ८. रुक्खमूलब्भोकासादावणजोग-पलियंक-कुक्कुटासण-गोदोहवुअपलियंक-वीरासण-मयरमुह-हत्थिसोंडादीहिं जं जीवदमणं सो कायकिलेसो। (धव. पु. १३, पृ. ५८)। ९. कायक्लेशः स्थान-मौनातपनादिः। (त. श्लो. ६–१६)। १०. दुस्सहउवसग्गजई आतावणसीयवायखिण्णो वि। जो णवि खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स। (कार्तिके. टी. ४५०)। ११. कायसुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेशः। (भ. आ. विजयो.

९) । १२. कायस्य निग्रहं प्राहुस्तपः परमदुश्चरम् । (ह. पु. २०–७८) । १३. अनेकप्रतिमास्थानं मौनं शीतसहिष्णुता । आतपस्थानमित्यादि कायक्लेशो मतं तपः ।। (त. सा. ७–११) । १४. वृक्षमूलाभ्रावकाशाऽऽतपनयोग-वीरासन-कुक्कुटासन-पर्यंकार्द्ध-पर्यंक-गोदोहन-मकरमुख-हस्तिशुण्डा-मृतकशयनैकपार्श्वदण्ड-धनुःशय्यादिभिः शरीरपरिखेदः कायक्लेश इत्युच्यते । (चा. सा. पृ. ६०) । १५. सुखोपलालितः कायो नालं सद्ध्यानसिद्धये । तद्दृहदमनं कायक्लेशः क्लेशैर्मतो चितैः ।। (आचा. सा. ६–१७)। १६. ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः, स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः । योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः, कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत् ।। (अन. ध. ७–३२) । १७. कायक्लेशः जलौदनभोजनादि । (भावप्रा. टी. ७८) । १८. कायस्य क्लेशो दुःखं कायक्लेशः । उष्णर्तौ आतपे स्थितिः, वर्षर्तौ तरुमूलनिवासित्वम्, शीतर्तौ निवारण [निरावरण] स्थाने शयनम्, नानाप्रकारप्रतिमास्थानं चैत्येवमादिकः कायक्लेशः षष्ठं तपः । (त. वृत्ति श्रुत. ९, १९) । १९. आतापनादियोगेन वीर्य[वीर]चर्यासनेन वा । वपुषः क्लेशकरणं कायक्लेशः प्रकीर्तितः ।। (लाटीसंहिता ७–८०) ।

१ स्थान (कायोत्सर्ग), एक पार्श्वभाग से सोना, आसन—उत्कुटिका-वीरासन आदि; इन विविध प्रकार के बहुत से अवग्रहों—धर्मोपकारक हेतुओं—के द्वारा आगमानुसार आतापनयोग आदि से शरीर को क्लेश पहुंचाना; इसका नाम कायक्लेश है । ४ स्थान—ऊर्ध्वस्थित रहना (कायोत्सर्ग करना), वीरासन, उत्कटुकासन, दण्ड के समान शरीर को स्थिर करके एक करवट से सोना, आतापन—ग्रीष्म में तीक्ष्ण सूर्य की किरणों के सन्ताप को सहन करते हुए ध्यानावस्थित रहना, और अभ्रावृत--शीतकाल में खुले आकाश में आवरण से रहित होकर—ध्यान करना; इत्यादि प्रकार से कायक्लेश तप अनेक प्रकार का है ।

कायक्लेश-आतपनातिचार—कायक्लेशस्यातपनस्यातिचारः—उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, सन्तापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशानां स्मरणम्, कठोरातपद्वेषः, शीतलाद्देशादकृतगात्रप्रमार्जनस्य आतपप्रवेशः, आतपसन्तप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्टगात्रस्य छायानुप्रवेशः इत्यादिकः । (भ. आ. विजयो. ४८७) । उष्णता से पीड़ित होने पर शीतल द्रव्यों के समागम की इच्छा करना, यह मेरा सन्ताप कैसे दूर होगा, इस प्रकार का विचार करना, पूर्व अनुभूत शीतल द्रव्य वाले प्रदेशों का स्मरण करना, कठोर आतप के प्रति द्वेषबुद्धि रखना, शीतल स्थान से आकर शरीर के बिना प्रमार्जन किये ही आतप में प्रवेश करना, तथा घाम से संतप्त होने पर बिना शरीर के प्रमार्जन किये ही छाया में प्रवेश करना; इत्यादि आतपन-कायक्लेश के अतिचार हैं ।

कायगुप्ति—१. बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया । कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ।। (नि. सा. ६८) । २. कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती । हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि एसा ।। (मूला. ५–१३६; भ. आ. ११८८) । ३. तत्र शयनासनादान-निक्षेपस्थान-चंक्रमणेषु कायचेष्टानियमः कायगुप्तिः । (त. भा. ९–४) । ४. कायस्य गुप्तिः संरक्षणमुन्मार्गगतिरागमतः । (त. भा. हरि. वृ. ९–४) । ५. कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गे शरीरगुप्तिः स्यात् । दोषेभ्यो वा हिंसादिभ्यो विरतिस्तयोर्गुप्तिः ।। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४ उद्.) । ६. अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूभागेऽचंक्रमणं, द्रव्यान्तरादाननिक्षेप-शयनासनक्रियाणामकरणं कायगुप्तिः कायोत्सर्गो वा । ××× प्राणिपीडाकारिण्याः कायक्रियाया निवृत्तिः कायगुप्तिः । (भ. आ. विजयो. ११५); कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते, तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया, तस्या निवृत्तिः कायोत्सर्गः, शरीरस्याशुचितामसारतामापन्निमित्ततां चावेत्य तद्गतममतापरिहारः कायगुप्तिः । (भ. आ. विजयो. ११८८) । ७. सम्यग्दण्डो वपुषः ××× गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ।। (पु. सि. २०२) । ८. कायावद्यक्रियात्यागः कायगुप्तिर्मताऽथवा । कायोत्सर्गः समुत्सर्गः संगस्य द्विविधस्य यः ।। (आचा. सा. ५–१४०) । ९. स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यंकसंस्थितस्य वा । परी-

बहुप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः। (ज्ञानार्णव १८, १८)। १०. उपसर्गप्रसंगेऽपि कायोत्सर्गजुषो मुनेः। स्थिरीभावः शरीरस्य कायगुप्तिर्निगद्यते ॥ शयनासन-निक्षेपादान-चंक्रमणेषु च। स्थानेषु चेष्टानियमः कायगुप्तिस्तु सा परा ॥ (योगशा. १-४३, ४४)। ११. ××× कायोत्सर्गस्वभावां विशररतघुरापोहदेहामनीहा-कायां वा कायगुप्ति ×× × ॥ (अ. ध. ४-१५६)। १२. शरीरस्याशुचितामसारताम[मा]पन्निमित्ततां भावयतस्तद्गतममत्वपरिहारः कर्मादाननिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः कायगोचरममतात्यागपुरोगा कायगुप्तिरित्युभयं तल्लक्षणम्। (भ. आ. मूला. ११८८)।

३ शयन, आसन, आदान-निक्षेप, स्थान (ऊर्ध्व-स्थिति) और गमन आदि क्रियाओं के करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना—जीव-जन्तुओं को देख कर व रजोहरणादि से प्रमार्जित कर सावधानीपूर्वक उक्त कार्यों को करना; इसका नाम कायगुप्ति है।

कायगुप्तिअतिचार—१. असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिः कायगुप्तेरतिचारः। एकपादादिस्थानं वा जनसंचरणदेशे, अशुभध्यानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता, आप्ताभासप्रतिबिम्बाभिमुखतया वा तदाराधनव्यापृत इवावस्थानम्, सचित्तभूमौ संपतत्सु समन्ततः अशेषेषु महति वा वाते हरितेषु रोषाद्वा दर्पात् तूष्णीमवस्थानम्, निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः, कायगुप्तिरित्यस्मिन् पक्षे शरीरममताया अपरित्यागः कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचारः। (भ. आ. विजयो. १६)। २. कायगुप्तेः (अतिचारः) असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिर्जनसंचरणदेशे एकपादादिना अवस्थानम्, अशुभध्यानाभिनिविष्टस्य निश्चलत्वम्, आप्ताभासप्रतिबिम्बाभिमुखतया तदाराधनव्यापृतस्येवावस्थानम्, सचित्तभूम्यादौ रोषाद् दर्पाद्वाऽनिश्चला स्थितिः कायोत्सर्गे तद्दोषाः कायममत्वात्यागो वेत्यादिकः। (भ. आ. मूला. टी. १६)।

१ अस्वस्थ मनसे शरीर सम्बन्धी क्रियाओंका परित्याग करना, यह कायगुप्तिका अतिचार है। अथवा जनसंचारके स्थानमें एक पाँव आदिसे स्थित होना, अशुभ ध्यानमें मग्न होकर निश्चलतापूर्वक स्थित होना, आप्ताभासों की प्रतिमाओंके सामने उनके आराधनमें तत्पर के समान अवस्थित रहना; सचित्त भूमिपर चारों ओर हरितके होने पर या प्रबल वायु के वश हरितके आनेपर क्रोधसे या अभिमानसे चुपचाप स्थित होना; निश्चल स्थिति कायोत्सर्ग-कायगुप्ति है, इस पक्षमें शरीरसे ममताका न छोड़ना, अथवा कायोत्सर्ग में दोष लगाना, यह कायगुप्तिके अतिचार हैं। (मूलमें पाठ कुछ अव्यवस्थितसा दिखता है)।

कायचिकित्सा—कायस्य ज्वरादिरोगग्रस्तशरीरस्य चिकित्सा—रोगप्रतिक्रिया—यत्राभिधीयते तत्कायचिकित्सैव (विपाक. अभय. वृ. ७, पृ. ४९)।

ज्वरादि रोग-ग्रस्त शरीर की चिकित्सा (उपचार) का जहाँ वर्णन किया जाता है उसे कायचिकित्सा कहते हैं।

कायदुःप्रणिधान—१. दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानम्। प्रणिधानं प्रयोगः परिणाम इत्यनर्थान्तरम्। दुष्ठु पापं प्रणिधानं दुःप्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणिधानम्। तत्र क्रोधादिपरिणामवशात् दुष्ठु प्रणिधानं शरीरावयवानाम् अनिभृतमवस्थानम्। (त. वा. ७, ३३, २)। २, अनिरिक्खियापमज्जिय थंडिल्ले ठाणमाइ सेवंतो। हिंसाभावे वि न सो कडसामाइओ पमायाओ ॥ (श्रा. प्र. ३१५)। ३. शरीरावयवानामनिभृतावस्थानं कायदुःप्रणिधानम्। (चा. सा. पृ. ११)। ४. तत्र शरीरावयवानां पाणि-पादादीनामनिभृतताऽवस्थापनं कायदुष्प्रणिधानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-११६)। ५. दुष्टप्रणिधानं सावद्ये प्रवर्तनम्, तत्र हस्त-पादादीनामनिश्चयभूतत्वावस्थापनं कायदुष्प्रणिधानम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-३३)। ६. काययोगस्ततोऽन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने। वर्तते तदतीचारः कायदुष्प्रणिधानकः ॥ (लाटीसं. ६-१९२)।

१ पापपूर्ण प्रयोग अथवा अन्यथा परिणति का नाम दुष्प्रणिधान है। क्रोधादि के वश शरीर के अवयवों को अविनीततापूर्ण रखना, इसे कायदुष्प्रणिधान कहते हैं। २ बिना देखे और कोमल वस्त्रादि के द्वारा बिना प्रमार्जन किये ही निर्जन्तु स्थान में भी कायोत्सर्ग या उपवेशन (पद्मासन आदि) करना, यह प्रमादयुक्त होने के कारण सामायिक का कायदुष्प्रणिधान नाम का अतिचार है।

कायपरीत—यः प्रत्येकशरीरी स कायपरीतः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १८-२५३, पृ. ३९४)।

जो जीव प्रत्येकशरीरवाला हो वह कायपरीत कहलाता है।

कायप्रवीचार—कायेन प्रवीचारो मैथुनव्यवहारः सुरतोपसेवनं येषां ते कायप्रवीचाराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–७)।

शरीर से मैथुन सेवन करने वालों को कायप्रवीचार कहते हैं।

कायबल ऋद्धि—१. उक्कस्सखओवसमे पविसेसे विरियविग्घपगडीए। मास-चउमासपमुहे काउस्सग्गे वि समहीणा॥ उच्चट्ठिय तेलोक्कं झत्ति कणिट्ठंगुलीए अण्णत्थं। थविदुं जीए समत्था सा रिद्धी कायबलणामा॥ (ति. प. ४, १०६५–६६)। २. वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणकायबलत्वान्मासिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि, श्रम-क्लमविरहिताः कायबलिनः। (त. वा. ३, ३६, ३)। ३. तिहुवणं करगुलियाए उद्धरिदूण अण्णत्थ ठवणक्खमो कायबली णाम। (धव. पु. ९, पृ. ९९)। ४. [वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूताऽसाधारणकायबलत्वात् मासिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकादिप्रतिमायोग] धारणेऽपि श्रमक्लेशविरहितास्त्रिभुवनमपि कनीयांगुल्योद्धृत्याऽन्यत्र स्थापयितुं समर्थाश्च कायबलिनः। (चा. सा. पृ. ९८)। ५. वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणकायबलत्वात् प्रतिमयावतिष्ठमानाः श्रम-क्लमविरहिता वर्षमात्रप्रतिमाधराः बाहुबलिप्रभृतयः कायबलिनः। (योगशा. स्वो. विव. १–८, पृ. ३९)। ६. मास-चतुर्मास-षण्मास-वर्षपर्यन्तकायोत्सर्गकरणसमर्था अगुल्यग्रेणापि त्रिभुवनमपि उद्धृत्य अन्यत्र स्थापनसमर्थाः ये ते कायबलिनः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

२ वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए असाधारण शारीरिक बल से संयुक्त होने के कारण मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिमायोग के धारण करने पर भी जो किसी प्रकार के परिश्रम व खेद का अनुभव नहीं करते हैं वे कायबली—कायबल ऋद्धि के धारक—कहे जाते हैं।

कायबली—देखो कायबल ऋद्धि।

कायबलप्राण—१. देहुदये कायाऽऽणा × × ×॥ (गो. जी. १३१)। २. देहोदये शरीरनामकर्मोदये कायचेष्टाजननशक्तिरूपः कायबलप्राणः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. १३१)। ३. कायवर्गणावष्टम्भजनितात्मप्रदेशप्रचयशक्तिः कायबलप्राणः। (गो. जी. जी. प्र. टी. १२९)।

शरीरनामकर्म का उदय होने पर जो शरीरचेष्टा को उत्पन्न करने वाली शक्ति उदित होती है उसे कायबलप्राण कहते हैं।

काययोग—१. वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षया आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। (स. सि. ६–१; त. वा. ६, १, १०)। २. कायात्मप्रदेशपरिणामो गमनादिक्रियाहेतुः काययोगः। (त. भा. ६–१)। ३. औदारिकादिशरीरयुक्तस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः। (आव. नि. हरि. वृ. ५८३)। ४. तत्रौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४९)। ५. तत्र कायः शरीरम् आत्मनो वा निवासः पुद्गलद्रव्यघटितः स्थविरस्य दुर्बलस्य वा ऽव्वालम्बनयष्टिकादिवद् विषमेषूपग्राहकस्तद्योगाज्जीवस्य वीर्यपरिणामः शक्तिः सामर्थ्यं काययोगः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१)। ६. कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः। (धव. पु. १, पृ. २७९); सप्तानां कायानां सामान्यं कायः, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगः काययोगः। (धव. पु. १, पृ. ३०८); चउव्विहसरीराणि अवलंबिय जीवपदेसाणं संकोच-विकोचो सो कायजोगो णाम। (धव. पु. ७, पृ. ७६); वीरियंतराइयस्स सव्वघादिफद्दयाणं संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदयेण जणिदो खओवसमिओ कायजोगो। (धव. पु. ७, पृ. ७८); वाद-पित्त-सेंभादीहि जणिदपरिस्समेण जादजीवपदेसपरिप्फंदो कायजोगो णाम। (धव. पु. १०, पृ. ४३८)। ७. काययोग्यपुद्गलात्मप्रदेशपरिणामो गमनादिक्रियाहेतुः काययोगः। (योगशा. स्वो. विव. ७, ७४); तत्रौदारिक-वैक्रियाहारक-तैजस-कार्मणशरीरवतो जीवस्य वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः। (योगशा. स्वो. विव. ११–१०)। ८. चीयत इति कायः, शरीरम् इति भावः। (स्थानां. अभय. वृ. १–२१, पृ. १८); औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः। (स्थानां. अभय. वृ. १–२१, पृ. २९)। ९. वीर्यान्तरायक्षयोपशमे सति औदारिक-औदारिकमिश्र-वैक्रियिक-वैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्र-कार्मणलक्षणसप्तप्रकारशरीरवर्गणा-

नां मध्ये अन्यतमवर्गणालम्बनापेक्षयात्मप्रदेशचलनं परिस्पन्दनं परिस्फुरणं काययोगः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१)।

१ वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के सद्भाव में औदारिक व औदारिकमिश्र आदि सात प्रकार की वर्गणाओं में किसी एक का आलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द हुआ करता है उसे काययोग कहते हैं।

कायवध—××× कायवधे पृथिव्याद्युपमर्दे ××× । (आ. प्र. टी. ३४६)।

पृथिवीकायिकादि जीवों के पीड़ित करने को कायवध कहते हैं।

कायविनय—१. नीअं सिज्जं गइं ठाणं नीअं च आसणाणि अ। नीअं च पाये वंदिज्जा नीअं कुज्जा अ अंजलिं ॥ (दशवै. ६, २, १७)। २. तत्थ कायविणओ नाम तेसि चेव आयरियादीणं अद्धाणपरिस्संताण वा सीसाउ आरब्भ जाव पादतला ताव परमादरेण विस्सामणं। (दशवै. चू. पृ. २७)।

१ आचार्य आदि की अपेक्षा नीची शय्या पर सोना, उनके पीछे बहुत दूर न रहकर अनुद्धततापूर्वक गमन करना, उनके स्थान की अपेक्षा नीचे स्थान पर स्थित होना, उनकी अनुज्ञापूर्वक हीन आसन पर बैठना, सिर झुकाकर उनके चरणों की वन्दना करना तथा प्रश्न आदि के समय शरीर को नम्रीभूत रखना, इस प्रकार के नम्रतापूर्ण व्यवहार को कायविनय कहा जाता है।

कायव्युत्सर्ग—देखो कायोत्सर्ग।

कायशुद्धि—१. कायशुद्धिर्निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृतांगविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः प्रशमसुखं मूर्तमिव प्रदर्शयन्तीति तस्यां सत्यां न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतस्तस्य। (त. वा. ६, ६, १६; त. श्लो. ६–६; चा. सा. पृ. ३४)। २. विश्रम्भोप[स्पा]दिका लोकस्याऽस्तसंस्कारसंहृतिः। कायशुद्धिः क्षमामूर्तिभूतेवाऽऽभाति निःस्पृहा ॥ विरागता-लतोद्भूतिभूभिर्भीतिविवर्जिता। जातरूपमनोहारिण्येषां भूषा तपःश्रियः ॥ (आचा. सा. ८, १०–११)। ३. कायशुद्धिः सर्वत्र संवृताचारतया प्रवर्तनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५, ४५)। ४. हस्त-पाद-शिरःकम्पावष्टम्भादिर्न यत्र वै। कायदोषो भवेदेषा कायशुद्धिरिहागमे ॥ (धर्मसं. श्रा. ७–५०)।

१ वस्त्र, आभरण और शरीरसंस्कार से रहित; यथाजात मल को धारण करने वाली एवं अंगविकार से रहित जो सर्वत्र यत्नपूर्ण प्रवृत्ति होती है; उसे कायशुद्धि कहते हैं। इसके होते हुए न अपने से किसी अन्य को भय होता है और न स्वयं को किसी अन्य से भय होता है।

कायसंयम—१. कायसंयमो णाम आवस्सगाइजोगे मोत्तुं सुसमाहियपाणि-पादस्स कुम्मो इव गुत्तिदियस्स चिट्ठमाणस्स संजमो भवई। (दशवै. चू. पृ. २१)। २. कायसंयम इति। धावन-वल्गन-प्लवनादिनिवृत्तिः, शुभक्रियासु च प्रवृत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-६, पृ. १९८; योगशा. स्वो. विव. ४–९३)।

१. आवश्यक क्रियाओं को छोड़कर अन्य कार्यों के करने में कछुए के समान इन्द्रियों को संकुचित कर —स्वाधीन करके—हाथ-पांवों को शान्त रखने वाले के संयम को कायसंयम कहा जाता है।

कायस्थिति—१. कायस्थितिरेककायापरित्यागेन नानाभवग्रहणविषया। (त. वा. ३, ३९, ६)। २. तत्र कायस्थितिरिति कः शब्दार्थः? उच्यते—काय इह पर्याय गृह्यते, काय इव काय इत्युपमानात्। स च द्विधा—सामान्यरूपो विशेषरूपश्च। तत्र सामान्यरूपो निर्विशेषणो जीवत्वलक्षणो विशेषरूपो नैरयिकत्वादिलक्षणः, तस्य स्थितिरवस्थानं कायस्थितिः। किमुक्तं भवति? सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा पर्यायेणादिष्टस्य जीवस्य यदव्यवच्छेदेन भवनं सा कायस्थितिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १७, २२६, पृ. ३७५)।

१ एक काय को—औदारिक आदि शरीर को—न छोड़ कर उसके रहने तक नाना भवों को ग्रहण करते हुए जितना काल बीतता है, उसका नाम कायस्थिति है। २ काय शब्द से यहां पर्याय का ग्रहण किया गया है। वह दो प्रकार की है—सामान्यरूप और विशेषरूप। नारकादि विशेषण से रहित जीव की जीवत्वरूप पर्याय सामान्य और उक्त विशेषण से सहित नारक आदि रूप विशेष पर्याय है। उक्त दोनों में विवक्षित पर्याय का जब तक विच्छेद नहीं होता है उतने काल का नाम कायस्थिति है।

कायस्वभाव—१. कायस्वभावोऽनित्यता दुःखहेतु-

त्वं निःसारताऽशुचित्वमिति। (त. भा. ७–७)। २. कायस्वभावोऽपि पितृमात्रोरोजःशुक्रमुभयमेकीभूतं गर्भजानां प्राणिनां शरीरतया परिणमत इत्यादिलक्षणः। सम्मूर्च्छनोपपातजन्मनां तूत्पत्तिदेशावगाढ़स्कन्धादाननिर्माणानि वपूंषि भवन्त्यशुभपरिणामभाञ्जि नानाकाराणि परिशटनोपचितिधर्मकत्वात् विनश्वराणीत्येवंलक्षणः कायस्वभावः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–७)।

१ अनित्यता, दुःखहेतुता, निःसारता और अपवित्रता; यह काय (शरीर) का स्वभाव है।

कायापरीत—कायापरीतोऽनन्तकायिकः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १८–२५३, पृ. ३६४)।

अनन्तकायिक (साधारणशरीरी) जीव कायापरीत कहलाता है।

कायिक अशुभ योग—तत्राशुभो हिंसा-स्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः। (त. भा. ६–१)।

हिंसा, चोरी और कुशील सेवनादिरूप प्रवृत्ति को कायिक अशुभ योग कहते हैं।

कायिक असमीक्ष्याधिकरण—कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्र-पुष्प-फल-छेदन-भेदन-कुट्टन-क्षेपणादीनि कुर्यात्, अग्नि-विष-क्षारादिप्रदानं चारभेत इत्येवमादि तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम्। (त. वा. ७, ३२, ५; चा. सा. पृ. १०)।

प्रयोजन के बिना चलते हुए, स्थित रहकर या बैठे-बैठे सचित्त या अचित्त पत्र, पुष्प और फल आदि का छेदना, भेदना, कूटना व फेंकना आदि कार्य करना तथा अग्नि, विष व क्षार आदि पदार्थों का देना; इत्यादि प्रकार के कार्यों के करने को कायिक असमीक्ष्याधिकरण कहते हैं।

कायिक द्रव्यक्रोधविवेक—देखो कषायविवेक। भ्रुकुट्याद्यकरणं कायिको द्रव्यतः क्रोधविवेकः। (भ. आ. मूला. १६८)।

भृकुटि आदि के नहीं चढ़ाने को द्रव्यतः कायिक क्रोधविवेक कहते हैं।

कायिक द्रव्यमानविवेक—देखो कषायविवेक। गात्रस्तब्धताद्यकरणं कायिको द्रव्यतो मानविवेकः। (भ. आ. मूला. १६८)।

अहंकारयुक्त होकर शरीर की उद्धतता के न करने को द्रव्यतः कायिक मानविवेक कहते हैं।

कायिक द्रव्यमायाविवेक—देखो कषायविवेक। अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरणं कायिकः। (भ. आ. मूला. १६८)।

काय से अन्य कार्य करते हुए के समान अन्य कार्य के न करने को द्रव्यतः मायाविवेक कहते हैं।

कायिक विनय—१. अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवणं अंजलीय मुंडाणं। पच्चूगच्छणमेत्ते पच्छिदस्सणुसाधणं चेव॥ णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं। आसणदाणं उवगरणदाण ओगासदाणं च॥ पडिरूवकायसंफासणदा य पडिरूवकालकिरिया य। पेसणकरणं संथरकरणं उवकरण पडिलिहणं॥ इच्चेवमादिओ जो उवयारो कीरदे सरीरेण। एसो काइयविणओ जहारिहं साहुवग्गस्स॥ (मूला. ५, १७६ से १७९)। २. किरियं अब्भुट्ठाणं णवणंजलि आसणुवकरणदाणं। एते पच्चुग्गमणं च गच्छमाणे अणुव्वजणं॥ कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं। संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं॥ इच्चेवमाइ काइयविणओ रिसि-सावयाण कायव्वो। जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहजोग्गं॥ (वसु. श्रा. ३२८–३०)।

१ साधुओं के आने पर उठकर खड़े हो जाना, कृतिकर्म करना—सिद्धादि भक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग आदि करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, सम्मुख जाना—अगवानी करना, जाते समय पीछे जाना, स्वयं नीचा स्थान ग्रहण करना, नीचे गमन करना—गुरु के बायें अथवा पीछे चलना, गुरु की अपेक्षा नीचे आसन पर बैठना व सोना, उन्हें आसन प्रदान करना, उपकरण (शास्त्र आदि) देना, वसतिका आदि का देना, शारीरिक शक्ति के अनुसार शरीर का मर्दन करना, प्रतिरूपकालक्रिया—उष्णकाल में शीतक्रिया व शीतकाल में उष्णक्रिया—करना, आज्ञापालन करना, चटाई आदि बिछाना तथा उपकरणों का प्रतिलेखन करना; इत्यादि जो साधुसमूह का शरीर से यथायोग्य उपकार किया जाता है उसका नाम कायिक विनय है।

कायिकी क्रिया—१. प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकी क्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ८)। २. प्रदुष्टस्योद्यमो हन्तुं गदिता कायिकी क्रिया। (त. श्लो. ६, ५, ९)। ३. योऽभ्युद्यमः प्रदुष्टस्य सतः सा कायिकी क्रिया। (ह. पु. ५८,

६६) । ४. दुष्टस्य सतः कायेन वा चलनक्रिया कायिकी । (भ. आ. विजयो. ८०७) । ५. कायेन निर्वृता कायिकी—कायव्यापारः । (स्थानां. अभय. वृ. २–६०, पृ. ३८) । ६ क्रियाः व्यापारविशेषाः, तत्र कायेन निर्वृत्ता कायिकी, कायचेष्टेत्यर्थ । (समवा. अभय. वृ. ५, पृ. १०) । ७. चीयते इति कायः शरीरम्, काये भवा कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२–२७६, पृ. ४३५); कायिकी नाम हस्त-पादादिव्यापारणम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२, २८१, पृ. ४४०) । ८. प्रदुष्टस्य सतः कायाभ्युद्यमः कायिकी क्रिया । (त. वृत्ति श्रुत. ६–५) ।

१. दुष्टतापूर्वक उद्यम करने को कायिकी क्रिया कहते हैं ।

कायोत्सर्ग—१. कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं । तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण ।। (नि. सा. १२१) । २. देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि । जिणगुणचिंतणजुत्तो काउस्सग्गो तणुविसग्गो ।। (मूला. १–२८); वोसरिदबाहुजुगलो चदुरगुलअंतरेण समपादो । सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ।। (मूला. ७–१५३) । ३. परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः । (त. वा. ६, २४, ११; चा. सा. पृ. २६) । ४. कायः शरीरम्, तस्योत्सर्गः कृताकारस्य स्थान-मौन-ध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य परित्याग इत्यर्थः । (ललितवि. पृ. ७७) । ५. एषोऽपि कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तं भवति । क्व ? अनेषणीयादिषु त्यक्तेषु, तत्रानेषणीयं उद्गमाद्यविशुद्धमन्न-पानमुपकरणं वा प्रतिष्ठाप्य कायोत्सर्गः कार्यः, आदिग्रहणाद् गमनागमनविहार-श्रुतसावद्यस्वप्नदर्शननौसंतरणोच्चारप्रस्रवणावरणपरिग्रहः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–२२) । ६. ट्ठियस्स णिसण्णस्स णिव्वण्णस्स वा साहुस्स कसाएहि सह देहपरिच्चागो काउस्सग्गो णाम । (धव. पु. १३, पृ. ८८) । ७. कायोत्सर्गः काये मितकालं निर्ममत्वं तु । (ह. पु. ३४–१४६) । ८. दैवसिकादिषु नियमेषु यथोक्तकाले योऽयं यथोक्तमानेन जिनगुणचिन्तनयुक्तस्तनुविसर्गः स कायोत्सर्ग इति । (मूला. वृ. १–१२) । ९. प्रालम्बितभुजद्वन्द्वः मूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा । स्थानं कायनपेक्षं यत् कायोत्सर्गः स कीर्तितः ।। (योगशा. ४–१३३); कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेणान्यत्रोच्छ्वसितादिभ्यः क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य य उत्सर्गस्त्यागो 'णमो अरहंताणं' इति वचनात् प्राक् स कायोत्सर्गः । (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०) । १०. कायं शरीरम् उत्सृजति ममत्वादिपरिणामेन त्यजतीति कायोत्सर्गः तपो भवेत्—व्युत्सर्गाभिधानम् तपोविधानं स्यात् । (कार्तिके. टी. ४६८) । ११. शरीरादिममत्वस्य त्यागो यो ज्ञानदृष्टिभिः । तपःसंज्ञः सुविख्यातो कालोत्सर्गो महर्षिभिः ।। (लाटीसं. ७–८६) । १२. एकमुहूर्तादिषु शरीरव्युत्सर्जनं कायोत्सर्गः । (भावप्रा. श्रुत. टी. ७७) ।

२ दैवसिक आदि नियमों में—दिवस सम्बन्धी, रात्रि सम्बन्धी एवं पाक्षिक व चातुर्मासिक आदि नियमित अनुष्ठानों में—आगमोक्त कालप्रमाण के अनुसार अपने-अपने नियत समय में जो जिनगुणस्मरणपूर्वक शरीर से ममत्व का त्याग किया जाता है, इसका नाम कायोत्सर्ग है ।

कारक—१. कुर्वंत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । (लघीय. स्वो. विवृति ५-४४, पृ. ६३८) । क्रियाविशिष्टं द्रव्यं कारकम् । (लघीय. स्वो. विवृति ६-७२, पृ. ७६४)। २. कारकस्य कारकत्वमपि क्रियावेशवशादेव उपपद्यते, 'करोतीति कारकम्' इति व्युत्पत्तेः । इतरथा हि तद् वस्तुमात्रं स्यान्न कारकम्, 'क्रियाविशिष्टं द्रव्यं कारकम्' इत्यभिधानात् । (न्यायकु. १–३ पृ. ४२); कारकाणां कर्त्रादीनां × × × (न्यायकु. ५–४४, पृ. ६३९); क्रियया आविष्टं युक्तं द्रव्यं कारकम्, क्रियां कुर्वद् द्रव्यं कारकमित्यर्थः । (न्यायकु. ६-७२, पृ. ७६५) ।

२ क्रिया से युक्त द्रव्य को कारक कहते हैं ।

कारक सम्यक्त्व—१. जं जह भणियं तं तह करेइ सइ जंमि कारगं तं तु । (श्रा. प्र. ४९)। २. कारकं संयमं तपःप्रभृतीनां तु कारकम् । (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६१०) ।

१ जिस सम्यक्त्वके होने पर जीव आगमोक्त व्रत व तप आदि के अनुष्ठान को तदनुसार ही करता है उसे कारक--अनुष्ठान कराने वाला—सम्यक्त्व कहते हैं ।

कारण—१. कारणमुपपत्तिमात्रम् । (आव. नि.

हरि. वृ. ८६, पृ. ८२)। २. यस्मिन् सति भवत्येव अस्य सद्भावस्तद्भावे च न भवत्येव यत् तत् कारणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२५)। ३. यस्मिन् सत्येव च यद्भावः तत्कार्यमितरत् कारणम्। (सिद्धवि. वृ. ३–१०, पृ. १६३, पं. ७); यस्मिन् सत्येव यद्भाव एव विकारे च विकार तत् कार्यमितरत् कारणम्। (सिद्धवि. वृ. ७–२०, पृ. ४८७, पं. १६)।

३ जिसके होने पर ही जो होता है वह कार्य और इतर—जिसके सद्भाव में कार्य होता है वह—कारण कहलाता है।

कारणदोष (ग्रासैषणादोष)—देखो कारणाभावदोष। वेदनादिकारणमन्तरेण भुञ्जानस्य कारणदोषः। (आचारां. शी. वृ. २, १, ६, २७३, पृ. ३२१)।

वेदनादि कारण के बिना भोजन करने को कारणदोष (ग्रासैषणादोष) कहते हैं।

कारणपरमाणु—१. धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो। (नि. सा. २५)। २. पृथिव्यप्तेजोवायवो धातवश्चत्वारः, तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः (नि. सा. वृ. २५)।

१ पृथिवी, अप्, तेज और वायु; इन चार धातुओं के कारणभूत परमाणु द्रव्य को कारणपरमाणु कहते हैं।

कारणपरमात्मा — यस्त्रिकालनिरुपाधिस्वभावत्वात् निवारणज्ञान-दर्शनलक्षणलक्षितः कारणपरमात्मा। (नि. सा. वृ. १०२)।

जो निरावरण (स्वाभाविक) ज्ञान-दर्शन से युक्त हो उसे कारणपरमात्मा कहते हैं।

कारणवन्दनक—१. नाणाइतिगं मोत्तुं कारणमिहलोयसाहयं होइ। पूया-गारवहेउं नाणग्गहणेवि एमेव॥ (प्रव. सारो. १६३)। २. ज्ञान-दर्शन-चारित्रत्रयं मुक्त्वा यत्किमप्यन्यदिहलोकसाधकं वस्त्र-कम्बलादि वन्दनकदानात्साधुरभिलषति तत्कारणं भवतीति प्रतिपत्तव्यम्, तस्माद्वन्दनकं कारणवन्दनकमिति। यदि पूजातिशयेन गौरवातिशयेन वा ज्ञानादिग्रहणेऽपि वन्दते तदपि कारणवन्दनकं भवति। (प्रव. सारो. वृ. १६३)। ३. ज्ञान-दर्शन-चारित्रत्रयं मुक्त्वा यत्किमप्यन्यदिहलोकसाधकं वस्त्रादि वन्दनकदानात् साधुरभिलषति तत्कारणं भवतीति प्रतिपत्तव्यम्। तस्माद्वन्दनकं कारणवन्दनकमिति। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८८)। ४. कारणाद् ज्ञानादिव्यतिरिक्ताद् वस्त्रादिलाभहेतोर्वन्दनम्, यद्वा ज्ञानादिनिमित्तमपि लोकपूज्योऽन्येभ्यो वा अधिकतरो भवामीत्यभिप्रायतो वन्दनम्, यद्वा वन्दनकमूल्यवशीकृतो मम प्रार्थनाभङ्गं न करिष्यतीति बुद्धया वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

१ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को छोड़कर अन्य लौकिक साधन-सामग्री—जैसे वस्त्र-कम्बलादि—की अभिलाषा से जो वन्दना की जाती है उसे कारणवन्दनक कहा जाता है। यदि साधु पूजा या गुरुता के अभिप्राय से ज्ञानादि को भी ग्रहण करता हुआ वन्दना करता है तो उसे भी कारणवन्दनक ही समझना चाहिए।

कारणाभावदोष—क्षुद्वेदनायाः असहनं क्षामस्य च वैयावृत्याकरणमीर्यासमितेरविशुद्धिः प्रेक्षोत्प्रेक्षादेः संयमस्य चापालनं क्षुधातुरस्य प्रबलाग्न्युदयात्प्राणप्रहाणशङ्का आर्त-रौद्रपरिहारेण धर्मध्यानस्थिरीकरणं चेति भोजनकारणानि। तदभावे भुञ्जानस्य कारणाभावदोषः। (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३८)।

भोजन करने के कारणों के अभाव में भोजन करने को कारणाभावदोष कहते हैं। क्षुधा की व्यथा को न सह सकना, कृश होने पर वैयावृत्य को न कर पाना, ईर्यासमिति को विशुद्ध नहीं रख सकना, प्रेक्षोत्प्रेक्षादि संयमका परिपालन न कर सकना, क्षुधा से व्याकुल होने पर प्रबल अग्नि (औदर्य) के उदय से मरने की आशंका होना और आर्त-रौद्र ध्यानों को छोड़कर धर्मध्यान को स्थिर करना; ये भोजन के कारण हैं।

कारित—१. कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम्। (स. सि. ६–८)। २. कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम्। परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितमिति कथ्यते। (त. वा. ६, ८, ८)। ३. परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयाति यत्तत्कारितम्। (भ. आ. विजयो. टी. ८११)। ४. परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितम्। (चा. सा. पृ. ३६)। ५. स्वप्रयुक्तान्यनिष्पन्नं हिंसनं कारितं मतम्। (आचा. सा. ५–१४)।

१ जो कार्य दूसरे के प्रयोग की अपेक्षा से सिद्ध होता है उसे कारित कहते हैं।

कारितनिमित्तकरण—कारियनिमित्तकरणं नाम पसण्णा हु आयरिया सविसेसं सुत्तत्थ-तदुभयाणि दाहिंति त्ति काऊणं तारिसाणि अणुकूलाणि करेइ जेण तेसिं आयरियाण चित्तप्पसाओ जायइ। (दशवै. चू. १, पृ. २८)।

"यदि आचार्य प्रसन्न रहेंगे तो वे सूत्र, अर्थ, अथवा दोनों मुझे विशेष रूप से प्रदान करेंगे" ऐसा विचार करके आचार्य की प्रसन्नता के लिए उनके मनोऽनुकूल कार्य करने को कारितनिमित्तकरण कहते हैं। यह औपचारिक विनय के सात भेदों में तीसरा है।

कारुण्य—देखो करुणा। १. कारुण्यं क्लिश्यमानेषु। कारुण्यमनुकम्पा दीनानुग्रह इत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ७-६)। २. दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। (स. सि. ७-११; त. श्लो. ७-११)। ३. **दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्।** शारीर-मानसदुःखाभ्यर्दितानां दीनानां प्राणिनाम् अनुग्रहात्मकः परिणामः करुणस्य भावः कर्म वा कारुण्यमिति कथ्यते (त. वा. ७, ११, ३)। ४. जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्राम्यमाणे जीवग्रामे दुःखिते-ऽनेकभेदे। चित्तार्द्रत्वं यद्विधत्ते महात्मा तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीयैः॥ (अमित. श्रा. २-८१)। ५. दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्। (उपासका. ३३७)। ६. शारीरं मानसं स्वाभाविकं च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्यायपुद्गलस्कन्धतदुदयोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा। (भ. आ. विजयो. १६९६)। ७. दैन्य-शोकसमुत्त्रासे रोगपीडार्दितात्मसु। वध-बन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम्॥ क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च। अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम्॥ मरणार्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया। अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्तिता॥ (ज्ञानार्णव २७, ८-१०)। ८. दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्। प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥ (योगशा. ४-१२०)। ९. स्वामनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यम्। (प्रमाण. स्याद्वाव. ५-८)। १०. हीन-दीन-कानीनानयनजनानुग्राहकत्वं कारुण्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-११)। ११. रोग-शोक-दरिद्राद्यैः पीडिता येऽत्र जन्तवः। तेषां दुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यं क्रियतामिति॥ (धर्मसं. श्रा. १०-१०४)।

२ शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित दीन प्राणियों के प्रति जो अनुग्रहरूप परिणाम होता है, उसका नाम कारुण्य है।

कार्मण—१. सव्वकम्माणं परूहणुप्पादयं सुह-दुक्खाणं बीजमिदि कम्मइयं। (षट्खं. ५, ६, २४१, पु. १४, पृ. ३२८)। २. सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते। (स. सि. २-२५); कर्मणां कार्यं कार्मणम्। (स. सि. २-३६)। ३. कर्मणो विकारः कर्मात्मकं कर्ममयमिति कार्मणम्। (त. भा. २-४६)। ४. **कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणम्।** सर्वाणि शरीराणि यतः प्ररोहन्ति तत् बीजभूतं कार्मणशरीरं कर्मेत्युच्यते। (त. वा. २, २५, ३); **कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणम्।** कर्मणामिदं कार्यं कर्मणां समूह इति वा, कथंचिद्भेदविवक्षोपपत्तेः, कार्मणमिति व्यपदिश्यते। (त. वा. २, ३६, ८)। ५. कर्मनिमित्तं कार्मणम्, अशेषकर्म चास्याधारभूतं कुण्डवद् बदरादीनाम्, अशेषकर्मप्रसवसमर्थं वा, यथा बीजमङ्कुरादीनामिति। (त. भा. हरि. वृ. २-३७); अशेषकर्माधारभूतं समस्तकर्मप्रसवनसमर्थमङ्कुरादीनां बीजमिव कार्मणं शरीरम्। (त. भा हरि. वृ. ८-१२)। ६. कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणम्। (आव. हरि. वृ. १४३४, पृष्ठ ७६७)। ७. मिथ्यादर्शनादिभिः क्रियत इति कर्म—ज्ञानावरणीयादि, तेन निर्वृत्तं तन्मयं वा कार्मणम्; शीर्यते इति शरीरम्, कार्मणं च तच्छरीरं चेति विग्रहः। (आव. नि. हरि. वृ. ४३, पृष्ठ ३६)। ८. कर्मणो विकारः कार्मणम्, अष्टविधकर्मनिष्पन्नं सकलशरीरनिबन्धनं च, उक्तं च—××× कम्मविवागो गारो कम्मणमट्ठविह विचित्तकम्मनिप्फण्णं। सव्वेसिं सरीराणं कारणभूतं मुणेयव्वं॥८॥ (अनुयो. हरि. वृ. ८७)। ९. कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणम् अशेषकर्मराशेराधारभूतम् अशेषकर्मप्रसवसमर्थं वा। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-३७)। सर्वकर्मप्ररोहबीजं सांसारिकसुख-दुःखभाजनं कर्मैव कार्मणशरीरम्, ××× कर्मणि वा भवं कार्मणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-३)। १०. कर्मैव कार्मणम् शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति। अथवा कर्मणि भवं

कार्मणं शरीरं नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम्। तेन योग: कार्मणकाययोग:। केवलेन कर्मणा जनित-वीर्येण सह योग इति यावत्। (धव. पु. १, पृ. २९५); कर्माणि प्ररोहन्ति अस्मिन्निति प्ररोहणं कार्मणशरीरम्। कूष्माण्डफलस्य वृन्तवत् सकल-कर्माधारं सकलकर्मणामुत्पादकं कार्मणशरीरम्। × × × भविष्यत्सर्वकर्मणाम् प्ररोहकमुत्पादकं त्रिकालगोचराशेषसुख-दुःखानां बीजं चेति अष्टकर्म-कलापं कार्मणशरीरम्। कर्मणि भवं वा कार्मणं कर्मैव वा कार्मणम्। (धव. पु. १४, पृ. ३२९)। ११. कर्मैव कार्मणः काय: कर्मणां वा कदम्बकम्। एक-द्वि-त्रिक्षणानेष विग्रहत्तौ प्रवर्तते॥ (पंचसं. अमित. १-१७८)। १२. कार्मणशरीरं पुनस्तदुदय (कार्मणशरीरनामोदय) निर्वर्त्यमशेषकर्मणाम् प्ररोह-भूमिराधारभूतम्। तथा संसार्यात्मिनां गत्यन्तर-संक्रमणे साधकनमं करणीयमित्यन्यत्। ततस्तत्का-रणभूतं कार्मणशरीरनामकर्मेति स्थितम्। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८५)। १३. अष्टविधकर्मसमुदाय-निष्पन्नौदारिकादिशरीरनिबंधनं च भवान्तरानुयायि कर्मणो विकार: कर्मैव वा कार्मणम्। (अनुयो. मल. हेम. वृ. १४२, पृ. १९६)। १४. कर्मणो जातं कर्मजम्। किमुक्तं भवति? कर्मपरमाणव एवा-त्मप्रदेशैः सह ये क्षीर-नीरवत् अन्योन्यानुगता: सन्त: शरीररूपतया परिणतास्ते कर्मजं शरीरमिति। अत एवैतदन्यत्र कार्मणमित्युक्तम्, कर्मणो विकार: कार्मणमिति। तथा चोक्तम्—कम्मविगारो कम्मण-मट्ठविहविचित्तकम्मनिप्पन्नं। सव्वेसि सरीराणां कारणभूतं मुणेयव्वं॥ (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २०-२६७, पृ. ४०९; जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १४)।

२ जो सब शरीरों की उत्पत्ति का बीजभूत शरीर है—उनका कारण है—उसे कार्मण शरीर कहते हैं। ३ कर्म के विकारभूत या कर्मरूप शरीर का नाम कार्मण है।

कार्मणकाययोग—१. कम्मेव य कम्मइयं कम्म-भवं तेण जो दु संजोगो। कम्मइयकायजोगो एय-विय-तियगेसु समएसु॥ (प्रा. पंचसं. १-९६; धव. पु. १, पृ. २९५ उद्.; गो. जी. २४१)। २. तेन (कार्मणशरीरेण) योग: कार्मण-काययोग:। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-१)। ३. सर्वाणि शरीराणि यत: प्ररोहन्ति तद् बीजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते, वाङ्मनःकायवर्गणानिमित्त: आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति, कार्मणकाय-कृतो योग: कार्मणकाययोग:। (धव. पु. १, पृ. २९९)। ४. कर्मैव—अष्टविधकार्मणस्कन्ध: एव—कार्मणशरीरम्, वा अथवा कर्मभवं कार्मणशरीर-नामकर्मोदयप्रभवं कार्मणशरीरम्, खलु स्फुटं भवति, तेन कार्मणशरीरेण सह वर्तमानो य: संयोग: आत्मन: कर्माकर्षणशक्तिसंगतप्रदेशपरिस्पन्दरूपो योग: स कार्मणकाययोग:। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. २४१)। ५. विग्रहगतौ औदारिकादिनोकर्मवर्गणानां अनाहरणे सति कार्मणशरीरनामोदयेन कार्मणवर्गणा-यातपुद्गलस्कन्धानां ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायेण जीवप्रदेशेषु बन्धप्रघट्टके उत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्द: कार्मणकाययोग:। (गो. जी. जी. प्र. टी. ७०३)। ६. कार्मणकाययोग: अष्टप्रकारकर्मविकाररूपशरीर-चेष्टा स्वरूपोऽपान्तरालगतावुपपत्तिप्रथमसमये केवलसमुद्घातावस्थायां च। (षडशीति मलय. वृ. ५, पृ. १२७)।

३. सब शरीरों के बीजभूत शरीर को कार्मण शरीर कहा जाता है। वचन, मन और काय वर्ग-णाओं के निमित्तभूत आत्मप्रदेशपरिस्पन्द का नाम योग है। कार्मण शरीर के द्वारा जो योग किया गया है वह कार्मणकाययोग कहलाता है।

कार्मणबन्धननाम — यदुदयात्कार्मणपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं सम्बन्ध-स्तत्कार्मणबन्धननाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३, २९३, पृ. ४७०)।

जिस कर्म के उदय से गृहीत एवं गृह्यमाण कर्म-परमाणु परस्पर में सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे कार्मणबन्धननामकर्म कहते हैं।

कार्मणशरीरबन्धननाम—जस्स कम्मस्स उदएण कम्मइयसरीरपरमाणू अण्णोण्णेण बंधमाच्छंति तं कम्मइयसरीरबंधणणामं। (धव. पु. ६, पृ. ७०)।

जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीरगत परमाणु परस्पर में बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे कार्मणशरीर-बन्धन नामकर्म कहते हैं।

कार्मणशरीरसंघातनाम—जस्स कम्मस्स उद-

एण कम्मइयसरीरक्खंधाणं सरीरभावमुवगयाण बंधणणामकम्मोदएण एगबंधणबद्धाणमट्टत्तं होदि तं कम्मइयसरीरसंघादणामं। (धव. पु. ६, पृ. ७०)।

बन्धन नामकर्म के उदय से एकबन्धनबद्ध होकर शरीररूपता को प्राप्त कार्मणशरीर के स्कन्ध जिस कर्म के उदय से मृष्टता—चिक्कणता या एकरूपता—को प्राप्त होते हैं उसे कार्मणशरीरसंघातनामकर्म कहते हैं।

कार्मणशरीरनामकर्म—१. जस्स कम्मस्स उदग्रो कुंभंडफलस्स बेंटो व्व सव्वकम्मासयभूदो तस्स कम्मइयसरीरमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६६)। २. यदुदयात्कूष्माण्डफलवृन्ताकफलवृन्तवत्सर्वकर्माश्रयभूत तत्कार्मणशरीरम्। (मूला. वृ. १२-१९३)। ३. यस्य कर्मण उदयात् कार्मणवर्गणापुद्गलान् गृहीत्वा कार्मणशरीरत्वेन परिणमयति तत्कार्मणशरीरनामकर्म, तच्च कार्मणशरीरादन्यत्। (कर्मस्तव गो. वृ. १०, पृ. १७; प्रव. सारो. वृ. १२६७)।

२ जिस कर्म का उदय कूष्माण्ड फल के समान समस्त कर्मों का आधारभूत हो वह कार्मणशरीरनामकर्म कहलाता है।

कार्य—देखो कारण।

कार्यपरमाणु—१. खंधाणं अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू। (नि. सा. २५)। २. गलतां पुद्गलद्रव्याणाम् अन्तोऽवसानस्तस्मिन् स्थितो यः स कार्यपरमाणुः। (नि. सा. टी.) २५।

२ गलने वाले पुद्गलस्कन्ध के अन्त में स्थित (जिसका फिर दूसरा विभाग न हो) परमाणु को कार्यपरमाणु कहते हैं।

कार्या रुचि—तस्मात्कारणात् निसर्गाख्यादुत्पद्यते याऽसौ रुचिः सा कार्याऽऽख्या। तथा योऽसौ बाह्य उपदेशः स त[य]त्र हेतुर्भवति तत उत्पद्यते या रुचिः सा तत्कार्या भवतीत्येवं कार्या रुचिः। कारणं निसर्गोऽधिगमो वेति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३)।

निसर्ग या अधिगम रूप कारण से उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा को कार्यारुचि कहते हैं।

काल—१. वत्तणालक्खणो कालो। (उत्तरा. २८, १०)। २. कालस्स वट्टणा××× । (प्रव. सा. २-४२)। ३. ववगदपणवण्ण-रसो ववगददोगंध अट्ठफासो य। अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति॥ (पंचा. का. २४)। ४. पासरसगंधवण्णव्वदिरित्तो अगुरुलहुगसंजुत्तो। वत्तणलक्खणकलियं कालसरूवं इमं होदि॥ (ति. प. ४-२७८)। ५. कालोऽनन्तसमयो वर्तनादिलक्षणः। (त. भा. ४–१५)। ६. सव्वाणं दव्वाणं परिणामं जो करेदि सो कालो। एक्केक्कासपएसे सो वट्टदि एक्किक्को चेव॥ (कार्तिके. २१६)। ७. कल्पते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद्द्रव्यं स कालः। (त. वा. ४, १४, ५); तल्लक्षणः कालः। सा वर्तना लक्षणं यस्य स काल इत्यवसेयः। (त. वा. ५, २२, ६); वर्तनाद्युपकारलिंगः कालः। उक्ता वर्तनादयः उपकारा यस्यार्थस्य लिंगं स काल इत्यनुमीयते। तथा चोक्तम्—येन मूर्तानामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते स काल इति। (त. वा. ५, २२, २३)। ८. वर्तनालक्षणः कालः×××। (वरांग. २६, २७)। ९. सकलपदार्थानां वृत्तिहेतुत्वं वर्तना। सा लक्षणं यस्यासौ तल्लक्षणः कालः। (न्यायकु. ६ ७२, पृ. ७६५)। १०. एवं चेव (ववगदपंचवण्णं ववगदपंचरस ववगददुगंध ववगदअट्ठफासं स-परपरिणामहेऊ अपदेसियं लोगपदेसपरिणाम) कालदव्वं। (धव. पु. ३, पृ. ३); ववगददोगंध-पंचरसट्टुफास-पंचवण्णो कुंभारचक्कहेट्ठिमसिल व्व वत्तणालक्खणो लोगागासपमाणो अत्थो कालो णाम। (धव. पु. ४, ३१४); कल्यन्ते संख्यायन्ते कर्म-भवकायायुस्स्थितयोऽनेनेति कालशब्दव्युत्पत्तेः। कालः समयः अद्धा इत्येकोऽर्थः। (धव. पु. ४, पृ. ३१७, ३१८); सीदुसण वरिसणेहि उवलक्खियो कालो। (धव. पु. १४, पृ. ३६); दव्वाणं परिणमणस्स णिमित्तकारणलक्खणं कालदव्वं। (धव. १५, पृ. ३३)। ११. वर्णगन्धरसस्पर्शमुक्तोऽगौरवलाघवः। वर्तनालक्षणः कालः×××। (ह. पु. ७–१)। १२. अनादिनिधनः कालो वर्तनालक्षणो मतः। लोकमात्रः सुसूक्ष्माणुपरिछिन्नप्रमाणकः॥ सोऽसंख्येयोऽप्यनन्तस्य वस्तुराशेरुपग्रहः। वर्तते स्वगतानन्तसामर्थ्यपरिबृंहितः॥ (म. पु. ३, १–२); वर्तनालक्षणः कालो वर्तना स्वपराश्रया। यथास्वं गुणपर्यायैः परिणन्तृत्वयोजना॥ स कालो लोकमात्रैः स्वैरणुभिर्निचितस्थितैः। ज्ञेयोऽन्योन्यमसङ्कीर्णै रत्नानामिव राशिभिः॥ (म. पु. २४, १३९,१४२)। १३.

वर्तनालक्षणः कालः बालयुवावृद्धत्वादिभिर्लक्षणैर्लक्ष्यते। (उत्तरा. चू. २८, पृ. २७२)। १४. सूर्यक्रियानिवृत्तः कालः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४)। १५. जं वत्तणादिरूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जातो। (धर्मसं. हरि. ३२)। १६. कालो परमनिरुद्धो अविभागी तं विजाण समग्रो त्ति। सुहमो अमुत्तिअगुरुगलहुवत्तणलक्खणो कालो॥ (जं. दी. प. १३-४)। १७. विशिष्टमर्यादावच्छिन्नोर्ध्वाधोऽर्धतृतीयद्वीपाभ्यन्तरवर्तिजीवादिद्रव्यैः परिणमद्भिः स्वत एव कल्यते गम्यते प्रथ्यतेऽपेक्ष्यते कारणतयाऽसाविव कालोऽपेक्षाकारणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. पृ. ५-३८)। १८. 'कल सत्त्व-संख्यानयोः' कलनं काल इति भावे प्रत्ययो घञ्, परिच्छेद इत्यर्थः, कल्यते वा परिच्छिद्यते वा यतोऽनेन वस्तु, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ्, 'कलयन्ति वा' परिच्छेदयन्ति वा समर्यादपर्यायास्तमिति कालः, तस्मिन् वा स्थितान् कलयन्ति, समयादिकलानां वा समूहः कालः। (विशेषा. को. वृ. पृ. ६०५)। १९. वत्तणगुणजुत्ताणं दव्वाणं होइ कारणं कालो। (भावसं. दे. ३०९)। २०. स कालो यन्निमित्ताः स्युः परिणामादिवृत्तयः। वर्तनालक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः॥ (त. सा. ३-४०)। २१. वत्तणकिरियासाहणभूदो णियमेण कालो दु। (गो. जी. ६०५)। २२. वर्तनालक्षणः कालः स स्वयं परिणामिनाम्। परिणामोपकारेण पदार्थानां प्रवर्तते॥ (चन्द्र. च. १८-७४)। २३. जीवादीनां पदार्थानां परिणामोपयोगतः। वर्तनालक्षणः कालोऽनशो नित्यश्च निश्चयात्॥ (धर्मश. २१-८८)। २४. वर्तनालक्षणः कालः। (पंचा. का. ज. वृ. ४; भ. आ. मूला. ३६; आरा. सा. टी. ४)। २५. वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमानसमयः कालो भण्यते। (प्रव. सा. ज. वृ. २३)। २६. यदमी परिवर्तन्ते पदार्थाः विश्ववर्तिनः। नवजीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम्॥ (ज्ञानार्णव ६-३८)। २७. तत्र कल्यते—सङ्ख्यायतेऽसावनेन वा कलनं वा कलासमूहो वेति कालः—वर्तना-परापरत्वादिलक्षणः। (स्थाना. अभय. वृ. २-७४, पृ. ५१)। २८. कालाणवो जगन्मात्राश्चैवं तु मणिराशिवत्। ते प्रत्येकं विवर्ताप्तिहेतवः सर्ववस्तुनः॥ (आचा. सा. ३, २२-२३)। २९. पञ्चानां वर्तनाहेतुः कालः। (नि. सा. वृ. ९)। ३०. द्रव्यं कालाणुमात्रं गुणगणकलितं चाश्रितं शुद्धभावैः, तच्छुद्धं कालसंज्ञं कथयति जिनपो निश्चयाद् द्रव्यनीतेः। द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना तत्र हेतुः, कालस्यायं च धर्मः स्वगुणपरिणतिर्धर्मपर्याय एषः॥ (अध्या. क. मा. ३-३८)। ३१. वर्तनालक्षणः कालो वर्तना च पराश्रया। (जम्बू. च. ३-३९)।

३. जो पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध एवं आठ स्पर्शों से रहित और छह प्रकार की हानि-वृद्धि स्वरूप अगुरु-लघु गुण से संयुक्त होकर वर्तना—स्वयं परिणमते हुए द्रव्यों के परिणमन में सहकारिता—लक्षण वाला है उसे काल कहते हैं।

काल-अभिग्रह—काले अभिग्गहो पुण आईमज्झे तहेव अवसाणे। अप्पत्ते सइ काले आई बिइग्रो अ चरिमम्मि। (बृहत्क. १६५०)।

कालविषयक भिक्षा के अभिग्रह (नियम) को काल-अभिग्रह कहते हैं। भिक्षाकाल के न प्राप्त होने पर आदि—प्रथम पौरुषी (प्रहर)—में भिक्षार्थ जाना, इसका नाम आद्यभिक्षाकालविषयक प्रथम अभिग्रह है। भिक्षाकाल के प्राप्त होने पर जाना, यह मध्य भिक्षाकालविषयक द्वितीय अभिग्रह है। अन्त में—भिक्षा-काल के बीत जाने पर—जाना, यह अवसानविषयक अभिग्रह कहलाता है।

कालकायोत्सर्ग — सावद्यकालाचरणद्वारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसहितकालो वा कालकायोत्सर्गः। (मूला. वृ. ७-१५१)।

सावद्यकाल में किये गये आचरण के द्वारा लगे हुए दोषों के परिहार के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसे काल-कायोत्सर्ग कहते हैं। अथवा कायोत्सर्ग से परिणत साधु से सहित काल को कालकायोत्सर्ग कहते हैं।

कालकाल—कालस्य सत्त्वस्य श्वादेः, कालो मरणं कालकालः। (आव. नि. हरि. वृ. ७२८, पृ. २७५)। काल अर्थात् कुत्ता आदि किसी प्राणी का जो काल है—मरण होता है, उसका नाम कालकाल है। यह स्वाध्याय में बाधक होता है।

कालकृत परत्वापरत्व—कालकृते (परत्वापरत्वे) द्विरष्टवर्षाद्वर्षशतिकः परो भवति, वर्षशतिकाद्द्विरष्टवर्षोऽपरो भवति। (त. भा. ५-२२)।

सोलह वर्ष की आयु वाले से सौ वर्ष की आयु वाला 'पर' और सौ वर्ष की आयु वाले से सोलह वर्ष की आयु वाला 'अपर' कहा जाता है। इस प्रकार काल के आश्रय से जो पर-अपर का व्यवहार होता है, उसे काल-कृत परत्व-अपरत्व कहा जाता है।

कालक्रमोत्तर — कालत एकसमयस्थितेर्द्विसमयस्थितिः ततोऽपि त्रिसमयस्थितिः, एवं यावदसंख्येयसमयस्थितिः। (उत्तरा. नि. वृ. १, पृ. ६)।

काल के क्रम से एक-एक समय की अधिकता से होने वाली स्थितियों को काल-क्रमोत्तर कहते हैं। जैसे—एक समय स्थिति से दो समय स्थिति और दो समय स्थिति से तीन समय स्थिति, इस प्रकार असंख्यात समय स्थिति तक जानना चाहिए।

काल-चतुर्विंशति—कालश्च[लच]तुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः समयादयः, एतत्कालस्थिति वा द्रव्यं कालचतुर्विंशतिः। (आव. भा. मलय. वृ. १९२, पृ. ५९०)।

चौबीस समयों आदि (आवली व मुहूर्त आदि) को अथवा इतने समय स्थित रहने वाले द्रव्य को कालचतुर्विंशति कहते हैं।

कालचार—कालस्तु यस्मिन् काले चरति यावन्तं वा कालं स कालचारः। (आचारां. शी. वृ. १, ५, २४६; पृ. १८३)।

चार, चर्या और चरण—ये समानार्थक शब्द हैं। जिस काल में या जितने काल आचरण किया जाता है उसे कालचार कहते हैं।

काल जघन्य—कालजहण्णमेगो समओ। (धव. पु. ११, पृ. ८५)।

कालज्ञानाचार—१. साम्प्रतं ज्ञानाचारमाह—काल इति। यो यस्याङ्गप्रविष्टादेः श्रुतस्य काल उक्तः तस्य तस्मिन्नेव काले स्वाध्यायः कर्तव्यो नान्यदा। (दशवै. हरि. वृ. ३–८, पृ. १०३)। २. काले—स्वाध्यायवेलायां पठन-परिवर्तन-व्याख्यानादिकं क्रियते सम्यक् शास्त्रस्य यत्स कालोऽपि ज्ञानाचार इत्युच्यते, साहचर्यात्कारणे कार्योपचाराद्वा। (मूला. वृ. ५–७२)।

१ अंगप्रविष्ट आदि जिस श्रुत के स्वाध्याय का जो काल कहा गया है उसी में उसका स्वाध्याय करना, अन्य काल में न करना; यह कालज्ञानाचार कहलाता है। २ जिस स्वाध्यायकाल में शास्त्र का पठन, परिवर्तन—विस्मृत न होने देने के लिए पुनः पुनः आगम का परिशीलन—और व्याख्यान आदि किया जाता है उस काल को भी कारण में कार्य के उपचार से कालज्ञानाचार कहा जाता है।

कालदोष—कालदोषः अतीतकालव्यत्ययः। यथा रामो वनं प्राविशदिति वक्तव्ये विशतीत्याह। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ८८३)।

अतीत काल के विपरीत प्रयोग को कालदोष कहते हैं। जैसे—'राम वन में प्रविष्ट हुए' इस विवक्षा में 'राम वन में प्रविष्ट होते हैं' ऐसा कहना। यह ३२ सूत्रदोषों में २१वां दोष है।

कालनिधि—१. काले कालण्णाणं भव्व-पुराणं च तिसु वि वंसेसु। सिप्पसयं कम्माणि पयाए हियकराणि ॥ (जम्बूद्वी. ६६, गा. ६, पृ. २५६; प्रव सारो. १२२४)। २. कालनामनि निधौ कालज्ञानम्—सकलज्योतिःशास्त्रानुबन्धि ज्ञानम्—तथा जगति त्रयो वंशाः—वंशः प्रवाहः आवलिका इत्येकार्थाः, तद्यथा—तीर्थंकरवंशश्चक्रवर्तिवंशो बलदेव-वासुदेववंशश्च। तेषु त्रिष्वपि वंशेषु यद् भाव्यं यच्च पुराणमतीतमुपलक्षणमेतद् वर्तमानं शुभाशुभं तत् सर्वमत्रास्ति, इतो महानिधितो ज्ञायत इत्यर्थः। शिल्पशतं घट-लोह-चित्र-वस्त्र-नापितशिल्पानां पञ्चानामपि प्रत्येकं विंशतिभेदत्वात्, कर्माणि च कृषिवाणिज्यादीनि जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि त्रीण्येतानि प्रजाया हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात्। एतत्सर्वमत्राभिधीयते। (जम्बूद्वी. शा. वृ. ६६, पृ. २५८)। ३. भविष्यद्भूतयोर्ज्ञानं वत्सरांस्त्रीन् सतोऽपि च। कृष्यादीनि च कर्माणि शिल्पान्यपि च कालतः ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ४, ५७९)।

२ कालनिधि के आश्रय से समस्त ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान तथा तीर्थंकरवंश, चक्रवर्तिवंश और बलदेव-वासुदेववंश ये जो तीन वंश लोक में प्रवर्तमान हैं उनमें भविष्य में जो होने वाला है, भूत में जो हो चुका है एवं वर्तमान में जो शुभाशुभ चल रहा है उसका भी ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कुम्हार, लुहार, चित्रकार, जुलाहा और नाई इनमेंसे प्रत्येकको २०-२० कलाओं का तथा वाणिज्य आदि कर्मों का कथन भी इसमें किया गया है।

कालपरिक्षेप—वासारत्ते अइपाणियं ति गिम्हे

प्पाणियं नच्चा। कालेण परिक्खित्तं तेण तमन्ने परिहरंति ॥ (बृहत्क. भा. ११२४)।

वर्षाकाल में बारिश के पानी से घिर आने वाले तथा ग्रीष्मकाल में जल के अभाववाले ग्राम-नगरादि को कालपरिक्षिप्त कहते हैं। ऐसे कालपरिक्षिप्त नगरादि को जानकर अन्य जन—दूसरे राष्ट्र के राजा आदि—उसे छोड़ देते हैं।

कालपरिवर्तन—१. अवसप्पिणि-उस्सप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु। जादो मुदो य बहुसो परिभमदो कालसंसारे ॥ (द्वादशा. २७; स. सि. २–१० उद्.; भ. आ. विजयो. १७७७ उद्.)। २. तक्कालतदाकालसमयेसु जीवो अणंतसो चेव। जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ (भ. आ. १७७७)। ३. कालपरिवर्तनमुच्यते—उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः, स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः, स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः। एवमनेन क्रमेणोत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा अवसर्पिणी च। एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तं मरणस्यापि तथैव ग्राह्यमेतावत्कालपरिवर्तनम्। (स. सि. २–१०; भ. आ. विजयो. १७७७; मूला. वृ. ८–१४)। ४. उवसप्पिणि-अवसप्पिणिपढमसमयादिचरमसमयंतं। जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु ॥ (कार्तिके. ६६)। ५. ओसप्पिणि-उस्सप्पिणि-समयावलिया णिरंतरा सव्वा। जादो मुदो य बहुसो हिंडंतो कालसंसारे ॥ (धव. पु. ४, पृ. ३३३ उद्.)। ६. शुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्विकल्पसमाधिकालं विहाय प्रत्येकं दशकोटाकोटिसागरेण प्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये नानापरावर्तनकालेनानन्तवारानयं जीवो यत्र न जातो न मृतः स समयो नास्तीति कालसंसारः। (बृ. द्रव्यसं. ३५)। ७. ओसप्पिणीए समया जावइया ते य नियमरणेणं। पुट्ठा कमुक्कमेणं कालपरट्टो भवे थूलो ॥ सुहुमो पुण ओसप्पिणि-पढमे समयंमि जइ मओ होइ। पुणरवि तस्साणंतर बीए समयंमि जइ मरइ ॥ एवं तरतमजोएण सव्वसमएसु चेव एएसुं। जइ कुणइ पाणचायं अणुक्कमेण नणु गणिज्जा ॥ (प्रव. सारो. १०४७–४६, पृ. ३०७)। ८. उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिदवसर्पिण्याश्च प्रथम-द्वितीयादिसमयेषु पर्यायेण जन्म-मरणाभ्यां वृत्तिः कालसंसारः। (भ. आ. मूला. ४३०)। ९. कश्चिज्जीवः उत्सर्पिणीप्रथमसमये जातः स्वायुःपरिसमाप्तौ मृतः, पुनर्द्वितीयोत्सर्पिणीद्वितीयसमये जातः स्वायुःपरिसमाप्त्या मृतः, पुनः तृतीयोत्सर्पिणी-तृतीयसमये जातः तथा मृतः, पुनः चतुर्थोपसर्पिणी-चतुर्थसमये जातः; अनेन क्रमेण उत्सर्पिणीं समाप्नोति तथैवावसर्पिणीमपि समाप्नोति। एवं जन्मनैरन्तर्यमुक्तम् मरणस्याप्येवं नैरन्तर्यं ग्राह्यम्। तदेतत्सर्वं कालपरिवर्तनं भवति। (गो. जी. जी. प्र. टी. ५६०)। १०. कालपरिवर्तनं कथ्यते—उत्सर्पिणीकालप्रथमसमये कोऽपि जीव उत्पन्नो निजायुःसमाप्तौ मृतः, स एव जीवः द्वितीयोत्सर्पिणीकाल-द्वितीयसमये पुनरुत्पन्नो निजायुर्भुक्त्वा पुनर्मृतः, तृतीयोत्सर्पिणीकालतृतीयसमये पुनरुत्पन्नो निजायुर्भुक्त्वा पुनर्मृतः, चतुर्थोपसर्पिणीकालचतुर्थसमये पुनरुत्पन्नो निजायुर्भुक्त्वा पुनर्मृतः; एवं सर्वोत्सर्पिणीसमयेषु जन्म गृह्णाति तथा सर्वोत्सर्पिणीसमयेषु मरणमपि गृह्णाति। यथा सर्वेषूत्सर्पिणीसमयेषु जन्म-मरणानि गृह्णाति तथा सर्वेष्ववसर्पिणी-समयेषु जन्मानि मरणानि च गृह्णाति। एतावता कालेन एकं कालपरिवर्तनं भवति। (त. वृत्ति श्रुत. २–१०)।

३ कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ व आयु के समाप्त होने पर मर गया, फिर वह द्वितीय उत्सर्पिणी के द्वितीय समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त होने पर मर गया, पश्चात् वही तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त होने पर मर गया; इस क्रम से उसने जैसे उत्सर्पिणी को समाप्त किया वैसे ही अवसर्पिणी को भी समाप्त किया। यह जन्म की निरन्तरता हुई। इसी प्रकार मरणकी भी निरन्तरता समझना चाहिए। इतने काल को कालपरिवर्तन कहा जाता है। ७ अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय हैं उन सबको जब जीव क्रम अथवा उत्क्रम से अपने मरण से व्याप्त कर लेता है तब उतने काल को एक बादर कालपुद्गल-परावर्तन कहा जाता है। कोई एक जीव अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, तत्पश्चात् उक्त अवसर्पिणी के द्वितीय समय में वह मरा (यदि आगे पीछे के अन्य समयों में वह मरता है तो उनकी गणना नहीं

की जाती है)। पश्चात् अवसर्पिणी के तृतीय समय में वह मरा, इसी क्रम से उक्त अवसर्पिणी के चतुर्थ आदि अन्य सभी समयों में वह क्रम से मरण को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् अवसर्पिणी के समान उत्सर्पिणी के भी समस्त समयों में जब वह यथाक्रम से मरण को प्राप्त होता है तब इतने काल को एक सूक्ष्म कालपुद्गलपरावर्तन कहा जाता है।

कालपुरुष—यो यावन्तं कालं पुरुषवेदवेद्यानि कर्माणि वेदयते स कालपुरुषः। (सूत्रकृ. शी. वृ. ४, १, ५७)।

जो पुरुष जितने काल तक पुरुष वेद के द्वारा वेदन किये जाने वाले कर्मों का अनुभव करता है, उतने समय तक उसे कालपुरुष कहते हैं।

कालपूजा—गर्भादिपञ्चकल्याणमर्हतां यद्दिनेऽभवत्। तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चार्चनम्॥ स्नपनं क्रियते नानारसैरिक्षुघृतादिभिः। तत्र गीतादिमांगल्यं कालपूजा भवेदियम्॥ (धर्मसं. श्रा. ९, ९६–९७)।

तीर्थंकरों के गर्भादि कल्याणकों के दिनों में, नन्दीश्वर (अष्टाह्निक पर्व) में और रत्नत्रय पर्व के समय जो पूजा की जाती है; इक्षु और घृतादि रसों के द्वारा अभिषेक किया जाता है, तथा गीत आदि मंगलकार्य किये जाते हैं; इस सबको कालपूजा कहा जाता है।

कालप्रतिक्रमण—१. रात्रि-संध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापाराकरणात् कालप्रतिक्रमणम्। कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषाः कालसाहचर्यात् कालशब्देन गृहीताः। (भ. आ. विजयो. ११६); संध्यास्वाध्यायकालादिषु गमनागमनादिपरिहारः कालप्रतिक्रमणम्। (भ. आ. विजयो. ४२१)। २. कालमाश्रितातीचारान्निवृत्तिः कालप्रतिक्रमणम्। (मूला. वृ. ७–११५)।

१ रात्रि में, तीनों संध्याओं में तथा स्वाध्याय और आवश्यकों के काल में गमनागमनादि व्यापार न करना, यह कालप्रतिक्रमण कहलाता है। काल के अपरिहार्य होने से तदाश्रित व्यापारविशेष कालशब्द से ग्रहण किये गये हैं।

कालप्रतिसेवना—१. आवश्यककालादन्यस्मिन् काले आवश्यककरणम्, वर्षावग्रहातिक्रमः, इत्यादिका कालप्रतिसेवना। (भ. आ. विजयो. ४५०)। २. कालं आवश्यककालवर्षावग्रहाद्यतिक्रमः सेवा। (भ. आ. मूला. ४५०)।

१ जिस आवश्यक के करने का जो काल नियत है उस काल में उसे न करके अन्य समय में करना तथा वर्षाकाल आदि का अतिक्रमण करना—उसे न करना, इत्यादि को कालप्रतिसेवना कहा जाता है।

कालप्रत्याख्यान—कालस्य दुःपरिहार्यत्वात् कालसाध्यायां क्रियायां परिहृतायां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्यम्। तेन संध्याकालादिषु अध्ययनगमनादिकं न संपादयिष्यामीति चेतः कालप्रत्याख्यानम्। (भ. आ. विजयो. ११६, पृ. २७६)।

काल चूंकि अपरित्याज्य है, अतः विवक्षित काल में सिद्ध होने वाली क्रिया का परित्याग करने पर काल का ही प्रत्याख्यान समझना चाहिए। इससे यह अभिप्राय समझना चाहिए कि संध्याकाल आदि में मैं अध्ययन व गमन आदि न करूंगा इस प्रकार के विचार का नाम ही कालप्रत्याख्यान है।

कालमंगल—१. जस्सि काले केवलणाणादिमंगलं परिणमदि॥ परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिपवेसादी। पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं॥ (ति. प. १, २४–२५)। २. तत्थ कालमंगलं णाम—जम्हि काले केवलणाणादिपज्जएहि परिणदो कालो पावमलगालणत्तादो मंगलं। तस्योदाहरणं परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणदिवसादयः। जिनमहिमसम्बद्धकालोऽपि मंगलम्, यथा नन्दीश्वरदिवसादिः। (धव. पु. १, पृ. २९)।

१ जिस काल में तीर्थंकरादि महापुरुषों ने परिनिष्क्रमण (दीक्षा), केवलज्ञान और निर्वाण आदि प्राप्त किया है, उस काल को पापमल का विनाशक होने से कालमंगल कहते हैं।

कालमास—यत्र काले यो मासो वर्ण्यते स कालप्रधानताविवक्षणात्तत्कालमासः। × × × यदि वा स्वलक्षणनिष्पन्नो नाक्षत्रादिकः पंचविधः (नाक्षत्रः, चान्द्रः, ऋतुमासः, आदित्यः, अभिवर्धितः) पंचभेदः कालमासः। (व्यव. भा. मलय. वृ. २–१४)।

जिस काल में जिस मास का वर्णन किया जाता है उसे काल की प्रधानता की विवक्षा से कालमास कहा जाता है। अथवा अपने-अपने लक्षणों से सिद्ध वह कालमास नक्षत्रादि के योग से पांच प्रकार का है—नाक्षत्र, चान्द्र, ऋतुमास, आदित्य और अभिवर्धित।

कालयुति (कालजुडी)—तेसिं चेव जीवादीणं दव्वाणं दिवस-मास-संवच्छरादिकालेहिं सह मेलणं कालजुडी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४६)।

जीवादिक द्रव्यों के दिन, मास और वर्ष आदि काल के साथ संमेलन को कालयुति कहा जाता है।

काललब्धि—१. तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः काले ऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्ये-ऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणयोग्यो भवति, नाधिके, इतीयमेका काललब्धिः। अपरा कर्मस्थितिकाललब्धिः—उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्तःकोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। भव्यः पंचेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। (स. सि. २–३; त. वा. २, ३, २)। २. भव्यः कर्माविष्टोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनपरिमाणकाले ऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवतीति काललब्धिः। (पंचसं. अमित. १–२८६; अन. ध. स्वो. टी. २-४६)।

१ कर्माक्रान्त भव्य जीव अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र काल के शेष रह जाने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य होता है, इससे अधिक काल के शेष रहने पर वह उसके योग्य नहीं होता है। यह एक काललब्धि हुई। दूसरी काललब्धि कर्मस्थिति की अपेक्षा है—कर्मों के उत्कृष्ट स्थितियुक्त और जघन्य स्थितियुक्त बन्ध को प्राप्त होने पर उस प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु अन्तःकोटाकोटी मात्र स्थिति के साथ उनके बन्ध को प्राप्त होने पर तथा विशुद्ध परिणामों के वश उनके सत्त्व को उससे संख्यात हजार सागरोपम से हीन अन्तःकोटाकोटी प्रमाण स्थिति में स्थापित करने पर उक्त सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। तीसरी काललब्धि भव की अपेक्षा है—भव्य, पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक सर्वविशुद्ध जीव ही उस सम्यक्त्व को उत्पन्न कर सकता है।

काललोक—काललोकः समयावलिकादिः। (स्थानां. अभय. वृ. १–५, पृ. १३)।

समय-आवली आदि काल को काललोक कहते हैं।

कालवर्गणा—१. इह वर्गणाः सामान्यतश्चतुर्विधा भवन्ति। तद्यथा— × × × कालतः एकसमयस्थितीनां यावदसंख्येयसमयस्थितीनाम्। (आव. नि. हरि. वृ. ३६, पृ. ३४)। २. कम्मदव्वं पडुच्च समयाहियावलियापहुडि जाव कम्मट्ठिदि त्ति, णोकम्मदव्वं पडुच्च एगसमयादि जाव असंखेज्जा लोगा त्ति ताव एदाओ कालवग्गणाओ। (धव. पु. १४, पृ. ५२)।

२ कर्मद्रव्य की अपेक्षा एक समय अधिक आवली से लेकर कर्मस्थिति तक तथा नोकर्मद्रव्य की अपेक्षा एक समय से लेकर असंख्यात लोक प्रमाण काल तक ये सब कालवर्गणायें हैं।

कालवाद—१. कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं। जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो॥ (गो. क. ८७६)। २. सव्वं कालो जणयदि भूदं सव्वं विणासदे कालो। जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदु कालो॥ (अंगपण्णत्ती २–१६, पृ. २७७)।

१ काल (समय) ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका विनाश करता है, वह सोते हुए प्राणियों के भीतर भी जागता रहता है, उसे कोई धोखा नहीं दे सकता; इस प्रकार काल को महत्त्व देकर कथन करने को कालवाद कहते हैं।

कालविप्रकृष्ट—१. अन्तरिताः कालविप्रकृष्टाः। × × × कालविप्रकृष्टा लाभालाभ-सुखदुःख-ग्रहोपरागादयः। (आ. मी. वृ. ५)। २: कालविप्रकृष्टा रामादयः। (न्यायदी. पृ. ४१)।

१ जिनमें काल का व्यवधान हो ऐसे लाभ-अलाभ, सुख-दुःख और सूर्य-चन्द्रमादि के ग्रहण आदि को कालविप्रकृष्ट कहते हैं।

कालविमोक्ष—कालविमोक्षस्तु चैत्यमहिमादिकेषु कालेष्वनाघातादिघोषणापादितो यावन्तं कालं मुच्यते, यस्मिन् वा काले व्याख्यायते सोऽभिधीयते इति। (आचारां. नि. शी. वृ. १, ७, ४, २५८, पृ. २३६)।

जिन चैत्यमहिमादि पर्वों के समय अमाघात की (किसी भी जीव को नहीं मारने की) घोषणा जितने काल के लिए की जाती है, उतने काल तक जीवों को वधादि से मुक्ति मिलने के कारण उसे कालविमोक्ष कहते हैं। अथवा जिस काल में विमोक्षण का व्या-

ध्यान किया जाता है उस काल को कालविमोक्ष कहते हैं।

कालापेक्षाव्यतिक्रम—कालापेक्षाव्यतिक्रमः कालापेक्षया कायोत्सर्गस्य विविधभंगभंजनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–१२१)।

काल की अपेक्षा कायोत्सर्ग के विविध अंशों की विराधना करना, यह कालापेक्षाव्यतिक्रम नाम का ३२ दोषों में २९वां दोष है।

कालव्यतिरेक—अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साऽप्यन्या। भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेऽपि कालव्यतिरेकः॥ (पंचाध्यायी १–१४६)। एक समय में जो भी अवस्था होती है वह वही है, दूसरी नहीं हो सकती। और वही दूसरे समय में अन्य होती है—पहली नहीं हो सकती; यही कालव्यतिरेक है।

कालशुद्धदान—कालं शुद्धं तु यत्किंचित्काले पात्राय दीयते। (त्रि. श. पु. च. १, १, १८४)।

दान देने के लिए जो समय निश्चित है, ठीक आगम निरूपित उसी समय पर पात्र के लिए शुद्ध देय वस्तु का दान करने को कालशुद्धदान कहते हैं।

कालशुद्धि—१. दिसदाह उक्कपडणं विज्जुचडुक्कासणिंदघणुगं च। दुग्गंध-संज्झ-दुद्दिण-चंदग्गह-सूरराहुजुज्झं च॥ कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च। इच्चेवमाइ बहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा॥ (मूला. ५, ७७–७८)। २. विद्युदिन्द्रधनुर्ग्रहोपरागाकालवृष्टयभ्रगर्जन-जीमूतव्रातप्रच्छाद-दिग्दाह-धूमिकापात-संन्यास-महोपवास - नन्दीश्वरजिनमहिमाद्यभावः कालशुद्धिः। (धव. पु. ९, पृ. २५३)। ३. उदयास्तात्प्राक्-पाश्चात्य-त्रि-त्रिनाडीषु यः सुधीः। मध्याह्ने तां च यः कुर्यात् कालशुद्धिश्च तस्य सा॥ (धर्मसं. श्रा. ७–४६)।

२ स्वाध्याय के समय में बिजली, इन्द्रधनुष, सूर्य चन्द्र का ग्रहण, अकालवृष्टि, मेघगर्जन, मेघसमूह का आच्छादन (दुर्दिन), दिशादाह, धूमिकापात (कुहरा), संन्यास, महोपवास, नन्दीश्वर (अष्टाह्निकपर्व) और जिनमहिमा आदि के अभाव का नाम कालशुद्धि है।

कालसमवाय—१. उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्तुल्यदशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणात्कालसमवायनात् कालसमवायः। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ९, पृ. १९९)। २. कालदो समवाओ—समयो समएण, मुहुत्तो मुहुत्तेण समो। (धव. पु. १, पृ. १०१)। ३. समयावलिय-खण-लव-मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मासउडु-अयण-संवच्छर-युग-पुव्व-पव्व-पल्ल-सागरोसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ सरिसाओ, एसो कालसमवाओ। (जयध. पु. १, पृ. १२५)। ४. एकसमयः एकसमयेन सदृशः, आवलिः आवल्या सदृशी, प्रथमपृथ्वीनारक-भावन-व्यन्तराणां जघन्यायूंषि सदृशानि। सप्तमपृथ्वीनारक-सर्वार्थसिद्धिदेवानामुत्कृष्टायुषी सदृशे इत्यादिः कालसमवायः। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३५६)।

२ काल की अपेक्षा समय समय के साथ समान है, आवली आवली के साथ समान है; इत्यादि काल की समानता को कालसमवाय कहते हैं।

कालसमाधि—कालसमाधिरपि यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते, यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति, यस्मिन् वा काले समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति। (सूत्रकृ. शी. वृ. १०, १, ४)।

जिसके जिस काल में समाधि उत्पन्न होती है, अथवा जितने काल तक समाधि रहती है, अथवा जिस काल में समाधि का व्याख्यान किया जाता है; उस काल को काल की प्रधानता से कालसमाधि कहते हैं।

कालसंक्रम—कालस्स अपुव्वस्स पादुब्भाओ कालसंकमो। × × × अथवा × × × एगकालम्मि ट्ठिददव्वस्स कालंतरगमणं कालसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ३४०)।

अपूर्व काल की उत्पत्ति को कालप्रादुर्भाव कहा जाता है। अथवा एक काल में स्थित द्रव्य का अन्य काल को प्राप्त होना, इसका नाम कालसंक्रम है।

कालसंयोग—१. से किं तं कालसंजोगे? सुसमसुसमाए सुसमाए सुसमदूसमाए दूसमसुसमाए दूसमाए दूसमदूसमाए, अहवा पावसए वासारत्तए सरदए हेमंतए वसंतए गिम्हए, से तं कालसंजोगे। (अनुयो. सू. १३, पृ. १४४)। २. कालसंयोगपदानि यथा शारदः वासन्तक इत्यादीनि। (धव. पु. १, पृ. ७८); सारओ वासंतओ त्ति कालसंजोगपदणामाणि। (धव. पु. ९, पृ. १३७)।

१. सुषमसुषमादि छह कालों के सम्बन्धसे तथा वर्षा आदि ऋतुओं के सम्बन्ध से जो नाम (पद) निष्पन्न

होते हैं, वे कालसंयोग-नाम कहे जाते हैं। जैसे— सुषमसुषमज, सुषमज, सुषमदुःषमज आदि तथा प्रावृषिक, शारद व हैमन्तक आदि।

कालसंसार—१. तत्र परमार्थकालवर्तितपरिस्पन्देतरपरिणामविकल्पः तत्पूर्वकालव्यपदेशोपचारिककालत्रयवृत्तिः कालसंसारः। (त. वा. ६, ७, ३)। २. कालस्य दिवस-पक्ष-मासर्त्वयन-संवत्सरादिलक्षणस्य संसरणं चक्रन्यायेन भ्रमणं पल्योपमादिकालविशेषविशेषितं वा यत्कस्यापि जीवस्य नरकादिषु स कालसंसारः। (स्थानां. अभय. वृ. ४, १, २६१, पृ. १८८)।

१. निश्चय काल के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द और इतर परिणमन को तथा उक्त निश्चय काल के निमित्त से काल इस नाम को प्राप्त तीनों व्यवहार कालों में होने वाले संसरण को कालसंसार कहते हैं। २. दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष आदिरूप कालका जो चक्र के समान परिभ्रमण होता है, इसका नाम कालसंसार है। अथवा पल्योपमादि कालविशेष से विशेषता को प्राप्त जिस किसी भी जीवका जो नरकादि गतियों में परिभ्रमण होता है उसे कालसंसार जानना चाहिए।

कालसंस्थान— अद्धायाः कालस्याकारोऽद्धाक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रं तदाकृतिर्ज्ञेयः, सूर्यक्रियाभिव्यङ्ग्यो हि कालः किल मनुजक्षेत्र एव वर्तते, अतो य एव तस्याकारः स एव कालस्याप्युपचारतो विज्ञेयः। (आव. हरि. वृ. मल. हे. टि. पृ. ६४)।

कालका क्षेत्र जो मनुष्यलोक है उसे ही कालसंस्थान—काल का आकार—जानना चाहिये। सूर्य के संचार से अभिव्यक्त होनेवाला काल (व्यवहारकाल) चूंकि मनुष्यलोक में ही पाया जाता है, अतः मनुष्यलोक का जो आकार है, उसे ही उपचार से कालसंस्थान समझना चाहिये।

कालसामायिक—१. छ-उदुविसयसंपरायणिरोहो कालसामाइयं। (जयध. १, पृ. ९८) २. प्रावृट्-वर्षा-हेमन्त-शिशिर-वसन्त-निदाघाः षड् ऋतवो रात्रि-दिवस-शुक्लपक्ष-कृष्णपक्षाः कालस्तेषूपरि राग-द्वेष-वर्जनं कालसामायिकं नाम। ××× अथवा ××× यस्मिन् काले सामायिकं करोति स कालः पूर्वाह्णादिभेदभिन्नः कालसामायिकम्। (मूला. वृ. ७–१७)। ३. कालसामायिकं वसन्त-ग्रीष्मादिषु ऋतुषु दिन-रात्रिसितासितपक्षादिषु च यथास्वं चार्वचारुषु राग-द्वेषानुद्भवः। ××× कालसामायिकं तु यस्मिन् काले सामायिकस्वरूपेण परिणतो जीवः स कालः पूर्वाह्ण-मध्याह्नापराह्णादिभेदभिन्नः। (अन. ध. स्वो. टी. ८–१९)। ४. वसन्तादिषु ऋतुषु शुक्ल-कृष्णयोः पक्षयोः दिन-वार-नक्षत्रादिषु च इष्टानिष्टेषु कालविशेषेषु राग-द्वेषनिवृत्तिः कालसामायिकम्। (गो. जी. मं. प्र. टी. ३६७)। ५. वसंताइसु उदुसु सुक्क-किण्हाणं पक्खाणं दिण-वार-णक्खत्ताइसु च तेसु कालविसेसेसु तं णिवट्टी कालसामाइयं। (अंगप. पृ. ३०६)।

१ वसन्तादि छह ऋतुओं के अनुकूल या प्रतिकूल होने की अवस्था में उन पर राग या द्वेष नहीं करने को कालसामायिक कहते हैं।

कालस्तव— १. स्वर्गावतरण-जन्म-निष्क्रमण-केवलोत्पत्ति-निर्वाणकालानां स्तवनं कालस्तवः। (मूला. वृ. ७–४१)। २. कालस्तवस्तीर्थकृतां स ज्ञेयो यदनेहसः। तद्गर्भावतराद्युद्धक्रियादृप्तस्य कीर्तनम्॥ (अन. ध. ८–४३)।

१ तीर्थंकरों के गर्भादि कल्याणक सम्बन्धी कालों का स्तवन करने को कालस्तव कहते हैं।

कालस्पर्शन—कालदव्वस्स अण्णदव्वेहि जो संजोगो सो कालफोसणं णाम। (धव. पु. ४, पृ. १४४)।

काल द्रव्य का अन्य द्रव्यों के साथ जो संयोग होता है उसे कालस्पर्शन कहते हैं।

कालाणु—लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का। रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा॥ (धव. पु. ४, पृ. ३१५ उद्.; द्रव्यसं. २२; गो. जी. ५८८)।

एक एक लोकाकाशप्रदेश के ऊपर जो रत्नों की राशि के समान एक एक काल के अणु स्थित हैं वे कालाणु कहलाते हैं।

कालातिक्रम—१. अकाले भोजनं कालातिक्रमः। (स. सि. ७–३६)। २. कालातिक्रम इति कालस्यातिक्रमः कालातिक्रमः उचितो यो भिक्षाकालः साधूनां तमतिक्रम्य उल्लंघ्य भुंक्ते तदा च किं तेन लब्धेनापि, कालातिक्रान्तत्वात्तस्य। (श्रा. प्र.

(संग्रा. का. अव. वृ. २५)। ३. निमेषाष्टकैः काष्ठा। (मि. सा. वृ. ११)।

१ पन्द्रह अक्षि-निमेष (पलक) प्रमाण काल को काष्ठा कहते हैं। ३ आठ निमेषों की एक काष्ठा होती है।

काहलत्व—काहलमव्यक्तवर्णं वचनम्, तद्योगात्पुरुषोऽपि काहलः, तस्य भावः काहलत्वम्। (योगशा. स्वो. विव. २-२३)।

काहल का अर्थ अव्यक्त वर्णवाला वचन होता है। उसके सम्बन्ध से जो व्यक्ति वचन का स्पष्टता से उच्चारण नहीं कर सकता है उसे भी काहल कहा जाता है। मनुष्य का काहल होना असत्य भाषण का परिणाम है।

कांक्षा—१. ऐहलौकिक-पारलौकिकेषु विषयेष्वाशंसा काङ्क्षा। (त. भा. ७-१८)। २. कंखा अन्नन्नदंसणग्गाहो। (श्रा. प्र. ८७)। ३. कांक्षा अन्योन्यदर्शनग्राहः। (श्रा. प्र. टी. ५६ व ८७)। ४. काङ्क्षणं कांक्षा, सुगतादिप्रणीतदर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इत्यर्थः। तथा चोक्तम्—कंखा अन्नन्नदंसणग्गाहो। (आव. हरि. वृ. १५६१, पृ. ८१४)। ५. काङ्क्षणं कांक्षा अर्जनमतिपरिणामाविच्छेदः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-१२); भविष्यत्कालोपादानविषया काङ्क्षा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)। ६. काङ्क्षा अन्यान्यदर्शनग्रहः। (योगशा. स्वो. विव. २-१७)।

१ इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी विषयों की अभिलाषा का नाम काङ्क्षा है। वह सम्यग्दर्शन का एक अतिचार है। २ बौद्धादि विभिन्न दर्शनों के ग्रहण को काङ्क्षा कहा जाता है। ५ धनार्जनादि के विचार का न छोड़ना, यह काङ्क्षा कहलाती है। यह मूर्छा का एक नामान्तर है।

कितव—कितवो द्यूतकारः। (नीतिवा. १४-१३)। जुआ खेलने वाले को कितव कहते हैं।

किन्नर—१. तत्र किन्नराः प्रियंगुश्यामाः सौम्याः सौम्यदर्शना मुखेष्वधिकरूपशोभा मुकुटमौलिभूषणा अशोकवृक्षध्वजा अवदाताः। (त. भा. ४-१२)। २. किन्नरनामकर्मोदयात् किन्नराः। (त. वा. ४, ११, ३)। ३. किन्नराः सौम्यदर्शना मुखेष्वधिकरूपशोभा मुकुटमौलिभूषणाः। (बृहत्सं. वृ. ५८)।

१ जिनकी ध्वजा में अशोक वृक्ष का चिह्न होता है, तथा जो प्रियंगु के समान कृष्णवर्ण, रमणीय, मुखों में अधिक शोभा से सम्पन्न और मुकुट से विभूषित होते हैं उन देवों को किन्नर कहते हैं।

किम्पुरुष—किम्पुरुषा ऊरु-बाहुष्वधिकशोभा मुखेष्वधिकभास्वरा विविधाभरणभूषणाश्चित्रस्रगनुलेपनाश्चम्पकवृक्षध्वजाः। (त. भा. ४-१२; बृहत्सं. मलय. वृ. ५८)।

ऊरु और भुजाओं में अधिक शोभा से सम्पन्न, मुख में अतिशय भास्वर, नाना प्रकार के आभरणों से भूषित, विविध वर्ण के पुष्पों की मालाओं के धारक एवं चम्पक वृक्ष की ध्वजा वाले देवों को किम्पुरुष कहते हैं।

किरात—अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः। (नीतिवा. १४-१४)।

शरीर के थोड़े अंगों को ढांकने वाले मनुष्य को किरात कहते हैं।

किलिकिंचित—१. स्मित-हसित-रुदित-भय-रोष-गर्व-दुःख-श्रमाभिलाषसंकरः किलिकिंचितम्। (काव्यानुशासन ७, पृ. ३१२)। २. किलिकिंचितं रोषभयाभिलाषादिभावानां युगपदसकृत् करणम्। (रायप. मलय. वृ. पृ. १७)।

२ रोष, भय एवं अभिलाषा आदि भावों के संकर या मिश्रण को किलिकिंचित कहते हैं।

किल्विष—देखो किल्विषिक। किल्विषाश्चान्त्यजोपमाः। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७४)।

जो देव अन्त्यज (घृणित, चाण्डाल या अस्पृश्य) आदि के समान हीन होते हैं वे किल्विष कहे जाते हैं।

किल्विषकर्मा—किल्विषाणि—क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्विषकर्माणः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५, पृ. १८३)।

पापबन्ध के कारणभूत घृणित कार्य के करने वाले देव किल्विषकर्मा कहे जाते हैं।

किल्विषिक—१. किल्विषं पापं येषामस्ति ते किल्विषिकाः। (स. सि. ४-४)। २. किल्विषिका अन्तस्थस्थानीया इति। (त. भा. ४-४)। ३. अन्त्यवासिस्थानीयाः किल्विषिकाः। किल्विषं पापम्, तदेतेषामस्तीति किल्विषिकाः। ते अन्त्यवासिस्थानीया मताः। (त. वा. ४, ४, १०)। ४. किल्विषं पापम्, तदेषामस्तीति किल्विषिकाः। (त. श्लो. ४-४)। ५. मताः किल्विषमस्त्येषामिति किल्वि-

किकामराः। बाह्याः प्रजा इव स्वर्गे स्वल्पपुण्योदितर्द्धयः॥ (म. पु. २२-३०)। ६. किल्विषं पापं उदये विद्यते येषां ते किल्विषिकाः। (स्थाना. अभय. वृ. ३, ४, २०१, पृ. १५२)। ७. किल्विषं पापकर्म विद्यते येषां ते किल्विषिका अन्त्यजस्थानीयाः। (त. सुखबो. वृ. ४-४)। ८. किल्विषमशुभं कर्म, तद्वन्तः किल्विषिकाश्चाण्डालप्रायाः। (संग्रहणी दे. वृ. १, पृ. ५)। ९. तथा किल्विषमशुभकर्म, तदेषामस्तीति किल्विषिकाः, ते चाधमाश्चाण्डालप्राया अवगन्तव्याः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २)। १०. किल्विषं पापं विद्यते येषां ते किल्विषिकाः। × × × किल्विषिका इति कोऽर्थः? वाहनादिकर्मसु नियुक्ताः दिवाकीर्तिसदृशाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-४)।

३ किल्विष नाम पाप का है, पाप से युक्त देव किल्विषिक कहलाते हैं। वे अन्त्यवासियों (चाण्डालों) के समान होते हैं।

किल्विषिकभावना (खिब्भिसियभावणा)— १. तित्थयराणं पडिणीओ संघस्स य चेइयस्स सुत्तस्स। अविणीदो नियडिल्लो किब्भिसियेसुववज्जेइ॥ (मूला. २-३०, पृ. ७०)। २. णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरियसव्वसाहूणं। माइय अवण्णवादी खिब्भिसियं भावणं कुणइ॥ (भ. आ. १८१; बृहत्क. नि. १३०२)। ३. तीर्थंकराणां प्रत्यनीकः संघस्य चैत्यस्य सूत्रस्य वा, अविनीतः मायावी च यः सः किल्विषकर्मभिः किल्विषिकेषु जायते। (मूला. वृ. २-३०, पृ. ७१)।

२ श्रुतज्ञान, केवली, धर्म, आचार्य और समस्त साधु; इनके विषय में मायायुक्त—यथार्थ भक्ति न होने पर भी बाह्य में विनयादि से संयुक्त—होकर दोष दिखलाना, यह किल्विषिक भावना है।

किष्कु (किक्खू)—१. द्विहस्तः किष्कुः। (त. वा. ३, ३८, ७)। २. × × × तद्-(हस्त-) द्वयं किष्कुरिष्यते॥ (ह. पु. ७-४५)। ३. वेहत्थेहि य किक्खू। (जं. दी. प. १३-३३)।

१ दो हाथ-प्रमाण माप को किष्कु कहते हैं।

कीर्ति—१. कीर्तनं संशब्दनं कीर्तिः। (त. वा. ८, ११, ३८)। २. दान-पुण्यफला कीर्तिः। (श्रा. प्र. २४; श्राव. मलय. वृ. १०८७)। ३. कीर्त्यन्ते जीवादयस्तत्त्वार्था यया सा कीर्तिः। (युक्त्यनु. टी. १)। ४. कीर्तिः गुणोत्कीर्तनरूपा। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५)। ५. दानपुण्यकृतः साधुवादः कीर्तिः। (धर्मसंग्रहणी मलय. वृ. ६२१, पृ. २३४)।

२ दानजनित पुण्य के प्रभाव से जो अन्य जनों के द्वारा प्रशंसा की जाती है उसे कीर्ति कहते हैं। ३ जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का कीर्तन किया जाता है उसका नाम कीर्ति है।

कीर्तित— कीर्तितम्—भोजनवेलायाममुकं मया प्रत्याख्यातम्, तत् पूर्णमधुना भोक्ष्य इत्युच्चारणेन। (श्राव. नि. हरि. वृ. ६, १०, १५९३, पृ. ८५१)।

मैंने भोजन के समय अमुक वस्तु का प्रत्याख्यान किया था, वह पूर्ण हो चुका है, अब मैं उसे खाऊंगा; इस प्रकार उच्चारण द्वारा संकेत करने को कीर्तित कहा जाता है।

कीलिकासंहनन (खीलियसरीरसंघडण)— १. तदुभयमन्ते सकीलकं कीलिकासंहननम्। (त. वा. ८, ११, ९)। २. कीलिकानाम विना मर्कटबन्धेनास्थ्नोर्मध्ये कीलिकामात्रम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)। ३. जस्स कम्मस्स उदएण अवज्जहड्डाइं खीलियाइं हवंति तं खीलियसरीरसंघडणं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७४); अवज्रकीलैः कीलितं कीलितशरीरसंहननम्। (धव. पु. १३, पृ. ३७०)। ४. ऋषभनाराचवर्जं कीलिकाविद्धास्थिद्वयसंचितं कीलिकाख्यं पञ्चमम्। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १८)। ५. यस्य कर्मण उदयेन वज्रास्थीनि वज्रवेष्टनेन वेष्टितानि वज्रनाराचेनैव कीलितानि न भवन्ति तत्पञ्चमम् (कीलकसंहननम्)। (मूला. वृ. १२-१९४)। ६. यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धानि तत्कीलिकाख्यं पञ्चमं संहननम्। (संग्रहणी दे. वृ. ११७, पृ. ५८; जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १५)। ७. यत्र त्वस्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्संहननं कीलिकाख्यम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४७२)। ८. यस्योदयाद् वज्रास्थीनि कीलितानि भवन्ति तत्कीलितशरीरसंहनननाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)। ९. उभयास्थिपर्यन्तकीलकसहितं कीलिकासंहनननाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ नाराच और वलयबन्धन का अन्त में कीलों से सहित होना, यह कीलिकासंहनन कहलाता है। २ मर्कटबन्ध (नाराचबन्ध) के बिना जो हड्डियों के

मध्य में कील मात्र होती हैं, उसे कीलिकासंहनन कहते हैं।

कुक्षि—देखो किष्कु। १. अडयालीसं अगुलाइं कुच्छी। (व्याख्याप्र. ६–७, पृ. ८२६)। २. दो रयणीओ कुच्छी। (अनुयो. सू. १३३)। ३. रत्निद्वयं कुक्षिः। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. १३३, पृ. १५८)।

१ अड़तालीस अंगुल अथवा रत्नि प्रमाण कुक्षि (एक क्षेत्रप्रमाण) होती है।

कुगुरु—१. सग्रन्थारम्भहिंसाः संसारावर्तवर्तिनः पाखण्डिनः कुगुरवः। (फलित लक्षण—रत्नक. १४)। २. सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः। अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥ (योगशा. २–९)। ३. कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः। (लाटीसं. ४–१२३; पञ्चाध्यायी २-६०४)।

१ ग्रन्थ (परिग्रह) और आरम्भ से सहित पाखण्डी—वेषधारी साधु—कुगुरु कहलाते हैं। २ जो सब कुछ चाहते हैं, सब कुछ खाते हैं, परिग्रह से प्रसिद्ध रहते हैं, ब्रह्मचर्यविहीन होते हैं, और मिथ्या उपदेश दिया करते हैं; वे गुरु नहीं हो सकते—उन्हें अगुरु या कुगुरु जानना चाहिए।

कुञ्चितदोष—करामर्शोऽथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुञ्चितम्। (अन. ध. ८–१०७)।

हाथ से शिर के आमर्श (स्पर्श) करने को कुञ्चित दोष कहते हैं। अथवा दोनों जंघाओं के मध्य में शिर के रखने को कुञ्चित दोष कहते हैं। यह ३२ वन्दनादोषों में २२वां दोष है।

कुड्य— जिणहरघरायदणाणं ठविदओलित्तीओ कुड्डा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४०)।

जिनगृह, घर और आयतन की स्थापित ओलित्तियां (?) कुड्य कहलाती हैं।

कुड्यदोष—१. कुड्यमाश्रित्य कायोत्सर्गेण यस्तिष्ठति तस्य कुड्यदोषः। (मूला. वृ. ७–१७१)। २. कुड्यमवष्टभ्य स्थानं कुड्यदोषः (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

१ कुड्य (भित्ति) का आलम्बन लेकर कायोत्सर्ग से स्थित होना, यह कुड्यदोष कहलाता है।

कुतर्क—अन्यथा सम्भवज्ञानं कुतर्को भ्रान्तिकारणम्। (प्रमाणसं. १५)।

अन्य प्रकार होने वाले तथा भ्रम के कारणभूत ज्ञान को कुतर्क कहते हैं।

कुत्सा— परकीयकुल-शीलादिदोषाविष्करणावक्षेपभर्त्सनप्रवणा कुत्सा। (त. वा. ८, ९, ४)।

दूसरे के कुल-शील आदि के विषय में दोष के प्रकट करने तथा उनके कार्य में विघ्न डालने व झिड़कने आदि को कुत्सा कहते हैं।

कुदृष्टि—१. मदि-सुदणाणबलेण दु सच्छंदं बोलए जिणुत्तमिदि। जो सो होइ कुदिट्ठी × × × ॥ (रयणसार ३)। २. × × × कुदृष्टियः स सप्तभिर्भयैर्युतः। (लाटीसं. ४–१८)।

१ जो अपने मति-श्रुतज्ञान के दर्प से जिनोक्त कह कर स्वच्छन्द कथन करे, उसे कुदृष्टि कहते हैं।

कुदेव—ये स्त्री-शस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यङ्ककलङ्किताः। निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥ (योगशा. २–६)।

जो राग-द्वेष-मोह के चिह्नभूत स्त्री, शस्त्र, अक्षसूत्र (जपमाला) और राग-द्वेषादि से कलंकित होकर दूसरों का निग्रह व अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं, वे देव नहीं हो सकते—वे कुदेव हैं—जो मुक्ति के कारण नहीं हो सकते।

कुधर्म—मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो हिंसाद्यैः कलुषीकृतः। स धर्म इति वित्तोऽपि भवभ्रमणकारणम् ॥ (योगशा. २–१३)।

मिथ्यादृष्टियों से प्ररूपित होता हुआ जो हिंसादि पापाचरणों से मलिनता को प्राप्त है, वह मुग्धबुद्धियों में धर्मरूप में प्रसिद्ध होकर भी वस्तुतः धर्म नहीं है—कुधर्म है और वह संसारपरिभ्रमण का ही कारण है।

कुधर्मकांक्षा— रत्तवड-चरग-तावस-परिहत्तादीणमण्णतित्थीणं। धम्मम्हि य अहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा ॥ (मूला. ५–५४)।

रक्तपट (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक), चरक (नैयायिक-वैशेषिक), तापस (कन्दमूलाहारी, जटाधारी साधु) और परिव्राजक (सांख्यमतावलम्बी) आदि अन्य तीर्थिकों के धर्म की अभिलाषा करने को कुधर्मकांक्षा कहते हैं।

कुन्थु—कुः पृथ्वी, तस्यां स्थितवानिति निरुक्तात् कुन्थुः, तथा गर्भस्थे जननी रत्नानां कुन्थुं राशिं दृष्टवतीति कुन्थुः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

'कु' नाम पृथिवी का है, सत्तरहवें तीर्थंकर भगवान्

कुन्थु चूंकि स्वर्ग से आकर उक्त पृथिवी पर स्थित हुए, अतः कुन्थु कहलाये। कुन्थु नाम राशि का भी है। कुन्थुनाथ की जननी ने उनके गर्भ में स्थित होते पर रत्नों की राशि को देखा था, इसलिए भी वे 'कुन्थु' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कुपात्र—१. जं रयणत्तयरहियं मिच्छामयकहियधम्मप्रणुलग्गं। जइ वि हु तवइ सुघोरं तहावि तं कुच्छियं पत्तं ॥ (भावसं. दे. ५३०)। २. चरति यश्चरणं परदुश्चरं विकटघोरकुदर्शनवासितः। निखिलसत्त्वहितोद्यतचेतनो वितथकर्कशवाक्यपराङ्मुखः ॥ धन-कलत्रपरिग्रहनिःस्पृहो नियमसंयमशीलविभूषितः। कृतकषाय-हृषीकविनिर्जयः प्रणिगदन्ति कुपात्रमिमं बुधाः ॥ (अमित. श्रा. १०, ३४-३५)। ३. कुपात्राय सम्यक्त्वरहितव्रत-तपोयुक्ताय ××× । (सा. ध. स्वो. टी. २-६७); निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं ××× ॥ (सा. ध. २-६७ टिप्पण)।

२ जो घोर मिथ्यात्व के वशीभूत होकर दुष्कर तपश्चरण करते हैं; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत को धारण करते हैं; नियम, संयम और शील से विभूषित हैं तथा कषायों एवं इन्द्रियों के जीतने वाले हैं; वे कुपात्र कहे जाते हैं।

कुप्य—१. कुप्यं क्षौम-कार्पास-कौशेय-चन्दनादि। (स. सि. ७-२६; त. वा. ७-२६; कार्तिके. टी. ३४०)। २. कुप्यं रूप्य-सुवर्णव्यतिरिक्तं कांस्य-लोह-ताम्र-सीसक-त्रपु-मृद्भाण्ड-त्वचिसार - विकारोदङ्कि-काष्ठमञ्चक-मञ्चिका-मसूरक-रथ-शकट-हलप्रभृतिद्रव्यम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-९५)। ३. कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा ॥ (लाटीसं. ६-१०७)।

२ चांदी और सुवर्ण को छोड़कर कांसा, लोहा, तांबा, सीसा, रांगा और मिट्टी के बर्तन कुप्य कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त बांस के विकारभूत, उदङ्कि, काष्ठमंचक (लकड़ी का मचान), मंचिका, मसूर, रथ, गाड़ी और हल आदि द्रव्यों को भी कुप्य कहा जाता है।

कुप्यप्रमाणातिक्रम—१. तथा कुप्यं आसन-शयनादि-गृहोपस्करः, तस्य यन्मानं तस्य पर्यायान्तरारोपणेनातिक्रमोऽतिचारो भवति। (ध. बिं. मु. वृ. ३-२७)। २. कुप्यस्य भावतः संख्यातिक्रमो यथा—कुप्यस्य या संख्या कृता तस्याः कथञ्चिद् द्विगुणत्वे सति व्रतभङ्गभयाद् भावतो द्वयोर्द्वयोर्मीलनेन एकीकरणरूपात् पर्यायान्तरात् स्वाभाविकसंख्याबाधनात् संख्यामात्रपूरणाच्चातिचारः। अथवा भावतोऽभिप्रायादर्थित्वलक्षणाद् विवक्षितकालावधेः परतो ग्रहीष्यामि अतो नान्यस्मै देयमिति पराप्रदेयतया व्यवस्थापयतोऽतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९६)।

१ आसन और शय्या (पलंग आदि) आदि घर के उपस्कर (सामग्री) को कुप्य कहा जाता है। परिग्रहपरिमाणव्रत के भीतर गृहीत इस कुप्य के प्रमाण के उल्लंघन करने को कुप्यप्रमाणातिक्रम कहते हैं।

कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक—से किं तं कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं?, २ जे इमे चरग-चीरिगचम्मखंडिअ-भिक्खोंड-पंडुरंग-गोअम-गोव्वतिअ-गिहिधम्म-धम्मचिंतग-अविरुद्ध- विरुद्ध-वुड्ढ - सावगप्पभितओ पासंडत्था कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव तेअसा जलंते इंदस्स वा खंदस्स वा रुद्दस्स वा सिवस्स वा वेसमणस्स वा देवस्स वा नागस्स वा जक्खस्स वा भूअस्स वा मुगुंदस्स वा अज्जाए वा दुग्गाए वा कोट्टकिरियाए वा उवलेवण-संमज्जण-आवरिसण-धूव-पुप्फ-गंधमल्लाइआइं दव्वावस्सयाइं करेंति, से त कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं। (अनुयो. सू. २०)।

चरक, चीरिक, चर्मखण्डक, भिक्षोण्ड, पांडुरंग, गोतम, गोव्रतिक, गृहिधर्मा, धर्मचिन्तक, अविरुद्ध (वैनयिक), विरुद्ध (अक्रियावादी) वृद्ध (तापस) और श्रावक (ब्राह्मण) आदि (परिव्राजक आदि) विविध पाखण्डस्थ (व्रतस्थ) जनों के द्वारा प्रभात समय की विविध अवस्थाओं (कल्प, प्रादुःप्रभाता रजनी और सुविमला आदि—सूत्र १९)में जो इन्द्र, स्कन्ध (कार्तिकेय), रुद्र, शिव, वैश्रवण, देव, नाग, यक्ष, भूत, मुकुन्द, आर्या, दुर्गा अथवा कोट्टक्रिया की—उनके आयतन की—उपलेपन, सम्मार्जन, आवर्षण, धूप, पुष्प और गन्धमाल्य आदि रूप से सेवा की जाती है; उसे कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक कहते हैं।

कुप्रावचनिक भावावश्यक (कुप्पावयणिअं भावावस्सय)—से किं तं कुप्पावयणियं भावावस्सयं?, २ जे इमे चरग-चीरिग जाव पासंडत्था इज्जंजलिहोम-जपोन्दुरुक्क-नमोक्कारमाइआइं भावा-

वस्सयाइं करेंति से तं कुप्पावयणिअं भावावस्सयं। (अनुयो. सू. २६)।

चरक व चीरिक आदि पूर्वोक्त (सू. २०) पाखण्डस्थ जनों के द्वारा जो इज्याञ्जलि—यागविषयक जलाञ्जलि अथवा गायत्री आदि के पाठपूर्वक सन्ध्यार्चन के समय किया जाने वाला नमस्कारादि, होम, जप, उन्दुरुक्क—मुंह से बैल आदि के समान शब्द करना—और नमस्कार आदि आवश्यक कार्य भावपूर्वक श्रद्धा के साथ किये जाते हैं, इसे कुप्रावचनिक भावावश्यक कहते हैं।

कुब्जकसंस्थान (खुज्जसरीरसंठाण)—१. पृष्ठदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जकसंस्थाननाम। (त. भा. ८, ११, ८)। २. कुब्जस्य शरीरं कुब्जशरीरम्, तस्य कुब्जशरीरस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत्कुब्जशरीरसंस्थानम्। जस्स कम्मस्स-उदएण साहाणं दीहत्तं मज्झस्स रहस्सत्तं च होदि तस्स खुज्जसरीर-संठाणमिदि सण्णा। (धव. पु. ६,पृ. ७१); दीर्घशाखं कुब्जशरीरं, कुब्जशरीरस्य संस्थानं कुब्जशरीरसंस्थानम्। एतस्य यत्कारणं कर्म तस्याप्येतदेव नाम, कारणे कार्योपचारात्। (धव. पु. १३, पृ. ३६८)। ३. कुब्जस्य शरीरं कुब्जशरीरम्, तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत्कुब्जशरीरसंस्थानम्। यस्योदयेन शाखानां दीर्घत्वं भवति तत्कुब्जशरीरसंस्थाननाम। (मूला. वृ. १२, १९३)। ४. तथा यत्र शिरोग्रीवं हस्त-पादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतं उर-उदरादि च मडमं तत् कुब्जकसंस्थानम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २१–२६८, पृ. ४१२)। ५. पृष्ठदेशे बहुपुद्गलप्रचयनिर्मापकं कुब्जकसंस्थाननाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस नामकर्म के उदय से शरीर के पृष्ठभाग में बहुत पुद्गलसमूह हो, अर्थात् कुबड़ा शरीर हो, उसे कुब्जकसंस्थान कहते हैं।

कुब्जनाम—१. कुब्जनामस्वरूपं तु पुनः कन्धराया उपरि हस्त-पादं च समचतुरस्रलक्षणयुक्तं संक्षिप्तं विकृतमध्यकोष्ठं च कुब्जम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)। २. नाभीतः अधः आदिलक्षणयुक्तं संक्षिप्तविकृतमध्यं कुब्जम्, स्कन्धपृष्ठदेशवृद्धमित्यर्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५७)। ३. सिर-गीव-पाणि-पाए सुलक्खणं तं चउत्थं तु। (संग्रहणी १२१)। ४. यत्र शिरोग्रीवं हस्त-पादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतं उर-उदरादि च मण्डलं तत्कुब्जं संस्थानम्। (जीवाजी. मलय. वृ. १–३८, पृ. ४३)। ५. यत्र तु शिरोग्रीवा-पाणि-पादं विहाय शेषावयवेषु (स) लक्षणं भवति तत् कुब्जम्। (संग्रहणी दे. वृ. १२१)।

२ जिसका उदय होने पर नाभि के नीचे के अवयव लक्षणयुक्त—योग्य प्रमाण से युक्त—होते हैं, किन्तु मध्य का भाग संक्षिप्त व विकृत—पीछे का भाग वृद्धिगत—होता है उसे कुब्जनामकर्म कहते हैं।

कुभाषा—कीर-पारसिय-सिंघल-बब्बरियादीणं विणिग्गयाओ सत्तसयभेदभिण्णाओ कुभासाओ। (धव. पु. १३, पृ. २२२)।

कीर (कश्मीर), पारसी, सिंघल (लंकानिवासी) और बर्बरिक (किसान) आदि की निकली हुई सात सौ भाषायें कुभाषायें कही जाती हैं।

कुमतिज्ञान — मिथ्यादर्शनोदयसहचरितमाभिनिबोधिकज्ञानमेव कुमतिज्ञानम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)।

मिथ्यादर्शन के उदय से संयुक्त आभिनिबोधिक ज्ञान को ही कुमतिज्ञान कहते हैं।

कुमार—१. कुमारवदेते कान्तदर्शनाः असुरकुमाराः [सुकुमाराः] मृदु-मधुर-ललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूप-वेष-भाषाभरण-प्रहरणावरणपातयानवाहनाः कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते। (त. भा. ४–११)। २. कौमारवयोविशेषविक्रियावियोगात् कुमाराः। सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि कौमारवयोविशेषस्वभावस्वरूपं विक्रिया च कुमारवदुद्धतवेष-भाषाऽऽभरण-प्रहरणावरण- यान-वाहनत्वं च उल्वणरागक्रीडनप्रियत्वं चेत्येतैर्योगात् कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते। (त. वा. ४, १०, ७)।

१ जो देव कुमार (बालक) के समान देखने में सुन्दर, मधुर व मनोहर गमन करने वाले; शृङ्गारयुक्त कुलीन रूप व विक्रिया से सम्पन्न, कुमार के समान उद्धत रूप, वेषभूषा एवं भाषा आदि से सहित; उत्कट राग से परिपूर्ण और स्वभाव से क्रीड़ा में मग्न रहते हैं; वे कुमार (भवनवासी) कहलाते हैं।

कुमुद — चतुरशीतिकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं कुमुदम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–६८, पृ. ४०)।

चौरासी लाख कुमुदाङ्गों का एक कुमुद होता है।

कुमुदाङ्ग—चतुरशीतिमहाकमलशतसहस्राण्येकं कुमुदाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २-६८, पृ. ४०)। चौरासी लाख महाकमलों का एक कुमुदाङ्ग होता है।

कुम्भक—१. निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे। कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः॥ (ज्ञानार्णव २-६५,पृ.२८५)। २. नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः। (योगशा. ५-७)। ३. कुम्भवत् कुम्भकं योगी श्वसनं नाभि-पङ्कजे। कुम्भकध्यानयोगेन सुस्थिरं कुरुते क्षणम्॥ (भावसं. वा. ६५८)।

१ वायु को जो नाभि-कमल में स्थिर करके रोका जाता है वह कुम्भ (घट) के समान परिपूर्ण होने से कुम्भक कहलाता है।

कुम्भमुद्रा—किञ्चिदाकुञ्चिताङ्गुलीकस्य वामहस्तो[स्तस्यो]परि शिथिलमुष्टिदक्षिणकरस्थापनेन कुम्भमुद्रा। (निर्वाणकलिका १६, १, २, पृ. ३१)। बायें हाथ की अंगुलियों को कुछ संकुचित करके उसके ऊपर दाहिने हाथ को रखकर ढीली मुट्ठी के बांधने को कुम्भमुद्रा कहते हैं।

कुरुकुचा—१. ××× कुरुकुचा पादप्रक्षालनाचमनरूपां ×××। (ओघनि. वृ. ३१६)। २. देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालनम्। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. पृ. ११७)।

१ पैरों के धोने और आचमन (कुल्ला) करने का नाम कुरुकुचा है।

कुल—१. दीक्षकाचार्यशिष्यसन्ततयः कुलम्। (स. सि. ९-२४)। २. कुलमाचार्यसन्ततिसंस्थितिः। (त. भा. ९-२४)। ३. दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम्। दीक्षकस्याचार्यस्य शिष्यसंस्त्यायः कुलव्यपदेशमर्हति। (त. वा. ९, २४, ९)। ४. कुलं पितृसमुत्थम्। (आव. नि. हरि. वृ. ८३१, पृ. ३४१)। ५. अपरे परिभाषन्ते ××× मात्रन्वयः कुलम्। (त. भा. सि. वृ. ३-१५)। ६. पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते। (म. पु. ३९-८५)। ७. दीक्षकाचार्यसंस्त्यायः कुलम्। (त. श्लो. ९-२४)। ८. दीक्षकस्याऽऽचार्यस्य शिक्षस्याऽऽम्नायः कुलम्। (चा. सा. पृ. ६६)। ९. कुलं गच्छसमुदायः। (औपपा. अभय. वृ. २०, पृ. ४३)। १०. कुलं पितृपितामहादिपूर्वपुरुषवंशः। (ध. बि. मु. वृ. १-१२; योगशा. स्वो. विव. १-४७)। ११. कुलानि योनिप्रभवानि। तथा हि—यथैकस्मिन् छगणपिण्डे कृमीणां कीटानां वृश्चिकादीनां च बहूनि कुलानि भवन्ति तथैकस्यामपि योनौ विभिन्नजातीयानि प्रभूतानि कुलानि। (संग्रहणी दे. वृ. २५१-५२ उत्थानिका)। १२. कुलं पैतृकम्। (व्यव. मलय. वृ. ३, पृ. ११७); पितृपक्षः कुलम्। (व्यव. मलय. वृ. गा. १४१, पृ. १९)। १३. पितृसमुत्थं कुलम्। (आव. नि. मलय. वृ. ८३१)। १४. इह यैः नक्षत्रैः प्रायः सदा मासानां परिसमाप्तय उपजायन्ते माससदृशनामानि च तानि नक्षत्राणि कुलानीति प्रसिद्धानि। उक्तं च—मासाणं परिणामा हुंति कुला। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, ५, ३७, पृ. १११)। १५. दीक्षकाचार्यशिष्यसंघातः कुलम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२४; भावप्रा. टी. ७८)। १६. दीक्षकाचार्यशिष्यसंघातः कुलं वा स्त्री-पुरुषसंतानः कुलम्। (कार्तिके. टी. ४५९)।

१ दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्यपरम्परा को कुल कहते हैं। ६ पिता की वंशशुद्धि को कुल कहते हैं। ९ गच्छों के समुदाय को कुल कहा जाता है। १४ जिन नक्षत्रों के साथ मासों की समाप्ति होती है ऐसे मासों के समान नाम वाले नक्षत्र 'कुल' नाम से प्रसिद्ध हैं।

कुलकथा—उग्रादिकुलोत्पन्नानामन्यतमाया यत्प्रशंसादि सा कुलकथा। यथा—अहो चौलुक्यपुत्रीणां साहसं जगतोऽधिकम्। पत्युर्मृ(र्मृ)त्यौ विशन्त्यग्नौ या प्रेमरहिता अपि। (स्थानां. अभय. वृ. ४, २, २८२, पृ. १९९)।

उग्र आदि (हरिवंश, इक्ष्वाकु आदि) कुलों में उत्पन्न हुई स्त्रियों में किसी एक की जो प्रशंसा आदि की जाती है उसे कुलकथा कहते हैं। जैसे—चौलुक्य पुत्रियों का साहस स्तुत्य है, जिसके बल पर वे पति के मर जाने पर अग्नि में प्रवेश करती हैं—सती हो जाती हैं।

कुलकर—१. कुलकरणम्मि य कुसला कुलकरणामेण सुपसिद्धा। (ति. प. ४-५०९)। २. प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः। आर्याणां कुलसं-

स्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥ कुलानां धारणादेते मता कुलधरा इति । युगादिपुरुषा प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ॥ (म. पु. ३, २११–१२; लो. वि. ५, १२०–२१)।

१ कर्मभूमि के प्रारम्भ में जो कुलों की व्यवस्था करने में कुशल होते हैं उन्हें कुलकर कहते हैं। ऐसे कुलकर वर्तमान में प्रतिश्रुति आदि नाभिराय पर्यन्त १४ हुए हैं।

कुलकरगंडिका — इहैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता गण्डिका उच्यन्ते, तासमनुयोगः अर्थकथनविधिः गण्डिकानुयोगः। तथा चाह—गंडियाणुयोगे णमित्यादि। तत्थ कुलगरगंडियासु कुलगराणं विमलवाहणादीणं पुव्वजम्मणामादि कहिज्जइ। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०६)।

जो एक वक्तव्यता अर्थाधिकार से अनुगत होती हैं वे गण्डिका कहलाती हैं। उनके अनुयोग—कथन की विधि—को गण्डिकानुयोग कहा जाता है। कुलकरगण्डिकाओं में विमलवाहन आदि कुलकरों के पूर्व जन्म के नाम आदि का निरूपण होता है।

कुलचर्या— लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्त्यते। सात्विज्यादसिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥ विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनम्। गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥ (म. पु. ३८, १४२–४३)। आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥ (म. पु. ३६–७२)।

गर्भसंस्कार हो जाने के पश्चात् पूजा करने, दानादि देने तथा अपने कुल के अनुसार असि-मषि आदि छह कर्मों द्वारा आजीविका करने को कुलचर्या कहते हैं। इसे कुलधर्म भी कहा जाता है।

कुलमानवशार्तमरण—कुलेन रूपेण बलेन श्रुतेन ऐश्वर्येण लाभेन प्रज्ञया तपसा वा आत्मानमुत्कर्षयतो मरणमपेक्ष्य विख्याते विशाले उन्नते कुले समुत्पन्नोऽहमिति मन्यमानस्य मृतिः कुलमानवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८६)।

कुल आदि से अपने को उन्नत करने वाला अपने मरण की अपेक्षा करके 'मैं लोकविख्यात विशाल उन्नत कुल में उत्पन्न हुआ हूं', इस प्रकार की अहंकार भावना के साथ जो मरण को प्राप्त होता है, इसे कुलमानवशार्तमरण कहते हैं।

कुल्माषक्षेत्र—कुल्माषक्षेत्रं नाम यत्र कुलत्थ-मुद्ग-माष-राजमाषादीनि कोषधान्यानि विशेषेण निष्पद्यन्ते। (प्रायश्चित्तस. टी. १३६)।

कुलथी, मूंग, उड़द और बरबटी आदि विदल धान्य जिस क्षेत्र में विशेषरूप से उत्पन्न हों उसे कुल्माषक्षेत्र कहते हैं।

कुव्यापारनिषेधपोषध—कुव्यापारनिषेधपोषधस्तु देशत एकतरस्य कस्यापि कुव्यापारस्याकरणम्, सर्वतस्तु सर्वेषामपि कृषि-सेवा-वाणिज्य-पाशुपाल्य-गृहकर्मादीनामकरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३, ८५, पृ. ५११)।

कुव्यापारनिषेधपोषध वह है जिसमें एक देशरूप में किसी एक ही कुव्यापार—सावद्यव्यापार—को छोड़ा जाता है; तथा सर्वदेशरूप में कृषि, सेवा वाणिज्य, पशुपालन और गृहकार्य आदि सभी व्यापारों भी छोड़ा जाता है।

कुशल—१. कुशलं सुखनिमित्तम्। (आ. मी. वसु. वृ. ८)। २. कुशलं मिलितानां सुख-दुःखतद्वार्ता-प्रश्नः। (प्रश्नव्या. अभय. वृत्ति पृ. १६३)।

१ सुख के कारणभूत पुण्य कर्म को कुशल कहते हैं। २ मिलने वाले लोगों से परस्पर में सुख-दुःखविषयक समाचार के पूछने को कुशल कहते हैं।

कुशलभाव—कुशलो भावो ज्ञानादिरूपः। (व्यव. मलय. वृ. १–३६, पृ. १६)।

जीव का जो प्रतिसेवकपने का परिणाम होता है उसे भावरूप प्रतिसेवना कहते हैं। यह भाव कुशल और अकुशल (अविरति आदिरूप) के भेद से दो प्रकार का है। उनमें समीचीन ज्ञानादिरूप भाव को कुशलभाव कहते हैं।

कुशलमूलनिर्जरा—परिषहजये कृते कुशलमूला या शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। (स. सि. ६–७; त. वा. ६, ७, ७)।

परीषहों को जीतने पर जो कर्मों की निर्जरा होती है उसे कुशलमूला निर्जरा कहते हैं, क्योंकि वह पूर्वकर्मों की निर्जरा के साथ कुशल अर्थात् पुण्यबन्ध की मूल कारण है तथा बन्ध की निरोधक भी है।

कुशील—१. जाति कुले गणे या कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव। सत्तविहं आजीवं उवजीवति जो कुसीलो उ ॥ (व्यव. ३, पृ. ११७)। २. अष्टादशसहस्रभेद

शीलं तदुत्तरगुणभङ्गेन केनचित् कषायोदयेन वा कुत्सितं येषां ते कुशीलाः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–४८)। ३. कुत्सितशीलः कुशीलः। ××× नैवम्, लोकप्रकटकुत्सितशीलः इति विवेकोऽत्र ग्राह्यः। (भ. आ. विजयो. १९५०)। ४. कुशीलः शीलविकलः। (प्रायश्चित्तस वृ. २२९)। ५. क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रत-गुण-शीलैः परिहीणः संघस्यानयकारी कुशीलः। (चा. सा. पृ. १३)। ६. ×××स्यात्कुशीलकः। संघाहितकरस्तीव्रकषायो व्रतवर्जितः॥ (आचा. सा. ६–५०)। ७. कुशीलो जात्या जीवनादिपरो भिन्नाचारः। (व्यव. मलय. वृ. ३–१६५, पृ. ३५)। ८. मूलोत्तरगुणविराधनात् संज्वलनकषायोदयाद्वा कुत्सितं शीलं चारित्रं यस्य स कुशीलः। (प्रव. सारो. वृ. ७२५, पृ. २११)।

१ जो जातिविषयक, कुलविषयक, गणविषयक, कर्मविषयक, शिल्पविषयक, तपविषयक और श्रुतविषयक; इन सात आजीविकाओं का आश्रय लेता है, उसे कुशील कहते हैं। २ जो अठारह हजार भेदभूत शील को उत्तरगुण की विराधना अथवा किसी कषाय के उदय से मलिन किया करते हैं, वे कुशील कहलाते हैं। ६ जो साधु लोक प्रसिद्ध कुत्सित शील से—संघ के लिए अहितकर कषाय से—सहित हो, उसे कुशील कहते हैं।

कुशीलता—कुशीलता दुःस्वभावता उपस्थसंयमाभावो वा। (योगशा. स्वो. विव. २-८४, पृ. ३५३)।

दुष्टस्वभावता या स्पर्शन इन्द्रियविषयक संयम के अभाव को कुशीलता कहते हैं।

कुशूल—प्रमाणांगुलपरिमितयोजनायामविष्कम्भावगाहानि त्रीणि पल्यानि, कुशूल इत्यर्थः। (त. वा. ३, ३८, ८)।

प्रमाणांगुल से निष्पन्न एक योजन प्रमाण लम्बे व चौड़े और उतने अवगाह वाले पल्यों को (गर्तों को) कुशूल कहते हैं।

कुश्रुतज्ञान—मिथ्यादर्शनोदयसहचरितं श्रुतज्ञानमेव कुश्रुतज्ञानम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)।

मिथ्यादर्शन के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान को कुश्रुतज्ञान कहते हैं।

कुहनकुशील—इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशीलः। (भ. आ. विजयो. टी. १९५०)।

इन्द्रजाल आदि के द्वारा मनुष्यों को विस्मित करने वाले साधु को कुहनकुशील कहते हैं।

कूट—१. कूटयते दह्यते अमुना परः परिणामान्तरेणेति कूटम्, सत्त्वग्रहणं व कूटम्, तद्वत् परिणामः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०, पृ. १४३)। २. कागुंदुरादिधरणट्ठमोड्डियं कूडं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४); मेरु-कुलसेल-विंझ-सज्झादिपव्वया कूडाणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४९५)। ३. मत्स्य-कच्छप-मूषकादिग्रहणार्थमवष्टब्धं काष्ठादिमयं कूटम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३०३)।

१ जिस परिणाम के द्वारा दूसरा कूटा या जलाया जाता है—उसे कष्ट में डाला जाता है—उसे कूट कहा जाता है। यह माया कषाय का एक नामान्तर है। २ कौवा और चूहा आदि पकड़ने के लिये जो उपकरणविशेष रखा जाता है, उसका नाम कूट है। मेरु-कुलाचल, सह्य और विन्ध्य आदि पर्वतों के ऊपर अवस्थित शिखरविशेष भी कूट कहलाते हैं।

कूटग्राह—कूटेन जीवान् गृह्णातीति कूटग्राहः। (विपाक. अभय. वृ. २, पृ. २२)।

कूट से—पिंजरा आदि उपकरणविशेष से—जीवों को जो पकड़ा करता है उसे कूटग्राह कहते हैं।

कूटतुला-मान—कूटतुला-कूटमाने—तुला प्रतीता, मानं कुडवादि, कूटत्वं न्यूनाधिकत्वम्—न्यूनया ददाति अधिकया गृह्णाति। (श्रा. प्र. टी. २६८)।

तुला (तराजू या कांटा) और मापने के बांटों को हीन-अधिक रखना—हीन से देना और अधिक से लेना, यह कूटतुला-मान नाम का एक अचौर्याणुव्रत का अतिचार है।

कूटयुद्ध—अन्याभिमुखं प्रमाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूटयुद्धम्। (नीतिवा. ३०–९०)।

किसी अन्य शत्रु की ओर आक्रमण के लिए कूच प्रस्थान करके लौट आना और दूसरे शत्रु का घात करना, इसे कूटयुद्ध कहा जाता है।

कूटलेख—देखो कूटलेखक्रिया। तथा कूटमसद्भूतम्, तस्य लेखो लेखनं कूटलेखः—अन्यस्वरूपाक्षर-मुद्राकरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–९१)।

बनावटी लेख लिखना—दूसरे के हस्ताक्षर बनाना या मुहर आदि का अंकित करना, इसका नाम कूटलेख है।

कूटलेखकरण—कूटलेखकरणमन्यमुद्राक्षर-बिम्बस्वरूपलेखकरणम्। (श्रा. प्र. टी. २६३)।

देखो कूटलेख।

कूटलेखक्रिया—देखो कुटलेखकरण। १. अन्येनानुक्तं यत्किंचित् परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वंचनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया। (स. सि. ७–२६; चा. सा. पृ. ५; रत्नक. टी. ३–१०; सा. ध. स्वो. टी. ४–४५)। २. परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया। अन्येनानुक्तं किंचित् परप्रयोगवशात् एवं तेनोक्तं अनुष्ठितमिति वंचनानिमित्तलेखनं कूटलेखक्रिया। (त. वा. ७, २६, ३)। ३. कूटम् असद्भूतम्, लिख्यत इति लेखः, तस्य करणं क्रिया, कूटलेखक्रिया—कूटलेखकरणम्, अन्यमुद्राक्षरबिम्बस्वरूपलेखकरणमित्यर्थः। (श्राव. नि. हरि. वृ. ३, पृ. ८२१)। ४. कूटलेखक्रियान्येन त्वनुक्तस्य स्वलेखनम्। (ह. पु. ५८–१६७)। ५. परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया, एवं तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वंचनाभिप्रायलेखनवत्। (त. श्लो. ७–२६)।। ६. कूटलेखस्य असद्भूतार्थसूचकाक्षरलेखनस्य करणं कूटलेखक्रिया। (ध. बि. मु. वृ. ३, २४)। ७. कूटलेखक्रिया××× अन्यसरूपाक्षरमुद्राकरणमित्यन्ये। (सा. ध. स्वो. टी. ४–४५)। ८. केनचित् पुंसा अकथितम् अश्रुतं किंचित्कार्यं द्वेषवशात्परपीडार्थम् एवमनेनोक्तमेवमनेन कृतम्, इति परवंचनार्थं यत् लिख्यते राजादौ दर्श्यते सा कूटलेखक्रिया, पैशुन्यमित्यर्थः। (कार्तिके. टी. ३३३ व ३३४)। ९. कूटलेखक्रिया सा स्यात् वञ्चनार्थं लिपिर्मृषा। (लाटीसं. ६–२०)।

१ दूसरे के द्वारा जो नहीं कहा गया है उसे किसी दूसरे की प्रेरणा से कहना कि उसने ऐसा कहा है या किया है, इसे कूटलेखक्रिया कहते हैं। यह एक सत्याणुव्रत का अतिचार है।

कूटसाक्षिक—कूटसाक्षिकं उत्कोच-मत्सराभिभूतः प्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्तीति। (श्रा. प्र. टी. २६०)।

लांच या मात्सर्यभाव आदि के वश होकर असत्य भाषण करना—जैसे मैं इस विषय में साक्षी हूं, यह कूटसाक्षिक नामक सत्याणुव्रत का अतिचार है।

कूटसाक्ष्य—देखो कूटसाक्षिक। कूटसाक्ष्यं प्रमाणीकृतस्य लञ्चा-मत्सरादिना कूटं वदतः, यथाहमत्र साक्षी। अस्य च परकीयपापसमर्थकत्वलक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वेभ्यो भेदेनोपन्यासः। (योगशा. स्वो. विव. २–५४; सा. ध. स्वो. टी. ४–३९)।

ईर्ष्याभाव से अथवा लांच (रिश्वत) लेकर प्रमाणीकृत व्यक्ति के द्वारा झूठी गवाही देने को कूटसाक्ष्य कहते हैं।

कूर्मोन्नत योनि—१. कुम्मुण्णयजोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य। रामा वि य जायंते×××॥ (मूला. १२–६२; गो. जी. ८२)। २. कुम्मुण्णदजोणीए तित्थयरा चक्कवट्टिणो दुविहा। बलदेवा जायंते×××॥ (ति. प. ४–२९५२)। ३. कूर्मोन्नतयोनौ विशिष्टसर्वशुचिप्रदेशे शुद्धपुद्गलप्रचये वा×××। (मूला. वृ. १२–६२)। ४. कूर्मपृष्ठमिवोन्नता कूर्मोन्नता। (संग्रहणी. दे. वृ. २५५, पृ. ११५)। ५. कूर्मपृष्ठवदुन्नता योनिः कूर्मोन्नतयोनिः। (गो. जी. म. प्र. टी. ८२)।

१ जिस योनि से तीर्थंकर, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती और बलदेव उत्पन्न होते हैं वह कूर्मोन्नत योनि कही जाती है। ४ जो योनि कछुए की पीठ के समान उन्नत होती है, उसे कूर्मोन्नता योनि कहते हैं।

कृत—१. जं किंचि तिसु वि कालेसु अण्णत्तो णिप्पण्णं तं कदं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५०)। २. स्वातंत्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते प्रक्रियते तत् कृतम्। (भ. श्रा. विजयो. टी. ८११)। ३. स्वातंत्र्यविशिष्टेनात्मना यः [यत्] प्रादुर्भावितं तत्कृतम्। (चा. सा. पृ. ३९)। ४. ×××स्वेन कृतं कृतम्। (आचा. सा. ५–१४)।

१ तीनों कालों में जो कुछ अन्य से उत्पन्न हुआ है उसका नाम कृत है। २ जो स्वतंत्रता से अपने द्वारा कार्य किया जाता है उसे कृत कहते हैं।

कृतक—देखो कृतकत्व। स्वोत्पत्तौ अपेक्षितव्यापारो हि भावः कृतक उच्यते। (प्रमेयर. ३–३५)।

कृतज्ञ—कृतं परोपकृतं जानाति, न निह्नुते कृतज्ञः। (योगशा. स्वो. विव. १–५५; सा. ध. १–११)।

जो दूसरेके द्वारा किये गये उपकार का स्मरण रखता है—उसे भूलता नहीं है—उसे कृतज्ञ कहा जाता है।

कृतप्रतिकृतिका—१. कयपडिकइया णाम जइवि निज्जरत्थं करेइ ततोऽवि मम एस कारेहिति त्ति

काउं विणयं करेइ। (व्यवा. भा. १, पृ. २८)। २. कृतप्रतिकृतिर्नाम—प्रसन्ना आचार्याः सूत्रादि दास्यन्ति, न नाम निर्जरेति मन्यमानस्याहारादिदानम्। (समवा. अभय. वृ. ९१)।

२ आचार्य प्रसन्न होकर सूत्र आदि (अर्थ व उभय) देंगे, उससे कुछ निर्जरा होने वाली नहीं है। इस प्रकार मानने वाले का जो आहारादि दान है उसे कृतप्रतिकृति नामक औपचारिकविनय जानना चाहिए।

कृतयुग—जेण य जुगं निविट्ठं पुहईए सयलसत्तसुहजणणं। तेण उ जगम्मि घुट्ठं तं कालं कयजुगं णाम॥ (पउमच. ३-११८)।

ऋषभ जिनेन्द्र के समय में चूंकि समस्त प्राणियों को सुखोत्पादक युग प्रविष्ट हुआ, अतः उस काल को 'कृतयुग' के नाम से घोषित किया गया।

कृतयुग्म—१. चदुहि अवहिरिज्जमाणे जम्हि रासिम्हि चत्तारि ट्ठांति तं कदजुम्मं। (धव. पु. ३, पृ. २४९); जो रासी चदुहि अविहिरिज्जदि सो कदजुम्मो। (धव. पु. १०, पृ. २२); चदुहि अवरिज्जमाणे × × × जत्थ चत्तारि एंति तं कदजुम्मं। (धव. पु. १४, पृ. १४७)।

चार का भाग देने पर जिस संख्या में चार अवस्थित रहें, अर्थात् चार से जो अपहृत हो जाती है व शेष कुछ नहीं रहता, उसे कृतयुग्म राशि कहते हैं।

कृतयुग्मकल्योज—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए जे णं तस्स रसिस्स अवहारसमया कडजुम्मा, से तं कडजुम्मकलिओगे। (भगवती. ४, ३५, १, २)।

जिस राशि को चार से भाजित करने पर एक शेष रहे और अपहार के समय कृतयुग्म हों, वह कृतयुग्मकल्योजराशि कहलाती है। जैसे—१७÷४=४, शेष १)।

कृतयुग्मकृतयुग्म राशि—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया ते वि कडजुम्मा, से तं कडजुम्मकडजुम्मे। (भगवती ४, ३५,१,२, पृ.३३८।

जिस राशि को चार भागहार से भाजित करने पर चार शेष रहें और जिसके अपहारसमय कृतयुग्म हों, वह कृतयुग्मकृतयुग्म राशि कहलाती है। जैसे—१६÷४=४.

कृतयुग्मत्र्योज—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा, से तं कडजुम्मतेयोए। (भगवती. ४, ३५, १, २, पृ. ३३८)।

जिस राशि को चार भागहार से भाजित करने पर तीन शेष रहें और अपहारसमय कृतयुग्म हों, वह कृतयुग्मत्र्योज राशि कहलाती है। जैसे—१९÷४=४, शेष ३.

कृतयुग्मद्वापरयुग्म—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा, से तं कडजुम्मदावरजुम्मे। (भगवती ३५, १, १, पृ. ३३९)।

जिस राशि को चार भागहार से भाजित करने पर दो शेष रहें, और अपहारसमय कृतयुग्म हों, वह कृतयुग्मद्वापरयुग्म राशि कही जाती है। जैसे—१८÷४=४, शेष २।

कृति—१. एष कृतिशब्दः कर्तृवर्जितेषु त्रिकालगोचराशेषकारकेषु वर्तते × × ×। (ध. पु. ९, पृ. २३८); जो रासी वग्गिदो संतो वड्ढदि, सगवग्गादो सगवग्गमूलमवणिय वग्गिज्जमाणो वुड्ढिमल्लियइ, सो कदी णाम। (धव. पु. ९, पृ. २७४); तिण्णि आदि कादूण जा उक्कस्साणंते त्ति गणणा कदि त्ति भण्णदे। वुत्तं च—एयादीया गणणा दोआदीया विजाण संखेत्ति। तीयादीणं णियमा कदि त्ति सण्णा दु बोद्धव्वा॥ (धव. पु. ९, पृ. २७६)। २. तीयादीणं णियमा कदि त्ति सण्णा मुणेदव्वा। (त्रि. सा. १६)।

कर्ता को छोड़कर शेष सभी कारकों को कृति कहा जाता है। जो राशि वर्गित होकर वृद्धिगत होती है और अपने वर्ग में से वर्गमूल को कम करके वर्गित करने पर वृद्धि को प्राप्त होती है वह कृति कहलाती है। इस लक्षण के अनुसार ३ को आदि लेकर आगे की सभी संख्याओं को कृति के अन्तर्गत समझना चाहिए। १ का वर्ग करने पर चूंकि वृद्धि नहीं होती है तथा २ का वर्ग करके व उसमें से वर्गमूल को कम करके पुनः वर्ग करने पर वृद्धि नहीं होती है (२×२=४; ४−२=२)। अतः १ व २ संख्या को कृति नहीं कहा जा सकता है।

कृतिकर्म—१. किदियम्मं अरहंत-सिद्ध-आइरियबहुसुदसाहूणं पूजाविहाणं वण्णेइ। (धव. पु. १,

पृ. १७); किदियम्मं अरहंत-सिद्धाइरिय-उवज्झाय-गणचिंतय-गणवसहाईणं कीरणमाणपूजाविहाणं वण्णेदि। (धव. पु. ६, पृ. १८६)। २. जिणसिद्धायरिय-बहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदियम्मं णाम। तस्स आदाहीण-तिक्खुत्त-पदाहिण-तिओणद-चदुसिर-वारसावत्तादिलक्खणं विहाणं फलं च किदियम्मं वण्णेदि। (जयध. १, पृ. ११८)। ३. किदिकम्मं—क्रियाकर्म श्रुतभक्त्यादिपूर्वककायोत्सर्गः। (मूला वृ. ५–१८५)। ४. कृतिकर्म साधुविश्रामणारूपं बहुफलं बाहुबलमकार्षीत्। (आव. नि. मलय. वृ. १७४, पृ. १६०)। ५. दीक्षाग्रहणादेः प्रतिपादकं कृतिकर्म। (श्रुतभक्ति टी. २४)। ६. कृतेः क्रियायाः कर्म विधानं अस्मिन् वर्ण्यते इति कृतिकर्म। तत् अर्हत्सिद्धाचार्य-बहुश्रुत-साध्वादीनां नवदेवतानां वन्दनानिमित्तं आत्माधीनता-प्रादक्षिण्य-त्रिवार-त्र्यवनति-चतुःशिरोद्वादशावर्तादिलक्षणनित्य-नैमित्तिकक्रियाविधानं वर्णयति। (गो. जी. जी. प्र. टी.३६७)। ७. दीक्षा-शिक्षादिसत्कर्मप्रकाशकं कृतिकर्म। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)।

२ जिन, सिद्ध, आचार्य और बहुश्रुत (उपाध्याय) की वन्दना करते हुए जो क्रिया की जाती है उसका नाम कृतिकर्म है। इस कृतिकर्म में जो स्वाधीन होकर तीन प्रदक्षिणा, तीन अवनति, चार शिरोनति और बारह आवर्त स्वरूप अनुष्ठान किया जाता है उसके प्ररूपक शास्त्र को भी कृतिकर्म कहा जाता है। ४ साधुजन की विश्रामणा—पादमर्दनादिरूप वैयावृत्य—को कृतिकर्म कहा जाता है।

कृतिकर्म (स्थितिकल्प) — १. चरणस्थेनापि विनयो गुरूणां महत्तरणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पंचमः कृतिकर्मसंज्ञितः स्थितिकल्पः। (भ. आ. विजयो. ४२१)। २. कृतिकर्म पंचनमस्काराः षडावश्यकानि निषेधिका चेति त्रयोदशक्रियाः। गुरुविनय-महत्तरशुश्रूषाकरणं वा। (भ. आ. मूला. टी. ४२१)।

१ स्वयं चारित्र का धारक हो करके भी गुरु जनों की विनय और महापुरुषों की शुश्रूषा करना, यह कृतिकर्म नाम का पांचवां स्थितिकल्प है।

कृती—१. ज्ञानविवेकतो विमलीकृतहृदयाः कृतिनः। (गद्यचि. पृ. २४०)। २. कृती निःशेषहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः। (रत्नक. टी. ७)।

२ समस्त हेय और उपादेय तत्त्व के विषय में जो विवेक रखता है वह कृती कहलाता है।

कृतुपद—१. कृतोद्वाहः कृ(ऋ)तुप्रदाता कृतुपदः। (नीतिवा. ५–१२)। २. यो ब्रह्मचारी कृतोद्वाहः सन् ऋतुकालाभिगामी केवलं सन्तानाय भवति स कृत[ु]पदसंज्ञो भवति। तथा च वर्गः—सन्तानाय न कामाय यः स्त्रियं कामयेदृतौ। कृतुपदः स सर्वेषामुत्तमोत्तमसर्ववित्॥ (नीतिवा. टी. ५–१२)। जो ब्रह्मचारी विवाह करके भी केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्री का सेवन करता है उसे कृतुपद ब्रह्मचारी कहते हैं।

कृत्रिम मित्र— यद्वृत्तिजीवितहेतोराश्रितं तत्कृत्रिमं मित्रम्। (नीतिवा. २३–४, पृ. २१७)। जिसकी प्रवृत्ति (व्यवहार) आजीविका के आश्रित हो वह कृत्रिम मित्र कहलाता है।

कृत्रिम शत्रु—१. विराधो विराधयिता वा कृत्रिमः शत्रुः। (नीतिवा. २६–३४)। २ कारणेन निर्वृत्तः कृत्रिमः। यः शत्रुर्विराधो भवति यस्य विरोधो क्रियते स विराध उच्यते, शत्रुर्यः पुनर्विजिगीषोरुपेत्य विरोधं करोति सोऽप्यकृत्रिमः शत्रुः। (नीतिवा. टी. २६–३४, पृ. ३२१)।

विराध (जिसका विरोध किया जाय) अथवा विराधयिता (विरोध करने वाले) व्यक्ति को कृत्रिम शत्रु कहते हैं।

कृपा— × × × सा तु जीवानुकम्पनम्। (क्षत्रचू. ५–३५)।

जीवों के ऊपर दयाभाव रखने—उनकी पीड़ा के दूर करने—को कृपा कहते हैं।

कृमिराग—१. एवं मणुयादिरुहिरं घेत्तुं किणावि जोगेण जुत्तं भायणसंपुडंमि तविज्जति, तत्थ किमी उप्पज्जति, ते वाताभिलासिणो छिद्दनिग्गता इती ततो य आसण्णं भमंति, तेसि णीहारलाला किमिरागपट्टो भण्णति, सो सपरिणामं रंगरंगितो चेव भवति। अण्णे भणंति—जहा रुहिरे उप्पन्ना किमितो तत्थेव मलेत्ता कोसट्ठं उत्तारेत्ता तत्थ रसे किंपि जोगं पक्खिवित्ता वत्थं रयंति सो किमिरागो भण्णति। (अनुयो. चू. पृ. १५)। २ कृमिरागो वृद्धसम्प्रदायोऽयम्—मनुष्यादीनां रुधिरं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजने स्थाप्यते, ततस्तत्र कृमय उत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणः छिद्रनिर्गता आसन्ना

प्रमत्तो निर्हारलाला मुञ्चन्ति ताः कृमिसूत्रं भण्यते। तच्च स्वपरिणामरागरञ्जितमेव भवति । अन्ये भणन्ति—ये रुधिरे कृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्तार्य तद्रसे कश्चिद् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति । स च रसः कृमिरागो भण्यते अनुत्तारीति, तत्र कृमीणां रागो रञ्जकरसः कृमिरागः। (स्थानां. अभय. वृ. ४, २, २९३,)।

१ मनुष्य आदि के रुधिर को लेकर और उसे किसी योग से युक्त करके पात्र में तपाया जाता है। तब उसमें कृमि (विशेष जाति के कीड़े) उत्पन्न होते हैं। वे वायु की अभिलाषा से छिद्रों द्वारा निकलकर इधर उधर पास में घूमते हैं। उनके मल और लार को कृमि-रागपट्ट कहा जाता है। वह अपने परिणाम के अनुसार रंग में रंगा हुआ ही होता है। दूसरे कुछ आचार्य इस प्रकार कहते हैं—उक्त रुधिर में जो कीड़े उत्पन्न होते हैं, उन्हें वहीं मल कर व कोसट्ट उतार कर—कचूमर निकाल कर—उस रस में कुछ योग को मिलाते हुए जो वस्त्र को रंगा जाता है, उसे कृमिराग कहते हैं।

कृमिरागकम्बल—१. कृमिभुक्ताहारवर्णतन्तुभिरुतः कम्बलः कृमिरागकम्बलः। (भ. आ. विजयो. टी. ५६७) । २. कृमिभुक्ताहारवर्णतन्तुभिरुतः कम्बलः कृमिरागकम्बलस्तस्येति संस्कृतटीकायां व्याख्यानम् । टिप्पणके तु कृमि[कृमिभि]रात्यक्तरक्ताहाररंजिततन्तुनिष्पादितकम्बलस्येति । प्राकृतटीकायां पुनरिदमुक्तम्—उत्तरापथे चर्मरंगम्लेच्छविषये म्लेच्छा जलौकाभिर्मानुषरुधिरं गृहीत्वा भंडकेषु स्थापयन्ति ततस्तेन रुधिरेण कतिपयदिवसोत्पन्नविपन्नकृमिकेणोर्णासूत्रं(?)रंजयित्वा कम्बलं वयन्ति, सोऽयं कृमिरागकम्बल इत्युच्यते। (भ. आ. मूला. टी. ५६७)।

२ कीड़ों के द्वारा खाये गये भोजन के वर्ण वाले तन्तुओं से जो कम्बल बनाया जाता है. उसे कृमिरागकम्बल कहते हैं। ××× प्राकृत टीका में कहा गया है कि उत्तरापथ में चर्मरंग म्लेच्छदेश में म्लेच्छ लोकों के द्वारा मनुष्यों का रक्त निकाल कर उसे बर्तन में कुछ दिनों तक रखते हैं। तब उसमें रक्त वर्ण के कीड़े पड़ जाते हैं, तब उसके द्वारा सूत को रंग कर जो कम्बल बुना जाता है उसे कृमिरागकम्बल कहते हैं।

कृषिकर्म—कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्त×××। (म. पु. १६-१८१)।

भूमि को जोतकर खेती करने को कृषिकर्म कहते हैं।

कृषिकर्मार्य— १. हल-कुलिदन्तालकादिकृष्युपकरणविधानविदः कृषीवलाः कृषिकर्मार्याः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. हलेन भूमिकर्षणनिपुणः कृषिकर्मार्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

जो हल, कुलिक (एक विशेष जाति का हल—बखर) और हंसिया आदि खेती के उपकरणों के विधान को जानते हैं वे कृषिकर्मार्य कहलाते हैं।

कृष्टि (किट्टी)—१. गुणसेढि अणंतगुणा लोभादी कोधपच्छिमपदादो। कम्मस्स य अणुभागे किट्टीए लक्खणं एदं ॥ (कसायपा. सु. १६५, पृ. ८०७)। २. किसं कम्मं कदं जम्हा तम्हा किट्टी। एदं लक्खणं। (कसायपा. चूणि पृ. ८०८)। ३. पूर्वापूर्वस्पर्धकस्वरूपेणेष्टकापंक्तिसंस्थानसंस्थितं योगमुपसंहृत्य सूक्ष्म-सूक्ष्माणि खण्डानि निवर्तयति, ताओ किट्टीओ णाम वुच्चंति। (जयध. अ. प. १२४१)। ४. कर्शनं कृष्टिः, कर्मपरमाणुशक्तेस्तनूकरणमित्यर्थः। अथवा कृष्यते तनूक्रियते इति कृष्टिः प्रतिसमयं पूर्वस्पर्द्धकजघन्यवर्गणाशक्तेरनन्तगुणहीनशक्तिवर्गणा कृष्टिरिति। (ल. सा. टी. २८४)।

३ पूर्व पूर्व स्पर्द्धक स्वरूप से ईंटों की पंक्ति के आकार में स्थित योग का उपसंहार करके जो सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड किये जाते हैं उन्हें कृष्टि कहते हैं।

कृष्टिकरणाद्धा— तिस्से कोधवेदगद्धाए तिण्णि भागा—जो तत्थ पढमतिभागो अस्सकरणकरणद्धा, विदियतिभागो किट्टीकरणद्धा। (धव. पु. ६, पृ. ३७४; लब्धि. ४९)।

कोधवेदककाल का द्वितीय त्रिभाग कृष्टिकरणाद्धा कहलाता है।

कृष्टिवेदगद्धा—कोधवेदगद्धाए तदियतिभागो किट्टिवेदगद्धा। (धव. पु. ६, पृ. ३७४)।

कोधवेदन का जितना काल है उसका तृतीय त्रिभाग—तीन भागों में से अन्तिम भाग—कृष्टिवेदन का काल है।

कृष्णपक्ष—कृष्णपक्षो यत्र ध्रुवराहुः स्वविमानेन चन्द्रविमानमावृणोति, तेन योऽन्धकारबहुलः पक्षः स बहुलपक्षः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. १५२)।

जिस पखवाड़े में ध्रुवराहु अपने विमान से चन्द्र के विमान को आवृत करता है, उस अन्धकारवाले

पखवाड़े को कृष्ण पक्ष कहते हैं। उसे यहां बहुल पक्ष के नाम से कहा गया है।

कृष्णपाक्षिक—१. जेसिमवड्ढो पुग्गलपरियट्टो सेसओ उ संसारो। ते सुक्कपक्खिआ खलु अहिए पुण किन्हपक्खीया ॥ (श्रा. प्र. ७२)। २. इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः। (जीवाजी. मलय. वृ. ५६, पृ. ७२)। ३. अधिकतरसंसारभाजिनस्तु कृष्णपाक्षिकाः। उक्तं च—अहिए पुण कण्हपक्खी उ। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३–५६, पृ. ११७)।

२ दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों को कृष्णपाक्षिक कहते हैं।

कृष्णलेश्या (द्रव्य)—जीमूयनिद्धसंकासा गवलरिट्ठगसन्निभा। खंजंजणनयणनिभा किण्हलेस्सा उ वण्णओ ॥ (उत्तरा. ३४–४)।

कृष्ण मेघ, भैंस का सींग, कौवा अथवा रीठा (फलविशेष), खंजन पक्षी और (आंख के अंजन) के समान कृष्णलेश्या का वर्ण होता है।

कृष्णलेश्या (भाव)—१. चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ। दुट्ठो ण य एइ वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स। (पंचसं. १–१४४; धव. पु. १, पृ. १८८ उद्.; धव. पु. १६, पृ. ४९० उद्.; गो. जी. ५०९)। २. अनुनयानभ्युपगमोपदेशाग्रहण-वैरामोचनातिचण्डत्व-दुर्मुखत्व-निरनुकम्पता-क्लेशन-मारणापरितोषणादि कृष्णलेश्यालक्षणम्। (त. वा. ४, २२, १०, पृ. २३९)। ३. तत्राविशुद्धोत्पन्नमेव कृष्णवर्णस्तत्सम्बद्धद्रव्यावष्टम्भादविशुद्धपरिणाम उपजायमानः कृष्णलेश्येति व्यपदिश्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–६)। ४. कसायाणुभागफद्दयाणमुदयमागदाणं जहण्णफद्दयप्पहुडि जाव उक्कस्सफद्दया त्ति ठइदाणं छब्भागविहत्ताणं छट्ठो तिव्वतमो भागो, तस्सुदएण जादकसाओ किण्णलेस्सा णाम। (धव. पु. ७, पृ. १०४); मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगजणिदो तिव्वतमो जीवसंसकारो भावलेस्सा णाम। तत्थ × × × जो तिव्वतमो सा किण्णलेस्सा। (धव. पु. १६, पृ. ४८८); किण्णलेस्साए परिणदजीवो णिद्दयो कलहसीलो रउद्दो अणुवद्धवेरो चोरो चप्पलओ परदारियो महु-मंस-सुरापसत्तो जिणसासणे अदिण्णकण्णो असंजमे मेरु व्व अविचलियसरूवो होदि। (धव. पु. १६, पृ. ४९०)। ५. निर्दयो निरनुक्रोशो मद्य-मांसादिलम्पटः। सर्वदा कदनासक्तः कृष्णलेश्यो मतो जनः ॥ (पंचसं. अमित. १–२७३)।

५ निर्दयी, क्रूरस्वभावी, मद्य-मांसादि का लम्पटी और युद्ध में आसक्त रहना; ये सब कृष्णलेश्या के लक्षण हैं।

कृष्णलेश्यारस—जह कडुयतुंबगरसो निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा। इत्तो वि अणंतगुणो रसो उ कण्हाइ नायव्वो ॥ (उत्तरा. ३४–१०)।

कड़ुवी तुम्बी, नीम और रोहिणी (औषधिविशेष) के रस से भी अनन्तगुणा रस कृष्णलेश्या का होता है।

कृष्णवर्णनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं किण्णवण्णो उप्पज्जदि तं किण्णवण्णं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७४)। २. यस्य कर्मण उदयेन शरीरपुद्गलानां कृष्णवर्णता भवति तत्कृष्णवर्णनाम। (मूला. वृ. १२–१९४)।

१ जिस नामकर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलपरमाणुओं का वर्ण काला हो, उसे कृष्णवर्ण नामकर्म कहते हैं।

केतुक्षेत्र—केतुक्षेत्रमाकाशोदकपातनिष्पाद्यसस्यम्। (योगशा. स्वो. वृ. ३–९५; सा. ध. स्वो. टी. ४, ६४)।

जिन खेतों में केवल वर्षा के जल से ही अन्न उत्पन्न होता है उन खेतों को केतुक्षेत्र कहते हैं।

केवलज्ञान—१. तं च केवलणाणं सगलं संपुण्णं असवत्तं। (ष. खं. ५, ५, ८१—पु. १३, पृ. ३४५); सइं भयवं उप्पण्णणाण-दरसी सदेवासुर-माणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढि ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति। (ष. खं. ५,५, ८२—पु. १३, पृ. ३४६)। २. असहायसयलभावं लोयालोएसु तिमिरपरिचत्तं। केवलमखंडमेदं केवलणाणं भणंति जिणा। (ति. प. ४–९७४)। बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनः मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्, असहायमिति वा। (स. सि. १–९)। ४. क्षायिकमनन्तमेकं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम्। सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम् ॥ (श्रुतभक्ति २९, पृ. १८१)। ५.

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने । (आ. मी. १०५) । ६. सपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्व-भावगयं । लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ॥ (प्रा. पंचसं. १–१२६; धव. पु. १, पृ. ३६० उद्; गो. जी. ४६०) । ७. तद्धि सर्वभावग्राहकं संभिन्न-लोकालोकविषयम्, नातः परं ज्ञानमस्ति । न च केवलज्ञानविषयात् परं किञ्चिदन्यज्ज्ञेयमस्ति । ×× × केवलं परिपूर्णं समग्रमसाधारणं निरपेक्षं विशुद्धं सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्याय-मित्यर्थः । (त. भा. १-३०) । ८. केवलणाणावरण-क्खयजायं केवलं × × × । (सन्मति. २-५, पृ. ६०६); सयलमणावरणमणंतमक्खयं केवलं जम्हा । (सन्मति. २–१७) । ९. सव्वदव्वाण पओगवीससामीससा अहाजोग्गं । परिणामा पज्जाया जम्मविणासादओ सव्वे ॥ तेसिं भावो सत्ता सलक्खणं व विसेसओ तस्स । नाणं विण्णत्तीए कारणं केवलण्णाणं ॥ किं बहुणा सव्वं सव्वओ सया सव्वभावओ नेयं । सव्वा-वरणाईयं केवलमेगं पयासेइ ॥ पज्जायओ अणंतं सानयमिदं च सदोवओगाओ । अव्वयओऽपडिवाई एगविहं सव्वसुद्धीए ॥ (विशेषा. ८२८–३१) । १०. बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषान् यदर्थं केवन्ते तत्केवलम् । तपःक्रियाविशेषान् वाङ्मानस-कायाश्रयान् बाह्यानाभ्यन्तरांश्च यदर्थमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम् । (त. वा. १, ९, ६) । सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युग-पत्सर्वार्थविषयम् । (अष्टश. १०१) । ११. पंक-सलिले पसाओ, जह होइ कमेण तह इमो जीवो । आवरणे झिज्जंते, विसुज्झए केवलं जाव ॥ दव्वा-दिकसिणविसयं केवलमेगं तु केवलन्नाणं । अणि-वारियवावारं अणंतभविकप्पियं नियतं ॥ (बृहत्क. ३७–३८) । १२. अह सव्वदव्वपरिणामभावविन्न-तिकारणमणंतं । सासयमप्पडिवाइ एगविहं केवलण्णाणं ॥ (आव. नि. ७७; धर्मसं. ८२७) । १३. केवलमित्येकं स्वभेदरहितं, शुद्धं वा सकलावरण-शून्यम्, सकलं वा आदित एव सम्पूर्णम्, असाधारणं वा मत्यादिविकलम्, अनन्तं वा सर्वद्रव्यभावपरिच्छेदि ज्ञानं केवलज्ञानम् । (त. भा. हरि. वृ. १–९) । १४. केवलमसहायं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षम्, शुद्धं वा केवलं तदावरणकर्ममलकलङ्काङ्करहितम्, सकलं वा केवलं तत्प्रथमतयैव अशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णो-त्पत्तेः, असाधारणं वा केवलं, यथावस्थिताशेषभूत-भवद्-भाविभावस्वभावभासीति भावना, केवलं च तज्ज्ञानं चेति समासः । (आव. नि. हरि. वृ. १, पृ. ८; नन्दी. हरि. वृ. १–६५) । १५. केवलणाणं णाम सव्वदव्वाणि अदीदाणागद-वट्टमाणाणि सप-ज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि । (धव. पु. १, पृ. ९५); केवलं केवलज्ञानम् । × × × केवलमसहायमि-न्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम् । (धव. पु. १, पृ. १९१); साक्षात् त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. ३५८); अनन्त-त्रिकालगोचरबाह्येऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. ३८५); केवलमसहायमिंदियालोयणिरवे-क्खं तिकालगोयराणंतपज्जायसमवेदाणंतवत्थुपरि-च्छेदयमसंकुडियमसवत्तं केवलणाणं । (धव. पु. ६, पृ. २९); परावभासः केवलज्ञानम् । (धव. पु. ६, पृ. ३४); वज्झत्थअसेसत्थागमो केवलणाणं । (धव. पु. १०, पृ. ३१९); अप्पट्ठसण्णिहाणमेत्ते-णुप्पज्जमाणं तिकालगोयरासेसदव्व-पज्जयविसयं करणक्कमववहाणादीदं सयलपमेएण अलद्धत्थाहं पच्चक्खं विणासविवज्जियं केवलणाणं । (धव. पु. १३, पृ. २१३); केवलणाणावरणक्खएण समुप्पण्णं णाणं केवलणाणं । (धव. पु. १४, पृ. १७) । १६. केवलमसहायं इन्द्रियालोक-मनस्कार-निरपेक्षत्वात् । (जयधव. १, पृ. २१); आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहा-यम्, केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम् । (जयध. १, पृ. २३); चाइचउक्कक्खएण लद्धप्पसरूव-विसईकयतिकालगोयरासेसदव्वपज्जय-करणक्कम (-ण क्कम) ववहाणाईयं खइयसम्मत्ताणंतसुह-विरिय-विरइ-केवलदंसणाविणाभावि केवलणाणं णाम । (जयध. १, पृ. ४३) । १७. क्षायोपशमिकज्ञाना-सहायं केवलं मतम् । यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते वा तदिष्यते ॥ (त. श्लो. १, ९, ८); केवलं सकल-ज्ञेयव्यापि स्पष्टं प्रसाधितम् । प्रत्यक्षमक्रमं तस्य निबन्धो विषयेष्विह ॥ बोध्यो द्रव्येषु सर्वेषु पर्यये-षु च तत्त्वतः । प्रक्षीणावरणस्यैव तदाविर्भावनिश्च-यात् ॥ (त. श्लो. १, २९, १–२) । १८. सकल-मतीन्द्रियप्रत्यक्षं केवलज्ञानम्, सकलमोहक्षयात् सकल-

ज्ञान-दर्शनावरण-वीर्यान्तरायक्षयाच्च समुद्भूतत्वात् सकलवैशद्यसद्भावात् सकलविषयत्वाच्च। (प्रमाण-प. पृ. ६९)। १९. सर्वप्रत्यक्षमन्त्यं स्यात् केवलावरणक्षयात्। अक्षयं केवलज्ञानं केवलं विश्वगोचरम्॥ (हि. पु. १०–१५४)। २०. केवलं सकलज्ञेयग्राहि समस्तज्ञानावरणक्षयप्रभवम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–४)। २१. असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्॥ घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्। (त. सा. १, ३०–३१)। २२. केवलज्ञान-दर्शनावरणकर्मक्षयाविर्भूतं करणक्रमव्यवधानातिवर्तिसकललोकालोकविषयत्रिकालस्वभावपरिणामभेदानन्तपदार्थयुगपत्सामान्य-विशेषसाक्षात्करणप्रवृत्तं केवलज्ञानं केवलदर्शनमिति च व्यपदिश्यते। (सन्मति. अभय. वृ. ३०, पृ. ६२१)। २३. यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं विशेषेणावबुध्यते तत्स्वाभाविकं केवलज्ञानम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)। २४. तत्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-करणक्रमव्यवधानाभावे युगपदेकस्मिन्नेव समये त्रिकालवर्तिसर्वद्रव्य-गुण-पर्यायावभासकं केवलज्ञानम्। (चा. सा., पृ. ९५)। २५. साक्षात्कृताखिलद्रव्य-पर्यायमविपर्ययम्। अनन्तं केवलज्ञानं कल्मषक्षयसम्भवम्॥ (पंचसं. अमित. १–२२९)। २६. तथैव निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुचरणलक्षणैकाग्रध्यानेन केवलज्ञानावरणादिघातिचतुष्टयक्षये सति यत्समुत्पद्यते तदेव समस्तद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावग्राहकं सर्वप्रकारोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति। (बृ. द्रव्यसं. ५); पूर्वं छद्मस्थावस्थायां भावितस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतविशेषपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्। (बृ. द्रव्यसं. १४)। २७. सकलं तु तत्प्रत्यक्षं प्रक्षीणाशेषघातिमलसमुन्मीलितं सकलवस्तुयाथात्म्यवेदि निरतिशयवैशद्यालङ्कृतं केवलज्ञानम्। (प्रमाणनि. पृ. २९)। २८. जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थमविनश्वरमखण्डैकभासमयं केवलज्ञानम्। (प्रव. सा. जय. वृ. १–२३)। २९. अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम्। अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं बुधैः॥ कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपरार्थावभासकम्। जगज्ज्योतिरसंदिग्धमनन्तं सर्वदोदितम्॥ अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः। अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम्॥ (ज्ञानार्णव ८–१०, पृ. १०५)। ३०. त्रिकालानन्तधर्मात्मानन्तवस्तुप्रकाशकम्। युगपत्केवलं ज्योतिः करणावरणातिगम्॥ क्षणं प्रत्यक्षरं ज्ञेयैः समं विपरिवर्तते। तदेकमुपमातीतं परमानन्दमन्दिरम्॥ (आचा. सा. ४, ५६-५७)। ३१. जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थयुगपद्विशेषपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते। (परमात्मप्र. टी. ६१)। ३२. त्रिकालगतानन्तपर्यायपरिणतजीवाजीवद्रव्याणां युगपत् साक्षात्करणं केवलज्ञानं अखिलावरण-वीर्यान्तरायनिरवशेषविश्लेषविजृम्भितम्। (लघी. अभय. वृ. ६–११)। ३३. अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम्। अनन्तमेकमत्यक्षं केवलज्ञानमुच्यते॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११६ उद्.; त्रि. श. पु. च. १, ३, ५८४); घातिक्षये चानन्तमनन्तविषयं निःशेषभावाभावस्वभावावभासकं केवलज्ञानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)। ३४. तथा केवलमेकं मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात्। शुद्धं वा केवलम्, तदावरणमलकलंकविगमात्। सकलं वा केवलम्, प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः संपूर्णोत्पत्तेः। असाधारणं वा केवलमनन्यसदृशत्वात्। अनन्तं वा केवलम् ज्ञेयानन्तत्वात्। केवलं च तत् ज्ञानम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९-३१२, पृ. ५२७)। ३५.× × × मत्यादिनिरपेक्षं केवलज्ञानं, अथवा शुद्धं केवलं तदावरण-मलकलङ्कस्यानवयवशोऽपगमात्, सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलमनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात्। केवलं च तत् ज्ञानं च केवलज्ञानम्, यथावस्थिताशेषभूत-भवद्भाविभावस्वभावभासि ज्ञानमिति भावः। (आव.नि. मलय. वृ. १, पृ. १७; धर्मसं. मलय. वृ. ८१६; षडशीति मलय. वृ. १५, पृ. १९; प्रव. सारो. सि. वृ. १२५३)। ३६. केवलज्ञानं तु सकलवस्तुस्तोमपरिच्छेदकं सर्वोत्तमम्। (नन्दी. मलय. वृ. पृ. ७१)। ३७. केवलं सम्पूर्णज्ञेयविषयत्वात्, सम्पूर्णं तच्च तद्ज्ञानं च केवलज्ञानमिति। (अनुयो. मल. हेम. वृ.. पृ. २)। ३८. सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतसमस्तावरणक्षयापेक्षं निखिलद्रव्य-पर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्। (प्र. न. त. २–२३)। ३९. सामग्री सम्यग्दर्शनादि-लक्षणाऽन्तरङ्गा, बहिरङ्गा तु जिनकालिकमनुष्य-

भवादिलक्षणा, ततः सामग्रीविशेषात् प्रकर्षप्राप्त-सामग्रीतः समुद्भूतो यः समस्तावरणक्षयः सकल-घातिसंघातविघातस्तदपेक्षं सकलवस्तुप्रकाशस्वभावं केवलज्ञानं ज्ञातव्यम् । (रत्नाकरा. २-२३, पृ. ७२)। ४०. सकलप्रत्यक्षस्य केवलज्ञानलक्षणस्य सकलद्रव्य-पर्यायसाक्षात्करणं स्वरूपम् । (सप्तभं. पृ. ४७)। ४१. उक्तं च—दव्वसुयादो भावं भावादो होइ सव्वसण्णाणं । संवेयणसंविति केवलणाणं तदो भणिओ ।। (द्रव्यस्व. पृ. १११ उद्.)। ४२. बाह्येन अभ्यन्तरेण च तपसा मुनयो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत् केवलम्, असहायत्वाद्वा केवलम् । (त. वृत्ति श्रुत. १-९)। ४३. तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थ-गोचरम् । शुद्धं स्वजातिमात्रत्वादबद्धं निरुपाधितः ।। यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् । स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ।। (पञ्चा-ध्यायी २-१२० व ६६५)। ४४. सव्वावरणविमुक्कं लोयालोयप्पयासयं णिच्चं । इंदियकमपरिमुक्कं केवलणाणं णिरावाहं ।। (अंगप. ३-७५. पृ. २९९)।

६ जो ज्ञान केवल—मतिज्ञानादि से रहित (असहाय), परिपूर्ण, असाधारण (अनुपम), अन्य की अपेक्षा से रहित, विशुद्ध, समस्त पदार्थों का प्रकाशक और अलोक के साथ समस्त लोक का ज्ञाता है; उसे केवलज्ञान कहा जाता है ।

केवलज्ञानावरण—१. एदस्स (केवलणाणस्स) आवरणं केवलणाणावरणीयं । (धव. पु. ६, पृ. ३०); एदस्स (केवलणाणस्स) आवरणं जं कम्मं तं केवलणाणावरणीयं णाम । (धव. पु. १३, पृ. २१३)। २. लोयालोयगएसु भावेसु जं गयं महाविमलं । तं आवरियं जेण केवलआवरणयं तं पि ।। (कर्मवि. ग. १७)।

२ जो कर्म लोक और अलोकगत सर्व तत्त्वों के प्रत्यक्ष दर्शक और अतिशय निर्मल केवलज्ञान का आवरण करता है उसे केवलज्ञानावरण कहते हैं ।

केवलदर्शन—१. तह दंसणं पि जुज्जइ नियआव-रणक्खए संते । (सन्मति. २-५)। २. बहुविह-बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि । लोगा-लोगवितिमिरो सो केवलदंसणुज्जोओ ।। (प्रा. पंचसं. १-१४१; धव. पु. १, पृ. ३८२ उद्.; गो. जी. ४८६)। ३. स्वावभासः केवलदर्शनम् । (धव. पु. ६, पृ. ३४); किं केवलदंसणं ? तिकालविसय-अणंतपज्जयसहिदसगरूवसंवेयणं । (धव. पु. १०, पृ. ३१९); केवलणाणुप्पत्तिकारणसगसंवेयणं केवल-दंसणं णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३५५); केवल-दंसणावरणक्खएण समुप्पण्णं दंसणं केवलदंसणं । (धव. पु. १४, पृ. १७)। ४. दर्शनमपि केवलाख्य-मशेषदर्शनावरणीयक्षयसमुद्भूतमुपात्तम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-४); केवलदर्शनमपि सामान्योपयोग-लक्षणम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-८); अशेषदर्श-नावरणक्षयात् क्षायिकं केवलदर्शनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-४)। ५. यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं सामान्येनावबुध्यते तत्स्वाभाविकं केवलदर्शनमिति स्वरूपाभिधानम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ४२)। ६. मूर्तामूर्तपदार्था-नामसौ (प्रकाशः) केवलदर्शनम् । (पंचसं. अमित. १-२५२)। ७. यत्पुनः सहजशुद्धसदानन्दैकरूप-परमात्मतत्त्वसंवित्तिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरण-क्षये सति मूर्तामूर्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं वि-कल्परहितं सकलप्रत्यक्षरूपेणैकसमये पश्यति तदु-पायभूतं केवलदर्शनं ज्ञातव्यम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४); निर्विकल्पस्वशुद्धात्मसत्तावलोकनरूपं यत्पूर्वं दर्शनं भावितं तस्यैव फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तु-गतसामान्यग्राहकं केवलदर्शनम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. १४)। ८. तत्रैव (जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिपदार्थयुग-पद्) सामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । (परमात्म. टी. १६१)। ९. युगपत्सर्व-द्रव्यपर्याय-सामान्यविशेषप्रकाशकं केवलं केवलं जानाति भावि-केवलदर्शनम् । (मूला. वृ. १२-१८८)। १०. रा-गादिदोषरहितचिदानन्दैकस्वभावनिजशुद्धात्मानुभूति-लक्षणनिर्विकल्पध्यानेन निरवशेषकेवलदर्शनावरण-क्षये सति जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिवस्तुगतसत्तासामान्य-मेकसमयेन पश्यति तदनिधनमनन्तविषयं स्वाभावि-कं केवलदर्शनम् । (पंचा. का. जय. वृ. ४३)। ११. केवलमेव (प्रज्ञाप.—मिव) दर्शनं सकल-जगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनम् । (जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १६; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९-३१२, पृ. ५२७)।

३ तीनों कालों की विषयभूत अनन्त पर्यायों से संयुक्त निज के स्वरूप का जो संवेदन होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। ५ आवरण का पूर्णतया क्षय हो जाने पर जो बिना किसी अन्य की सहायता के

समस्त मूर्त-अमूर्त द्रव्यों को सामान्य से जानता है वह केवलदर्शन कहलाता है।

केवलदर्शनावरणीय—१. केवलमसपत्नम्, केवलं च तद्दर्शनं च केवलदर्शनम्। तस्स आवरणं केवलदर्शनावरणीयम्। (धव. पु. ६, पृ. ३३); तस्स (केवलदंसणस्स) आवारयं (कम्मं) केवलदंसणावरणीयम्। (धव. पु. १३, पृ. ३५६)। २. केवलमासन्नं जं वरेइ तं केवलस्स भवे। (कर्मवि. ग. २६)।

१ जो केवलदर्शन को आच्छादित करता है उसे केवलदर्शनावरणीय कहते हैं।

केवलव्यतिरेकी— पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी। (न्यायदी. पृ. ९०)।

जो हेतु विपक्ष से व्यावृत्त होकर सपक्ष से रहित होता हुआ केवल पक्ष में रहता है उसे केवलव्यतिरेकी कहते हैं।

केवलान्वयी—पक्ष-सपक्षवृत्तिर्विपक्षवृत्तिरहितः केवलान्वयी। (न्यायदी. पृ. ८९)।

जो हेतु पक्ष और सपक्ष में तो रहता है, किन्तु विपक्ष में नहीं रहता है उसे केवलान्वयी कहते हैं।

केवलावरण—देखो केवलज्ञानावरण। केवलावरणं हि आदित्यकल्पस्य जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति। (स्थानां. अभय. वृ. २, ४, १०५)।

जो सूर्य के समान जीव को सघन मेघसमूह के समान आच्छादित करता है उसे केवलावरण कहा जाता है।

केवलि-अवर्णवाद— १. कवलाभ्यवहारजीविनः केवलिन इत्येवमादिवचनं केवलिनामवर्णवादः। (स. सि. ६-१३)। २. एगंतरमुप्पाए अन्नोन्नावरणया दुवेण्ह पि। केवलदंसण-णाणाणमेगकाले व एगत्तं॥ (बृहत्क. १३०४)। ३. पिण्डाभ्यवहारजीवनादिवचनं केवलिषु। पिण्डाभ्यवहारजीविनः कम्बलदशानिर्हरणाः अलाबूपात्रपरिग्रहाः कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिन इत्यादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः। (त. वा. ६, १३, ८)।

२ केवली के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग क्रम से होते हैं या युगपत् ? यदि क्रम से होते हैं तो जिस समय को जानता है उसका दर्शन नहीं हो सकता है और जिसको देखता है उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार दोनों की उत्पत्ति के एकान्तरित होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों में एक दूसरे की आवारकता ठहरती है। कारण कि उनके ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनों ही कर्म विनष्ट हो चुके हैं तथा अन्य कोई आवारक सम्भव नहीं है। तब यदि उन दोनों का युगपत् होना माना जाय तो उन दोनों के एक काल में रहने से अभेद का प्रसंग प्राप्त होता है—समान काल में रहने से केवलज्ञान और केवलदर्शन में कोई भेद नहीं रहेगा। इस प्रकार के कुतर्कपूर्ण विचार का नाम केवलि-अवर्णवाद है। ३ केवली जीवन के लिए कवलाहार का उपभोग करते हैं, कम्बल व तूंबड़ी के पात्रों को ग्रहण करते हैं, तथा उनके ज्ञान और दर्शन भिन्न काल में होते हैं; इत्यादि कथन करना केवलि-अवर्णवाद है।

केवलिमरण— केवलिणं मरणं केवलिमरणम्। (उत्तरा. चू. पृ. १२९)।

केवली के मरण को—निर्वाण प्राप्ति को—केवलिमरण कहते हैं।

केवलि-मायी—१. केवलिणं केवलिष्वादरवानिव यो वर्तते, तदर्चनायां तु मनसा तु न रोचते, स केवलिनां मायावान्। (भ. आ. विजयो. १८१)। २. तथा केवलिष्वादरवानिव यो वर्तते, तत्पूजायां मनसा तु न तां रोचते, असौ केवलिमायी। (भ. आ. मूला. १८१)।

जो केवलियों के विषय में आदरयुक्त के समान रहता है, किन्तु मनसे जिसे उनकी पूजा नहीं रुचती है, वह केवलि-मायी कहलाता है। ऐसा जीव केवली का अवर्णवादी होकर किल्विषिकभावना वाला होता है।

केवलिसमुद्घात—१. वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां बहिःसमुद्घातनं केवलिसमुद्घातः। (त. वा. १, २०, १२)। २. केवलिसमुद्घादो णाम दंड-कवाड-पदर-लोगपूरणभेएण चउव्विहो। (धव. पु. ४, पृ. २८); दंड-कवाड-पदर-लोगपूरणाणि केवलिसमुद्घादो णाम। (धव. पु. ७, पृ. ३००)। ३. उद्गमनमुद्घातः, जीवप्रदेशानां विसर्पणमित्यर्थः, समीचीनः उद्घातः समुद्घातः, केवलिनां समुद्घातः केवलिसमुद्घातः। अघातिकर्मस्थितिसमीकरणार्थं केवलिजीवप्रदेशानां समया-

विशेषेण ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च विसर्पणं केवलिसमुद्घातः। (अनध. अ. प. १२३८)। ४. सप्तमः केवलिनां दण्ड-कपाट-प्रतर-पूर्णः सोऽयं केवलिसमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १०)। ५. केवलिनि अन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे समुद्घातः केवलिसमुद्घातः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १७)। ६. सप्तमः केवलिनां दण्ड-कपाट-मन्थान-प्रतरण-लोकपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्घातः। (कार्तिके. टी. १७६)।

१ आयुकर्म की स्थिति अल्प और वेदनीय की स्थिति अधिक होने पर उसे अनाभोगपूर्वक (उपयोग के बिना ही) आयु के समान करने के लिए केवली भगवान् के आत्मप्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलते हैं, इसे केवलिसमुद्घात कहते हैं। जैसे—शराब के फेन का वेग बुद्बुद के आविर्भाव से शान्त हो जाता है।

केवली—१. सव्वं (आव.—कसिणं) केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति। केवलणाण-चरित्ता (आव.—केवलचरित्तणाणी) तम्हा ते केवली होंति॥ (मूला. ७-६७; आव. नि. १०७९)। २. निरावरणज्ञानाः केवलिनः। (स. सि. ६-१३)। ३. तव-नियम-नाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी। (आव. नि. ८९)। ४. शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली। (त. भा. १०, श्लो. ६, पृ. ३१९)। ५. करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः। करणं चक्षुरादि, कालभेदेन वृत्तिः क्रमः, कुड्यादिना अन्तर्धानं व्यवधानम्, एतान्यतीत्य वर्तते। ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षये आविर्भूतमात्मनः स्वाभाविकं ज्ञानम्, तद्वन्तः अर्हन्तो भगवन्तः केवलिनः इति व्यपदिश्यन्ते। (त. वा. ६, १३, १); घातिकर्मक्षयादाविर्भूतज्ञानाद्यतिशयः केवली। घातिकर्मणामत्यन्तक्षयादाविर्भूतस्वभावाचिन्त्यकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतिर्भगवान् केवलीत्यभिलप्यते। (त. वा. ९, १, २३)। ६. केवलमस्यास्तीति केवली, सम्पूर्णज्ञानवानित्यर्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६२)। ७. केवलि त्ति भणिदे केवलणाणिणो तित्थयरकम्मुदयविरहिदा घेत्तव्वा। (धव. पु. ९, पृ. २४६)। ८. केवलमसहायं ज्ञानम्, इन्द्रियाणि मनः प्रकाशादिकं च नापेक्ष्य युगपदशेषद्रव्य-पर्यायभासनसमर्थं तदत्र प्रवर्तते तदेषामस्ति ते केवलिनः। (भ. आ. विजयो. २७)। ९. केवलानि सम्पूर्णानि शुद्धानि अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्य सन्ति स केवली। (औपपा. अभय. वृ. १०, पृ. १५)। १०. केवलज्ञानं दर्शनं चास्यास्तीति केवली। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१४, पृ. ५३१)। ११. क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम्। सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम्॥ इत्यार्योक्त (क्तं) केवलं ज्ञानम्, आवरणद्वयरहितं ज्ञानं विद्यते येषां ते केवलिनः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१३)।

१ जो केवल सवृत्त समस्त लोक को जानते व देखते हैं तथा केवलज्ञान व चारित्र से सम्पन्न हैं वे केवली कहलाते हैं।

केशवाणिज्य—१. नवनीत-वसा-क्षौद्र-मद्यप्रभृतिविक्रयः। द्विपाच्चतुष्पाद्विक्रयो वाणिज्यं रस-केशयोः॥ (योगशा. ३-१०९; त्रि. श. पु. च. १, ३, ३४३)। २. केशवाणिज्यं द्विपदादिविक्रयः। तत्र च दोषः—तेषां पारवश्य-वध-बन्धनादयः क्षुत्पिपासापीडा चेति। (सा. ध. ५-२२)।

१ केश वाले द्विपद (मनुष्य) और चतुष्पद (पशु) आदि जीवों के बेचने को केशवाणिज्य कहते हैं।

केशवाप—केशवापस्तु केशानां शुभेऽह्नि व्यपरोपणम्। क्षौरेण कर्मणा देव-गुरुपूजापुरस्सरम्॥ गन्धोदकार्द्रितान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान्। मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात् सचूलं वाऽन्वयोचितम्॥ स्नपनोदकधौताङ्गमनुलिप्तं सभूषणम्। प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद्योजयेद् बन्धुताशिषा॥ चौलाख्यया प्रतीतेयं कृतपुण्याहमङ्गला। क्रियास्यामादृतो लोको यतते परया मुदा॥ (म. पु. ३८, ९८-१०१)।

किसी शुभ दिन में देव व गुरु की पूजा करके बालक के बालों को गन्धोदक से भिगो कर व शेषाक्षतों से उचित करके क्षौरक्रिया से—उस्तरे के द्वारा—उनके निकलवाने को केशवाप कहते हैं। केशवाप के पश्चात् नहला कर उससे मुनियों को नमस्कार कराना चाहिए।

केशसंस्कार—१. केशसंस्कारो हस्तघर्षणेन मसृणतासम्पादनम्। (भ. आ. विजयो. ९३)। २. हस्तघर्षणेन मसृणताकरणं केशसंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

हाथों की रगड़ से केशों के चिकने करने को केश-संस्कार कहते हैं।

कैवल्य—केवलस्य कर्मविकलस्य ग्रात्मनो भाव: कैवल्यम्। (सिद्धिवि. टी. ७-२१, पृ. ४६१)

केवल ग्रर्थात् कर्मरहित ग्रात्मा की ग्रवस्था को कैवल्य कहते हैं।

कोटी— × × × शताहतां तां (लक्ष्यां) च वदन्ति कोटीम्। (वरांगच. २७–८)।

सौ से गुणित लक्ष को (१००००० × १००) कोटी कहते हैं।

कोश—यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशतीति कोशः। (नीतिवा. २१–१)।

जो सम्पत्ति ग्रौर विपत्ति के समय स्वामी की सेना व ग्रर्थ की वृद्धि करे उसे कोश कहते हैं।

कोष्ठबुद्धि— १. उक्करिसधारणाए जुत्तो पुरिसो गुरूवएसेणं। णाणाविहगंथेसुं वित्थारे लिंगसद्दबीजाणि॥ गहिऊण णियमदीए मिस्सेण विणा धरेदि मदि-कोट्ठे। जो कोइ तस्स बुद्धी णिद्दिट्ठा कोट्ठबुद्धि त्ति॥ (ति. प. ४, ९७८–९७९)। २. कोट्ठयधन्नसुनिग्गलसुत्तत्था कोट्ठबुद्धीया। (विशेषा. ८०२; प्रव. सारो. १५०२)। ३. कोष्ठागारिकस्थापितानामसंकीर्णानामविनष्टानां भूयसां धान्यबीजानां यथा कोष्ठेऽवस्थानं तथा परोपदेशादवधारितानां ग्रर्थ-ग्रन्थ-बीजानां भूयसामव्यतिकीर्णानां बुद्धावस्थानं कोष्ठबुद्धिः। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ९९)। ४. कोष्ठयः शालि-व्रीहि-यव-गोधूमादीनामाधारभूतः कुस्थली पल्यादिः। सा चासेसदव्व-पज्जायधारणगुणेण कोट्ठसमाणा बुद्धी कोट्ठा, कोट्ठा च सा बुद्धी च कोट्ठबुद्धी। × × × बुद्धिमंताणं पि कोट्ठबुद्धी सण्णा। (धव. पु. ९, पृ. ५३, ५४)। ५. कोष्ठबुद्धित्वं यत्किंचित् पद-वाक्यादिगृहीतं तन्न कदाचिन्नश्यतीति कोष्ठक्षिप्तधान्यवत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०–७, पृ. ३१६–१७)। ६. कोष्ठागारे संकर-व्यतिकररहितानि नानाप्रकाराणि बीजानि बहुकालेनापि न विनश्यन्ति न संकीर्यन्ते च यथा तथा येषां श्रुतानि पद-वर्ण-वाक्यादीनि बहुकाले गते तेनैव प्रकारेणाविनष्टार्थान्यन्यूनाधिकानि सम्पूर्णानि संतिष्ठन्ते ते कोष्ठबुद्धयः। (मूला. वृ. ९–९६)। ७. तत्र कोष्ठे कोष्ठागारिकभृतभूरिबीजानामविनष्टाव्यतिकीर्णानामवस्थानं यथा तथैवावस्थानमवधारितग्रन्थार्थानां यत्र बुद्धौ सा कोष्ठबुद्धिः। (श्रुतभक्ति टी. ९)। ८. परोपदेशादवधारितानां श्रौतानामर्थ-ग्रन्थबीजानां भूयसामनुस्मरणमन्तरेणाविनष्टानामवस्थानात् कोष्ठबुद्धयः। (योगशा. स्वो. विव. १–८)। ९. कोट्ठबुद्धि त्ति कोष्ठवत् कुशूल इव सूत्रार्थधान्यस्य यथाप्राप्तस्याविनष्टस्याऽऽजन्मधरणाद् बुद्धिर्मतिर्येषां ते तथा। (औपपा. ग्रभय. वृ. १५, पृ. २८)। १०. या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थानौ च सूत्रार्थौ धारयति, न किमपि तयोः कालान्तरेण गलति, सा कोष्ठबुद्धिः। (नन्दी. मलय. वृ. सू. १३, पृ. १०६; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २१–२७३, पृ. ४२४)। ११. तथा कोष्ठ इव धान्यं येषां बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति, न किमपि तयोः कालान्तरेऽपि गलति, ते कोष्ठबुद्धयः, कोष्ठ इव बुद्धिर्येषां ते कोष्ठबुद्धय इति व्युत्पत्तेः। उक्तं च—कोट्ठयधन्नसुनिग्गलसुत्तत्था कोट्ठबुद्धीया॥ (ग्राव. नि. मलय. वृ. ७५, पृ. ८०)। १२. कोष्ठनिक्षिप्तधान्यानीव सुनिर्गला ग्रविस्मृतत्वाचिरस्थायिनः सूत्रार्था येषां ते कोष्ठकधान्यसुनिर्गलसूत्रार्थाः कोष्ठबुद्धयः। कोष्ठे इव धान्यं या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति, न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धिलब्धिरिति भावः। (प्रव. सारो. वृ. १५०२)। १३. कोष्ठागारे संगृहीतविविधाकारधान्यवत् यस्यां बुद्धौ वर्णादीनि श्रुतानि बहुकालेऽपि न विनश्यन्ति सा कोष्ठबुद्धिः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ उत्कृष्ट धारणा से युक्त जो पुरुष गुरु के उपदेश से ग्रनेक प्रकार के ग्रन्थों में से विस्तारपूर्वक लिंगयुक्त शब्दरूप बीजों को ग्रपनी बुद्धि से ग्रहण कर मिश्रण के बिना— पृथक् पृथक्— उन्हें ग्रपने बुद्धिरूप कोठे में स्थापित करता है, उसकी उस बुद्धि को कोष्ठबुद्धि कहा जाता है।

कोष्ठा—कोष्ठा इव कोष्ठा। कोष्ठा नाम कुस्थली, तद्वन्निर्णीतार्थं धारयतीति कोष्ठा। (धव. पु. १३, पृ. २४३)।

कोष्ठा नाम कुस्थली (धान्य रखने का एक मिट्टी का बड़ा पात्र—कुठिया) है। उसके समान निर्णीत ग्रर्थ को जो बुद्धि धारण करती है वह भी कोष्ठ (कोठा) के समान होने से कोष्ठा कहलाती है।

यह धारणा का नामान्तर है।

कौकुच्य—देखो कौत्कुच्य।

कौतुक—१. विण्हवण-होम-सिरपरिरयाइ खारदहणाइं धूवे य। असरिसवेसग्गहणं अवयासण-उत्थुवण-बंधा ॥ (बृहत्क. भा. १३-९)। २. सोहग्गाइनिमित्तं परेसिं ण्हवणाइ कोउयं भणियं। (प्रव. सारो. ११२)। ३. सौभाग्यनिमित्तमपत्यादिनिमित्तं च योषिदादीनां त्रिक-चतुष्क-चत्वरादिषु स्नानादि यत्क्रियते तत्कौतुकं भणितम्। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ ८२)। ४. कौतुकं नाम आश्चर्यम्, यथा मायाकारको मुखे गोलकान् प्रक्षिप्य कर्णेन निष्कासयति नासिकया वा मुखादग्निं निष्कासयतीत्यादि। अथवा परेषाँ सौभाग्यादिनिमित्तं यत् स्नपनादि क्रियते एतत्कौतुकम्। (व्यव. मलय. वृ. ३, पृ. ११७)।

१ विशेष स्नान, होम, शिरःपरिरय (करभ्रमणाभिमंत्रणा) आदि, क्षारदहन (रोग शान्ति के लिये नमक आदि का जलाना), उसी प्रकार की धूप का समर्पण, असमान वेश का ग्रहण, वृक्षादि का आलिंगन कराना, अवस्तोभन—अनिष्ट की उपशान्ति के लिये थूक द्वारा थू-थू करना और बन्ध; यह सब कौतुक कहलाता है।

कौतुककुशील—कश्चित् कौतुकशील: औषधविलेपन-विद्याप्रयोगेणैव सौभाग्यकरणं राजद्वारि कौतुकमादर्शयति यः कौतुककुशीलः। (भ. आ. विजयो. १९५०)।

जो औषधि-विलेपन और विद्या-मंत्रादि के प्रयोग द्वारा राजद्वार में चमत्कार दिखावे व दूसरों के सौभाग्य की वृद्धि करे, ऐसे साधु को कौतुककुशील कहते हैं।

कौत्कुच्य—१. तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मप्रयुक्तं कौत्कुच्यम्। (स. सि. ७–३२)। २. कौत्कुच्यं नाम एतत् (रागसंयुक्तोऽसभ्यो वाक्प्रयोगः हास्यं च) एवोभयं दुष्टकायप्रचारसंयुक्तम्। (त. भा. ७–२७)। ३. भुम-नयण-वयण-दसणच्छदेहिं कर-पाद-कण्णमाईहिं। तं तं करेइ जह हस्सए परो अत्तणा अहसं ॥ वायाकोक्कुइओ पुण तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो। नानाविहजीवरुए कुव्वइ मुहतूरए चेव ॥ (बृहत्क. १२९७–९८)। ४. **तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कुच्यम्।** रागस्य समावेशाद्धास्यवचनम् अशिष्टवचनं इत्येतदुभयं परत्र दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यम्। (त. वा. ७, ३२, २)। ५. कौकुच्यम्—कुत्सितसंकोचनादिक्रियायुक्तः कुकुचः, तद्भावः कौकुच्यम्, अनेकप्रकारा मुख-नयनोष्ठ-कर-चरण-भ्रूविकारपूर्विका परिहासादिजनिका भाण्डादीनामिव विडम्बनक्रियेत्यर्थः। (आव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८३०)। ६. कौत्कुच्यं कुत्सितसंकोचनादिक्रियायुक्तः कुत्कुचः, तद्भावः कौत्कुच्यम्, अनेकप्रकारमुख-नयनोष्ठ-कर-चरण-भ्रूविकारपूर्विका परिहासादिजनिका भांडादीनामिव विडम्बनक्रियेत्यर्थः। (श्रा. प्र. टी. २९१; ध. बि. मु. वृ. ३–३०)। ७. कौत्कुच्यं कुत्सितसंकोचनादिक्रियायुक्तः कुत्कुचः, तद्भावः कौत्कुच्यम्— अनेकप्रकारा भाण्डादिविडम्बनाक्रियाः। कुदिति कुत्सायां निपातो निपातानामानन्त्यात्। अन्ये पठन्ति—कौकुच्यमिति, तेषां कुत्सितः कुचः संकोचनादिक्रियाभाक्, तद्भावः कौकुच्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–२७)। ८. तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कुच्यम्। (त. श्लो. ७–३२)। ९. रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परस्मिन् दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं कौत्कुच्यम्। (चा. सा. पृ. १०)। १०. प्रहासो भण्डिमावचनं भण्डिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौत्कुच्यम्। (रत्नक. टी. ३–३५)। ११. रागातिशयवतो हसतः परमुद्दिश्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्यम्। (भ. आ. विजयो. १८०)। १२. तथा कुदिति कुत्सायां निपातः, निपातानामानन्त्यात्। कुत् कुत्सितं कुचति भ्रू-नयनोष्ठ-नासा-कर-चरण-मुखविकारैः संकुचतीति कुत्कुचस्तस्य भावः कौत्कुच्यम्, अनेकप्रकारा भण्डादिविडम्बनक्रिया इत्यर्थः। अथवा कौकुच्यमिति पाठः, तत्र कुत्सितः कुच; कुकुचः संकोचनादिक्रियाभाक्, तद्भावः कौकुच्यम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–११५)। १३. रागातिशयवतो हसतः परमुद्दिश्यैवं तव मातरं करोमि इति अशिष्टकायं प्रकुत्कुचायितं कौत्कुचमिति यावत्। अव्यक्तकण्ठस्वरकरणमवशिष्टांगावयवचालनं वेति केचित्। (भ. आ. मूला. १८०)। १४. कौत्कुच्यं कुदिति कुत्सायां निपातो निपातानामानन्त्यात्। कुतः[कुत्]कुत्सितं कुचति भ्रू-नयनोष्ठ-नासा-कर-चरण-मुखविकारैः संकुचतीति कुत्कुचः संकोचनादि-

क्रियाभाक्, तद्भाव: कौत्कुच्यम् । (सा. ध. स्वो. टी. ५-१२) । १५. प्रहासवागशिष्टवाक्प्रयोगौ पूर्वोक्तौ द्वावपि तृतीयेन दुष्टेन कायकर्मणा संयुक्तौ कौत्कुच्यम् । (त. वृत्ति श्रुत. ७-३२) । १६. दोष: कौत्कुच्यसंज्ञोऽस्ति दुष्टकायक्रियादियुक् । पराङ्ग-स्पर्शनं स्वाङ्गैरर्थादन्याङ्गनादिषु ।। (लाटीसं ६, १४२) ।

३ भ्रू, नेत्र, मुख, ओठ, हाथ, पांव और कान आदि के द्वारा इस प्रकार की चेष्टा करना कि जिसे देख कर अन्य जन हंसने लग जावें, पर स्वयं न हंसे, यह कायकौत्कुच्य है । इसी प्रकार वचन के द्वारा ऐसा सम्भाषण करना कि जिसे सुन कर अन्य जन हास्य को प्राप्त हों, इसके अतिरिक्त मुख से मोर, बिल्ली और कोयल आदि अनेक जीवों के शब्द का अनुकरण करना व बाजे आदि की ध्वनि को करना; यह वाचनिक कौत्कुच्य कहलाता है । इस प्रकार की कौत्कुच्य क्रिया में निरत व्यक्ति कौत्कुच्यवान् कहा जाता है ।

कौमार—कौमारं बालवैद्यं मासिक-सांवत्सरिकादि-ग्रहत्रासनहेतु: शास्त्रम् । × × × एवमष्टप्रकारेण चिकित्साशास्त्रेणोपकारं कृत्वाहारादिकं गृह्णाति, तदानीं तस्याष्टप्रकारश्चिकित्सादोषो भवत्येव । (मूला. वृ. ६-३३) ।

कौमार अर्थात् बालवैद्य सम्बन्धी तथा मासिक व वार्षिक आदि ग्रहों के त्रास के कारणभूत चिकित्सा शास्त्र के आश्रय से उपकार करके यदि आहार ग्रहण करता है तो यह कौमार नाम का चिकित्सा-दोष होता है ।

क्रमभाव-अविनाभाव— पूर्वोत्तरचारिणो: कार्य-कारणयोश्च क्रमभाव: । (परीक्षा. ३-१३) ।

पूर्वचर और उत्तरचर पदार्थों में—जैसे कृत्तिका और शकट नक्षत्रों में—तथा कार्य-कारण में जो अविनाभाव सम्बन्ध है, उसे क्रमभाव नियम अविनाभाव कहते हैं ।

क्रमभिन्न— क्रमभिन्नं यत्र यथासंख्यमनुदेशो न क्रियते । यथा 'स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु:-श्रोत्रा-णामर्था: स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दा: इति वक्तव्ये स्पर्श-रूप-शब्द-गन्ध-रसा: इति ब्रूयात् । (आव. नि. हरि. वृ. ८८२, पृ. ३७५) ।

संख्याक्रम के अनुसार उल्लेख नहीं करना, यह क्रम-भिन्न नाम का सूत्रदोष है । जैसे—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द विषय हैं; ऐसा न कह कर उनके स्पर्श, रूप, शब्द, गन्ध और रस विषय हैं; इस प्रकार संख्या-क्रम को भंग करके कहना ।

क्रमवर्तित्व— क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च । स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाऽय च तथा न भवतीति ।। (पंचाध्यायी १, १७५) ।

'यह वह है' किन्तु वह नहीं है; अथवा 'यह वैसा है' किन्तु वैसा नहीं है; इस प्रकार व्यतिरेकपूर्वक विशिष्टता को क्रमवर्तित्व कहते हैं ।

क्रमवर्ती—अस्त्यत्र य: प्रसिद्ध: क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे । क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानति-क्रमादेषः ।। वर्तन्ते तेन यतो भवितुं शीलास्तथा स्वरूपेण । यदि वा स एव वर्ती येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात् ।। अयमर्थ: प्रागेकं जातं उच्छिद्य जायते चैक: । अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योऽप्युत्पद्यते यथा देशम् ।। (पंचाध्यायी १, १६७-६९)।

'क्रम' धातु पादविक्षेप अर्थ में प्रसिद्ध है । 'क्रमति इति क्रम:' इस निरुक्ति के अनुसार उससे निष्पन्न क्रम शब्द का अर्थ पद्धति के अनुसार एक-एक के अनन्तर होने वाली पर्यायें होता है । जिससे (जैसे मिट्टी से) जो अवस्था में (स्थास, कोश, कुशूल आदि) स्वभावत: उत्पन्न होने वाली हैं, वे अथवा जिनका स्थास, कोश, कुशूलादि का वह (मिट्टी) अनुसरण करता है वे (स्थासादि) क्रमवर्ती कही जाती हैं । कारण यह कि पहिले एक अवस्था (स्थास) होती है, फिर उसके नष्ट होने पर दूसरी (कोस) अवस्था होती है, तत्पश्चात् उसके भी विनष्ट होने पर अन्य (कुशूल) अवस्था होती है । इस प्रकार ऐसी अवस्थाओं की 'क्रमवर्ती' यह सार्थक संज्ञा है ।

क्रमानेकान्त — मुक्त-इतराऽनेकक्रमिधर्मापेक्षया क्रमानेकान्त:, अयुगपदेव तत्सम्भवात् । (न्यायकु. २-७, पृ. ३७२) ।

मुक्त और अमुक्त (संसारी) रूप अनेक क्रमिक धर्मों की अपेक्षा से क्रमानेकान्त होता है । कारण कि मुक्तत्व-अमुक्तत्व आदि धर्म एक साथ सम्भव नहीं हैं—ऐसे परस्पर विरोधी धर्म क्रम से ही उप-

लक्ष होते हैं। अभिप्राय यह कि जो पूर्व काल में अमुक्त (संसारी) होता है, वही उत्तर काल में मुक्त होता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी क्रमिक धर्मों में क्रमानेकान्त घटित होता है।

क्रिया—१. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। (स. सि. ५, ७)। २. क्रिया गतिः, सा त्रिविधा—प्रयोगगतिः, विस्रसागतिः, मिश्रिकेति। (त. भा. ५–२२)। ३. जीवादितत्त्वे नयभेदविकल्पितस्वरूपे या प्रतिपत्तिः सा क्रिया। (अनुयो. चू. पृ. ८६)। ४. उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यम्, बाह्यं च नोदनाभिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेत्युपदिश्यते। (त. वा. ५, ७,१)। ५. क्रिया परिस्पन्दनलक्षणा। (आव. नि. हरि. वृ. ११३२, पृ. ५२५)। ६. क्रिया देशान्तरप्राप्तिलक्षणा। (विशेषा. को. वृ. २५२३, पृ. ६०५)। ७. किरिया णाम परिप्फंदणरूवा। (धव. पु. १, पृ. १८)। ८. करणं क्रिया द्रव्यपरिणामः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२२)। ९. उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। (त. श्लो. ५, ७)। १०. परिस्पन्दलक्षणा क्रिया। (प्र. सा. अमृत. वृ. २–३७)। ११. प्रदेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया। (पंचा. का. अमृत. वृ. ९८)। १२. प्रयोग-विस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते। द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया॥ (त. सा. ३–४७)। १३. या परिणतिः क्रिया सा ××× ॥ (नाटकस. क. ३–६)। १४. क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया। (बृ. द्रव्यसं. २७)। १५. क्रिया पदार्थपरिस्थितिः। ××× क्रिया वाक्काय-मनोव्यापारः। (समाधित. टी. ६७)। १६. तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दश्चलात्मकः। (पञ्चाध्यायी २–२६)। १७. बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् संजायमानो द्रव्यस्य पर्यायः देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ५–७); परिस्पदात्मिकः चलनरूपः पर्यायः क्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२२)।

१ बाह्य और अभ्यन्तर कारण के वश से उत्पन्न होने वाली द्रव्य की जो पर्याय देशान्तरप्राप्ति का कारण होती है उसे क्रिया कहते हैं। २ क्रिया नाम गति का है जो प्रयोगगति, विस्रसागति और मिश्रिकागति के भेद से तीन प्रकार की है। ३ नयभेद से भेद को प्राप्त होने वाले स्वरूप से युक्त जीवादि तत्त्वों के विषय में जो प्रतिपत्ति होती है वह क्रिया कहलाती है।

क्रियानय—यः उपदेशः क्रियाप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम, क्रियानय इत्यर्थः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १४९ व ३७१, पृ. ८१ व २८६; अनु. हरि. वृ., पृ. १२०; विशेषा. को. वृ. ४३३५, पृ. ९७९; आव. नि. मलय. वृ. २६६, पृ. ५८८)।

क्रिया की प्रधानता के प्रकट करने वाले उपदेश को क्रियानय कहते हैं।

क्रियारुचि—१. दंसण-नाण-चरित्ते तव-विणए समिइ-गुत्तीसु। जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम॥ (उत्तरा. २८–२५; प्रज्ञाप. गा. १२८)। २. नाणे दंसण-चरणे तव-विणए सच्च-समिइ-गुत्तीसु। जो किरिया भावरुई सो खलु किरियारुई नाम॥ (प्रव. सारो. ९५८)। ३. यस्य भावतो ज्ञानाद्याचारानुष्ठाने रुचिरस्ति स खलु क्रियारुचिर्नाम। (प्रव. सारो. वृ. ९५८)।

१ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, समिति और गुप्ति के अनुष्ठान में जिसकी भावपूर्वक रुचि होती है उसे क्रियारुचि कहते हैं।

क्रियावादी १. ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा विरूवरूवाणि अकिरियवाई। जे मायइत्ता बहवे मणूसा भमन्ति संसारमणोवदग्गं॥ णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति न चंदिमा वड्ढति हायती वा। सलिला न संदंति ण वंति वाया वंझो णियता कसिणे हु लोए॥ जहाहि अन्धे सह जोतिणावि रूवाइ णो पस्सइ हीणणेत्ते। संतं पि ते एवमकिरियवाई किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना॥ (सूत्रकृ. सू. १, १२, ६–८; पृ. २१९)। २. अत्थित्ति किरियवादी वयंति ×××। (सूत्रकृ. नि. १२, ११८)। ३. तत्र न कर्तारं विना क्रियासम्भव इति तामात्मसमवायिनीं वदन्ति, तच्छीलाश्च ये ते क्रियावादिनः। ते पुनरात्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः अमुनोपायेनाशीत्यधिकशतसंख्या विज्ञेयाः। जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-

निर्जरा,-पुण्य-पाप-मोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याधः स्व-परभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरात्म-नियति-स्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीया। पुनश्चैवं विकल्पाः कर्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः इत्येको विकल्पः। विकल्पार्थश्चायम्—विद्यते खलु आत्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालवादिनः। उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्प ईश्वरकारणिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि, नियतिवादिन. चतुर्थविकल्पः, पञ्चमविकल्पः स्वभाववादिनः। एवं स्वत इत्यजहता लब्धाः पञ्च विकल्पाः। [एवं परतोऽपि पञ्चविकल्पा लब्धव्याः, एवं नित्यत्वेन दश विकविकल्पाः।] एवमनित्यत्वेनापि दशैव, एते विंशतिजीवपदार्थेन लब्धाः। अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विकल्पानाम्। अतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १००)। ४. क्रियां जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. ११७, पृ. २१२); क्रियाम् अस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. १, १२–१, पृ. २१५)।

३ कर्ता के बिना क्रिया सम्भव नहीं है, इसीलिए उसका समवाय आत्मा में है; ऐसा कहने वाले क्रियावादी कहे जाते हैं। इसी उपाय से वे आत्मा आदि के अस्तित्व को जानते हैं।

क्रियाविशाल—१. लेखादिकाः कला द्वासप्ततिः, गुणाश्च चतुःषष्टिः स्त्रैणाः, शिल्पानि काव्यगुणदोष-क्रिया-छन्दोविचितिक्रिया- क्रियाफलोपभोक्तारश्च यत्र व्याख्यातास्तत्क्रियाविशालम्। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ६, पृ. २२४)। २. किरियाविशालं णाम पुव्वं दसण्हं वत्थूणं १०, विसदपाहुडाणं २०० णवकोडिपदेहि ९००००००० लेखादिकाः द्वासप्ततिकलाः स्त्रैणांश्चतुःषष्टिगुणान् शिल्पानि काव्यगुणदोषक्रियां छन्दोविचितिक्रियां च कथयति। (धव. पु. १, पृ. १२२)। ३. किरियाविसालो णट्ट-गेय-लक्खण छंदालंकार-संढ-त्थी-पुरिसलक्खणादीणं वण्णणं कुणई। (जयध. १, पृ. १४८)। ४. नवकोटिपदं द्वासप्ततिकलानां छन्दोऽलंकारादीनां च प्रतिपादकं क्रियाविशालम्। (श्रुतभ. टी. १३)। ५. क्रियाविशालं त्रयोदशम्, तत्र कायिक्यादयः क्रिया, विशालत्ति सभेदाः संयमक्रिया छन्दक्रिया विधानानि च वर्ण्यन्ते, इति क्रियाविशालम्। तत्पदपरिमाणं नवपदको · · · यः। (समवा. अभय. वृ. सू. १४७, पृ. १२१)। ६. छन्दोऽलंकार-व्याकरणकलानिरूपकं नवकोटिपदप्रमाणं क्रियाविशालपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ७. किरियाविसालपुव्वं णवकोडिपदेहिं संजुत्तं॥ संगीदसत्थछेदालंकारादी कला बहत्तरी य। चउसट्ठी इत्थिगुणा चउसीदी जत्थ सिप्पाणं॥ विण्णाणाणि सुगब्भाधाणादी अउसयं च पणवण्णं। सम्मद्दंसणकिरिया वण्णिज्जंते जिणिदेहिं॥ (अंगप. २, ११०–१२, पृ. ३०१)।

१ लेखन आदि ७२ कलाओं, ६४ स्त्री सम्बन्धी गुणों, शिल्पों, काव्य सम्बन्धी गुण-दोषस्वरूप, छन्द का चुनाव और क्रियाफल के उपभोक्ताओं का जहां व्याख्यान किया जाता है उसे क्रियाविशालपूर्व कहते हैं। ५ तेरहवां पूर्व क्रियाविशाल है। जिसमें कायिकी आदि क्रियाओं का विशाल है, अर्थात् जहां संयमक्रिया, छन्दक्रिया और विधानों का सभेद वर्णन किया जाता है, उसे क्रियाविशालपूर्व कहते हैं।

क्रीडनधात्री (उत्पादनदोष)—तथा बालं स्वयं क्रीडयति क्रीडानिमित्तं च क्रियोपदिशति (?) यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रवर्तते, तद्दानं गृह्णाति साधुस्तस्य क्रीडनधात्री नामोत्पादनदोषः। (मूला. वृ. ६–२८)।

साधु दाता के बच्चे को स्वयं खिलाता है तथा खिलाने की विधि का जिस दाता को उपदेश देता है, वह दाता उससे दान में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार दाता के दान में प्रवृत्त होने पर यदि साधु उसके दान को ग्रहण करता है, तो वह क्रीडनधात्री नामक उत्पादन दोष का भागी होता है।

क्रीतदोष—१. द्रव्यादिविनिमयेन स्वीकृतं क्रीतम्। (आचा. शी. वृ. २, १, पृ. ३१७)। २. संयते भिक्षायां प्रविष्टे स्वकीयं परकीयं वा सचित्तादिद्रव्यं दत्त्वाहारं प्रगृह्य ददाति तथा स्वमंत्रं वा स्वविद्यां परविद्यां वा दत्त्वाहारं प्रगृह्य ददाति यत् स क्रीतदोषः। (मूला. वृ. ६–१६)। ३. यत् साध्वर्थं मूल्येन क्रीयते तत्क्रीतम्। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)। ४. × × × स्वान्यगोऽर्थविद्याद्यैः क्रीतमाहृतम्।

(अन. ध. ५-१३); स्वस्यात्मनः सचित्तद्रव्यैर्वृषभादिभिरचित्तद्रव्यैर्वा सुवर्णादिभिर्भावैर्वा प्रज्ञप्त्यादिविद्या-चेटकादिमंत्रलक्षणैः अन्यस्य वा परस्य तैरुभयैर्द्रव्यभावैर्यथासम्भवमाहृतं संयते भिक्षायां प्रविष्टे तान् दत्त्वानीतं यद् भोज्यद्रव्यं तत्क्रीतमिति दोषः। (अन. ध. स्वो. टी. ५-१३)। ५. गवादिना वा सचित्तेन गुडादिना वा अचित्तेन द्रव्येण विद्या-मंत्रादिदानेन वा भावेन क्रीतं क्रीदमित्युच्यते। (भ. आ. मूला. २३०)। ६. विद्यया क्रीतं द्रव्यवस्त्र-भाजनादिना वा यत्क्रीतं तत्क्रीतं कथ्यते। (भावप्रा. टी. ९९)।

२ साधु के भिक्षार्थ घर में प्रवेश करने पर अपने अथवा अन्य के सचित्त या अचित्त द्रव्य को अथवा अपने या अन्य के मंत्रादिक दूसरे को देकर और उससे बदले में भोज्य द्रव्य लेकर दान करने को क्रीतदोष कहते हैं।

क्रीतकारित—क्रीतेन कारितमुत्पादितं क्रीतकारितम्। (व्यव. भा. ३. पृ. ३५)।

मूल्य देकर जो साधु के लिए उत्पन्न कराया जाता है, उसे क्रीतकारित कहते हैं।

क्रीतकृत— क्रयणं क्रीतम्, भावे निष्ठाप्रत्ययः, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृतं निर्वर्तितं क्रीतकृतम्। (दशवै. हरि. वृ. सू. ३-२, पृ. ११६)।

जो साधु के निमित्त मूल्य देकर किया जाता है उसे क्रीतकृत कहते हैं।

क्रूर—बन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराः। (नीतिवा. १४, ३६)।

बन्धुजनों में स्नेह-रहित व्यवहार करने वाले (अवसर्प) को क्रूर कहते हैं।

क्रोध— १. स्व-परोपघात-निरनुग्रहाहितक्रौर्यपरिणामोऽमर्षः क्रोधः। (त. वा. ८, ९, ५)। २. क्रोधः कषायविशेषो मोहकर्मोदयनिष्पन्नोऽप्रीतिलक्षणः प्रद्वेषप्रायः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७-३)। ३. तत्रामर्षोऽप्रीतिर्मन्युलक्षणः क्रोधः। (त. भा. हरि. वृ. ८-२)। ४. कः क्रोधकषायः? रोष आमर्षः संरम्भः क्रोधः। (धव. पु. १, पृ. ३४९); क्रोधः रोषः संरम्भः इत्यनर्थान्तरम्। (धव. पु. ६, पृ. ४१); हृदयदाहाङ्गकम्पाक्षिरागेन्द्रियापाटवादिनिमित्तजीवपरिणामः क्रोधः। (धव. पु. १२, पृ. २८३)। ५. तत्रामर्षोऽप्रीतिर्मन्युलक्षणः क्रोधः, स्वगुणपरिकल्पनानिमित्तत्वात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-२)। ६. स्व-परात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ५, २०)। ७. अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतुः क्रोधः। (नीतिवा. ४-३)। ८. तत्र क्रोधनं क्रुध्यति वा येन सा क्रोधः—क्रोधमोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेषः—क्रोधमोहनीयकर्मैव वेति। (स्थानां. अभय. वृ. ४, १, २४९)। ९. अविचार्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतुः क्रोधः। (धर्मबि. मु. वृ. १-१५)। १०. क्रोधोऽङ्गकम्पदाहाक्षिरागवैवर्ण्यलक्षणः। (आचा. सा. ५-१६)। ११. परस्यात्मनो वा अपायमविचार्य कोपकरणं क्रोधः। (योगशा. स्वो. विव. १-५६)। १२. क्रोधोऽक्षान्तिपरिणतिलक्षणः। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८३)। १३. क्रोधः अप्रीतिपरिणामः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३)।

१ अपने व पर के उपघात और अनुपकार के विचार से जो क्रूरतारूप परिणाम उत्पन्न होता है, उसका नाम क्रोध है। २ मोहनीय कर्म के उदय से जो अप्रीतिरूप द्वेषमय परिणाम उत्पन्न होता है वह क्रोध कहलाता है।

क्रोध (उत्पादनदोष)—१. क्रोधं कृत्वा भिक्षामुत्पादयति आत्मनो यदि तदा क्रोधो नामोत्पादनदोषः। (मूला. वृ. ६-३४)। २. क्रोधादन्नार्जनं क्रोधचतुष्कं × × ×। (आचा. सा. ८-४२)। ३. तत्र हस्तिकल्पनगरे क्रोधबलेन भुक्तवतो मुनेः क्रोधाख्यो दोषः सम्पन्नः। (अन. ध. स्वो. टी. ५, २३)। ४. क्रोधं प्रयुज्योत्पादिता क्रोधदुष्टा। (भ. आ. मूला. टी. २३०)। ५. क्रोधं कृत्वा अन्नोपार्जनं क्रोधः। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ दाता के ऊपर क्रोध प्रगट करके अपने लिए भिक्षा उत्पादन करने को क्रोध नामक उत्पादन दोष कहते हैं।

क्रोधकृतकायसंरम्भ—क्रोधनिमित्तं स्वतंत्रस्य [स्व-परस्य] हिंसाविषयः प्रयत्नावेशः क्रोधकृतकायसंरम्भः। (भ. आ. विजयो. ८११)।

क्रोध के वश अपने या अन्य के घातविषयक प्रयत्न क्रोधकृतकायसंरम्भ कहलाता है।

क्रोधपिण्ड—१. विज्जा-तवप्पभावं रायकुले वाऽवि वल्लभत्तं से। नाउं ओरस्सबलं जो लब्भइ कोधपिंडो सो॥ अन्नेसि दिज्जमाणे जायंतो वा अल-

द्धिओ कुप्पे। कोहफलम्मिऽवि दिट्ठे जो लब्भइ कोहपिंडो सो। (पिंडनि. ४६२-६३)। २. विद्या-तपःप्रभावज्ञापनं राजपूजादिख्यापनं क्रोधफलदर्शनं वा भिक्षार्थं कुर्वतः क्रोधपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८)।

१ अपनी विद्या (उच्चाटन-मारणादि) व तप के प्रभाव को तथा राजकुल में प्राप्त स्नेहभाजनता रूप आभ्यन्तर सामर्थ्य को बतला कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह क्रोधपिण्ड कहलाता है। अथवा अन्य के लिए दिये जाने पर याचना करते हुए भी यदि प्राप्त नहीं होता है तो साधु कुपित होता है। पर साधु का कुपित होना ठीक नहीं, ऐसा जानकर अथवा क्रोध के फलस्वरूप मरण या शाप आदि के निर्दिष्ट करने पर दाता के द्वारा जो आहार दिया जाता है उसे क्रोधपिण्ड जानना चाहिए।

क्रोधवशार्तमरण—अनुबन्धरोषो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मारणवशोऽपि मरणवशो भवति। तस्य क्रोधवशार्तमरणं भवति। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८९)।

क्रोध के वश होकर अपने, अन्य के अथवा दोनों के ही घात में प्रवृत्त होने पर जो स्वयं मृत्यु के वश होता है उसके इस मरण को क्रोधवशार्तमरण कहा जाता है।

क्रोधादिपिण्ड—क्रोध-मान-माया-लोभैरवाप्तः क्रोधादिपिण्डः। (आचा. सू. शी. वृ. २, १, २७३, पृ. ३२०)।

क्रोध, मान, माया, और लोभ के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले आहार को क्रोधादिपिण्ड कहते हैं। यह सोलह उत्पादन दोषों में क्रोधादि के क्रम से ७, ८, ९ और १०वां दोष है।

क्रोश—देखो गव्यूत, गव्यूति। १. ××× दोदंड-सहस्सयं कोसं। (ति. प. १-११५)। २. धणुदु-सहस्सकोसो ×××॥ (संग्रहणी सू. २४७)। ३. द्वौ धनुःसहस्रौ गव्यूतम्। (संग्रहणी दे. वृ. २४५)।

१ दो हजार धनुष का एक कोश होता है।

क्लिश्यमान—१. असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः। (स. सि. ७-११)। २. असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः। असद्वेद्योदयापादितशारीर-मानसदुःखसन्तापात् क्लिश्यन्त इति क्लिश्यमानाः। (त. वा. ७, ११, ७)।

१ असातावेदनीय के उदयजनित पीड़ा के अनुभव से दुखी हुए जीवों को क्लिश्यमान कहते हैं।

क्लीब—देखो नपुंसक। क्लीबः यः स्त्रियाऽभ्यर्थितः कामाभिलाषासहः, स क्लीबः यस्य स्त्रीदर्शनाद् बीजं क्षरति। (आ. दि. पृ. ७४)।

जो स्त्री से प्रार्थित होकर काम की अभिलाषा को नहीं सह सकता है, अथवा स्त्री के दर्शनमात्र से जिसका वीर्य क्षरित हो जाता है उसे क्लीब कहते हैं। ऐसा व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता।

क्लेशवणिज्या—१. अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। (त. वा. ७, २१, २१; चा. सा. पृ. ९)। २. अस्मात् पूर्वादिदेशात् दासी-दासान् अल्पमूल्यसुलभान् आदाय अन्यस्मिन् गुर्जरादिदेशे तद्विक्रयो यदि क्रियते तदा महान् धनलाभो भवेदिति क्लेशवणिज्या कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२१)।

१ इस प्रदेश में दासी-दास सुलभ हैं—अल्प मूल्य में उपलब्ध होते हैं, इन्हें अमुक देश में ले जाकर बेचने पर भारी धनलाभ होगा, इस प्रकार के व्यापार को क्लेशवणिज्या कहते हैं।

क्षण—१. परिमाणोत्प्रदन्तर-(परमाणोस्तदन्तर-) व्यतिक्रमकालः क्षणः। (सिद्धिवि. टी. ५, १६, पृ. ३४६, पं. २७)। २. थोवो खणो णाम। सो च संखेज्जावलियमेत्तो होदि। कुदो? संखेज्जावलियाहि एगो उस्सासो, सत्तुस्सासेहि एगो थोवो होदि त्ति परियम्मवयणादो। (धव. पु. १३, पृ. २९९)।

१ एक परमाणु का दूसरे परमाणु के अतिक्रमण का जो काल है, उसे क्षण (समय) कहते हैं। २ स्तोक का नाम क्षण है और वह स्तोक सात उच्छ्वास प्रमाण होता है।

क्षणलवप्रतिबोधनता (खणलवपडिबुज्झणदा)—खण-लवा णाम कालविसेसा। सम्मद्दंसण-णाण-वद-सीलगुणाणमुज्जालणं कलंकपक्खालणं संधुक्खणं वा पडिबुज्झणं णाम, तस्स भावो पडिबुज्झणदा। खण-लवं पडि पडिबुज्झणदा खण-लवपडिबुज्झणदा। (धव. पु. ८, पृ. ८५)।

क्षण और लव ये काल के भेद हैं। सम्यग्दर्शन,

ज्ञान, व्रत, शील और गुणों का निर्मल करना, अथवा कलंक—कर्ममल—का धोना या भस्म कर देना, इसका नाम प्रतिबोधनता है। प्रत्येक क्षण या लव में इस प्रकार की प्रतिबोधनता का रहना, इसे क्षण-लवप्रतिबोधनता कहते हैं। वह तीर्थंकर प्रकृति की बन्धक षोडशकारणभावनाओं में से एक है।

क्षत्रिय—१. रक्खणकरणनिउत्ता जे तेण नरा महन्तदढसत्ता। ते खत्तिया × × × ॥ (पउमच. ३–११५)। २. क्षत्रियः क्षततस्त्राणात् × × ×। (पद्मपु. ६–२०१)। ३. क्षत्रियाः क्षतितस्त्राणात् × × ×। (ह. पु. ६–३६)। ४. क्षत्रियाः शस्त्र-जीवित्वमनुभूय तदाऽभवन्। (म. पु. १६–१८४); क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः। (म. पु. १६–२४३); × × × क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्। (म. पु. ३८–४६)। ५. 'क्षण हिंसायां' क्षणनानि क्षतानि, तेभ्यस्त्रायत इति क्षत्रियः राजा भवति। (उत्तरा. शा. वृ. ३–४, पृ. १८२)।

१ अतिशय बलशाली जो मनुष्य भगवान् आदिनाथ के द्वारा रक्षणकार्य में नियुक्त किये गये थे वे क्षत्रिय कहलाये।

क्षपक—१. चारित्रमोहक्षपणकारिणः क्षपकाः। (धव. पु. १, पृ. १८२)। २. मोहक्खयं कुणंतो उत्तो खवओ जिणिदेहिं। (भावसं. दे. ६६०)। ३. तपस्वी क्षपकः। (स्थाना. अभय. वृ. ३, ४, २०८)। ४. क्षपकः क्षपकश्रेणिः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ६६६, पृ. ६१)।

१ चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय करने वाले साधुओं को क्षपक कहते हैं।

क्षपकश्रेणी—देखो क्षायिकी श्रेणी। यत्र तत् (मोहनीयकर्म) क्षयमुपगमयन्नुद्गच्छति सा क्षपक-श्रेणी। (त. वा. ६, १, १८)।

मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ आत्मा जिस श्रेणी—अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और क्षीणमोह इन चार गुणस्थानों रूप नसैनी—पर आरूढ़ होता है उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं।

क्षपण—१. खवणं णाम किं? अट्ठण्हं कम्माणं मूलुत्तरभेयभिण्णपयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेसविणासो तं खवणं णाम। (धव. पु. १, पृ. २१५–१६)। २. मान-माया-मदामर्ष-क्षपणात्क्षपणः स्मृतः। (उपासका. ८५६)।

१ आठों कर्मों की मूल व उत्तर भेदभूत प्रकृतियों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धों का जो जीव के निर्मूल विनाश—पृथग्भाव—होता है, इसका नाम क्षपण है। २ क्रोध, मान, माया और मद का क्षय करने वाले जीव को क्षपण कहा जाता है। यह उसकी सार्थक संज्ञा है।

क्षपितकर्मांशिक—१. पल्लासंखियभागोणकम्मट्ठिइ-मच्छिओ णिगोएसु। सुहुमेसुऽभवियजोग्गं जहन्नयं कट्टु णिग्गम्म॥ जोग्गेसुऽसंखवारे सम्मत्तं लभिय देसविरइं च। अट्ठक्खुत्तो विरइं संजोयणहा तइयवारे॥ चउरुवसमित्तु मोहं लहुं खवेंतो भवे खवियकम्मो। पाएण तहिं पगयं पडुच्च काओ वि सविसेसं॥ (कर्मप्र. २, ६४–६६, पृ. १२६)। २. जो जीवो सुहुमणिगोदजीवेसु पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणियं कम्मट्ठिदिमच्छिदो। तत्थ य संसरमाणस्स बहुवा अपज्जत्तभवा, थोवा पज्जत्तभवा। दीहाओ अपज्जत्तद्धाओ, रहस्साओ पज्जत्तद्धाओ। × × × एवं णाणाभवग्गहणेहिं अट्ठसंजमकंडयाणि अणुपालइत्ता चदुक्खुत्तो कसाए उवसामइत्ता पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्ताणि संजमासंजमकंडयाणि सम्मत्तकंडयाणि च अणुपालइत्ता एवं संसरिदूण अपच्छिमे भवग्गहणे पुणरवि पुव्वकोडाउएसु मणुसेसु उववण्णो। सव्वलहुं जोणिणिक्खमणजम्मणेण जादो अट्ठवस्सिओ। संजमं पडिवण्णो। तत्थ य भवट्ठिदिं पुव्वकोडिं देसूण सजममणुपालइत्ता थोवावसेसे जीविदव्वए त्ति य खवणाए अब्भुट्ठिदो। चरिमसमयछदुमत्थो जादो। तस्स चरिमसमयछदुमत्थस्स णाणावरणीयवेदणा दव्वदो जहण्णा। (ष. खं. ४, २, ४, ४६-७५—पु. १०, पृ. २६८–६६)।

२ जो जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन कर्मस्थितिकाल (७० कोड़ाकोड़ि सा.) तक सूक्ष्म निगोद जीवों में रहकर अपर्याप्त व पर्याप्त भवों को यथाक्रम से अधिक व अल्प ग्रहण करता रहा है। इस प्रकार से परिभ्रमण करता हुआ वहां से निकलकर क्रम से बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, पूर्वकोटि प्रमाण आयु वाले मनुष्य, दस हजार वर्ष की आयु वाले देव, बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त, सूक्ष्मनिगोद जीव पर्याप्त और बादर पृथिवीकायिक पर्याप्त; इन जीवों में उत्पन्न होकर यथायोग्य सम्यक्त्व व मिथ्यात्व आदि को प्राप्त होता रहा।

इस प्रकार नाना भवों में परिभ्रमण करता हुआ आठ संयमकांडकों का पालन कर, चार बार कषायों को उपशमा कर, और पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र संयमासंयमकाण्डक व सम्यक्त्वकाण्डकों का परिपालन कर अन्त में फिर से भी जो पूर्वकोटि आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ व वहां सबसे अल्प काल में योनिनिष्क्रमणरूप जन्म से आठ वर्ष का होकर संयम को प्राप्त हुआ। वहां कुछ कम पूर्वकोटि मात्र भवस्थिति तक संयम का परिपालन करते हुए जो थोड़ी सी आयु के शेष रह जाने पर क्षपणा में उद्यत होकर अन्तिम समयवर्ती छद्मस्थ—क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समय को प्राप्त हुआ है; वह क्षपितकर्मांशिक कहलाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों की जघन्य द्रव्यवेदना इसी क्षपितकर्मांशिक के होती है।

क्षमण—१. क्षमणं स्वस्यान्यभूतापराधक्षमा। (भ. आ. विजयो. ७०)। २. क्षमणं स्वस्यान्यकृतापराधक्षमा। (अन. ध. स्वो. टी. ७–६८)।

दूसरों के द्वारा किये गये अपराधों के स्वयं क्षमा करने को क्षमण कहते हैं। यह अर्हं-लिंगादि (अन. ध. पृ. ५३२) में से एक है।

क्षमा—१. कोहुप्पत्तिस्स पुणो वहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं। ण कुणदि किंचि वि कोहं तस्स खमा होदि धम्मो त्ति॥ (द्वादशानु. ७१)। २. शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोश-प्रहसनावज्ञा-ताडन - शरीरव्यापादनादीनां सन्निधाने कालुष्यानुत्पत्तिः क्षमा। (स. सि. ९, ६)। ३. क्षमागुणांश्चानायासादीननुस्मृत्य क्षमितव्यमेवेति क्षमाधर्मः। (त. भा. ९–६, पृ. १९१)। ४. कोहेण जो ण तप्पदि सुर-णर-तिरिएहिं कीरमाणेऽवि। उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खिमा णिम्मला होदि॥ (कार्तिके. ३९४)। ५. क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्योपरमः क्षमा। शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनावज्ञान-ताडन- शरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमेत्युच्यते। (त. वा. ९, ६, २)। ६. क्षमा क्रोधनिग्रहः। (आव. हरि. वृ. ४, पृ. ६६०)। ७. क्षमणं सहनपरिणामः आत्मनः शक्तिमतः अशक्तस्य वा प्रतीकारानुष्ठाने। (त. भा. हरि. वृ. ९–६)। ८. क्षमा सहनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–११); क्षमणं सहनं आत्मनः शक्तिमतः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६)। ९. क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवे कालुष्याभावः क्षमा। (त. श्लो. ९–६)। १०. क्रोधादिनिमित्तसान्निध्येऽपि कालुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः। (भ. आ. विजयो. ४६)। ११. तत्थ खमा आकुट्ठस्स वा तालियस्स वा अहियासेंतस्स कम्मक्खओ भवइ, अणहियासितस्स कम्मबंधो भवइ, तम्हा कोहस्स निग्गहो कायव्वो, उदयपत्तस्स व विफलीकरणं, एस खमत्ति वा तितिक्खत्ति वा कोधनिग्गहे त्ति वा एगट्ठा। (दशवै. चू. पृ. १८)। १२. क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानामत्यन्तं सति संभवे। आक्रोश-ताडनादीनां कालुष्योपरमः क्षमा॥ (त. सा. ६–१४)। १३. तपोबृंहणकारणशरीरस्थितिनिमित्तं निरवद्याहारान्वेषणार्थं परगृहाण्युपसर्पतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशनोत्प्रहसनाऽवज्ञानुताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमा। (चा. सा. पृ. २४)। १४. शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपयतस्तीर्थयात्राद्यर्थं वा पर्यटतो यतेर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनाऽवज्ञा-ताडन-भर्त्सन-शरीरव्यापादनादीनां सन्निधाने स्वान्त कालुष्यानुत्पत्तिः क्षान्तिः। (मूला. वृ. ११–५)। १५. क्षमा-अनभिव्यक्तक्रोध-मानस्वरूपस्य द्वेषसंज्ञितस्याप्रीतिमात्रस्याभावः, अथवा क्रोध-मानयोरुदयनिरोधः। (समवा. अभय. वृ. २७, पृ. ४५)। १६. क्रोधस्यानुत्पाद उत्पन्नस्य वा विफलीकरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१६)। १७. क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधानेऽपि कालुष्योपरमः क्षमा। (अन. ध. स्वो. टी. ६–२)। १८. क्षमा दुर्निवारकालुष्यकारणोत्पत्तावपि कोपाभावः। (सा. ध. स्वो. टी. ५–४७)। १९. कायस्थितिकारणविष्वाणाद्यन्वेषणाय परगृहान् पर्यटतो मुनेर्दुष्टपापिष्टपंचजनानामसह्यगालिप्रदान-बर्करवचनावलेहनपीडाजननकायकायविनाशनादीनां समुत्पत्तौ मनोऽनच्छतानुत्पादः क्षमा कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–६)। २०. तपोबृंहणकारणशरीरस्थितिनिमित्तं निरवद्याहारान्वेषणार्थं परगृहाणि गच्छतो भिक्षोर्भ्रमतः दुष्टमिथ्यादृग्जनाक्रोशनात् प्रहसनाऽवज्ञानुताडन-यष्टि-मुष्टिप्रहार-शरीरव्यापा-

दनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमा प्रोच्यते। (कार्तिके. टी. ३९३)।

१ क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण के प्रत्यक्ष में होने पर भी जरा भी क्रोध नहीं करना, इसका नाम क्षमा है।

क्षमापण— १. खामणं आचार्यादीनां क्षमाग्रहणम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. ७०)। २. क्षमापणमाचार्यादीनां क्षमाग्राहणम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७, ६८)।

१ आचार्य आदि गुरु जनों से क्षमा मांगने को क्षमापण कहते हैं। यह अर्ह-लिंगादि में से एक है।

क्षय—१. क्षयः आत्यन्तिकी निवृत्तिः। (स. सि. २-१)। २. क्षयो निवृत्तिरात्यन्तिकी। यथा तस्यैवाम्भसोऽधःप्रापितपङ्कस्य शुचिभाजनान्तरसंक्रान्तस्य प्रसादः आत्यन्तिकः, तथा आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्तविनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते। (त. वा. २, १, २)। ३. सव्वघादणसत्तीए अभावो खओ उच्चदि। (धव. पु. ५, पृ. १९८); कम्माणं णिम्मूलक्खएणुप्पण्णपरिणामो खओ णाम। (धव. पु. ७, पृ. ६०); खओ णाम अभावो। (धव. पु. ७, पृ. ९०)। ४. तेषां (कर्मणां) आत्यन्तिकी हानिः क्षयः ××× । (त. श्लो. २, १, ३)। ५. (कर्मणाम्) अत्यन्तविश्लेषः क्षयः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ५६)। ६. क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः। (अन. ध. स्वो. टी. २-४६)।

१ कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति को—सर्वथा अभाव को—क्षय कहते हैं।

क्षयोपशम—१. सव्वघादिफद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होदूण देसघादिफद्दयत्तणेण परिणमिय उदयमागच्छंति, तेसिमणंतगुणहीणत्तं खओ णाम, देसघादिफद्दयसरूवेणवट्ठाणमुवसमो, तेहि खओवसमेहि संजुत्तोदओ खओवसमो णाम। (धव. पु. ७, पृ. ९२)। २. ×××तदुभयात्मकः। क्षयोपशम उद्गीतः क्षीणाक्षीणबलत्वतः। (त. श्लो. २, १, ३)। ३. सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते। सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभाव एव क्षयस्तेषामेवास्तित्वमुपशम उच्यते, सर्वघात्युदयाभावलक्षणक्षयेण सहित उपशमः तेषामेकदेशघातिस्पर्द्धकानामुदयश्चेति समुदायेन क्षयोपशमो भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३४; अन. ध. स्वो. टी. २-४६)।

१ सर्वघाति स्पर्द्धक अनन्तगुणहीन होकर देशघाति स्पर्द्धक स्वरूप से परिणत होते हुए उदय को प्राप्त होते हैं, उनकी अनन्तगुणहीनता का नाम क्षय है; उन्हींका देशघाति रूप में अवस्थित रहना, यह उपशम है, इस प्रकार के क्षय और उपशम के साथ जो उदय हुआ करता है, इसे क्षयोपशम कहते हैं।

क्षयोपशमनिमित्त अवधि—१. अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्द्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षयः, तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः, तौ निमित्तमस्येति क्षयोपशमनिमित्तः। (स. सि. १-२२; त. वा. १-२२)। २. गुणपडिवन्न इत्यादि, उत्तरुत्तरचरणगुणविसुज्झमाणवेक्खातो अवधिणाण-दंसणावरणाण खओवसमो भवति, तक्खयोवसमेण अवधि उप्पज्जइ। (नन्दी. चू. पृ. १३। ३. तथा गुणप्रत्ययाः क्षयोपशमनिर्वृत्ताः क्षायोपशमिकाः काश्चन (अवधिज्ञानस्य प्रकृतयः), ताश्च तिर्यङ्नराणाम्। (आव. नि. हरि. वृ. २५)। ४. क्षयनिमित्तोऽवधिः शेषाणामुपशमनिमित्तः। क्षयोपशम निमित्त इति वाक्यभेदात् क्षायिकौपशमिकक्षायोपशमिकसंयमगुणनिमित्तस्यावधिरवगम्यते। कार्ये कारणोपचारात् क्षयादीनां क्षायिकसंयमादिषूपचारः, तथाभिधानोपपत्तेः। (त. श्लो. १-२२, पृ. २४४)। ५. काश्चन पुनरन्यतमा 'गुणप्रत्ययाः' क्षयोपशमेन निर्वृत्ताः क्षायोपशमिकाः, ताश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम्। (आव. नि. मलय. वृ. २५)। ६. संप्रति क्षायोपशमिकस्वरूपं प्रतिपादयति ××× अत्र निर्वचनमभिधातुकाम आह—क्षायोपशमिकं येन कारणेन तदावरणीयानाम्—अवधिज्ञानावरणीयानाम्—कर्मणामुदीर्णानां क्षयेण, अनुदीर्णानाम्—उदयावलिकामप्राप्तानाम् उपशमेन विपाकोदयलक्षणेनावधिज्ञानमुत्पद्यते तेन कारणेन क्षायोपशमिकमित्युच्यते। (नन्दी. सू. मलय. वृ. ८, पृ. ७७)। ७. अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षयः, तेषामेव सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः, क्षयश्च उपशमश्च क्षयोपशमौ, तौ निमित्तं कारणं यस्यावधेः स क्षयोपशमनिमित्तः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२२)।

१ सर्वावधिज्ञानावरणकर्म के सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभावीक्षय, अनुदयप्राप्त उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्द्धकों का उदय होने पर जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशम-निमित्तक अवधि कहते हैं। इसे गुणप्रत्यय अवधि भी कहा जाता है।

क्षयोपशमलब्धि—१. पुव्वसंचिदकम्ममलपडलस्स अणुभागफद्दयाणि जदा विसोहीए पडिसमयमणंतगुणहीणाणि होदूणुदीरिज्जंति तदा खग्रोवसमलद्धी होदि। (धव. पु. ६, पृ. २०४)। २. कम्ममलपडलसत्ती पडिसमयमणंतगुणविहीणकमा। होदूणुदीरदि जदा तदा खग्रोवसमलद्धी दु॥ (ल. सा. ४)। ३. देशघातिस्पर्द्धकानामुत्कृष्टानुभागानन्तैकभागमात्राणामुदये सत्यपि सर्वघातिस्पर्द्धकानामुत्कृष्टानुभागानन्तबहुभागप्रमाणानामुदयाभावः क्षयः, तेषामेवानुदयप्राप्तानां कर्मस्वभावेन सदवस्था उपशमः, तयोर्लब्धिः क्षयोपशमलब्धिः। (ल. सा. टी. ४)।

१ पूर्वसंचित कर्मों के अनुभागस्पर्द्धक जब विशुद्धि के वश प्रतिसमय अनंतगुणे हीन होकर उदीरणा को प्राप्त होते हैं तब क्षयोपशमलब्धि होती है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व— देखो क्षायोपशमिक। १. मिच्छत्तं जमुदिन्नं तं खीणं अणुइयं च उवसंतं। मीसीभावपरिणयं वेयिज्जंतं खग्रोवसमं। (श्रा. प्र. ४४)। २. क्षयो मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च उदितानां देशतो निर्मूलनाशः, अनुदितानां चोपशमः, क्षयेण युक्त उपशमः, स प्रयोजनमस्य क्षायोपशमिकम्। तच्च सत्कर्मवेदनाद्वेदकमप्युच्यते। (योगशा. स्वो. विव. २-२)।

१ जो मिथ्यात्व उदय को प्राप्त हुआ है वह क्षीण और जो उदय को अप्राप्त है वह उपशान्त है, इस प्रकार क्षय के साथ उपशमरूप मिश्र अवस्था को प्राप्त होना, इसका नाम क्षयोपशम है। इस प्रकार के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले तत्त्वार्थश्रद्धान को क्षयोपशम या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षान्ति—देखो क्षमा। १. क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः। (स. सि. ६-१२)। २. धर्मप्रणिधानात् क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः। क्रोधादेः कषायस्य शुभपरिणामभावनापूर्विकानिवृत्तिः क्षान्तिरित्युच्यते। (त. वा. ६, १२, ६)। ३. क्षान्तिश्च आक्रोशादिश्रवणेऽपि क्रोधत्यागश्च। (दशवै. नि. हरि. वृ. ३४६)। ४. धर्मप्रणिधानात् क्रोधनिवृत्तिर्मनोवाक्कायैः क्षान्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१३)। ५. धर्मप्रणिधानात् क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः। (त. श्लो. ६-१२)। ६. क्षान्तिः क्रोधोदयनिग्रहः। (औपपा. अभय. वृ. १६, पृ. ३३)। ७. क्षान्तिः क्षमा शक्तस्याशक्तस्य वा सहनपरिणामः। (योगशा. स्वो. विव. ६३)। ८. क्षान्तिर्गणक्षमापणा। (अन. ध. स्वो. टी. ७-६८)।

१ क्रोध आदि के अभाव को क्षान्ति कहते हैं।

क्षायिक-अनन्त-उपभोग—१. निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात् प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः क्षायिकः, यतः सिंहासन-चामर-छत्रत्रयादयो विभूतयः। (स. सि. २-४)। २. निरवशेषोपभोगान्तरायप्रलयादनन्तोपभोगः क्षायिकः। निरवशेषस्योपभोगान्तरायकर्मणः प्रलयात् प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः क्षायिको यत्कृताः सिंहासन-बालव्यजनाशोकपादप-छत्रत्रय - प्रभामण्डल-गम्भीरस्निग्धस्वरपरिणामदेवदुन्दुभिप्रभृतयो भावाः। (त. वा. २, ४, ५)। ३. उपभोगान्तरायक्षयात् क्षायिकोऽनन्त उपभोगः। कोऽसो उपभोगः? सिंहासन-चामर-छत्रत्रयादिकः। (त. वृत्ति श्रुत. २-४)।

१ निःशेष उपभोगान्तराय कर्म के क्षय से केवली को जो सिंहासन, चामर और छत्रत्रय आदिरूप विभूतियाँ प्राप्त होती हैं उन्हें क्षायिक अनन्त उपभोग कहते हैं।

क्षायिक-अनन्तभोग—१. कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतो अतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिकः, यतः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति। (स. सि. २-४)। २. कृत्स्नभोगान्तरायतिरोभावात् परमप्रकृष्टो भोगः। कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिकः, यत्कृताः पञ्चवर्णसुरभिकुसुमवृष्टि-विविधदिव्यगन्ध- चरणनिक्षेपस्थानसप्तपद्मपंक्तिसुगन्धिधूप-सुखशीतमारुतादयो भावाः। (त. वा. २, ४, ४)।

१ सम्पूर्ण भोगान्तराय कर्म के विनाश से जो पुष्पवृष्टि आदि रूप अतिशयवान् अनन्त भोगसामग्री प्राप्त होती है उसे क्षायिक अनन्त भोग कहते हैं।

क्षायिक-अनन्तवीर्य—१. वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तक्षयादाविर्भूतमनन्तवीर्यं क्षायिकम्। (स. सि.

२–४)। २. वीर्यान्तरायस्यात्यन्तसंक्षयादनन्तवीर्यम्। आत्मनः सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धिनो वीर्यान्तरायकर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादुद्भूतवृत्तिः क्षायिकमनन्तवीर्यम्। (त. वा. २, ४, ६)। ३. वीर्यान्तरायक्षयात् क्षायिकमनन्तवीर्यम्। किं तत् क्षायिकं वीर्यम्? यद्बलात् केवलज्ञानेन केवलदर्शनेन च कृत्वा सर्वद्रव्याणि सर्वपर्यायांश्च ज्ञातुं द्रष्टुं च केवली शक्नोति। (त. वृत्ति श्रुत. २–४)।

१ वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से केवली के जो अनन्त शक्ति प्रगट होती है उसे क्षायिक अनन्तवीर्य कहते हैं।

क्षायिक अभयदान—१. दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम्। (स. सि. २–४)। २. अनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं सकलदानान्तरायक्षयादभयदानम्। दानान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादाविर्भूतं त्रिकालगोचरानन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम्। (त. वा. २, ४, २)। ३. दानान्तरायक्षयात् क्षायिकमनन्तप्राणिगणानुग्रहकरमभयदानम्। (त. वृत्ति श्रुत. २–४)।

१ दानान्तरायकर्म के निःशेष विनाश से त्रिकालवर्ती अनन्त प्राणियों का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान प्रगट होता है।

क्षायिक उपभोग—१. उपभोगः क्षायिकः, सोऽप्युचितोपभोगसाधनावाप्त्यबन्धहेतुरेव। ××× पुनरुपभुज्यत इत्युपभोग। (त. भा. हरि. वृ. २–४)। २. विषयसम्पदि सत्यां तथोत्तरगुणप्रकर्षात् तदनुभव उपभोगः, पुनः पुनरुपभोगाद् वा वस्त्र-पात्रादिरुपभोगः। स च निरवशेषउपभोगान्तरायकर्मणि क्षीणे यथेष्टमुपतिष्ठते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–४)।

१ उपभोगान्तराय कर्म के पूर्णतया विनष्ट हो जाने पर यथेष्ट जो उपभोग के साधन उपस्थित रहते हैं, इस का नाम क्षायिक उपभोग है।

क्षायिक चारित्र—१. चारित्रमपि तथा (पञ्चविंशतिविकल्पस्य चारित्रमोहनीयस्य निरवशेषक्षयात् क्षायिकं चारित्रम्)। (स. सि. २–४)। २ पूर्वोक्तमोहप्रकृतिनिरवशेषक्षयात् सम्यक्त्व-चारित्रे। पूर्वोक्तस्य दर्शनमोहत्रिकस्य चारित्रस्य च पञ्चविंशतिविकल्पस्य निरवशेषक्षयात् क्षायिके सम्यक्त्व-

ल. ४१

चारित्रे भवतः (त. वा. २, ४, ७)। ३. चारित्तमोहक्खएण समुप्पण्णं खइयं चारित्तं। (ध. पु. १४, पृ. १६)। ४. वरचरणं उवसमदो खयदो दुचरित्तमोहस्य। (ल. सा. ६०६)। ५. षोडशकषायनवनोकषायक्षयात् क्षायिकं चारित्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. २–४)।

१ पच्चीस प्रकार के समस्त चारित्रमोहनीय के क्षय से उत्पन्न होनेवाले चारित्र (यथाख्यातचारित्र) को क्षायिक चारित्र कहते हैं।

क्षायिक ज्ञान—१. जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समं तदो सव्वं। अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥ (प्रव. सा. १–४७)। २. ज्ञानावरणस्यात्यन्तक्षयात् केवलज्ञानं क्षायिकम्। (स. सि. २–४)। ३. ज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकज्ञानं केवलम्। (त. श्लो. २–४)।

१ जो ज्ञान तात्कालिक (वर्तमान) और इतर—अतीत व अनागत—तीनों काल सम्बन्धी अनेक भेदरूप सभी पदार्थों को एक साथ जानता है, उसे क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) कहा जाता है।

क्षायिक दान—देखो क्षायिक अभयदान। १. प्रयच्छनाविघातकारि दानं क्षायिकम्। (त. भा. हरि वृ. २–४)। २. तच्च सकलदानान्तरायक्षयादेकस्मादपि तृणाग्रात् त्रिभुवनविस्मयकरं यथेप्सितमर्थिनो न जातुचित् प्रतिहन्यते प्रयच्छत इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–४)।

१ क्षायिक दान वह कहलाता है जिसके प्रभाव से देते समय किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती।

क्षायिक भाव—१. क्षयः कर्मणोऽत्यन्तविनाशः, स एव क्षायिकस्तत्र भवस्तेन वा निर्वृत्त इति। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ३७)। तथा (क्षयः) तदत्यन्तापचयः प्रयोजनमस्येति तेन वा निर्वृत्त इति। (त. भा. हरि. वृ. २–१)। २. ज्ञानादिघातिनां पुद्गलानां य आत्यन्तिकोऽत्ययः सः क्षयः, तेन निर्वृत्तोऽध्यवसायः क्षायिक उच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५ पृ. ४८); तथा तदत्यन्तात्ययात् स क्षयः, स प्रयोजनमस्य तेन वा निर्वृत्त इति क्षायिकः, भवन भावः, तेन पर्यायेण आत्मलाभः, ××× तथा क्षायिकशब्देन त एव दर्शनादिपर्यायाः श्रद्धानादिलक्षणाः क्षीणाशेष-

स्वविघातिकर्मांशाः प्रतिपाद्यन्त आत्मनः स्वरूपतयेति । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-१) । ३. आत्यन्तिकी निवृत्तिः क्षयः, क्षयः प्रयोजनमस्येति क्षायिकम् । (आरा. सा. टी. ४) । ४. कर्मक्षयस्वभावः पुनः शुभः सर्वः क्षायिकः । (आव. भा. मलय. वृ. १८६, पृ. ५७८) । ५. कर्मणः क्षयणं क्षयः, यथा पंकात् पृथग्भूतस्य शुचिभाजनान्तरसंक्रान्तस्य अम्बुनः अत्यन्तस्वच्छता भवति, तथा जीवस्य कर्मणः आत्यन्तिकी निवृत्तिः क्षयः, क्षयः प्रयोजनं यस्य भावस्य स क्षायिकः । (त. वृत्ति. श्रुत. २-१) । ६. यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् । जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥ (पंचाध्या. २-९७१) ।

२ ज्ञानादि के विघातक पुद्गलों—ज्ञानावरणादि कर्मस्कन्धों—के अत्यन्त विनाश से जो अध्यवसाय—आत्मपरिणाम—होता है, वह क्षायिक भाव कहलाता है ।

क्षायिक भावलोक—कर्मणः क्षयेण निर्वृत्तः क्षायिकः । (आव. भा. मलय. वृत्ति २०२, पृ. ५९३) ।

कर्म के क्षय से जो उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भावलोक कहते हैं ।

क्षायिक भावसिद्ध—जरथेणं ति अर्यमाणेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण सर्वथा क्षपयित्वा साधितवान् यद् यस्मात् क्षायिकं भावं ततोऽसौ क्षायिकभावसिद्धः । (सिद्धप्रा. टी. गा. ५) ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप सूर्य के प्रभाव से कर्म का सर्वथा क्षय करके चूंकि क्षायिक भाव को सिद्ध किया गया है, अतः ऐसे मुक्त जीव को क्षायिकभावसिद्ध कहा जाता है ।

क्षायिक भोग—देखो क्षायिक अनन्तभोग । १. जा खइया भोगलद्धी सो वि खइओ अविभागपच्चइयो जीवभावबंधो, भोगंतराइयक्खएण समुप्पत्तीदो । (धव. पु. १४, पृ. १७) । २. पुरुषार्थसाधनप्राप्ताअविघ्नकृद् भोगः क्षायिकः उचितभोगसाधनावाप्त्यवन्ध्यहेतुः । (त, भा. हरि. वृ. २-४) ।

२ जो पुरुषार्थ के साधनों की प्राप्ति में सम्भव विघ्नों को दूर करनेवाला है, उसे क्षायिक भोग कहा जाता है । वह उचित भोगों के साधनों की प्राप्तिका सफल हेतु है ।

क्षायिक लाभ—१. लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयन्ति स क्षायिको लाभः । (स. सि. २-४) । २. अशेषलाभान्तरायनिरासात् परमशुभपुद्गलानामादानं लाभः । लाभान्तरायस्याशेषनिरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवो अन्यकनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । (त. वा. २, ४, ३) । ३. प्राप्त्यविघातकारी लाभः क्षायिकः पुरुषार्थसाधनप्राप्ताविघ्नकृत् । (त. भा. हरि. वृ. २-४) । ४. लाभ इति परस्माच्चतुर्वर्गस्यान्यतमसमस्तसाधनप्राप्तिः, स चाशेषलाभान्तरायकर्मक्षयादचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिराविर्भवति, येन यत् प्रार्थयते तत् समस्तमेव लभते, न तु प्रतिषिध्यते । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-४) । ५. जा खइया लाहलद्धी सो खइओ अविभागपच्चइओ जीवभावबंधो, लाहंतरायक्खएण समुप्पत्तीदो । (धव. पु. १४, पृ. १७) ।

१ समस्त लाभान्तराय के क्षय से कवलाहार क्रिया से रहित केवलियों के शरीर को बल प्रदान करने वाले जो अत्यन्त शुभ व सूक्ष्म अनन्त असाधारण पुद्गल प्रतिसमय सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, यह क्षायिक लाभ कहलाता है । ३ प्राप्ति में सम्भव विघ्नों को जो दूर किया करता है, उसे क्षायिक लाभ कहते हैं । वह पुरुषार्थ के साधनों की प्राप्ति में निर्विघ्नता को करता है ।

क्षायिक वीर्य—देखो क्षायिक अनन्तवीर्य । वीर्यं क्षायिकमशेषवीर्यान्तरायक्षयजम्, तेन यदुचितं तत्सर्वं करोति । (त. भा. हरि. वृ. २-४) ।

समस्त वीर्यान्तराय के क्षय से प्रादुर्भूत होने वाले क्षायिक वीर्य से जीव उचित सब कुछ करता है ।

क्षायिक सम्यक्त्व—१. पूर्वोक्तानां अनन्तानुबन्धिक्रोध-मान माया-लोभानां सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्वानां च सप्तानां प्रकृतीनामत्यन्तक्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम् । (स. सि. २-४) । २. दंसणमोहे खीणे खयदिट्ठी होइ निरवसेसम्मि । केण उ सम्मो मोहो पडुच्च पुव्वं तु पण्णवणं ॥ (बृहत्क. भा. १११) । ३. खीणे दंसणमोहे जं

सद्दहणं सुणिम्मलं होइ। तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेउं ॥ (प्रा. पंचसं. १–१६०; धव. पु. १, पृ. ३९५ उद्धृत, गो. जी. ६४५)। ४. खीणे दंसणमोहे तिविहंमिवि भवनियाणभूयं मि। निप्पच्चवायमउलं सम्मत्तं खाइयं होइ। (श्रा.प्र. ४८; धर्मसं. हरि. ८०१)। ५. सत्तपयडिक्खएणुप्पण्णसम्मत्तं खइयं। (धव. पु. १, पृ. १७२); दंसणमोहणीयस्स खयेण खइयं सम्मत्तं होदि। (धव. पु. ७, पृ. १०७); जं खइयं सम्मत्तं तं पि खइयो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो, दंसणमोहक्खएण समुप्पत्तीदो। (धव. पु. १४, पृ. १६)। ६. सप्तप्रकृतिनिर्मूलक्षयात् क्षायिकमागतः ॥ (म. पु. ७४–४३९)। ७. दर्शनसप्तकक्षयात् क्षायिकं केवलसम्यक्त्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०–५)। ८. तासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिकं दर्शनम्। (भ. आ. विजयो. टी. ३१)। ९. सत्तण्हं पयडीणं ××× । खयदो य होइ खइयं केवलिमूले मणूसस्स ॥ (कार्तिके. ३०८)। १०. कोहचउक्कं पढमं अणंतबंधीणि णामयं भणिय। सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तयं तिण्णि ॥ एएसि सत्तण्हं ××× । खयओ खइयं जायं अचलत्तं णिम्मलं सुद्ध ॥ (भावसं. दे. २६६–६७)। ११. सत्तण्हं ×××। खयादु खइयो य। (गो. जी. २६)। १२. सत्तण्हं पयडीणं खयादु खइयं तु होदि सम्मत्त। मेरुं व णिप्पकंपं सुणिम्मलं अक्खयमणंतं। (ल. सा. १६३)। १३. क्षपयित्वा परः कश्चित्कर्मप्रकृतिसप्तकम्। आदत्ते क्षायिकं पूतं सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥ (अमित. श्रा. २–५४)। १४. व्रजन्ति सप्तापि कलं यदा क्षयं तदाङ्गिनां क्षायिकमक्षयं मतम् ॥ (धर्मप. २०–७०)। १५. केवलज्ञानादिगुणास्पदनिजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं यत्पूर्वं तपश्चरणावस्थायां भावितं तस्य फलभूतं समस्तजीवादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितपरिणतिरूपं परमक्षायिकसम्यक्त्वं भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. १४)। १६. शुद्धात्मादिपदार्थविषये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षायिकसम्यक्त्वमिति भण्यते। (परमा. वृ. ६१)। १७. क्षयो मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च निर्मूलनाशः, क्षयः प्रयोजनमस्येति क्षायिकम्। तच्च साद्यनन्तम्। (योगशा. स्वो. विव. २–२)। १८. मिथ्यात्वस्याथ मिश्रस्य सम्यग्जाते परिक्षये। क्षायिकसंमुखीनस्य सम्यक्त्वान्त्यांशभोगिनः ॥ शुभभावस्य प्रक्षीणसप्तकस्य शरीरिणः। सम्यक्त्वं क्षायिकं नाम पञ्चमं जायते पुनः ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६०६–७)। १९. सम्मत्त-मीस-मिच्छत्तकम्मक्खयओ भणंति तं खइयं। (प्रव. सारो. ९४४)। २०. तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पङ्कवत् स्फटिकेऽम्बुवत्। शुद्धेऽतिशुद्धं क्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम् ॥ (अन. ध. २–५५)। २१. तेषामेव क्षयात् क्षायिकम्। (भ. आ. मूला. टी. ३१)। २२. अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयक्षयानन्तरं मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व-पुञ्जलक्षणे त्रिविधेऽपि दर्शनमोहनीयकर्मणि सर्वथा-क्षीणे क्षायिकं सम्यक्त्वं भवति। (प्रव. सारो. वृ. ९४४, पृ. २८१); क्षायिकसम्यक्त्वमपि दर्शनमोहसप्तकक्षये। (प्रव. सारो. वृ. १२९१, पृ. ३७१)। २३. त्रिविधस्यापि दर्शनमोहनीयस्य क्षयेणात्यन्तोच्छेदेन निर्वृत्तं क्षायिकम्। (षडशी. मलय. वृ. १७, पृ. २१)। २४. मिथ्यात्वादिक्षयेण निर्वृत्तं क्षायिकम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ८०१, पृ. २८७)। २५. दंसणमोहं ति हवे मिच्छं मिस्सत्त सम्मपयडित्ती। अणकोहादी एदा णिद्दिट्ठा सत्तपयडीओ ॥ सत्तण्हं ××× खयादु खइओ य। (भावत्रि. ८–९)। २६. एतासामेव सप्तप्रकृतीनां क्षयात् प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशैः कर्मत्वपरिणतपुद्गलस्कन्धस्य कर्मरूपत्वपरित्यागात् क्षायिकं सम्यक्त्वं भवति। (गो. जी. म. प्र. टी. २६)। २७. दृग्मोहक्षयसंभूतौ यच्छ्रद्धानमनुत्तरम्। भवेत्क्षायिकं नित्यं कर्मसंघातघातकम् ॥ (भावसं. वाम. ४१९)। २८. सप्तानां प्रकृतीनां तत्क्षयात् क्षायिकमुच्यते। आदौ केवलिमूले स्यान्नृत्वे तदनु सर्वतः ॥ (धर्मसं. श्रा. ४–६८)। २९. अनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभ-सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यक्प्रकृतिलक्षणसप्तप्रकृतिक्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. २–४)। ३०. सप्तप्रकृतीनां क्षयात् निरवशेषनाशात् क्षायिकं सम्यक्त्वम्। (कार्तिके. टी. ३०८)।

१ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व; इन सात प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय से जो सम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि—१. ततः प्रशम-संवेगादि-

मान् जिनेन्द्रभक्तिप्रवर्धितविपुलभावनाविशेषसंभारो यत्र केवलिनः सन्ति भगवन्तस्तत्र मोहं क्षपयितुमारभते, निष्ठापकः पुनश्चतसृषु गतिषु भवति, स निराकृतमिथ्यात्वः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। (त. वा. ६–४५)। २. दंसण-चरणगुणघाइ चत्तारि अणंताणुबंधिपयडीओ मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि दंसणमोहणीयपयडीओ च, एदासिं सत्तण्हं निरवसेसक्खएण खइयसम्माइट्ठी उच्चइ। (धव. पु. १, पृ. १७१); दंसणमोहणीयस्स णिस्सेसविणासो खओ णाम। तम्हि उप्पण्णजीवपरिणामो लद्धी णाम, तीए लद्धीए खइयसम्माइट्ठी होदि। (धव. पु. ७, पृ. १०८)।

१ वेदकसम्यग्दृष्टि होकर प्रशम-संवेगादि से सहित होते हुए जिनेन्द्रभक्ति के प्रभाव से जिसकी भावनाओं का समुदाय वृद्धिगत हुआ है, ऐसा मनुष्य जहाँ केवली भगवान् विराजमान हैं वहाँ मोह (दर्शनमोहनीय) की क्षपणा को प्रारम्भ करता है, पर निष्ठापक (समापक) वह चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकता है। इस प्रकार वह मिथ्यात्व का निराकरण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

क्षायिकी दृष्टि—देखो क्षायिक सम्यक्त्व। क्षयो मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वानां तिसृणां दर्शनमोहप्रकृतीनामनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभाख्यानां चतसृणां चारित्रमोहप्रकृतीनां चात्यन्तिको विश्लेषः, क्षयः प्रयोजनमस्या इति क्षायिकी। (अन. ध. स्वो. टी. २–११४)।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन दर्शनमोहनीय प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार चारित्रमोहनीय प्रकृतियों के आत्यन्तिक विनाश का नाम क्षय है, जिस दृष्टि का प्रयोजन इस क्षय को उत्पन्न करना है, वह क्षायिकी दृष्टि कही जाती है।

क्षायिकी श्रेणी—देखो क्षपकश्रेणी। १. क्षायिकीं तु श्रेणिमनन्तानुबन्धिनो मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्वानि अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणे नपुंसक-स्त्रीवेदौ हास्यादिषट्कं पुंवेदः संज्वलनाश्च। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९-१८)। २. अस्याश्चारोहकः अविरत-देश-प्रमत्ताप्रमत्ता[स] विरतानामन्यतमो विशुद्धमानाध्यवसायः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १८)।

अनन्तानुबन्धी, मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि छह, पुंवेद और संज्वलन; ये प्रकृतियाँ क्षायिकी श्रेणी हैं—इनके क्षयको गुणस्थानपंक्ति क्षायिकी श्रेणी कही जाती है। इसका आरोहक अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत; इनमें कोई भी एक विशुद्धयमान अध्यवसाय (परिणाम) वाला हो सकता है।

क्षायोपशमिक अवधि—१. क्षायोपशमिकं तदावरणीयानाम्—अवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणाम् उदीर्णानाम् उदयावलिकाप्राप्तानां क्षयेण प्रलयेन, अनुदीर्णानां चात्मनि व्यवस्थितानामुपशमेन उदयनिरोधेन अवधिज्ञानमुत्पद्यते इति सम्बन्धः। यत एवमतः कर्मोदयानुदयविषयम्। अथवा येन तदावरणीयानां कर्मणां उदीर्णानां क्षयेणानुदीर्णानामुपशमेनावधिज्ञानमुत्पद्यते तेन क्षायोपशमिकमित्युच्यत इति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ३०)। २. यदा अवधिज्ञान-दर्शनावरणीयकर्मणां क्षयः परिशाटः संजातो भवत्युदितानामनुदितानां चोपशमः उदयविघातलक्षणः संवृत्तो भवति स उपशमस्ताभ्यां क्षयोपशमाभ्यां कारणभूताभ्यां य उदेति स क्षयोपशमनिमित्तः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२१)। ३. क्षायोपशमिकं येन कारणेन तदावरणीयाणाम् अवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणामुदीर्णानां क्षयेण, अनुदीर्णानाम् उदयावलिकामप्राप्तानामुपशमेन विपाकोदयविष्कम्भणलक्षणेनावधिज्ञानमुत्पद्यते, तेन कारणेन क्षायोपशमिकमित्युच्यते। (नन्दी. मलय. वृ. सू. ८, पृ. ७७)। ४. तथावधिज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य वेदनेन योऽपगमः स क्षयोऽनुदयावस्थस्य विपाकोदयाविष्कम्भणमुपशमः, क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ, ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३–३१७, पृ. ५३९)।

१ उदीर्ण—उदयावलि को प्राप्त—अवधिज्ञानावरण प्रकृतियों के क्षय से तथा अनुदीर्ण—आत्मा में अवस्थित—उक्त प्रकृतियों के उपशम—उदयनिरोध—से जो असंख्यात भेदरूप अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है।

क्षायोपशमिक-अवधिज्ञानावरणीय — गुणपरिणामप्रत्ययाः क्षयोपशमनिर्वृत्ताः क्षायोपशमिकाः। (आव. हरि. वृ. नि. २५, पृ. २७)।

क्षयोपशम से रचित अवधिज्ञानावरणप्रकृतियां क्षायोपशमिक या गुणपरिणामप्रत्यय कहलाती हैं और वे मनुष्य व तिर्यंचों के होती हैं।

क्षायोपशमिक गुण—कर्मणां क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। (धव. पु. १, पृ. १६१)।

कर्मों के क्षय और उपशम (क्षयोपशम) से जो गुण उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशमिक गुण कहते हैं

क्षायोपशमिकगुणयोग — ओहि-मणपज्जयादीहि जीवस्स जोगो खओवसमियगुणजोगो णाम। (धव. पु. १०, पृ. ४३३)।

अवधि और मनःपर्यय आदि गुणों के साथ जो जीव का सम्बन्ध होता है उसे क्षायोपशमिक सचित्तगुणयोग कहते हैं।

क्षायोपशमिक चारित्र—अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात् सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासम्भवोदये च निर्वृत्तिपरिणामः आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्। (स. सि. २–५; त. वा. २, ५, ८)।

अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों के उदयाभावी क्षय से, उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से तथा संज्वलनकषायचतुष्क में से किसी एक के देशघातिस्पर्द्धकों के उदय से और नौ नोकषायों में से यथासम्भव उदय होने पर जो विषय-कषायों से आत्मा में निवृत्ति परिणाम उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

क्षायोपशमिक ज्ञान—१. मतिज्ञानाद्यावरण-वीर्यान्तरायकर्मद्रव्याणामनुभागस्य सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षयः, तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमः, क्षयश्चासौ उपशमश्च क्षयोपशमः, तत्र भवानि तत्प्रयोजनानि वा क्षायोपशमिकानि। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३००)। २. क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम्। आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात्॥ (पंचाध्या. २-१२१); तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः। क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्यान्तरं स्वतः॥ (पंचाध्या. २–२६२)।

१ मतिज्ञानावरणादि और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभावी क्षय से तथा अनुदयप्राप्त उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से होने वाले मति आदि ज्ञानों को क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं।

क्षायोपशमिक भाव—१. उभयात्मको मिश्रः। (स. सि. २–१); सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति। (स. सि. २–५)। २. **सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः।** ××× तत्र यदा सर्वघातिस्पर्द्धकस्योदयो भवति तदेषदप्यात्मगुणस्याभिव्यक्तिर्नास्ति, तस्मात्तदुदयस्याभावः क्षय इत्युच्यते, तस्यैव सर्वघातिस्पर्द्धकस्यानुदयप्राप्तस्य सदवस्था उपशम इत्युच्यते, अनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तित्वात् आत्मसाद्भावितसर्वघातिस्पर्द्धकस्योदयक्षये देशघातिस्पर्द्धकस्य चोदये सति सर्वघात्यभावादुपलभ्यमानो भावः क्षायोपशमिक इत्युच्यते। (त. वा. २, ५, ३)। ३. कर्मण एव कस्यचिदंशस्य क्षयः, कस्यचिदुपशमः, ततश्च क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमो, ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः। (अनु. यो. हरि. वृ. पृ. ३८)। ४. क्षयोपशमाभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः। (त. भा. हरि. वृ. २-१)। ५. कम्मोदए संते वि जं जीवगुणक्खंडमुवलंभदि सो खओवसमिओ भावो णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८५); पडिबंधिकम्मोदए संते वि जो उवलब्भइ जीवगुणो सो खओवसमिओ उच्चइ। कुदो? सव्वघादणसत्तीए अभावो खओ उच्चदि, खओ चेव उवसमो खओवसमो, तम्हि जादो भावो खओवसमिओ। (धव. पु. ५, पृ. १९८); सम्मत्तस्स देसघादिफद्दयाण उदएण सह वट्टमाणो सम्मत्तपरिणामो खओवसमिओ। (धव. पु. ५, पृ. २००)। ६. तथा ज्ञानादिघातिनां पुद्गलानां क्षयोपशमौ—केचित् क्षपिताः केचिदुपशान्ता इति क्षयोपशमावुच्येते, ताभ्यां निर्वृत्तोऽध्यवसायः क्षायोपशमिकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४८); क्षयोपशमाभ्यां निर्वृत्तो मिश्रः प्रजायते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-१)। ७. सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् तद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदयात् क्षायोपशमिको

भावः। (त. श्लो. २-५)। ८. कर्मणां फलदानसमर्थतयोद्भूतिरुदयः, अनुद्भूतिरुपशमः, उद्भूत्यनुद्भूती क्षयोपशमः, ××× क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ५६)। ९. कर्मणां च क्षयश्च उपशमश्च क्षयोपशमः, तत्र भवो भावो ×××। (सिद्धिवि. वृ. ४-१२, पृ. २७१, पं. १६)। १०. उदयो जीवस्स गुणो खओवसमिओ हवे भावो। (गो. क. ८१४)। ११. सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभाव एव क्षयस्तेषामेवास्तित्वमुपशम उच्यते, सर्वघात्युदयाभावलक्षणक्षयेण सहित उपशमः तेषामेकदेशघातिस्पर्द्धकानामुदयश्चेति समुदायेन क्षयोपशमो भण्यते। क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिको भावः। अथवा देशघातिस्पर्द्धकोदये सति जीव एकदेशेन ज्ञानादिगुणं लभते यत्र स क्षायोपशमिको भावः। (बृ. द्रव्यसंग्रह टी. ३४)। १२. तथा क्षयश्च अभावः, उदयावस्थस्य उपशमश्च विष्कम्भितोदयत्वम्, तदन्यस्य क्षयोपशमो, ताभ्यां निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४८, पृ. ३३)। १३. कर्मक्षयोपशमनिष्पन्नः शुभाशुभः सर्वः क्षायोपशमिकः। (आव. भा. मलय. वृ. १८१, पृ. ५७८); उदितकर्मांशस्य क्षयेण अनुदितस्योपशमेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः। (आव. भा. मलय. वृ. २०२, पृ. ५६३)। १४. यो भावः सर्वतो घातिस्पर्द्धकानुदयोद्भवः। क्षायोपशमिको स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥ (पंचाध्या. २-९६६)।

१ सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयक्षय (उदयाभाव), उन्हीं का सद्वस्थारूप उपशम और देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। ५ प्रतिबन्धक कर्म के उदय के होने पर भी जो जीवगुण का अंश पाया जाता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—१. अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात् सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्द्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। (स. सि. २-५; त. वा. २, ५, ८)। २. जो उ उदिन्ने खीणे मिच्छे अणुदिन्नगम्मि उवसंते। सम्मीसभावपरिणतो वेयंतो पोग्गले मीसे ॥ जो चरमपोग्गले पुण वेदेती वेयगं तयं विंति। केसिं च अणादेसो वेयगदिट्ठी खओवसमो ॥ (बृहत्क. १२९-३०)। ३. मिच्छत्तं जमुदिन्नं तं खीणं अणुइयं च उवसंतं। मीसीभावपरिणयं वेयिज्जंतं खओवसमं ॥ (श्रा. प्र. ४४; धर्मसं. हरि. ७१७)। ४. सम्मत्तदेसघादिवेदयसम्मत्तुदएणुप्पण्णवेदयसम्मत्तं खओवसमियं। (धव. पु. १, पृ. १७२); सम्मत्तस्स देसघादिफद्दयाणमुदएण सह वट्टमाणो सम्मत्तपरिणामो खओवसमिओ। (धव. पु. ५, पृ. २००); वेदगसम्मत्तस्स दंसणमोहणीयावयवस्स देसघादिलक्खणस्स उदयादो उप्पण्णसम्मादिट्ठिभावो खओवसमिओ। (धव. पु. ५, पृ. २११)। ५. तासामेव कासांचिदुपशमात् अन्यासां च क्षयादुपजातं श्रद्धानं क्षायोपशमिकम्। (भ. आ. विजयो. टी. ३१)। ६. उदयाभावो जत्थ य पयडीणं ताण सव्वघादीणं। छण्णाण उवसमो वि य उदयो सम्मत्तपयडीए ॥ खयउवसमं पवुत्तं सम्मत्तं परमवीयरायेहिं। उवसमियपंकसरिसं णिच्चं कम्मक्खवणहेउ ॥ (भावसं. दे. २९८-९९)। ७. अणउदयादो छण्हं सजाइरूवेण उदयमाणाणं। सम्मत्तकम्मउदए खयउवसमियं हवे सम्मं ॥ (कार्तिके. ३०९)। ८. क्षीणोदयेषु मिथ्यात्व-मिश्रानन्तानुबन्धिषु। लब्धोदये च सम्यक्त्वे क्षायोपशमिकं भवेत् ॥ (पंचसं. अमित. २९२, पृ. ३९)। ९. प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति। आदत्ते वेदकं वन्द्यं सम्यक्त्वोदये सति ॥ (अमित. श्रा. २-५५)। १०. सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं। (गो. जी. २५)। ११. क्षयो मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च उदितानां देशतो निर्मूलनाशः अनुदितानां चोपशमः, क्षयेण युक्त उपशमः क्षयोपशमः, स प्रयोजनमस्य क्षायोपशमिकम्। तच्च सत्कर्मवेदनाद्वेदकमप्युच्यते। (योगशा. स्वो. विव. २-२)। १२. तेषामेव च षण्णामनुदयाभावलक्षणे क्षयेऽनुदयप्राप्तानां सम्भावावस्थितिलक्षणे चोपशमे तथा सम्यक्त्वदेशघातिस्पर्द्धकोदये सत्युत्पन्नं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकम्। (अ. धा. मूला. टी. ३१)। १३. मिच्छत्तखओवसमा खाओवसमं ववइसंति। (प्रव. सारो. ९४४)। १४. मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वमोहनीयकर्मणः उदीर्णस्य

वोपशमात् सम्यक्त्वरूपतापत्तिलक्षणाद्विष्कम्भितोदयस्वरूपाच्च क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं व्यपदिशन्ति, कश्मलेति। (प्रव. सारो. वृ. ६४४); सम्यक्त्वमपि क्षायोपशमिकं दर्शनसप्तकक्षयोपशमे। (प्रव. सारो. वृ. १२२२)। १५. तत्र उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेणानुदीर्णस्य चोपशमेन सम्यक्त्वरूपतापत्तिलक्षणेन विष्कम्भितोदयस्वरूपेण च यन्निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम्। (षडशी. मलय. वृ. १७, पृ. २१)। १६. दर्शनमोहनीयभेदस्य सम्यक्त्वप्रकृतेः सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च उदयनिषेकदेशघातिस्पर्द्धकस्योदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं भवेत्। (गो. जी. म. प्र. टी. २५)। १७. सर्वघ्नस्पर्धकानां यः पाकाभावात्मकः क्षयः। सत्तात्मोपशमो यत्र क्षायोपशमिकं हि तत्॥ उदितास्ते क्षयं याताः स्पर्धकाः सर्वघातकाः। शेषाः प्रशमिताः सन्ति क्षायोपशमिकं ततः॥ (भावसं. वाम. ३१८-१९)। १८. अनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्वानां षण्णामुदयक्षयात् सदुपशमात् सम्यक्त्वनाममिथ्यात्वस्य देशघातिनः, न तु सर्वघातिनः उदयात् मिश्रं सम्यक्त्वं भवति, क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं स्यात्, तद्वेदकमित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २-५)। १९. षण्णामनुदयादेकसम्यक्त्वस्योदयाच्च यत्। क्षायोपशमिकं नाम सम्यक्त्वं तन्निगद्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ४-६७)।

१ अनन्तानुबन्धी चार, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयक्षय और उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्वप्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होने वाले तत्त्वार्थश्रद्धान को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायोपशमिक संयम—पत्तोदयएक्कारसचारित्तमोहणीयपयडिदेसघादिफद्दयाणमुवसमसण्णा, णिरवसेसेण चारित्तघायणसत्तीए तत्थुवसमुवलंभा। तेसिं चेव सव्वघादिफद्दयाणं खयसण्णा, णट्ठोदयभावत्तादो। तेहि दोहिंम्हि उप्पण्णो संजमो खओवसमिओ। अथवा एक्कारसकम्माणमुदयस्सेव खओवसमसण्णा। कुदो? चारित्तघायणसत्तीए अभावस्सेव तव्ववएसादो। तेण उप्पण्ण इदि खओवसमिओ पमादाणुविद्धसंजमो। (धव. पु. ५, पृ. २२०, २२१)।

उदय को प्राप्त चार संज्वलन और सात नोकषायों (हास्य, रति, अरति व शोक में से यथासम्भव दो से रहित) के देशघाती स्पर्धकों की उपशम संज्ञा है, क्योंकि उनकी चारित्र के घातने की शक्ति का उपशम पाया जाता है; तथा उदय के विनष्ट हो जाने से उन्हीं के सर्वघाती स्पर्धकों की क्षय संज्ञा है। इन दोनों के आश्रय से उत्पन्न होने वाले संयम को क्षायोपशमिक संयम कहा जाता है। अथवा उक्त ग्यारह प्रकृतियों के उदय का नाम ही क्षयोपशम है, कारण कि चारित्रविघातक शक्ति के अभाव की क्षयोपशम संज्ञा सम्भव है। उससे उत्पन्न प्रमादसंयत संयम को क्षायोपशमिक कहा जाता है।

क्षायोपशमिक संयमासंयम—अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् सदुपशमाच्च प्रत्याख्याननकषायोदये संज्वलनकषायदेशघातिस्पर्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासम्भवोदये च विरताविरतपरिणामः क्षायोपशमिकः संयमासंयम इत्याख्यायते। (स. सि. २-५; त. वा. २, ५, ८)।

अनन्तानुबन्धी चार और अप्रत्याख्यान चार इन आठ कषायों के उदयक्षय और सदवस्थारूप उपशम के साथ प्रत्याख्यान के उदय, संज्वलन कषाय के देशघातिस्पर्धकों के उदय तथा नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो विरताविरतपरिणाम उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक संयमासंयम कहते हैं।

क्षायोपशमिकी लब्धि — प्रागुपात्तकर्मपटलानुभागस्पर्द्धकानां शुद्धियोगेन प्रतिसमयानन्तगुणहीनानामुदीरणा क्षायोपशमिकी लब्धिः। (पंचसं. मलय. वृ. १६; अन. ध. स्वो. टी. १-४६)।

पूर्वसंचित कर्मपटल के अनुभागस्पर्धकों की जो शुद्धि के योग से प्रतिसमय अनन्तगुणे हीन होते हुए उदीरणा होती है उसका नाम क्षायोपशमिकी लब्धि है।

क्षारतंत्र चिकित्सादोष—क्षारतंत्रं क्षारद्रव्यं दुष्टव्रणादिशोधनकरम्। ××× एवमष्टप्रकारेण चिकित्साशास्त्रेणोपकारं कृत्वाहारादिकं गृह्णाति तदानीं तस्याष्टप्रकारचिकित्सादोषो भवत्येव, सावद्यादिदोषदर्शनादिति। (मूला. वृ. ६-३३)।

क्षार द्रव्य घावों को शुद्ध करने वाला है। कौमार आदि आठ प्रकार के चिकित्साशास्त्रों में से अनुसार

आरतंत्र से उपकार करके दातार के यहां आहार ग्रहण करने पर साधु आरतंत्र चिकित्सादोष का भागी होता है।

क्षितिशयन व्रत—१. फासुगभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे। दंडं धणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥ (मूला. १–३२)। २. प्रासुकभूमिप्रदेशे चारित्राविरोधेनाल्पसंस्तरितेऽसंस्तरिते आत्मप्रमाणेनात्मनैव वा संस्तरिते प्रच्छन्ने दण्डेन धनुषा एकपार्श्वेन मुनेर्या शय्या शयनं तत् क्षितिशयनव्रतमित्यर्थः। (मूला वृ. १–३२)।

१ स्वल्प संस्तर से भी रहित और प्रच्छन्न—स्त्री व पशु आदि से विहीन—ऐसे प्रासुक (जीव-जन्तु से शून्य) भूमिप्रदेश में दण्ड (सीधे) अथवा धनुष के समान एक पार्श्व से शयन करने को क्षितिशयन व्रत कहते हैं।

क्षिप्र प्रत्यय—१. क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थम्। (स. सि. १–१६)। २. क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थम्। अचिरप्रतिपत्तिः कथं स्यात् इति क्षिप्रग्रहणं क्रियते। (त. वा. १, १६, १०)। ३. क्षिप्रवृत्तिः प्रत्ययः क्षिप्रः। (धव. पु. ६, पृ. १५२); आशुवर्थग्राही क्षिप्रप्रत्ययः। (धव. पु. १३, पृ. २३७)। ४. क्षिप्रं च झटिति (ग्रहणम्)। (सिद्धिवि. वृ. १, २७, पृ. ११६)। ५. आशुग्रहणं क्षिप्रावग्रहः। (मूला. वृ. १२–१८७)। ६. आशुवर्थस्य ग्रहः क्षिप्रम् ××× । (आचा. सा. ४–१९)।

१ पदार्थ के शीघ्रता से ग्रहण करने को क्षिप्र प्रत्यय या क्षिप्रावग्रह कहते हैं।

क्षीणकषाय—१. णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो। खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ (प्रा. पंचसं. १–२५; धव. पु. १, पृ. १९० उद्.; गो. जी. ६२)। २. सर्वस्य मोहस्य ××× क्षपणात् ××× क्षीणकषाय इति व्यपदेशमर्हति। (त. वा. ९, १, २२)। ३. क्षीणाः कषाया येषां ते क्षीणकषायाः। द्रव्यकर्मणां कषायवेदनीयानां विनाशात्तन्मूला अपि भावकषायाः प्रलयमुपगता इति क्षीणकषाया इति भण्यन्ते। (भ. आ. विजयो. २७)। ४. णिस्सेसमोहखीणे खीणकसायं तु णाम गुणठाणं। पावइ जीवो णूणं खाइयभावेण संजुत्तो ॥ जह सुद्धफलियभायणि खित्तं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं। तह णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो ॥ (भा. भावसं. ६६१–६२)। ५. भवेत् क्षीणकषायोऽपि मोहस्यात्यन्तसंक्षयात्। (त. सा. २–२८)। ६. उपशमश्रेणिविलक्षणेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निष्कषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्षीणकषाया: द्वादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति। (बृ. द्रव्यस. टी. १३)। ७. क्षीणा अभावमापन्नाः कषायाः यस्य स क्षीणकषायः। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ५)। ८. सूक्ष्मसाम्परायक्षपकचरमसमये चारित्रमोहस्य प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां बन्धोदयोदीरणासत्त्वेषु व्युच्छिन्नेषु तदनन्तरोत्तरसमये निःशेषक्षीणमोहनिरवशेषविनष्टचारित्रमोहः सन् स्फटिकामलभाजनोदकसमचित्तो जीवः, अतिनिर्मलस्फटिकघटसंभृतेन निर्मलजलेन सदृशं चित्तं भावमनो विशुद्धिपरिणामो यस्यासौ स्फटिकामलभाजनोदकसमचित्तः, यथा तज्जलं संक्षोभैः प्रकारैः कलुषितं न भवति तथा यथाख्यातचारित्रपवित्रक्षीणकषायविशुद्धिपरिणामोऽपि कुतश्चिदपि कारणात् कलुषितो न भवति, स वीतरागैः क्षीणकषाय इति भणितः। (गो. जी. म. प्र. टी. ६२)। ९. निश्शेषक्षीणाः प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशरहिता मोहप्रकृतयो यस्यासौ निश्शेषक्षीणमोह इति निरवशेषमोहप्रकृतिसत्त्वरहितः क्षीणकषायः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ६२)।

१ जिसका सब मोह (कषायें) क्षय को प्राप्त हो चुका है, अतएव जो स्फटिकमणिमय पात्र में स्थित जल के समान निर्मल मन की परिणति से सहित हुआ है उसे क्षीणकषाय कहते हैं।

क्षीणमोह—देखो क्षीणकषाय। १. जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स। तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ (समयप्रा. ३८)। २. तदेवाम्भो यथान्यत्र पात्रे न्यस्तं मलं विना। प्रसन्न मोहने क्षीणे क्षीणमोहस्तथा यतिः ॥ (पंचसं. अमित. १–४८)। ३ मोहस्य तु क्षये जाते क्षीणमोह प्रचक्षते। (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११२)।

१ मोह के विजेता साधु का मोह जब सर्वथा क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब उसे क्षीणमोह कहा जाता है।

क्षीरधात्री उत्पादनदोष—क्षीरं धारयति दधाति या सा क्षीरधात्री स्तनपायिनी। ××× येन क्षीरं भवति येन च विधानेन बालाय क्षीरं दीयते

कुर्वतोऽन्येन क्रियमाणमसेवमानस्य मनसा चाविचिन्तयतः दुस्तरेयं वेदना महांश्च कालो दीर्घोऽह इति दीर्घाह इति (चा. सा.—दीर्घमह इति) विषादमनापद्यमानस्य त्वगस्थि-सिरावतान (चा. सा.—वितान) मात्रकलेवरस्यापि सतः प्रावश्यकक्रियादिषु नित्योद्यतस्य क्षुद्रशप्राप्तानर्थकारावन्धनस्य (चा. सा.—नर्थाक्न्धारकबंधस्य) मनुष्यान् पञ्जरगततिर्यक्प्राणिनः क्षुदभ्यर्दितान् परतन्त्रानपेक्षमाणस्य ज्ञानिनो धृत्यम्भसा संयमकुम्भधारितेन क्षुदग्नि शमयतः तत्कृतपीडां प्रत्ययवगणयन् (चा. सा.—प्रत्यविगणनं) क्षुज्जय इत्युच्यते। (त. वा. ९, ९, २; चा. सा. पृ. ४८, ४९)। ३. तत्र क्षुत्परीषहः क्षुद्वेदनादिनाऽऽगमाबहितेन चेतसा स[श]मयतोऽनेषणीयं परिहरतः क्षुत्परीषहजयो भवति। (त. भा. हरि. वृ. ९-९)। ४. क्षुद्वेदनामुदिताशेषवेदनातिशायिनीं सम्यग्विषहमाणस्य जठरान्त्रविदाहिनीमागमविहितेनान्धसा (सिद्ध. वृ.—विधिना) शमयतो ऽनेषणीयं च परिहरतः क्षुत्परिषहजयः भवति। (आव. हरि. वृ. ४, पृ. ६५७; त. भा. सि. वृत्ति ९-९)। ५. क्षुधार्तः शक्तिमान् साधुरेषणां नातिलङ्घयेत्। यात्रामात्रोद्यतो विद्वानदीनोऽविप्लवश्चरेत्॥ (आव. नि. हरि. वृ. ६१८, पृ. ४०३ उद्.)। ६. प्रकृष्टक्षुदग्निप्रज्वलने धृत्यम्भसोपशमः क्षुज्जयः। (त. श्लो. ९—९)। ७. क्षुत्चारित्रमोहनीय-वीर्यान्तरापेक्षयाऽसातावेदनीयोदयादशनाभिलाषः। × × × एतैः परीषहैस्ताडयमानेऽपि संक्लेशकरणं भावविचिकित्सा। × × × क्षुत्परीषहक्षमणं × × ×। ततः परीषहजयो भवति, ततश्च भावविचिकित्सादर्शनमलं निराकृतं भवतीति। (मूला. वृ. ५, ५७—५८)। ८. क्षुत्तीक्ष्णानशनादिजाक्षनिकरं स्वज्ञेयवीक्षाक्षमं स्वान्तं क्रान्ततरं करोति बलवत्प्राणान् प्रयाणोन्मुखान्। या ऽन्यादीनजने ऽफलाऽतिसफला त्यागात्तपः-[illegible] तस्या धृत्यमृताशनेन शमनं कुर्वन् व्रती [illegible]जयः॥ (आचा. सा. ७—३)। ९. यो मुनिर्निरवद्याहारं मार्गयति, तस्याहारस्याप्राप्तौ स्तोकाहारप्राप्तौ वा अप्रणष्टवेदनोऽपि सन् अकालेऽयोग्यदेशे च भुक्ति नेच्छति, षडावश्यकपरिहाणिमीषदपि न सहते, ज्ञान-ध्यानभावनापरो भवति, बहून् वारान् स्वयमेवानशनमवमौदर्यं च कृतवान् वर्तते, रसहीनभोजनं च विधत्ते, तेन च शीघ्रमेव परिशुष्यच्छरीरो भवति। किंवत्? तप्ताम्बरीषनिपतितकतिपयाम्बुबिन्दुवत्। समुद्भूतबुभुक्षावेदनोऽपि सहनशीलः सन् पुरुषो यो भिक्षालाभादलाभं बहुगुणं मन्यते, क्षुधाबाधां प्रति चिन्तां न कुरुते, तस्य क्षुत्परीषहविजयो वेदितव्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ९—९)।

१ निर्दोष आहार का खोजने वाला जो साधु उसके सर्वथा प्राप्त न होने पर, अथवा थोड़ा सा प्राप्त होने पर, उससे भूख की वेदना के शान्त न होने पर भी अयोग्य समय और देश में भिक्षा प्राप्त करने की कभी इच्छा नहीं करता हुआ आवश्यकों की हानि को नहीं सहता है तथा स्वाध्याय और ध्यान में उद्यत रहता हुआ भिक्षालाभ की अपेक्षा उसके अलाभ को महत्त्व देता है वह क्षुधापरीषह का विजयी होता है। ४ जो साधु उदर और आंतों को सन्तप्त करने वाली भयानक क्षुधा की वेदना को भली भांति सहता हुआ आगमोक्त विधि से प्राप्त भोजन के द्वारा उसे शान्त करता है और अनेषणीय (सदोष भोजन) का परित्याग करता है, वह क्षुधापरीषहविजयी होता है।

क्षुरप्रमुद्रा—कनिष्ठिकामङ्गुष्ठेन संपीड्य शेषाङ्गुलीः प्रसारयेदिति क्षुरप्रमुद्रा। (निर्वाणक. ५, पृ. ३१)।

कनिष्ठा अंगुली को अंगूठे से दबाकर शेष अंगुलियों के फैलाने पर क्षुरप्रमुद्रा होती है।

क्षुल्लक—देखो उत्कृष्ट श्रावक। १. आद्यो विदधते [ति] क्षौरं प्रावृणोत्येकवाससम्। पञ्चभिक्षाशनं भुंक्ते पठते गुरुसन्निधौ॥ (भावसं. वाम. ५४४)। २. क्षुल्लकः कोमलाचारः शिखा-सूत्राङ्कितो भवेत्। एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्र-पिच्छ-कमण्डलुम्॥ भिक्षापात्रं च गृह्णीयात् कांस्यं यद्वाप्ययोमयम्। एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः॥ क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत्। अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥ यथानिर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत्। पात्रे भिक्षां समादाय पञ्चागाराद्विहालिवत्॥ तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम्। क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्याद्यं च भोजयेत्॥ दैवात् पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत्। तच्छेषं यत्स्वयं भुङ्क्ते नो चेत् कुर्यादुपोषितम्॥ (लाटीसं. ७—६—८)।

२ जो उद्दिष्टभोजन का त्यागी चोटी और यज्ञो-

चर्यों का धारी हो; एक वस्त्र, एक लंगोटी, वस्त्र की झोली, कमण्डलु और कांसे या लोहे का भिक्षा-पात्र रखता हो; तथा एक बार भोजन करता हो सिर और दाढ़ी के बालों को कैंची या उस्तरे से कटवाता हो; ऐसे उत्कृष्ट (ग्यारहवीं प्रतिमा-धारी) श्रावकको क्षुल्लक कहते हैं।

क्षेत्र—१. क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः। (स. सि. १-८); क्षेत्रं तस्याधिकरणम्। (स. सि. ७-२९; त. वा. ७, २९, १)। २. विषयवाची क्षेत्रशब्दः, यथा राजा जनपदक्षेत्रेऽवतिष्ठते, न च कृत्स्नं जनपदं स्पृशति। (त. वा. १, ८, १८)। ३. यत्रावगाहस्तत् क्षेत्रम्। (आव. नि. हरि. वृ. १३, पृ. १९ व २१)। ४. क्षेत्रमवगाहमात्रम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ९५)। ५. इह दव्वं चेव निवासमित्त-पज्जायतो मतं खेत्तं। (धर्मसं. ३१)। ६. क्षियन्त्य-क्षैषीत् क्षेष्यत्यस्मिन् द्रव्यागमो भावागमो वेति त्रि-विधमपि शरीरं क्षेत्रम्, आधारे आधेयोपचाराद्वा। (धव. पु. ४, पृ. ६); क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् जीवा इति कर्मणां क्षेत्रत्वसिद्धेः। ××× उक्तं च—खेत्तं खलु आगासं ×××। (धव. पु. ४, पृ. ७); षड्द्रव्याणि क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् तत्क्षेत्रम्, षड्द्रव्यस्वरूपमित्यर्थः। (धव. पु. ९, पृ. २२१); विसिट्ठागासदेसो खेत्तं। (धव. पु. १४, पृ. ३६)। ७. क्षेत्रम् आकाशं दृश्यमानादृश्यमान-रूप्यरूपिद्रव्याधारः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२९)। ८. ××× क्षेत्रं त्रिभुवनस्थितिः। (म. पु. ३, १२३); क्षेत्रं त्रैलोक्यविन्यासः ×××। (म. पु. २-३९)। ९. वर्तमाननिवाससामान्यं क्षेत्रम्। (न्यायकु. ७६, पृ. ८०३)। १०. तत्र क्षेत्रं सस्यो-त्पत्तिभूमिः। (ध. बि. मु. वृ. ३-२७; योगशा. स्वो. विव. ३-९५)। ११. द्रव्यमेव सत् आकाशं निवासमात्रपर्यायतः — निवासमात्रपर्यायमाश्रित्य क्षेत्रमिति मत सम्मतम्। तदुक्तम्—खेत्तं खलु आगा समिति। (धर्मसं. मलय. वृ. ३१)। १२. क्षेत्रं लोकालोकम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३६६)। १३. क्षेत्रं निवासः, स तु वर्तमानकालविषयः। (त. वृत्ति श्रुत. १-८)। १४. क्षेत्रं धान्योत्पत्तिस्थानं क्षेत्रम्। (कार्तिके. टी. ३४०)।

१ वर्तमानकालीन निवास का नाम क्षेत्र है। धान्य के आधार को—उत्पत्तिस्थान को—भी क्षेत्र (खेत) कहा जाता है। ५ द्रव्यों का जहां अवगाह होता है उसे क्षेत्र कहा जाता है। ६ द्रव्यागम और भावागम का आधारभूत शरीर क्षेत्र कहलाता है। ७. दृश्यमान-अदृश्यमान रूपी-अरूपी द्रव्यों के आधार का नाम क्षेत्र है।

क्षेत्रकायोत्सर्ग— सावद्यक्षेत्रसेवनादागतदोषध्वंस-नाय कायोत्सर्गः, कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्रं वा क्षेत्र-कायोत्सर्गः। (मूला. वृ. ७-१५१)।

सावद्य क्षेत्र के सेवन से आये हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसे क्षेत्रकायोत्सर्ग कहते हैं। अथवा, कायोत्सर्ग से परिणत जीव के द्वारा सेवित क्षेत्र को क्षेत्रकायो-त्सर्ग जानना चाहिए।

क्षेत्रकारक—क्षेत्रे भरतादौ यः कारको यस्मिन् वा क्षेत्रे कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १-४)।

भरतादिक क्षेत्रविशेष में जो करता है उसे, अथवा जिस क्षेत्र में कारक की व्याख्या की जाती है उस क्षेत्र को क्षेत्रकारक कहते हैं।

क्षेत्रकृतपरत्वापरत्व— क्षेत्रकृते (परत्वापरत्वे) एकदिक्कालावस्थितयोर्विप्रकृष्टः परो भवति सन्नि-कृष्टोऽपरः। (त. भा. ५-२२, पृ. ३५३)।

एक दिशा और एक काल में अवस्थित दो वस्तुओं में से दूरवर्ती को क्षेत्रकृत पर और समीपवर्ती को क्षेत्रकृत अपर कहा जाता है।

क्षेत्रचतुर्विंशति — क्षेत्रचतुर्विंशतिर्विवक्षया चतु-र्विंशतिः क्षेत्राणि भरतादीनि, क्षेत्रप्रदेशा वा चतु-र्विंशतिः क्षेत्रचतुर्विंशतिः, चतुर्विंशतिप्रदेशावगाढं वा द्रव्यं क्षेत्रचतुर्विंशतिः। (आव. भा. मलय. वृ. १९२, पृ. ५९०)।

भरतादि चौबीस क्षेत्रों को, अथवा चौबीस क्षेत्र-प्रदेशों को क्षेत्र चतुर्विंशति कहते हैं। अथवा चौबीस प्रदेशों की अवगाहनायुक्त द्रव्य को भी क्षेत्रचतुर्विं-शति कहते हैं।

क्षेत्रचरण— क्षेत्रचरणं यस्मिन् क्षेत्रे चरति भक्षयति वा, यस्मिन् वा क्षेत्रे चरणं व्याख्यायते। (उत्तरा. चू. १५, पृ. २५९)।

जिस क्षेत्र में जाता है या खाता है अथवा जिस क्षेत्र में चरण (चारित्र) का व्याख्यान किया

जाता है, उस क्षेत्र को द्रव्यनिक्षेप से क्षेत्रवर्गणा कहते हैं।

क्षेत्रचार—क्षेत्रं पुनर्यस्मिन् क्षेत्रे चारः क्रियते यावद्वा क्षेत्रं चर्यते स क्षेत्राचारः। (आचारा. नि. शी. वृ. २४६, पृ. १८१)।

जिस क्षेत्र में चार (गमन) किया जाता है, अथवा जितना क्षेत्र गतिका विषय बनाया जाता है, वह क्षेत्रचार कहलाता है।

क्षेत्रज्ञ—क्षेत्रं स्वस्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः। (धव. पु. १, पृ. १२०); षड्द्रव्याणि क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् तत्क्षेत्रम् षड्द्रव्यस्वरूपमित्यर्थः, तज्जानातीति क्षेत्रज्ञः। अथवा प्रदेशज्ञः जीव इत्ययमस्यार्थः, क्षेत्रज्ञशब्दस्य कुशलशब्दवत् बहुलस्वार्थवृत्तित्वात्। (धव. पु. ९, पृ. २२१)।

जो आत्मस्वरूप को अथवा छह द्रव्य स्वरूप लोकक्षेत्र को जानता है वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

क्षेत्रज्ञान—क्षेत्रज्ञानं किमिदं मायाबहुलमन्यथा वा? तथा साधुभिरभावित भावित वा नगरादीति विमर्शनम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५८, पृ. ४०)।

क्या यह क्षेत्र मायाप्रचुर है अथवा उससे विहीन है, तथा क्या वह साधु जनों से अधिष्ठित नगरादि से रहित है या सहित है; इस प्रकार के विवेक का नाम क्षेत्रज्ञान है। यह आठ प्रकार की गणिसम्पदा के अन्तर्गत सातवीं प्रयोगमति सम्पदा के चार भेदों में तीसरा है।

क्षेत्रतः क्रमोत्तर—क्षेत्रतः (क्रमोत्तरं) एकप्रदेशावगाढात् द्विप्रदेशावगाढः, ततोऽपि त्रिप्रदेशावगाढः, एवं यावदवसानवर्त्यसंख्येयप्रदेशावगाढः। (उत्तरा. नि. वृ. १, पृ. ४)।

क्षेत्र की अपेक्षा एक प्रदेश अवगाढ़ क्षेत्र से दो प्रदेश अवगाढ़ क्षेत्र, उससे भी तीन प्रदेश अवगाढ़ क्षेत्र, इस प्रकार अन्तवर्ती असंख्यात प्रदेश अवगाढ़ क्षेत्र पर्यन्त यह सब क्षेत्रतः क्रमोत्तर कहलाता है।

क्षेत्रतः जीव—क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढः। (आव. नि. मलय. वृ. १२६, पृ. १३१)।

जो असंख्यात प्रदेशों को अवगाहित किये हुए है, वह क्षेत्रतः जीव कहलाता है।

क्षेत्रतः वर्गणा—क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढानां यावदसंख्येयप्रदेशावगाढानाम्। (आव. हरि. वृ. ३६, पृ. ३४)।

एक प्रदेश अवगाह वाले, दो प्रदेश अवगाह वाले, तीन प्रदेश अवगाहवाले, इस प्रकार असंख्यात प्रदेश अवगाह वाले परमाणुओं के समूह तक क्षेत्रवर्गणा कही जाती है।

क्षेत्रधर्म—१. जो तस्साव-सभावोऽमुत्तादी खेत्तधम्मो सो॥ (धर्मसं. ३१, पृ. २०)। २. यस्तस्य क्षेत्रस्यात्मस्वभावोऽमूर्तत्वादिकः स क्षेत्रधर्मः, धर्मः स्वभाव इत्यनयोरनर्थान्तरत्वात्। (धर्मसं. मलय. वृ. ३१)।

१ आकाशरूप क्षेत्र का जो आत्मस्वभाव—अमूर्तत्व आदि है—वह क्षेत्रधर्म कहलाता है।

क्षेत्रपरावर्त—देखो क्षेत्रपरिवर्तन। लोगागासपएसा जया मरंतेण एत्थ जीवेणं। पुट्ठा कमुक्कमेणं खेत्तपरट्टो भवे थूलो॥ जीवो जइया एगे खेत्तपएसंमि अहिगए मरइ। पुणरवि तस्साणंतरि बीयपएसंमि जइ मरए॥ एवंतरतमजोगेण सव्वखेत्तंमि जइ मओ होइ। सुहुमो खेत्तपरट्टो अणुक्कमेणं नणु गणेज्जा॥ (प्रव. सारो. १०४४–४६)।

बादर और सूक्ष्म के भेद से क्षेत्रपरावर्त दो प्रकार का है। जीव जब लोकाकाश के किसी एक प्रदेश पर मरकर तत्पश्चात् वह क्रम से या अक्रम से भी लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को अपने मरण से व्याप्त कर लेता है, तब उसका एक बादर क्षेत्रपरावर्त पूरा होता है। पर जब वह किसी एक लोकाकाश के प्रदेश को प्राप्त करके मरता है और तत्पश्चात् पुनः मरण को प्राप्त होकर जब वह उसके द्वितीय प्रदेश को अपने मरण से व्याप्त करता है (बीच में यदि वह अन्यत्र मरता है, तो वह गिनती में नहीं आता), इसी क्रम से वह यथाक्रम से उस लोक के तृतीय-चतुर्थ आदि प्रदेशों को अपने मरण से व्याप्त करता हुआ जब उसके समस्त ही प्रदेशों को मरण से व्याप्त कर लेता है तब उसका सूक्ष्म क्षेत्रपरावर्त पूरा होता है।

क्षेत्रपरिवर्तन—देखो क्षेत्रपरावर्त व परक्षेत्रसंसार। १. सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं। उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे॥ (द्वादशानु. २६)। २. जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव। काले तीदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि॥ (भ. आ. १७७५)। ३. सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेश-

निषद्यकासु प्राग्विधिना क्षेत्रपूजनम् ॥ (धर्मसं. श्रा. ९–६५)।

१ तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, कैवल्यप्राप्ति और तीर्थ के चिह्नस्वरूप निषीधिका स्थानों में जो विधिपूर्वक पूजा की जाती है उसे क्षेत्रपूजा कहते हैं।

क्षेत्रप्रतिक्रमण—१. उदक-कर्दम-त्रस-स्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणम्। (भ. आ. विजयो. टी. ११६); त्रस-स्थावरबहुलस्य स्वाध्याय-ध्यानविघ्नसंपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रप्रतिक्रमणम् ॥ (भ. आ. विजयो. टी. ४२१)। २. क्षेत्राश्रितातीचारान्निवर्तनं क्षेत्रप्रतिक्रमणम्। (मूला. वृ. ७–११५)।

१ जल कर्दम (कीचड़) तथा त्रस-स्थावर जीवों से व्याप्त क्षेत्रों में गमनागमन के परित्याग को क्षेत्रप्रतिक्रमण कहते हैं। अथवा स्वाध्याय व ध्यान में विघ्न उत्पन्न करने वाले प्रचुर त्रस-स्थावर जीव-युक्त क्षेत्र के परिहार को प्रतिक्रमण कहते हैं।

क्षेत्रप्रतिसेवना—१. वर्षासु क्रोशार्धगमनम्, अर्धयोजनं वा, ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना। अथवा प्रतिषिद्धक्षेत्रगमनं विरुद्धराज्यगमनं छिन्नाध्वगमनं ततो रक्षणीयागमनम्, तस्यार्द्धो यथातिक्रान्तः, उन्मार्गेण वा गमनम्, अन्तःपुरप्रवेशः, अननुज्ञातगृहभूमिगमनम्, इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा। (भ. आ. विजयो. ४५०)। २. क्षेत्रं वर्षासु साधूनां क्रोशं द्विक्रोशं वा गमनमिष्टम्। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना। अथवा निषिद्धक्षेत्रं विरुद्धराज्य-छिद्राद्युन्मार्गान्तःपुराननुज्ञातगृहभूमि-क्षेत्रादिगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना। (भ. आ. मूला. ४५०)।

१ वर्षा ऋतु में साधु के लिए आधा कोस अथवा आधा योजन जाने का विधान है, उससे अधिक जाना, यह क्षेत्रप्रतिसेवना है। अथवा निषिद्ध क्षेत्र में, विरुद्ध राज्य में, और त्रुटित मार्ग में जाना इत्यादि क्षेत्रप्रतिसेवना है।

क्षेत्रप्रत्याख्यान—अयोग्यानि वानिष्टप्रयोजनानि संयमहानिं संक्लेशं वा संपादयन्ति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यानम्। (भ. आ. विजयो. ११६)।

अयोग्य व अनिष्ट प्रयोजन वाले तथा जो क्षेत्र संयम-विनाश और संक्लेश को उत्पन्न करते हैं उनका मैं त्याग करूंगा, इस प्रकार के नियम का नाम क्षेत्र-प्रत्याख्यान है।

क्षेत्रप्रमाण—अंगुलादिरवगाहनाक्षेत्रप्रमाणं, 'प्रमीयन्ते अवगाह्यन्ते अनेन जीवद्रव्याणि' इति अस्य प्रमाणत्वसिद्धेः। (धव. १, पृ. ३९)।

अंगुल आदि अवगाहनाओं को क्षेत्रप्रमाण कहा जाता है।

क्षेत्रफल—१. समवट्टवासवग्गे दहगुणिदे करणि-परिहओ होदि। वित्थारतुरिमभागे परिहिहदे तस्स खेत्तफलं ॥ (ति. प. १–११७)। २. वासो तिगुणो परिही वासचउत्थाहदो दु खेत्तफलं। (त्रि. सा. १७)।

१ किसी गोल क्षेत्र की परिधि को उसके विस्तार के चतुर्थ भाग से गुणित करने पर जो प्रमाण आता है उसे क्षेत्रफल कहते हैं। यह गोल क्षेत्र सम्बन्धी क्षेत्रफल के लाने का विधान है।

क्षेत्रमंगल—१. गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स। उप्पत्ती इयपहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं ॥ एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयन्त-चंपादी। आउट्ठहत्थपहुदी पणवीसब्भहियपणसय-धणूणि ॥ देहअवट्ठिदकेवलणाणावट्ठद्धगयणदेसो वा। सेढिघणमेत्तअप्पप्पदेसगयलोयपूरणापुण्णा ॥ विस्साणं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं। (ति. प. १, २१–२५)। २. तत्र क्षेत्रमङ्गलं गुणपरिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाणक्षेत्रादिः। तस्योदाहरणम्—ऊर्जयन्त-चम्पा-पावानगरादिः। अर्धाष्टारत्न्यादि-पञ्चविंशत्युत्तरपंचधनुःशतप्रमाणशरीरस्थित-कैवल्याद्यवष्टब्धाकाशदेशा वा, लोकमात्रात्मप्रदेशैर्लोकपूरणापूरितविश्वलोक-प्रदेशा वा। (धव. पु. १, पृ. २८–२९)।

१ जिन स्थानों पर साधु जनों ने उत्तमोत्तम गुणों की प्राप्ति के कारणभूत वीरासमाधि से स्थित होकर ध्यान किया है, जहां पर दीक्षा ग्रहण की है, केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त किया है, उन स्थानों को क्षेत्रमंगल कहते हैं। जैसे—पावानगर ऊर्जयन्त व चम्पापुर आदि। साढ़े तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष तक के शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाशप्रदेशों को भी क्षेत्रमंगल कहते हैं। तथा लोकपूरण समुद्घात दशा में केवली [illegible] के आत्मप्रदेशों से सर्व-लोक के [illegible] होने के कारण लोक के समस्त

प्रदेशों को भी क्षेत्रानुपूर्वी कहते हैं।

क्षेत्रभाव—यस्मिन् क्षेत्रे भावस्य वर्णना च भाव-क्षेत्रप्राधान्यविवक्षायां तत्क्षेत्रभाव इत्यपि द्रष्टव्यम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. २–१४, पृ. ३)।

जिस क्षेत्र में भाव का वर्णन किया जावे उसे क्षेत्र प्रधानता की विवक्षा से क्षेत्रभाव कहते हैं।

क्षेत्रलोक—१. आयासं सपदेसं उड्ढमहो तिरियलोगं च। खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं॥ (मूला. ७–४६; धव. पु. ४, पृ. ७ उद्.)। २. आगासस्स पएसा उड्ढं च अहे य तिरियलोए य। जाणाहि खित्तलोगं अणंतजिणदेसियं सम्मं॥ (आव. भा. १९७, पृ. ४६५)। ३. क्षेत्रलोक आकाशमात्रमनन्तप्रदेशात्मकम्। (स्थानां. अभय. वृ. १, ५, पृ. ११)।

१ प्रदेशयुक्त आकाश तथा ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् लोक इस सब को क्षेत्रलोक समझना चाहिए।

क्षेत्रवर्गणा—एगागा[सपदे]सोग्गाहणप्पहुडि पदेसुत्तरादिकमेण जाव देसूणघणलोगे त्ति ताव एदाओ खेत्तवग्गणाओ। (धव. पु. १४, पृ. ५२)।

एक आकाशप्रदेश अवगाहना से ले कर प्रदेशाधिक क्रम से कुछ कम घनलोक तक जितने विकल्प हैं, वे सब क्षेत्रवर्गणाएं कहलाती हैं।

क्षेत्रविमोक्ष — क्षेत्रविमोक्षस्तु यस्मिन् क्षेत्रे चारकादिके व्यवस्थितो विमुच्यते, क्षेत्रदानाद्वा, यस्मिन् वा क्षेत्रे व्यावर्ण्यते स क्षेत्रविमोक्षः। (आचारा. नि. शी. वृ. १, ७, १. २५८, पृ. २११)।

प्राणी चारक (कारागार) आदि जिस क्षेत्र में अवस्थित रहकर मुक्ति पाता है वह क्षेत्रविमोक्ष कहलाता है। अथवा क्षेत्र के दान से जिस क्षेत्र से छुटकारा पाता है वह क्षेत्रविमोक्ष है। अथवा जिस क्षेत्र में विमोक्ष का वर्णन किया जाता है उसे क्षेत्रविमोक्ष जानना चाहिए।

क्षेत्रवृद्धि—१. परिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः, स एषोऽतिक्रमः प्रमादान्मोहाद् व्यासङ्गाद्वा भवतीत्यवसेयः। (स. सि. ७–३०)। २. अपरिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः। प्राग् दिशां योजनादिभिः परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽधिकाकाङ्क्षणं क्षेत्रवृद्धिरित्यवसीयते। (त. वा. ७, ३०, ५)। ३. क्षेत्रवृद्धिरेकतो योजनशतमभिगृहीतमन्यतो दशयोजनानि। ततस्तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यैषां दशादियोजनानां तत्रैव स्वबुद्ध्या प्रक्षेपो वृद्धिकरणमिति। (श्रा. प्र. टी. २८३)। ४. अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः। (त. श्लो. ७–३०)। ५. प्राग् दिशो योजनादिभिः परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽधिकाकाङ्क्षणं क्षेत्रवृद्धिः। (चा. सा. पृ. २८)। ६. तथा क्षेत्रस्य पूर्वादिदेशस्य दिग्व्रतविषयस्य ह्रस्वस्य सतो वृद्धिर्वर्द्धनं पश्चिमादिक्षेत्रान्तरपरिमाणप्रक्षेपेण दीर्घीकरणं क्षेत्रवृद्धिः। (ध. बि. मु. वृ. ३–२८; योगशा. स्वो. विव. ३–९७; सा. ध. ५–५)। ७. व्यासंग-मोह-प्रमादादिवशेन लोभावेशाद् योजनादिपरिच्छिन्नदिक्संख्याया अधिकाकांक्षणं क्षेत्रवृद्धिः। यथा मन्या[मान्य] खेटावस्थितेन केनचित् श्रावकेण क्षेत्रपरिमाणं कृतं यत् 'धारापुरीलङ्घनं मया न कर्तव्यम् इति', पश्चात् उज्जयिन्याम् अन्येन भाण्डेन महान् लाभो भवतीति तत्र गमनाकाङ्क्षा गमनं वा क्षेत्रवृद्धिः। दक्षिणापथागतस्य धारायाः उज्जयिनी पञ्चविंशतिगव्यूतिभिः किञ्चिन्न्यूनाधिकाभिः परतो वर्तते। (त. वृ. श्रुत. ७–३०; कार्तिके. टी. ३४१–४२)। ८. यथा सत्यमितः क्रोशः शतं यावद् गतिर्मम। क्रोशा मालवदेशीया क्षेत्रवृद्धिश्च दूषणम्॥ (लाटीसं. ६-१२०)।

१ ग्रहण किये गये दिशा के प्रमाण से लोभवश उससे अधिक का अभिप्राय रखना, इसका नाम क्षेत्रवृद्धि है। यह अतिक्रमण प्रमाद, मोह अथवा कार्यव्यासंग से होता है। ३ दिग्व्रत में किसी ने एक ओर सौ योजन प्रमाण और दूसरी ओर दस योजन प्रमाण जाने का नियम किया, पश्चात् जिस ओर दस योजन का नियम किया था उस ओर कार्यविशेष के उपस्थित होने पर सौ योजन प्रमाण क्षेत्र में से कुछ योजनों को कम करके स्वबुद्धि से उधर के क्षेत्र में उतने योजन बढ़ा लेना, यह उस दिग्व्रत में क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है।

क्षेत्रव्यतिरेक—अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम्। तत्तत्क्षेत्रं नान्यद् भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः॥ (पंचाध्या. १–१४८)।

जो एक देश—कालाणु श्रादि—जितने क्षेत्र को व्याप्त करके स्थित है, वह उसका क्षेत्र है, अन्य

नहीं है। उससे अन्य क्षेत्र क्षेत्रव्यतिरेक है।

क्षेत्रशुद्धि—१. व्याख्यातृव्यवस्थितप्रदेशाच्चतसृष्व-पि दिक्ष्वष्टाविंशतिसहस्रायतासु विण्मूत्रास्थि-केश-नख-त्वगाद्यभाव: षष्ठातीतवाचनात: आरात् पंचे-न्द्रियशरीरार्द्रास्थि- त्वग् - मांसासृक्सम्बन्धाभावश्च क्षेत्रशुद्धिः। (धव. भाग. ९, पृ. २५३)। २. एका-न्ते निर्मले स्वास्थ्यकरे शीतादिवर्जिते। वन्दनां कुर्वतो देशे क्षेत्रशुद्धिश्च सा मता॥ (धर्मसं. श्रा. ७-४५)।

१ शास्त्रव्याख्याता जिस क्षेत्र में स्थित हो उसकी चारों दिशाओं में अट्ठाईस हजार (धनुष) लम्बे क्षेत्र में मल, मूत्र, हड्डी, बाल, नाखून और चमड़े आदि के अभाव को तथा छठी अतीत वाचना से निकटवर्ती क्षेत्र में पंचेन्द्रिय प्राणी के शरीर की गीली हड्डी, चमड़ा, मांस और रक्त के अभाव को भी क्षेत्रशुद्धि कहते हैं। यह शुद्धि शिक्षाध्ययन-रूप वाचना से सम्बद्ध है।

क्षेत्रसमवाय—१. जम्बूद्वीप-सर्वार्थसिद्धाप्रतिष्ठा-ननरक-नन्दीश्वरैकवापीनां तुल्ययोजनशतसहस्रवि-ष्कम्भप्रमाणेन क्षेत्रसमवायनात् क्षेत्रसमवायः। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ९, पृ. १९९)। २. खेत्तदो सीमंतणिरय-माणुसखेत्त-उडुविमाण-सिद्धि-खेत्तं च समा। (धव. पु. १, पृ. १०१); सिद्धि-मनुष्यक्षेत्रर्तुविमान-सीमन्तनरकाणां तुल्ययोजनपंच-चत्वारिंशच्छतसहस्रविष्कम्भप्रमाणेन क्षेत्रसमवायः। (धव. पु. ९, १९९)। ३. सीमंत-माणुसखेत्त-उडु-विमाण-सिद्धिखेत्ताणि चत्तारि वि सरिसाणि एसो खेत्तसमवाओ। (जयध. पु. १, पृ. १२४)। ४. क्षेत्राश्रयेण सीमान्तनरक-मनुष्यक्षेत्र-ऋत्विन्द्र-काणि सदृशानि, अवधिस्थाननरक-जम्बूद्वीप-सर्वार्थ-सिद्धिविमानानि सदृशानि, इत्यादिः क्षेत्रसमवायः। (गो. जी. म. प्र. टी. ३५६)। ५. क्षेत्राश्रयेण सीमन्तनरक - मनुष्यक्षेत्र - ऋत्विन्द्रक-सिद्धक्षेत्राणि प्रदेशतः सदृशानि, अवधिस्थाननरक-जम्बूद्वीप-सर्वार्थसिद्धिविमानानि सदृशानि, इत्यादिः क्षेत्र-समवायः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३५६)।

१ जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठाननरक और नन्दीश्वरद्वीपस्थ प्रत्येक वापी का समानरूप से एक लाख योजन प्रमाण विस्तार होने के कारण इसे क्षेत्रसमवाय कहा जाता है।

क्षेत्रसमाधि—क्षेत्रसमाधिस्तु यस्य यस्मिन् क्षेत्रे व्यवस्थितस्य समाधिरुत्पद्यते, स क्षेत्रप्राधान्यात् क्षेत्रसमाधिः, यस्मिन् वा क्षेत्रे समाधिर्व्याख्यायते इति। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १०५, पृ. १८७)।

जिस क्षेत्र में अवस्थित जिस किसी पुरुष के चित्त की एकाग्रतारूप समाधि उत्पन्न हो, उसे क्षेत्र की प्रधानता से क्षेत्रसमाधि कहते हैं। अथवा जिस क्षेत्र में समाधि का वर्णन किया जाता है उसे क्षेत्रसमाधि जानना चाहिए।

क्षेत्रसंयोग—से किं तं खित्तसंजोगे ?, २ भारहे एरवए हेमवए हेरण्णवए हरिवासए रम्मगवासए देवकुरुए उत्तरकुरुए पुव्वविदेहए अवरविदेहए, अहवा मागहे मालवए सोरट्ठए मरहट्ठए कुंकणए, से तं खेत्त-संजोगे। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४४)।

भरत व ऐरावत आदि क्षेत्रों में उत्पन्न हुए जीवों के उन क्षेत्रों के सम्बन्ध से जो भारत व ऐरावत आदि नाम प्रसिद्ध होते हैं उन्हें क्षेत्र के संयोग से जानना चाहिए।

क्षेत्रसंसार—१. स्वशुद्धात्मद्रव्यसम्बन्धिसहजशुद्ध-लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकक्षेत्र-प्रदेशास्तत्रैकैकं प्रदेशं व्याप्यानन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽयं जीवः स कोऽपि प्रदेशो नास्तीति क्षेत्रसं-सारः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५, पृ. ८९-९०)। २. तेषा-मेव (जीव-पुद्गलानामेव) क्षेत्रे चतुर्दशरज्ज्वात्मके यत्संसरणं स क्षेत्रसंसारः। यत्र वा क्षेत्रे संसारो व्या-ख्यायते तदेव क्षेत्रमभेदोपचारात् संसारो यथा रस-वती गुणनिकेत्यादि। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २६१)। ३. चतुरशीतिलक्षसीमन्तकादिनरकादि-ष्वतीते कालेऽनन्ता जन्म-मरणयोर्वृत्तिर्भविष्यति सान्ता भव्यानामनन्ता चाभव्यानां क्षेत्रसंसारः। (स. प्रा. सूत्रा. ४३०)।

१ सहज शुद्ध लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण जो शुद्ध आत्मा के प्रदेश हैं उनसे भिन्न लोकक्षेत्र के प्रदेशों में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जिसे व्याप्त करके यह जीव अनन्त बार जन्म-मरण को न प्राप्त हुआ हो, यही क्षेत्रसंसार है। २ चौदह राजुस्व-रूप क्षेत्र में जो जीव और पुद्गलों का परिभ्रमण होता है, इसका नाम क्षेत्रसंसार है। अथवा जिस क्षेत्र में संसार का व्याख्यान किया जाता है, उसे

भी अभेद के उपचार से क्षेत्रसंसार कहा जाता है, जैसे रसोई व गुप्तनिका आदि।

क्षेत्रसामायिक—१. णयर-खेट-कब्बड-मडंब-पट्टण-दोणमुह-जणवदादिसु राग-दोसणिरोहो सगावास-विसयसंपरायणिरोहो वा खेत्तसामाइयं णाम। (जयध. १, पृ. ६८)। २. कानिचित् क्षेत्राणि रम्याणि आराम-नगर-नदी-कूप-वापी-तडाग जनपदोपचितानि, कानिचिच्च क्षेत्राणि रूक्ष-कण्टक-विषम-विरसास्थि-पाषाणसहितानि जीर्णाटवी-शुष्कनदी मरुसिकतापुंजादिबाहुल्यानि, तेषूपरि राग-द्वेषयोरभावः क्षेत्रसामायिक नाम। (मूला. वृ. ७, १७)। ३. ग्राम-नगर-वनादिक्षेत्रेषु इष्टानिष्टेषु राग-द्वेषनिवृत्तिः क्षेत्रसामायिकम्। (गो. जी. म. प्र. टी. ३६७)। ४. क्षेत्रसामायिकमाराम-कण्टकवनादिषु शुभाशुभक्षेत्रेषु समभावः। ××× क्षेत्रसामायिकं सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठितं स्थान-मूर्जयन्त-चम्पापुरादि। (अन. ध. स्वो. टी. ८-१६)। ५. णाम-गाम-णयर-वणादिखेत्तेसु इट्ठाणिट्ठेसु राय-दोसणियट्टी खेत्तसामाइयं। (अंगप. पृ. ३०६)।

१ नगर, खेट, कर्बट, मटंब, पट्टन, द्रोणमुख और जनपद आदि के विषय में राग-द्वेष न करना, अथवा अपने निवासस्थानविषयक कषाय को दूर करना, इसका नाम क्षेत्रसामायिक है।

क्षेत्रस्तव—१. कैलाश-सम्मेदोर्जयन्त-पावा-चम्पा-नगरादिनिर्वाणक्षेत्राणां समवसृतिक्षेत्राणां च स्तवनं क्षेत्रस्तवः। ××× चतुर्विंशतिस्तवसहितं क्षेत्र ××× क्षेत्रस्तवः। (मूला. वृ. ७-४१)। २. क्षेत्रस्तवोऽर्हतां स स्यात्तत्स्वर्गावतरादिभिः। पूतस्य पूर्वनाद्रयादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम्। (अन. ध. ८, ४२)।

१ कैलाश पर्वत, सम्मेदाचल, ऊर्जयन्तगिरि, पावापुर और चम्पापुर आदि निर्वाणभूमियों एवं समवसरणस्थानों के गुणकीर्तन को क्षेत्रस्तव कहते हैं। अथवा चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन सहित क्षेत्र को क्षेत्रस्तव जानना चाहिए।

क्षेत्राख्या प्रतिष्ठा—ऋषभाद्यानां तु तथा सर्वेषामेव मध्यमा ज्ञेया। (षोडश. ८-३)।

व्यक्त्याख्या, क्षेत्राख्या और महाख्या के भेद से प्रतिष्ठा तीन प्रकार की है। उनमें ऋषभादि सभी (२४) तीर्थंकरों की मध्यमा क्षेत्राख्या प्रतिष्ठा जाननी चाहिए।

क्षेत्रातिक्रम—क्षेत्रं स्याद्वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा। गवाद्यागारमात्रं वा स्वीकृतं यावदात्मना॥ ततोऽतिरिक्ते लोभान्मूर्च्छावृत्तिरतिक्रमः। न कर्तव्यो व्रतस्थेन कुर्वतोपचितुच्छताम्॥ (लाटीसं. ६, ९८-९९)।

क्षेत्र का अर्थ रहने का स्थान, धान्य का अधिष्ठान (खेत) अथवा गायों आदि का बाड़ा होता है। परिग्रहपरिमाण में जितने क्षेत्र को स्वीकार किया गया है उससे अधिक में लोभ के वश आसक्ति रखना, यह उस व्रत का क्षेत्रातिक्रम नाम का अतिचार होता है। व्रती को उसका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

क्षेत्राननुगामी—यत्क्षेत्रान्तरं न गच्छति स्वोत्पन्नक्षेत्रे एव विनश्यति, भवान्तरं गच्छतु मा वा, तत्क्षेत्राननुगामि। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२)।

जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र से अन्य क्षेत्र में स्वामी के साथ नहीं जाता है, किन्तु वहीं पर नष्ट हो जाता है; वह क्षेत्राननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। वह अपने उत्पन्न होने के भव से अन्य भव में जा भी सकता है और कदाचित् न भी जाय।

क्षेत्रानुगामी—स्वोत्पन्नक्षेत्रादन्यस्मिन् क्षेत्रे विहरन्तं जीवमनुगच्छति, भवान्तरं नानुगच्छति, तत्क्षेत्रानुगामि। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२)।

जो अवधिज्ञान अपनी उत्पत्ति के क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में स्वामी के जाने पर उसके साथ रहता है—नष्ट नहीं होता, उसे क्षेत्रानुगामी अवधि कहते हैं। यह अवधिज्ञान भवान्तर में साथ नहीं जाता है।

क्षेत्रानुपूर्वी—द्रव्यावगाहोपलक्षितं क्षेत्रमेव क्षेत्रानुपूर्वी। (अनुयो. हरि. वृत्ति पृ. ४४)।

द्रव्य (तीन आदि परमाणुओं के स्कन्ध) की अवगाहना (तीन-चार आदि प्रदेशों) से उपलक्षित—परिचय में आया हुआ—क्षेत्र ही क्षेत्रानुपूर्वी कहलाता है।

क्षेत्रानुयोग—तथा क्षेत्रस्यैकस्य जम्बूद्वीपादेरनुयोगो यथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः, तस्या जम्बूद्वीपलक्षणैक-क्षेत्रव्याख्यानरूपत्वात् । बहूनां क्षेत्राणामनुयोगो यथा द्वीप-सागरप्रज्ञप्तिः, बहूनां द्वीप-समुद्राणां तया व्याख्यानात् । क्षेत्रेणानुयोगो यथा पृथिवीकायिका-दिसङ्ख्याव्याख्यानं जम्बूद्वीपं प्रस्थकं कृत्वा । उक्तं च—जम्बुद्दीवपमाणा पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं । एवं मविज्जमाणा हवंति लोगा असंखेज्जा ॥ क्षेत्रै-रनुयोगो यथा बहु-द्वीपसमुद्रप्रमाणं प्रस्थकं कृत्वा पथिवीकायादिसङ्ख्याभणनम् । उक्तं च—खेत्तेहिं बहुदीवेहिं पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं । एवं मविज्जमाणा हवंति लोगा असंखेज्जा ॥ क्षेत्रेऽनु-योगस्तिर्यग्लोके भरतादौ वा, क्षेत्रेष्वनुयोगोऽर्द्धतृती-येषु द्वीप-समुद्रेषु । (आव. नि. मलय. वृ. १२९, पृ. १३१) ।

अनुयोग नाम विशेष विवरण या व्याख्यान का है। प्रकृत में यह क्षेत्रानुयोग कई प्रकार का है। जैसे—१ जम्बूद्वीप आदि किसी एक ही क्षेत्र का अनु-योग। यथा—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। २ बहुत क्षेत्रों का अनुयोग। जैसे—द्वीप-सागरप्रज्ञप्ति। ३ एक क्षेत्र के द्वारा अनुयोग। जैसे—जम्बूद्वीप को प्रस्थक (माप का एक उपकरण) करके पृथिवीकायिक आदि जीवों की सख्या का व्याख्यान। ४ बहुत से क्षेत्रों के द्वारा अनुयोग। जैसे—बहुत द्वीप-समुद्रों के प्रमाण को प्रस्थक करके पृथिवीकायिकादि जीवों की संख्या का विवरण। ५ एक क्षेत्र या बहुत से क्षेत्रों में अनुयोग। जैसे—तिर्यग्लोक में या भरतादि क्षेत्रों अथवा अढाई द्वीप-समुद्रों में।

क्षेत्राभिग्रह—अट्ठ उ गोयरभूमी एलुगविक्खंभ-मित्तगहण च । सग्गाम परग्गामे एवइय घरा य खित्तम्मि ॥ (बृहत्क. भा. १६४९) ।

ऋज्वी, गत्वाप्रत्यागतिका, गोमूत्रिका, पतङ्गवीथिका, पेटा, अर्धपेटा, अभ्यन्तरशम्बूका और बहिःशम्बू-का; इन आठ गोचरभूमियों का भिक्षार्थ नियम करना, ऊमर के प्रमाण भोजन लेने का नियम करना तथा अपने गांव में या अन्य के गांव में इतने घर तक जाऊंगा इत्यादि प्रकार का नियम करना; इसका नाम क्षेत्राभिग्रह है।

क्षेत्रार्य—१. क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाताः तथा भरतेषु अर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाता शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु । (त. भा. ३-१५) । २. क्षेत्रार्याः काशी-कोशलादिषु जाताः । (त. वा. ३, ३६, २) । ३. क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु जायन्ते कर्म-भूमिषु । तत्रेह भारते सार्धपञ्चविंशतिदेशजाः ॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ९६५) । ४. कोशल-काश्यवन्ति-अंग-वंग-तिलंग-कलिंग-लाट-कर्णाट-भोट-गौड-गुर्जर-सौराष्ट्र-मरु-वाग्जड-मलय-मालव-कुंक-णाभीर-सौरभस-काश्मीर-जालंधरादिदेशोद्भवाः क्षेत्रार्याः । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६) ।

१ जो पन्द्रह कर्मभूमियों में, तथा भरतक्षेत्रों में वर्तमान साढ़े पच्चीस देशों में तथा शेष क्षेत्रगत चक्रवर्तिविजयों में उत्पन्न हुए हैं वे क्षेत्रार्य कहे जाते हैं। २ काशी और कोशल आदि देशों में उत्पन्न हुए मनुष्य क्षेत्रार्य कहलाते हैं।

क्षेत्रावग्रह—१. पुव्वावरायया खलु सेढी लोगस्स मज्झयारम्मि । जा कुणइ दुहा लोगं दाहिण तह उत्तरद्धं च ॥ माधारण आवलिया मज्झम्मि अवद्ध-चंदकप्पाणं । अद्धं च परक्खित्ते तेसिं अद्धं च सखित्ते ॥ सेढीइ दाहिणेणं जा लोगो उड्ढ मो सकवि-माणा । हेट्ठा वि य लोगंतो खित्तं सोहम्मरायस्स ॥ (बृहत्क. ६७२-७४) । २. यो यत्क्षेत्रमवगृह्णाति स क्षेत्रावग्रहः । स च समन्ततः सक्रोशं योजनमेक-स्मिन् क्षेत्रेऽवगृहीते सतीति । (प्रव. सारो. १२९) ।

१ लोक के मध्य में पूर्व-पश्चिम लंबी एक प्रदेशरूप श्रेणि है जो लोक को दो भागों में विभक्त करती है—दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध। इनमें दक्षिण अर्ध-लोक का अधिपति सौधर्म और उत्तर अर्धलोक का अधिपति ईशान इन्द्र है। अर्धचन्द्राकार सौधर्म व ईशान कल्पों में जो विमानपंक्ति है वह साधारण है - पूर्व-पश्चिम दिशागत तेरह प्रस्तरों में कुछ सौधर्म इन्द्र के और कुछ ईशान इन्द्र के हैं। इत्यादि प्रकार का जो क्षेत्रविभाग है, यह देवेन्द्र का क्षेत्रा-वग्रह है। अभिप्राय यह कि इन्द्र व चक्रवर्ती आदि जितने क्षेत्र में अपना आधिपत्य रखते हैं, उसे क्षेत्रावग्रह कहा जाता है।

क्षेत्राहार—क्षेत्राहारस्तु यस्मिन् क्षेत्रे आहारः क्रियते उत्पद्यते व्याख्यायते वा । यदि वा नगरस्य यो देशो धान्येन्धनादिनोपभोग्यः स क्षेत्राहारः । तद्यथा—मथुरायाः समासन्नो देशः परिभोग्यो मथुराहारो मोढेरकाहारः खेडाहार इत्यादि ।

(सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २, ३, १६६, पृ. ८७)।
जिस क्षेत्र में आहार किया जाता है, उत्पन्न होता है, अथवा व्याख्यान किया जाता है उसे क्षेत्राहार कहते हैं। अथवा नगर का जो देश (भाग) धान्य व इन्धन आदि के द्वारा उपभोग के योग्य होता है वह भी क्षेत्राहार कहलाता है।

क्षेत्रोज्झित—अमुगिच्चगं ण भुंजे उवणीयं तं च केणई तस्स। जं बुज्झे कप्पडिया स देश बहुवत्थदेसे वा॥ (बृहत्क. ६१२)।
मैं अमुक देश के वस्त्र का उपभोग न करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करने के पश्चात् यदि कोई उसे वही वस्त्र भेंट करे तो उसके नहीं ग्रहण करने को क्षेत्रोज्झित कहते हैं। अथवा कार्पटिक—अपने देश की ओर लौटकर आने वाले या अपने देश से अन्य देश की ओर जाने वाले—बीच में चोरों के भय आदि से जो वस्त्रों का परित्याग कर देते हैं, अथवा वस्त्र-प्रचुर देश में अन्य सुन्दर वस्त्र को लेकर पुराने को छोड़ देना, इत्यादि सब क्षेत्रोज्झित कहलाता है।

क्षेत्रोत्तर—क्षेत्रोत्तरं मेर्वाद्यपेक्षया यदुत्तरम्। (उत्तरा. शा. १, पृ. ३)।
मेरु आदि की अपेक्षा जो उत्तरदिशागत क्षेत्र है वह क्षेत्रोत्तर कहलाता है।

क्षेत्रोत्सर्ग—यत्क्षेत्रं दक्षिणदेशाद्युत्सृजति, यत्र वाऽपि क्षेत्रे उत्सर्गो व्यावर्ण्यते, एष क्षेत्रोत्सर्गः। (आव. हरि. वृ. १४५२, पृ. ७७१)।
दक्षिण आदि जिस क्षेत्र का त्याग किया जाता है, अथवा जिस क्षेत्र में उत्सर्ग का वर्णन किया जाता है, उसे क्षेत्रोत्सर्ग कहते हैं।

क्षेत्रोपक्रम—१. से किं तं खेत्तोवक्कमे ?, २ जण्णं हल-कुलिआईहिं खेत्ताइं उवक्कमिज्जंति से तं खेत्तोवक्कमे। (अनुयो. सू. ६७)। २. क्षेत्रस्योपक्रमः परिकर्म-विनाशकरणं क्षेत्रोपक्रमः। ××× यदत्र हल-कुलिकादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते—बीजवपनादियोग्यतामानीयन्ते स कर्मणि क्षेत्रोपक्रमः, आदिशब्दाद् गजेन्द्रबन्धनादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते विनाश्यन्ते स वस्तुनाशे क्षेत्रोपक्रमः, गजेन्द्रमूत्रपुरीषादिदग्धेषु हि क्षेत्रेषु बीजानामप्ररोहणात् विनष्टानि क्षेत्राणि इति व्यपदिश्यन्ते। (अनुयो. मल. हेम. वृ. ६७, पृ. ४८)।
२ खेत का जो परिकर्म (संस्कार) और विनाश किया जाता है उसे क्षेत्रोपक्रम कहते हैं। यथा—हल और कुलिक (जिस काष्ठविशेष से घास आदि को निकाला जाता है वह मारवाड़-प्रसिद्ध एक खेती का उपकरण) आदि के द्वारा खेतों का जो उपक्रम किया जाता है—उन्हें बीज बोने आदि के योग्य बनाया जाता है, यह परिकर्म रूप में क्षेत्रोपक्रम है। तथा हाथी के बन्धन आदि से—उनके मल-मूत्र आदि के द्वारा—जो खेतों का उपक्रम किया जाता है—उन्हें विनष्ट किया जाता है, यह वस्तु-नाशरूप में क्षेत्रोपक्रम है।

क्षेत्रोपसम्पत्—१. संजम-तव-गुण-सीला जम-णियमादी य जम्हि खेत्तम्हि। वड्ढंति तम्हि वासो खेत्ते उवसंपया णेया॥ (मूला. ४–१४१)। २. यस्मिन् क्षेत्रे संयम-तपोगुण-शीलानि यम-नियमादयश्च वर्द्धन्ते तस्मिन् वासो यः सा क्षेत्रोपसम्पत्। (मूला. वृ. ४–१४१)।
१ जिस क्षेत्र में रहने पर संयम, तप, गुण, शील, यम और नियमादिक वृद्धि को प्राप्त होते हैं उस क्षेत्र में निवास करने को क्षेत्र-उपसम्पत् कहा जाता है।

क्षेम—क्षेमं च लब्धपालनलक्षणम्। (ललितवि. मु. पं. पृ. ३०)।
प्राप्त हुए राज्यादि के विधिपूर्वक रक्षण करने को क्षेम कहते हैं।

क्षेमंकर—'क्षेमं' शान्तिः रक्षा, तत्करणशीलः क्षेमंकरः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, ४, पृ. १४१)।
क्षेम नाम शान्ति या रक्षा का है। जिसका स्वभाव शान्ति या रक्षा करने का है उसे क्षेमंकर कहा जाता है।

क्षेम-अक्षेमरूप—तथा क्षेमोऽक्षेमरूपस्तु सः (ज्ञानादिसमन्वितः) एव भावसाधुः कारणिकद्रव्यलिङ्ग-रहितः। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १, ११, १११, पृ. १९९)।
अन्तरंग में ज्ञान-संयमादि के धारक, किन्तु बाह्य में साधुपदोचित प्रयोजनीभूत द्रव्यलिंग से रहित साधु को क्षेम-अक्षेमरूप भावमार्ग कहते हैं।

क्षेम-क्षेमरूप—ज्ञानादिसमन्वितो द्रव्यलिङ्गोपेतश्च साधुः क्षेमः क्षेमरूपश्च। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १, ११, १११, पृ. १९९)।
अन्तरङ्ग में ज्ञानादि से युक्त तथा बाह्य में द्रव्य-

लिंग से भी युक्त साधु को क्षेम-क्षेमरूप भावमार्ग कहते हैं।

क्षोभ—निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते। (प्रव. सा. जय. वृ. ८)।

निर्विकार और निश्चल चित्तवृत्तिरूप चारित्र के विनाशक चारित्रमोह को क्षोभ कहते हैं।

क्ष्मालीक—क्ष्मालीकं परस्वकामपि भूमिमात्मस्वकां विपर्ययं वा वदतो भवेत्। (सा. ध. स्वो. टी. ४–३९)।

दूसरे की भी भूमि को अपनी बतलाने तथा अपनी को दूसरे की भूमि बतलाने को क्ष्मालीक कहते हैं। अभिप्राय यह कि भूमि-सम्बन्धी असत्य वचन को क्ष्मालीक कहते हैं।

क्ष्वेलौषधि—१. जीए लाला सेंभच्छीमल-सिंहाण-आदिआ सिग्धं। जीवाण रोगहरणा स च्चिय खेलोसही रिद्धी॥ (ति. प. ४–१०६९)। २. क्ष्वेलो निष्ठीवनमौषधिर्येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः। (त. वा. ३, ३६, ३)। ३. सेंभ-लाला-सिंघाण-विप्पुसादीण खेलो त्ति सण्णा। एसो खेलो ओसहित्तं पत्तो जेसिं ते खेलोसहिपत्ता। (धव. पु. ९, पृ. ९६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से कफ, आंख का मल और नासिका का मल आदि जीवों के रोग को शीघ्र दूर करने वाले होते हैं वह क्ष्वेलौषधि ऋद्धि कहलाती है।

खगचर—विज्जाए विणा सहावदो चेव गगण-गमणसमत्थेसु खगयरत्तप्पसिद्धीदो। (धव. पु. ११, पृ. ११५)।

विद्या के बिना स्वभाव से ही जो आकाश में गमन करने में समर्थ हो वह खगचर कहलाता है।

खड्गमुद्रा—दक्षिणकरेण मुष्टिं बद्ध्वा तर्जनीं मध्ये प्रसारयेदिति खड्गमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३१)।

दाहिने हाथ की मुट्ठी बांध कर तर्जनी अंगुली के फैलाने को खड्गमुद्रा कहते हैं।

खण्ड—१. खण्डो घटादीनां कपाल-शर्करादिः। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, १४; कार्तिके. टी. २०६)। २. घट-करकादीनां भित्त-शर्करादिकरणं खण्डः प्रतिपाद्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४)।

१ घड़े के कपाल-शर्करा आदि टुकड़ों को खण्ड कहते हैं।

खण्डकुट—यस्य पुनरेकपार्श्वे खण्डेन हीनता स खण्डकुटः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

एक बाजू से फूटे हुए घड़े को खण्डकुट कहते हैं।

खण्डकुट-समान शिष्य—यस्तु व्याख्यानमण्डल्यामुपविष्टोऽर्द्धमात्रं त्रिभागं चतुष्कं वा हीनं वा सूत्रार्थमवधारयति तथाऽवधारितं च स्मरति स खण्डकुटसमानः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

जैसे खण्डित हुए घड़े में धारण किया गया जल अल्प मात्रा में ठहरता है, इसी प्रकार जो शिष्य व्याख्यानमण्डली में बैठकर गुरु के द्वारा उपदिष्ट सूत्रार्थ को आधा, तृतीयांश, चतुर्थांश अथवा और भी हीन अवधारण करता है व अवधारित का स्मरण करता है उसे खण्डकुट समान शिष्य कहते हैं।

खण्डाभेद—से किं तं खंडाभेदे? जण्णं अयखंडाण वा तउखंडाण वा तंबखंडाण वा सीसखंडाण वा रययखंडाण वा जातरूवखंडाण वा खंडएण भेदे भवति से तं खंडाभेदे। (प्रज्ञाप. ११–१७१)।

लोहा, त्रपु (रांगा), तांबा, शीशा, चांदी और सोना; इनके खण्डों का जो खण्डरूप से भेद होता है उसे खण्डाभेद कहते हैं।

खलता — × × × अपगुणकथाभ्यासखलता। (युक्त्यनु. ६४)।

अवगुणों की कथा के अभ्यास का नाम खलता है।

खलीन दोष— १. यः खलीनपीडितोऽश्व इव दन्तकटकटं मस्तकं कृत्वा कायोत्सर्गं करोति तस्य खलीनदोषः। (मूला. वृ. ७–१७१)। २. खलीनमिव रजोहरणं पुरस्कृत्य स्थानं खलीलनदोषः। अन्ये खलीनार्तहयवदूर्ध्वाधःशिरःकम्पनं खलीनदोषमाहुः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ३. × × × खलीनितम्। खलीनार्तहयवद्दन्तघृष्टयोर्ध्वाधश्च लक्शिरः। (अन. ध. ८–११६)।

१ खलीन नाम घोड़े की लगाम का है। खलीन से पीड़ित घोड़े के समान दांतों की कटकटाहट युक्त मस्तकको करके जो कायोत्सर्ग करता है उसके खलीन दोष होता है। २ खलीन के समान रजोहरण को आगे करके स्थित होना, यह खलीनदोष कहलाता

है। दूसरे आचार्यों का कहना है कि लगाम से पीड़ित घोड़े के समान ऊपर-नीचे शिर के कंपाने का नाम खलीनदोष है।

खात—१. खातं भूमिगृहादि। (योगशा. स्वो. विव. १–६५)। २. खातं तूभयमपि सममिति। (जम्बूद्वी. शा. वृ. १२, पृ. ७६; जीवाजी. मलय. वृ. ३, १, ११७, पृ. १५६)।

१ भूमिगृह (तलघर) का नाम खात है।

खातोच्छ्रित—खातोच्छ्रितं भूमिगृहस्योपरि गृहादिसन्निवेशः। (योगशा. स्वो. विव. ३–६५)।

भूमिगृह के ऊपर बनाये गये गृहादि को खातोच्छ्रित कहते हैं।

खाद्य—शर्करादि वा। खाद्यं ×××॥ (लाटीसं. २–१६)

शक्कर आदि खाद्य कहलाते हैं।

खारी—षोडशद्रोणा खारी। (त. वा. ३, ३८,३)।

सोलह द्रोण प्रमाण मापविशेष को खारी कहते हैं।

खेट—१. गिरि-सरिकदपरिवेढं खेडं ××× ॥ (ति. प. ४–१३९८)। २. सरित्पर्वतावरुद्धं खेडं णाम। (धव. पु. १३, पु. ३३५)। ३. खेटं नद्याद्रिवेष्टितम्। (मूला. वृ. ६–८६)। ४. खेटं धूलीप्राकारम्। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. १७५; औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७४)। ५. पांसु-प्राकारनिबद्धं खेटम्। (जीवाजी. मलय. वृ. १–३६); पांशुप्राकारनिबद्धानि खेटानि। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४७, पृ. २७९)।

१ पर्वत और नदी से वेष्टित क्षेत्र को खेट कहा जाता है। ४ जिस नगर के चारों ओर धूलि—मिट्टी से बना हुआ—कोट हो, उसे खेट कहते हैं।

खेटादिकथा—खेटं नद्याद्रिवेष्टितं नदी-पर्वतैरवरुद्धः प्रदेशः। कर्वटं सर्वत्र पर्वतेन वेष्टितो देशः। कथात्र सम्बध्यते—कर्वटकथाः खेटकथास्तथा संवाहन-द्रोणमुखादिकथाश्च, तानि शोभनानि निविष्टानि सुदुर्गाणि वीरपुरुषाधिष्ठितानि सुयंत्रितानि परचक्राभेद्यानि बहुधन-धान्यार्थनिचितानि, सर्वथाभोग्यानि, न तत्र प्रवेष्टुं शक्नोतीत्येवमादिवाक्प्रलापाः खेटादिकथाः। (मूला. वृ. ९–८६)।

नदी और पर्वत से अवरुद्ध प्रदेश को खेट कहते हैं। वे खेट, संवाहन व द्रोणमुख आदि सुन्दर, उत्तम दुर्गों से सहित, शूर-वीर पुरुषों से अधिष्ठित, भली भांति नियंत्रित, शत्रु से अभेद्य, बहुत धन-धान्यादि से परिपूर्ण और उपभोग्य होते हैं; इत्यादि प्रकार से खेट आदि के सम्बन्ध में कथा-वार्ता करना, इसे खेटादिकथा कहते हैं।

खेद—अनिष्टलाभः खेदः। (नि. सा. टी. ६)।

अनिष्ट के संयोग से चित्त में होने वाली खिन्नता को खेद (अठारह दोषगत एक दोष) कहते हैं।

खेलौषधि ऋद्धि—देखो क्ष्वेलौषधि।

गगन—आगासं गगणं देवपथं गोज्झगाचरिदं अवगाहणलक्खणं आधेयं वियापगमाधारो भूमि त्ति एयट्ठो। (धव. पु. ४, पृ. ८)।

जो अन्य द्रव्यों को स्थान देने वाला है उसे गगन कहते हैं। आकाश, देवपथ, गुह्यकाचरित, अवगाहनलक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि; ये उसके समानार्थक नाम हैं।

गगनगामिनी—देखो आकाशगामिनी। गच्छेदि जीए ऐसा रिद्धी गयणगामिणी णाम। (ति. प. ४–१०३४)।

जिसके प्रभाव से आकाश में गमन किया जा सकता है उसे गगनगामिनी ऋद्धि कहते हैं। आकाशगामिनी भी इसी का दूसरा नाम है।

गच्छ—१. तिपुरिसओ गणो, तदुवरि गच्छो। (धव. पु. १३, पृ. ६३)। २. एकाचार्यप्रणेयसाधुसमूहो गच्छः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–२४; योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। ३. साप्तपुरुषिको गच्छः। (मूला. वृ. ४–१५३)।

१ तीन पुरुषों का गण और उसके आगे गच्छ होता है। २ एक आचार्य के नेतृत्व में रहने वाले साधुओं के समूह को गच्छ कहते हैं।

गड्डी—दहरदोचक्काओ धण्णादिहलुअदव्ववहणक्खमाओ गड्डीओ णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३८)।

धान्य आदि हलके द्रव्य के भार के ढोने में समर्थ दो चाकों वाली गाड़ी को गड्डी कहा जाता है।

गण—१. गणः स्थविरसन्ततिः। (स. सि. ९, २४; त. श्लो. ९–२४; भावप्रा. टी. ७८)। २. गणः स्थविरसन्ततिसंस्थितिः। (त. भा. ९, २४)। ३. गणः स्थविरसन्ततिः। स्थविराणां सन्ततिर्गण इत्युच्यते। (त. वा. ९, २४, ८)। ४. गण इति एकवाचनाचार-क्रियास्थानां समुदायः।

(आव. नि. हरि. व मलय. वृ. २११)। ५. तिपुरिसओ गणो। (धव. पु. १३, पृ. ६३)। ६. स्थविराणां सन्ततिर्गणः। (चा. सा. पृ. ६६)। ७. त्रैपुरुषिको गणः (मूला. ४-१५३)। ८. कुलसमुदायो गणः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। ९. गणः कुलानां समुदायः। (औपपा. अभय. वृ. २०, पृ. ४३)। १०. गणो मल्लगणादिः। (व्यव. मलय. वृ. पृ. ११७)। ११. वृद्धमुनिसमूहो गणः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२४; कार्तिके. टी. ४५७)।

१ जो साधु स्थविर—मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध होते हैं उनके समूह को गण कहा जाता है।

गणक—गणकः संख्याविद् दैवज्ञो वा। (नीतिवा. १४-२७)।

संख्या के जानकार गणितज्ञ को अथवा दैवज्ञ (ज्योतिषी) को गणक कहते हैं।

गणधर—१. × × × गणपरिरक्खो मुणेयव्वो॥ (मूला. ४-३५, पृ. १३५); पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो। संगह-णिग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो॥ गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य। चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि॥ (मूला. ४, ६२-६३, पृ. १५७-५८)। २. अनुत्तरज्ञान-दर्शनादिधर्मगणं धारयतीति गणधरः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १४, पृ. १०)। ३. गणा द्वादश यत्यादयो जिनेन्द्रसभ्याः। गणान् धारयन्ति दुर्गतिमार्गान्मिथ्याश्रद्धानादेर्विनिवृत्त्य शिवमार्गे सम्यग्दर्शनादौ स्थापयन्तीति गणधराः सप्तविधर्द्धिप्राप्ताः धर्माचार्याः। (भ. आ. मूला. ३४)। ४. यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग् विहरति स गणधरः। (आचा. शी. वृ. २, १, १०, २७९, पृ. ३२२)। ५. प्रभावनाधिकोऽबाधमन्त्राद्यैः संघवर्तकः। जगत्रादेयवाग्मूर्तिवर्तकः कालदेशवित्॥ समर्थस्थितिसद्गीतिः स्थविरः स्याद् गुणस्थिरः। रणरक्षाक्षमः सूरिर्गुणी गणधरः स्मृतः॥ (आचा. सा. २-३५, ३६)।

१ जो गण का रक्षण करता है वह गणधर कहलाता है। २ जो अनुपम ज्ञान-दर्शनादिरूप धर्मगण को धारण करता है उसे गणधर कहते हैं। ४ आचार्यसदृश जो गुरु की आज्ञा से साधुगण को लेकर पृथक् विहार करता है वह गणधर कहलाता है।

गणधरत्व—गणधरत्वं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम्। (त. वा. ८ १२, ४१)।

श्रुतज्ञानावरण के प्रकृष्ट क्षयोपशम के निमित्त से गण के धारण में समर्थ होना, इसका नाम गणधरत्व है।

गणना—गणनं परिसंख्यानमेकं द्वे त्रीणि इत्यादि। (व्यव. भा. मलय. वृ. १, २, पृ. २)।

एक, दो व तीन इत्यादि संख्या करने का नाम गणना है।

गणनाकृति (गणणकदी)—जा सा गणणकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा—एओ णोकदी, दुवे अवत्तव्वा कदि त्ति वा णोकदि त्ति वा, तिप्पहुडि जाव संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा कदी, सा सव्वा गणणकदी णाम। (षट्खं. ४, १, ६६—पु. ९, पृ. २७४)।

नोकृति, अवक्तव्यकृति और कृति आदि के भेद से गणनाकृति अनेक प्रकार की है। इनमें एक (१) का चूंकि वर्ग सम्भव नहीं है, अतः वह नोकृति है। दो (२) का वर्ग करने पर वर्ग तो होता है पर उसके वर्ग में से वर्गमूल को कम करके वर्ग करने पर वृद्धि नहीं होती ($२^२=४$; $४-२=२$), अतः न उसे कृति कहा जा सकता है और न नोकृति ही; इसीलिए वह अवक्तव्य कृति है। आगे की तीन (३) आदि किसी भी संख्या के वर्ग में से वर्गमूल को कम करके वर्ग करने पर वृद्धि होती है, अतः ये सब संख्याएं कृति कहलाती हैं। जैसे—$३^२=९$; $९-३=६$; $६^२=३६$ इत्यादि।

गणनानन्त—जं तं गणणाणंतं तं तिविहं—परित्ताणंतं, जुत्ताणंतं, अणंताणंतमिदि। (धव. पु. ३, पृ. १८)।

परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त को गणनानन्त कहा जाता है। इनके लक्षण उन उन शब्दों में द्रष्टव्य हैं।

गणनाम—से किं तं गणनामे १, २ मल्ले मल्लदिन्ने मल्लधम्मे मल्लसम्मे मल्लदेवे मल्लदासे मल्लसेणे मल्लरक्खिए, से तं गणनामे। (अनुयो. १३०, पृ. १४६)।

जो नाम (शब्द) मल्ल, मल्लदत्त, मल्लधर्म, मल्लशर्म (या मल्लश्रम), मल्लदेव, मल्लदास, मल्लसेन और मल्लरक्षित; इन गणविशेषों में वर्तमान

हो वह गणनाम कहलाता है।

गणनामान—एक-द्वि-त्रि-चतुरादिगणितमानं गणनामानम्। (त. वा. ३, ३८, ३, पृ. २०५)।

एक, दो, तीन और चार आदि संख्यारूप मान को गणनामान कहते हैं।

गणनासंख्येय—देखो असंख्येय। जं तं गणणासंखेज्जयं तं तिविहं—परित्तासंखेज्जयं, जुत्तासंखेज्जयं असंखेज्जासंखेज्जयं चेदि। (धव. पु. ३, पृ. १२६)।

गणनासंख्यात परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात के भेद से तीन प्रकार का है। (इनके पृथक्-पृथक् लक्षण उन्हीं शब्दों में देखना चाहिए।)

गणाधिप—गणाधिपः धर्माचार्यस्तादृग्गृहस्थाचार्यो वा। (सा. ध. स्वो. टी. २-५१)।

धर्माचार्य, अथवा उसके समान गृहस्थाचार्य को गणाधिप कहा जाता है।

गणावच्छेदक—गणावच्छेदकस्तु गच्छकार्यचिन्तकः। (आचारा. शी. वृ. २, १, १०, २७९, पृ. ३२२)।

गच्छ के—एक आचार्य के नेतृत्व में वर्तमान साधु-समूह के—कार्यों की जो चिन्ता करता है, वह गणावच्छेदक कहलाता है।

गणितपद—विक्खंभपायगुणिउ परिरउ तस्स गणियपयं। (लघुसंग्रहणी ७)।

वृत्त क्षेत्र की परिधि को विष्कम्भ के चतुर्थ भाग से गुणित करने पर उसका गणितपद (क्षेत्रफल) होता है।

गणिम—से किं तं गणिमे ?, २ जण्णं गणिज्जइ। तं जहा—एगो दस सयं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडी। एएणं गणिमप्पमाणेणं किं पओअणं ? एएणं गणिमपमाणेणं भितगभिति-भत्त-वेअण-आयव्वयसंसिआणं दव्वाणं गणियप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ, से तं गणिमे। (अनुयो. सू. १३२, पृ. १५४)।

एक, दश, शत, सहस्र, दशसहस्र, शतसहस्र (लक्ष), दशशतसहस्र और कोटि आदि संख्याओं को गणिम कहते हैं। भृतक (सेवक), भृति (पदाति आदिकों की वृत्ति), भोजन एवं जुलाहे आदि का वेतन; इन सबके आय-व्यय से सम्बद्ध रुपया आदि द्रव्यों के लेखा-जोखा की सिद्धि यह उक्त गणिम का प्रयोजन है।

गणी—१. एकादशाङ्गविद् गणी। (धव. पु. १४, पृ. २२)। २. गच्छाधिपो गणी। (आचारा. शी. वृ. २, १, १०, पृ. ३२२)।

१ ग्यारह अंगों के ज्ञाता को गणी कहते हैं। २ गच्छ के स्वामी को गणी कहते हैं।

गण्डि—गच्छति प्रेरितः प्रतिपथादिना डीयते च कूर्दमानो विहायोगमनेनेति गण्डिः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–६४, पृ. ४९)।

प्रेरित किये जाने पर जो कुमार्ग से जाता है तथा उछलते-कूदते हुए जो आकाशगमन से भी छलांग मारता है उसे गण्डि कहते हैं।

गण्डिका—इहैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०९; समवा. अभय. वृ. १४७)।

एक वक्तव्यतारूप अर्थाधिकार से अनुगत वाक्यपद्धतियों को गण्डिका कहते हैं।

गण्डिकानुयोग — तासां (गण्डिकानां) अनुयोगः अर्थकथनविधिः गण्डिकानुयोगः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०९; समवा. अभय. वृ. १४७, पृ. १२२)।

गण्डिकाओं के अर्थ की कथनविधि को गण्डिकानुयोग कहते हैं।

गतप्रत्यागततप—यया वीथ्या गतः पूर्वं तयैव प्रत्यागमनं कुर्वन् यदि लभते भिक्षां गृह्णाति, नान्यथा। (भ. आ. विजयो. २१८)।

पहले जिस वीथी (गली) से गया था, उसी वीथी से लौटते हुए यदि भिक्षा मिले तो ग्रहण करे, अन्यथा ग्रहण न करे; इस प्रकार के नियम लेने को गत-प्रत्यागतवृत्तिपरिसंख्यानतप कहते हैं।

गतरूपध्यान—ण य चिंतइ देहत्थं देहबहित्थं ण चिंतए किं पि। ण सगय-परगयरूवं तं गयरूवं णिरालंबं॥ जत्थ ण करणं चिंता अक्खररूवं ण धारणा धेयं। ण य वावारो कोई चित्तस्स य तं णिरालंबं॥ इंदियविसयवियारा जत्थ खयं जंति राय-दोसं च। मणवावारा सव्वे तं गयरूवं मुणेयव्वं॥ (भावसं. दे. ६२८–३०)।

जिस ध्यान में न देहस्थ किसी वस्तु का चिन्तन किया जाता है, न देह के बाहिर स्थित किसी वस्तु का चिन्तन किया जाता है, न स्वगत रूप का

चिन्तन किया जाता है, न परगत रूप का चिन्तन किया जाता है; जहां करण, चिन्ता व अक्षर-क्रम नहीं है; धारणा व ध्येय नहीं है; चित्त का कोई व्यापार नहीं है तथा जहां इन्द्रियविषयों सम्बन्धी व्यापार, राग-द्वेष और सब मन के व्यापार नहीं हैं; उसे निरालम्ब गतरूप (रूपातीत) ध्यान कहा जाता है।

गति—१. देखो गतिपरिणाम। गइकम्मविणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा। जीवा हु चाउरंगं गच्छंति त्ति य गई होई॥ (प्रा. पंचसं. १–५९; धव. पु. १, पृ. १३५ उद्.)। २. गम्यतेऽसाविति गतिर्नारकाद्युत्पत्तिस्थानम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८, १२)। ३. गतिकर्मणा समुत्पन्न आत्मपर्यायः गतिः। (धव. पु. १, पृ. १३५); गतिर्भवः संसार इत्यर्थः। ××× जम्हि जीवभावे आउकम्मादो लद्धावट्ठाणे संते सरीरादियाइं कम्मादिमुदयं गच्छंति सो भावो जस्स पोग्गलक्खंधस्स मिच्छत्तादिकारणेहि पत्तकम्मभावस्स उदयादो होदि तस्स कम्मक्खंधस्स गदि त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५०); भवाद् भवसंक्रान्तिर्गतिः। (धव. पु. ७, पृ. ६); इच्छिदगदीदो अण्णगदिगमणं गदी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४६)। ४. देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–१७)। ५. गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई। णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवगइ त्ति य हवे चदुधा॥ (गो. जी. १४६)। ६. गतिः देशान्तरसंचाररूपा। (ध. बि. मु. वृ. ७–११)। ७. मरणानन्तरं मनुजत्वादेः सकाशान्नारकत्वादौ जीवस्य गमनं गतिः। (स्थाना. अभय. वृ. १–२५, पृ. २०); चलनं मृत्वा वा गत्यन्तरगमनलक्षणः। (स्थाना. अभय. वृ. २, ३, ८३, पृ. ६२)। ८. तत्र गम्यते नैरयिकादिगतिकर्मोदयवशादवाप्यते इति गतिः नैरयिकत्वादिपर्यायपरिणतिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १३–१८०); गम्यते तथाविधकर्मसचिवैः प्राप्यते इति गतिर्नारकत्वादिपर्यायपरिणतिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३, २९३, पृ. ४६६)।

१ गतिनामकर्म के उदय से जो चेष्टा निर्मित होती है उसे गति जानना चाहिए। २ 'गम्यते ऽसाविति गतिः' इस निरुक्ति के अनुसार नारक आदि के [illegible] जाता है। ३ गति नामकर्म के उदय से जो आत्मा की पर्याय उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं।

गतिनाम—१. यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः। (स. सि. ८–११; त. श्लो. ८–११; भ. आ. मूला. २०९५)। २. गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद् गतिरौदयिकी। येन कर्मणा आत्मनो नारकादिभावावाप्तिर्भवति तद्गतिनाम। (त. वा. २, ६, १); यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः। यस्य कर्मण उदयवशात् आत्मा भवान्तरं प्रत्यभिमुखो अग्र्यामास्कन्दति सा गतिः। (त. वा. ८, ११, १)। ३. गतिनाम यदुदयान्नरकादिगतिगमनम्। (श्रा. प्र. टी. २०)। ४. गतिनाम प्रति स्वं(?)गत्याभिधानकारणम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ ६३)। ५. जं णिरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाणं णिव्वत्तयं कम्मं तं गदिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३)। ६. गतिनामोदयादेव गतिः ×××। (तत्त्वा. श्लो. २, ६, २)। ७. गतिर्भवति जीवानां गतिकर्मविपाकजा। (त. सा. २–३८)। ८. यया गच्छन्ति संसारं या कृता गतिकर्मणा। शुभ्रगत्यादिभेदेन गतिः सास्ति चतुर्विधा॥ (पंचसं. अमित. १–१३६, पृ. २७)। ९. गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति तथाविधकर्मोदयसचिवा जीवास्तामिति गतिः नारकादिपर्यायपरिणतिस्तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः, सैव नाम गतिनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १६)। १०. गतिनाम यदुदयान्नारकादित्वेन जीवो व्यपदिश्यते। (समवा. अभय. वृ. ४२, पृ. ६३)। ११. गतिनामकर्मोदयाज्जातो नारकत्वादिपर्यायो गतिः, कार्ये कारणोपचारात्। अत्र कर्मोदयवशवर्तिना जीवेन गम्यते प्राप्यते इति गतिः इति निरुक्तिः। अथवा संसारिणां चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्गतिनामकर्म। विवक्षितनारकादिपर्यायं गच्छन्ति संसारिणो जीवा यया सा गतिरिति निरुक्त्या गतिनामकर्मण एव चतुर्गतिगमनहेतुत्वसिद्धेः। (गो. जी. म. प्र. १४६)।

१ जिस कर्म के उदय से जीव अन्य भव को जाता है उसे गतिनामकर्म कहते हैं। ३ जिसके उदय से नरकादिगति के लिए गमन होता है वह नरकगति नामकर्म कहलाता है।

गतिपरिणाम— १. देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः। (स. सि. ४–२१ व ५–१७; गो. जी. जी. प्र. १०५; त. वृत्ति श्रुत. ४–२१)। २. देशान्तर-

प्राप्तिहेतुर्गतिः । उभयनिमित्तवशात् उत्पद्यमानः कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते । (त. वा. ४, २१, १); द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिः । द्रव्यस्य बाह्याभ्यन्तरहेतुसन्निधाने सति परिणममानस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिरित्युच्यते । (त. वा. ५, १७, १) । ३. उभयनिमित्तवशाद् देशान्तरप्राप्तिनिमित्तः कायपरिस्पन्दो गतिः । (त. श्लो. ४–२१) ।

१ जो अवस्था किसी एक देश से दूसरे देश की प्राप्ति में कारण होती है उसे गति परिणाम कहा जाता है ।

गत्याख्यान—नरकादिप्रभेदेन चतस्रो गतयो मताः । तासां संकीर्तनं यत्र गत्याख्यानं तदिष्यते ।। (म. पु. ४–१०) ।

नरकादि चारों गतियों का व्याख्यान करने को गत्याख्यान कहते हैं ।

गदामुद्रा— वामहस्तमुष्टेरुपरि दक्षिणमुष्टिं कृत्वा गात्रेण सह किञ्चिदुन्नामयेदिति गदामुद्रा । (निर्वाणक. १९–७, पृ. ३२) ।

बायें हाथ की मुट्ठी के ऊपर दाहिने हाथ की मुट्ठी को रखकर शरीर के कुछ ऊंचा करने को गदामुद्रा कहते हैं ।

गन्धनाम—१. यदुदयप्रभवो गन्धस्तद् गन्धनाम । (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, १०) २. शरीरविषयं सौरभं दुर्गन्धित्वं च यस्य कर्मणो विपाकान्निवर्तते तद्गन्धनाम । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२) । ३. जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे जादिपडिणियदो गंधो उप्पज्जदि तस्स कम्मक्खंधस्स गंधसण्णा । (धव. पु. ६, पृ. ५५); जस्स कम्मस्सुदएण सरीरे दुविहगंधणिप्फत्ती होदि तं गंधणामं । (धव. पु. १३, पृ. ३६४) । ४. गन्धनाम सुरभि-गन्धदुरभिगन्धनिबन्धनम् । (धर्मसं. मलय. वृ. ६१८) । ५. तथा गन्ध अर्दने, गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्धः × × × तन्निबन्धनं गन्धनाम । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७३) । ६. यदुदयाद् गन्धस्तद् गन्धनाम । (भ. आ. मूला. २१२४)। ७. यदुदयेन गन्धो भवति स गन्धः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११) ।

१, २ जिस नामकर्म के उदय से शरीर में सुगन्ध या दुर्गन्ध उत्पन्न हो उसे गन्धनाम कहते हैं ।

गन्धर्व— देखो गान्धर्व । १. इन्द्रादीनां गायकाः गन्धर्वाः । (धव. पु. १३, पृ. ३९१) । २. गन्धर्वाः प्रियदर्शनाः सुरूपाः सुमुखाकाराः सुस्वराः मौलि-मुकुटधरा हारविभूषणाः । (बृहत्संग्रहणी मलय. वृ. ५८) ।

१ इन्द्र आदि के जो गान करने वाले देव होते हैं वे गन्धर्व कहलाते हैं । २ जो व्यन्तरदेव देखने में सुन्दर, उत्तम स्वर से संयुक्त तथा मुकुट व हार से विभूषित होते हैं वे गन्धर्व कहलाते हैं ।

गमनक्रिया सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया । (भ. आ. विजयो. व मूला. ८६) ।

सूर्य के अभिमुख जाने को गमनक्रिया कहते हैं । स्थानक्रिया, आसनक्रिया, शयनक्रिया और गमनक्रिया; ये नग्नता के माहात्म्य को सूचित करने वाली क्रियायें हैं ।

गमिकश्रुत—भिन्ने यदर्थजाते सदृशाक्षरालापकं तद् गमिकम् । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १३) ।

अर्थ की भिन्नता के होते हुए भी अक्षरों की समानता रखने वाले पाठों से युक्त शास्त्र को गमिक श्रुत कहते हैं ।

गरिमा—१. वज्जाहितो गुरुवत्तणं च गरिम त्ति भण्णंति ।। (ति. प. ४, १०२७) । २. वज्रादपि गुरुतरशरीरता गरिमा । (त. वा. ३, ३६, ३) । ३. वज्रादपि गुरुतरदेहता गरिमा । (चा. सा. पृ. ९७) । ४. गुरुशरीरविधानं गरिमा । (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६) ।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से वज्र से भी गुरुतर शरीर बनाया जा सके उसे गरिमा ऋद्धि कहते हैं ।

गरुडा—गरुडाकारविकरणप्रियाः गरुडा । (धव. पु. १३, पृ. ३९१) ।

जो देव गरुड के आकाररूप विक्रिया के करने में अनुराग रखते हैं वे गरुड कहे जाते हैं ।

गरुडमुद्रा—आत्मनोऽभिमुखदक्षिणहस्तकनिष्ठिकया वामकनिष्ठिकां संगृह्याधःपरावर्तितहस्ताभ्यां गरुडमुद्रा । (निर्वाणक. १९, ९, ६, पृ. ३३) ।

अपने अभिमुख दाहिने हाथ की कनिष्ठिका अंगुली से बायें हाथ की कनिष्ठिका को ग्रहण करके हाथों के नीचे परावर्तित करने से गरुडमुद्रा होती है ।

गर्दतोय—गर्दाः शब्दाः तोयवत् प्रवहन्ति, लहरीतरङ्गवत् प्रवर्तन्ते येषु ते गर्दतोयाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–२५)।

शब्दों को गर्द और जल को तोय कहते हैं। जिनके मुख से शब्द जल की तरंग के समान प्रवाहित हों उन लौकान्तिक देवों को गर्दतोय कहते हैं।

गर्भ—१. स्त्रिया उदरे शुक्र-शोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भः, मात्रोपभुक्ताहारगरणाद्वा गर्भः। (स. सि. २–३१)। २. शुक्र-शोणितयोर्गरणाद् गर्भः। यत्र शुक्र-शोणितयोर्गरणं मिश्रणं भवति स गर्भः। मात्रोपभुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा। अथवा मात्रोपभुक्तस्याहारस्यात्मसात्करणाद् गरणाद् गर्भः। (त. वा. २, ३१, २–३)। ३. गर्भ इति स्त्रीयोनौ शुक्र-शोणितपुद्गलादानं गरणं गर्भः। (त. भा. हरि. वृ. २–३२)। ४. शुक्र-शोणितगरणाद् गर्भः, मातृप्रयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा। (त. श्लो. २–३१)। ५. तथा योषिद्योनावैकध्यमागत्य ग्रहणं शुक्र-शोणितयोर्यत् क्रियते जीवेन अनन्यभ्यवहृताहाररसपरिपोषापेक्षं तद् गर्भजन्मोच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–३२)। ६. गर्भः शुक्र-शोणितसंपातः। (सिद्धिवि. वृ. ६–२५, पृ. ६३८)। ७. शरीरपरिणतिकारणशुक्र-शोणितस्य गरणं स्वीकारो गर्भः। (गो. जी. म. प्र. टी. ८३)। ८. जायमानजीवेन शुक्र-शोणितरूपपिण्डस्य गरणं-शरीरतया उपादानं गर्भः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ८३; कार्तिके. टी. १३०)। ९. मातुरुदरे रेतःशोणितयोः गरणं मिश्रणं जीवसंक्रमणं गर्भः। (त. वृत्ति श्रुत. २–३१)।

१ स्त्री की योनि में जो वीर्य और रज का मिश्रण होता है उसे गर्भ कहते हैं, अथवा माता के द्वारा उपभुक्त आहार के आत्मसात् करने का नाम गर्भ है।

गर्भजन्मा—जायमानजीवेन शुक्र-शोणितरूपपिण्डस्य गरणं शरीरतयोपादानं गर्भः, ततो जाता ये गर्भजाः तेषां गर्भजानां जन्म उत्पत्तिर्येषां ते गर्भजन्मानः। (कार्तिके. टी. १३०)।

गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीवों को गर्भजन्मा कहते हैं।

गर्हा—१. गर्हेति हिंसा-पारुष्य-पैशून्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमेव भवतीति। (त. भा. ७–९)। २. गरहा वि तहा जाईअमेव नवरं परप्पगासणया। (आव. नि. १०५०)। ३. परसाक्षिकी गर्हा। (दशवै. हरि. वृ. ४–२, पृ. १४४)। ४. गर्हणं गर्हा कुत्सा, शास्त्रप्रतिसिद्धवागनुष्ठानं गर्हितम्, कुत्सितमिति यावत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–९)। ५. गर्हा परेषां ' वं (सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्र-पात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीतः इत्येवं) कथनम्। (भ. आ. विजयो. ८७)। ६. जाते दोषे द्वेष-रागादिदोषैरग्रे भक्त्याऽऽलोचना या गुरूणाम्। पञ्चाचाराचारकाणामदोषा सोक्ता गर्हा गर्हणीयस्य हन्त्री॥ (अमित. श्रा. २–७७)। ७. गुरुसाक्षिकी गर्हा। (स्थानां. अभय. वृ. ३, ३, १६८; योगशा. स्वो. विव. ३–८२; कार्तिके. टी. ३२६)। ८. गरहणं—निंदेव, गुर्वादिसाक्षिकेत्यर्थः। (भ. आ. मूला. ८७)। ९. गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः। निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये। (लाटीसं. ३–११७; पंचाध्या. २–४७४)।

१ हिंसा, कठोरता और पिशुनता आदि से युक्त वचन सत्य होने पर भी गर्हा युक्त होने से गर्हित कहे जाते हैं। २ दूसरे के समक्ष जो आत्मनिन्दा की जाती है उसका नाम गर्हा है। ५. समस्त परिग्रह का छोड़ना, यह मुक्ति का मार्ग है। पर मुझ पापी ने परीषह से डरकर वस्त्र व पात्र आदि परिग्रह को ग्रहण किया है, इस प्रकार दूसरों से कहना; इसका नाम गर्हा है।

गर्हित वचन—देखो गर्हा। १. कक्कसवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्ण-हासवयणं च। जं किं चि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण॥ (भ. आ. विजयो. ८३०)। २. पैशून्य-हासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च। अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥ (पु. सि. ९६)। ३. हिंसन-ताडन-भीषण-सर्वस्वहरण-पुरःसरविशेषम्। गर्ह्यं वचो भाषन्ते गर्होज्झितवचनमर्मज्ञाः॥ (अमित. श्रा. ६–५५)।

१ कर्कश, निष्ठुर, पैशून्य (परदोषसूचक) और हास्यगर्भित वचनों को गर्हित वचन कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी बकवाद किया जाता है, वह सब गर्हित वचन कहलाता है।

गल—गलो नाम प्रान्तन्यस्तामिषो लोहमयः कण्टको मत्स्यग्रहणार्थं जलमध्ये संचारितः। (उपदे. प. मु. वृ. १८८, पृ. १५१)।

मछली पकड़ने के लिए लोहे के जिस कांटे के अन्त में मांस का टुकड़ा लगा कर पानी में फेंकते हैं उसे गल कहते हैं।

गलि—गिलत्येव केवलं न तु वहति गच्छति वेति गलिः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–६४, पृ. ४६)।

जो केवल निगलता है, परन्तु न बोझा ढोता है और न चलता है उस दुष्ट घोड़े का नाम गलि है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गलि (अविनीत) घोड़ा बार-बार चाबुक के मारने पर चलता है व लौटता है, उसी प्रकार जो शिष्य पुनः पुनः गुरु के वचन की अपेक्षा करके प्रवृत्ति-निवृत्ति करता है, वह गलि शिष्य कहलाता है।

गवादिसंख्यातिक्रम—गौरनड्वाननड्वाही च, स आदिर्यस्य द्विपद्-चतुष्पदवर्गस्य स गवादिः। आदिशब्दान्महिष-मेषाऽविक-करभ-रासभ-तुरग-हस्त्यादिचतुष्पदानां हंस-मयूर-कुर्कुट-शुक-सारिका-पारावत-चकोरादिपक्षिद्विपदानां पत्नी-उपरुद्ध-दासी-दास-कर्मकरपादात्यादिमनुष्याणां च संग्रहः, तस्य संख्या व्रतकाले यावज्जीवं चतुर्मासादिकालावधि वा यत्परिमाणं गृहीतं तस्या अतिक्रम उल्लङ्घनं संख्यातिक्रमोऽतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३–९५)।

परिग्रहपरिमाण करते समय जो प्रमाण द्विपद व चतुष्पदादि तिर्यंचों का तथा दासी-दास आदि मनुष्यों का ग्रहण किया गया है, उसके उल्लंघन करने को—बढ़ा लेने को—गवादिसंख्यातिक्रम कहते हैं।

गवानृत—देखो गवालीक। गवानृतं अल्पक्षीरामेव बहुक्षीरां वक्ति विपर्ययो वा। (श्रा. प्र. टी. २६०)।

थोड़े दूध वाली गाय को बहुत दूध वाली अथवा इससे विपरीत भाषण करना, यह गवानृत कहलाता है।

गवालीक—गवालीकमल्पक्षीरां बहुक्षीरां विपर्ययं वा वदतः, इदमपि सर्वचतुष्पदविषयस्यालीकस्योपलक्षणम्। (योगशा. स्वो. विव. २–५४; सा. ध. ४–३९)।

गाय सम्बन्धी असत्य वचन के बोलने को गवालीक कहते हैं। जैसे—कम दूध देने वाली गाय को अधिक दूध देने वाली कहना और अधिक दूध देने वाली को कम दूध देने वाली कहना। इससे गाय आदि सभी चतुष्पदों को ग्रहण करना चाहिए।

गवेषणा—१. गवेषणा व्यतिरेकधर्मस्वरूपालोचना। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ७८)। २. व्यतिरेकधर्मालोचना गवेषणा। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. १२)। ३. गवेष्यते अनया इति गवेषणा। (धव. पु. १३, पृ. २४२)।

१ व्यतिरेक धर्म के स्वरूप की आलोचना का नाम गवेषणा है। ३ जिसके द्वारा अवग्रह से गृहीत अर्थ का अन्वेषण किया जाता है उसे गवेषणा कहते हैं। यह ईहा मतिज्ञान का पर्याय नाम है।

गव्यूत (गाउअ)—१. एएणं धणुप्पमाणेणं दो धणुसहस्साइं गाउयं। (भगवती ६, ७, १, पृ. ८२९)। २. दो धणुसहस्साइं गाउयं। (अनुयो. सू. १३३, पृ. १५७)। ३. द्वे दण्डसहस्रे गव्यूतम्। (त. वा. ३, ३८, ६)। ४. वेहि दंडसहस्सेहि एयं गाउअं होदि। (धव. पु. १३, पृ. ३३९)। ५. वेदंडसहस्सेहि य गाउदमेगं तु होइ णिद्दिट्ठा। (जं. दी. प. १३–३४)।

१ दो हजार धनुष को गव्यूत (कोश) कहते हैं।

गव्यूतपृथक्त्व—तं (गाउअं) अट्ठहि गुणिदे गाउअपुधत्तं। (धव. पु. १३, पृ. ३३९)।

दो हजार धनुष प्रमाण गव्यूत को आठ से गुणित करने पर गव्यूतपृथक्त्व कहलाता है।

गव्यूति—देखो गव्यूत। द्विसहस्रदण्डैर्गव्यूतिः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

दो हजार धनुष प्रमाण माप को गव्यूति कहते हैं।

गान्धर्व—देखो गन्धर्व। १. गान्धर्वा रक्तावदाता गम्भीराः प्रियदर्शनाः सुरूपाः सुमुखाकाराः सुस्वरा मौलिधरा हारविभूषणास्तुम्बुरुवृक्षध्वजाः। (त. भा. ४–१२)। २. मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् परस्परानुरागेण मिथः समवायाद् गान्धर्वः। (नीतिवा. ३१–९; योगशा. स्वो. विव. १–४७)। ३. परस्परानुरागेण मिथः समवायाद् गान्धर्वः। (ध. बि. मु. वृ. १–१२)।

१ जो देव रक्त-अवदात, गम्भीर, प्रियदर्शन, सुन्दर, उत्तम मुखाकृति से सम्पन्न, सुन्दर स्वरवाले, मुकुट के धारक और हार से विभूषित होते हैं वे गान्धर्व कहलाते हैं। २ माता-पिता और बन्धुजनों की अनुमति के बिना आपस के अनुराग से वर-कन्या के परस्पर सम्मिलन को गान्धर्व विवाह कहते हैं।

गायक—रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः। (नीतिवा. १४–२४)।

वेश्याओं के लिए आजीविका के उपदेश वाले को गायक कहते हैं।

गारव—गारवम् ऋद्धि-रस-सातासक्तिः, तेन परिवारे लोभात् परकीयस्य प्रियवचनादीनाम् आत्मसात्करणं वा, गन्ध-माल्य-ताम्बूलादिसेवनम्, अनिष्टरसत्यागेष्टरसादरौ, यथेष्टभोजन-शयनादितत्परत्वं च। (भ. आ. मूला. ६१३)।

ऋद्धि, रस और सात—सुखसामग्री—में आसक्ति रखना, इसका नाम गारव है। अथवा परिवार में लोभ के वशीभूत होने से प्रियवचन आदि के द्वारा दूसरे की वस्तु को अपने आधीन करना तथा गन्ध व ताम्बूल (पान) आदि का सेवन करना (ऋद्धि-गारव), अनिष्ट रस का त्याग व अभीष्ट रस में अनुराग रखना (रस-गारव) तथा इच्छानुसार भोजन एवं शयन आदि में तत्पर रहना (सात-गारव); यह गारव का लक्षण है।

गार्द्ध्य—प्राप्तेष्टवस्तुषु गार्द्ध्यं अभिरक्षणादिकार्यं गृद्धिलक्षणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)।

प्राप्त हुई इष्ट वस्तुओं के विषय में गृद्धिस्वरूप संरक्षणादि कार्य करना, इसे गार्द्ध्य कहते हैं। यह लोभ का पर्याय नाम है।

गिल्ली—फिरिक्कीओ गिल्लीओ णाम। का फिरिक्की णाम? चुंदेण वट्टुलागारेण घडिदणेमि-तुंबा-धारसरलट्ठकट्ठा फिरिक्को णाम।

फिरिक्की को गिल्ली कहते हैं। जो गोल आकार वाले चुंद (?) से रचित नेमि और तुम्ब (गाड़ी की नाभि) को आश्रय देने वाली सीधी आठ लकड़ियों युक्त एक विशेष जाति की गाड़ी फिरिक्की कहलाती है।

गुण—१. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। (त. सू. ५, ४०)। २. ××× एगदव्वस्सिया गुणाः। (उत्तरा. २८-६)। ३. अन्वयिनो गुणाः। (स. सि. ५–३८)। ४. सहवर्तिनो गुणाः। (आव. नि. हरि. वृ. ९७८, पृ. ४४५)। ५. गुणो णाम पज्जायादि-परोप्परविरुद्धो अविरुद्धो वा। (धव. पु. १, पृ. १८); सहभुवो हि गुणाः। (धव. पु. १, पृ. १७४); जाव-दव्वभाविणो गुणाः। (धव. पु. ९, पृ. १६७; न्यायकु. पृ. २०७)। ६. गुणाः शक्तिविशेषाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–३७)। ७. अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनोऽन्वयिनो विशेषा गुणाः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०)। ८. गुण्यते पृथक् क्रियते द्रव्यं द्रव्यान्तराद्यैस्ते गुणाः। (आलापप. ४, पृ. १४०)। ९. सरिसो जो परिणामो अणाइणिहणो हवे गुणो सो हि। सो सामण्णसरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेव। (कार्तिके. २४१)। १०. गुणाः सहभाविनो जीवस्य ज्ञानादयः, पुद्गलस्य रूपादयः। (सिद्धिवि. वृ. ३–२०, पृ. २२३, पं. १)। ११. गुणाश्च सहभुवो धर्माश्चेतनस्य सुख-ज्ञान-वीर्यादयः ××× अचेतनस्य रूप-रसादयः। ××× सहवृत्तयो गुणाः। (न्यायवि. विव. १–११५, पृ. ४२८–२९)। १२. द्रव्यान्वयिनो गुणाः। निर्गुणाश्चैतनाद्यास्ते ××× ॥ (आचा. सा. ३–८)। १३. गुणः सहभावी धर्मः। (प्र. न. त. ५–७)। १४. यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः वस्तुत्व-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादयः। (न्यायदी. पृ. १२१)। १५. सहभूता गुणा ज्ञेया सुवर्णे पीतता यथा। (भावसं. वा. ३७४)। १६. गुण्यते विशिष्यते पृथक् क्रियते द्रव्यं द्रव्यात् यैस्ते गुणाः (त. वृत्ति श्रुत. ५–३८)। १७. द्रव्याश्रया गुणाः स्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च। करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥ अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये। ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः। (पंचाध्या. १, १०४–५)। १८. अहो द्रव्याश्रयत्वाच्च गुणा निर्गुणलक्षणाः। (जम्बू. च. ८–२४)। १९. अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवो (वा) ह्यनन्तांशाः। द्रव्याश्रया विनाशप्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत् ॥ (अध्यात्म-क. २–६)।

१ जो द्रव्य के आश्रय से रहा करते हैं तथा स्वयं अन्य गुणों से रहित होते हैं वे गुण कहलाते हैं।

गुणगुरु—गुणैर्ज्ञान-संयमादिभिर्गुरवो महान्तो गुणगुरवः। (सा. ध. स्वो. टी. १–११)।

ज्ञान व संयमादि गुणों से जो महान् होते हैं उन्हें गुणगुरु कहते हैं।

गुणप्रतिपन्न—गुणं संजमं संजमासंजमं वा पडिवण्णो गुणपडिवण्णो। (धव. पु. १५, पृ. १७४)।

जो जीव संयम अथवा संयमासंयम गुण को प्राप्त हैं उन्हें गुणप्रतिपन्न कहा जाता है।

गुणप्रत्यय-अवधिज्ञान—देखो क्षयोपशमनिमित्त। १. अणुव्रत-महाव्रतानि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुणः

कारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद् गुणप्रत्ययकम् । (धव. पु. १३, पृ. २९१) । २. गुणप्रत्ययं तु सम्यग्दर्शन-गुणनिमित्तमसंयतसम्यग्दृष्टेः, संयमासंयमगुणहेतुकं संयतासंयतस्य, संयमगुणनिबन्धनं संयतस्य; सत्य-न्तरंगहेतौ बहिरंगस्य गुणप्रत्ययस्य भावे भावात् । (प्रमाणप. पृ. ६९) ।

१ सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत रूप गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हैं वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है ।

गुणधारणा— अपगतव्रतातिचारेतरोपचितकर्मवि-धरणार्थमनशनादिगुणसंधारणा प्रत्याख्यानस्य । (आव. नि. हरि. वृ. ७९, पृ. ५१) ।

विनष्ट हुए व्रतातिचारों से भिन्न अन्य अतिचारों के द्वारा संचित कर्म को दूर करने के लिए अनशनादि गुणों को धारण करना, इसका नाम गुणधारणा है । यह प्रत्याख्यान नामक छठे आवश्यक का अर्था-धिकार है ।

गुणपुरुष—तथा गुणाः व्यायाम-विक्रम-धैर्य-सत्त्वा-दिकास्तत्प्रधानः पुरुषो गुणपुरुषः । (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. ४, १, ५७) ।

व्यायाम, विक्रम, धैर्य और सत्त्व आदि गुणों से युक्त पुरुष को गुणपुरुष कहते हैं ।

गुणप्रमाण—१. गुणनं गुणः, स एव प्रमाणहेतु-त्वाद् द्रव्यप्रमाणात्मकत्वाच्च प्रमाणं प्रमीयते गुणै-र्द्रव्यमिति । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ९९) । २. गुणो ज्ञानादिः, स एव प्रमाणं गुणप्रमाणम्, प्रमीयते च गुणैर्द्रव्यम्, गुणाश्च गुणरूपतया प्रमीयन्ते अतः प्रमा-णता । (अनुयो. मल. हेम. वृ. पृ. २१०) ।

१ प्रमाण के हेतु और द्रव्यप्रमाणस्वरूप होने के कारण गुणों को गुणप्रमाण कहा जाता है ।

गुणवत्त्व—क्रोधादिमत्त्वात् गुणवत्त्वं ज्ञानाद्यात्मक-त्वाद् वा, परमाण्वादावपि गुणवत्त्वमेकवर्णादित्वात् समानम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २–७) ।

जीव द्रव्य के ज्ञानादिगुणों से और पुद्गल के वर्णादि गुणों से युक्त होने के कारण उनके गुणवत्त्व है ।

गुणवत्प्रतिपत्ति—गुणा ज्ञानादयः मूलोत्तराख्या वा, तेऽस्य विद्यन्ते इति गुणवान्, तस्य गुणवतः प्रतिपत्तिर्वन्दनाध्ययनस्य । (आव. नि. हरि. वृ. ७९, पृ. ५१) ।

ज्ञानादि गुणों अथवा मूलगुणों या उत्तरगुणों से युक्त गुणवान् के वन्दना व नमस्कारादिरूप आदर-सत्कार को गुणवत्प्रतिपत्ति कहते हैं । यह वन्दना अध्ययन (आवश्यक) का अर्थाधिकार है ।

गुणव्रत—१. दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग-परिमाणम् । अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्र-तान्यार्याः ॥ (रत्नक. ३–२१) । २. अणुव्रताना-मेवोत्तरगुणभूतानि व्रतानि गुणव्रतानि दिग्व्रत-भोगोपभोगपरिमाणकरणानर्थदण्डविरतिलक्षणानि, एतानि च भवन्ति त्रीण्येव । (श्रा. प्र. टी. ६) । ३. भोगोपभोगसंहारोऽनर्थदण्डव्रतान्वितः । गुणानुबृंहणाद् ज्ञेयो दिग्व्रतेन गुणव्रतम् ॥ (ह. पु. ५८–१४४) । ४. उत्तरगुणरूपं व्रतं गुणव्रतम्, गुणाय चोपकाराय अणुव्रतानां व्रतं गुणव्रतम् । (योग. शा. स्वो. विव. ३–१) । ५. दिग्देशानर्थ-दण्डेभ्यो विरतिस्तु गुणव्रतम् । भोगोपभोगसंख्यानं केचिदाहुर्गुणव्रतम् ॥ (कीव. च. ७–१७) । ६. गुणार्थमणुव्रतानामुपकारार्थं व्रतं गुणव्रतम् । (सा. ध. स्वो. टी. ४–४) । ७. यद्गुणायोपकारायाणु-व्रतानां व्रतानि तत् । गुणव्रतानि × × × ॥ (सा. ध. ५–१) । ८. गुणाय चोपकारायाऽहिंसादी-नां व्रतानि तत् । गुणव्रतानि × × × ॥ (धर्मसं. श्रा. ७–२) ।

१. अणुव्रतों के उपकारक होने से दिग्व्रत, अनर्थ-दण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत को गुणव्रत कहा जाता है ।

गुणश्रेणि—१.गुणो गुणगारो, तस्स सेढी ओली पंती गुणसेढी णाम । (धव. पु. १२, पृ. ८०) । २. गुणश्रेणी चैवं—सामान्यतः किल कर्म बह्वल्प-मल्पतरमल्पतमं चेत्येवं निर्जरणाय रचयति, यदा तु परिणामविशेषात् तत्र तथैव रचिते कालान्तरवेद्य-मल्पं बहु बहुतरं बहुतमं चेत्येवं शीघ्रतरक्षपणाय रचयति तदा सा गुणश्रेणीत्युच्यते । (औपपा. अभय. वृ. सू. ४३, पृ. ११३) । ३. उपरितनस्थितेर्विशुद्धि-वशादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्त-प्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणम-संख्येयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिरित्युच्यते । (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ४) ।

३ परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि से अपवर्तना-करण के द्वारा उपरितन स्थिति से हीन करके अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रतिसमय उत्तरोत्तर असंख्यात

गुणित वृद्धि के क्रम से कर्मप्रदेशों की निर्जरा के लिये जो रचना होती है उसे गुणश्रेणी कहते हैं।

गुणसंक्रम—१. गुणसंकमो अवज्झंतिगाण असुभाणऽपुव्वकरणाई। (कर्मप्र. संक. ६६, पृ. १०५)। २. गुणेण संकमो गुणसंकमो समए समए असंखेज्जगुणेण संकमणं गुणसंकमो वुच्चति असुभाणं कम्माणं। (कर्मप्र. चू. संक. ६६, पृ. १०५)। ३. अप्पमत्तादो उवरिमगुणठाणेसु बंधविरहिदपयडीणं गुणसंकमो सव्वसंकमो च होदि। (धव. पु. १६, पृ. ४०९)। ४. समयं पडि असंखेज्जगुणाए सेढीए जो पदेससंकमो सो गुणसंकमो त्ति भण्णदे। (जयध. ६, पृ. १७२)। ५. शुभप्रकृतिष्वशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्धया विशुद्धिवशान्नयनं गुणसंक्रमः। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ४)। ६. असुभाण पएसग्गं बज्झंतीसुं असंखगुणणाए। सेढीए अपुव्वाई छुभंति गुणसंकमो एसो॥ (पंचसं. च. संक. ७७, पृ. ७२)। ७. अशुभप्रकृतीनां प्रदेशाग्रं असंख्येयगुणवृद्धया अपूर्वकरणप्रवृत्ते[प्रभृते]रपूर्वकरणाद्या अबध्यमानानां बध्यमानासु यत् कर्मदलं संक्रामयन्त्येष गुणसंक्रमः इति। (पञ्चसं. स्वो. वृ. संक. ७७, पृ. ७२)। ८. पडिसमयमसंखगुणं दव्वं संकमदि अप्पसत्थाणं। बंधुज्झियपयडीणं बंधंतसजादिपयडीसु॥ (ल.सा. ३९७)। एत्तो गुणो अबंधे पयडीणं अप्पसत्थाणं। (गो. क. ४१६)। ९. अपूर्वकरणादयोऽपूर्वकरणप्रभृतयो अबध्यमानानामशुभप्रकृतीनां सम्बन्धि कर्मदलिकं प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया बध्यमानासु प्रकृतिषु यत् प्रक्षिपन्ति स गुणसंक्रमः, गुणेन प्रतिसमयमसंख्येयलक्षणेन गुणकारेण संक्रमो गुणसंक्रमः। (कर्मप्र. मलय. वृ. संक. ६६, पृ. १०६)। १०. अबध्यमानानामशुभप्रकृतीनां सम्बन्धि प्रदेशाग्र प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया श्रेण्या बध्यमानासु प्रकृतिष्वपूर्वकरणादयः—अपूर्वकरणगुणस्थानकादयो यत् छुभन्ति—संक्रमयन्ति स गुणसंक्रमः। गुणेन प्रतिसमयमसंख्येयलक्षणेन गुणकारेण संक्रमो गुणसंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. संक. ७७, पृ. ७३)। ११. प्रतिसमयमसंख्येयगुणश्रेणिक्रमेण यत्प्रदेशसंक्रमणं तद् गुणसंक्रमणं नाम। (गो. क. जी. प्र. टी. ४१३)।

३ अप्रमत्त गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में बन्ध से रहित प्रकृतियों का गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम होता है। ५ विशुद्धि के वश प्रतिसमय असंख्यात गुणित वृद्धि के क्रम से अबध्यमान अशुभ प्रकृतियों के द्रव्य को जो शुभ प्रकृतियों में दिया जाता है, इसका नाम गुणसंक्रम है।

गुणस्थान—१. जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं (गो. क.—उवसमआदीसु जणिद)भावेहिं। जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं॥ (पंचसं. १-३; गो. जी. ८; गो. क. ८१२)। २. तत्र गुणाः ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्धयशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा यथाऽध्यवसायस्थानमिति, गुणानां स्थानं गुणस्थानमिति। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. २)। ३. ××× गुणसण्णा सा य मोह-जोगभवा। (गो. जी. २)।

१ कर्मों की उदयादि अवस्थाओं में होने वाले जिन भावों से जीव देखे जाते हैं उनकी 'गुण' यह संज्ञा है—वे गुणस्थान कहलाते हैं। २ शुद्धि-अशुद्धि के प्रकर्ष-अपकर्ष के द्वारा जो जीव के स्वभावभूत ज्ञान,दर्शन और चारित्ररूप गुणों के स्वरूप में भेद किया जाता है, इसे गुणस्थान कहते हैं।

गुणाधिक—१. सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः। (स. सि. ७-११)। २. सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः। सम्यग्ज्ञान-दर्शनादयो गुणास्तैः प्रकृष्टा गुणाधिका इति विज्ञायन्ते। (त. वा. ७, ११, ६)।

१ सम्यग्ज्ञान आदि गुणों में जो अपने से अधिक हैं उन्हें गुणाधिक कहते हैं।

गुप्त—गुत्ती णाम मणसा असोभणं संकप्पं वज्जयंतो वाया य कज्जमेत्तं भासंतो। (दशवै. चू. ८, पृ. २८०)।

मन में उत्पन्न होने वाले दुष्ट संकल्प को छोड़ कर वचन से केवल आवश्यक कार्य के लिये भाषण करने वाले पुरुष को गुप्त कहते हैं।

गुप्ति (गुत्ती)—१. सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। (त. सू. ९-४)। २. यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं सा गुप्तिः। (स. सि. ९-२)। ३. सम्यगिति विधानतो ज्ञात्वाभ्युपेत्य सम्यग्दर्शनपूर्वकं त्रिविधस्य योगस्य निग्रहो गुप्तिः। (त. भा. ९-४)। ४. छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो। तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स।

(भ. आ. ११८६)। ५. संसारकारणाद्गोपनाद् गुप्तिः। यतः संसारकारणात् आत्मनो गोपनं भवति सा गुप्तिः। (त. वा. ९, २, १)। ६. गुप्यतेऽनयेति, संरक्ष्यते ऽनयेत्यर्थः। (त. भा. हरि. वृ. ९, २)। ७. गोपनं गुप्तिः, स्त्रियां क्तिन् [पा. ३, ३, ९४], आगन्तुककर्म-कचवरनिरोध इति हृदयम्। (आव. नि. हरि. वृ. १०३)। ८. सावद्ययोगेभ्यः आत्मनो गोपनं गुप्तिः। (भ. आ. विजयो. १६); संसारस्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि, तस्मात् संसारकारणादात्मनो गोपनं रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते, भावे क्तिः। अपादानसाधनो वा—यतो गोपनं सा गुप्तिः, गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन्। (भ. आ. विजयो. ११५)। ९. संसारकारणगोपनाद् गुप्तिः। (त. श्लो. ९–२); योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिः। (त. श्लो. ९–४)। १०. गुत्ती जोगणिरोहो ××× । (कार्तिके. ९७)। ११. योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते। (त. सा. ६–४)। १२. निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयात् स्वस्यात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः, व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचन-कायव्यापारनिरोधो गुप्तिः।(बृ. द्रव्यसं. टी. ३५, पृ.८७)। १३. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि गुप्यन्ते रक्ष्यन्ते यकाभिस्ताः गुप्तयः। अथवा मिथ्यात्वासंयमकषायेभ्यो गोप्यते रक्ष्यते आत्मा यकाभिस्ता गुप्तय इति। (मूला. वृ. ५–१३६)। १४. दोषेभ्यो गोपनं रक्षा व[व्र]तानां गुप्तिरिष्यते। (आचा. सा. ५, १३७)। १५. गोपनं गुप्तिः—मनःप्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्तनमकुशलानां च निवर्तनमिति, आह च—मणगुत्तिमाइयाओ गुत्तीओ तिन्नि समयकेऊहिं। पवियारेयररूवा णिद्दिसाओ जओ भणियं॥ (स्थानां. अभय. वृ. ३, १, १२६)। १६. गोपनानि गुप्तयः—मनःप्रभृतीनामशुभप्रवृत्तिनिरोधनानि शुभप्रवृत्तिकरणानि च। (समवा. अभय. वृ. सू. ३, पृ. ६)। १७. गोपनं गुप्तिः—कर्मकचवरागमनिरोधः। (धर्मसं. मलय. वृ. ११७५, पृ. ३८९)। १८. गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः। पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपंक्त्यादिनिस्पृहः॥ प्राकार-परिखावप्रैः पुरवद्रत्नभासुरम्। पापापायाद्यात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभिः॥ (अन. ध. ४, १५४–५५)।

१९. सावद्ययोगेभ्यः आत्मनो गोपनं रक्षणं निवारणं गुप्तिः। (भ. आ. मूला. १६)। २०. भवकारणात् मनोवाक्कायव्यापारात् आत्मनो गोपनं रक्षणं गुप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२); यः सम्यग्योगनिग्रहो मनोवाक्कायव्यापारनिरोधनं सा गुप्तिरित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–४)। २१. योगानां मनोवचनकायानां निरोधो गोपनं गुप्तिः। (कार्तिके. टी. ९७)।

१ सम्यक् प्रकार से—सम्यग्दर्शनपूर्वक—मन, वचन व काय योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं। २ संसार के कारण से—मिथ्यात्वादि से—आत्मा के संरक्षण का नाम गुप्ति है।

गुप्तिकर—गोपनं गुप्तिः कर्म-कचवरागमनिरोधः, तत्करणशीलो गुप्तिकरः। (धर्मसं. मलय. वृ. ११७५, पृ. ३८९)।

कर्मरूपी कचरे को भीतर न आने देने रूप गुप्ति के पालन करने वाले पुरुष को गुप्तिकर कहते हैं।

गुरु—१. अधोगमनहेतुर्गुरुः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५, २३)। २. गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५; आ. प्र. टी. १)। ३. गृणन्ति शास्त्रार्थमिति गुरवः, धर्मोपदेशादिदातारः इत्यर्थः। (आव. नि. हरि. वृ. १७९)। ४. दीक्षादाताऽध्यापयिता श्रुताचार्यविवाचनः। दोषच्छेदी श्रुतान्ता[न्त्या]र्थो गुरुरित्यभिधीयते॥ यो यो गुणाधिको मूलगणगच्छादालंकृतः। स सर्वोऽप्युच्यते जैनैर्गुरुरित्युक्तितत्समर्थः॥ (नीतिसा. ८४–८५)। ५. रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्। परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः। (क्षत्रचू. २–३०)। ६. गृणाति शास्त्रार्थमिति व्युत्पत्त्या प्राप्तयथार्थाभिधानः स्व-परतंत्रवेदी पराशयवेदकः परहितनिरतो यतिविशेषो गुरुः। (उपदेशप. मु. वृ. २९)। ७. गुरुः स एव यो ग्रन्थैर्मुक्तो बाह्यैरिवान्तरैः। (धर्मसं. २१–१२९)। ८. महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः। सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः॥ (योगशा. २–८); गृणन्ति सद्भूतं शास्त्रार्थमिति गुरवः। (योगशा. स्वो. विव. २–८)। ९. निरम्बरो निरारम्भो नित्यानन्दपदार्थिनः। धर्मदिक् कर्मधिक् साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः॥ (रत्नमाला ८)। १०. गृणन्ति जीवादितत्त्वमिति गुरवः गौतमादयः। (श्राव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. १)।

११. गृणाति यथावस्थितः प्रवचनार्थमिति गुरुः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १, पृ. ३)। १२. गृणन्ति यथावस्थितं शास्त्रार्थमिति गुरवो धर्मोपदेशदातारः। (आव. मलय. वृ. १७६)। १३. अर्थाद् गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः। भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः॥ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः। गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक्॥ अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात्। शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात्॥ (लाटीसं. ४, १४२–४४; पंचाध्या. २, ६२०–२२)।

१ जो गुण अधोगमन का कारण होता है वह गुरु कहलाता है। ३ जो शास्त्र के अर्थ को ग्रहण कराता है—उसका व्याख्यान आदि करता है—उसे गुरु कहा जाता है। ४ जो दीक्षा देता है, अध्यापन कराता है, आचार्यादि वाचना को कर चुका है, निर्दोष होकर अभ्यन्तर प्रयोजन को सिद्ध करने वाला होता है; तथा जो गुणों में अधिक होता हुआ मूल, गण एवं गच्छ आदि से अलंकृत होता है उसे गुरु जानना चाहिए।

गुरुगति—पाषाणायःस्फालानां गुरुगतिः। (त. वा. ५, २४, २१)।

पाषाण और लोहखण्डों की गति को गुरुगति कहते हैं। यह दस प्रकार की क्रियाओं में से एक है।

गुरुत्व—गुरुत्वं वज्रादपि गुरुतरशरीरतया इन्द्रादिभिरपि प्रकृष्टबलैर्दुःसहता। (योगशा. स्वो. विव. १–८, पृ. ३७)।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से वज्र से भी अतिशय महान् शरीर वाला होने से बलिष्ठ इन्द्रादि के द्वारा भी दुर्धर हो उसे गुरुत्व ऋद्धि कहते हैं।

गुरु नामकर्म—जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं गुरुअभावो होदि तं गुरुअणामं। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलों में भारीपन हुआ करता है उसे गुरुनामकर्म कहते हैं।

गुरुविनय—१. श्रुतग्रहणं कुर्वतो गुरोर्विनयः कार्यः, विनयः अभ्युत्थान-पादधावनादिः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८४, पृ. १०४)। २. औचित्याद् गुरुवृत्तिर्बहुमानस्तत्कृतज्ञताचित्तम्। आज्ञायोगस्तत्सत्यकरणता चेति गुरुविनयः॥ (षोडश. १३–२)।

२ यथायोग्य गुरु की वैयावृत्ति आदि करना, गुरु के प्रति निर्मल अन्तःकरण से सद्भावना रखना, गुरु के द्वारा किये उपकार का सदा स्मरण रखना, उनकी आज्ञा का परिपालन करना तथा जिस कार्य के लिए कहा गया हो उसे यथार्थता से पूरा करना; यह सब गुरुविनय कहलाती है।

गुरूपास्ति—१. निर्व्याजया मनोवृत्त्या सानुवृत्त्या गुरोर्मनः। प्रविश्य राजवच्छश्वद् विनयेनानुरञ्जयेत्॥ (सा. ध. २-४६)। २. क्रियते गन्धपुष्पाद्यैर्गुरुपादाब्जपूजनम्। पादसंवाहनाद्यं च गुरूपास्तिर्मतास्त्यसौ॥ (भावसं. ५९८)।

१ निश्छल मनोवृत्तिपूर्वक राजा के समान गुरु की इच्छानुसार उसके मन को अनुरंजायमान करना, इसका नाम गुरूपास्ति है। २ गन्ध-पुष्प आदि के द्वारा गुरु के चरणों की पूजा के साथ पादमर्दन आदि करना, इसे गुरूपास्ति कहा जाता है।

गुह्यभाषण—तथा गुह्यं गूहनीयं न सर्वस्मै यत्कथनीयं राजादिकार्यसम्बद्धं तस्यानधिकृतेनैवाकारेङ्गितादिभिर्ज्ञात्वाऽन्यस्मै प्रकाशनं गुह्यभाषणम्। यथा—एते हीदमिदं च राजविरुद्धादिकं मंत्रयन्ते। अथवा गुह्यभाषणं पैशुन्यम्। यथा द्वयोः प्रीतौ सत्यामेकस्याकारादिनोपलभ्याभिप्रायमितरस्य तथा कथयति यथा प्रीतिः प्रणश्यति। (योगशा. स्वो. विव. ३–९१, पृ. ५५१)।

राजकार्यादि से सम्बद्ध जो बात सबसे नहीं कही जा सकती है ऐसी गुप्त बात को आकार व शारीरिक चेष्टा आदि से जानकर दूसरे से कहना कि 'ये राजा के विरुद्ध इस इस प्रकार का विचार कर रहे हैं', यह गुह्यभाषण कहलाता है। अथवा दो के मध्यगत प्रीति को नष्ट करने के लिए एक दूसरे की चुगली करना, इसे गुह्यभाषण कहते हैं। यह सत्याणुव्रत का एक अतिचार है।

गूढब्रह्मचारी—१. गूढब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दुःसहपरीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति। (चा. सा. पृ. २१; सा. ध. स्वो. टी. ७–१९)। २. कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमविस्तराः। बान्धवैर्धरणीनाथैर्दुःसहैर्वा परीषहैः॥ आत्मनैवाथवा त्यक्तपरमेश्वररूपकाः। गृहवासरता

ये स्युस्ते गूढब्रह्मचारिणः ॥ (धर्मसं. श्रा. ६–१६ व २०)।

जो कुमार अवस्था में साधुवेष को धारण कर आगम का अभ्यास करते हैं तथा पीछे बन्धु जनों या राजादि के आग्रह से, दुःसह परीषहों से डरकर, अथवा स्वयं ही साधुवेष को छोड़कर गृहस्थाश्रम को स्वीकार करते हैं उन्हें गूढ ब्रह्मचारी कहते हैं।

गूहन—तस्थ गूहणं किंचि कहणं भण्णइ। (दशवै. चू. पृ. २८५)।

छिपाने या कुछ प्रकट न करने को गूहन कहते हैं।

गृद्ध्रपृष्ठमरण—१. गेद्धपट्ठं णाम मृतशरीरमनुप्रविश्य गृद्ध्रद्वाराऽऽत्मानं भक्षयति। (उत्तरा. चू. पृ. १२६)। २. शस्त्रग्रहणेन यद् भवति तद् गिद्धपुट्ठमित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. २५)। ३. गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिंस्तद् गृध्रस्पृष्टम्, यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च तद्भक्ष्यकरि-करभादिशरीरानुप्रवेशेन महासत्त्वस्य मुमूर्षोर्यस्मिंस्तत् गृद्ध्रपृष्ठम्। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०२); गद्धादिभक्खणं गद्धपट्ठमुब्बंधणादि वेहासं। एते दोन्नि वि मरणा कारणजाए अणुन्ना वा ॥ (स्थाना. अभय. वृ. पृ. ६४ उद्.)। ४. हस्तिकलेवरादिषु प्रविश्य मरणं गृद्ध्रपृष्ठमरणम्। (भ. आ. मूला. २५, पृ. ९०)। ५. गृध्राः प्रतीताः, ते आदिर्येषां शकुनिका-शिवादीनां तैर्भक्षणम्, गम्यमानत्वादात्मनः, तन्निवारणादिना तद्भक्ष्यकरि-करभादिशरीरानुप्रवेशेन च गृध्रादिभक्षणम्, ××× गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टम्, यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्यस्मिन् तद् गृध्रपृष्ठं, स ह्यलक्तकपूणिकापुटप्रदानेनात्मानं गृध्रादिभिः पृष्ठादौ भक्षयतीति। (प्रव. सारो. वृ. १०१६, पृ. ३००)।

१ मृत शरीर में प्रविष्ट होकर गीध के द्वारा अपना भक्षण कराने से जो मरण होता है उसे गृद्ध्रपृष्ठमरण कहा जाता है।

गृद्ध्रोलीन (गिद्धोलीण)—गिद्धोलीणं गृद्ध्रस्योर्ध्वंगमनमिव बाहू प्रसार्यावस्थानम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. २२१)।

गीध के ऊर्ध्वगमन के समान दोनों भुजाओं को फैला कर अवस्थित होने को गृद्ध्रोलीन कहा जाता है।

गृहकर्म—गिहाणि जिणघरादीणि, तेसु कयपडिमाओ गिहकम्मं, हय-हत्थि-णर-वराहादिसरूवेण घडिदघराणि गिहकम्ममिदि वुत्तं होदि। (धव. पु. ९, पृ. २४९–५०); गोपुराणं सिहरेहिंतो अभेदेण कट्ट-पत्थरादीहि चिदपडिमाओ गिहकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. १०); जिणहरादीणं चंदसालादिसु अभेदेण घडिदपडिमाओ गिहकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); मट्टियपिंडेण पासादेसु घडिदरूवाणि गिहकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६); गृह (गिह) कट्टियाहि कयकुड्डा उवरि वंसिकच्छण्णा गिहा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३९)।

जिनालय आदि को गृह कहा जाता है। उनमें जो मूर्तियों की रचना की जाती है, इसे गृहकर्म कहते हैं। अभिप्राय यह है कि घोड़ा, हाथी, मनुष्य और शूकर आदि के आकार से जो गृह रचे जाते हैं, इसे गृहकर्म कहा जाता है।

गृहकल्प—अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरिकलिओ ॥ (भावसं. दे. १३२)।

ग्रन्थ परिग्रह संयुक्त वेष को गृहकल्प कहते हैं। यह कल्प पाखंडियों द्वारा किया गया है।

गृहत्यागक्रिया—गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यतः। योग्यं सूनुं यथान्यायमनुशिष्य गृहोज्झनम् ॥ (म. पु. ३९–७६)।

गृहवास से विरक्त होकर योग्य पुत्र को न्यायानुसार शिक्षा देते हुए गृह के परित्याग करने को गृहत्यागक्रिया कहते हैं।

गृहपति — गृहपति-वैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ। (नीतिवा. १४–११)।

ग्रामकूट—गांव के मुखिया—को गृहपति कहा जाता है।

गृहमेधी—१. त्रि-चतुःपञ्चभिर्युक्ता गुण-शिक्षाणुभिर्व्रतैः। तत्त्वधी-रुचिसम्पन्ना श्रावका गृहमेधिनः ॥ (अमितश्रा. ७–२२)। २. पञ्चाणुव्रतसम्पन्ना गुण-शिक्षाव्रतोज्ज्वलाः। सम्यग्दर्शन-विज्ञाना श्रावका गृहमेधिनः ॥ (धर्मस. श्रा. ७–१५)।

१ जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न होकर

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को धारण करते हुए कुछ अंश में पाप से सहित होते हैं उन्हें गृहमेधी—गृहस्थ श्रावक—कहा जाता है।

गृहस्थ—१. गृहम् अगारम्, तत्र तिष्ठन्तीति गृहस्थाः। (सूत्रकृ. शी. वृ. १-१४, पृ. २६५)। २. क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः। स गृहस्थो भवेन्नून मनोदैवतसाधकः ॥(उपासका. ८७३)। ३. नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः। (नीतिवा. २-१८)।

२ जो क्षमारूप स्त्री में आसक्त रहकर सम्यग्ज्ञानरूप अतिथि से प्रेम करता है तथा मनरूप देवता का साधक—उसे वश में रखने वाला—है उसे गृहस्थ कहते हैं। ३ श्रावकोचित नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठानों के करने वाले मनुष्य को गृहस्थ कहते हैं।

गृहस्थधर्म—देखो गृहिधर्म। गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः, तस्य धर्मो नित्य-नैमित्तिकानुष्ठानरूपः। (ध. बि. मु. वृ. १-१)।

घर में जो रहता है वह गृही या गृहस्थ कहलाता है। उसका धर्म नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठान है।

गृहस्थाचार्य — क्रियास्वन्यासु शास्त्रोक्तमार्गेण करणं मता। (?) कुर्वन्नेवं क्रियां जैनो गृहस्थाचार्य उच्यते ॥ (रत्नमाला ५०)।

गृहस्थोचित अन्य क्रियाओं को शास्त्रोक्त मार्ग से कराने वाले आचार्य को गृहस्थाचार्य कहते हैं।

गृहिणी—गृहिणी कौलीन्यादिगुणालंकृता पत्नी। (सा. ध. स्वो. टी. १-११)।

कुलीनता आदि गुणों से अलंकृत पत्नी को गृहिणी कहते हैं।

गृहिधर्म—देखो गृहस्थधर्म। १ पंच य अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं च होंति तिन्नेव। सिक्खावयाइं चउरो गिहिधम्मो बारसविहो अ ॥ (बशवै. नि. ६, २, २४६)। २. सोऽपि द्वादशव्रतधारण-यतिजनोपासनार्हद्दर्शन-दान-शील-तपोभावनासंश्रयादिभिरुपचीयमानः। (श्रा. वि. पृ. २)।

१ पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों के पालन को गृहिधर्म कहते हैं।

गृहिधर्मयोग्य गृही— १. संस्कारचतुर्दशकसंस्कृतो गृही गृहिधर्माय कल्पते। (श्रा. वि. पृ. ४२); धम्मरयणस्स जुग्गो अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो। लोअप्पिओ अकूरो भीरू असढो सुदक्खिणो ॥ लज्जालुओ दयालू मज्झत्थो सोमदिट्ठी गुणरागी। सक्कहसपक्खजुत्तो सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥ वुड्ढाणुगो विणीओ कयन्नुओ परहिअत्थकारी अ। तह चेव लद्धलक्खो इगवीसगुणो हवइ सड्ढो ॥ (श्रा. वि. पृ. ४२-४३ उद्.)। २. न्यायसंपन्नविभवः शिष्टाचारप्रशंसकः। कुल-शीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥ पापभीरुः प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन्। अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेषतः ॥ अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रतिवेश्मिके। अनेकनिर्गमद्वारविवर्जितनिकेतनः ॥ कृतसङ्गः सदाचारैर्मातापित्रोश्च पूजकः। त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते ॥ व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः। अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥ अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः। अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन् ॥ यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत्। सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च ॥ अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन् बलाबलम्। वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः पोष्यपोषकः ॥ दीर्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः। सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः ॥ अन्तरङ्गारिषड्वर्गपरिहारपरायणः। वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते ॥ (योगशा. १, ४७-५६)।

२ न्याय से—स्वामि-मित्रद्रोहादि से रहित होकर—धनका उपार्जन करने वाला, सदाचारप्रशंसक, समान कुल व शील वालों के साथ विवाह को करने वाला, पाप से भयभीत, देश के अनुकूल आचरण करने वाला, परनिन्दा से रहित; जो गृह न अतिव्यक्त हो—गृहान्तरों से दूरवर्ती हो—और न अतिगुप्त—गृहान्तरों से अतिशय घिरा हुआ हो—जहां पड़ोस अच्छा हो, तथा जो जाने-आने के बहुत द्वारों से रहित हो ऐसे गृह में रहने वाला; सत्संगति में तत्पर, माता-पिता का पूजक, निरुपद्रव स्थान में निवसित, निन्द्य आचरण से दूरवर्ती, आय के अनुसार व्यय एवं धन के अनुसार वेष करने वाला, आठ बुद्धिगुणों से सम्पन्न, प्रतिदिन धर्म को सुनने वाला, अजीर्ण होने पर भोजनत्यागी, समय पर सात्म्य—प्रकृतिके अनुकूल—भोजन

करने वाला, परस्पर के विरोध से रहित धर्मादि तीन पुरुषार्थों का साधक; अतिथि, साधु एवं दीन जन का यथोचित उपकार करने वाला, दुरभिनिवेश—दुष्ट अभिप्राय—से सदा दूर रहने वाला, गुणों का पक्षपाती, देश-काल के प्रतिकूल आचरण से रहित, बलाबल का ज्ञाता, व्रती व ज्ञानी जन का पूजक, पोष्यवर्ग—माता-पिता आदि—का पोषक, दीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, कृतज्ञ, लोकवल्लभ, लज्जालु, दयालु, सौम्य—क्रूरता से रहित आकृति का धारक, पर-उपकारक, अन्तरङ्ग शत्रुरूप षड्वर्ग—काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष—का परित्याग करने वाला तथा जितेन्द्रिय; इन गुणों से युक्त मनुष्य गृहस्थधर्म का धारण करने वाला होता है।

गृहिलिङ्ग—गृहिलिङ्गं दीर्घकेश-कच्छाबन्धादिः। (त. भा. सि. वृ. १०–७)।

लम्बे केश रखने और कच्छा (कटिवस्त्र) बांधने आदि रूप गृहस्थों के वेष को गृहिलिङ्ग कहते हैं।

गृहिलिङ्गसिद्ध—१. गृहिलिङ्गे स्थिताः सन्तो ये सिद्धा ते गृहिलिङ्गसिद्धाः। (आव. नि. मलय. वृ. ७८)। २. गृहिलिङ्गे सिद्धाः गृहिलिङ्गसिद्धाः मरुदेवीप्रभृतयः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–४, पृ. २२)।

१ गृहस्थ के वेष में स्थित होते हुए जिन्होंने सिद्धपद प्राप्त किया है उन्हें गृहिलिङ्गसिद्ध कहते हैं।

गृहिसंक्लिष्ट—गृहिसम्बन्धिनां तु द्विपद-चतुष्पद-धन-धान्यादीनां त(तृ)प्तिकरणप्रवृत्तो गृहिसंक्लिष्टः। एवंभूतः संसक्तोऽतिशयेनाविशुद्धत्वात संक्लिष्टोऽभिधीयते। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८४)।

जो गृहस्थ सम्बन्धी दास-दासी आदि द्विपद, गाय-भैंस आदि चतुष्पद और धन-धान्यादि की तृप्ति—सन्तोषार्थ उनके संग्रह—में संलग्न रहता है, वह विशुद्धिरहित होने से गृहिसंक्लिष्ट कहलाता है।

गृहीतग्रहणाद्धा—अप्पिदपोग्गलपरियट्टब्भंतरे गहिदपोग्गलाणं चेय गहणकालो गहिदगहणद्धा णाम। (धव. पु. ४, पृ. ३३८)।

विवक्षित पुद्गलपरिवर्त के भीतर केवल गृहीत पुद्गलों के ग्रहण का जो काल है उसे गृहीतग्रहणाद्धा काल कहा जाता है।

गृहीतमिथ्यादर्शन—१. परोपदेशतो जातं तत्त्वार्थानामरोचनम्। गृहीतमुच्यते सद्भिर्मिथ्यादर्शनमङ्गिनाम्॥ (पंचसं. अमित. १–३०७)। २. संसर्गाज्जायते यच्च गृहीतं तच्चतुर्विधम्। (धर्मसं. श्रा. ४–३३)।

१ जो दूसरे के उपदेश से तत्त्वार्थ का अश्रद्धान होता है उसे गृहीतमिथ्यादर्शन कहते हैं।

गृहीशिता—शुभवृत्तिक्रियामंत्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः॥ अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः। स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदार्हति गृहीशिताम्॥ (म. पु. ३८, १४५,–४६); विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम्। वृत्ताध्ययनसम्पत्त्या परानुग्रहणक्षमः॥ प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुति-स्मृति-पुराणवित्। गृहस्थाचार्यतां प्राप्तस्तदा धत्ते गृहीशिताम्॥ (म. पु. ३९, ७३–७४)।

जो उत्तर क्रियाओं के साथ उत्तम वृत्ति, उत्तम क्रिया, मन्त्र और विवाह आदि के द्वारा उन्नति करता है वह गृहीशिता—गृहस्थों की प्रमुखता—के योग्य होता है।

गोचार—१. यथा सलील-सालंकारवरयुवतिभिरुपनीयमानघासो (चा. सा.—घासे) गौर्न तदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरः, तृणमेवात्ति, यथा वा तृणोलूप (चा. सा—तृणोलपं) नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति, न योजनासम्पदमवेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूप-वेष-विलासावलोकननिरुत्सुकः शुष्क-द्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्षमाणः यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च। (त. वा. ९, ६, १६; चा. सा. पृ. ३५)। २. कान्ताताण्यलावण्यलीलालोकन-जल्पन-। स्मेरास्याब्जपदन्यासविलासाद्यनिरीक्षणः। गौर्यथाऽत्ति तृणव्रातं क्षिप्तं भुञ्जीत यत्नतः। तथाऽन्नाद्यमनास्वाद्य गोचरज्ञो यथोचितम्॥ (आचा. सा. ५, १२५–२६)। ३. गोर्बलीवर्दस्येव चारोऽभ्यवहारो गोचारः प्रयोक्तृजनसौन्दर्यनिरीक्षणविमुखतया यथालाभमनपेक्षितस्वादोचितसंयोजनाविशेषं चाभ्यवहरणात्। (अन. ध. स्वो. टी. ९–४९)।

१ जैसे गाय घास डालने वाली स्त्री के अंगगत सौन्दर्य को नहीं देखकर केवल घास का ही भक्षण करती है अथवा अनेक देशों में स्थित जो भी तृणसमूह उपलब्ध होता है उसका ही उपभोग करती है, उसकी योजना को नहीं देखती उसी प्रकार साधु भी

आहार परोसने वाले के अंग व वेष-भूषा आदि पर दृष्टि न रखकर जैसा भी भोजन प्राप्त होता है उसे ग्रहण करते हैं। इसीलिये उसे गौ के समान वृत्ति होने से गोचार या गोचरी वृत्ति कहते हैं।

गोतीर्थ—गोतीर्थमिव गोतीर्थम्—क्रमेण नीचो नीचतरः प्रवेशमार्गः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७१ पृ. ३२५)।

जहां पर गाय-भैंस आदि पानी पीते हैं और जो ऊपर से नीचे की ओर ढालू होता है ऐसे नदी व तालाब आदि के घाट को गोतीर्थ कहते हैं। इस गोतीर्थ के समान जो लवण समुद्र के उभय पार्श्व भागों में क्रम से नीचे नीचे प्रवेशमार्ग से सहित स्थान है वह 'गोतीर्थ' नाम से प्रसिद्ध है।

गोत्र—१. उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यत इति वा गोत्रम्। (स. सि. ८–४)। २. गूयते तदिति गोत्रम्। गूयते शब्द्यते तदिति गोत्रम्। (त. वा. ६, २५, ५); उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यतेऽनेति गोत्रम्। (त. वा. ८, ४, २)। ३. गोत्रं उच्चनीचभेदलक्षणम्, तद् गच्छति प्राप्नोत्यात्मेति गोत्रम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–५); यदुदयाज्जीवो गच्छत्युच्चैर्नीचैश्च जातीरुच्चावचास्तद् गोत्रम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१३)। ४. तथा गां वाचं त्रायत इति गोत्रम्, कश्चिदपि हि क्रिया कर्मव्युत्पत्त्यर्था, नार्थक्रियार्था इत्युच्चैर्नीचादिनिबन्धनमदृष्टमित्यर्थः। (श्रा. प्र. टी. ११)।५. गमयत्युच्च-नीचकुलमिति गोत्रम्, उच्च-नीचकुलेसु उप्पादओ पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चएहि जीवसंबद्धो गोदमिदि उच्चदे। (धव. पु. ६, पृ. १३; पु. १३, पृ. २०)। ६. संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। (गो. क. १३)। ७. गोत्रं तु यथार्थकुलं वा। (विपाक. अभय. वृ., पृ. ८); गोत्रं आन्वयिकी संज्ञेति। (विपाक. अभय. वृ., पृ. ११)। ८. गोत्रं नाम तथाविधैकपुरुषप्रभवो वंशः। (योगशा. स्वो. विव. १–४७)। ९. गां त्रायत इति गोत्रम्, शुभाशुभां वाचमुच्चारणकालात्सरार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात् पालयतीति यावद्, गूयते शुभाशुभता प्राणिनां यद्वशात् तद्वा गोत्रम्। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-११६, पृ. ३३-३४)। १०. तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत्तद् गोत्रं उच्च-नीचकुलोत्पत्तिलक्षणः पर्यायविशेषः, तद्विपाकवेद्य कर्मापि गोत्रं कार्ये कारणोपचारात्, यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्कर्मण उदयात्तद् गोत्रम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२–२८८, पृ. ४५४; प्रव. सारो. वृ. १२५०, पृ. ३५६)। ११. गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणस्तद् गोत्रम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६०८)।

२ जिसके द्वारा जीव ऊंच और नीच कहा जाता है वह गोत्र कर्म कहलाता है। ५ मिथ्यात्व आदि कारणों के द्वारा जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुआ जो कर्म-पुद्गलस्कन्ध उच्च अथवा नीच (लोकनिन्द्य) कुल में उत्पन्न कराता है, उसे गोत्र कहते हैं। ६ सन्तानक्रम से आये हुए आचरण का नाम गोत्र है।

गोदोहिका—१. गोदोहिगा गोदोहने आसनमिवासनम्। (भ. आ. विजयो. २२४)। २. पार्ष्णिभ्यां तु भुवस्त्यागे तस्याद् गोदोहिकासनम्। (योगशा. ४–१३२)। ३. गोदोहिगा गोदोहे आसनमिव पार्ष्णिद्वयमुत्क्षिप्याग्रपादाभ्यामासनम्। (भ. आ. मूला. २२४)।

१ गोदोहन के समय जिस प्रकार दोनों एड़ियों को ऊपर उठा कर बैठा जाता है, इस प्रकार के आसनविशेष को गोदोहिका कहा जाता है।

गोनिषद्या—देखो गोदोहिका। गोणिसेज्जा जंघाद्वयं संकोच्य गोरिवासनम्। (भ. आ. मूला. २२४)।

दोनों जंघाओं को संकुचित करके गाय के समान बैठने को गोनिषद्या कहते हैं।

गोनिषद्यार्धपर्यङ्क (गोणिसेज्जाद्धपलियंक)—गोणिसेज्जअद्धपलियंकं गोनिषद्या गवासनमिव अर्द्धपर्यंकम्। (भ. आ. विजयो. २२४)।

गाय के बैठने के समान अर्धपर्यंक आसन को गोनिषद्यार्धपर्यंक कहते हैं।

गोपुर—पायाराणं बारे घडिदगिहा गोवुरं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३९)।

प्राकारों के द्वार पर जो गृह बनाये जाते हैं उन्हें गोपुर कहा जाता है।

गोमूत्रिकागति—१. गोमूत्रिकेव गोमूत्रिका। क उपमार्थः? यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसामयिकी। (त. वा. २, २८, ४; धव. पु. १, पृ. ३००)। २. गोमुत्तिओ तिविग्गहो। (धव. पु. ४, पृ. ३०)।

गोमूत्र की तरह टेढ़ी-मेढ़ी तीन विग्रह वाली गति गोमूत्रिका गति कहलाती है। यह गति चार समय में परिपूर्ण होती है।

गोबरपीठ—छाणेण लेविदूण जाणि पीढा[ढा]णि किज्जंति ताणि गोवरपीढाणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४०)।

गोबर से लेप करके जो पीठ किये जाते हैं वे गोबर-पीठ कहलाते हैं।

गोवृत्तिक—गोवृत्तिकाः गोश्चर्यानुकारिणः। (अनु-यो. हरि. वृ. पृ. १७)।

गायों की चर्या का अनुकरण करने वाले अर्थात् जो गायों के समान निर्गमन, प्रवेश, स्थान और आसन आदि क्रियाओं को करते हैं तथा गायों के समान भोजन भी करते हैं वे गोवृत्तिक साधु कहलाते हैं।

गोवृषमुद्रा—बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य मध्यमातर्ज-न्योर्विस्फारितप्रसारणेन गोवृषमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३२)।

दाहिने हाथ की मुट्ठी बांध करके मध्यमा और तर्जनी अंगुलि फैला कर पसारने को गोवृषमुद्रा कहते हैं।

गोसर्ग—देखो गोसर्गिककाल।

गौण—से किं तं गोण्णे? २ खमइत्ति खवणो तवइत्ति तवणो जलइत्ति जलणो पवइत्ति पवणो से तं गोण्णे। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४०)।

क्षमाशील होने से क्षमण, तापकारक होने से तपन, जलाने से ज्वलन और बहने से पवन; इन नामों को क्रमशः क्षमादि गुण के अनुसार निष्पन्न होने से गौण नाम कहा जाता है।

गौण काल—गौणकालस्तु पर्यायस्थितिः स्यात् समयादिका। (आचा. सा. ३–२३)।

पर्यायों की स्थितिस्वरूप समय व आवली आदि को गौण काल या व्यवहार काल कहते हैं।

गौण प्रत्यक्ष—गौणं तु संव्यवहारनिमित्तमसर्व-पर्यायद्रव्यविषयमिन्द्रियानिन्द्रियप्रभवमस्मदाद्यध्यक्षं विशदमुच्यते। (सन्मति. अभय. वृ. २–१, पृ. ५५२)।

इन्द्रिय और मन के आश्रय से उत्पन्न होने वाला हम जैसों का जो प्रत्यक्ष निर्मल होकर समीचीन व्यवहार का कारण है तथा सब द्रव्यों और उनकी पर्यायों को विषय नहीं करता है—द्रव्य की कुछ ही पर्यायों को ग्रहण करता है—उसे गौण प्रत्यक्ष कहते हैं।

गौण्य—१. गुणानां भावो गौण्यम्। तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि। यथा आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि। (धव. पु. १, पृ. ७४); गुणेण णिप्पण्णं गोण्णं। जहा सूरस्स तवण-भक्खर-दिणयरसण्णा। (धव. पु. ६, पृ. १३५)। २. गुणेण णिप्पण्णं गोण्णं। जहा सूरस्स तवण-भक्खर-दिणयरसण्णाओ। वड्ढमाण-जिणिंदस्स सव्वण्हु-वीयराय-अरहंत-जिणादिसण्णा-ओ। (जयध. १, पृ. ३१)।

१ जो पद गुण के आश्रय से निष्पन्न होते हैं, उन्हें गौण्य पद कहा जाता है। जैसे—सूर्य के तपन और भास्कर आदि नाम।

गौतम—गौतमाः— लघुतराक्षमालार्चितविचित्र-पादपतनादिशिक्षाकलापवद्वृषभकोपायतः कणभि-क्षाग्राहिणः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १७)।

अतिशय छोटी अक्षमाला से लिप्त विचित्र पैरों के पतनादि की शिक्षा से युक्त बैल के आश्रय से भिक्षा के ग्रहण करने वाले तापसों को गौतम कहा जाता है।

गौरव—गुणावबोधप्रभवं हि गौरवम् ××× ॥ (द्वात्रिंशिका ६–२८)।

गुणों के ज्ञान से जो महानता उत्पन्न होती है उसे धर्म का गौरव कहते हैं।

गौरववन्दनक—१. ××× गारवं सिक्खाबि-णीओऽहं। (प्रव. सारो. १६२)। २. शिक्षा वन्दन-कप्रदानादिसामाचारीविषया, तस्यां विनीतः कुशलो-ऽहमित्यवगच्छन्त्स्वमी सर्वेऽपि साधव इत्यभिप्रायवान् यथावदावर्ताद्याराधयन् यत्र वन्दते तद् गौरववन्द-नकमित्यर्थः। (प्रव. सारो. वृ. १६२, पृ. ३७)।

वन्दना देने आदि की सामाचारी (अनुष्ठानविशेष) विषयक शिक्षा में 'मैं विनीत व दक्ष हूं' ऐसा सभी साधु समझ लें; इस अभिप्राय से जो यथायोग्य आवर्त आदि का आराधन करते हुए जहां वन्दना की जाती है, यह गौरववन्दनक दोष कहलाता है। यह वन्दना के ३२ दोषों में १४वां दोष है।

गौरववन्दनादोष—१. गारवं गौरवम् आत्मनो माहात्म्या[स्यमा] सनादिभिराविःकृत्य रस-सुख-हेतोर्वा यो वन्दनां करोति तस्य गौरववन्दनादोषः।

(मूला. वृ. ७–१०७)। २. गौरवं स्वस्य महिमन्याहारादावथ स्पृहा ॥ (अन. ध. ८–१०३)। ३. गौरवाद्वन्दनकसमाचारीकुशलोऽहमिति गर्वादन्येऽप्यवगच्छन्तु मामिति यथावदावर्तादीनाराधयतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

१ आसन आदि के द्वारा अपने गौरव को प्रकट करके अथवा रस और सुख के हेतु से आचार्य की वन्दना करने वाले के गौरव नामक वन्दनादोष होता है।

गौसर्गिककाल—गवां पशूनां सर्गो निर्गमो यस्मिन् काले स कालो गोसर्गः। गोसर्ग एव गौसर्गिको द्विघटिकोदयादूर्ध्वंकालो द्विघटिकासहितः मध्याह्नात् पूर्वः। (मूला. वृ. ५–७३)।

गायों के निकलने के काल को गौसर्गिक काल कहते हैं, अर्थात् दो घड़ी सूर्योदय के पश्चात् और मध्याह्न से दो घड़ी पूर्व के काल का नाम गौसर्गिक काल है।

ग्रन्थ—१. ग्रथ्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वाऽर्थ इति ग्रन्थः। (आव. नि. हरि. वृ. १३०, पृ. ८७)। २. विप्रकीर्णार्थग्रथनाद् ग्रन्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. २२)। ३. गणहरदेवविरइददव्वसुदं गंथो। (धव. पु. ६, पृ. २६०); अरहंतवुत्तत्थो गणहरदेवगंथिओ सद्दकलाओ गंथो। (धव. पु. ६, पृ. २६८); आयरियाणमुवएसो गंथो। (धव. पु. १४, पृ. ८)। ४. ग्रथ्नन्ति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः। (भ. आ. विजयो. व मूला. ४३)।

१ जिसके द्वारा, जिससे अथवा जिसमें अर्थ को गूंथा जाता है वह ग्रन्थ कहलाता है। ४ जो संसार को लंबा करते हैं उन्हें ग्रन्थ (परिग्रह) कहा जाता है।

ग्रन्थकर्ता—बीजपदणिलीणत्थपरूवयाणं दुवालसंगाणं कारओ गणहरभडारओ गंथकत्तारओ। × × × बीजपदाणं वक्खाणओ त्ति। (धव. पु. ६, पृ. १२७)।

बीजपदों में निहित अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता व बीजपदों के व्याख्याता गणधर भट्टारक को ग्रन्थकर्ता कहा जाता है।

ग्रन्थकृति—जा सा गन्थकदी णाम सा लोए वेदे समये सद्दपबंधणा अक्खरकव्वादीणं जा च गंथरचणा कीरदे सा सव्वा गंथकदी णाम। (ष. खं. ४, १, ६७—धव. पु. ६, पृ. ३२१)।

लोक, वेद अथवा समय विषयक जो शब्दप्रबन्ध रूप रचना की जाती है, तथा अक्षरात्मक काव्यादिकों की भी जो रचना की जाती है, उसे ग्रन्थकृति कहते हैं। लोक से यहाँ हस्ती, अश्व, तंत्र, कौटिल्य एवं वात्सायन आदि शास्त्र; वेद से द्वादशांग और समय से नैयायिक-वैशेषिकादि दर्शन अभीष्ट रहे हैं।

ग्रन्थसम—गणहरदेवविरइददव्वसुदं गंथो, तेण समं सह वट्टदि उप्पज्जदि त्ति बोहिय-बुद्धाइरियेसु ट्ठिदबारहंगसुदणाणं गंथसमं। (धव. पु. ६, पृ. २६०); अरहंतवुत्तत्थो गणहरदेवगंथिओ सद्दकलाओ गंथो णाम। तत्तो समुप्पण्णो भद्दबाहुआदियेरेसु वट्टमाणो कदिअणियोगो गंथेण सह उत्तीदो गंथसमं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६८)।

अरहन्त के द्वारा जिसका अर्थ कहा गया है तथा गणधर देव के द्वारा जो ग्रथित किया गया है, ऐसे शब्दसमूह का नाम ग्रन्थ है। उस शब्दसमूह रूप ग्रन्थ से जो बोधितबुद्ध आचार्यों के—भद्रबाहु आदि स्थविरों के—द्वादशांग श्रुत का ज्ञान रहा है, वह ग्रन्थ के साथ उत्पन्न होने से ग्रन्थसम कहलाता है।

ग्रन्थि—१. गंठि त्ति सुदुब्भेतो कक्खड-घण-रूढ-गूढगण्ठिव्व। जीवस्स कम्मजणितो घणरायद्दोसपरिणामो ॥ (विशेषा. भा. ११९२)। २. राग-द्वेषपरीणामो दुर्भेदो ग्रन्थिरुच्यते। (योगशा. स्वो. विव. १–१७)।

१ जिस प्रकार किसी वृक्षविशेष की कठोर गांठ अतिशय दुर्भेद्य होती है उसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग-द्वेष परिणाम उस गांठ के समान दुर्भेद्य होते हैं, उन्हें ग्रन्थि कहा जाता है।।

ग्रन्थिम—गंथणकिरियाणिप्फण्णं फुल्लमादिदव्वं गंथिमं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २७२)।

ग्रथन क्रिया से सिद्ध होने वाले पुष्पमाला आदि रूप द्रव्य को ग्रन्थिम कहा जाता है।

ग्रहण—१. ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानम्। (नीतिवा. ५–४७; योगशा. स्वो. विव. १–५१, पृ. १५२)। २. ग्रहणं सद्गुरूपदिष्टार्थविज्ञानम्। (भ. आ. मूला. ४३१)।

१ शास्त्र के अर्थ के उपादान—आत्मसात् करने—

को ग्रहण कहा जाता है। यह आठ बुद्धिगुणों में से एक है।

ग्रहसम—प्रथमतो वंश-तन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गृहीतस्तत्समेन स्वरेण गीयमानं ग्रहसमम्। (अनुयो. मल. हेम. वृ. गा. ५०, पृ. १३२)।

बांसुरी व वीणा आदि से निकले हुए स्वर को पहले ग्रहण करके पीछे उसी स्वर के समान स्वर से गाये जाने वाले गीत को ग्रहसम कहते हैं।

ग्राम—१. तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः। (दशवै. हरि. वृ. ४–६, पृ. १४७)। २. वृतिपरिवृतो ग्रामः (धव. पु. १३, पृ. ३३६)। ३. ग्रामो जनपदाश्रितः सन्निवेशविशेषः। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. १७५)। ४. ग्रामो जनपदाध्यासितः। (औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७९)। ५. वृत्यावृतो ग्रामः। (नि. सा. टी. ५८)। ६. ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति, यदि वा गम्यः शास्त्रप्रसिद्धानामष्टादशानां कराणामिति ग्रामः। (जीवाजी. मलय. वृ. सू. ३६, पृ. ३९, तथा सू. १४७, पृ. २७९)।

१ जो बुद्धि आदि गुणों को ग्रसता है—जहां कृषक आदि मन्दबुद्धि जन रहते हैं, विशेष बुद्धिमान् जन नहीं रहते—उसे ग्राम कहते हैं। २ कांटों की वृति (बारी) से घिरे हुए घरों के समुदाय को ग्राम कहा जाता है। ६ जो शास्त्रप्रसिद्ध अठारह प्रकार के करों (टैक्सों) का गम्य है वह ग्राम कहलाता है।

ग्रामदाह—ग्रामदाहोऽग्निना दाहे ग्रामस्य × × ×। (अन. ध. ५–५७); ग्रामदाहो नाम भुक्तिविघ्नः स्यात्। क्व सति? अग्निना दाहे ग्रामस्य—स्वाध्यासितग्रामे दह्यमाने सति। (अन. ध. स्वो. टी. ५–५७)।

अपने द्वारा अधिष्ठित गांव के जलने को ग्रामदाह कहते हैं। यह भोजन के अन्तरायों में से एक है।

ग्राहकशुद्ध दान—१. तत्र ग्राहकशुद्धं तु यत्र गृहीता चारित्रगुणयुक्तः। (विपाक. अभय. वृ. २–१, पृ. ६३)। २. सावद्ययोगविरतो गौरवत्रयवर्जितः। त्रिगुप्तः पंचसमितो राग-द्वेषविनाकृतः॥ निर्ममो नगरवसत्यङ्गोपकरणादिषु। ततोऽष्टादशशीलाङ्गसहस्रधरणोद्धुरः॥ रत्नत्रयधरो धीरः समकाञ्चनलोष्ठकः। शुभध्यानद्वयस्थास्नुर्जिताक्षः कुक्षिसंबलः॥ निरन्तरं यथाशक्तिनानाविधतपःपरः। संयमं सप्तदशधा धारयन्नविखण्डितम्॥ अष्टादशप्रकारं च ब्रह्मचर्यं समाचरन्। यत्रेदृक् ग्राहको दानं तत् स्याद् ग्राहकशुद्धिमत्॥ (त्रि. श. पु. च. १, १, १७८ से १८२)।

२ जो सर्वसावद्य योगसे विरत, तीन प्रकारके गौरव से रहित, तीन गुप्तियों व पांच समितियों से युक्त, राग-द्वेष से रहित; नगर, वसति, शरीर और उपकरणादि विषयक ममता से रहित; अठारह हजार शीलों के धारण में कुशल, रत्नत्रय का धारक, सुवर्ण व ढेले को समान समझने वाला, दो उत्तम ध्यानों (धर्म्य व शुक्ल) का ध्याता, यथाशक्ति निरन्तर नाना प्रकार के तप में निरत, निर्दोष सात प्रकार के संयम का धारक और अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का परिपालक होता है; ऐसा साधु जिस दान का ग्राहक हो उसे ग्राहकशुद्ध दान कहा जाता है।

ग्रीवाधोनयन— × × × शिरोधेर्बहुधाप्यधः॥ (अन. ध. ८–११९); बहुधा बहुभिः प्रकारैः, अप्यधः अधस्तादपि बहुधा ग्रीवानयनम् × × × ग्रीवाधोनयनं दोषः। (अन. ध. स्वो. टी. ८-११९)।

कायोत्सर्ग करते समय बार-बार शिर के नीचा करने को ग्रीवाधोनयन दोष कहते हैं। यह कायोत्सर्ग के ३२ दोषों में २१वां दोष है।

ग्रीवोर्ध्वनयन— × × × ऊर्ध्वं नयनं शिरोधेः × × ×॥ (अन. ध. ८–११९); शिरोधेर्ग्रीवाया ऊर्ध्वं नयनं × × × ग्रीवोर्ध्वनयनं दोषः। (अन. ध. स्वो. टी. ८–११९)।

कायोत्सर्ग करते समय ग्रीवा के ऊपर करने को ग्रीवोर्ध्वनयन दोष कहते हैं।

ग्रैवेयक— १. लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवाः, ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि, तत्साहचर्यादिन्द्रा अपि ग्रैवेयकाः। (त. भा. ४, १९, २)। २. लोकपुरुषग्रीवास्थाने भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि। (आव. नि. हरि. वृ. ५० व ६५)। ३. ग्रैवेयकास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशविनिविष्टा ग्रीवाभरणभूता ग्रैवा ग्रीव्या ग्रैवेया ग्रैवेयका इति। (त. भा. सि. ४–२०)।

१ लोकरूप पुरुष के ग्रीवास्थान पर अवस्थित विमानों को ग्रैवेयक कहा जाता है। उन विमानों

में रहने से वहां के इन्द्र भी ग्रैवेयक कहलाते हैं।

ग्लान—१. रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः। (स. सि. ६-२४; श्लो. वा. ६-२४; चा. सा. पृ. ६६; भावप्रा. टी. ७८)। २. रुजादिविक्लिष्टशरीरो ग्लानः। रुजादिभिः क्लिष्टशरीरो ग्लान इत्युच्यते। (त. वा. ६, २४, ७)। ३. ग्लानो मन्दोऽपटुर्व्याध्यभिभूतः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२४)। ४. ग्लानो रोगादिभिरसमर्थः। (स्थाना. अभय. वृ. ३, ४, २०८)। ५. रोगादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। ६. रोगादिपीडितशरीरो ग्लानः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२४; कार्तिके. टी. ४५७)।

१ जिसका शरीर रोग आदि से अभिभूत हो उसे ग्लान कहा जाता है। ३ जो मन्द, अपटु व व्याधि से पराभूत है वह ग्लान कहलाता है।

घटिका—१. जलभाजनादिबहिरङ्गनिमित्तभूतपुद्गलप्रकटीक्रियमाणा घटिका। (पंचा. का. अमृ. वृ. २५)। २. द्वात्रिंशत्कलाभिर्घटिका। (नि. सा. वृ. ३१)। ३. पञ्चदशकलाः घटिका। (काव्यानु. ५-६४)।

१ जलपात्र आदि रूप बाह्य निमित्तभूत पुद्गलों के द्वारा जो प्रगट की जाती है उसे घटिका(कालविशेष) कहा जाता है। २ बत्तीस कला प्रमाण काल को घटिका या घड़ी कहते हैं। ३ पन्द्र कलाओं की एक घटिका होती है।

घटोत्पादानुभाग — छदव्वाणं सत्ती अणुभागो णाम। ××× [मट्टिया] पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारादीण घडुप्पायणाणुभागो। (धव. पु. १३, पृ. ३४९)।

छह द्रव्यों की शक्ति का नाम अनुभाग है। जैसे—मिट्टी का पिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार; इन सब में संयुक्त रूप से जो घट के उत्पादनविषयक शक्ति है; यह उनका घटोत्पादन-अनुभाग है।

घण्टामुद्रा — अधोमुखवामहस्ताङ्गुलीर्घण्टाकाराः प्रसार्य दक्षिणेन मुष्टिं बद्ध्वा तर्जनीमूर्ध्वां कृत्वा वामहस्ततले नियोज्य घण्टावच्चालनेन घण्टामुद्रा। (निर्वाणक. १९, ६, ८, पृ. ३१)।

बायें हाथ की अंगुलियों को नीचे की ओर मुख करके घण्टा के आकार में पसार कर उसके नीचे दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर और तर्जनी को ऊंची उठाकर बाईं हथेली के नीचे रखकर घण्टा के समान हिलाने को घण्टामुद्रा कहते हैं।

घन—१. ताल-घण्टा-लालनाद्यभिघातजो घनः। (स. सि. ५-२४; त. वा. ५, २४, ६)। २. घनः कांस्यभाजन-काष्ठशलाकादिजन्यः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ५-२४)। ३. घनं तालसमुत्थितम्। (पद्मपु. २४-२०)। ४. घणो णाम जयघंटादिघणदव्वाणं संघादुट्ठाविदो सद्दो। (धव. पु. १३, पृ. २२१)। ५. कांस्यतालादिजो घनः। (त. श्लो. ५-२४)। ६. घनं कंसिकादि। (रायप. अभय. वृ. पृ. ९६)। ७. ताल-कंसतालनाद्यभिघातजातः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४)।

१ ताल (कंसिका), घण्टा और लालन आदि के ताडन से जो शब्द होता है उसे घन कहते हैं। २ कांसे के बर्तन आदि से उत्पन्न होने वाले शब्द का नाम घन है।

घनलोक—१. स(प्रतरलोकः) एवाऽपरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः। (त. वा. ३, ३८, ८)। २. सत्तरज्जुघणपमाणो लोगो घणलोगो। (धव. पु. ४, पृ. १८); रज्जू सत्तगुणिदा जगसेढी, सा वग्गिदा जगपदरं, सेढीए गुणिदजगपदरं घणलोगो त्ति परियम्मसुत्तेण सव्वाइरियसंमदेण विरोहपसंगादो च। (धव. पु. ४, पृ. १८४ उद्.; धव. पु. ७, पृ. ३७२ उद्.)।

२ सात राजु प्रमाण आकाश की प्रदेशपंक्ति को जगश्रेणी, जगश्रेणी के वर्ग को जगप्रतर और जगप्रतर को जगश्रेणी से गुणित करने पर घनलोक होता है।

घनाङ्गुल—१. ××× घणे घणंगुलं लोगो। (ति. प. १-१३२)। २. तत्प्रतराङ्गुलमपरेण सूच्यङ्गुलेनाभ्यस्तं घनाङ्गुलम्। (त. वा. ३, ३८, ८)। ३. पदरंगुलं उस्सेधेण गुणिदे घणगुलं होदि। (धव. पु. ४, पृ. ४३)।

२ प्रतरांगुल को दूसरे सूच्यंगुल से गुणित करने पर घनाङ्गुल होता है।

घातक्षुद्रभवग्रहण—णिसेयखुद्दाभवग्गहणादो आवलियाए असंखेज्जदिभागेणूणजीवणियकालो णिसेयखुद्दाभवग्गहणस्स संखेज्जे भागे घादिदूण दुविदसंखे-

उवरिमभागो वा घादखुद्दाभवग्गहणं। (धव. पु. १४, पृ. ३६२)।

निषेकक्षुद्रभवग्रहण से आवली के असंख्यातवें भाग कम जो जीवनकाल है उसे, अथवा निषेकक्षुद्रभवग्रहण के संख्यात बहुभागों को घातकर स्थापित संख्यातवें भाग को घातक्षुद्रभवग्रहण कहते हैं।

घातसत्त्वस्थान (घादसंतट्ठाण)—घादसंतट्ठाणं णाम बंधसरिसग्रट्ठंक-उव्वंकाणं विच्चाले हेट्ठिम-उव्वंकादो अणंतगुणं उवरिमअट्ठंकादो अणंतगुणहीणं होदूण चेट्ठदि। (धव. पु. १२, पृ. १३०)।

बन्धसदृश अष्टांक और ऊर्वक के मध्य में अधस्तन ऊर्वक से अनन्तगुणा और उपरिम अष्टांक से अनन्तगुणा हीन होकर जो सत्त्वस्थान अवस्थित होता है उसे घातसत्त्वस्थान कहते हैं।

घातिकर्म—१. णाणावरण-दंसणावरण-मोहणीय-अंतराइयाणि घादिकम्माणि, केवलणाण-दंसण-सम्मत्त-चरित्त-वीरियाणमणेयभेयभिण्णाणं जीवगुणाणं विरोहित्तणेण तेसिं घादिववदेसादो। (धव. पु. ७, पृ. ६२)। २. तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया। घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः॥ (पंचाध्या. २–९९८)।

१ क्रम से केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व व चारित्र तथा वीर्य रूप जीवगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों को घातिकर्म कहा जाता है।

घुणाक्षरन्याय—१. स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानम्। (नीतिवा. १०–९३, पृ. १३४)। २. घुणः कृमिविशेषः, स शनैः काष्ठं भक्षयति, तेन तस्य भक्ष्यमाणस्य विचित्रा रेखा भवन्ति; तासां मध्यात् काचिद्रेखा ऽक्षराकारा भवति। (नीतिवा. टी. १०–९३)।

घुन के कीड़े द्वारा खाये जाने वाले काष्ठ में किसी अक्षर के आकार के बन जाने के समान—जो प्रायः असम्भव है—यदि कदाचित् कोई कार्य सिद्ध हो जाता है तो उसे 'घुणाक्षरन्याय से सिद्ध माना जाता है।

घृतस्रावी—१. रिसिपाणितलणिखित्तं रुक्खाहारादियं पि खणमेत्ते। पावेदि सप्पिरूवं जीए सा सप्पियासवी रिद्धी॥ अहवा दुक्खप्पमुहं सवणेण मुणिवरिंदवयणस्स। उवसामदि जीवाणं एसा सप्पियासवी रिद्धी॥ (ति. प. ४, १०८६–८७)। २. येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि सर्पीरसवीर्य-विपाकानाप्नोति, सर्पिरिव वा येषां भाषितानि प्राणिनां सतर्पकाणि भवन्ति ते सर्पिरास्राविणः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०४)। ३. येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि घृतरसपरिणामि भवति, वचनानि श्रोतृणां घृतपानस्वादं जनयन्ति, ते घृतस्राविणः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से हाथ पर रखा हुआ रूक्ष भी आहार आदि क्षण मात्र में घृत रसवाला हो जाता है, अथवा जिसके प्रभाव से साधु के मुख से निकले हुए दिव्य वचन के सुनने से दुखी जनों का दुःख आदि नष्ट हो जाता है उसे घृतस्रावी या सर्पिस्रावी ऋद्धि कहते हैं।

घृतास्रव—घृतमिव वचनमास्रवन्तीति घृतास्रवाः। (आव. नि. मलय. वृ. ७५, पृ. ८०)।

जिनके वचन घी के समान निकलते हैं वे घृतास्रव कहलाते हैं।

घोटकदोष—१. घोटकस्तुरगः, स यथा एकं पादमुत्क्षिप्य विनम्य वा तिष्ठति तथा यः कायोत्सर्गेण तिष्ठति तस्य घोटकसदृशो घोटकदोषः। (मूला. वृ. ७–१७१)। २. आकुञ्चितैकपादस्य घोटकस्येव स्थानं घोटकदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)। ३. कायोत्सर्गमलोऽस्त्येकमुत्क्षिप्याङ्घ्रि वराश्ववत्। तिष्ठतोऽश्वः ××× ॥ (अन. ध. ८–११२)।

१ घोड़े के समान एक पांव को उठाकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होता है, यह घोटक नामका कायोत्सर्ग का दोष है।

घोरगुण—घोरा रउद्दा गुणा जेसिं ते घोरगुणा। कधं चउरासीदिलक्खगुणाणं घोरत्तं ? घोरकज्जकारिसत्तिजणणादो। (धव. पु. ९, पृ. ९३)।

जो महर्षि घोर—भयानक कार्यों को करने वाली शक्ति के जनक—गुणों से संयुक्त होते हैं वे घोरगुण ऋद्धि के धारक होते हैं।

घोरतप—१. जलसूलप्पमुहाणं रोगेणच्चंतपीडिअंगा वि। साहंति दुद्धरतवं जीए सा घोरतवरिद्धी॥ (ति. प. ४–१०५५)। २. वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपातसमुद्भूतज्वर-कास-श्वासाक्षिशूल-कुष्ठ-प्रमे-

हादिविविधरोगसंतापितदेहा अप्यप्रच्युताऽनशनकायक्लेशादितपसो भीमश्मशानाद्रिमस्तक-गुहा-दरी-कन्दर-शून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्ष-राक्षस-पिशाचप्रनृत्तवेतालरूपविकारेषु परुषशिवारुतानुपरतसिंहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणस्वनघोरचौरादिप्रचरितेष्वभिरुचितावासाश्च घोरतपसः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। ३. उववासेसु छम्मासोववासो ओमोदरियासु एक्ककवलो, उत्तिपरिसंखासु चच्चरे गोयराभिग्गहो, रसपरिच्चागेसु उण्हजलजुदोयणभोयणं, विवित्तसयणासणेसु वय-वग्घ-तरच्छ-छवलादिसावयसेवियासु सज्झ-विज्झडईसु णिवासो, कायकिलेसेसु तिव्वहिमवासादिणिवदंतविसएसु अब्भोकासरुक्खमूलादावणजोगग्गहणं। एवमब्भंतरतवेसु वि उक्किट्ठतवपरूवणा कायव्वा। एसो वारहविहो वि तवो कायरजणाणं सज्झसजणणो त्ति घोरतवो। सो जेसिं ते घोरतवा। (धव. पु. ९, पृ. ९२)। ४. वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपातसमुद्भूतज्वर-कासाक्षिशूल-कुष्ठ-प्रमेहादिविविधरोगसन्तापितदेहा अप्यप्रच्युतानशनादितपसोऽनशने षण्मासोपवासाः, अवमौदर्ये एककवलाहाराः, वृत्तिपरिसंख्याने चत्वरगोचराव[भि]ग्रहाः, रसपरित्यागे उष्णजलधौतोदनभोजिनः, विविक्तशयनासने भीमश्मशान-गिरिगुहा-दरी-कन्दर-शून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्ष-रक्षः-पिशाच-प्रनृत्यत्प्रेत-वेतालरूपविकारेषु पु[प]रुष-शिवारुतानुपरत-सिंह-व्याघ्रादि-व्याल-मृगभीषणस्वनघोरचौरादिप्रचलितेष्वभिरुचितावासाः, कायक्लेशेऽतितीव्रशीतातपवर्षानिपातप्रदेशेष्वभ्रावकाशातापनवृक्षमूलयोगग्राहिणः। (चा. सा. पृ. १००)। ५. सिंह-शार्दूलाद्याकुलेषु गिरिकन्दरादिषु भयानकश्मशानेषु च प्रचुरतरशीतवातादियुक्तेषु गत्वा दुर्धरोपसर्गसहनपरा घोरतपसः। (प्रा. योगिभ. टी. १५, पृ. २०३)। ६. सिंह-व्याघ्रर्क्ष-चित्रक-तरक्षुप्रभृतिक्रूरश्वापदाकुलेषु गिरिकन्दरादिषु स्थानेषु भयानकश्मशानेषु च प्रचुरतरशीतवातातपादियुक्तेषु स्थानेषु स्थित्वा दुर्धरोपसर्गसहनपरा ये मुनयस्ते घोरतपसः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

२ वात, पित्त, कफ एवं संनिपात आदि के आश्रयसे उत्पन्न हुए ज्वर, कास, श्वास, अक्षिरोग, शूल, कोढ़ और प्रमेह आदि अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित होने पर भी जो अनशन एवं कायक्लेशादि तप से भ्रष्ट नहीं होते हैं; भयानक श्मशान, पर्वतशिखर, गुफा एवं शून्य ग्राम आदि में रहते हुए जो शृगाल और सिंहादि के भयावह शब्दों को सुनकर भयभीत नहीं होते, तथा जो उन हिंस्र पशुओं और चोर आदि की बाधा को प्रसन्नतापूर्वक सहते हैं वे घोरतपस्वी कहे जाते हैं।

घोरपराक्रमतप – १. णिरुवमवड्ढंततवा तिहुवणसंहरणकरणसत्तिजुदा। कंटयसिलग्गिपव्वयधूमुक्कापहुदिवरिसणसमत्था॥ सहस त्ति सयलसायरसलिलुप्पीलस्स सोसणसमत्था। जायंति जीए मुणिणो घोरपरक्कमतव त्ति सा रिद्धी॥ (ति. प. ४, १०५६–५७)। २. ते (घोरतपसः) एव गृहीततपोयोगवर्द्धनपराः घोरपराक्रमाः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। ३. ते (घोरतपसः) एव गृहीततपोयोगवर्द्धनपराः त्रिभुवनोपसंहरण-महीवलयग्रसन-सकलसागरसलिलसंशोषण-जलाग्निशिला-शैलादिवर्षणशक्तयो घोरपराक्रमाः। (चा. सा. पृ. १००)। ४. भूत-प्रेत-वेताल-राक्षस-शाकिनीप्रभृतयो यान् दृष्ट्वा बिभ्यन्ति ते घोरपराक्रमाः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिनका अनुपम तप उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है, जो तीनों लोकों के संहार करने की शक्ति से युक्त होते हुए कांटों, पत्थरों, अग्नि, पर्वत, धूम और उल्का आदि के बरसाने में समर्थ होते हैं; तथा जो सहसा समुद्र के समस्त जल को सुखा सकते हैं, ऐसे मुनि घोरपराक्रमतप ऋद्धि के धारक होते हैं।

घोरब्रह्मचारित्व—१. जीए ण होंति मुणिणो खेत्तम्मि वि चोरपहुदिबाधाओ। कालमहाजुद्धादी रिद्धी सा घोरबह्मचारित्ता॥ उक्कस्सक्खउवसमे चारित्तावरणमोहकम्मस्स। जा दुस्सिमणं णासइ रिद्धी सा घोरबह्मचारित्ता॥ अथवा—सव्वगुणेहिं अघोरं महेसिणो बह्मसद्दचारित्तं। विप्फुरिदाए जीए रिद्धी सा घोरबह्मचारित्ता॥ (ति. प. ४, १०५८ से १०६०)। २. चिरोषिताऽस्खलितब्रह्मचर्यवासाः प्रकृष्टचारित्रमोहनीयक्षयोपशमात् प्रणष्टदुःस्वप्नाः। घोरब्रह्मचारिणः। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. १००)। ३. चिरोषित-[ता-]स्खलितब्रह्मचर्याऽऽवासाः प्रकृष्टचारित्रमोहक्षयोपशमात् प्रणष्टदुःस्वप्ना घोरब्रह्मचारिणः। अथवा अघोरब्रह्मचारिण

इति पाठे अघोरं शान्तं ब्रह्म चारित्रं येषां ते अघोर-गुणब्रह्मचारिणः । (चा. सा. पृ. १००) । ४. सिंह-व्याघ्रादिसेवितपादपद्माः घोरगुणब्रह्मचारिणः । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६) ।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के द्वारा अधिष्ठित क्षेत्र में भी चोर आदि की बाधायें तथा महामारी व महायुद्धादि नहीं होते वह घोरब्रह्मचारित्व ऋद्धि कहलाती है । चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम के होने पर जो ऋद्धि दुःस्वप्नों को नष्ट किया करती है उसे घोरब्रह्मचारित्व ऋद्धि जानना चाहिए । अथवा जिस ऋद्धि के प्रगट हो जाने पर महर्षि का ब्रह्मचारित्व सब गुणों के आश्रय से अघोर (शान्त या अखण्डित) रहता है उसका नाम अघोरब्रह्मचारित्व ऋद्धि है ।

घोष—घोसो णाम घस्समाणदव्वजणिदो । (धव. पु. १३, पृ. २२१) ।

घिसे जाने वाले द्रव्य से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे घोष कहा जाता है ।

घोषविशुद्धिकरणता—घोषविशुद्धिकरणता उदात्तानुदात्तादिस्वरशुद्धिविधायिता । (उत्तरा. नि. वृ. ५८, पृ. ३९) ।

उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त आदि स्वरों की शुद्धि करना, यह घोषविशुद्धिकरणता नाम की एक (चौथी) श्रुतसम्पत् है ।

घोषसम—घोसेण दव्वाणिओगद्दारेण समं सह वट्टदि उप्पज्जदि त्ति घोससमं णाम अणियोगसुदणाणं ××× उदात्त-अणुदात्त-सरिदसरभेएण पढणं घोससममिदि के वि आइरिया परूवेंति । (धव. पु. ९, पृ. २६१); तस्स कदिअणिओगद्दारस्स एगाणिओगो घोसो । तत्तो समुप्पण्णो कदिअणिओगो, तत्तो असमुप्पज्जिय एदेण समो त्ति घोससमो । (धव. पु. ९, पृ. २६९); बारहंगसद्दागमं सुणेंतस्स जस्स सुदपरिवड्ढत्थविसयमेव सुदणाणं समुप्पण्णं सो घोससमं । (धव. पु. १४, पृ. ८-९) ।

घोष का अर्थ द्रव्यानुयोगद्वार है, उसके साथ रहने या उत्पन्न होने से अनुयोग श्रुतज्ञान घोषसम कहलाता है । द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुत को सुनते हुए जिसके मुख से सम्बद्ध अर्थ को विषय करने वाला ही श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ है वह घोषसम कहलाता है ।

घ्राण—१. वीर्यान्तराय-मतिज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् आत्मना ××× घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम् । (स. सि. २-१९) । २. वीर्यान्तराय-प्रतिनियतेन्द्रियावरण-(घ्राणेन्द्रियावरण-)क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् ××× जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम् । (त. वा. २, १९, १) । ३. वीर्यान्तराय-घ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् जिघ्रत्यनेनात्मेति घ्राणम् । (धव. पु. १, पृ. २४३) । ४. घ्रायते गन्धः उपादीयते आत्मना अनेनेति घ्राणम्, जिघ्रति गन्धमिति घ्राणम् । (त. वृत्ति श्रुत. २-१९) ।

१ जिसके द्वारा आत्मा वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के साहाय्य से वस्तुगत सुगन्ध और दुर्गन्ध को ग्रहण किया करता है उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं ।

घ्राणनिरोध—१. पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे । रागद्देसाकरणं घाणनिरोहो मुणिवरस्स । (मूला. १-१९) । २. जीवगते अजीवगते च प्रकृतिगन्धे वासनागन्धे च सुखरूपेऽसुखरूपे च यदेतद् राग-द्वेषयोरकरणं मुनिवरस्य तत् घ्राणेन्द्रियनिरोधव्रतं भवतीत्यर्थः । (मूला. वृ. १-१९) । ३. प्रकृतिप्रयोगगन्धे जीवाजीवोभयाश्रये । शुभेऽशुभे मनःसाम्यं घ्राणेन्द्रियजयं विदुः ॥ (आचा. सा. १-३०) ।

१ जीव या अजीवगत प्राकृतिक या प्रयोगरूप सुगन्ध में राग नहीं करने को, तथा दुर्गन्ध में द्वेष नहीं करने को घ्राणनिरोध कहते हैं ।

घ्राणनिर्वृत्ति—अतिमुक्तकपुष्पसंस्थाना अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता घ्राणनिर्वृतिः । (धव. पु. १, पृ. २३५) ।

अतिमुक्तक पुष्प के आकार जो अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण पुद्गल की रचना होती है वह घ्राण इन्द्रिय की बाह्यनिर्वृत्ति है ।

घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह — सुगंधो दुग्गंधो च बहुभेयभिण्णो घाणिंदियविसयो, तेसु सुगंध-दुग्गंधपोग्गलेसु आगंतूण अविमुत्तयपुप्फसंठाणट्ठिदघाणिंदियम्मि पविट्ठेसु जं पढममुप्पज्जदि सुगंध-दुग्गंध-

दव्वविसयविण्णाणं सो घाणिंदियवंजणोग्गहो णाम। (धव. पु. १३, पृ. २२२)।

घ्राण इन्द्रिय का विषय अनेक प्रकार का सुगन्ध और दुर्गन्ध है। सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप पुद्गलों के अतिमुक्तक पुष्प के आकार स्वरूप घ्राण इन्द्रिय के भीतर प्रविष्ट होने पर जो उक्त सुगन्ध और दुर्गन्ध द्रव्यविषयक प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है उसे घ्राणेन्द्रियव्यंजनावग्रह कहते हैं।

घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहावरणीयकर्म — तस्स (घाणिंदियवंजणोग्गहस्स) जमावारयं कम्मं तं घाणिंदियवंजणोग्गहावरणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २२५)।

जो कर्म घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह को आच्छादित करता है उसे घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहावरणीय कर्म कहते हैं।

घ्राणेन्द्रियार्थावग्रह—घाणिंदियादो उक्कस्सखओवसमं गदादो एत्तियमद्धाणमंतरिय ट्ठिददव्वम्मि जं गंधणाणमुप्पज्जदि सो घाणिंदियअत्थोग्गहो। (धव. पु. १३, पृ. २२८)।

उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त घ्राण इन्द्रिय से इतने मात्र (सं. पं. प. ६ यो., असं. पं. प. ४०० ध., च. प. २०० ध., त्री. प. १०० ध.) क्षेत्र का अन्तर करके स्थित द्रव्य के गन्ध का जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह कहते हैं।

घ्राणेन्द्रियार्थावग्रहावरणीय कर्म—तस्स घाणिंदियअत्थोग्गहस्स) जमावारयं कम्मं तं घाणिंदियअत्थोग्गहावरणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २२८)।

घ्राणेन्द्रिय-अर्थावग्रह के निरोधक कर्म को घ्राणेन्द्रियअर्थावग्रहावरणीय कहते हैं।

घ्राणेन्द्रियावायज्ञान— ××× एवं सव्वेसिं अवायावरणीयाण पुध पुध परूवणा जाणिय कायव्वा (घाणिंदिय-ईहाणाणेण अवगयलिंगावट्टंभवलेण एगवियप्पम्मि उप्पण्णणिच्छओ घाणिंदिय-अवायो णाम)। (धव. पु. १३, पृ. २३२)।

घ्राणेन्द्रिय-ईहाज्ञान से अवगत लिंग के बल से एक विकल्प में उत्पन्न हुए निश्चय का नाम घ्राणेन्द्रिय-अवाय है।

घ्राणेन्द्रियावायावरणीय—तस्स (घाणिंदियावायस्स) आवारयं कम्मं घाणिंदियावायावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २३२)।

उस (घ्राणेन्द्रिय-अवायज्ञान) का आवारक कर्म घ्राणेन्द्रियावायावरणीय कर्म कहलाता है।

घ्राणेन्द्रियेहाज्ञान—घाणिंदिएण गंधमवग्गहिदूण एसो गंधो किं गुणरूवो किमगुणरूवो किं दुस्सहाओ किमदुस्सहाओ किं जच्चंतमावण्णो त्ति पंचण्णं वियप्पाणमण्णदमवियप्पलिंगण्णेसणं एदेण होदव्वमिदि पच्चयपज्जवसाणं घाणिंदियगदईहा। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

घ्राण इन्द्रिय के द्वारा गन्ध का अवग्रह करके 'यह गन्ध क्या गुणरूप है क्या अगुणरूप है, क्या दुष्ट स्वभाव वाला है, क्या अदुष्ट (उत्तम) स्वभाव वाला है, अथवा क्या आत्यन्तर स्वभाव को प्राप्त है; इन पांच विकल्पों में से किसी एक विकल्प के हेतु को खोजकर 'यह यह गुण-अगुणादिरूप होना चाहिए, इस प्रकार का जो अन्त में ज्ञान होता है उसे घ्राणेन्द्रियजनित ईहाज्ञान कहते हैं।

घ्राणेन्द्रियेहावरणीय कर्म—तिस्से (घाणिंदियईहाए) आवारयं कम्मं घाणिंदियईहावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

घ्राणेन्द्रियजनित ईहाज्ञान को जो आच्छादित करता है उसे घ्राणेन्द्रियेहावरणीय कर्म कहते हैं।

चक्रकदूषण—त्रिभिरावर्तनं चक्रकदूषणम्। त्रितयादिसिद्धाव्यवधानेन त्रितयाद्यपेक्षा चक्रकत्वम्, अथवा पूर्वस्य पूर्वापेक्षितमध्यमापेक्षितोत्तरापेक्षितत्वम्, अथवा स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्वनिबन्धनप्रसङ्गत्वमिति। (प्र. र. मा. टि. ३–६५ पृ. २२८)।

तीन आदि की सिद्धि के लिए अव्यवधान से उन्हीं तीन आदि की अपेक्षा रहना, यह चक्रकदूषण कहलाता है। जैसे—सर्वज्ञाभाव की सिद्धि के लिए कर्ता का अस्मरण हेतु—कर्ता के अस्मरण से सर्वज्ञाभाव सिद्ध हो, सर्वज्ञाभाव सिद्ध होने पर वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो, और वेद के प्रामाण्य से कर्ता का अस्मरण सिद्ध हो; इस प्रकार चक्र के समान तीनों के एक दूसरे पर आश्रित रहने से उनमें से एक की भी सिद्धि सम्भव नहीं है।

चक्रमुद्रा—वामहस्ततले दक्षिणहस्तमूलं सन्निवेश्य करशाखा विरलीकृत्य प्रसारयेदिति चक्रमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३२)।

बायें हाथ के तल पर दाहिने हाथ के मूल को रख-

कर अंगुलियों को विरल करते हुए पसारने पर चक्रमुद्रा होती है।

चक्रवर्ती—१. छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउड-बद्धपहुदीओ। होदि हु सयलचक्की ××× ॥ (ति. प. १–४८)। २. चक्रवर्तिनः चतुर्दशरत्नाधिपाः षट्खण्डभरतेश्वराः। (आव. नि. हरि. वृ. ७०, पृ. ४८)। ३. षट्खण्डभरतनाथं द्वात्रिंशद्-धरणिपतिसहस्राणाम। दिव्यमनुष्यं विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम्॥ (धव. पु. १, पृ. ५८ उद्.)।

१ षट्खण्ड भरतक्षेत्रके अधिपति और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध आदि राजाओं के स्वामी को चक्रवर्ती कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय—१. [वीर्यान्तराय-मतिज्ञानावरण-क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् आत्मा] चष्टेरनेकार्थत्वाद् दर्शनार्थविवक्षायां चष्टे अर्थान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः। (स. सि. २–१९; त. वा. २, १९, १)। २. चष्टे पश्यत्यर्थान् आत्माऽनेनेति चक्षुः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१९)।

१ वीर्यान्तराय और चक्षुरिन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा पदार्थों को देखता है उसे चक्षुरिन्द्रिय कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रियार्थावग्रह—चक्खिदियादो एत्तियाणि जोयणाणि अंतरिय ट्ठिददव्वे जं णाणमुप्पज्जदि सो चक्खिदियअत्थोग्गहो। (धव. पु. १३, पृ. २२७)।

चक्षु-इन्द्रिय से इतने (यथासम्भव ४७२६३$\frac{7}{20}$ आदि) योजन के अन्तर से स्थित द्रव्य के विषय में जो ज्ञान (अवग्रह) उत्पन्न होता है उसे चक्षु-इन्द्रिय-अर्थावग्रह कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रियार्थावग्रहावरणीय—तस्स(चक्खिदिय-त्थोग्गहस्स) जमावरणं तं चक्खिदिय-अत्थोग्गहावरणीयं णाम कम्मं। (धव. पु. १३, पृ. २२७)।

चक्षु-इन्द्रिय-अर्थावग्रह के आवारक कर्म का नाम चक्षुइन्द्रिय-अर्थावग्रहावरणीय है।

चक्षुरिन्द्रियावायज्ञान — चक्खिदिय-ईहाणाणेण अवगयलिंगावट्ठंभबलेण एगवियप्पम्मि उप्पण्णणिच्छओ चक्खिदिय-अवाओ णाम। (धव. पु. १३, पृ. २३२)।

चक्षु-इन्द्रिय-ईहाज्ञान से जाने गये लिंग के आश्रय से जो एक विकल्पविषयक निश्चय उत्पन्न होता है उसे चक्षु-इन्द्रिय अवायज्ञान कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रियावायावरणीय— तस्स (चक्खिदिया-वायणाणस्स) आवारयं कम्मं चक्खिदिय-अवाया-वरणीयं। (धव. पु १३, पृ. २३२)।

चक्षु-इन्द्रिय-अवायज्ञान के आवारक कर्म को चक्षु-इन्द्रिय-अवायावरणीय कहते हैं।

चक्षुरिन्द्रियेहाज्ञान—चक्खिदिएण अवगहिदत्थ-विसेसाकंखण विसेसुवलंभणिमित्तविचारो ईहेत्ति घेत्तव्वा। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

चक्षु-इन्द्रिय-अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ के विषय में जो विशेष आकांक्षा—विशेषज्ञान का कारणभूत विचार—होता है उसका नाम चक्षु-इन्द्रिय-ईहाज्ञान है।

चक्षुरिन्द्रियेहावरणीय—तिस्से (चक्खिदियेहा-णाणस्स) आवारयं कम्मं चक्खिदिय-ईहावरणीयं णाम। (धव. पु. १३. पृ. २३१)।

चक्षु-इन्द्रिय-ईहाज्ञान के आवारक कर्म को चक्षु-इन्द्रिय-ईहावरणीय कहा जाता है।

चक्षुर्दर्शन—देखो चक्षुर्दर्शनोपयोग। १. चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति। (प्रा. पचसं. १–१३९; धव. पु. १, पृ. ३८२ व पु. ७, पृ. १०० उद्.; गो. जी. ४८४)। २. तत्र चक्षुर्दर्शनं ताव-च्चक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमे द्रव्येन्द्रियानुपघाते च तत्परिणामवतः आत्मनो भवति। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०३)। ३. चक्षुषा सामान्यस्यार्थस्य ग्रहणं चक्षु-र्दर्शनम्। (धव. पु. १, पृ. ३७९); चक्षुर्ज्ञानोत्पा-दकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदने रूपदर्शनक्षमोऽहमिति सम्भावनाहेतुश्चक्षुर्दर्शनम्। (धव. पु. ६, पृ. ३३); ××× को सो परमत्थत्यो? वुच्चदे—जं यत्, चक्खूणं चक्षुषाम्, पश्यति दृश्यते वा, तं तत् चक्खु-दंसणं चक्षुर्दर्शनमिति वेंति ब्रुवते। चक्खिदियणा-णादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए सामण्णाए अणुहओ चक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं चक्खुदंसणमिदि। (धव. पु. ७, पृ. १०१); चक्खुविण्णाणुप्पायणकारणं सगसंवेयणं चक्खुदंसणं णाम। (धव. पु. १३ पृ. ३५५); बज्झत्थेसु पडिबद्धसगसत्तिसंवेयणं चक्खुदंसणं। (धव. पु. १५, पृ. १०)। ४. स खल्वनादिदर्शनावरणकर्मावच्छन्नप्रदेशः सन् यत्तदा-वरणक्षयोपशमाच्चक्षुरिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तद्रव्यं

विकल्पं सामान्येनावबुध्यते तच्चक्षुर्दर्शनम् । (पंचा. का. अमृत वृ. ४२) । ५. आत्मा हि जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिसमस्तसामान्यग्राहकसकलविमलकेवलदर्शनस्वभावस्तावत् पश्चादनादिकर्मबन्धाधीनः सन् चक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमाद् बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तसत्तासामान्यं निर्विकल्पं संव्यवहारेण प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तच्चक्षुर्दर्शनम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४) । ६. चक्षुर्ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धगुणीभूतविशेषसामान्यालोचनं चक्षुर्दर्शनं रूपदर्शनक्षमं । (मूला. वृ. १२, १८८) । ७. चक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमे सति बहिरङ्गचक्षुर्द्रव्येन्द्रियावलम्बनेन यन्मूर्तं वस्तु निर्विकल्पसत्तावलोकेन पश्यति तच्चक्षुर्दर्शनम् । (पंचा. का. जय. वृ. ४२) । ८. चक्षुषा सामान्यग्राही बोधश्चक्षुर्दर्शनम् । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १५) । ९. रूपसामान्यपरिच्छेदश्चक्षुर्दर्शनम् । (जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १८) । १०. चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण दर्शनं रूपसामान्यग्रहणं च चक्षुर्दर्शनम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१२, पृ. ५२७) ।

१ नेत्रों को जो दिखता है—चाक्षुष ज्ञान के पूर्व में ही जो चाक्षुष ज्ञानकी उत्पत्ति में निमित्तभूत अपनी सामान्य स्वसंवेदन रूप शक्ति का अनुभव होता है—उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं । २ चक्षु-इन्द्रियावरण के क्षयोपशम और द्रव्येन्द्रिय के अनुपघात में जो तत्परिणामवान्—चक्षुर्दर्शन गुण परिणामयुक्त—आत्मा के जो सामान्य का ग्रहण होता है उसे चक्षुर्दर्शन कहते हैं ।

चक्षुर्दर्शनावरण—१. नयनं लोचनं चक्षुरिति पर्यायाः, ततश्च नयनदर्शनावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं वेति चक्षुःसामान्योपयोगावरणमित्यर्थः । (श्रा. प्र. टी. १४) । २. नयनाभ्यां दर्शनं नयनदर्शनम्, यस्यावरणं नयनदर्शनावरणम् । (पंचसं. स्वो. वृ. ३-४, पृ. १०९) । ३. ××× चक्खू आवरइ चक्खुआवरणं । (कर्मवि. ग. २५) । ४. चक्षुषा सामान्यग्राही बोधश्चक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणम् । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १५) । ५. नयनं चक्षुस्तद्दर्शनावरणं चक्षुर्दर्शनावरणम्, चक्षुर्निमित्तसामान्योपयोगावरणमित्यर्थः । (धर्मसं. मलय. वृ. ६११, पृ. २२९) ।

१ चक्षु इन्द्रिय से होने वाले सामान्य उपयोग का जो आवरण करता है उसे चक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं ।

चक्षुर्दर्शनावरणीय — देखो चक्षुर्दर्शनावरण । एतद् (चक्षुर्दर्शनम्) आवृणोतीति चक्षुर्दर्शनावरणीयम् । (धव. पु. ६, पृ. ३३); तस्स (चक्खुदंसणस्स) आवारयं कम्मं चक्खुदंसणावरणीयं । (धव. पु. १३, पृ. ३५५) ।

चक्षुर्दर्शन के आवारक कर्म का नाम चक्षुर्दर्शनावरणीय है ।

चक्षुर्दर्शनोपयोग—१. तत्र (चक्षुर्दर्शनम्) चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमतः अवबोधव्यापृतिमात्रसारं सूक्ष्मजिज्ञासारूपमवग्रहप्राग्जन्ममतिज्ञानावरणक्षयोपशमसम्भूतं सायाम्यमात्रग्राह्यवग्रहव्यंग्यं स्कन्धावारोपयोगवत् । (त. भा. हरि. वृ. २-५) । २. पश्यत्यनेनात्मेति चक्षुः, सर्वमेवेन्द्रियमात्मनः सामान्य-विशेषावबोधस्वभावस्य करणद्वारं, तद्द्वारकं च सामान्यमात्रोपलम्भनमात्मपरिणतिरूपं चक्षुर्दर्शनम् । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-८) । ३. चक्षुर्दर्शनोपयोग इति चक्षुरालोचनाकारपरिणाम आत्मनस्तादात्म्यकत्वं तद्रूपता । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-९) ।

१ चक्षु इन्द्रिय के द्वारा आत्मपरिणतिरूप जो सामान्य मात्र की उपलब्धि होती है उसका नाम चक्षुर्दर्शन है ।

चक्षुर्निरोधव्रत—१. सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु । रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥ (मूला. १-१७) । २. चेतनेतरवस्तूनां हर्षामर्षकरक्रिया । वर्ण-संस्थानभेदेषु चक्षुःरोधोऽविकारधीः ॥ (आचा. सा. १-२८) ।

१ चेतन व अचेतन पदार्थों की क्रिया (नृत्य-गीतादि), आकार और वर्णभेद के विषय में राग-द्वेष रूप आसक्ति को दूर करना—उसे न उत्पन्न होने देना, यह मुनि का चक्षुनिरोधव्रत—चक्षु-इन्द्रिय के विजय स्वरूप मूलगुण है ।

चक्षुःस्पर्श—चक्षुषा स्पृश्यते गृह्यमाणतया युज्यत इति चक्षुःस्पर्शं स्थूलपरिणतिमत्पुद्गलद्रव्यम् । (उत्तरा. नि. वृ. १८६, पृ. १९६) ।

चक्षु के द्वारा ग्रहण किये जाने के योग्य स्थूल परिणाम वाले पुद्गल द्रव्य को चक्षुःस्पर्श कहते हैं ।

चङ्क्रमण—१. इतस्ततो गमनम् । (भ. आ. विजयो. ६४९) । २. चंकमणं इतस्ततो परिचरणम् । (भ. आ. मूला. ६४९) ।

इधर-उधर घूमने को चंक्रमण कहते हैं।

चञ्चलत्व—चञ्चलत्वं क्वचिदप्यवस्थितचित्तत्वाभावः। (योगशा. स्वो. विव. २-८४)।

चित्त की कहीं पर भी स्थिरता के न रहने का नाम चञ्चलत्व या चञ्चलता है।

चण्डालीक—चण्डः कोपस्तद्वशादलीकम् अनृतभाषणं चण्डालीकम्। भयालीकाद्युपलक्षणमेतत्। यद्वा—चण्डेनाऽऽलमस्य चण्डेन वा कलितश्चण्डालः, स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालजातिस्तस्मिन् भवं चाण्डालिकं कर्मेति गम्यते। (उत्तरा. सू. शा. वृ. १-१०, पृ. ४७)।

चण्ड नाम क्रोध का है, उसके वश जो असत्य भाषण किया जाता है वह चण्डालीक कहलाता है। अथवा—क्रोध के कारण वह कलंकित होता है इससे या चण्ड (क्रोध) से युक्त होने से उसे चण्डाल कहा जाता है। इस प्रकार अतिशय क्रूर कर्म के कारण चण्डाल जाति प्रसिद्ध हुई। इस चण्डाल जाति में होने वाले कर्म को चाण्डालिक कहा जाता है।

चतुरङ्गजल्प—चत्वारि वादि-प्रतिवादि-प्राश्निक-परिषद्बललक्षणानि अङ्गानि यस्य स चतुरङ्गो जल्पः। (सिद्धिवि. वृ. ५, २; पृ. ३१३, पं. १२-१३)।

वादिबल, प्रतिवादिबल, प्राश्निकबल और परिषद्बल इन चार अङ्गों से युक्त जल्प को चतुरङ्गजल्प कहा जाता है।

चतुरस्रनाम—१. जस्सुदएणं जीवे चउरंसं नाम होइ संठाणं। तं चउरंसं नामं × × ×॥ (कर्मवि. ११३)। २. चतुरस्रं चतुष्कोणं। (संग्रहणी दे. वृ. २७२)।

१ पैर के अंगूठे से लेकर सिर के बालों तक जितना ऊंचाई का प्रमाण हो उतना ही प्रमाण दोनों भुजाओं के फैलाने पर तिरछा भी हो, इसे चतुरस्र कहा जाता है। जिस कर्म का उदय होने पर इस प्रकार के आकार वाला जीव का शरीर होता है उसे चतुरस्र नामकर्म कहते हैं।

चतुरिन्द्रियजातिनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं चउरिंदियभावेण समाणत्तं होदि तं कम्मं चउरिंदियजादिणामं। (धव. पु. ६ पृ. ६८)। २. चतुर्णां स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षुर्ज्ञानानाम् आवरणक्षयोपशमात् चतुर्विज्ञानभाजः चतुरिन्द्रियाः। × × × चतुरिन्द्रियाणां जातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १७)। ३. यदुदयाज्जन्मी चतुरिन्द्रिय इत्यभिधीयते तच्चतुरिन्द्रियजातिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिस कर्म के उदय से जीवों के चतुरिन्द्रियरूप से समानता होती है उसे चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। २ स्पर्शनादि चार इन्द्रियों से होने वाले चार ज्ञानों के आवरण के क्षयोपशम से जो जीव चार ज्ञानों से युक्त होते हैं वे चतुरिन्द्रिय कहे जाते हैं। चतुरिन्द्रियों का जातिनामकर्म चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म कहलाता है।

चतुरिन्द्रिय जीव—१. फासिंदियादिचउहिं इंदिएहिं जुत्तो जीवो चतुरिंदिओ णाम। (धव. पु. ७, पृ. ६५)। २. एते स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमात् श्रोत्रेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानां परिच्छेत्तारश्चतुरिन्द्रिया अमनसो भवन्तीति। (पंचा. का. अमृत. वृ. ११६)।

१ स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों से युक्त जीव चतुरिन्द्रिय कहलाता है। २ स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण और नोइन्द्रियावरण कर्म का उदय होने पर स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण के जानने वाले जीवों को चतुरिन्द्रिय कहते हैं। वे मन से रहित होते हैं।

चतुरिन्द्रियलब्धि— जिब्भा-फास-घाण-चक्खिंदियावरणाणं खओवसमेण समुप्पण्णा सत्ती चउरिंदियलद्धी। (धव. पु. १४, पृ. २०)।

जिह्वा, स्पर्श, घ्राण और चक्षु इन्द्रियावरणों के क्षयोपशम से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसका नाम चतुरिन्द्रियलब्धि है।

चतुर्गतिनिगोद—जे देव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पज्जिऊण पुणो णिगोदेसु पविसिय अच्छंति ते चदुगइणिगोदा भण्णंति। (धव. पु. १४, पृ. २३६)।

जो निगोद जीव देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः निगोद जीवों में प्रविष्ट होते हैं वे चतुर्गतिनिगोद कहलाते हैं।

चतुर्थ असत्य—देखो असत्य (चतुर्थ)। गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्। सामा-

ष्येन भेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥ (पु. सि. ९५)।
गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचनों के बोलने को असत्य कहते हैं। यह असत्य का चौथा भेद है।

चतुर्थ मूलगुण—दिव्वादिमेहुणस्स य विवज्जणं सव्वहा चउत्थो उ। (धर्मसं. हरि. ८६०)।
देवी आदि (मानुषी आदि) के साथ मैथुनकर्म का सर्वथा परित्याग कर देना, यह साधु का चौथा मूल गुण है।

चतुर्थी प्रतिमा—चतुरो मासांश्चतुष्पर्व्यां पूर्वप्रतिमानुष्ठानसहिताऽखण्डितंपोषधं पालयतीति चतुर्थी। (योगशा. स्वो. विव. ३-१४८)।
चार मास पर्यन्त चारों पर्वों में पूर्व प्रतिमाओं के अनुष्ठान के साथ अखण्ड पोषधव्रत का पालन करना, यह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में चौथी प्रतिमा है।

चतुर्दशपूर्वित्व—१. सयलागमपारगया सुदकेवलिणामसुप्पसिद्धा जे। एदाण बुद्धिरिद्धी चोद्दसपुव्वित्ति णामेण ॥ (ति. प. ४-१००१)। २. सम्पूर्णश्रुतकेवलिता चतुर्दशपूर्वित्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३)। ३. सयलसुदणाणधारिणो चोद्दसपुव्विणो। (धव. पु. ९, पृ. ७०)।
१ सम्पूर्ण श्रुत—चौदह पूर्वों—के पारगामी होकर जो श्रुतकेवली के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनकी बुद्धि ऋद्धि को चतुर्दशपूर्वित्व कहते हैं।

चतुर्मुख — चतुर्मुखं यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४२, पृ. २५८)।
जिस स्थान से चारों दिशाओं को मार्ग जाते हैं उसे चतुर्मुख या चौराहा कहते हैं।

चतुर्मुखमह—१. चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणा पूजा, सैव महामहः सर्वतोभद्रः। (चा. सा. पृ. २१)। २. भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते। तदाख्या सर्वतोभद्र-चतुर्मुख-महामहाः ॥ (सा. ध. २, २७); तत्र सर्वत्र प्राणिवृन्दे कल्याणकरणात् सर्वतोभद्रः, चतुर्मुखमण्डपे विधीयमानत्वाच्चतुर्मुखः, अष्टाह्निकापेक्षया गुरुत्वान्महामहः। (सा. ध. स्वो. टी. २-२७)। ३. पूजा मुकुटबद्धैर्या क्रियते सा चतुर्मुखः ॥ (धर्मसं. श्रा. ९-३०)। ४. नृपैर्मुकुटबद्धाद्यैः सन्मण्डपे चतुर्मुखे। विधीयते महापूजा स स्याच्चतुर्मुखो महः ॥ (भावसं. वाम. ५५६)। ५. चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणा पूजा, सैव महामहः। (कार्तिके. टी. ३९१)।
१ मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो जिनपूजा की जाती है उसे चतुर्मुखमह कहते हैं। २ प्राणी मात्र के प्रति कल्याणकारक होने से उसी को सर्वतोभद्र और अष्टाह्निक पूजन से बड़ी होने के कारण महामह भी कहते हैं।

चतुर्विंशतिस्तव—१. उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च। काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ ॥ (मूला. १-२४)। २. चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थंकराणामनुकीर्तनम्। (त. वा. ६, २४, ११)। ३. चतुर्विंशतीनां तीर्थकृतामप्यन्येषां च स्तवाभिधायी चतुर्विंशतिस्तवः। (त. भा. हरि. वृ. १-२०)। ४. चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराणं वंदणविहाणं तण्णाम-संठाणुस्सेह-पंचमहाकल्लाण-चोत्तीसअइसयसरूवं तित्थयरवंदणाए सहलत्तं च वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ९६); चवुवीसत्थओ उसहादिजिणिंदाणं तच्चेइय-चेइयहराणं च कट्टिमाकट्टिमाणं दव्व खेत्त-काल-भावपमाणादिवण्णणं कुणदि। (धव. पु. ९, पृ. १८८)। ५. चउवीसतित्थयरविसयदुण्णये णिराकरिय चउवीसं पि तित्थयराणं थवणविहाणं णाम-ट्ठवणा-दव्व-भाव-भेएण भिण्णं तप्फलं च चउवीसत्थओ परूवेदि। (जयध. १, पृ. १०८)। ६. सावद्ययोगविरहं सामायिकमेकभावगं चित्तम्। गुणकीर्तिस्तीर्थकृतां चतुरादेर्विंशतिस्तवकः ॥ (ह. पु. ३४, १४३)। ७. चतुर्विंशतीनां पूरणस्याराादुपकारिणो यत्र स्तवः शेषाणां च तीर्थकृतां वर्ण्यते स चतुर्विंशतिस्तवः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२०)। ८. चतुर्विंशतिस्तवस्तीर्थंकरपुण्यगुणानुकीर्तनमिति। (चा. सा. पृ. २६)। ९. वृषभादीनां चतुस्त्रिंशदतिशयप्रातिहार्य-लाञ्छन-वर्णादिव्यावर्णं कंचतुर्विंशतिस्तवम्। (श्रुतभ. टी. २४, पृ. १७९)। १०. चतुर्विंशतेस्तीर्थंकराणां नामोत्कीर्तनपूर्वकं स्तवो गुणकीर्तनम्, तस्य च कायोत्सर्गे मनसाऽनुध्यानं शेषकालं व्यक्तवर्णपाठः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)। ११. तत्तत्कालसम्बन्धिनां चतुर्विंशतेस्तीर्थंकराणां नामस्थापना-द्रव्य-भावानाश्रित्य पञ्चमहाकल्याण-चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टप्रातिहार्य-परमौदारिकदिव्यदेह-समवसरणसभा-धर्मोपदेशनादि-तीर्थंकरत्वमहिमस्तुतिश्च-

र्विंशतिस्तवः, तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि चतुर्विंशतिस्तव इत्युच्यते। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६७)।

१ नामनिर्युक्ति के साथ वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करते हुए मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक पूजा व प्रणाम करने को चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

चतुश्शरीरी जीव—चत्तारि सरीराणि जेसिं ते चदुसरीरा। के ते? ओरालिय-वेउव्विय तेजा-कम्मइयसरीरेहि ओरालिय-आहार-तेजा-कम्मइयसरीरेहि वा वट्टमाणा। (धव. पु. १४, २३८)।

औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण अथवा औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण इन चार शरीरों के साथ वर्तमान जीव चतुःशरीरी कहलाते हैं।

चतुःशिरःक्रियाकर्म—सव्वकिरियाकम्मं चदुसिरं होदि। तं जहा—सामाइयस्स आदीए जं जिणिंदं पडि सीसणमणं तमेगं सिरं। तस्सेव अवसाणे जं सीसणमणं तं विदियं सीसं। त्थोस्सामिदंडयस्स आदीए जं सीसणमणं तं तदियं सिरं। तस्सेव अवसाणे जं णमणं तं चउत्थं सिरं। एवमेगं किरियाकम्मं चदुसिरं होदि। × × × अथवा सव्वं पि किरियाकम्मं चदुसिरं चदुप्पहाणं होदि, अरहंत-सिद्ध-साहु-धम्मे चेव पहाणभूदे कादूण सव्वकिरियाकम्माणं पउत्तिदंसणादो। (धव. पु. १३, पृ. ८९–९०)।

सब क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। यथा—सामायिक के आदि में जो जिनेन्द्र देव को सिर नमाया जाता है वह एक सिर है। उसी के अन्त में सिर नमाना, यह दूसरा सिर है। 'थोस्सामि' दण्डक के आदि में सिर नमाना, यह तीसरा सिर है। तथा उसी के अन्त में नमस्कार करना, यह चौथा सिर है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। × × × अथवा सभी क्रियाकर्म चतुःशिर अर्थात् चतुःप्रधान होता है; क्योंकि अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म को प्रधान करके सब क्रियाकर्मों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

चतुष्क—चतुष्कं चतुष्पथयुक्तम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४२, पृ. २५८)।

चार मार्गों से संयुक्त स्थान को चतुष्क कहते हैं।

चतुष्पदसिंहप्रधानोत्तर—चतुष्पदमनन्यसाधारणशौर्य-धैर्यादियोपेतः सिंहः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–१, पृ. ४)।

अनुपम शौर्य एवं धीरता आदि से संयुक्त सिंह चतुष्पदसिंहप्रधानोत्तर माना जाता है।

चत्वर—चत्वरं बहुरथ्यापातस्थानम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४२, पृ. २५८)।

जहां पर बहुत गलियां आकर मिलती हैं, उस स्थान को चत्वर कहते हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति—१. चंदपण्णत्ती णाम छत्तीसलक्ख-पंचपदसहस्सेहि ३६०५००० चंदायु-परियारिद्धि-गइ-बिंबुस्सेहवण्णणं कुणइ। (धव. पु. १, पृ. १०९); चन्द्रप्रज्ञप्तौ पंचसहस्राधिकषट्त्रिंशत्शतसहस्रपदायां चन्द्रबिम्ब-तन्मागायुःपरिवारप्रमाणं चन्द्रलोकः तद्गतिविशेषः तस्मादुत्पद्यमानचन्द्रदिनप्रमाणं राहु-चन्द्रबिम्बयोः प्रच्छाद्य-प्रच्छादकविधानं तत्रोत्पत्तेः कारणं च निरूप्यते। (धव. पु. ९, पृ. २०६)। २. चंदपण्णत्ती चंदविमाणाउ-परिवारिद्धि-गमण-हाणि-वड्ढि-सयलद्ध-चउत्थभागग्गहणादीणि वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३२)। ३. चन्द्रायुर्गतिवैभवादिप्रतिपादिका पंचसहस्रषट्त्रिंशत्लक्षपदपरिमाणा चन्द्रप्रज्ञप्तिः। (श्रुतभ. वृ. ९, पृ. १७४)। ४. तत्र चन्द्रप्रज्ञप्तिः चन्द्रस्य विमानायुःपरिवार-ऋद्धि-गमन वृद्धि-हानि-सकलार्द्ध-चतुर्भागग्रहणादीनि वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६१)। ५. पंचसहस्राधिकषट्त्रिंशत्लक्षपदप्रमाणा चन्द्रायुर्गतिविभवप्ररूपिका चन्द्रप्रज्ञप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ६. चंदस्सायुविमाणे परिया रिद्धी च अयण गमणं च। सयलद्धपायगहणं वण्णेदि वि चंदपण्णत्ती॥ (अंगप्र. २–२, पृ. २७४)।

१ चन्द्रमा के विमान, आयु-प्रमाण, परिवार, चन्द्र का गमनविशेष, उससे उत्पन्न होने वाले दिन-रात्रि का प्रमाण, राहु व चन्द्र बिम्बों में प्रच्छाद्य-प्रच्छादकभाव और वहां उत्पन्न होने का कारण; इन सबकी जिसमें प्ररूपणा की जाती है वह चन्द्रप्रज्ञप्ति कहलाती है।

चन्द्रप्रभ—चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्येति चन्द्रप्रभः, तथा देव्याश्चन्द्रपानदोहदोऽभूत्, चन्द्रसमवर्णश्च भगवानिति चन्द्रप्रभः।

(मीमांसा. श्लो. विव. ३-१२४)।
जिनकी प्रभा—सौम्य लेश्याविशेष—चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (चांदनी) के सदृश थी, जिनकी माता को चन्द्रपान का दोहद उत्पन्न हुआ था, तथा जो चन्द्र के समान वर्णवाले थे; वे भगवान 'चन्द्रप्रभ' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हुए।

चन्द्रमास—एकोनत्रिंशद् दिनानि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा २९$\frac{32}{62}$ दिवसस्य चन्द्रमासः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५)।
उनतीस दिन और एक दिन के बासठ भागों में से बत्तीस भाग (२९$\frac{32}{62}$) प्रमाण काल को चन्द्रमास कहते हैं।

चन्द्रसंवत्सर—पुण्णिमपरियट्टा पुण बारस संवच्छरो हवइ चंदो। (ज्योतिष्क. २-३५)।
बारह पूर्णिमाओं के परिवर्तन काल को चन्द्रसंवत्सर कहते हैं।

चयन — १. सोधम्मिंदादिदेवाणं सगसंपयादो विरहो चयणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४६)। २. चयनं कषायपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्रम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २५०, पृ. १८४)।
१ सौधर्म इन्द्र आदि देवों का अपनी सम्पत्ति से जो वियोग होता है वह चयन कहलाता है।

चयनलब्धि—णामं—चयणविहिं लद्धिविहिं च वण्णेदि, तेण चयणलद्धि त्ति गुणणामं। (धव. पु. १, पृ. १२४)।
चयनविधि और लब्धिविधि का वर्णन करने वाले वस्तु नामक अर्थाधिकार को चयनलब्धि कहते हैं। यह अग्रायणीय पूर्व का सार्थक नाम वाला पांचवां अधिकार है।

चरणकुशील—१. कोउयभूतिकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी। कक्ककुरुयाइ लक्खणमुवजीवति विज्ज-मंतादी॥ (व्यव. भा. १, पृ. ११७; प्रव. सारो. १११)। २. एतानि (कौतुकादीनि) य उपजीवति स चरणकुशीलः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १, पृ. ११७)। ३. कौतुक-भूतिकर्मणी प्रश्नाप्रश्नौ निमित्तं आजीविकां कल्ककुरुकां च: समुच्चये, लक्षणं विद्या-मंत्रादिकं च य उपजीवति स चरणकुशीलः। (प्रव. सारो. वृ. १११, पृ. २६)।
१ जो कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त आजीविका, कल्ककुरुका, लक्षण और विद्या-मंत्रादि; इनका आश्रय लेता है वह चरणकुशील कहलाता है। (कौतुक आदि के लक्षण प्रव. सारो. गा. ११२-१५ में देखे जा सकते हैं।)

चरणपुलाक—१. मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनात्तश्चरणपुलाकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४९)। २. मूलोत्तरगुणप्रतिषेवणया चारित्रविराधनतश्चरणपुलाकः। (प्रव. सारो. वृ. ७२३, पृ. २१०)।
२ मूलगुणों और उत्तरगुणों की प्रतिसेवना के साथ चारित्र की विराधना करने वाले साधुओं को चरणपुलाक कहते हैं।

चरणविनय—देखो चारित्रविनय।

चरणानुयोग— १. गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धि-रक्षाङ्गम्। चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥ (रत्नक. ४५)। २. चरणादिस्तृतीयः स्यादनुयोगो जिनोदितः। यत्र चर्याविधानस्य परा शुद्धिरुदाहृता॥ (म. पु. २-१००)। ३. ममेदं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः। इत्यमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणाश्रितः॥ (उपासका. ९१८)। ४. उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्मम्, आचाराराधनादौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोगो भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. ४२)। ५. सकलेतरचारित्रजन्मरक्षाविवृद्धिकृत्। विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः॥ (अन. ध. ३-११)।
१. गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं।

चरमशरीर—चरमं संसारान्तर्वर्ति तद्भवमोक्षकारणरत्नत्रयाराधकजीवसम्बन्धिशरीरं वज्रवृषभनाराचसंहननयुक्तं यस्यासौ चरमशरीरः। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३७४)।
संसार के अन्त में वर्तमान तथा तद्भव मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की आराधना करने वाले जीव से सम्बद्ध ऐसे वज्रवृषभनाराचसंहनन युक्त शरीर के धारक को चरमशरीर या चरमशरीरी कहा जाता है।

चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान—यत्सयोगित्वावस्थायाश्चरमसमये वर्तमानं तत् चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्। (आव. मलय. वृ. गा. ७८, पृ. ८३)।

सयोगिकेवली अवस्था के अन्तिम समय में वर्तमान केवली के ज्ञान को चरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञान कहते हैं।

चरिका—चरिका अष्टहस्तप्रमाणो नगर-प्राकारान्तरालमार्गः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४२, पृ. २५८)।

नगर और उसके कोट के मध्यवर्ती आठ हाथ चौड़े मार्ग को चरिका कहते हैं।

चरित—१. चरियं नाम जं सव्वं सद्भूतं वत्तं तेण जस्स दिट्ठंतो कीरइ तं चरियं। (दशवै. चू. १, पृ. ४०)। २. तत्र चरितमभिधीयते यद् वृत्तम्, तेन कस्यचिद् दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते। तद्यथा—दुःखाय निदानम्, यथा ब्रह्मदत्तस्य। (दशवै. नि. हरि. वृ. १–५३, पृ. ३४)। ३. एकपुरुषाश्रिता कथा चरितम्। (रत्नक. टी. २–२)।

२ जो वृत्त घटित हुआ है, उसका जब किसी के लिए उदाहरण दिया जाता है तब वह चरित कहलाता है। जैसे—निदान ब्रह्मदत्त के समान दुःखदायक होता है।

चर्या—१. आचारादिसूत्रप्रपञ्चितविचित्रयतिवृत्तसमस्तसमुदयरूपे तपसि चेष्टा चर्या। (पंचा. का. अमृत. वृ. १६०)। २. चरणं चर्या ग्रामानुग्रामं विहरणात्मिका, सैव परीषहः चर्यापरीषहः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ८६, पृ. ८३)। ३. चर्या ग्रामादिष्वनियतविहारित्वम्। (समवा. अभय. वृ. २२, पृ. ३९)। ४. चर्या परे गणे अन्यस्मिन् संघे गमनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७–६८)।

१ आचारांग आदि श्रुत में विस्तार से वर्णित साधु के अनेक प्रकार के आचरण के समुदाय स्वरूप तप में जो प्रवृत्ति होती है, उसे चर्या (चारित्र) कहा जाता है। २ गांव-गांव में विहार करना, इसका नाम चर्या है, यह २२ परीषहों के अन्तर्गत है। ४ अन्य संघ में जाने को चर्या कहते हैं।

चर्यापरीषहजय—१. दीर्घकालमुषितगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबन्ध-मोक्षपदार्थतत्त्वस्य-संयमायतनादिभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेर्गुरुणाऽभ्यनुज्ञातस्य पवनवन्निःसङ्गतामङ्गीकुर्वतो बहुशोऽनशनावमौदर्य-वृत्ति-परिसंख्यान-रसपरित्यागादिबाधापरिक्लान्तकायस्य देश-कालप्रमाणोपेतमध्वगमनं संयमविरोधि परिहरतो निराकृतपादावरणस्य परुष-शर्करा-कण्टकादिव्यधनजातचरणखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयान-वाहनादिगमनमस्मरतो यथाकालमावश्यकापरिहाणिमास्कन्दतश्चर्यापरिषहसहनमवसेयम्। (स. सि. ९–९)। २. प्रव्यादोषनिग्रहश्चर्याविजयः। (त. वा. ९, ९, १४; त. श्लो. ९–९); दीर्घकालाभ्यस्तगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबन्ध-मोक्षपदार्थतत्त्वस्य कषायनिग्रहपरस्य भावनार्पितमतेः संयमायतनादिभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेः गुरुणाभ्यनुज्ञातस्य नानाजनपदव्याहार-व्यवहाराभिज्ञस्य ग्रामे एकरात्रं नगरे पंचरात्रं प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्येवं संयतस्य वायोरिव निःसंगतामुपगतस्य देश-कालप्रमाणोपेतमध्वगमनमनुभवतः क्लेशक्षमस्य भीमाटवीप्रदेशेषु निर्भयत्वात् सिंहस्येव सहायकृत्यमनपेक्षमाणस्य परुषशर्करा-कण्टकादिव्यधनजातपादखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयान-वाहनादिगमनमस्मरतः सम्यक् प्रव्यादोषं परिहरतः चर्यापरीषहजयो वेदितव्यः। (त. वा. ९, ९, १४; चा. सा. पृ. ५२)। ३. वर्जितालस्यः ग्राम-नयन-(गर-) वसतिनिर्ममत्वः प्रतिमासं चर्यामाचरेदित्येवं चर्यापरीषहजयः कार्यः। (त. भा. हरि. वृ. ९–९)। ४. ग्रामाद्यनियतस्थायी सदा वाऽनियतालयः। विविधाभिग्रहैर्युक्तश्चर्यामेकोऽप्यधिश्रयेत्॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०३ उद्.)। ५. तर्जितालस्यो ग्राम-नगर-कुलादिष्वनियतवसतिनिर्ममत्वः प्रतिमासं चर्यामाचरेदित्येवं चर्यापरीषहजयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–९)। ६. चर्या आवश्यकाद्यनुष्ठानपरस्यातिश्रान्तस्याप्युपानत्कादिरहितस्यापि मार्गयानम्। (मूला. वृ. ५–५७)। ७. शार्दूलैर्मिलितेच्छभल्लभुजगाऽऽभोगे भयैकास्पदे, गन्धान्धद्विरदोत्करे करिरिपुक्रोडैकनीडे वने। स्वैरं कण्टक-कर्करादिपरुषेऽप्यत्राणपादश्चरन्नेकः सिंह इवातिभीतिविजयी प्रव्यातिजित्संयमी॥ (आचा. सा. ७–९)। ८. विभ्यद्भवाच्चिरमुपास्य गुरून्निरूढ ब्रह्मव्रत-श्रुत-शमस्तदनुज्ञयैकः। क्षोणीमटन् गुणरसादपि कण्टकादि-कष्टे सहत्यनधियन् शिविकादि चर्याम्॥ (अन. ध. ६–९७)। ९. यो मुनिः चिरकालसेवितगुरुकुलब्रह्मचर्यो भवति, बन्ध-मोक्षपदार्थमर्म जानाति, संयमायतनयतिजनविनयभक्त्यर्थं गुरुजनेनानुज्ञातो देशान्तरं गच्छति, नभस्वानिव निस्सङ्गो भवति, उपवास-सामिभोजन-गृहवस्तुसंख्याघृतादिरसपरिहरणादिकायक्लेशसहनशीलकायो भवति,

देश-कालानुसारेण संयमाविरोधि गमनं करोति, चरणावरणरहितः कठिनशर्करोपलकण्टकमृत्खण्डपीडनसंजातपादबाधोऽपि बाधां न मन्यते, गृहस्थावस्थोचितवाहनयानादिकानां न स्मरति, कालानुसारेण षडावश्यकानां परिहाणिं न करोति, तस्य मुनेश्चर्यापरीषहजयो वेदितव्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-९)।

१ जो साधु दीर्घ काल तक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में रहा है, जिसने बन्ध-मोक्षादि पदार्थों के रहस्यों को जान लिया है; संयमपरिपालन और आयतन (धर्मस्थान) की भक्ति के कारण जो गुरु की अनुज्ञापूर्वक देशान्तर का अतिथि होता है—अन्य देश में जाता है, जो वायु के समान निःसंग—परिग्रह से रहित (निर्ममत्व) होता है, बहुत प्रकार के अनशनादि तपों के कारण कृश शरीर को धारण करता है, देश व काल के प्रमाण के अनुसार जो मार्ग में गमन करता है, संयमविरोधी मार्गगमन का परित्याग करता है, पादावरण—पादुका—आदि से रहित होकर कठोर कंकड़ व कांटे आदि की व्यथा से पादपीड़ा के होने पर भी पूर्वानुभूत रथादि के आश्रित होने वाले गमन का स्मरण नहीं करता है, तथा समयानुसार आवश्यकों का परिपालन करता है; ऐसा साधु चर्यापरीषह का विजेता होता है।

चलदोष—१. लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम्। नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा॥ (अन. ध. २-६०)। २. चलं नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलम्। तद्यथा—सर्वेषामर्हतामनन्तशक्तित्वे समानेऽपि अयं देवः शान्तिनाथः अस्मै शान्तिकर्मणे समर्थः, एष पार्श्वनाथ अस्मै विघ्नविनाशकर्मणे समर्थः इत्याद्याप्तश्रद्धानादिश्चलत्वम्। (गो. जी. म. प्र. टी. २५)। ३. तत्र चलत्वं यथा—नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतम्। लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितम्॥ नानात्मीयविशेषेषु आप्तागम-पदार्थश्रद्धानविकल्पेषु चलतीति चलं स्मृतम्॥ तद्यथा—स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते। अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते॥××× अत्र दृष्टान्तमाह—नानाकल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितम्, तथापि नानारूपेण चलति, तथा मोहात् सम्यक्त्वप्रकृत्युदयात् श्रद्धानं भ्रमणं चेष्टते। (गो. जी. जी. प्र. टी. २५)। ४. चलम् आप्तागम-पदार्थश्रद्धानविकल्पेषु नानारूपेण चलतीति चलम्। यथा—स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मे, अन्यकारिते अन्यस्यायमिति तथा सम्यक्त्वप्रकृतेरुदयात् चलम्। (कार्तिके. टी. ३०८)।

२ जो श्रद्धान आत्मीय अनेक विशेषों में चंचलता को प्राप्त होता है वह चल दोष से दूषित होता है। जैसे—सभी अरहन्त अनन्त शक्ति सहित होते हैं—हीनाधिक शक्ति वाले नहीं होते, फिर भी भगवान् शान्तिनाथ इस शान्तिकार्य के लिए समर्थ हैं, अथवा भगवान् पार्श्वनाथ इस विघ्नविनाशनरूप कार्य के लिए समर्थ हैं, इत्यादि प्रकार का श्रद्धान।

चाण्डालिक—देखो चण्डालीक।

चातुर्य—१. तच्चातुर्यं यत्परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम्। (नीतिवा. २७-५२)।

दूसरे को प्रसन्न करके जो अपना कार्य सिद्ध किया जाता है, इसे चातुर्य कहते हैं।

चान्द्रमास—१. एकश्च पूर्णमासीपरावर्त एकश्चान्द्रमासः, तस्मिंश्च चान्द्रमासे रात्रिंदिवपरिमाणचिन्तायामेकोनत्रिंशदहोरात्रा द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागा रात्रिंदिवस्य। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १, २०, ५६); एकस्मिंश्चान्द्रमासे अहोरात्रा एकोनत्रिंशद् भवन्ति द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २, ५६)। २. चंदो एगुणतीसं विसट्ठिभागा य बत्तीसं। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७ उद्.)। ३. चन्द्रे भवश्चान्द्रः, युगादौ श्रावणे मासे बहुलपक्षप्रतिपद आरभ्य यावत्पौर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालप्रमाणश्चान्द्रो मासः, एकपौर्णमासीपरावर्तश्चान्द्रो मास इति यावत्। अथवा चन्द्रचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽपि चन्द्रः। (व्य. व. भा. मलय. वृ. २-१५, पृ. ६)।

३ युग के प्रारम्भ में श्रावण मास सम्बन्धी कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पौर्णमासी तक के कालप्रमाण को एक चान्द्र मास कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि एक पौर्णमासी के परिवर्तन को चान्द्र मास कहते हैं। अथवा चन्द्र के संचार से उत्पन्न होने के कारण मास को भी चान्द्र मास कहा जाता है।

चान्द्रसंवत्सर—१. एवंप्रकारेण मासेन द्वादश-

मासपरिमाणश्चान्द्रः संवत्सरः । स चायं त्रीणि शतान्यह्नां चतुःपंचाशदुत्तराणि द्वादशद्विषष्टिभागा (३५४ १२/६२) इति । (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५) । २. उक्तं च—पुण्णिमपरियट्टा पुण बारस संवच्छरो हवइ चंदो । त्रीणि शतानि चतुष्पंचाशदधिकानि रात्रिदिवानां द्वादश च द्वाषष्टिभागा रात्रिदिवस्य एवंपरिमाणश्चान्द्रः संवत्सरः । द्वादशपूर्णमासी-परावर्ता यावता कालेन परिसमाप्तिमुपयान्ति तावान् कालविशेषश्चान्द्रः संवत्सरः । (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५६); तिन्नि अहोरत्तसया चउपन्ना नियमसो हवइ चंदो । भागो य बारसेव य बावट्ठि-कएण छेएण ॥ (सूर्यप्र. ५६, पृ. १५४); चन्द्र-संवत्सरस्य परिमाणं त्रीण्यहोरात्रशतानि चतुष्पञ्चा-शदधिकानि द्वादश च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य । (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५६, पृ. १५४); ससिसमग पुन्निमासिं जोइंता विसमचारिनक्खत्ता । कडुओ बहुउदवओ य तमाहुसंवच्छरं चंदं । (सूर्यप्र. ५८, पृ. १७२); यस्मिन् संवत्सरे नक्षत्राणि विष-मचारीणि, मासविसदृशनामानीत्यर्थः, शशिना समकं योगमुपगतानि तां तां पौर्णमासीं युञ्जन्ति—परिसमापयन्ति, यश्च कटुकः शीतातपरोगादिदोष-बहुलतया परिणामदारुणो बहूदकश्च तमाहुर्महर्षयः संवत्सरं चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धिनम् । (सूर्यप्र. मलय. वृ. ५८, पृ. १७२) ।

२ पौर्णमासी के १२ परिवर्तनों को चान्द्र संवत्सर कहा जाता है । इसमें तीन सौ चौवन दिन-रात और एक दिन-रात के बासठ भागों में बारह भाग होते हैं (३५४ १२/६२ दिन-रात) ।

चारक—चारको बन्धनगृहम् । (आव. भा. हरि. वृ. ३, पृ. ११४) ।

बन्धनगृह या बन्दीगृह को चारक कहते हैं । यह भरत चक्रवर्ती की परिभाषणा, मण्डलीबन्ध, चारक और छविच्छेद इन चार दण्डनीतियों में तीसरी है ।

चारण—देखो आकाशचारण । १. चारणाः जल-जंघा-तन्तु-पुष्प-पत्र-श्रेण्यग्निशिखाद्यालम्बनगमनाः । (त. वा. ३, ३६, ३) । २. अतिशयचरणाच्चारणाः अतिशयगमनादित्यर्थः । तत्सम्पन्नलब्धिरित्यर्थः । (योगशा. स्वो. विव. १-९)। ३. तत्र चरणं गमनम्, तद्विद्यते येषां ते चारणाः । ××× । तत्र गमन-मन्येषामपि मुनीनां विद्यते । ततो विशेषणान्यथा-नुपपत्त्या चरणमिह विशिष्टं गमनमभिगृह्यते । ××× ततोऽयमर्थः—अतिशायिचरणसमर्थाश्चारणाः । आह च भाष्यकृत् स्वकृतभाष्यटीकायाम्—अति-शयचरणाच्चारणाः, अतिशयगमनादित्यर्थः । (प्रज्ञा-प. मलय. वृ. २१–२७३, पृ. ४२४; आव. मलय. वृ. ७०, पृ. ७८) ।

१ जल, जंघा, तन्तु (धागा), पुष्प, पत्र, श्रेणि (आकाशप्रदेशपंक्ति) और अग्नि की शिखा आदि के आलम्बन से गमन में समर्थ साधु चारण—चारण नामक ऋद्धि के धारक—होते हैं । २ जिसके प्रभाव से साधु अतिशय युक्त गमन में समर्थ होते हैं, ऐसी चारणऋद्धि से सम्पन्न साधुओं को चारण कहते हैं ।

चारित्र—१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो । मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो । (प्रव. सा. १–७) । २. तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥ (मोक्षप्रा. ३७) । ३. इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभंतेऽवि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जी-वाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोस्सरामि । (दशवै. सू. ४–२, पृ. १४३) । ४. जत्थ अहिंसा सच्चं अदत्तपरिवज्जणं बम्भं च । दुविहपरिग्गहविरई तं हवइ सया सुचारित्तं ॥ (पउमच. १०२–१८३) । ५. हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च । पापप्रणालिकाभ्यो विर-तिः संज्ञस्य चारित्रम् । (रत्नक. ४९) । ६. संसार-कारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमि-त्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । (स. सि. १; त. वा. १, १, ३) । ७. दर्शनज्ञानपर्यायेषूत्तरोत्तरभा-विषु । स्थिरमालम्बनं यद्वा माध्यस्थ्यं सुखदुःखयोः ॥ ज्ञाता दृष्टाऽहमेकोऽहं सुखे दुःखे न चापरः । इतीदं भावनादार्ढ्यं चारित्रं ××× ॥ (स्वरूपसं. १३–१४) । ८. चारित्रं विरतिलक्षणम् । (आव. नि. हरि. वृ. ८२२) । ९. चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं क्षयोपशमरूपम्, तस्य भावश्चारित्रम्, अशेष-कर्मक्षयाय चेष्टा इत्यर्थः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०३) । १०. वृत्तं चारित्रं सत्वसदारम्भविनिवृत्ति-

मत् तच्च । सदनुष्ठानं प्रोक्तं कार्ये हेतूपचारेण ॥ (षोडश. १–७) । ११. चारित्रमोहनीयक्षय-क्षयोपशमोपशमसमुत्था तु सदसत्क्रियाप्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणा विरतिः चारित्रम् । (त. भा. हरि. वृ. १–१) । १२. पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम् । (धव. पु. ६, पृ. ४०); रागाभावो चारित्तं । (धव. पु. १३, पृ. ३५८); राग-दोसा बज्झत्थालंबणा, तेसिं णिरोहो चारित्तं । (धव. पु. १५, पृ. १२) । १३. सदसत्क्रियाप्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणं चारित्रम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २–३) । १४. चारित्रं सकलविरतियोगः । (भ. आ. विजयो. ६); कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञानं पूर्वम्, तदुत्तरकाले अकर्तव्यतापरिहरणं यत्तच्चारित्रम् ॥ × × × मनसा वाचा कायेन कर्तव्यस्य च संवरहेतोरुपादानं गुप्ति-समिति-धर्मानुपेक्षा-परिषहजयानामुपादानं चारित्रम् (भ. आ. विजयो. ९); दुस्त्यजशरीरममत्वनिवृत्तिर्ममेदं शरीरं न भवति, नाहमस्येति भावना, सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्रम् । (भ. आ. विजयो. १०); समता चारित्रम् । (भ. आ. विजयो. १५८); कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमो हि चारित्रम् । (भ. आ. विजयो. ३००) । १५. चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् । सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥ (पु. सि. ३९) । १६. स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिः । (प्रव. सा. अमृत. वृ. १–७) । १७, आचारादिसूत्रप्रपञ्चितविचित्रयतिवृत्तसमस्तसमुदयरूपे तपसि चेष्टा चर्या । (पंचा. का. अमृत. वृ. १६०) । १८. अप्पसरूवं वत्थुं चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं । सज्झाणम्मि णिलीणं तं जाणसु उत्तमं चरणं ॥ (कार्तिके. ९९) । १९. पापारम्भपरित्यागश्चारित्रमिति कथ्यते । (चन्द्र. च. १८–१२४) । २०. पापारम्भनिवृत्तिस्तु चारित्रं वर्ण्यते जिनैः । (धर्मश. २१–१६२) । २१. सर्वासां हि क्रियाणामुपरतिमक्षमां प्राहुरेतच्चरित्रम् × × × । (अध्यात्मत. ३४) । २२. कर्मादाननिमित्तायाः क्रियाया परमं शमम् । चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे । (उपासका. ६); अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मितिः । चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ॥ (उपासका. २६२) । २३. शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थानं चारित्रम् । (बृ. द्रव्यसं. ३५); असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं । (बृ. द्रव्यसं. ४५) । २४. चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिः । (मूला. वृ. ५-२) । २५. चरणं हिंसाविनिवृत्तिलक्षणं चारित्रम् । (रत्नक. टी. ३–१) । २६. शुद्धचित्स्वरूपे चरणं चारित्रम् । (प्रव. सा. जय. वृ. ८) । २७. सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमिष्यते । (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२०) । २८. सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमिष्यते । कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ॥ (योगशा. स्वो. १–१८) । २९. चारित्रं सावद्येतरयोगनिवृत्ति - प्रवृत्तिलिङ्गमात्मपरिणामरूपम् । (धर्मसं. मलय. वृ. ६१२) । ३०. चारित्रमाश्रवनिरोधः । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १, गा. २२७, पृ. १११) । ३१. चरन्ति गच्छन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं × × × चरित्रमेव चारित्रम्, × × × अन्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसंचयापचयाय चरणं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपं चारित्रम् । (आव. नि. मलय. वृ. ११०, पृ. ११७) । ३२. कर्मादाननिदानानां भावानां च निरोधतः । चारित्रं × × × ॥ (जम्बू. च. ३–१८) । ३३. कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् । धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥ (पञ्चाध्या. २–७६३) ।

१ चारित्र नाम समतारूप धर्म का है । २ पुण्य और पाप इन दोनों के परित्याग को चारित्र कहा जाता है । ३ छह जीवनिकायों—पांच प्रकार के स्थावर और त्रस जीवों—के दण्ड (पीड़न) में मैं न तो स्वयं प्रवृत्त होऊंगा, न दूसरों को प्रवृत्त कराऊंगा, और न प्रवृत्त होते हुए अन्य किन्हीं की अनुमोदना भी करूंगा । जीवन पर्यन्त मैं उपर्युक्त प्राणिपीडन को तीन प्रकार से—मन, वचन व काय से—न करूंगा, न कराऊंगा और न करते हुए अन्य का अनुमोदन करूंगा; इस प्रकार से अन्य असत्य आदि का भी त्याग करना चारित्र है । २३ शुभ कर्म में प्रवृत्ति और अशुभकर्म से निवृत्ति इसका नाम चारित्र है ।

चारित्रधर्म—चारित्रधर्मः प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः । (दशवै. नि. हरि. वृ. २१६) ।

हिंसा आदि की निवृत्ति का नाम चारित्रधर्म है ।

चारित्रपण्डित—१. सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातचारित्रेषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपण्डितः । (भ. आ. विजयो.

२५) । २. पञ्चविधचारित्रान्यतमचारित्रपरिणतश्चारित्रपण्डितः। (भावप्रा. टी. ३२)।

१ सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात; इनमें से जो किसी एक चारित्र में प्रवृत्त है वह चारित्रपण्डित कहलाता है।

चारित्रबाल—१. अचारित्राः प्राणभृतश्चारित्रबालाः। (भ. आ. विजयो. २५)। २. अचारित्राश्चारित्रबालाः। (भावप्रा. टी. ३२)।

१ चारित्र से रहित प्राणियों को चारित्रबाल कहा जाता है।

चारित्रमोहनीय—१. चारित्रं मोहयति मोहनं वा चारित्रमोहः। (त. वा. ६, १४, ३)। २. चारित्रं विरतिरूपम्, तन्मोहयतीति चारित्रमोहनीयम्। (श्रा. प्र. टी. १५)। ३. पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्, घादिकम्माणि पावं, तेसिं किरिया मिच्छत्तासंजमकसाया, तेसिमभावो चारित्तं, तं मोहेइ आवारेदि त्ति चारित्तमोहणीयं। (धव. पु. ६, पृ. ४०); रागाभावो चारित्तं, तस्स मोहयं तप्पडिवक्खभावुप्पाययं चारित्तमोहणीयं। (धव. पु. १३, पृ. ३५८)। ४. प्राणातिपातादिविरतिश्चारित्रम्, तन्मोहनाच्चारित्रमोहनीयम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)। ५. तथा चारित्रं सावद्ययोगविरतिलक्षणो जीवपरिणामः, तन्मोहयतीति चारित्रमोहनीयम्। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १५)। ६. चारित्रं सावद्येतरयोगनिवृत्ति - प्रवृत्तिलिङ्गमात्मपरिणामरूपम्, तन्मोहयतीति चारित्रमोहनीयम्। (प्रव. सारो. वृ. १२५६-५७, पृ. ३५८)। ७. चारित्रमोहनीयं तु विरतिप्रतिषेधकम्। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७१)। ८. एवं जीवस्य चारित्रं गुणोऽस्त्येकः प्रमाणसात्। तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम्॥ (पंचाध्या. २-१००६)।

१ जो बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं की निवृत्तिरूप चारित्र को मोहित करता है—उसे विकृत करता है—उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं।

चारित्रविनय—१. इंदिय-कसायपणिहाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ। एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो॥ (मूला. ५-१७२)। २. तद्वतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः। (स. सि. ९-२३; त. वा. ९, २३, ४; त. श्लो. ९, २३)। ३. पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समिईहिं तिहिं य गुत्तीहिं। एस उ चरित्तविणओ अट्ठविहो होइ णायव्वो॥ (व्यव. भा. १-६५)। ४. इदाणिं चरित्तविणओ कहिज्जइ सो पंचविधो भवइ। तं जहा—सामाइयचरित्तविणओ, छेदोवट्ठावणियचरित्तविणओ, परिहारविसुद्धियचरित्तविणओ, सुहुमसंपरायचरित्तविणओ, अहक्खायचरित्तविणओ त्ति। एतेसिं पंचण्ह चरित्ताणं को विणओ? भण्णति—पंचविहस्स जा सद्दहणा वा सद्दहियस्स जा काएण फासणया भव्वाणं च पुरओ परूवणया चरित्तविणओ वण्णिओ। (दशवै. चू. १, पृ. २७)। ५. सामाइयाइचरणस्स सद्दहाणं तहेव काएणं। संफासणं परूवणमह पुरओ भव्वसत्ताणं॥ मण-वइ-काइयविणओ आयरियाईण सव्वकालंपि। अकुसलमणोनिरोहो कुसलाण उदीरणं तह य॥ (दशवै. नि. हरि. वृ. ४८, पृ. ३१ उद्.)। ६. चरित्तविणओ णाम सीलव्वदेसु णिरदिचारदा आवासएसु अपरिहीणदा जहाथामे तहा तवो च। (धव. पु. ८, पृ. ८१)। ७. चरणविनयः समिति-गुप्तिप्रधानः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२३); सामायिकादिस्वरूपश्रद्धानपूर्वकं चानुष्ठानविधिना च प्ररूपणमित्येष चारित्रविनयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२३)। ८. नवकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क्व लप्स्यते खलेषु कृतज्ञता वेति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनयः। (भ. आ. विजयो. ११६); कर्मपरिग्रहनिमित्तानां क्रियाणां परिवर्जनं चारित्रविनयः। (भ. आ. विजयो. ३००)। ९. दर्शन-ज्ञानयुक्तस्य या समाहितचित्तता। चारित्रं प्रति जायेत चारित्रविनयो हि सः॥ (त. सा. ७, ३३)। १०. ज्ञान दर्शन-चारित्र-तपोवीर्यवतो दुश्चरचरणश्रमणानन्तरमुद्भिन्नरोमांचाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परं प्रसादमस्तकाञ्जलिकरणादिभिर्भावयतश्चानुष्ठातृत्वं, चारित्रविनयः। (चा. सा. पृ. ६५)। ११. संयमे संयमाधारे संयमप्रतिपादिनि। आदरं कुर्वतो ज्ञेयश्चारित्रविनयः परः॥ (अमित. श्रा. १३-१२)। १२. पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स। जं तेसिं बहुमाणं वियाण चरित्तविणओ सो॥ (वसु. श्रा. ३२३)। १३. भक्तिश्चारित्रवत्स्व [वत्स्व] भ्यवृत्ताऽनिन्दनमुद्यमः। परीषहजयादी च चारित्रविनयो मुनेः॥ (आचा. सा. ६-७६)। १४. चारित्रवतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)।

१५. पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिश्च गुप्तिभिर्यः प्रधानयोगयुक्त एष चारित्रविनयः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–६५)। १६. रुच्यारुच्यहृषीकगोचररति-द्वेषोज्झनेनोच्छलत्-क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिषूद्योगेन गुप्त्यास्थया। सामान्येतरभावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्, धन्यः साधयते चरित्रविनयं श्रेयःश्रियः पारयम्॥ (अन. ध. ७–६६)। १७. ज्ञान-दर्शनवतः पुरुषस्य दुश्चरचरित्रे विदिते सति तस्मिन् पुरुषे भावतोऽतीव भक्तिविधानं भवति, स्वयं चारित्रानुष्ठानं च चारित्रविनयः भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२३)। १८. ज्ञान-दर्शनवतो दुश्चरचरणे तद्वति च ज्ञातेऽतिभक्तिर्भावतश्चरणानुष्ठानं चरणविनयः। (भावप्रा. ७८, पृ. २२४)। १९. चारित्रे व्रत-समिति-गुप्तिलक्षणे त्रयोदशप्रकारे सामायिकादिपंचप्रकारे वा तदाचरणं तल्लक्षणोपायेन यत्नः चारित्रे विनयः। तथा इन्द्रिय-कषायाणां प्रसरनिवारणं इन्द्रियकषायव्यापारनिरोधनम् इति चारित्रविनयः। (कार्तिके. टी. ४५६); चारित्रे त्रयोदशप्रकारे सर्वातिचाररराहित्येन पंच-पंचभावनायुक्तत्वेन वा प्रवृत्तिः स्व-स्वरूपानुभवनं वा चारित्रविनयः। (कार्तिके. टी. ४५७)।

१ इन्द्रियों और कषायों के प्रसार को रोकना तथा गुप्तियों व समितियों के परिपालन में प्रयत्नशील रहना, यह चारित्रविनय कहलाता है। ४ सामायिक आदि पांच प्रकार के चारित्र का श्रद्धान करना, श्रद्धा का विषय बन जाने पर फिर काय से स्पर्श करना—उसका परिपालन करना—और तत्पश्चात् भव्य जीवों के आगे उसका प्ररूपण करना; इसे चारित्रविनय कहा जाता है।

चारित्रसंवर—मणवयणकायगुत्तिंदियस्स समिदीसु अप्पमत्तस्स। आसवदारणिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे॥ (मूला. ८–५१)।

मन, वचन और काय के द्वारा इन्द्रियों का संरक्षण करने वाले—तीन गुप्तियों के परिपालक—और समितियों में अप्रमत्त—सदा सावधान रहने वाले—चारित्रवान् साधु के आस्रवों का निरोध हो जाने पर जो नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है, इसका नाम चारित्रसंवर है।

चारित्राचार—१. पणिहाणजोगजुत्तो पंचहिं समिईहिं तिहिं य गुत्तीहिं। एस चरित्तायारो अट्ठविहो होइ नायव्वो॥ (दशवै. नि. १८५)। २. प्रणिधानं—चेतःस्वास्थ्यम्, तत्प्रधाना योगा व्यापारास्तैर्युक्तः समन्वितः प्रणिधानयोगयुक्तः, अयं चौघतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरपि भवत्यत आह—पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिश्च गुप्तिभिर्यः प्रणिधानयोगयुक्तः, एतद्योगयुक्त एतद्योगवानेव, अथवा पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिष्वस्मिन् विषये एता आश्रित्य प्रणिधानयोगयुक्तो य एष चारित्राचारः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८७, पृ. १०६)। ३. पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः। (भ. आ. विजयो. टी. ४६); हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः। (भ. आ. विजयो. टी. ४१९)। ४. तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानन्दमयसुखरसास्वादस्थिरानुभवनं च सम्यक्चारित्रम्, तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः। (परमा. टी. १–७)। ५. प्राणिवधपरिहारेन्द्रियसंयमनप्रवृत्तिश्चारित्राचारः। (मूला. वृ. ५–२)। ६. चारित्राचारः चारित्रिणां समित्यादिपालनात्मको व्यवहारः। (समवा. अभय. वृ. सू. १३६, पृ. १०८)। ७. हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः। (भ. आ. मूला. टी. ४१९)।

१ पांच समितियों और तीन गुप्तियों के साथ मन के स्वास्थ्य के अनुरूप प्रवृत्ति करना, इसका नाम चारित्राचार है। ३ पापक्रिया की निवृत्ति रूप परिणति को चारित्राचार कहा जाता है।

चारित्राराधना—१. तेरहविहस्स चरणं चारित्तस्सेह भावसुद्धीए। दुविहअसंजमचाओ चारित्ताराहणा एसा॥ (आ. सा. ६)। २. त्रयोदशविधस्य चारित्रस्य इह भावशुद्ध्या चरणं द्विविधासंयमत्याग एषा चारित्राराधना भवति। (आ. सा. टी. ६)।

पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र का भावशुद्धिपूर्वक आचरण करने तथा इन्द्रियासंयम और प्राणि-असंयम के परित्याग को चारित्राराधना कहते हैं।

चालनीसमान शिष्य—चालनी लोकप्रसिद्धा यया कणिक्कादि चाल्यते, तत्र यथा चालन्यामुदकं प्रक्षिप्यमाणं तत्क्षणादेव गच्छति, न पुनः कियन्तमपि कालमवतिष्ठते, तथा यस्य सूत्रार्थः प्रदीयमानो यदैव कर्णे प्रविशति तदैव विस्मृतिपथमुपैति स

चालणीसमान:। (आव. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

जिस प्रकार चलनी (आटा छानने का उपकरण) में जल के डालने पर वह उसी क्षण निकल जाता है, थोड़े समय भी उसमें स्थित नहीं रहता, इसी प्रकार जिस शिष्य के लिए दिया गया सूत्रार्थ कानों में प्रविष्ट होने के साथ ही विस्मृत हो जाता है वह शिष्य चलनी के समान माना गया है।

चिकित्सादोष—१. कोमार-तणुतिगिंछा-रसायण-विस-भूद-खारतंतं च। सालंकियं च सल्लं तिगिंछदोसो दु अट्ठविहो ॥ (मूला. ६–३३)। २. अष्ट-विधया चिकित्सया लब्धा [वसतिः] चिकित्सोत्पादिता। (भ. आ. विजयो. २३०)। ३. वैद्य-कर्मणा दुष्टा चिकित्सादुष्टा। (भ. आ. मूला. २३०)। ४. चिकित्सा रुक्प्रतीकारात् ××× । ××× अशनत:॥ (अन. ध. ५–२५)।

१ कौमारचिकित्सा, तनुचिकित्सा, रसायन, विष, भूत, क्षारतंत्र, शालाकिक या शालाक्य और शल्य; इस आठ प्रकार की चिकित्सा के द्वारा आहार के प्राप्त करने पर चिकित्सा नाम का उत्पादन दोष होता है। २ आठ प्रकार की चिकित्सा द्वारा वसतिका के प्राप्त करने पर वसतिका सम्बन्धी चिकित्सा नाम का उत्पादन दोष होता है।

चिकित्सापिण्ड— १. सूक्ष्मेनरचिकित्सयाऽवाप्त-श्चिकित्सापिण्डः। (आचारा. शी. वृ. २, १, २७३, पृ. ३२०)। २. वमन-विरेचन-वस्तिकर्मादि कारयतो वैद्यभैषज्यादि सूचयतो वा पिण्डार्थं चिकित्सापिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३५)।

१ सूक्ष्म अथवा स्थूल चिकित्सा—रोग के उपचार —द्वारा प्राप्त किया गया आहार चिकित्सापिण्ड नामक दोष से दूषित होता है।

चिकुराग्र—देखो बालाग्र। अष्टभिः रथरेणुभिः पिण्डिताभिरेकं चिकुराग्रमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

आठ रथरेणुओं के समुदाय को एक चिकुराग्र (बालाग्र) कहते हैं।

चित्—देखो चेतना।

चित्त—१. चित्तं तिकालविसयं। (दशवै. भा. १६, पृ. १२५)। २. चित्तं त्रिकालविषयम्—अोघतोऽतीतानागतवर्तमानग्राहि। (दशवै. भा. हरि. व. ४-१६, पृ. १२५)। ३. आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तम्। आत्मनश्चैतन्यपरिणामविशेषश्चित्तम्। (त. वा. २, ३२, १)। ४. यत्पुनरनवस्थितं तच्चित्तम्। (ध्यान-श.—आव. हरि. वृ. अ. ४, पृ. ५८३)।

१ जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों को सामान्य से विषय करता है वह चित्त कहलाता है। ३ आत्मा के चैतन्य परिणामविशेष को चित्त कहते हैं।

चित्तप्रसाद परिणाम—१. तस्यैव (मोहस्यैव) मन्दोदये विशुद्धपरिणामता चित्तप्रसादपरिणामः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३१)। २. तस्यैव मोहस्य मन्दोदये सति चित्तस्य विशुद्धिश्चित्तप्रसादो भण्यते। (पंचा. जय. वृ. १३१)।

१ मोहकर्म का मन्द उदय होने पर जो परिणामों की विशुद्धि होती है उसे चित्तप्रसाद परिणाम कहते हैं।

चित्तविप्लव—चित्तविप्लवः प्रशमसौख्यविपर्यासः। (योगशा. स्वो. विव. १२४)।

धनादि के न होने पर भी मूर्च्छा के कारण जो प्रशमसुख का अभाव—मानसिक क्लेश—होता है उसका नाम चित्तविप्लव है।

चित्रकर्म—पड-कुड्ड-फलहियादीसु णच्चणादिकिरियावावददेव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्साणं पडिमाओ चित्तकम्मं, चित्रेण क्रियन्त इति व्युत्पत्तेः। (धव. पु. ९, पृ. २४९); एदाओ चेव चउव्विहाओ (दुवय-चउप्पय-अपाद-पादसंकुलाओ) पडिमाओ कुड्ड-पड-त्थंभादिसु रायवट्टादिवण्णविसेसेहिं चिचियाओ चित्तकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. ९); कुड्ड-कट्ठ सिला-थंभादिसु विविहवण्णविसेसेहि लिहिदपडिमाओ चित्तकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); चित्तारेहितो वण्णविसेसेहि णिप्फण्णाणि चित्तकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५)।

नर्तन आदि क्रिया में प्रवृत्त हुए देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्यों की प्रतिमाओं को जो वस्त्र भित्ति और पटिया आदि के ऊपर अङ्कित किया जाता है, वह चित्रकर्म कहलाता है।

चित्रान्तरगण्डिका—चित्रा: अनेकार्था अन्तरे—ऋषभाजिततीर्थंकरान्तरे—गण्डिका एकवक्तव्यताधिकारानुगता:। एतदुक्तं भवति—ऋषभाजिततीर्थंकरान्तरे तद्वंशजभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिकाश्चित्रान्तरगण्डिका इति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०६)।

ऋषभ और अजित तीर्थंकरों के अन्तराल में उनके वंश में उत्पन्न हुए राजाओं की शेष गतियों सम्बन्धी गमन को छोड़कर मोक्षगति एवं अनुत्तर विमानों में उपपात (जन्म) की प्राप्ति का जहां प्रतिपादन किया जाता है वे चित्रान्तरगण्डिका कहलाती हैं।

चिदात्मा—अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्श-गन्ध-रस-वर्णैः। गुण-पर्ययसमवेतः समाहितः समुदय-व्यय-ध्रौव्यैः॥ (पु. सि. ६)।

रूप, रस, गन्ध व स्पर्श से रहित; गुण-पर्यायों से समवेत—उनसे तादात्म्य रखने वाला—तथा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से सहित आत्मा को चिदात्मा (पुरुष) कहते हैं।

चिन्ता—१. चिन्तनं चिन्ता। (स. सि. १-१३; त. वा. १, १३, ५)। २. चिन्ता अन्तःकरणवृत्तिः। अन्तःकरणस्य वृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते। (त. वा. ६, २७, ४)। ३. ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थविशेषचिन्तनं चिन्ता। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६५); तथा चिन्ता अन्वयधर्मपरिज्ञानाभिमुखा चेष्टा। यथा मधुरस्वादयस्त्वेवंभूता इति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ७८)। ४. वट्टमाणत्थविसयमदिणाणेण विसेसिदजीवो चिंता णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३३)। ५. अग्निना विना क्वचित् कदाचिद् धूमो न भवत्यात्मना विना शरीरे व्यापार-वचनादिकं न भवतीत्यादितर्कणमूहश्चिन्ता। (अन. ध. स्वो. टी. ३-४)। ६. चिन्तनं चिन्ता—देशान्तरे कालान्तरे च यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्नि-जन्मा, अनग्निजन्मा वा न भवतीति व्याप्तिग्रहण-मूहाख्यं सम्यग्ज्ञानं कथ्यते। (त. सुखबो. १-१३)। ७. यथा अग्निं विना धूमो न स्यात्, तथा आत्मानं विना शरीरव्यापार-वचनादिकं न स्यादिति वितर्कणमूहनं चिन्ता अभिधीयते। (त. वृत्ति श्रुत. १-१३)।

२ पदार्थों के विषय में जो अन्तःकरण की प्रवृत्ति—मन से चिन्तन—होता है उसे चिन्ता कहते हैं। ३ विशिष्ट क्षयोपशम के वश अपने धर्म से अन्वित सद्भूत अर्थविशेष का जो बार बार चिन्तन होता है, उसका नाम चिन्ता है। ४ वर्तमान अर्थ को विषय करने वाले मतिज्ञान से विशेषित जीव को चिन्ता कहा जाता है, जो मनःपर्ययज्ञान का विषय है। ५ अग्नि के बिना कहीं व कभी भी धूम नहीं होता तथा आत्मा के बिना शरीर में व्यापार व वचन आदि नहीं होते, इत्यादि विचार का नाम चिन्ता है। इसे ऊहा भी कहा जाता है।

चिन्ताज्ञान—चिन्ताज्ञानमागामिनो वस्तुन एवं निष्पत्तिर्भवति अन्यथा नेति, यथैवं ज्ञानादित्रय-समन्विते तत्रैव परमसुखावाप्तिरन्यथा नेत्येतच्चिन्ताज्ञानं मनोज्ञानमेव। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१३)।

आगामी वस्तु की निष्पत्ति (सिद्धि) इस प्रकार से होती है, अन्य प्रकार से नहीं; इस प्रकार के ज्ञान को चिन्ताज्ञान कहा जाता है। जैसे—ज्ञानादि तीन (रत्नत्रय) से युक्त होने पर ही परम सुख की प्राप्ति होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती।

चिह्नलोक—जं दिट्ठं संठाणं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च। चिह्नलोगं वियाणाहि अणंतजिण-देसिदं। (मूला. ७-५०)।

द्रव्य, गुण और पर्यायों के संस्थान या आकार को चिह्नलोक कहते हैं। यह नाम-स्थापनादि नौ लोक-भेदों में से एक है।

चीनांशुकपट्ट—चीणविसयुप्पण्णो चीणांशुयपट्टो। (अनुयो. चू. पृ. १५)।

चीन देश में उत्पन्न वस्त्र को चीनांशुकपट्ट कहा जाता है।

चुडली—देखो चुरुलित दोष। चुडली उल्मुकम्, यथोल्मुकं गृह्यते तथा रजोहरणं गृहीत्वा वन्दनम्, यद्वा यत्र दीर्घहस्तं प्रसार्य वन्दे इति भणतो वन्दनम्, अथवा हस्तं भ्रामयित्वा सर्वान् वन्दे इति वदतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।

चुडली का अर्थ उल्मुक या अलात होता है। जिस प्रकार उल्मुक को ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार रजोहरण को ग्रहण कर वन्दना करना, यह चुडली दोष होता है। अथवा लम्बा हाथ फैलाकर 'वन्दे' कहते हुए वन्दना करना या हाथ को घुमाकर 'सर्वान् वन्दे' ऐसा कहते हुए वन्दना करना, इसे वन्दना का चुडली दोष समझना चाहिये।

चुडलित दोष—एकस्मिन् प्रदेशे स्थित्वा करमुकुलं संभ्राम्य सर्वेषां यो वन्दनां करोत्यथवा पंचमादिस्वरेण यो वन्दनां करोति, तस्य चुडलितदोषो भवति। (मूला. वृ. ७–११०)।

एक स्थान में खड़े होकर और जुड़े हुए हाथों को घुमाकर सब साधुओं की एक साथ वन्दना करना अथवा पंचमादि स्वर के साथ वन्दना करना, यह कृतिकर्म का चुडलित नाम का ३२वां दोष है।

चूडा—देखो चूलिका। चूडा इव चूडा, इह दृष्टिवादपरिकर्म-सूत्र-पूर्वगतानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयश्चूडा। (समवा. अभय. वृ. १४७, पृ. १२२)।

दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत और अनुयोग में उनसे सम्बद्ध जिन विषयों का निरूपण नहीं किया गया है उनका संग्रह करके निरूपण करने वाली ग्रन्थपद्धति को चूडा, चूला या चूलिका कहते हैं।

चूर्ण—१. चूर्णो यव-गोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, १४; कार्तिके. टी. २०६)। २. पिट्ठ-पिट्ठियाकाणिकादिदव्वं चुण्णणकिरियाणिप्फण्णं चुण्णं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २७३)। ३. यव-गोधूम-चणकादीनां सक्तुकणिकादिकरणं चूर्णम्। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४)।

१ गेहूं और जौ आदि के सक्तु (सतुआ) रूप कणों आदि को चूर्ण कहते हैं।

चूर्णदोष—१. णेत्तस्संजणचुण्णं भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं। चुण्णं तेणुप्पादो चुण्णयदोसो हवदि एसो। (मूला. ६–४१)। २. पाठसिद्धादिमंत्राणामञ्जस्भृङ्गारकारिणः। चूर्णादिर्देशने स्यातां मंत्रचूर्णोपजीवने। (आचा. सा. ८–४४)। ३. दोषो भोजनजननं भूषाञ्जनचूर्णयोजनाच्चूर्णः। (अन. ध. ५, २७)। ४. चूर्णोद्देशपदेशनं चूर्णोपजीवनम्। (भाव. प्रा. टी. ९९)।

१ नेत्रों के अंजन चूर्ण (कज्जल), आभूषणों के चूर्ण (लाक्षादि द्रव्य) और शरीर के चूर्ण (पाउडर आदि) के आश्रय से आहार के उत्पादन करने को चूर्णदोष कहते हैं।

चूर्णपिण्ड—१. वशीकरणाद्यर्थं द्रव्यचूर्णादवाप्तश्चूर्णपिण्डः। (आचारा. शी. वृ. २, १, २७३, पृ. ३२०)। २. चूर्णानि नयनाञ्जनादीनि अन्तर्धानादिफलानि (पिण्डार्थं चूर्णं प्रयुञ्जानस्य चूर्णपिण्डः)। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)।

१ वशीकरण आदि के लिए द्रव्यचूर्ण के आश्रय से भोज्य वस्तु को प्राप्त करना, यह चूर्णपिण्ड नाम का उत्पादन दोष है।

चूर्णिका—१. चूर्णिका व्रीहि-मुद्गादीनाम्। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, १४; कार्तिके. टी. २०६)। २. अतिसूक्ष्मातिस्थूलवर्जितं मुद्ग-माष-राजमाष-हरिमंथकादीनां दलनं चूर्णिका। (त. वृ. टी. ५–२४)।

२ उड़द और मूंग आदि के दलने से जो अतिशय सूक्ष्मता और अतिशय स्थूलतासे रहित कण उत्पन्न होते हैं उन्हें चूर्णिका कहा जाता है।

चूलिका—देखो चूडा। १. × × × एक्केण दोहि सव्वेहि वा अणियोगद्दारेहि सूइदत्थाणं विसेसपरूवणा चूलिया णाम। (धव. पु. ७, पृ. ५७५); सुत्तसुइदत्थपयासणं चूलिया णाम। (धव. पु. १०, पृ. ३९५); जाए अत्थपरूवणाए कदाए पुव्वपरूविदत्थम्मि सिस्साणं णिच्छओ उप्पज्जदि सा चूलिया त्ति भणिदं होदि। (धव. पु. ११, पृ. १४०)। २. चतुरशीतिश्चूलिकाङ्गशतसहस्राणि एका चूलिका। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४५)।

१ पूर्वनिरूपित अनुयोगद्वारों में एक, दो अथवा सभी अनुयोगद्वारों से सूचित अर्थों की विशेष प्ररूपणा जिस सन्दर्भ के द्वारा की जाती है उसका नाम चूलिका है। २ चौरासी लाख चूलिकांगों की एक चूलिका (कालभेद) होती है।

चूलिकाङ्ग—चतुरशीतिर्नयुतशतसहस्राणि एकं चूलिकाङ्गम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४५)।

चौरासी लाख नयुतों का एक चूलिकाङ्ग (कालभेद) होता है।

चेटिका—देव-ब्राह्मण-गुरून् मत्वा अनुज्ञाय [illegible]कम्। पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता॥ (लाटीसं. २–१७८)।

विवाहित पत्नी के अतिरिक्त रखी हुई अन्य स्त्री चेटिका कहलाती है।

चेतनत्व—चेतनत्वं चैतन्यमात्रत्वम्। (सप्तभङ्गित. न्यु. सं. पृ. २५)।

चैतन्य से युक्त होने का नाम चेतनत्व है।

चेतना— १. ××× चेयण पच्चक्ख सम्मणुसरणं। (दशवै. भा. १६)। २. चेतनं चेतना, सा प्रत्यक्षवर्तमानार्थग्राहिणी। (दशवै. हरि. वृ. ४-१६, पृ. १२५)। ३. अन्वितमहमहमिकया प्रतिनियतार्थावभासिबोधेषु। प्रतिभासमानमखिलैर्यद्रूपं वेद्यते सदा सा चित्॥ (अन. ध. २-३४)।

१ प्रत्यक्षरूप से वर्तमान पदार्थ के ग्रहण का नाम चेतना है। ३ प्रतिनियत पदार्थों को प्रतिभासित करने वाले ज्ञानों में 'अहम् अहम्' रूप से—जिस मैंने पूर्व में घट को देखा था वही मैं अब घट को देख रहा हूं, इत्यादि स्वरूप से—जो आकार प्रतिभासित होता है उसे चित् या चेतना कहा जाता है।

चैतन्य—देखो चेतना। त्रिकालगोचरानन्तपर्यायात्मकस्य जीवस्वरूपस्य स्वक्षयोपशमवशेन संवेदनं चैतन्यम्। (धव. पु. १, पृ. १४५)।

तीनों कालों को विषय करने वाली अनन्त पर्याय स्वरूप जीव के स्वरूप का जो अपने क्षयोपशम के अनुसार संवेदन होता है उसका नाम चैतन्य है।

चैत्य—चितेः लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम्, तच्च संज्ञाशब्दत्वाद् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धम्, ततस्तदाश्रयभूतं यद्देवताया गृहं तदप्युपचाराच्चैत्यमुच्यते। (जम्बूद्वी. शा. १, पृ. १४; सूर्यप्र. मलय. वृ. पृ. २)।

भित्ति आदि के चिनने रूप क्रिया से जो निर्मित होता है उसे चैत्य कहा जाता है, यह मुख्यरूप से देवता के प्रतिबिम्बरूप अर्थ में प्रसिद्ध है, पर उपचार से उस चैत्य के आश्रयभूत देवालय को भी चैत्य कहा जाता है।

चैत्यवर्णजनन—१. यथा वीतराग-द्वेषास्त्रिलोकचूलामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयन्ति तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि। बाह्यद्रव्यावलम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते। यथा—आत्मनि मनोज्ञामनोज्ञविषयसान्निध्याद् रा[ग]द्वेषौ, स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनम्, एवम[र्ह]दादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिबिम्बम्। तथानुस्मरणम् अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणं, प्रत्यग्रशुभकर्मादाने, गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापह्रासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहत्ताप्रकाशनं चैत्यवर्णजननमिति। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. अर्हदादीनां शान्तरूपत्व-वीतरागत्वादिगुणानुस्मरणात् पूर्वपापनिरोधोऽभिनवपुण्यास्रवणं पुण्योदयस्फारीभावः पापोदयापकर्षश्च ××× । (भ. आ. मूला. ४७)।

१ वर्ण शब्द का अर्थ यहां प्रशंसा अभीष्ट है। तदनुसार जिस प्रकार साक्षात् अरहन्त आदि भव्य जीवों के लिए शुभोपयोग के कारणभूत हैं उसी प्रकार उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग के कारणभूत हैं, क्योंकि बाह्य द्रव्य के आश्रय से जीवों के शुभ व अशुभ परिणाम हुआ करते हैं। प्रकृत में प्रतिबिम्ब अरहन्त आदि के गुणों के स्मरण का कारण है। इस गुणानुस्मरण से नवीन पाप प्रकृतियों के आस्रव के निरोधरूप संवर और पुण्य प्रकृतियों का आगमन होता है। साथ ही पूर्वबद्ध शुभ प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग में हानि भी हुआ करती है। इससे जिनप्रतिबिम्बों की उपासना करना योग्य है। इस प्रकार जिनप्रतिबिम्बों के महत्त्व को प्रगट करना, यह चैत्यवर्णजनन कहलाता है।

चैत्यवृक्ष (चइत्तरुक्ख)—१. तेषां (चैत्यवृक्षपीठानां) मध्ये सिद्धार्थनामकाः चैत्यवृक्षाः सिद्धार्थतीर्थकरप्रतिकृतिपवित्रीकृताः षोडशयोजनोच्छ्राय-चतुर्योजनोत्सेध-योजनविष्कम्भस्कन्धाः द्वादशयोजनोच्छ्राय-तावद्बाहल्यविटपाः। (त. वा. ३, १०, १३, पृ. १७८)। २. चउपासट्ठियजिणिंद-पडिबिम्बसंबंधेण पत्तच्चणचइत्तरुक्खएहि ××× । (धव. पु. ९, पृ. ११०)।

१ सिद्धार्थ (कृतकृत्य) तीर्थंकर की प्रतिमाओं से पवित्र किये गये—उनसे अधिष्ठित—व नियमित ऊंचाई आदि से सहित जो सिद्धार्थ नामक वृक्ष होते हैं वे चैत्यवृक्ष कहलाते हैं।

चैत्यावर्णवाद—१. स्वकल्पनाभिरयमर्हन्नेव सिद्धः इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि दारिकाणां कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतिरिव न मुख्यवस्तूपसेवनोद्भवं फलं लभ्यते। न प्रतिबिम्बादिस्था अर्हदादयः, तद्गुणवैकल्यान्न प्रतिबिम्बानामर्हदादित्वमिति चैत्यावर्णवादः। (भ. आ. विजयो. १-४७)। २. सोऽयमर्हन्नित्यादिस्वकल्पनया पाषाणादावचेतने तद्व्यव-

स्यायामपि कन्यकानां कृत्रिमपुत्रकव्यवहृतावित्र न मुख्यवस्तूपसेवनोद्भूतं फलमुपलप्स्यते इति, न प्रतिमादिषु संक्रान्ता अर्हदादयो नापि प्रतिमादीनामर्हदादित्वमस्ति तद्गुणशून्यत्वात्ततोऽन्यपाषाणादिवन्न तेषामाराधने किञ्चित्फलमस्ति, इत्यादिकश्चैत्यानाम्(अवर्णवादः)। (भ. आ. मूला. ४७)।

१ अपनी कल्पना से 'यह अरहन्त या सिद्ध हैं' इस प्रकार अचेतन पाषाण में उनकी स्थापना करने पर प्रत्यक्ष में उनकी आराधना से कुछ फल प्राप्त होता है यह असम्भव है। जैसे—कन्यायें कृत्रिम पुत्र (प्रतिकृतिरूप) में जब पुत्र का व्यवहार करती हैं तब यथार्थ पुत्र का फल उन्हें कभी प्राप्त नहीं होता, वैसे ही अरहंत आदि की प्रतिमाओं की पूजा आदि से वह फल नहीं प्राप्त हो सकता। कारण यह कि न तो प्रतिमाओं में अरहन्त आदि स्थित होते हैं और न उनके गुणों से शून्य होने के कारण वे प्रतिमायें स्वयं अरहन्त आदि हो सकती हैं। इस प्रकार से कुयुक्तिपूर्वक प्रतिमाओं की निन्दा करने को चैत्यावर्णवाद कहा जाता है।

चोरप्रयोग—देखो चौरप्रयोग।

चौरकथा— १. स चोरो निपुणः खातकुशलः, स च वर्त्मनि ग्रहणसमर्थः, पश्यतां गृहीत्वा गच्छति तेन सर्वं आक्रान्ता इत्येवमादिकथनं चोरकथा। (मूला. वृ. ९-८९)। २. चोराणां चोरप्रयोगकथनं चोरकथाविधानम्। (नि. सा. वृ. ६७)।

१ वह चोर सेंध लगाने में बड़ा निपुण है, मार्ग में चलते हुए लोगों को देखते-देखते लूट कर चला जाता है, वह सभी पर आक्रमण करने वाला है; इत्यादि प्रकार से चोरों की चर्चा करने को चौरकथा कहते हैं।

चौरप्रयोग – १. चोरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरणं प्रेरितस्य वाऽन्येनानुमोदनम्। (रत्नक. टी. ३-१२)। २. चोरप्रयोगः—चोरयतः स्वयमन्येन वा चोरय त्वमिति चोरणक्रियायां प्रेरणम्, प्रेरितस्य वा साधु करोषीत्यनुमननम्। कुशिका-कर्तरिका-घर्घरिकादिचौरोपकरणानां वा समर्पणं विक्रयणं वा। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५०)।

१ चोरी करने वाले को चोरी के लिए स्वयं प्रेरित करना, अन्य से प्रेरणा करना या उसकी अनुमोदना करना, इसे चौरप्रयोग कहते हैं। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

चौरार्थादान—१. चौरार्थादानं च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्य ग्रहणम्। (रत्नक. टी. ३-१२)। २. चौराहृतग्रहः—अप्रेरितेनाननुमतेन च चौरेणानीतस्य कनक-वस्त्रादेरादानं मूल्येन मुद्रिकया वा। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५०)।

१ जिसे चोरी के लिए प्रेरणा व अनुमोदना नहीं की गई है, ऐसे चोर के द्वारा लाये हुए अर्थ (सुवर्णादि) के लेने को चौरार्थादान कहते हैं। यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

चौराहृतग्रह—देखो चौरार्थादान।

चौर्य—१. अदत्तस्य स्वयं ग्राह्यो वस्तुनः चौर्यमीर्यते। संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिर्यत्र तत्र तत्। (ह. पु. ५८, १३१)। २. स्तैन्यं परद्रव्यापहरणाभिप्रायः। (मूला. वृ. ५-१९९)। ३. अदत्तस्य यदादानं चौर्यमित्युच्यते बुधैः। (लाटीसं. ६-३३)।

१ संक्लेश परिणामपूर्वक बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने को चौर्य या चोरी कहते हैं।

चौर्यानन्द—१. तह तिव्वकोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं। परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं॥ (ध्यानश. २१)। २. चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि। यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते॥ यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते, कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्सन्ततम्। चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रमस्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम्॥ (ज्ञाना. २५-२६, पृ. २६६-६७)। ३. परद्रव्यहरणे तत्परता प्रथमं रौद्रम्। (मूला. वृ. ५-१९९।

१ तीव्र क्रोध व लोभ से अभिभूत प्राणी का चित्त जो दूसरे के द्रव्य के अपहरण में संलग्न रहता है, यह चौर्यानन्द या स्तेयानुबन्धी रौद्र ध्यान कहलाता है। २ चोरी करने का उपदेश देना, चोरी करने में चातुर्य रखना, चित्त को सदा चोरी में लगाये रखना, निरन्तर चोरी का चिन्तन करना, चोरी करके हर्षित होना; इत्यादि प्रवृत्ति को चौर्यानन्द नाम का रौद्रध्यान कहा जाता है।

च्यवन—१. च्युतिः च्यवनम्, वैमानिक-ज्योतिष्काणां मरणम्। (स्थाना. अभय. वृ. १-२७, पृ. १९)।

२. च्यवनमुद्वर्तनं मरणमिति पर्यायः। (संग्रहणी दे. वृ. २, पृ. १)।

१ वैमानिक और ज्योतिषी देवों के मरण को च्यवन या च्युति शब्द से कहा जाता है। २ च्यवन, उद्वर्तन और मरण ये समानार्थक शब्द हैं।

च्यावित—१. च्यावितं तेभ्यः (देवादिभ्यः) एवायुःक्षयेण भ्रंशितम्। ××× उक्तं च वृद्धैः—××× चइयंमि चावितं जं जह कप्पा संगमो सुरिंदेणं। तह चावियमिति जीवा पलिएणाउक्खएणं ति॥ (अनुयो. हरि. वृ. उद्., पृ. १४)। २. चइदं णाम कदलीघादेण छिण्णायुक्खयपदिदसरीरं। उक्तं च—विस-वेयण-रत्तक्खय-सत्थग्गहण-संकिलेसेहिं। आहारोस्सासाणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ। (धव. पु. १, पृ. २२); कयलीघादेण मरणकंखाए जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा वा पदिदसरीरं चइदं। (धव. पु. १, पृ. २५); उवसग्गेण पदिदसरीरो ××× चइददेहो णाम। (धव. पु. ९, पृ. २६९)। ३. चेतनस्योपसर्गबलाद्वा च्यावितशब्देनोच्यते। (भ. आ. विजयो. ७५३)। ४. च्यावितं कदलीघातपतितं त्यागवर्जितम्। (आचा. सा. ९–१२)। ५. कदलीघातेन पतितं च्यावितम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–१९)।

१ आयु के क्षय से देवता आदि से भ्रष्ट कराये गये शरीर को च्यावित कहते हैं। २ कदलीघात—विषभक्षण, वेदना व रक्तक्षय आदि—से खण्डित हुई आयु के क्षय से नष्ट हुए शरीर का नाम च्यावितशरीर है।

च्युत—१. च्युतं देवादिभ्यो भ्रष्टम् ××× उक्तं च वृद्धैः—चुतमिह ठाणब्भट्ठं देवो व्व जहा विमाणवासाओ। इय जीवितचेयणादिकिरियाभट्ठं चुतं भणिमो॥ (अनुयो. हरि. वृ. उद्., पृ. १४)। २. चुदं णाम कदलीघादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण खीयमाणायुक्खयपदिदं। (धव. पु. १, पृ. २२); सयमेव आयुक्खएण पदिदसरीरो चुददेहो णाम। (धव. पु. ९, पृ. २६९)। ३. आयुषो निःशेषगलनादात्मनश्च्युतम् एकम्। (भ. आ. विजयो. ७५३)। ४. ××× चुदं सपाकेण। पडिदं कदलीघादपरिच्चागेणूणयं होदि। (गो. क. ५६)। ५. च्युतं त्यागं विनायुष्ककर्मक्षयगलात्मकम्। (आचा. सा. ९–११)। ६. पक्वफलमिव स्वयमेवायुषः क्षयेण पतितं च्युतम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–१९)। ७. तत्र च्युतं स्वपाकेन पतितमपि कदलीघात-संन्यासाभ्यामूनं भवति। (गो. क. जी. प्र. ५६)।

१ देवादि पर्याय से शरीर के छूटने पर वह च्युतशरीर कहलाता है। २ कर्म के उदय वश कदलीघात के बिना आयु के क्षय से पके हुये फल के समान जो शरीर स्वयं छूटता है उसे च्युत शरीर कहा जाता है।

छत्र—छत्रं प्रसिद्धम्, तदाकारो योगोऽपि छत्रम्। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२–७८, पृ. २३३)।

छत्र के आकार वाले योग को भी छत्र कहते हैं।

छत्रातिछत्र—छत्रात् सामान्यरूपात् उपर्यन्यान्यछत्रभावतोऽतिशायि छत्रं छत्रातिछत्रम्, तदाकारो योगोऽपि छत्रातिछत्रम्। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १२, ७८, पृ. २३३)।

सामान्य रूप से छत्र के ऊपर अन्य-अन्य छत्र के सद्भाव से जो अतिशय युक्त छत्र होता है वह छत्रातिछत्र कहलाता है, उसके आकार वाले योग को भी छत्रातिछत्र कहते हैं।

छद्म—१. छद्म ज्ञान-दृगावरणे। (धव. पु. १, पृ. १८८)। २. छद्म ज्ञान-दर्शनावरणद्वयं भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४४, पृ. १६५)। ३. छादयतीति छद्म ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मचतुष्टयम्। (आव. नि. मलय. वृ. २३३)। ४. छादयत्यात्मनो यथावस्थितं रूपमिति छद्म ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्टयम्। (संग्रहणी दे. वृ. ११४, पृ. ५७)।

१ ज्ञानावरण और दर्शनावरण का नाम छद्म है। ४ यथावस्थित आत्मस्वरूपको आच्छादित करने वाले ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों को छद्म कहते हैं।

छद्मस्थ—१. छद्म ज्ञान-दृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। (धव. पु. १, पृ. १८८; बृ. द्रव्यसं. ४४, पृ. १६५); छद्मनि आवरणे तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। (धव. पु. १, पृ. १९०); छदुमं णाम आवरणं, तम्हि चिट्ठदि त्ति छदुमत्थो। (धव. पु. १०, पृ. २९६)। २. छद्म आवरणम्, तत्र स्थिताः, सावरणज्ञानाः छद्मस्थाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४८)। ३. छादयत्यात्मस्वरूपं यत्तच्छद्म ज्ञानावरणादिघातिकर्म। तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः अकेवली।

(स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७२)। ४. छादयति केवलज्ञान-दर्शनमात्मनोऽनेनेति छद्म ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तराय-मोहनीयकर्मोदयः, सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात्तदपगमानन्तरं चोत्पादाच्छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ५)। ५. छाद्यते यथावस्थितमात्मनः स्वरूपं येन तच्छद्म ज्ञानावरणीयादि कर्म, तस्मिन् तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। (बृहत्सं. मलय. वृ. १७०)। ६. छादयतीति छद्म ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मचतुष्टयम्, छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः। (आव. नि. मलय. वृ. २११, पृ. २०२)।

१ ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का नाम छद्म है, इस छद्म में जो स्थित रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं।

छद्मस्थमरण—१. छउमत्थमरणं छउमत्थसंयताण मरणं जाव मणपज्जवणाणीणं। (उत्तरा. चू. पृ. १२६)। २. छद्मस्थमरणम्—अकेवलिमरणम्। (समवा. अभय. वृ. १७, पृ. ३३)। ३. मणपज्जवोहिणाणी सुय-मइणाणी मरंति जे समणा। छउमत्थमरणमेयं × × ×॥ (प्रव. सारो. १०१५)। ४. मनःपर्ययज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनो मतिज्ञानिनश्च म्रियन्ते ये श्रमणाः तपस्विनः, छादयन्तीति छद्मानि ज्ञानावरणादीनि कर्माणि, तेषु तिष्ठन्तीति छद्मस्थास्तेषां मरणं छद्मस्थमरणम्। (प्रव. सारो. वृ. १०१५ पृ. ३००)।

१ मनःपर्ययज्ञानी तक—चार क्षायोपशमिक ज्ञान वाले—छद्मस्थ संयतों के मरण को छद्मस्थमरण कहते हैं।

छन्दना—१. × × × पुव्वगहिएण छंदण × × ×॥ (आव. नि. ६९७)। २. पूर्वगृहीतेनाशनादिना छन्दना शेषसाधुभ्यः कर्तव्या—इदं मयाऽशनाद्यानीतम्, यदि कस्यचिदुपयुज्यते ततोऽसाविच्छाकारेण ग्रहणं करोत्विति। (आव. नि. हरि. वृ. ६९७)। ३. छन्दना प्रोत्साहना, इदं भक्तं भुंक्ष्व इति। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८)।

२ इस अशन (भोजन) आदि को मैं लाया हूं, यदि किसी के लिए उपयोगी हो तो इच्छाकार के साथ ग्रहण कर ले; इस प्रकार पूर्व गृहीत अशन आदि से शेष साधुओं के लिए छन्दना की जाती है।

छन्दोनिरोध—छन्दो वशस्तस्य निरोधः छन्दोनिरोधः—स्वच्छन्दतानिषेधः, × × × यद्वा छन्दसा—गुर्वभिप्रायेण, निरोधः आहारादिपरिहाररूपः छन्दोनिरोधः, × × × अथवा छन्दो वेद आगम इत्यनर्थान्तरम्, ततः छन्दसा 'आणाए चिय चरणं' इत्यादिना निरोधः इन्द्रियादिनिग्रहात्मकः छन्दोनिरोधः। (उत्तरा. सू. शा. वृ. ४–८, पृ. २२२, २३)।

छन्द का अर्थ वश या प्रभुता है, उसके निरोध को—स्वच्छन्दता के निषेध को—छन्दोनिरोध कहते हैं। अथवा गुरु के अभिप्रायानुसार आहार आदि के निरोध को भी छन्दोनिरोध कहते हैं। अथवा छन्द का अर्थ वेद या आगम होता है। तदनुसार छन्द अर्थात् 'आज्ञा के अनुसार आचरण करना चाहिये' इत्यादि आगम से किये जाने वाले इन्द्रियों के निग्रह रूप निरोध को छन्दोनिरोध जानना चाहिए।

छन्दोऽनुवर्तन—१. छंदाणुवट्टणं नाम आयरियाण सीसेण कालं तुलेऊणं आहार-उवहि-उवस्सगाण उवायणं कायव्वं। (दशवै. चू. १, पृ. २८)। २. छन्दोऽनुवर्तनम् अभिप्रायानुवृत्तिः। (समवा. अभय. वृ. ९१, पृ. ८६)।

१ शिष्य के द्वारा समय के अनुसार आचार्यों के लिये आहार, उपधि और उपाश्रय की जो व्यवस्था की जाती है, इसका नाम छन्दोनुवर्तन है। यह सात प्रकार की औपचारिक विनय में से एक है।

छन्दोऽनुवर्ती—छन्दो गुरूणामभिप्रायस्तमनुवर्तते आराधयतीत्येवंशीलः छन्दोऽनुवर्ती। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १–७८)।

गुरु जनों के अभिप्रायानुसार उनकी सेवा करने वाले को छन्दोऽनुवर्ती कहते हैं।

छन्नदोष—१. ईदृशे व्रतातिचारे सति किं नः[नुः] स्यात् प्रायश्चित्तमित्युपायेन गुरूपासना षष्ठः। (त. वा. ९, २२, २)। २. ईदृशे दोषे किं प्रायश्चित्तमित्युपायेन प्रच्छन्न[न]म्। (त. श्लो, ९–२२)। ३. छण्णं अवुष्टालोचना। (भ. आ. विजयो. ५६२)। ४. ईदृशे व्रतातिचारे सति नुः किं स्यात् प्रायश्चित्तमित्युपायेन गुरूपासना षष्ठश्छन्नदोषः। (चा. सा. पृ. ६१)। ५. दोषे सतीदृशे देयं किं प्रायश्चित्तमित्यलम्। प्रश्नः स्वच्छादनेन स्याच्छन्नं लज्जाभयादिभिः॥ (आचा. सा. ६–३३)।

६. प्रच्छन्नं आलोचयति किल मुक्तं भवति । लज्जालुतामुपदर्श्यापराधानल्पशब्देन तथालोचयति यथा केवलमात्मैव शृणोति, न गुरुरित्येष: (छन्न) षष्ठ आलोचनादोष: । (व्यव. भा. वृ. १, ३४२, पृ. १६) । ७. छन्नं कीदृक्चिकित्सेदृग्दोषे पृष्ट्वेति तद्विधि: । (अन. ध. ७-४२); ईदृशे दोषे सति कीदृश प्रायश्चित्त क्रियते, इति स्वदोषोद्देशेन गुरुं पृष्ट्वा तदुक्तं प्रायश्चित्तं कुर्वतश्छन्नं नामालोचनादोषः स्यादित्यर्थ: । (अन. ध. स्वो. टी. ७, ४२) । ८. छन्नं यदा कोऽपि न भवत्याचार्यसमीपे तदा एकान्ते पापं प्रकाशयतीति छन्नदोषः । (भाव. प्रा. टी. ११८) ।

१ इस प्रकार के व्रतविषयक अतिचार के होने पर मनुष्य के लिए क्या प्रायश्चित्त होता है, इस प्रकार उपाय से गुरु की उपासना करना; यह आलोचना का छन्न नामक छठा दोष है। ६ अदृष्ट रहकर आलोचना करने से छन्न दोष का भागी होता है। ८ जब आचार्य के पास में दूसरा कोई न हो तब एकान्त में पाप को प्रकाशित करना, यह आलोचना का छठा छन्न दोष है।

छर्दि (दोष)— १. तथा छर्दिर्वमनमात्मनो यदि भवति । (मूला. वृ. ६-७६) । २. ××× छर्दिरात्मना । छर्दनम् ××× ॥ (अन. ध. ५-४४) ।

१ साधु के आहार करते समय वमन हो जाने पर छर्दि नामक भोजन का अन्तराय होता है।

छर्दित—घृतादिच्छर्दयन् यद्ददाति तत् छर्दितम्, छर्द्यमाने घृतादौ तत्रस्थस्यागन्तुकस्य वा सर्वस्य जन्तोर्मधुबिन्दूदाहरणेन विराधनासम्भवात् । (योग. शा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३७) ।

घी आदि को गिराते हुए आहारादि के देने पर छर्दित दोष होता है। कारण कि घी आदि के गिराने से वहां रहने वाले अथवा आगन्तुक सभी के मधुबिन्दु के उदाहरण से विराधना की सम्भावना है। यह १० एषणादोषों में अन्तिम है।

छल— १. वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलं वाक्छलादि । यथा—नवकम्बलो देवदत्त इत्यादि । आव. नि. हरि. वृ. ८८१, पृ. ३७५) । २. अर्थविकल्पोपपत्त्या वचनविघातः छलम् । (आव. मलय. वृ. ८८१, पृ. ४८३) ।

१ अर्थभेद को उद्भावित करके वचन के विघात करने को छल कहते हैं। जैसे—यदि कोई देवदत्त को नवीन कम्बल से युक्त देखकर 'नवकम्बलो देवदत्त:' ऐसा कहता है तो 'कहां हैं नौ कम्बल, एक ही कम्बल तो उसके पास है' ऐसा कहते हुए उसके कथन को असत्य बतलाना। यह ३२ सूत्रदोषों में पांचवां है।

छविच्छेद—१. छवि: शरीरम्, तस्य छेद: पाटनं करपत्रादिभि: । (श्रा. प्र. टी. २५८) । २. छविच्छेद: हस्त-पाद-नासिकादिच्छेद इति । (श्राव. हरि. वृ. १६६, भा. ३, पृ. ११४) । ३. छवी शरीरं, तस्स णहादीणं किरियाविसेसेहि खंडणं छेदो छविच्छेदो । (धव. पु. १४, पृ. ४०१) । ४. छवि: शरीरं त्वक् वा, छेद: पाटनं द्विधाकरणम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२०) । ५. छवि: त्वक्, तद्योगाच्छरीरमपि छवि:, तस्य छेद:—असिपुत्रिकादिभि: पाटनम् । (ध. बि. मु. वृ. ३-२३) ।

१ करपत्र (करोंत) आदि से शरीर के छेदने का नाम छविच्छेद है। यह अहिंसाणुव्रत का एक अतिचार है। ३ छवि नाम शरीर का है, उसके नख आदि अवयवों का विशिष्ट क्रिया के द्वारा खण्डन करना; इसे छविच्छेद कहते हैं।

छविदोष—१. छवि: अलंकारविशेषस्तेन शून्यमिति । (आव. नि. हरि. वृ. ८८४, पृ. ३७५)। २. छवि: अलंकारविशेषता[प:], तेन शून्यता तेन शून्यता छविर्दोष: । (आव. मलय. वृ. ८८३, पृ. ४८३) ।

छवि का अर्थ अलंकारविशेष होता है। अलंकारविशेष से रहित सूत्र—आगमवाक्य—की रचना करने पर छवि नाम का सूत्रदोष होता है। यह ३२ सूत्रदोषों में २३वां है।

छव्यार्द्र—छविमद् तु यत् स्निग्धत्वग्द्रव्यं मुक्ताफलरक्ताशोकादिकं तदभिधीयते । (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २, ६, १८५, पृ. १३६) ।

मोती व लाल अशोक आदि गीली त्वचा से युक्त द्रव्य को छवि-आर्द्र कहा जाता है।

छादन—१. अनुद्भूतवृत्तिता छादनम् । प्रतिबन्धकहेतुसन्निधाने सति अनुद्भूतवृत्तिताऽनाविर्भाव: छादनमित्यवसीयते । (त. वा. ६, २५, १) । २. अनुद्भूतवृत्तिता छादनम् । (त. श्लो. ६-२५) । ३. छादनं संवरणं स्थगनम्, द्वेषात् पृष्टो ऽपृष्टो

वा नाच्छादयति गुणान् सतोऽपि। (त. वा. सिद्ध. वृ. ६–२४)।

१ प्रतिबन्धक हेतु के सन्निधान में दूसरे के समीचीन या विद्यमान गुणों को प्रगट नहीं करना, यह छादन शब्द का अभिप्राय है।

छाया—१. छाया प्रकाशावरणनिमित्ता। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, १६)। २. पृथिव्यादिघनपरिणामस्युपश्लेषात् देहादिप्रकाशावरणतुल्याकारेण छिद्यते, छिनत्त्यात्मानमिति वा छाया। (त. वा. ५, २४, १)। ३. वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा च छाया विज्ञेया। (बृ. द्रव्यसं. टी. १६)। ४. प्रकाशावरणकारणभूता छाया द्विप्रकारा। एका वर्णादिविकृतिपरिणता। कोऽर्थः? गौरादिवर्णं परित्यज्य श्यामादिभावं गता। द्वितीया छाया प्रतिच्छन्दमात्रात्मिका। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४)। ५. वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा वर्णादिविकारपरिणता च छाया। (कार्तिके. टी. २०६)। ६. छूयति छिनत्ति वा ऽऽतपमिति छाया। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–५७, पृ. ३८)।

१ प्रकाश के आवरण के निमित्त से जो प्रतिबिम्ब (परछाईं) पड़ता है उसका नाम छाया है।

छायागति—से किं तं छायागति:? २ जं णं हयछायं वा गयछायं वा नरछायं वा किण्णरछायं वा महोरगछायं वा गंधव्वछायं वा उसहछायं वा रहछायं वा छत्तछायं वा उवसंपत्तिज्जा णं गच्छति से तं छायागति:। (प्रज्ञाप. १६, २०५, पृ. ३२७)।

घोड़ा, हाथी, मनुष्य, किन्नर, महोरग, गन्धर्व, वृषभ रथ अथवा छत्र की छाया की समीपता से जो गमन होता है, इसका नाम छायागति है।

छायानुपातगति—से किं तं छायाणुवायगती? जे णं पुरिसं छाया अणुगच्छति नो पुरिसे छायं अणुगच्छति, से तं छायाणुवायगती। (प्रज्ञाप. १६–२०५, पृ. ३२७)।

छाया जो पुरुष के पीछे चलती है, पुरुष छाया के पीछे नहीं चलता, यह छायानुपातगति कहलाती है।

छिद्रकुटसमान शिष्य—यस्य अधो बुध्ने छिद्रः स छिद्रकुटः। ××× यो व्याख्यानमण्डल्यामुपविष्टः सर्वमर्थमवबुध्यते व्याख्यानादुत्थितश्च न किमपि स्मरति स छिद्रकुटसमानः, यथा हि छिद्रकुटो यावत्तदवस्थ एव गाढमवनितलसंलग्नोऽवतिष्ठते तावन्न किमपि जलं ततः स्रवति, स्तोकं वा किंचिदिति, एवमेषोऽपि यावदाचार्यः पूर्वापरानुसन्धानेन सूत्रार्थमुपदिशति तावदवबुध्यते, उत्थितश्चेद् व्याख्यानमण्डल्याः तर्हि स्वयं पूर्वापरानुसन्धानविकलत्वान्न किमपि मनुस्मरति। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)

जिस घड़े के नीचे मूल में छेद हो उसे छिद्रकुट कहते हैं। जैसे छिद्रकुट जब तक भूमि के ऊपर संलग्न रहता है तब तक उससे जल नहीं निकलता है, या कुछ थोड़ा सा ही निकलता है; वैसे ही जो शिष्य जब तक व्याख्यानमण्डली में बैठा रहता है तब तक उपदिष्ट अर्थ को पूर्ण रूप से ग्रहण करता है, तत्पश्चात् कुछ भी स्मरण नहीं करता है, उसे छिद्रकुट समान शिष्य कहा जाता है।

छिन्ननिमित्त—देखो छिन्नमहानिमित्त। १. सुर-दाणव-रक्खस-णर-तिरिएहिं छिण्णसत्थ-वत्थाणि। पासाद-णयर-देसादियाणि चिण्हाणि दट्ठूणं॥ कालत्तयसंभूदं सुहासुहं मरणविविहदव्वं च। सुह-दुक्खाइं लक्खइ चिण्हणिमित्तं ति तं जाणइ। (ति. प. ४, १०११–१२)। २. वस्त्र-शस्त्र-छत्रोपानदासन-शयनादिषु देव-मानुष-राक्षसादिविभागैः शस्त्र-कण्टक-मूषिकादिकृतछेदनदर्शनात् कालत्रयविषय-लाभालाभ-सुखदुःखादिसूचनं छिन्नम्। (त. वा, ३, ३६, ३)। ३. तत्र बीजपदादधःस्थितान्येवपदानि बीजवदस्थितिर्लिंगेन जानाति [वस्त्र-शस्त्र-छत्रोपानदासन-शयनादिषु देव-मानुष-राक्षसादिवि]भागैः शस्त्र-कण्टक-मूषिकादिकृतच्छेददर्शनात् कालत्रयविषयलाभालाभ-सुखदुःखादिसंस्तवनं छिन्नम्। (चा. सा. पृ. ६६)। ४. यं प्रहारं छेदं वा दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तच्छिन्ननिमित्तं नाम। (मूला. वृ. ६–३०)।

१ देव, दानव, राक्षस, मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा छेदे गये शस्त्र और वस्त्र आदि को तथा छिन्न प्रासाद, नगर एवं देश आदि को देखकर तीनों कालों सम्बन्धी शुभ-अशुभ, मरण एवं सुख-दुःखादि को जान लेना, यह छिन्ननिमित्त कहलाता

है। २ वस्त्र, शस्त्र, छत्र, जूता, आसन और शय्या आदि में देव, मनुष्य और राक्षस आदि के विभाग से शस्त्र, कांटा और चूहा आदि के द्वारा किये गये छेदन को देखकर तीनों कालों सम्बन्धी लाभ-अलाभ व सुख-दुःख आदि की सूचना करना, इसे छिन्ननिमित्त कहते हैं।

छिन्नपुष्टसंहनन—छिन्नानि अन्तरितानि, पुष्टानि अस्थीनि, येन प्रभवता तच्छिन्नपुष्टं षष्ठं संहननम्। पंचसं. च. स्वो. वृ. ३–१२७, पृ. ३७)।

जिसके प्रभाव से शरीर की हड्डियां अन्तर-सहित हों उसे छिन्नपुष्टसंहनन कहते हैं।

छिन्नमहानिमित्त—देखो छिन्ननिमित्त। अंग-छायाविवज्जास-वत्थालंकारछेदं मणुव-तिरिक्खादीणं चेट्ठा-संठाणाणि दट्ठूण सुहासुहावगमो छिण्णं णाम महाणिमित्तं। (धव. पु. ९, पृ. ७३)।

शरीरछाया की विपरीतता, वस्त्र व अलंकार का छेद तथा मनुष्य और तिर्यंच आदिकों की चेष्टा व आकार को देखकर शुभाशुभ का जानना, यह छिन्न-महानिमित्त कहलाता है।

छिन्नस्वप्न (छिण्णसुमिण)—१. करि-केसरि-पहुदीणं दंसणमेत्तादि चि[छि]ण्हसउणंतं। (ति. प. १०१६)। २. वसह-मायंग-सीह-सायर-चंदा-इच्च-जलकलियकलस-पउमाहिसेय-जलण-पउमायर-भवणविमाण - रयणरासि-सीहासण - कीडतमच्छ-पफुल्लदामजुवलाणं अण्णोण्णसंबंधविरहियाणं सुत्ततित्थयरमादूणं सोलसण्णं दसणं छिण्णसुमि-णओ णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७४)।

२ परस्पर के सम्बन्ध से रहित बैल, हाथी, सिंह और समुद्र आदि १६ स्वप्न, जो तीर्थंकर की माता को दिखते हैं, उन्हें छिन्नस्वप्न कहा जाता है।

छेद—१. अपयत्ता वा चरिया सयणासण-ठाण-चंकमादीसु। समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संततत्ति मदा॥ प्रव सा. ३–१६)। २. कर्णनासिकादीनाम-वयवानामपनयन छेदः। (स. सि. ७–२५; चा. सा. पृ. ५; रत्नक. टी. ३–८; सा. ध. स्वो. टी. ४–१५); दिवस-पक्ष-मासादिना प्रव्रज्याहापनं छेदः। (स. सि. ९–२२; त. श्लो. ९–२२)। ३. छेदो-ऽपवर्तनमपहार इत्यनर्थान्तरम्। स प्रव्रज्यादिवस-पक्ष-मास-संवत्सराणामन्यतमेषां भवति। (त. भा. ९–२२)। ४. छेदो नाम जस्स कस्स वि साहुणो तहारूवं अवराहं णाऊण परियाओ छिज्जइ। तं जहा—अहोरत्तं वा पक्खं वा मासं वा संवच्छरं वा एवमादि छेदो भवति। दशवै. चू. पृ. २९)। ५. कर्ण-नासिकादीनामवयवानाम् अपनयनं छेद इति कथ्यते। (त. वा. ७, २५, ३; त. श्लो. ७–२५); दिवस-पक्ष-मासादिना प्रव्रज्याहापनं छेदः। चिरप्रव्रजितस्य दिवस-मासादिविभागेन प्रव्रज्याहापनं छेद इति प्रत्येतव्यम्। (त. वा. ९, २२, ८)। ६. दिवस-पक्ख-मास-उदु-अयण-संवच्छ-रादिपरियायं छेत्तूण इच्छिदपरियायादो हेट्ठिम-भूमीए ठवणं छेदो णाम पायच्छित्तं। (धव. पु. १३, पृ. ६१) ७ कर्णाद्यपनयच्छेदः ××× । (ह. पु. ५८–१६४)। ८. छेदोऽपवर्तनमपहार इत्यभिन्नार्थाः पर्यायाः। स च छेदः पर्यायस्य महाव्रतारोपणकाला-दारभ्य गण्यते। ××× प्रव्रज्यादिवसो यत्र महाव्रतारोपणं कृतं तदादिः पर्यायः। तत्र पंच-कादिच्छेदपर्यायस्य यथा यस्य तावद् दशवर्षाण्या-रोपितमहाव्रतस्यापराधानुरूपः कदाचित् पञ्चकच्छेदः कदाचिच्च दशक इत्यादि यावत् षण्मास-परिमाणच्छेदो लघुर्गुरुर्वा, एवंविधेन छेदेन छिद्यमानः प्रव्रज्यादिवसमप्यपहरतीति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–२२)। ९. असंयमजुगुप्सार्थमेव प्रव्रज्या-हापन छेदः। (भ. आ. विजयो. ६)। १०. अशुद्धो-पयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात् तस्य हिंसनात्। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–१६)। ११. प्रव्रज्याहापनं छेदो मास-पक्ष-दिना-दिना। (त. सा. ७–२६)। १२. चिर-प्रव्रजितस्य सहजबलस्स स्वभावशूरस्य गर्वितस्य कृतदोषस्य दिवस-मासादिभागेन प्रव्रजनं छित्वा छिन्नकालादि-नाऽवस्थानं छेदो नाम। (चा. सा. पृ. ६२)। १३. छेदेन व्रतभेदेन ××× (प्रव. सा. जय. वृ. ३–९); निर्विकल्पकसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन च्युतिरेकदेशछेदः, सर्वथा च्युतिः सकलदेशछेदः इति देश-सकलभेदेन द्विधा छेदः। (प्रव. सा. जय. वृ. ३–१०); स्वस्थभावच्युतलक्षणः छेदो भवति। (प्रव. सा. जय. वृ. ३–११)। १४. छेदः दिवस-मासादिना प्रव्रज्याहापनम्। (मूला. वृ. ११–१६)। १५. दिवसादितपश्छेदश्छेद-संयमपर्यये। सर्वंकृतदोषस्य चिरदीक्षाहितैर्विना॥ पुनर्दीक्षाग्रहो मूल सर्वां पूर्वां तपःस्थितिम्। छित्वो-

मार्गस्थ-पार्श्वस्थप्रभृतिश्रमणेष्विदम् ॥ (आचा. सा. ६, ४७-४८)। १६. छेदस्तपसा दुर्दमस्याहोरात्र-पक्षमासादिना क्रमेण श्रमणपर्यायच्छेदनम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। १७. चिरप्रव्रजितादृप्तशक्त-शूरस्य सागसः। दिनपक्षादिना दीक्षाहापनं छेद-मादिशेत् ॥ (अन. ध. ७-५४)। १८. शब्दग्रह-नासिकांगुलिचरांग-चक्षुरादीनामवयवानां विनाशनं छेदः (त. वृत्ति श्रुत. ७-२५); दिवस-पक्ष-मासादि-विभागेन दीक्षाहापनं छेदो नाम प्रायश्चित्तम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२२; भावप्रा. टी. ७८; कार्तिके. टी. ४५१)। १९. कर्ण-कंबल-नासिकांगुलि-प्रजनन-चक्षुरादीनामवयवानां विनाशनं छेदः। (कार्तिके. टी. ३३२)। २०. छेदो नासादिछिद्रार्थः काष्ठ-सू[शू]लादिभिः कृतः। तावन्मात्रातिरिक्तं तन्न विधेयं प्रतिमान्वितैः। (लाटीसं. ५-२६५)।

१ सोना, बैठना, स्थान और चलना आदि क्रियाओं में जो सदा साधु की प्रयत्न के बिना प्रवृत्ति होती है—उन्हें असावधानी से सम्पन्न किया जाता है—यह प्रवृत्ति हिंसारूप मानी गई है। शुद्धोपयोगरूप मुनि-धर्म के छेद (विनाश) का कारण होने से उसे छेद (अशुद्ध उपयोगरूप) कहा गया है। २ कान और नाक आदि शरीर के अवयवों के काटने का नाम छेद है, यह अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचारों के अन्तर्गत है। दिन, पक्ष अथवा मास आदि के विभाग से अपराधी साधु के दीक्षाकाल को कम करना, इसे छेद कहा जाता है। यह नौ प्रकार के प्रायश्चित्त में से एक है। ८ छेद का अर्थ अपवर्तन है। यह महाव्रत-आरोपण के दिन से लेकर दीक्षा-पर्यायका किया जाता है। जैसे—जिस साधु के महाव्रत को स्वीकार किये दस वर्ष हुए हैं उसके अपराध के अनुसार कदाचित् पांच दिन का और कदाचित् दस दिन का, इस प्रकार छह मास प्रमाण तक दीक्षापर्याय का छेद किया जा सकता है। इस प्रकार के छेद से दीक्षा का काल उतना कम हो जाता है।

छेदगति — मृदंग-भेरी-शंखादिशब्दपुद्गलानां छि-न्नानां गतिः छेदगतिः। (त. वा. ५, २४, २१)। मृदंग, भेरी और शंख आदि के छेद को प्राप्त हुए शब्दपुद्गलों की गति या गमन को छेदगति कहते हैं। यह दस प्रकार की क्रिया में तीसरी है।

छेदन — छेदनं शरीरस्यान्यस्य वा खड्गादिभिरिति × × × अथवा छेदनं कर्मणः स्थितिघातः। (स्थाना. अभय. वृ. १-३४, पृ. १०)।

खड्ग आदि से शरीर के छेदने अथवा परिणाम-विशेष से कर्मों की स्थिति के घात करने को छेदन कहते हैं।

छेदवर्ति—देखो सेवार्त। तथा यत्रास्थीनि परस्परं छेदेन वर्तन्ते, न कीलिकामात्रेणापि बन्धस्तत् षष्ठ छेदवर्ति, तच्च प्रायो मनुष्यादीनां नित्यं स्नेहा-भ्यङ्गादिरूपां परिशीलनामपेक्षते। (जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १५)।

जिसमें हड्डियां परस्पर छेद से युक्त हों, कीलों से भी संबद्ध न हों; यह छेदवर्ति नाम का छठा संहनन है। वह प्रायः मनुष्यों आदि के होता है और सदा तेलमर्दन आदि की अपेक्षा करता है।

छेदस्पृष्ट—देखो छेदवर्ति व सेवार्त संहनन।

छेदार्ह—छेयारिहं जम्मि य पडिसेविए संदूसिय-पुव्वपारयायदेसावछेयणं कोरइ, नाणाविहवाहि-संदूसियंगोवंगछेयणमिव सेससरीरावयवपरिपालणत्थं, तहेहावि सेसपरियायरक्खणत्थ एयं छेयरिहं। (जीतक. चू. ४, पृ. ६)।

जिस प्रकार अनेक प्रकार की व्याधि से दूषित शरीर के किसी अवयव का शेष शरीरावयवों के रक्षणार्थ छेद किया जाता है—उसे काट कर अलग कर दिया जाता है—उसी प्रकार जिसका सेवन करने पर दूषित हुई पूर्व पर्याय—श्रामण्य अवस्था का—कुछ अंश में—दिन, पक्ष व मास आदि के क्रम से—छेद कर दिया जाता है—कम कर दिया जाता है—वह छेदार्ह प्रायश्चित्त कहलाता है। यह दस प्रकार के प्रायश्चित्त में एक है।

छेदोपस्थापक—१. तेसु (मूलगुणेसु) पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ (प्रव. सा. ३-९)। २. छेत्तूण उ परियागं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं। धम्मंमि पंचजामे छेदोवट्ठावणो स खलु ॥ (भगवती. ४ खं., २५, ७, ६, पृ. २६२)। ३. छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं। पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो ॥ पंचसं. १-१३०; धव. पु. १, पृ. ३७२ उद्; गो. जी ४७०)।

१. अट्ठाईस मूलगुणों में प्रमादयुक्त साधु छेदो-पस्थापक होता है।

छेदोपस्थापन—देखो छदापस्थापक । १ छेदश्चोपस्थापनं च यस्मिंस्तच्छेदोपस्थापनम् । एतदुक्तं भवति —पूर्वपर्यायस्य छेदो महाव्रतेषु चोपस्थापनमात्मनो यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । (आव. नि. हरि. वृ. २१४, पृ. ८०) । २. तथा छेदोपस्थापनम् इह यत्र पूर्वपर्यायस्य छेदो महाव्रतेषु चोपस्थापनमात्मनः तच्छेदोपस्थापनमुच्यते । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०४) । ३. यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः । व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥ (त. सा. ६–४६) । ४. व्रतानां भेदनं कृत्वा यदात्मन्यधिरोपणम् । शोधनं वा विलोपेन च्छेदनोपस्थापनं मतम् ॥ (पंचसं. अमित. २४०, पृ. ३०) । ५. यदा युगपत्समस्तविकल्पत्यागरूपे परमसामयिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा समस्तहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमित्यनेन पञ्चप्रकारविकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादिविकल्परूपसावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थापनम् । अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकारसंवित्तिरूपनिश्चयप्रायश्चित्तेन तत्साधकबहिरङ्गव्यवहारप्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थापनम् । (बृ. द्रव्यसं. ३५) । ६. व्रतसमितिगुप्तिगैः पंच-पंचत्रिभिर्मतैः । छेदैर्भेदैरुपात्यर्थं स्थापनं स्वस्थितिक्रिया ॥ छेदोपस्थापनं प्रोक्तं सर्वसावद्यवर्जने । व्रतं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मसंगेष्वसंगमः । (आचा. सा. ५. ६–७) । ७. तत्र छेदः पूर्वपर्यायस्य, उपस्थापना च महाव्रतेषु यस्मिन् चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम् । (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. ११६; बृहत्सं. मलय. वृ. १५, पृ. २०) । ८. तथा छेदः सातिचारस्य यतेर्निरतिचारस्य वा शिक्षकस्य तीर्थान्तरसम्बन्धिनो वा तीर्थान्तरं प्रतिपद्यमानस्य पूर्वपर्यायव्यवच्छेदरूपः, तद्युक्तोपस्थापना महाव्रतारोपणरूपा यस्मिन् तत् छेदोपस्थापनं भवेत् । (उत्तरा. ने. वृ. २८–३२, पृ. ३२१) । ९. सामायिकसंयतो भूत्वा प्रच्युत्य सावद्यव्यापारप्रतिपन्नो यो जीवः पुराणं प्राक्तनं सावद्यव्यापारपर्यायं प्रायश्चित्तैश्छित्त्वा आत्मानं व्रतधारणादि पंचप्रकारसंयमरूपधर्मे स्थापयति स छेदोपस्थापनसंयतः स्यात्, छेदेन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापनं यस्य स छेदोपस्थापनम् । (गो. जी. जी. प्र. ४७१) ।

१ जिस चारित्र में पूर्व पर्याय को छेद कर—उसे खण्डित कर—महाव्रतों में स्थापित किया जाता है वह छेदोपस्थापनचारित्र कहलाता है। ३ जिस चारित्र में हिंसादि के भेदपूर्वक सावद्य कर्म का त्याग किया जाता है, अथवा व्रत का विनाश होने पर विशुद्धि की जाती है उसे छेदोपस्थापन कहते हैं ।

छेदोपस्थापनशुद्धिसंयम—देखो छेदोपस्थापन । तस्य एकस्य (सामयिकशुद्धिसंयमस्य) व्रतस्य छेदेन द्वि-त्र्यादिभेदेनोपस्थापनं व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । × × × तदेवैकं (सामयिकशुद्धिसंयमं) व्रतं पंचधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । (धव. पु. १, पृ. ३७०) ।

सामायिकशुद्धिसंयम रूप एक व्रत के छेद से—दो-तीन आदि के भेद से— व्रत के आरोपित करने को छेदोपस्थापनशुद्धिसंयम कहते हैं । यह पर्यायार्थिक नयके आश्रित है ।

छेदोपस्थापना — देखो छेदोस्थापनशुद्धिसंयम । १. प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा । (स. सि. ९–१८) । २. प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोस्थापना । त्रस-स्थावरजन्तु-देश काल-प्रादुर्भाव-निरोधाप्रत्यक्षत्वात् प्रमादवशादभ्युपगत-निरवद्यक्रियाप्रबन्धविलोपे सति तदुपात्तस्य कर्मणः सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विज्ञेया । विकल्प-(निवृ[वृ]त्तिर्वा । अथवा, सावद्य कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृ [वृ] त्तिः छेदोपस्थापना । (त. वा. ९, १८, ६–७) । ३. त्रस-स्थावरजन्तुदेशकालप्रादुर्भावनिरोधाप्रत्यक्षत्वात् प्रमादवशादभ्युपगतनिरवद्यक्रियाप्रबन्धप्रलोपे सति तदुपात्तस्य कर्मणः सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापनाऽथवा सावद्यकर्मणो हिंसादिभेदेन विकल्पान्निवृत्तिश्छेदोपस्थापना । (चा. सा. पृ. ३७) । ४. प्रमादेन कृतो योऽनर्थः प्रबन्धो हि हिंसादीनामव्रतानामनुष्ठानं तस्य विलोपे सर्वथा परित्यागे सम्यगागमोक्तविधिना प्रतिक्रिया पुनर्व्रतारोपणं छेदोपस्थापना, छेदेन दिवस-पक्ष-मासादि-प्रव्रज्याहापनेनोपस्थापना व्रतारोपणं छेदोपस्थापना । सकल्पविकल्पनिषेधो वा छेदोपस्थापना । (त. वृत्ति श्रुत. ९–१८) । ५. सामायिकसंयतो भूत्वा प्रच्युत्य सावद्यव्यापारप्रतिपन्नो यो जीवः पुराणं प्राक्तनं

सावद्यव्यापारपर्यायं प्रायश्चित्तैश्छित्त्वा आत्मानं व्रतधारणादिपंचप्रकारसंयमरूपधर्मे स्थापयति स छेदोपस्थापनसंयतः स्यात्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ४७१)।

१ प्रमाद के वश होकर किये गये अनर्थसमूह (दोषों) के दूर करने के विषय में जो उचित प्रतीकार किया जाता है उसका नाम छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा विकल्प के—हिंसादि के भेद से होने वाले सावद्य कर्म के भेद के—सद्भाव को छेदोपस्थापना चारित्र जानना चाहिये।

छोटितदोष—भुज्यते बहुपातं यत्करक्षेप्यथवा करात्। गलद् भित्वा करौ त्यक्त्वाऽनिष्टं वा छोटितं च तत्॥ (अन. ध. ५-३१)।

अधिक अन्न-पान नीचे गिराते हुए भोजन करना, परोसने वाले के हाथ से अथवा अपने हाथ से दूध-छांछ आदि नीचे गिरते हुए भोजन करना, अथवा अप्रिय वस्तु को छोड़कर प्रिय वस्तु को खाना, इत्यादि प्रकार से भोज्य सामग्री को छोड़ते हुए भोजन करने को छोटित दोष कहते हैं।

जगत्—१. स्थिति-जननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्। (स्वयंभू. ११४)। २. सकलचेतनेतरक्षणपरिणामलवविशेषाः परस्परविविक्तात्मानस्तदन्योन्याभावमात्रं जगत्। (अष्टश. १-१४)। ३. जगत् चेतनाचेतनद्रव्यसंहतिः। (भ. आ. विजयो. ८२)।

१ जिसका लक्षण प्रत्येक समय में होनेवाली ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय रूप अवस्था है तथा जो चराचर (स्थावर-जंगम) पदार्थों से परिपूर्ण है उसे जगत् कहा जाता है। ३ चेतन और अचेतन द्रव्यों के समुदाय को जगत् कहते हैं।

जगत्श्रेणी—१. उद्धारपल्लछेदो तस्सासंखेयभागमेत्ते य। पल्लघणंगुलवग्गिदसंवग्गिदयम्हि सूइजगसेढी॥ (ति. प. १-१३१)। २. असंख्येयानां वर्षाणां यावन्तः समयास्तावत्खण्डमद्धापल्यं कृतम्, ततोऽसंख्येयान् खण्डानपनीयाऽसंख्येयमेकं भागं बुद्ध्या विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनाङ्गुलं दत्त्वा परस्परेण गुणिता जाता जगच्छ्रेणी। (त. वा. ३, ३८, ७)। ३. रज्जू सत्तगुणिदा जगसेढी। धव. पु. ४, पृ. १८४)। ४. होदि असंखेज्जदिमप्पमाणविंदंगुलाण हदी। (त्रि. सा. ७)।

१ अद्धापल्यकी अर्धच्छेदराशिके असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुलों को रखकर उनको परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है उसे जगच्छ्रेणी कहते हैं।

जगत्स्वभाव—१. तत्र जगत्स्वभावो द्रव्याणामनाद्यादिमत्परिणामयुक्ताः प्रादुर्भाव-तिरोभाव-स्थित्यन्यतानुग्रहविनाशाः। (त. भा. ७-७)। २. तांस्तान् देव-मानुष-तिर्यङ्-नारकपर्यायानत्यर्थं गच्छतीति जगत्—प्राणिजातमुच्यते धर्मादिद्रव्यसन्निवेशो वा, ××× । तत्र जगत्स्वभावस्तावत् प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयोगेप्सितालाभ-दारिद्र्य-दौर्भाग्य-दौर्मनस्य-वध-बन्धनाभियोगासमाधि-दुःख संवेदनलक्षणः, तथा "माता भूत्वा दुहिता [प्रशमरति १५६]" इत्यादि। तथा सर्वस्थानान्यशाश्वतानि संसारिणां संसार इति। धर्मादिद्रव्याणां च परिणामित्वादनन्तपर्यायरूपेण गमनात् तेष्वपि परिणामनित्यतां भावयेत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-७)।

१ द्रव्यों के अनादि और आदिमान् (सादि) परिणामों से युक्त प्रादुर्भाव (उत्पाद), तिरोभाव (व्यय) स्थिति, भिन्नता, परस्पर का उपकार और प्रायोगिक विनाश रूप परिणाम; यह सब जगत् का स्वभाव है। २ देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी आदि अवस्थाओं को जो बार-बार प्राप्त किया जाता है, इसी का नाम जगत् (संसार) है। उसमें प्राणी का इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, इच्छित वस्तु का अलाभ, दरिद्रता, दुर्भाग्य, दुष्ट विचार, वध, बन्धन, अभियोग और असमाधि रूप दुःखों का जो अनुभव होता है; यही जगत् का स्वभाव है।

जघन्य अन्तरात्मा—अविरयसम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिंदपयभत्ता। अप्पाणं णिंदंता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता॥ (कार्तिके. १९७)।

जो जिनेन्द्रचरणों के भक्त होते हुए गुण-ग्रहण में अतिशय अनुरक्त रहते हैं और आत्म-निन्दा से युक्त होते हैं ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टियों को जघन्य अन्तरात्मा कहा जाता है।

जघन्य अन्तर्मुहूर्त—आवल्युपरि एकः समयोऽधिको यदा भवति तदा जघन्योऽन्तर्मुहूर्तो भवति। (चारित्रप्रा. टी. १७)।

एक समय अधिक आवलीको जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

जघन्य अपहृतसंयम—प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य, स्वाधीनेतरज्ञान-चरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते × × × उपकरणान्तरेच्छया जीवान् परिपालयतो जघन्यापहृतसंयमः। (त. वा. ९, ६, १५; त. श्लो. ९-६; चा. सा., पृ. ३२)।

जो प्रासुक वसति और आहार मात्र बाह्य साधनों से युक्त होकर ज्ञान, चारित्र एवं अन्य आवश्यक क्रियाओं में उद्युक्त होता हुआ बाह्य जीवों का समागम होने पर मयूरपिच्छ से भिन्न अन्य उपकरण के द्वारा उनका संरक्षण करता है वह जघन्य अपहृत संयम वाला होता है।

जघन्यपद-अल्पबहुत्व—तत्थ अट्ठण्णं कम्माणं जहण्णदव्वविसयमप्पाबहुगं जहण्णपदप्पाबहुगं णाम। (धव. पु. १०, पृ. ३८५)।

आठ कर्मों के जघन्य द्रव्यविषयक अल्पबहुत्व को जघन्य-पद-अल्पबहुत्व कहते हैं।

जघन्यपदमीमांसा—अत्थ पंचण्हं सरीराणं जहण्णदव्वपरिक्खा कीरदि सा जहण्णपदमीमांसा। (धव. पु. १४, पृ. ३९७)।

जिस प्रकरण में पांच शरीरों के जघन्य द्रव्य की परीक्षा की जाती है उसका नाम जघन्यपदमीमांसा है।

जघन्य पात्र—१. जघन्यमुदितं पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः। (ह. पु. ७-१०९)। २. जघन्यं शीलवान् मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत्। (म. पु. २०, १४०; पुरु. च. ८-१८)। ३. अविरदसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं तु अक्खियं समये। (भावसं. दे. ४९८)। ४. कुमुदबान्धवदीधितिदर्शनो भवजरामरणार्तिविभीलुकः। कृतचतुर्विधसङ्घहितेहितो जननभोगशरीरविरिक्तधीः॥ भजति यो जिनशासनभासकः सततनिन्दन-गर्हणचञ्चुरः। स्व-परतत्त्वविचारणकोविदो व्रतविधाननिरुत्सुकमानसः॥ जिनपतीक्षिततत्त्वविचक्षणो विपुलधर्मफलेक्षणतोषितः। सकलजन्तुदयार्द्रितचेतनस्तमिह पात्रमुशन्ति जघन्यकम्॥ (अमित. श्रा. १०, ३१-३३)। ५. × × × व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्। (सा. ध. २-६७ टि.); × × × अधमम्। सुदृष्टिस्तु × × ×॥ (सा. ध, ५-४४)। ६. केवलं यस्य सम्यक्त्वं विद्यते न पुनर्व्रतम्। तज्जघन्यमिति प्राहुः पात्रं निर्मलबुद्धयः॥ (पू. उपासका. ४७)।

१ अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको जघन्य पात्र कहते हैं। २ शीलवान् मिथ्यादृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहलाता है।

जघन्यस्थितिसंक्रम—१. एक्का ठिई जहण्णो अणुदइयाणं निहयसेसा। (पंचसं. सं. क. ४३, पृ. ४८); एकस्याः स्थितेर्यः सङ्क्रमः स जघन्यसङ्क्रमः, अनुदयवतीनां तु या निहतशेषा जघन्या स्थितिः सा जघन्यसङ्क्रम इति। (पंचसं. सं. स्वो. वृ. क. ४३)। २. उदयवतीनां प्रकृतीनां समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ एकस्याः समयमात्रायाः स्थितेर्यः संक्रमः स जघन्यस्थितिसंक्रमः, अनुदयवतीनां पुनः प्रकृतीनां यो निहतशेषा स्थितिरुद्ध [द्व]रति, तस्याः संक्रमे जघन्यः स्थितिसंक्रमः। (पञ्चस. सं. क. ४३, पृ. ४९)।

१ उदयमें वर्तमान प्रकृतियों स्थिति में जो एक समय अधिक आवलीकालके शेष रह जाने पर एक समय प्रमाण वाली स्थिति के संक्रमण को जघन्य स्थितिसंक्रम कहते हैं, तथा उदय से रहित प्रकृतियों को घातने से शेष रही स्थिति के संक्रमण को जघन्य स्थितिसंक्रम कहते हैं।

जङ्गम प्रतिमा—मोक्षगमनकाले एकस्मिन् समये जिनप्रतिमा जंगमा कथ्यते। (व. प्रा. टी. ३५)।

मुक्तिगमन के काल में एक समय में अरिहन्तों की मूर्ति को जंगमप्रतिमा कहते हैं।

जङ्गलक्षेत्र—जगलक्षेत्रं नाम त्रसप्रचुरं खादीसमतदादि अन्येषां कर्म राष्ट्र (?) मरुविषय-पारियात्र-मालवादि, यत्र प्रचुरं पानीयं नास्ति। (प्रायश्चित्तस. टी. पृ. ४१६)।

त्रस जीवों से व्याप्त और प्रचुर जल से रहित क्षेत्र को जंगलक्षेत्र कहते हैं। जैसे—मारवाड़, पारियात्र और मालव आदि।

जङ्घाचारणा—१. चउरंगुलमेत्तमहिं छंडिय गयणम्मि कुडिलजाणु विणा। जं बहुजोयणगमणं सा जंघाचारणा रिद्धी॥ (ति. प. ४-१०३७)। २. अतिसयचरणसमत्था जंघाविज्जाहि चारणा मुणयो। जंघाहि जाति पढमो णीसं कातुं रविकरं वि॥ एगुप्पादेण गतो रुयगवरमितो ततो पडिणियत्तो। बितिएणं णंदीस्सरमिध ततो एति ततिएणं॥ पढमेण पंडगवणं बितिउप्पातेण णंदणं एति। ततिउप्पादेण ततो इध जंघाचारणो एति॥ (विशेषा.

७८२–८४; प्रव. सारो. ५९७–९९)। ३. भुव उपर्याकाशे चतुरङ्गुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेप-निक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताऽऽशुगमनप्रवणा जङ्घाचारणाः। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ९७)। ४. भूमीए पुढविकाइयजीवाणं वाहमकाऊण अणेगजोयणसयगामिणो जंघाचारणा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ८०)। ५. जङ्घाभ्यां क्षणार्द्धं योजनशतादिकमक्लेशेन गन्तारश्च जङ्घायां वा अग्रे तिर्यक्कृतायामपि चारणा अप्रतिहतगमनाः (जङ्घाचारणाः)। (प्रा. योगिभ. टी. २०, पृ. २०५)। ६. अपरे—भुव उपरि चतुरङ्गुलप्रमिते आकाशे जङ्घानिक्षेपोत्क्षेपनिपुणा जङ्घाचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १–९, पृ. ४१; प्रव. सारो. वृ. ६०१)। ७. तत्र ये चारित्र-तपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनविषयलब्धिविशेषास्ते जङ्घाचारणाः। (आव. नि. मलय. वृ. ७०; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २१–२७३, पृ. ४२५; नन्दी. मलय. वृ. १३, पृ. १०६)। ८. भूम्युपरि चतुरङ्गुलान्तरिक्षगमनं जङ्घाचारणत्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिसके प्रभाव से साधु पृथिवी से चार अंगुल ऊपर आकाश में घुटनों के मोड़े बिना बहुत योजन तक गमन करने में समर्थ होता है वह जंघाचारणा ऋद्धि कहलाती है। २ जघाचारण ऋषि रविकिरण को भी निःश्री (फीका) कर एक पांव से रुचकवर द्वीप में जाकर व दूसरे पांव से लौटकर नंदीश्वर द्वीप में आ जाता है, वही एक पांव से पाण्डुक वन में आकर दूसरे पांव से नन्दन वन में आ जाता है, फिर तीसरे पांव से अपने स्थान में आ जाता है; यह जंघाचारणा ऋद्धि का प्रभाव है।

जननी—जनयति प्रादुर्भावयत्यपत्यमिति जननी। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५७, पृ. ३८)।

सन्तान उत्पन्न करनेवाली स्त्री को जननी कहते हैं।

जनपद—१. देसस्स एगदेसो जणवओ णाम। जहा सूरसेण-गांधार-कासी-आवंतिआदओ। (धव. पु. १३, पृ. ३३५)। २. जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः। (नीतिवा. १९–५, पृ. १९१)।

१ देश का एक देश जनपद कहलाता है। जैसे—सूरसेन, गान्धार, काशी और अवंती आदि। २ वर्णाश्रम रूप जनका अथवा द्रव्य की उत्पत्ति का जो पद (स्थान) है उसे जनपद कहा जाता है।

जनपदसत्य—१. जनपदसच्चं जध ओदणादि य वुच्चदि य सव्वभासेण। (मूला. ५–११२)। २. तत्थ जणवयसच्चं नाम जहा एगम्मि चेव अभिधेए अत्थे अणेयाणं जणवयाणं विप्पडिवत्ति भवति, ण च तं असच्चं भवति। (दशवै. चू. पृ. २३६)। ३. द्वात्रिंशज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपदसत्यम्। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. १, पृ. ११८; चा. सा. पृ. २९)। ४. जनपदसत्यं नाम नानादेशभाषारूपमप्यविप्रतिपत्त्या यदेकार्थप्रत्यायनव्यवहारसमर्थमिति। (दशवै. हरि. वृ. २७३, पृ. २०८)। ५. यदार्यानार्यनानात्वनानाजनपदेष्विह। चतुर्वर्गकरं वाक्यं सत्यं जनपदाश्रितम्॥ (ह. पु. १०–१०४)। ६. नानाजनपदप्रसिद्धा सुसंकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्यम्। (भ. आ. विजयो. ११९३)। ७. नानाजनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु यद्वचः। धर्मार्थ-काम-मोक्षादिस्वरूपोपायदेशकम्। प्रत्येकं नियतं सत्यं स्यात्तु जनपदाश्रयम्। धर्मोदयात्मका राजा राणेत्यादि वचो यथा॥ (आचा. सा. ५, ३५–३६)। ८. भक्तसि भक्ते चोर इति व्यपदेशो जनपदसत्यम्। (अन. ध. स्वो. टी. ४–४७)। ९. जनपदसत्यं नानादेशप्रसिद्धवचनम्। (भ. आ. मूला. ११९३)। १०. जनपदे तत्र तत्र देशे व्यवहर्तृ जनानां रूढं यद्वचः तज्जनपदसत्यम्। (गो. जी. मं. प्र, व जी. प्र. टी. २२३)।

१ सब भाषाओं में जो ओदन (भात) आदि का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा निर्देश किया जाता है, यह जनपदसत्य कहलाता है। जैसे—द्रविड़ भाषा में चोर, कर्णाटक में कूल और गौड भाषा में भक्त आदि। २ कहने योग्य किसी एक ही अर्थ के विषय में अनेक जनपदों में विरोध के दिखते हुए भी वह असत्य नहीं होता। ३ आर्य-अनार्य के भेदभूत बत्तीस जनपदों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रापक वचन को जनपदसत्य कहा जाता है।

जन्तु—चउगइसंसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू। (धव. पु. १, पृ. १२०); चतुर्गतिसंसारे आत्मानं जनयति जायते इति वा जन्तुः। (धव. पु. ९, पृ. २२१)।

१ चतुर्गतिस्वरूप संसार में जो अपनेको उत्पन्न करता है या उत्पन्न होता है उसका नाम जन्तु है।

जन्तुवध—जन्तुवधः आत्मनोऽन्येन वा पुरतो जीववधो यदि क्रियते (तदा जन्तुवधनामान्तरायः)। (मूला. वृ. ६–७७)।

आहार करते समय यदि अपने सामने अपने या दूसरे के द्वारा प्राणी का घात किया जाता है तो वह जीववध नाम का अन्तराय होता है।

जन्म—१. प्राणग्रहणं जन्म। (भ. आ. २५)। २. केवलेन शुभकर्मणा केवलेनाशुभकर्मणा मायया शुभाशुभमिश्रेण देव-नारक-तिर्यङ्मनुष्यपर्यायेषूत्पत्तिर्जन्म। (नि. सा. वृ. ६)। ३. जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पत्तिः। (रत्नक. टी. ६)।

२ केवल शुभ कर्म, केवल अशुभ कर्म, माया और शुभाशुभ मिश्र कर्म; इनके द्वारा क्रमशः देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्यों में जो उत्पत्ति होती है उसका नाम जन्म है।

जम्बूद्वीप – १. माणुसजगबहुमज्झे विक्खादो होदि जंबुदीओ त्ति। एक्कजोयणलक्खविक्खंभजुदो सरिसवट्टो ॥ (ति. प. ४–११)। २. तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः। (त. सू. ३–९)। ३. कथं जम्बूद्वीपः? जम्बूवृक्षोपलक्षितत्वात्। उत्तरकुरूणां मध्ये जम्बूवृक्षोऽनादिनिधनः पृथिवीपरिणामोऽकृत्रिमः सपरिवारस्तदुपलक्षितोऽयं द्वीपः। (स. सि. ३–९)। ४. प्रतिविशिष्टजम्बूवृक्षासाधारणाधिकरणत्वाज्जम्बूद्वीपः। (त. वा. ३, ७, १; त. श्लो. ३–७); अयं हि द्वीपः प्रतिविशिष्टस्य जम्बूवृक्षस्य सपरिवारस्यासाधारणाधिकरणत्वं बिभर्ति, नान्ये धातकीखण्डादयो द्वीपास्ततोऽस्य साहचर्यात् जम्बूद्वीप इति संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ता। (त. वा. ३, ७, १)। ५. तत्रैवास्मिन्नसंख्येयसागर-द्वीपवेष्टितः। जम्बूद्वीपः स्थितो वृत्तो जम्बूपादपलक्षितः। (ह. पु. ५, २)। ६. जंबूजोयणलक्खो वट्टो तद्दुगुणदुगुणवासेहिं ॥ (त्रि. सा. ३०८)।

१ मनुष्यलोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला समान गोल जम्बूद्वीप है। ३ उत्तर कुरुक्षेत्रों के मध्य में पृथिवीस्वरूप अनादिनिधन जम्बूवृक्ष स्थित है। उससे उपलक्षित होने से उसका जम्बूद्वीप यह सार्थक नाम है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—१. जंबूदीवपण्णत्ती तिण्णिलक्ख-पंचवीसपदसहस्सेहिं ३२५००० जंबूदीवे णाणाविहमणुयाणं भोग-कम्म-भूमियाणं अण्णेसिं च पव्वद-दह-णइ-वेइयाणं वस्सावासाकट्टिमजिणहरादीणं वण्णणं कुणइ। (धव. पु. १, पृ. ११०); जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ पंचविंशतिसहस्राधिकत्रिशतसहस्रपदायां ३२५००० वर्षधर-वर्षा ह्रद-चैत्य-चैत्यालय-भरतैरावतगतसरित्संख्याश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. २०६-७)। २. जंबूदीवपण्णत्ती जंबूदीवगय-कुलसेल-मेरु-दह-वस्स-वेइया-वणसंड-वेंतरावास-महाणइयाईणं वण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १३३)। ३. पंचविंशतिसहस्र-लक्षत्रयपदपरिमाणा जम्बूद्वीपस्य अखिलवर्ष-वर्षधरादिसमन्वितस्य प्ररूपिका जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः। (श्रुतभ. टी. ९)। ४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः जम्बूद्वीपगतमेरु-कुलशैल-ह्रद-वर्ष-वेदिका-वनखण्ड-व्यन्तरावास-महानद्यादीनां वर्णनं करोति। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३६१)। ५. जम्बूद्वीपवर्णनाकथिका पंचविंशतिसहस्राधिकत्रिलक्षपदप्रमाणा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ६. जंबूदीवे मेरु एक्को कुलसेलछक्क वणसंडा। छव्वीसं वीसं च दहाधि य वीसं वक्खारणग वस्सा। चोत्तीसं भोगधरा छक्कं वेंतरसुराणमावासा। जंबूसालमलिरुक्खा विदेउ चारि णाहिगिरी ॥ सुण्णणव सुण्णदुगणवसत्तरअंककमेण णईसंखा। वण्णेदि जंबुदीवा पण्णत्ती पयाणि जत्थत्थि ॥ (अंगप. १, ५-७, पृ. २७५)।

१ जिसमें जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य तथा दूसरे (तिर्यंचादि) जीवों का; तथा पर्वत, द्रह, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास और अकृत्रिम चैत्यालय आदि का वर्णन किया गया हो उसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति कहते हैं।

जय—स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः। (प्रमाणमी. २, १, ३१)।

अपने पक्ष की सिद्धि को जय कहते हैं।

जया — पूर्वापरविरोधपरिहारेण विना तंत्रार्थकथनं जया। (धव. पु. ६, २५२)।

पूर्वापरविरोध का परिहार न करके केवल सिद्धान्त के अर्थ का कथन करना, यह जया नाम की व्याख्या कहलाती है।

जरा—१. जरा वयोहानिलक्षणा। (ललितवि. पृ. १०१; पंचसू. हरि. वृ. पृ. ११; श्रा. प्र. टी. ३६०; आव. नि. हरि. वृ. ३४१ व ५६६; प्र. व्या. मु. वृ. ८-३५; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१, पृ. १; सूर्यप्र. मलय. वृ. २-१०८, पृ. २९७)। २. जीर्यन्ति विनश्यन्ति रूप-वयोबलप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थायां प्राणिनः सा जरा। (भ. आ. विजयो. ७१)। ३. तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा। (नि. सा. वृ. ६)।

१ आयु की हानि को जरा (वृद्धत्व) कहा जाता है। २ जिस अवस्था में प्राणी के रूप, वय (उम्र) और बल आदि गुण क्षीणता को प्राप्त होते हैं उसे जरा कहते हैं।

जरायिक — जरायिकाः जालवत्प्राणिपरिवरणं विततमांस-रुधिरं जरायुः कथ्यते, तत्र कर्मवशादुत्पत्त्यर्थमाय आगमनं जरायः, जरायुरेव जरः तत्र आयः जरायः, जरायो विद्यते येषां ते जरायिकाः पृष्ठोदरादित्वात् युलोपः गो-महिषी-मनुष्यादयः सावरणजन्मानः। (त. वृत्ति श्रुत. २-१४)।

जो विस्तृत मांस व रुधिर प्राणी को जाल के समान वेष्टित करता है उसका नाम जरायु—जर है, इस जरायु में कर्मवश जीव का जो आय—आगमन—होता है वह जराय कहलाता है, वह जराय जिन जीवों के हुआ करता है वे जरायिक कहे जाते हैं। जैसे—गाय, भैंस और मनुष्य आदि।

जरायु—यज्जालवत् प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुः। (स. सि. २-३३; त. वा. २, ३३, १; गो. जी जी. प्र. टी. ८४)।

गर्भ में प्राणी के शरीर को आच्छादित करने वाला जो विस्तृत रुधिर और मांस रहता है उसे जरायु कहते हैं।

जरायुज—देखो जरायिक। १. जरायौ जाता जरायुजाः। (स. सि. २-३३; त. वा. २, ३३, ३; त. श्लो. २-३३)। २. यत्प्राणिनामानायवत् जालवत् आवरणं प्रविततं पिशितरुधिरं तद्वस्तु वस्त्राकारं जरायुः, ××× जरायौ जाता जरायुजाः। (त. वृत्ति श्रुत. २-३३)।

१ जरायु में जो उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं।

जलगता चूलिका—१. तत्थ जलगया दोकोडि-णवलक्ख-एऊणणवुइसहस्स-वेसदपदेहि २०९८९२०० जलगमण - जलत्थंभणकारणमंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११३); जलगतायां द्विकोटि - नवशतसहस्र-कान्नवतिसहस्र-द्विशतपदायां २०९८९२०० जलगमनहेतवो मंत्रौषध-तपोविशेषा निरूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. २०९)। २. तत्थ जलगया जलत्थंभण-जलगमणहेदुभूदमंत-तंत-तवच्छरणं [illegible] अग्गित्थंभण-भक्खण-[illegible]वणादिकारणपओए च वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३९)। ३. तत्र कोटिद्वय - नवलक्षैकोननवतिसहस्र-शतद्वयपदपरिमाणा जलगमन-स्तम्भनादिहेतूनां मंत्र-तंत्र-तपश्चरणानां प्रतिपादिका जलगता। (श्रुतभ. टी. ९)। ४. तत्र जलगता जलस्तम्भन-जलगमनाग्निस्तम्भन-भक्षणासन-प्रवेशनादिकारणमंत्र-तंत्र तपश्चरणादीनि वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. टी. ३६२)। ५. तत्र जलगता चूलिका जलस्तम्भन-जलगमनाग्निस्तम्भनाग्निभक्षणाग्न्यासनाग्निप्रवेशनादिकारणमंत्र-तंत्र-तपश्चरणादीन् वर्णयति। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३६२)। ६. जलस्तम्भन-जलवर्षणादिहेतुभूतमंत्रतंत्रादिप्रतिपादिका द्विशताधिकनवाशीतिसहस्रनवलक्षाधिकद्विकोटिपदप्रमाणा जलगता चूलिका। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ७. जलथंभणजलगमणं वण्णदि वण्हिस्स भक्खण जं॥ वेसण-सेवण-मंतं तंतं तवचरणपमुहविहिभेए। णह णह दुग णव अड णव णह कुण्णिपयाणि पंककमे॥ (अंगप. ३, १-२, पृ. ३०३)।

१ जिसमें जलमें गमन और जलस्तम्भन के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण आदि का वर्णन होता है उसे जलगता चूलिका कहते हैं। उसमें २०९८९२०० पद होते हैं।

जलचारण—१. अविराहियप्पुकाए जीवे पदखेवेहि जं जादि। थावेदि जलहिमज्झे स च्चिय जलचारणा रिद्धी॥ (ति. प. ४-१०३६)। २. जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवान् अविराधयन्तः भूमाविव पादोद्धार-निक्षेपकुशला जलचारणाः। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ९७)। ३. भूमीए इव जलकाइयजीवाणं पीडमकाऊण जलमफुसंता जहिच्छाए जलगमणसमत्था रिसओ जलचारणा णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७९)। ४. जल-

मुपेत्य वापी-निम्नगा-समुद्रादिष्वप्कायिकजीवानविराधयन्तो जले भूमाविव पादोत्क्षेप निक्षेपकुशला जलचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १–९; प्रव. सारो. वृ. ६०१)। ५. जलमस्पृश्य जलोपरि गमनं जलचारणत्वम् : (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिसके प्रभाव से जलकायिक जीवों की विराधना न करके पांवों को उठाते-रखते हुए समुद्र के मध्य में दौड़ सकता है वह जलचारण ऋद्धि कहलाती है।

जलूका (जलौकस्) समान शिष्य—१. जलुगा व अदूमेंतो पिबइ सुसीसो वि सुयनाणं ॥ (विशेषा. १४७८)। २. यथा जलौकाः शरीरमदून्वती रुधिरमाकर्षति तथा शिष्योऽपि योऽदून्वन् श्रुतज्ञानमापिबति स जलूकासमानः। उक्तं च –"जलुगाव तम (अ) दूमितो, पियइ सुसीसोऽवि सुयनाणं।" (आव. मलय. वृ. १३६, पृ. १४४)।

२ जैसे जोंक शरीर को पीड़ा नहीं देती हुई रक्त को पीती है, उसी प्रकार जो शिष्य गुरु को कुछ भी पीड़ा नहीं देते हुए श्रुतज्ञान को ग्रहण करता है उसे जलूका समान शिष्य कहते हैं।

जल्प—१. साध्ये परतिरस्कारो जल्पः ××× । (प्रमाणसं. ५५)। २. समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः। (सिद्धिवि. ५–२)।

१ साध्य के विषय में दूसरे को तिरस्कृत करना, इसका नाम जल्प है। २ वादी, प्रतिवादी, प्राश्निक और परिषत् इन चार बल रूप अंग वाले अथवा चार अवयवों वाले समर्थ वचन को जल्प कहा जाता है।

जल्ल—देखो मलपरीषह। १. स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्लः। (त. वा. ३, ३६, ३)। २. जल्लो अंगमलो बाहिरो। (धव. पु. ९, पृ. ९६)। ३. जल्ल—घनीभूतमुपर्युपरि प्रचितं शरीरमलं जल्ल इत्युच्यते। (भ. आ. विजयो. ९५)। ४. जल्लं कठिनतापन्नं मलम्, उपलक्षणत्वात् पङ्क-रजसी च। कायेन शरीरेण धारयेत्। ××× मम तु सम्यक् सहमानस्य महान् गुण इति मत्वा न तदपनयनाय स्नानादि कुर्यात्। (उत्तरा. शा. वृ. २–३७, पृ. १२३)। ५. जल्लं सर्वांगप्रच्छादकं मलम्। (मूला. वृ. १ ३१); जल्ल—सर्वांगीणं मलमस्नानादिजनितप्रस्वेदाद्युद्भवा पीडा। (मूला. वृ. ५–५८)। ६. जल्ल इति मलः स एव परीषहो जल्लपरीषहः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ८६, पृ. ८३)। ७. जल्लः शरीर-वस्त्रादिमलः। (समवा. अभय. वृ. २२, पृ. ३९)। ८. सर्वाङ्गमलो जल्लः। (योगिभ. टी. १३)। ९. जल्ल—घनीभूतमुपर्युपरि शरीरमलं जल्लः, सर्वाङ्गीणमलो वा जल्लः। (भ. आ. मूला. ९५)।

१ पसीने के आश्रय से जो धूलि का समूह संलग्न होता है उसका नाम जल्ल है। ४ कठिनता को प्राप्त हुए मल का नाम जल्ल है। इसको शरीर में धारण करना—उसे दूर करने के लिए स्नान आदि न करना, इसे जल्लपरीषहजय कहते हैं।

जल्लौषधि—१. सेयजलो अंगरयं जल्लं भण्णेत्ति जीए तेणावि। जीवाण रोगहरणं रिद्धी जल्लोसही णामा ॥ (ति. प. ४–१०७०)। २. स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्लः, स औषधिप्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ताः। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ९९)। ३. जल्लो अंगमलो बाहिरो, सो ओसहित्तं पत्तो जेसि तवोबलेण ते जल्लोसहिपत्ता। (धव. पु. ९, पृ. ९६)। ४. जल्लो मलः, स औषधिर्यस्य स तथा। (आव. मलय. वृ. ६९, पृ. ७८)।

२ जल्ल का अर्थ पसीने के आश्रय से संचित धूलिसमूहरूप मल है। जिस महर्षि का वह मल औषधि को प्राप्त है—रोग को दूर करने वाला है—वह जल्लौषधि ऋद्धि का धारक होता है।

जातकल्प—जातकल्पनाम यो गीतार्थः सूत्रार्थतदुभयकुशलः। (व्यव. मलय. वृ. ४–१६)।

सूत्र, अर्थ और उभय के पारगामी गीतार्थ साधु को जातकल्प कहते हैं।

जाति—१. तासु नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः। (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, २; भ. आ. मूला. २०९६; त. वृत्ति श्रुत. ८–११)। २. अव्यभिचारी सादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः। (त. वा. ८, ११, २; त. श्लो. ८–११)। ३. तत्र मिथ्योत्तरं जा(आ)तिः यथाऽनेकान्तविद्विषाम्॥ (प्रमाणसं. ५५; न्या. वि. २–२०३)। ४. जातिः मातृसमुत्था। (आव. नि. हरि. वृ. ८३१)। ५. तत्थ जाई तब्भवसारिच्छलक्खणसामण्णं। (धव. पु. १, पृ. १७); वेदणादिसमाणपरिणामो जाई णाम। (धव. पु. ३, पृ. २५०); जातिर्जीवानां सदृशपरिणामः। (धव. पु.

६, पृ. ५१); जादी णाम सरिसप्पच्चयगेज्झा । (धव. पु. १३, पृ. ३६३) । ६. मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिधीयते । (म. पु. ३९–८५) । ७. साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः [न्यायसू. १, २, १८] । (सिद्धिवि. टी. ५–२, पृ. ३१८, पं. २) । ८. याचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम् । न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥ संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया । विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥ (धर्मप. १७–२४ व २६) । ९. प्रमाणोपपन्ने साध्ये धर्मे यस्मिन् मिथ्योत्तरं—भूतदोषस्योद्भावयितुमशक्यत्वेनासद्दूषणोद्भावनं सा जातिरिति । (न्यायवि. विव. २–२०३, पृ. २३३)। १०. मातृपक्षो जातिः । (व्यव. मलय. वृ. १–३३६, पृ. १६) ।

१ नरकादि गतियों में जिस निर्बाध सदृशता के द्वारा अनेक पदार्थों में एकरूपता होती है उसे जाति कहा जाता है । ३ मिथ्या उत्तर देने का नाम जाति है । ४ माता के वंश से जाति का प्रादुर्भाव होता है । ५ तद्भव सादृश्यरूप सामान्य का नाम जाति है ।

जातिकथा—ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमाया या प्रशंसा निन्दा वा सा जात्या जातेर्वा कथेति जातिकथा । यथा—धिग् ब्राह्मणीर्धवाभावे या जीवन्ती मृता इव । धन्या मन्ये जने शूद्रीः पतिलक्षेऽप्यनिन्दिताः ॥(स्थाना. अभय. वृ. ४–२८२, पृ. १९९) ।

ब्राह्मण व क्षत्रिय आदि जातिविशेष में उत्पन्न हुई किसी एक स्त्री की निन्दा या प्रशंसा करने को जातिकथा कहते हैं । जैसे—उन ब्राह्मणियों को धिक्कार है जो पति के अभाव में मरे हुए के समान जीती हैं । मैं तो उन शूद्र स्त्रियों को धन्य समझता हूं जो लाख पतियों के रहने पर भी अनिन्दित रहती हैं ।

जातिनाम—१. तन्निमित्तं (जातिनिमित्तं) जातिनाम । (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, २) । २. जातिनाम यदुदयादेकेन्द्रियादिजात्युत्पत्तिः । (श्रा. प्र. टी. २०; धर्मसं. मलय. वृ. ६१७) । ३. जातिनाम पंचविधमेकेन्द्रियजातिनामादिकारणम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६३) । ४. जत्तो कम्मक्खंधादो जीवाणं भूओ सरिसत्तमुप्पज्जदे तो कम्मक्खंधो जादिणाम । (धव. पु. ६, पृ. ५१); एइंदिय-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदियभावणिव्वत्तयं जं कम्मं तं जादिणामं । (धव. पु. १३, पृ. ३६३)। ५. इग-दुय-तिय-चउरिंदियजाई पंचिंदिया य पंचमिया । खयउवसमिए भावे हुंति हु एया जओ भाइ ॥ (कर्मवि. ग. ८६)। ६. जातिनाम यदुदयादेकेन्द्रियादिर्भवति । (समवा. अभय, वृ. ४२, पृ. ६३) । ७. जननं जातिरेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेश्येन पर्यायेण जीवानामुत्पत्तिः, तद्भावनिबन्धनभूतं नाम जातिनाम । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८५) । ८. जायते जन्यते वा जातिरेकेन्द्रियादिका, यदुदये एकेन्द्रियादिकत्वं भवति जीवस्य तदेकेन्द्रियनाम । (कर्मवि. पू. व्या. ७१) । ९. तथा एकेन्द्रियादीनामेकेन्द्रियत्वादिरूपसमानपरिणामलक्षणमेकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेशभाक् यत्सामान्यं सा जातिस्तज्जनकं नाम जातिनाम । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४६८) ।

१ अव्यभिचारी सादृश्यस्वरूप जाति के निमित्तभूत कर्म को जातिनामकर्म कहा जाता है । २ जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय आदि जाति में उत्पन्न होता है उसे जातिनामकर्म कहते हैं ।

जातिब्राह्मण—तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः । (म. पु. ३८–४३) ।

तप और शास्त्रज्ञान से रहित ब्राह्मण को जातिब्राह्मण—जन्मतः ब्राह्मण—कहा जाता है,कर्म से नहीं।

जातिविद्या—सगमादुपलद्धाओ लद्धविज्जाओ जादिविज्जाओ णाम । (धव. पु. ९, पृ. ७७) ।

माता के पक्ष (वंश) से प्राप्त होने वाली विद्यायें जातिविद्यायें कहलाती हैं ।

जातिस्थविर—१. षष्ठिवर्षजातो जातिस्थविरः । (व्यव. मलय. वृ. १०–७४६) । २. जातिस्थविराः षष्ठिवर्षप्रमाणाः । (आव. नि. मलय. वृ. १७६, पृ. १९१) ।

१ साठ वर्ष के वृद्ध को जातिस्थविर कहते हैं ।

जातिजुङ्गित—जातिजुङ्गितो नीचजातिः कारुकोऽन्त्यजो वा पितृ-मातृशुद्धिविवर्जितो वेश्या-दास्यादितनयः । (आ. दि. १, पृ. ७४) ।

शिल्पी और अन्त्यज (भंगी आदि) नीच जाति तथा माता-पिता की शुद्धि से रहित वेश्या और दासी आदि से उत्पन्न सन्तान को जुङ्गित कहते हैं ।

जात्यार्य—१. जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बष्ठाः ज्ञाताः कुरवो बुंबुनाला उग्रा भोजा

राजन्या इत्येवमादयः। (त. भा. ३–१५)। २. इक्ष्वाकु-ज्ञाति-भोजादिषु कुलेषु जाताः जात्यार्याः। (त. वा. ३, ३६, २)। ३. इक्ष्वाकवो ज्ञातहरिविदेहाः कुरवोऽपि च। उग्रा भोजा राजन्याश्च जात्यार्या एवमादयः। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ६७४)।

१ इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न, विदेह देश में उत्पन्न, हरिवंशोत्पन्न, अम्बष्ठ नाम के देश में उत्पन्न, ज्ञातृवंशोत्पन्न, कुरुवंशज, बुंबुनाल, उग्रवंशीय, भोजवंशीय और क्षत्रिय इत्यादि जात्यार्य कहलाते हैं।

जानुव्यतिक्रम— जानुदघ्नतिरश्चीनकाष्ठाद्युपरिलङ्घनम्। जानुव्यतिक्रमः × × ×॥ (अन. ध. ५–४७)।

जानु के बराबर आड़े पड़े हुए काष्ठ व पाषाण आदि को लांघ करके आहार के लिए जाना, इसे जानुव्यतिक्रम अन्तराय कहते हैं।

जान्वधःपरामर्श—स्याज्जान्वधःपरामर्शः स्पर्शो हस्तेन जान्वधः। (अन. ध. ५–४६)।

आहार के समय सिद्धभक्ति करने के पश्चात् हाथ से जानु से नीचे के भाग के स्पर्श करने को जान्वधःपरामर्श अन्तराय कहते हैं।

जाहकसमान शिष्य—जाहकः तिर्यग्विशेषः, तदुदाहरणभावना—यथा जाहकः स्तोकं स्तोकं क्षीरं पीत्वा पार्श्वाणि लेढि, तथा शिष्योऽपि पूर्वगृहीतं सूत्रमर्थं वा प्रतिपरिचितं कृत्वा अन्यत् पृच्छति स जाहकसमानः। (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४४)।

जैसे जाहक (साही या सेही) थोड़ा-थोड़ा दूध पीकर आजू-बाजू के भागों को चाटती है, उसी प्रकार जो शिष्य गुरु से उपदिष्ट सूत्र और अर्थ को ग्रहण कर उसे अच्छी तरह स्मरण करके पुनः आगे के सूत्र और अर्थ को गुरु से पूछता है, उसे जाहक समान शिष्य कहते हैं।

जिगीषु—स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधन-दूषणाभ्यां परं पराजेतुमिच्छुर्जिगीषुः। (प्र. न. त. ८-३)।

अपने स्वीकृत धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए अपने पक्ष के साधक प्रमाणों से तथा विपक्ष को बाधा पहुंचाने वाले दूषणों से विपक्षी को जीतने के इच्छुक वादी को जिगीषु कहते हैं।

जिघ्रास मरण—प्राणनिरोधं कृत्वा मरणं जिघ्रासमरणम्। (भ. आ. मूला. २५)।

नाक बन्द करके—श्वास को रोक कर—मरने को जिघ्रासमरण कहते हैं।

जित—नैसर्ग्यवृत्तिर्जितम्, जेण संसकारेण पुरिसो भावागमम्मि अक्खलिओ संचरइ तेण संजुत्तो पुरिसो तब्भावागमो च जिदमिदि भण्णदे। (धव. पु. ६, पृ. २५२); पडिक्खलणेण विणा संचरणट्ठए समविसए संचरमाणो कविमणिपोगो जिदं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६८); जो पवगयमत्थं खणि खणि चिंतऊण वोत्तुं समत्थो सो जिदं णाम सुदणाणं। (धव. पु. १४, पृ. ८)।

स्वाभाविक वृत्ति का नाम जित है, अर्थात् जिस संस्कार से पुरुष भावागम में निर्बाध गति से संचार करता है उससे युक्त वह पुरुष और वह भावागम भी जित कहलाता है।

जितमोह—जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं। तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति। (समयप्रा. ३७)।

जो मोह को जीत करके ज्ञायक स्वभाव से अधिक—उससे परिपूर्ण—आत्मा का अनुभव करता है उस साधु को जितमोह कहते हैं।

जितेन्द्रिय—१. जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं। तं खलु जिदिंदिय ते भणंति जे णिच्छिदा साहू॥ (समयप्रा. ३६)। २. जितेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना। गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते॥ (उपासका. ८५८)।

१ जो इन्द्रियों को जीत कर ज्ञानस्वभाव से अधिक—तत्स्वरूप—आत्मा को जानता है उसे जितेन्द्रिय कहते हैं।

जिन—१. जिदकोह-माण-माया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति। (मूला. ७–६४; आव. नि. १०७६। २. राग-द्वेष-कषायेन्द्रिय-परीषहोपसर्गाष्टप्रकारकर्मजेतृत्वाज्जिनाः। (आव. सू. हरि. वृ. २–१, पृ. ४९४; मलय. वृ. पृ. ५९२)। ३. तत्र राग-द्वेष-कषायेन्द्रिय-परीषहोपसर्ग-घातिकर्मजेतृत्वाज्जिनाः। (ललितवि. पृ. ५६; दशवै. नि. हरि. वृ. १–१४)। ४. तथा रागादिजेतारो जिनाः। (ललितवि. पृ. ९०)। ५. जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः।

हतमोहमहामल्लः केवलज्ञान-दर्शनः ॥ सुरासुरेन्द्रसंपूज्यः सद्भूतार्थोपदेशकः । कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संप्राप्तः परमं पदम् ॥ (बृह. स. ४५–४६) । ६. रागादिजेतृत्वाज्जिनः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १२) । ७. जि जये, अस्य औणादिक-नकप्रत्ययान्तस्य जिन इति भवति, रागादिजयाज्जिन इति । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६) । ८. इति ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मेन्धनचयो जिनः । बभावुद्भूतकैवल्यविभवो विश्वबोद्भवः ॥ (म. पु. २०–६६) । ९. आवरण-मोहजयाज्जिनाः । (भ. आ. विजयो. १) । १०. राग-द्वेषादयो येन जिता कर्म-महाभटाः । कालचक्र-विनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्तितः ॥ (आप्तस्व. ३१) । ११. काम-क्रोधादिदोषजयेनाऽनन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः । (बृ. द्रव्यसं. १४) । १२. जियकोहो जियमाणो जियमायालोह जियमयणो । जियमच्छरो य जम्हा तम्हा णामं जिणो उत्तो ॥ (धर्मर. १३५) । १३. अनेकभवगहनविषयव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः । (पंचा. का. जय. वृ. १, पृ. ४)। १४. अनेकजन्माटवीं प्रापणहेतून् समस्तमोह-रागद्वेषादीन् जयतीति जिनः । (नि. सा. वृ. १) । १५. जयति रागद्वेषमोहस्वरूपानन्तरङ्गान् रिपूनिति जिन इति । (ष. वि. मु. वृ. १–१) । १६. रागादिजेतृत्वाज्जिनः । (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४) । १७. जयन्ति रागादिशत्रूनभिभवन्ति जिनाः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–१, पृ. ३); जिना जितरागादिशत्रवः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३६–३४७, पृ. ६०५ । १८. साकल्येनैकदेशेन कर्मारातिजितो जिनाः । (प्रतिष्ठासा. १–१) । १९. रागादिशत्रून् जयति स्म (इति) जिनः । (जीवाजी. मलय. वृ. १–१) । २०. जिनोऽनेकविषमभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः । (भावप्रा. टी. १५१; जिनसह. श्रुत. वृ. १–१) । २१. स्वभावज्ञानसामर्थ्यविहिताऽतिशयान्वितः । प्रातिहार्यैरनन्तादिचतुष्केन युतो जिनः । (धर्मसं. श्रा. १०–११४) । २२. × × × जिनः कर्मारिघातनात् । (लाटीसं. ४–१३१; पंचाध्या. २–६०९) ।

१ जिन्होंने क्रोधादि कषायों को जीत लिया है वे जिन कहलाते हैं ।

जिनकल्प, जिनकल्पिक — जितराग-द्वेष-मोहा उपसर्ग-परीषहारिवेगसहाः जिना इव विहरन्ति इति जिनकल्पिकाः । (भ. आ. विजयो. १५५, पृ. ३५६)। २. सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥ जत्थ ण कंटयभग्गो[ग्गे] पाये णयणम्मि रयपविट्ठम्मि । फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥ जलवरिसणवायाई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं । अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥ एयारसंगधारी एआई धम्म-सुक्कझाणी य । चत्तासेसकसाया मोणवई कंदरावासी ॥ बहिरंतरगंथचुया णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो । जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥ (भावसं. दे. ११९–२३) ।

१ राग, द्वेष व मोह के विजेता होकर उपसर्ग और परीषहों के सहन करने वाले जो साधु जिनदेव के समान विहार करते हैं उन्हें जिनकल्पिक कहते हैं । २ जिनकल्प उत्तम संहनन धारी के होता है । इस जिनकल्प में स्थित मुनि जन कांटे से पांव के विध जाने पर उसे स्वयं नहीं निकालते, दूसरे के द्वारा निकाले जाने पर मौन धारण करते हैं, वर्षा के पात या झंझावात के कारण गमन के भग्न होने पर छह मास तक कायोत्सर्ग के साथ निराहार रहते हैं, ग्यारह अंगों के वे धारक होते हैं, धर्म व शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं, कषायों से रहित होते हुए मौनव्रती होते हैं, गुफाओं में निवास करते हैं, तथा निःस्पृह रहते हुए बाह्य व अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित होते हैं ।

जिनदेव—१. सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च । सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥ धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता । देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ (बोधप्रा. २४–२५) । २. निःशेषदोषनिर्मुक्तो मुक्ति-कान्तास्वयम्वरः । लोकालोकोल्लसज्ज्ञानो देवोऽस्तीह जिनेश्वरः ॥ (जिनद. च. ४–८५) । ३. कल्याणातिशयैराढ्यो नवकेवललब्धिमान् । समस्थितो जिनो देवः प्रातिहार्यपतिः स्मृतः । (आप्तस्व. ५८) । ४. क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः । (नीतिवा. २५, ६६) । ५. विरागकेवलालोकविलोकितजगत्त्रयः । परमेष्ठी जिनो देवः सर्वगीर्वाणवन्दितः ॥ (अमित. १८–७३, पृ. २५८) । ६. णिद्दा-विसायहीणो जो

सुर-असुरेहि पूजिदो णाणी। अट्ठकम्मरहिदो सो देवो तिहुयणे सयलो॥ जो कल्लाणसमग्गो अइसय-चउतीसभेदसंपुण्णो। वरपाडिहेरसहिदो सो देवो होदि सव्वण्हू॥ (जं. दी. प. १३, ८७–८८)। ७. दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो। (नि. सा. वृ. ६ उद्.)। ८. निर्विकल्पश्चिदानन्दः परमेष्ठी सनातनः। दोषातीतो जिनो देवः ××× ॥ (रत्नमाला. ७)। ९. दोषो रागादिचिद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत्। तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते॥ (पंचाध्या. २–६०३; लाटी-सं. ४–१२५)।

१ जो धर्म, अर्थ, काम और ज्ञान को देता है वह देव कहलाता है। जिसके पास अर्थ, धर्म और सर्वसंग परित्यागस्वरूप प्रव्रज्या है वही इनको दे सकता है। ऐसा देव—जिन देव—मोह से रहित (वीतराग) होता हुआ भव्य जीवों के अभ्युदय—इस लोक सम्बन्धी उत्कृष्ट सुख के साथ मुक्ति-सुख—का कारण होता है। ३ जो कल्याणरूप अतिशयों से सम्पन्न होकर केवलज्ञान-दर्शनादि रूप नौ केवललब्धियों से विभूषित होता हुआ आठ प्रतिहार्यों से अधिष्ठित होता है उसे देव माना गया है।

जिनमुद्रा—१. दढसंजममुद्दाए इंदियमुद्दा कसाय-दढमुद्दा। मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया॥ (बोधप्रा. १९)। २. चत्तारि अंगुलाइं पुरओ ऊणाइं जत्थ पच्छिमओ। पायाणं उस्सग्गो एसा पुण होइ जिणमुद्दा॥ (चैत्यवं. १६)। ३. चतुरङ्गुलमग्रतः पादयोरन्तरं किञ्चिन्न्यूनं च पृष्ठ-तः कृत्वा समपादकायोत्सर्गेण जिनमुद्रा। (निर्वाणक. १६, ९, ३, पृ. ३३)।

१ दृढ़ संयममुद्रा और ज्ञानमुद्रा के साथ इन्द्रिय-मुद्रा—जितेन्द्रियता—और कषायमुद्रा—क्रोधादि कषायों के अभाव—का नाम जिनमुद्रा है। अभि-प्राय यह है कि जिस वेष में इन्द्रियों और कषायों को जीतकर संयम में दृढ़ होते हुए ज्ञानाभ्यास में प्रवृत्ति होती है उसे जिनमुद्रा (जिनलिंग) कहते हैं। २ दोनों पांवों के मध्य में आगे चार अंगुल का और पीछे इससे कुछ कम अन्तर करके स्थित होते हुए जो उत्सर्ग (कायोत्सर्ग) किया जाता है, वह जिनमुद्रा होती है।

जिनरूपता—देखो जिनमुद्रा। त्यक्तवेषादिसङ्ग-स्य जैनीं दीक्षामुपेयुषः। धारणं जातरूपस्य यत्त-स्याज्जिनरूपता॥ अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम्। जैनं निःसङ्गतामुख्यं रूपं धीरैर्नि-षेव्यते॥ (म. पु. ३८, १६०–६१); ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवाससः। धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः॥ (म. पु. ३९, ७८)।

१ वस्त्रादि परिग्रह को छोड़कर जैनी दीक्षा के साथ दिगम्बर वेष को धारण करना, यह जिन-रूपता या जिनमुद्रा कहलाती है।

जिनवचन—सर्वज्ञानां सर्वदर्शिनां वीतरागद्वेषाणां वचनं जिनवचनम्। (भ. आ. विजयो. ३)।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी व वीतरागी जिनदेव के वचनों का जिनवचन कहते हैं।

जिह्वेन्द्रिय— फासिंदियावरणसव्वघादिफद्दयाणमु-दयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा देसघादिफद्दयाणमुदएण जिब्भिंदियावरणस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा देसघादिफद्दयाणमुदएण चक्खु-सोद-घाणिंदियावरणाणं देसघादिफद्दयाणमुदयक्ख-एण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा सव्वघादिफद्दयाणमुदएण खओवसमियं जिब्भिंदियं समुप्पज्जदि। (धव. पु. ७, पृ. ६४)।

स्पर्शन-इन्द्रियावरण और जिह्वा-इन्द्रियावरण के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयक्षय से, उन्हीं के सदव-स्थारूप उपशम अथवा अनुदयरूप उपशम से, और देशघाती स्पर्धकों के उदय से तथा शेष घ्राण आदि इन्द्रियावरणों के देशघाती स्पर्धकों के उदयक्षय व उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम अथवा अनुदयरूप उपशम और सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से जो रस-ग्रहण में समर्थ क्षायोपशमिक इन्द्रिय उत्पन्न होती है उसका नाम जिह्वा-इन्द्रिय है।

जिह्वेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह — तित्त कडुव कसायं-बिल-महुरदव्वाणि जिब्भिंदियविसओ। तेसु दव्वेसु बउलपत्तसंठाणट्ठिदजिब्भिंदिएण बद्ध-पुट्ठ-पविट्ठअंगा-गिभावगदसंबंधमुवगदेसु जं रसविण्णाणमुप्पज्जदि सो जिब्भिंदियवंजणोग्गहो। (धव. पु. १३, पृ. २२५)।

तीखे, कडुवे, कषायले, आम्ल और मधुर रस वाले द्रव्य जिह्वा-इन्द्रिय के विषय हैं। बद्ध, स्पृष्ट और

प्रविष्ट होकर अंग-अंगिभावगत सम्बन्ध को प्राप्त हुए उक्त द्रव्यों के विषय में बकुल वृक्ष के पत्ते के आकार में स्थित जिह्वा-इन्द्रिय के द्वारा जो रस का ज्ञान उत्पन्न होता है, वह जिह्वा-इन्द्रिय-व्यञ्जनावग्रह कहलाता है।

जिह्वेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहावरणीय—तस्स (जिब्भिंदियवंजणोग्गहस्स) जमावारयं कम्मं तं जिब्भिंदियवंजणोग्गहावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २२५)।

जिह्वा-इन्द्रियव्यञ्जनावग्रह के आवारक कर्म को जिह्वा-इन्द्रियव्यञ्जनावग्रहणीय कहते हैं।

जिह्वेन्द्रियार्थावग्रह — उक्कस्सखओवसमगदजिब्भिंदियादो एत्तियमद्धाणमंतरिय ट्ठिददव्वस्स रसविसयं जं णाणमुप्पज्जदि सो जिब्भिंदियअत्थोग्गहो णाम। (धव. पु. १३, पृ. २२८)।

उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त हुई जिह्वा इन्द्रिय से इतने अध्वान का अन्तर करके—संज्ञी पंचेन्द्रिय आदि जीवों में यथासम्भव उक्त इन्द्रिय के विषयभूत क्षेत्र की दूरी पर—स्थित द्रव्य के रसविषय का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका नाम जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह है।

जिह्वेन्द्रियार्थावग्रहावरणीय—तस्स (जिब्भिंदियअत्थोग्गहस्स) जमावारयं कम्मं तं जिब्भिंदियअत्थोग्गहावरणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २२८)।

जिह्वेन्द्रिय-अर्थावग्रह के आवारक कर्म को जिह्वेन्द्रिय अर्थावग्रहावरणीय कहते हैं।

जिह्वेन्द्रियावायज्ञान—जिब्भिंदिय-ईहाणाणेण अवगयलिंगावट्ठंभबलेण एगवियप्पम्मि उप्पण्णणिच्छओ जिब्भिंदिय-अवाओ णाम। (धव. पु. १३, पृ. २३२)।

जिह्वेन्द्रिय ईहाज्ञान से जाने गये हेतु के बल से किसी एक ही विकल्पविषयक जो निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम जिह्वेन्द्रिय-अवायज्ञान है।

जिह्वेन्द्रियावायावरणीय—तस्स (जिब्भिंदिय-अवायणाणस्स) आवारयं कम्मं जिब्भिंदिय-आवाया-वरणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २३२)।

जिह्वेन्द्रिय-अवायज्ञान के आवारक कर्म को जिह्वेन्द्रिय-अवायावरणीय कहते हैं।

जिह्वेन्द्रियेहाज्ञान—जिब्भिंदिएण रसमादाय किं मुत्तो किममुत्तो किं दुक्खसहाओ किमदुक्खसहाओ किं अब्भंतरमावण्णो त्ति विचारपच्चओ जिब्भिंदियगदईहा। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

जिह्वेन्द्रिय के द्वारा रस को ग्रहण करके क्या वह मूर्त है या अमूर्त, क्या दुःस्वभाव है या अदुःस्वभाव है, अथवा क्या आभ्यन्तर अवस्था को प्राप्त है; इस प्रकार के विचार के आश्रित जो ज्ञान होता है उसका नाम जिह्वेन्द्रिय-ईहाज्ञान है।

जिह्वेन्द्रियेहावरणीय—तिस्से (जिब्भिंदियगद-ईहाए) आवारयं कम्मं जिब्भिंदिय-ईहावरणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २३१)।

जिह्वेन्द्रिय ईहाज्ञान के आवरक कर्म को जिह्वेन्द्रिय-ईहावरणीय कहते हैं।

जीतव्यवहार— असुह-कम्म-मल-मइलियस्स परम-विसोहणं जीयववहारं ति। (जीतक. चू. १, पृ. २)।

अशुभ कर्मरूपी मैल से होने वाली मलिनता को अतिशय शुद्ध करना—उसे दूर करना, इसका नाम जीतव्यवहार है।

जीव—१. जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता। भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्म-संजुत्तो॥ (पंचा. का. २७)। २. पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं। सो जीवो पाणा पुण पुग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता॥ (पंचा. का. ३०; प्रव. सा. २–५५)। ३. उवओगमओ जीवो × × ×। (प्रव. सा. २–८३)। ४. चेदणभावो जीओ × × ×॥ (नि. सा. ३७)। ५. उपयोगो लक्षणम्। (त. सू. २–८)। ६. सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्। (प्रशमर. १–९४)। ७. चेतनालक्षणो जीवः। (स. सि. १–४)। ८. औपशमिकादिभावयुक्तो द्रव्यं जीवः। (त. भा. १–७); ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवाः। (त. भा. १०–६)। ९. × × × जीवो उवओगलक्खणो। नाणेणं दंसणेण च, सुहेण य दुहेण य॥ नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा। वीरियं उव-ओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ (उत्तरा. २८, १०–११)। १०. प्रमाता स्वान्यनिर्भासी कर्ता भोक्ता विवृत्तिमान्। स्वसंवेदनसंसिद्धो जीवः क्षित्याद्यनात्मकः॥ (न्यायाव. ३१)। ११. जीवि-ष्यन्ति च जीवन्ति जीवा यच्चाप्यजीविषुः

(वरांगच. २६-७)। १२. त्रिकालविषयजीवनानुभवनात् जीवः। दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् जीवति अजीवीत् जीविष्यति इति वा जीवः। (त. वा. १, ४, ७); चेतनास्वभावत्वात्तद्विकल्पलक्षणो जीवः। ××× यस्त्वभिधानादात्मा ज्ञाता दृष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीवः॥ (त. वा. १, ४, १४)। १३. अप्रत्यक्षः सुखदुःखादौ बुद्धः प्रत्येकलक्षणः। जीवतीति यतः सोऽयं जीव आत्मोपयोगवान्॥ (न्यायवि. २-५३, पृ. ८७)। १४. प्राप्तव्यक्ति-तिरोभावो जीवः सिद्धः प्रतिक्षणम्। स स्वापादिप्रबोधात्माऽनादिः संसारमुज्झति॥ (सिद्धिवि. ७-८, पृ. ४६०)। १५. सुखदुःखज्ञानोपयोगलक्षणो जीवः। (आव. नि. हरि. वृ. १०५७, पृ. ४६४; त. भा. हरि. वृ. १-४)। १६. जीवो अणाइणिहणो नाणावरणाइकम्मसंजुत्तो। (श्रा. प्र. ८); जीवतीति जीवः। (श्रा. प्र. टी. ७)। १७. जीवो अणादिणिहणोऽमुत्तो परिणामी जाणओ कत्ता। मिच्छत्तादि-कतस्स य णियकम्मफलस्स भोत्ता उ॥ (धर्मसं. हरि. ३५); धम्मा अवग्गहादी धम्मी एतेसि जो स जीवो तु। तप्पच्चक्खत्तणतो पच्चक्खो चेव नो अत्थि॥ (धर्मसं. हरि. ४६)। १८. तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्। शुभाशुभकर्मकर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च॥ चैतन्यलक्षणो जीवः ×××। (षड्दस. ४८-४९, पृ. १३८)। १९. जीवदि जीविस्सदि पुव्वं जीविदो त्ति जीवो। (धव. पु. १, पृ. ११९); ववगदपंचवण्णो ववगदपंचरसो ववगददुगंधो ववगदअट्ठफासो सुहुमो अमुत्ती अगुरुलहुओ असंखेज्जपदेसिओ अणिद्दिट्ठसंठाणो त्ति एदं जीवस्स साहारणलक्खणं। (धव. पु. ३, पृ. २); चेयणलक्खणं जीवदव्वं। (धव. पु. १५, पृ. ३३)। २०. जाणदव्वभाविणाण-दंसणलक्खणो जीवो। (जयध. १, पृ. ५०); चेतनालक्षणो जीवः। (जयध. १, पृ. २१३)। २१. चेतनालक्षणो सोऽनादिनिधनस्थितिः। ज्ञाता द्रष्टा च कर्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः॥ गुणवान् कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्वव्रज्यास्वभावकः। परिणन्तोसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्॥ (म. पु. २४, ९२-९३)। २२. उपयोगः स्वरूपम्। (अष्टश. १-१५)। २३. जीवा औपशमिकादिभावान्विताः साकारानाकारप्रत्ययलाञ्छनाः शुभाशुभकर्मपरिच्छेदिनोऽतीतानागतवर्तमानेषु सत्त्वाकर्तृक-क्रियाः तत्फलभुजः अमूर्तभावाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-४); औपशमिकादिभावयुक्तो द्रव्यं जीवः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-१); जीवो ज्ञान-दर्शनोपयोगस्वभावः। (त. भा. सिद्ध. ५-८); द्रव्य-भावप्राणैरजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२०); जीवास्तु ज्ञान-दर्शनोपयोगलक्षणाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०, ६, पृ. ३००)। २४. त्रिकालजीवनाज्जीवाः। (आचारा. शी. वृ. ५१, पृ. ६४; न्यायाव. वृ. ३१)। २५. जीवाश्च प्राणधारणलक्षणाः। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, १, १३); जीवा उपयोगलक्षणाः। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ५, १३)। २६. जीवो अणाइणिच्चो उवओगसंजुदो देहमित्तो य। कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहावउड्ढगई॥ (भावसं. दे. २८६)। २७. चैतन्यलक्षणो जीवास्तिकाय एवेह जीवः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०८)। २८. अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्। जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते (समय. क. २-९)। २९. अन्यासाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः। स्वतत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते। (त. सा. २-२); अनन्यभूतस्तस्य स्यादुपयोगो हि लक्षणम्। (त. सा. २-९)। ३०. किं जीवा उवसमाइएहिं भावेहिं संजुयं दव्वं। (पंचसं. च. २-१२, पृ. ४१)। ३१. किं जीवाः? उपशमादिभिर्भावैः संयुतं द्रव्यम्। (पंचसं. च. स्वो. वृ. २-३५, पृ. १३)। ३२. चेतनालक्षणो जीवः कर्ता भोक्ता स्वकर्मणाम्। स्थितः शरीरमानेन स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः॥ (चन्द्र. च. १८-४)। ३३. ज्ञानस्वभावो जीवः। (सिद्धिवि. वृ. ७-१२, पृ. ४७०)। ३४. शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते, तेन जीवतीति जीवः। व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्य-भावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैः जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा जीवः। (बृ. द्रव्यसं. २७)। ३५. जीवितवान् जीवति जीविष्यति चेति जीवः, प्राणधारणधर्मा आत्मा। (स्थाना. अभय. वृ. १, १७, पृ. १९)। ३६. जीवनं जीवो भावप्राणधारण-मरणधर्मत्वम्। (समवा. अभय. वृ. १०)। ३७. चतुर्भिः प्राणैर्जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। (पंचा. का. जय. वृ. २७); ज्ञान-दर्शन-

स्वभावो जीवपदार्थः। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ३८. जीवाश्चेतनलक्षणा ज्ञान-दर्शन-सुख-दुःखानुभवनशीलाः। (मूला. वृ. ५–६)। ३९. जीवस्य जीवीज्जीविष्यतीति जीवशिवदात्मना। ज्ञाता द्रष्टा अमन्मात्रदेशोऽमूर्तश्च निवृ तः॥ कर्ता स्वकर्मणो भोक्ता तत्फलस्योर्ध्वगः क्षयात्। तस्य स्वगात्रमात्रश्च स्याद्विसर्पणसंहृतेः॥ (आचा. सा ३, ९–१०)। ४०. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र-मनोवाक्कायुरुच्छ्वासनिःश्वासाभिधानैर्दशभिः प्राणैः जीवति जीविष्यति जीवति स्म पूर्वो वा जीवः। निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीवः, व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणात् जीवः। (नि. सा. वृ. ९)। ४१. जीवश्चेतनालक्षणः। (भ. आ. मूला. ३६; लघीय. अभय. वृ. ३१, पृ. ५२; भा, प्रा. टी. ९५)। ४२. जीवन्ति—प्राणान् धारयन्तीति जीवः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १, पृ. ७)। ४३. तत्र सुख-दुःख-ज्ञानोपयोगलक्षणो जीवः। (आव. भा. मलय. वृ. १९७, पृ. ५९२)। ४४. जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः। (धर्मसं. मलय. वृ. ३५); यश्चैतेषामवग्रहादिधर्माणां धर्मी स एव जीवः। (धर्मसं. मलय. वृ. ४६); उपयोगादिलक्षणो जीवः। (धर्मसं. मलय. वृ. १३१)। ४५. जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो बाहिरेहिं पाणेहिं। अब्भंतरेहिं णियमा सो जीवो तस्स परिणामो॥ (भा. त्रि. १३)। ४६. जीवितो दशभिः प्राणैर्जीविष्यति च जीवति। स जीवः कथ्यते सद्भिर्जीवतत्त्वविदां वरैः। (भावसं. वाम. ३३९)। ४७. ज्ञानादिभेदेनानेकप्रकारा चेतना, सा लक्षणं यस्य स जीवः। (त. वृत्ति श्रुत. १–४)। ४८. दशभिर्द्रव्यप्राणैः यथासम्भवं जीवति जीविष्यति जीवितः स जीवः। (कार्तिके. टी. ३९)। ४९. ववहारेण जीवदि दसपाणेहिं, णिच्छयणएण य केवलणाण-दंसण-सम्मत्तरूपपाणेहि जीविहिदि जीविदपुव्वो जीवदित्ति जीवो। (अंगप. पृ २९५)। ५०. चेतनालक्षणो जीवो × × ×। यतो जीवत्यजीवच्च जीविष्यति च जन्मसु। ततो जीवोऽयमाम्नातः × × ×॥ (जम्बू. च. ३-२५ व २८)। ५१. प्राणैर्जीवति यो हि जीवितचरो जीविष्यतीह ध्रुवम्। जीवः सिद्ध इतीह लक्षणबलात् × × ×॥ (अध्यात्मक. मा. ३–२)। ५२. जीवस्य तावदुपयोगसामान्यं स्वरूपम्। (सप्तभं. पृ. ४७)। ५३. उपयोगलक्षणो जीवः। (प्रमाल. वृ. १०६)।

१ जो चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग से विशेषता को प्राप्त है उसे जीव कहते हैं। यह (संसारी जीव) प्रभु—द्रव्य-भाव कर्मों के आस्रवादि का स्वामी, कर्मों का कर्ता, भोक्ता, प्राप्त शरीर के प्रमाण, कर्म के साथ होने वाले एकत्व परिणाम की अपेक्षा मूर्त और कर्म से संयुक्त है। ३ ज्ञान, दर्शन, सुख और दुख से लक्षित होने के कारण जीव का लक्षण उपयोग है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग (सावधानता), यह जीव का लक्षण है।

जीव-उत्तरप्रयोगकरण—देखो जीवप्रयोगकरण।

जीवत्व—जीवभावो जीवत्वं स्वार्थिको भावप्रत्ययः। जीव एव जीवत्वमसंख्येयप्रदेशाः चेतनेति। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–७)।

जीव का जो लक्षण चेतना है वही जीवत्व है।

जीवन—आउआदिपाणाणं धारणं जीवणं। (धव. पु. १४, पृ. १३)।

आयु आदि प्राणों के धारण करने का नाम जीवन है।

जीवनैसृष्टिकी—जीवाज्जीवेन वा हेतुभूतेन वस्तूदकादि निसृजति यस्यां जीवनिपातनात् सा जीवनैसृष्टिकी, यत्र हि राजादिजीवात्—तदादेशादित्यर्थः, तेन वा राज्ञा हेतुभूतेनोदकं यंत्रादिभिः कूपादेराकृष्य निसृजति, × × × अथवा जीवे—गुर्वादौ, जीवं—स्वशिष्यं पुत्रं वा अविधिना निसृजति—ददाति यस्यां सा जीवनैसृष्टिकी। (आव. हरि. वृ. हेम. टि. पृ. ९४)।

जीव से—राजा आदि के आदेश से—अथवा जीव के द्वारा यंत्रादि की सहायता से कुएं से जलादि के निकालने की क्रिया को जीवनैसृष्टिकी कहते हैं। अथवा विधिके बिना गुरु आदिके लिए अपने शिष्य या पुत्रके समर्पण करने को जीवनैसृष्टिकी कहते हैं।

जीव-पुद्गलबन्ध — ओरालिय-वेउव्विय-आहार-तेयाकम्मइयवग्गणाणं जीवाणं जो बन्धो सो जीवपोग्गलबन्धो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४७)।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण वर्गणाओं का और जीवों का जो बन्ध होता है वह जीव-पुद्गलबन्ध कहलाता है।

जीव-पुद्गलयुति—जीवाणं पोग्गलाणं च मेलणं जीवपोग्गलजुडी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४८)।

जीवों और पुद्गलों के सम्मेलन का नाम जीव-पुद्गलयुति है।

जीवप्रयोगकरण—१. जीवप्पओगकरणं दुविहं मूलप्पओगकरणं च। उत्तरपओगकरणं पंचसरीराइं पढमंमि॥ ओरालियाइयाइं ओहेणियरं पओगओ जमिह। निप्फण्णा निप्फज्जइ आइल्लाणं तं तिण्हं॥ (आव. भा. १५८-५९)। २. एतदुक्तं भवति—पञ्चानामौदारिकशरीराणामाद्यं सङ्घातकरणं मूलप्रयोगकरणमुच्यते। अङ्गोपाङ्गादिकरणं तूत्तरकरण-मौदारिकादीनां त्रयाणाम्, न तु तैजस-कार्मणयोः, तदसम्भवात्। (आव. भा. हरि. वृ. १५८-५९, पृ. ४५८)। ३. जीवेन उपयोगलक्षणेन यदौदारि-काविशरीरमभिनिर्वर्त्यते तज्जीवप्रयोगकरणम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४-१८८, पृ. १९७)।

१ जीवप्रयोगकरण मूलप्रयोगकरण और उत्तरप्रयोगकरण के भेद से दो प्रकार का है। औदारिक आदि पांच शरीर सामान्य से प्रथम मूलप्रयोगकरण हैं। आदि के तीन—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरों के अंग-उपांग जो प्रयोग से निष्पन्न हैं या निष्पन्न किये जाते हैं, यह इतर—जीव उत्तरप्रयोगकरण है।

जीवप्राद्वेषिकी—जीवप्रदोषिकी तावत् पुत्र-कल-त्रादिस्व-परजनविषया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।

स्त्री-पुत्रादि स्वकीय या परकीय जनविषयक प्राद्वेषिकी क्रिया को जीवप्राद्वेषिकी कहते हैं।

जीवबन्ध—१. बंधो जीवस्स रागमादीहिं ××× । (प्रव. सा. २-८५)। २. एगसरीरट्ठिदाण-मणंताणंताणं णिगोदजीवाणं अण्णोण्णबंधो सो जीव-बंधो णाम। ××× जेण कम्मेण जीवा अणंता-णंता एक्कम्मि सरीरे अच्छंति तं कम्मं जीवबंधो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४७)। ३. यस्तु जीव-स्यौपाधिकमोह-राग-द्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २-८५)।

२ एक शरीर में स्थित अनन्तानन्त निगोद जीवों का जो परस्पर बन्ध होता है उसका नाम जीवबन्ध है, जिस कर्म के निमित्त से अनन्तानन्त जीव एक शरीर में रहते हैं उस कर्म को जीवबन्ध कहा जाता है। ३ अपने ज्ञान, दर्शन रूप एवं चैतन्य स्वभाव वाले जीव का जो औपाधिक राग-द्वेष-मोहरूप पर्यायों के साथ एकत्व परिणाम होता है उसे जीवबन्ध कहते हैं।

जीवमंगल—तत्र जीवविषयं यथा सिन्धुविषये अग्नेर्मंगलमिति नाम। (आव. मलय. वृ. पृ. ६)।

जीव-विषयक मंगल को जीवमंगल कहते हैं। जैसे—सिन्धु देश में अग्नि का 'मंगल' यह नाम।

जीवमूलप्रयोगकरण—देखो जीवप्रयोगकरण।

जीवविचय—'जीवविचयं जीव उपयोगलक्षणो द्रव्यार्थादनाद्यनन्तोऽसंख्येयप्रदेशः स्वकृतशुभाशुभ-कर्मफलोपभोगी गुणवान् आत्मोपात्तदेहमात्रः प्रदेश-संहरण-विसर्पणधर्मा सूक्ष्मः अव्याघात ऊर्ध्वगतिस्व-भाव अनादिकर्मबन्धनबद्धस्तत्क्षयान्मोक्षभागी इत्या-दिनाम-स्थापना-द्रव्य-भाव-निर्देशादि-सदादि-प्रमाण-नय-निक्षेपविषय इत्यादि जीवस्वभावानुचिन्तनं वा जीवा उपयोगमया अनाद्यनिधना मुक्तेतररूपा जीव-स्वरूपचिन्तनं जीवविचयः तृतीयं धर्म्यम्। (कार्ति-के. टी. ४८२)।

जीव उपयोगमयी है, द्रव्यार्थिकनय से अनादि-अनन्त है, असंख्यातप्रदेशी है, स्वकृत शुभाशुभ कर्म के फल का भोक्ता है, गुणवान है, प्राप्त शरीर के प्रमाण है, संकोच-विस्तारस्वभाव वाला है, सूक्ष्म है, अव्याघाती है तथा ऊर्ध्वगतिस्वभाव वाला है; इत्यादि प्रकार से जीव के स्वभाव के चिन्तवन करने को जीवविचय धर्मध्यान कहते हैं।

जीवविप्रमुक्त—एवमुक्तेन विधिना जीवेन—आत्मना विविधमनेकधा प्रकर्षेण मुक्तं जीवविप्र-मुक्तम्। तथा चान्यैरप्युक्तम्—बंधणछेदत्तणओ आउक्खयउव्व जीवविप्पजढं। विजढंति पगारेणं जीवणभावट्ठितो जीवो॥ (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १४)।

जीव के द्वारा विधिपूर्वक जिस शरीर को अनेक प्रकार से छोड़ा गया है वह जीवविप्रमुक्त कह-लाता है।

जीवविषया दृष्टिक्रिया—तत्र प्रमादिनो नृप-निर्याण-प्रवेश-स्कन्धावार-सन्निवेश-नट-नर्तक-मल्ल-मेष-वृष-युद्धादिष्वालोकनादरो यः सा जीवविषया दृष्टिक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।

प्रमादी मनुष्य के जो राजा का निर्गमन व प्रवेश, सेना का पड़ाव, नट का खेल, नर्तक का [illegible]

मल्ल, मेष और बैलों के युद्ध आदि के देखने में जो आदरभाव होता है; वह जीवविषयक दृष्टि (दर्शन) क्रिया कहलाती है।

जीवसमास—१. जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। (धव. पु. १, पृ. १३१)। २. जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी। ते पुण संगहिदत्था जीवसमासात्ति विण्णेया॥ (गो. जी. ७०)।

१ जीवों का जहां संक्षेप किया जाता है वे (चौदह गुणस्थान) जीवसमास कहलाते हैं। २ जिनके द्वारा अनेक प्रकार के जीवों का और उनकी विविध जातियों का परिज्ञान होता है उन अनेक धर्मों के संग्राहकों को जीवसमास कहते हैं।

जीवस्पर्शनक्रिया—तत्र जीवस्पर्शनक्रिया योषित्पुरुष-नपुंसकाङ्गस्पर्शनलक्षणा राग-द्वेष-मोहभाजः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

राग, द्वेष व मोह के वशीभूत होकर स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक के शरीर के स्पर्श करने की क्रिया को जीवस्पर्शनक्रिया कहते हैं।

जीवाजीवविषयबन्ध—जीवाजीवविषयः कर्म-नोकर्मबन्धः। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, ६)।

जीव के साथ कर्म और नोकर्म के बन्ध को जीवाजीवविषय बन्ध कहते हैं।

जीवादत्त—जीवादत्तं यत्स्वामिना दत्तमपि जीवेनादत्तम्, यथा प्रव्रज्यापरिणामविकलो मातापितृभ्यां पुत्रादिर्गुरुभ्यो दीयते। (योगशा. स्वो. विव. १-२२, पृ. १२०)।

स्वामी के द्वारा दिया गया भी जो जीव के द्वारा नहीं दिया गया है वह जीवादत्त माना जाता है। जैसे—प्रव्रज्या परिणाम से रहित पुत्रादि को जो माता-पिता गुरु के लिए देते हैं, यह जीवादत्त है।

जीवानुभाग—असेसदव्वावगमो जीवाणुभागो। (धव. पु. १३, पृ. ३४९)।

समस्त द्रव्यों के जान लेने की शक्ति का नाम जीवानुभाग है।

जीवाप्रत्याख्यानक्रिया—जीवविषये प्रत्याख्यानाभावेन यो बन्धादिर्व्यापारः सा जीवाप्रत्याख्यानक्रिया। (स्थाना. अभय. वृ. २–६०, पृ. ३८)।

प्रत्याख्यान का अभाव होने से जो जीव के विषय में बन्धादि व्यापार रूप क्रिया होती है उसे जीवाप्रत्याख्यानक्रिया कहते हैं।

जीवित— १. भवधारणकारणायुराख्यकर्मोदयाद् भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तप्राणापानक्रियाविशेषाव्युच्छेदो जीवितम्। (स. सि. ५-२०)। २. भवस्थितिनिमित्तायुष्कसम्बन्धितो जीवस्य प्राणापानलक्षणक्रियाविशेषाव्युपरमो जीवितम्। भवधारणकारणमायुराख्यं कर्म, तदुदयापादितां भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तस्य प्राणापानलक्षणस्य क्रियाविशेषस्याविच्छेदो जीवितमिति प्रत्येतव्यम्। (त. वा. ५, २०, ३)। ३. आउपमाणं जीविदं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३३)। ४. प्राणानां धारणं जीवितम्। (भ. आ. विजयो. २५)। ५. जीवितं प्राणधारणात्मकम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ७, पृ. २१७)। ६. भवधारणकारणस्य आयुष्कर्मण उदयात् भवस्थितिं धरतो जीवस्य प्राणापानक्रियायाः अविच्छेदो जीवितम्। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२०)।

१ नर-नारकादि भवों में धारण करने के कारणभूत आयु कर्म के उदय से भवस्थिति का आश्रय लेने वाले जीव की श्वास-उच्छ्वास क्रिया का चालू रहना, इसका नाम जीवित है।

जीविताशंसा—१. अवश्यहेयत्वे शरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा। (त. वा. ७, ३७, २; त. श्लो. ७–३७); शरीरमिदमवश्यं हेयं जलबुद्बुदवदनित्यमस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरो जीविताशंसा प्रत्येतव्या। (त. वा. ७, ३७, ३; चा. सा. पृ. २३)। २. जीवितं प्राणधारणम्, तदाशंसा अभिलाषो यदि बहुकालं जीवेयमिति। वस्त्र-माल्य-पुस्तकवाचनादिपूजादर्शनात् बहुपरिवारदर्शनाच्च लोकश्लाघाश्रवणाच्चैवं मन्यते—जीवितमेव श्रेयः प्रत्याख्यातशनस्यापि यत एवंविधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तते इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–३२)। ३. जीविताशंसा शरीरमिदमवश्यहेयं जलबुद्बुदवदनित्यमित्यादिकमस्मरतोऽस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरः। पूजाविशेषदर्शनात् प्रभूतपरिवारावलोकनात् सर्वलोकश्लाघाश्रवणाच्चैवं हि मन्यते प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे जीवितमेव श्रेयः, यतः एवंविधा मदुद्देशेन विभूतिर्वर्तते इत्याकांक्षेति यावत्। (सा. ध. स्वो. टी. ८–४५)। ४. आशंसा

जीविते मोहात् अपेक्षेदपि जीवितम्। यदि जीवेद् वरं तावद्दोषोऽयं यत्समस्यते। (लाटीसं. ६-२३८)।

१ शरीर अवश्य हेय है फिर भी उसके स्थिर रखने में आदर रखना, यह सल्लेखना का जीविताशंसा नाम का एक अतिचार है।

जीविताशंसाप्रयोग—जीवितं प्राणधारणम्, तत्राभिलाषप्रयोगः—यदि बहुकालं जीवेयम् इति। इयं च वस्त्र-माल्य-पुस्तकवाचनादिपूजादर्शनाद् बहुपरिवारदर्शनाच्च लोकश्लाघाश्रवणाच्चैवं मन्यते—जीवितमेव श्रेयः, प्रत्याख्याताशनस्यापि यत एवंविधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तते। (श्रा. प्र. टी. ३८५; त. भा. हरि. वृ. ७-३२)।

वस्त्र, माल्य, पुस्तकवाचन आदि एवं पूजा को तथा बहुत परिवार को देखकर और लोगों के द्वारा की जाने वाली प्रशंसा को सुनकर प्राणधारणस्वरूप जीवित के विषय में जो 'जीवित रहना उत्तम है, क्योंकि भोजन का परित्याग कर देने पर भी मेरे आश्रय से यह वैभव दिख रहा है' इस प्रकार की अभिलाषा होती है उसे जीविताशंसाप्रयोग कहते हैं। यह सल्लेखना का एक अतिचार है।

जुगुप्सा—१. यदुदयादात्मदोषसंवरणं परदोषाविष्करणं सा जुगुप्सा। (स. सि. ८-९)। २. इन्द्रियाणां च पञ्चानां योऽर्थान् लब्ध्वा मनोरमान्। जुगुप्सते विपुण्यात्मा जुगुप्साकर्मपीडितः॥ (वरांगच. ४-८८)। ३. कुत्साप्रकारो जुगुप्सा × × × आत्मीयदोषसंवरणं गुगुप्सा। (त. वा. ८, ९, ४)। ४. चेतनाचेतनेषु वस्तुषु व्यलीककरणं जुगुप्सा। (श्रा. प्र. टी. १८)। ५. जुगुप्सनं जुगुप्सा। जेसिं कम्माणमुदएण दुगुंछा उप्पज्जदि तेसिं दुगुंछा इदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४८); जस्स कम्मस्स उदएण दव्व-खेत्त-काल-भावेसु चिलिसा समुप्पज्जदि तं कम्मं दुगुंछा णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ६. दुग्गंधमलिणगेसु य अब्भितर-बाहिरेसु दव्वेसु। जेण विलीयं जीवे उप्पज्जइ सा दुगुंछा उ॥ (कर्मवि. ग. ६०)। ७. यदुदयेन शकृदादिबीभत्सपदार्थेभ्यो जुगुप्सते उद्विजते तज्जुगुप्सावेदनीयम्। (कर्मस्तव. गो. वृ. १०, पृ. १६)। ८. यस्योदयेन पुनः पुरीषादिबीभत्सपदार्थेषु जुगुप्सावान् भवति तद् जुगुप्सावेदनीयम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१५)। ९. यदुदयवशात्पुनः शुभमशुभं वा वस्तु जुगुप्सते तज्जुगुप्सामोहनीयम्, जुगुप्साजनकं मोहनीयं जुगुप्सामोहनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४६९)। १०. यदुदयादात्मदोषसंवरणम्, अन्यदोषसाधारणं सा जुगुप्सा। (भ. आ. मूला. २०९७)। ११. यदुदयात्परदोषानाविष्करोति आत्मदोषान् संवृणोति सा जुगुप्सा। (त. वृत्ति श्रुत. ८-९)।

१ जिस कर्म के उदय से अपने दोषों का संवरण और पर के दोषों का प्रकाशन किया जाता है उसे जुगुप्सा नोकषाय कहते हैं।

जैन कुल—जिनो देवता येषां ते जैनास्तेषां कुलं पूर्वपुरुषपरम्पराप्रभवो वंशः। (सा. ध. स्वो. टी. २-२०)।

जो जिनदेव को ही अपना इष्ट देव मानते हैं, वे जैन कहलाते हैं। उनके कुल को—पूर्वपुरुषों की परम्परा से उत्पन्न वंश को—जैन कुल कहते हैं।

जैन लिंग—जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं। रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥ मुच्छारंभविमुत्तं जुत्तं उवजोग-जोगसुद्धीहिं। लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥ (प्रव. सा. ३, ५-६)।

सिद्धि का गमक लिंग दो प्रकार का है बाहिरंग और अन्तरंग। उनमें यथाजातरूप—दिगम्बर वेष—के धारण से उत्पन्न हुआ, शिर और दाढ़ी के बालों के लोच से चिह्नित, सर्वसावद्य की निवृत्तिरूप शुद्धि को प्राप्त, हिंसा आदि से रहित, तथा प्रतिकर्म—शरीरसंस्कार—से भी रहित वेष बहिरंग लिंग माना जाता है। तथा जो मूर्छा (ममत्व) एवं आरम्भ से रहित, उपयोग—निर्विकार स्वसंवेदन—एवं निर्विकल्प समाधि की शुद्धि से सम्पन्न, परावलम्बन से विहीन और अपुनर्भव—मुक्तिप्राप्ति का कारण है; उसे अन्तरंग लिंग कहा जाता है।

जैन शासन—सिद्ध ध्रौव्य-व्ययोत्पादलक्षणद्रव्यसाधनम्। जैनं द्रव्याद्यपेक्षातः साधनाद्यथ शासनम्॥ (ह. पु. १-१)।

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप लक्षण से युक्त द्रव्य का साधक होकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की अपेक्षा से सादि और अनादि भी है, वह प्रमाणसिद्ध मत जैनशासन कहलाता है।

ज्ञ—जानाति ज्ञास्यत्यज्ञासीदनेन ज्ञ इति स्मृतम् । (भावा. सा. ४–२) ।

जो वर्तमान में जानता है, भूत में जानता था, और भविष्य में जानेगा वह ज्ञ (आत्मा) कहलाता है।

ज्ञशरीरद्रव्यश्रुत—देखो ज्ञशरीरद्रव्यावश्यक । १. से किं तं जाणयसरीरदव्वसुअं ? २—सुअत्ति पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुय-चाविय-चत्तदेहं तं चेव पुव्वभणिअं भाणिअव्वं जाव से तं जाणयशरीरदव्वसुअं । (अनुयो. सू. ३५) । ३. ज्ञातवानिति ज्ञस्तस्य शरीरं तदेवानुभूतभावत्वात् द्रव्यश्रुतं ज्ञशरीरद्रव्यश्रुतम्, श्रुतमिति यत्पदं तदर्थाधिकारज्ञायकस्य यच्छरीरकं व्यपगतादिविशेषणविशिष्टं तज्ज्ञशरीरद्रव्यश्रुतमित्यर्थः । (अनुयो. मल. हेम. वृ. ३५, पृ. ३३) ।

श्रुत के अर्थाधिकारों के ज्ञाता पुरुष के अचेतन च्युत, च्यावित या त्यक्त शरीर को (देखो सूत्र १६, पृ. १६–२०) ज्ञशरीरद्रव्यश्रुत कहते हैं।

ज्ञशरीरद्रव्यानुपूर्वी—से किं तं जाणयसरीरदव्वाणुपुव्वी ?, आणुपुव्वीपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुय-चाविय-चत्तदेह, सेसं जहा दव्वावस्सए तहा भाणिअव्वं जाव से तं जाणयसरीरदव्वाणुपुव्वी । (अनुयो. सू. ७२, पृ. ५१–५२) ।

आनुपूर्वी पद के अर्थाधिकारों के जानने वाले पुरुष के अचेतन च्युत, च्यावित या त्यक्त देह को ज्ञशरीरद्रव्यानुपूर्वी कहते हैं।

ज्ञशरीरद्रव्यावश्यक—१. से किं तं जाणयशरीरदव्वावस्सयं ? २—आवस्सएत्ति पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुत-चावित-चत्तदेहं जीवविप्पजढं सिज्जागयं वा संथारगयं वा निसीहिआगयं वा सिद्धसिलातलगयं वा पासित्ता णं कोई भणेज्जा—अहो णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सए त्ति पयं आघवियं पण्णविअं परूविअं दंसिअं निदंसिअं उवदंसिअं । जहा को दिट्ठंतो ?, अयं महुकुंभे आसी, अयं घयकुंभे आसी, से तं जाणयसरीरदव्वावस्सयं । (अनुयो. सू. १६) । २. ज्ञातवानिति ज्ञः, तस्य शरीरं उत्पादकालादारभ्य प्रतिक्षणं शीर्यत इति शरीरम् । तदेवानुभूतभावत्वात् द्रव्यावश्यकं ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १४) ।

आवश्यक पद के वाच्यभूत शास्त्र के अर्थरूप अर्थाधिकार के अथवा अनेक अर्थाधिकारों के जानने वाले के शरीर को—जो अचेतन अवस्था को प्राप्त होकर उच्छ्वासादि प्राणों से रहित (च्युत) हुआ है या उनसे रहित कराया गया है (च्यावित) इस प्रकार से जो आहारादिपरिणतिजनित उपचय से रहित हुआ है (त्यक्त), वह चाहे शरीर प्रमाण शय्या पर स्थित हो, चाहे अढ़ाई हाथ प्रमाण संस्तार पर स्थित हो, चाहे सिद्धशिलागत हो (जहां जाकर आराधक ने भक्तपरिज्ञादि अनशन को स्वीकार किया है, करता है, या भविष्य में स्वीकार करेगा वह सिद्धशिला कही जाती है), नैषेधिकीगत हो—शवस्थापन की भूमि में स्थित हो, जिसे देखकर कोई यह कह सके कि इस शरीर ने जिनदृष्ट भाव से आवश्यक पद को ग्रहण किया है, ज्ञापित कराया है व प्ररूपित किया है—ऐसे ज्ञाता के शरीर को ज्ञशरीरद्रव्यावश्यक कहते हैं।

ज्ञशरीरद्रव्योपक्रम— तत्र यदुपक्रमशब्दार्थज्ञस्य शरीरं जीवविप्रमुक्तं सिद्धिशिलातलादिगतं तद् भूतभावत्वात् ज्ञशरीरद्रव्योपक्रमः । (जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ५; व्यव. भा. मलय. वृ. पृ. १) ।

उपक्रम शब्द के अर्थ के ज्ञायक पुरुष के सिद्धशिलातल आदि को प्राप्त च्युत, च्यावित या त्यक्त शरीर को ज्ञशरीरद्रव्योपक्रम कहते हैं।

ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यश्रुत— से किं तं जाणयसरीर-भविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअं ?, २—पत्तय-पोत्थयलिहिअं, अहवा जाणयसरीर-भविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा—अंडयं बोंडयं कीडयं वालयं वागयं । अंडयं हंसगब्भादि, बोंडयं कप्पासमाइ, कीडयं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा—पट्टे मलए अंसुए चीणंसुए किमिरागे । वालयं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा—उण्णिए उट्टिए मिअलोमिए कोतवे किट्टिसे । वागयं सणमाइ, से तं जाणयसरीर-भविअसरीरवइरित्तं दव्वसुअं । × × × (अनुयो. सू. ३७) ।

ताडपत्र, भोजपत्र, कागज की पोथी अथवा वस्त्र आदि पर लिखे हुए श्रुत को ज्ञशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्त द्रव्यश्रुत कहते हैं। सुत्त (सूत्र) का अर्थ डोरा भी होता है, उसे लक्ष्य में रखकर विकल्प रूप में यह भी यहां कहा गया है—अथवा उक्त

द्रव्यसूत्र अण्डज, बोण्डज, कीटज, बालज और वल्कज के भेद से पांच प्रकार का है।

ज्ञातभाव—१. अयं प्राणी हन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवृत्तिर्ज्ञातम्। (स. सि. ६–६)। २. ज्ञात्वाऽभ्युपेत्य वा प्रवृत्तेर्ज्ञातम्। 'हिनस्मि' इत्यसति परिणामे प्राणव्यपरोपणे ज्ञातमात्रं मया व्यापादित इति ज्ञातम्, अथवा 'अयं प्राणी हन्तव्यः' इति ज्ञात्वा प्रवृत्तेः ज्ञातमित्युच्यते। (त. वा. ६, ६, ३)। ३. ज्ञातस्य भावो ज्ञातभावः। ज्ञातमस्यास्तीति अर्शादिपाठादेव ज्ञात आत्मा, ज्ञानादुपयुक्तस्य तस्य यो भावः परिणामः स ज्ञातभावः—अभिसन्धाय प्राणातिपातादौ प्रवृत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–७)। ४. हनिष्यामि एतं पुमांसमिति ज्ञात्वा प्रवर्तनं ज्ञातम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६–६)।

१ इस प्राणी को मारना है, इस प्रकार जानकर जो प्रवृत्ति होती है, इसका नाम ज्ञात है। ३ ज्ञात शब्द से आत्मा अभिप्रेत है, ज्ञान से उपयोगयुक्त आत्मा के परिणाम को ज्ञातभाव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अभिप्रायपूर्वक जो हिंसा आदि में प्रवृत्ति होती है उसे ज्ञातभाव समझना चाहिए।

ज्ञाताधर्मकथा—देखो ज्ञातृधर्मकथांग। १. से किं तं नायाधम्मकहाओ? नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ ×× × अंतकिरिआओ अ आघविज्जंति। ×× ×। (नन्दी. सू. ५०, पृ. २३०)। २. ज्ञातानि उदाहरणानि, तत्प्रधाना धर्मकथाः ज्ञाताधर्मकथाः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०३)। ३. ज्ञाता दृष्टान्तास्तानुपादाय धर्मो यत्र कथ्यते ताः ज्ञाताधर्मकथाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२०)। ४. ज्ञातानि उदाहरणानि, तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा ×× × अथवा प्रथमश्रुतस्कन्धो ज्ञाताभिधायकत्वात् ज्ञातानि, द्वितीयस्तु तथैव धर्मकथाः, ततश्च ज्ञातानि च धर्मकथाश्च ज्ञाताधर्मकथाः। (समवा. अभय. वृ. १४१, पृ. १०८)।

१ जिस अंगश्रुत में उदाहरणभूत पुरुषों के नगर, उद्यान एवं चैत्य आदि का कथन किया जाता है उसे ज्ञाताधर्मकथा कहते हैं। इसमें उदाहरणों की प्रधानता से धर्म का कथन किया जाता है।

ज्ञातृकथा—१. षट्पंचाशत्सहस्राधिकपंचलक्षपदपरिमाणा तीर्थंकराणां गणधराणां च कथोपकथाप्रतिपादिका ज्ञातृकथा। (श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७१)। २. तीर्थंकर-गणधरकथाकथिका षट्पंचाशत्सहस्राधिकपंचलक्षपदप्रमाणा ज्ञातृकथा। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)।

१ जो अंग तीर्थंकर और गणधरों की कथा-उपकथाओं का निरूपण करता है उसे ज्ञातृकथा कहा जाता है। उसके पदों का प्रमाण पांच लाख पचास हजार है।

ज्ञातृधर्मकथा—१. ज्ञातृधर्मकथायां आख्यानोपाख्यानानां बहुप्रकाराणां कथनम्। (त. वा. १, २०, १२)। २. णाधधम्मकहाणाम अंगं पंचलक्ख-छप्पण्णसहस्सपदेहि ५५६००० सुत्तपोरिसीसु तित्थयराणं धम्मदेसणं गणहरदेवस्स जादसंसयस्स संदेहछिंदणविहाणं बहुविहकहाओ उवकहाओ च वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. १०१–२); ज्ञातृधर्मकथायां सपंचलक्षषट्पंचाशत्सहस्रपदायां ५५६००० सूत्रपौरुषीषु भगवतस्तीर्थकरस्य ताल्वोष्ठपुटविचलनमन्तरेण सकलभाषास्वरूपदिव्यध्वनिधर्मकथनविधानं जातसंशयस्य गणधरदेवस्य संशयच्छेदनविधानमाख्यानोपाख्यानानां च बहुप्रकाराणां स्वरूपं कथ्यते। (धव. पु. ६, पृ. २००)। ३. नाथः त्रिलोकेश्वराणां स्वामी तीर्थंकरपरमभट्टारकः, तस्य धर्मकथा जीवादिवस्तुस्वभावकथनम्, घातिकर्मक्षयानन्तरकेवलज्ञानसहोत्पन्नतीर्थंकरत्वपुण्यातिशयविजृम्भितमहिम्नः तीर्थंकरस्य पूर्वाह्ण-मध्याह्नापराह्णार्धरात्रेषु षट्षट्घटिकाकालपर्यन्तं द्वादशगणसभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति, अन्यकालेऽपि गणधर-शक्र-चक्रधरप्रश्नानन्तरं चोद्भवति, एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनिः समस्तासन्नश्रोतृगणानुत्तमक्षमादिलक्षणं रत्नत्रयात्मकं वा धर्मं कथयति। अथवा ज्ञातुर्गणधरदेवस्य जिज्ञासमानस्य प्रश्नानुसारेण तदुत्तरवाक्यरूपा धर्मकथा तत्पृष्टास्तित्व-नास्तित्वादिस्वरूपकथनम्। अथवा ज्ञातृणां तीर्थंकर-गणधर-चक्रवर्त्यादीनां धर्मानुबन्धिकथोपकथाकथनं नाथधर्मकथा ज्ञातृधर्मकथा नाम वा षष्ठमङ्गम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३५६)।

२ जिस अंगश्रुत में पाँच लाख छप्पन हजार (५५६०००) पदों के द्वारा सूत्रपौरुषियों—सिद्धान्तोक्त स्वाध्यायकाल—में तीर्थंकरों की धर्मदेशना, सन्देहयुक्त गणधरदेव के

सन्देह के नष्ट करने की विधि और बहुत प्रकार की कथोपकथाओं की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम ज्ञातृधर्मकथांग है।

ज्ञान—१. जं जाणइ तं णाणं × × × । (ओघप्रा. ३७) । २. × × × विसेसियं णाणं । (सम्मति. २–१) । ३. जाणइ तिकालसहिए दव्व-गुण-पज्जए बहुब्भेए । पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाण त्ति णं बिंति ॥ (प्रा. पंचसं. १–११७; गो. जी. २९९) । ४. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् । निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः । (रत्नक. ४२) । ५. जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जो जि । अप्पहँ करउ भावडउ णाणु मुणिज्जइ सो जि ॥ (परमा. प्र. २–२९) । ६. पदार्थावबोधो ज्ञानम् । (त. वा. १, पृ. १); तत्त्वार्थावबोधो ज्ञानम् । (त. वा. ९, ७, ११) । ७. तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानम् । (ललितवि. पृ. ६३) । ८. ज्ञानावरणक्षय-क्षयोपशमसमुत्थः तत्त्वावबोधो ज्ञानम् । (त. भा. हरि. वृ. १–१); विशेषावबोधो ज्ञानम् । (त. भा. हरि. वृ. २–९) । ९. सविशेषं पुण णाणं × × × ॥ (धर्मसं. हरि. १३६४) । १०. तत्त्वसंवेदनं चैव ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥ (ज्ञानाष्टक ९–१) । ११. भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. १४२); सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम् । × × × तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. १४३); सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. १४७); प्रकाशो ज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. १४९); यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. ३६३); यथायथं प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम् । (धव. पु. १, पु. ३६४); स्वस्माद् भिन्नवस्तुपरिच्छेदनं ज्ञानम् । (धव. पु. १, पृ. ३८३); जानाति परिच्छिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानम् । (धव. पु. ६, पृ. १४२); बाह्यार्थपरिच्छेदिका जीवशक्तिर्ज्ञानम् । (धव. पु. १३, पृ. २०६) । १२. आकारवच्च विज्ञानम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २–९); ज्ञानं हिताहितप्राप्ति-परिहारविषयो बोधः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–६) । १३. आत्मनो विषयाकारपरिणतिर्ज्ञानं तदावरणक्षयोपशमजनितम् । (भ. आ. विजयो. ...) तत्त्वपरिज्ञानं ज्ञानम् । (भ. आ. विजयो. १६); तद्-(वस्तु-)याथात्म्यावगमो ज्ञानम् (भ. आ. विजयो. १५८) । १४. तज्ज्ञानं यत्र भाज्ञानम् × × × ॥ (आत्मानु. ४६; उपासका. २११; जम्बू. च. ४-१५) । १५. साकारं हि भवेज्ज्ञानम् × × × । (त. सा. २–१०); साकारमिष्यते ज्ञानम् × × × ॥ (त. सा. २–११); तत्त्वार्थस्यावबोधो हि ज्ञानं × × × । (त. सा. २–८३) । १६. विशेषग्राहि ज्ञानम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ४०) । १७. मोह-सन्देह-विभ्रान्तिवर्जितं ज्ञानमुच्यते । (उपासका. ५) । १८. समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्ट-सन्निकृष्टावबोधो ज्ञानम् । (नीतिवा. ६–१) । १९. गुण-पर्ययवद् द्रव्यं ध्रौव्योत्पाद-व्ययात्मकम् । तत्त्वतो ज्ञायते येन तज्ज्ञानं कथ्यते जिनैः ॥ (पंचसं. अमित. २१३) । २०. त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः । यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥ (ज्ञाना. ७-१) । २१. यद् द्रव्यं यथास्थितं सत्तालक्षणमुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणं वा गुण-पर्यायलक्षणं वा सप्तभङ्ग्यात्मकं वा तत्तथा जानाति य आत्मसम्बन्धी स्व-परपरिच्छेदको भावः परिणामस्तत् संज्ञान भवति । अयमत्र भावार्थः—व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां तत्त्वविचारकाले स्व-परपरिच्छेदकं ज्ञानं भण्यते । निश्चयनयेन पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद् गौणत्वमिति कृत्वा स्वसंवेदनमेव ज्ञानमुच्यते । (परमा. वृ. २-२९, पृ. १६४–६५) । २२. तत्त्वप्रकाशकं ज्ञानम् × × × । (चन्द्र. च. १८–१२४) । २३. ज्ञानं तत्त्वप्रकाशनम् । (मूला. वृ. ५–२) । २४. ज्ञानं विशेषावबोधः । (औपपा. अभय. वृ. १०, पृ. १५) । २५. ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्तेऽर्था अनेनास्मिन्नस्माद्वेति ज्ञानम्, ज्ञान-दर्शनावरणयोः क्षयः क्षयोपशमो वा, ज्ञातिर्वा ज्ञानम्—आवरणद्वयक्षयादाविर्भूत आत्मपर्यायविशेषः सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषांशग्रहणप्रवणः सामान्यांशग्राहकश्च ज्ञानपञ्चकाज्ञानत्रयदर्शनचतुष्टयरूपः । (स्थाना. अभय. वृ. ४३, पृ. २१); ज्ञानं हि द्रव्य-पर्यायविषयो बोधः । (स्थाना. अभय. वृ. ३, १८७) । २६. ज्ञानं पुनः हेयोपादेयवस्तुविभागनिश्चयः । (ध. बि. मु. वृ. १–४९) । २७. ज्ञानं

४–२) । २८. ज्ञातिर्ज्ञानम्, × × × ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानम्, जानाति स्वविषयं परिच्छिनत्तीति वा ज्ञानम्, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशम-क्षयजन्यो जीवस्वतत्त्वभूतो बोध इत्यर्थः । (अनुयो. मल. हेम. वृ. १, पृ. २) । २९. ज्ञानं शास्त्रावबोधः । (योगशा. स्वो. विव. ३–१६); ज्ञानं हेयोपादेयवस्तुविनिश्चयः । (योगशा. स्वो. विव. ६–५४) । ३०. ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः । (प्रव. सारो. वृ. १२४९, पृ. ३५६) । ३१. विशेषविषयं ज्ञानम् । (आव. नि. मलय. वृ. ९७७); ज्ञायते यथावस्थितं वस्त्वनेनेति ज्ञानम् । (आव. नि. मलय. १०७२); विशिष्टग्रहणं ज्ञानम् । (आव. नि. मलय. १०९०) । ३२. ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मकोऽवबोधः । (षडशी. मलय. वृ. १२, पृ. १८) । ३३. ज्ञायतेऽर्थो विशेषरूपतयाऽनेनेति ज्ञानम् । (धर्मसं. मलय. वृ. ६०७); सविशेषं पुनः सामान्याकारमुत्सृज्य विशेषरूपतया पुनस्तेषामेव घटादिविशेषाणां ग्रहो ज्ञानम् । (धर्मसं. मलय. वृ. १३६४) । ३४. ज्ञायते वस्तु परिच्छिद्यतेऽनेनेति ज्ञानम् । (व्यव. मलय. वृ. ३) । ३५. सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञानम् । (कर्मस्त. गो. वृ. पृ. १०) । ३६. साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं × × × । (प्रतिष्ठासा. २–९०) । ३७. ज्ञानं स्वार्थनिर्णयः । (भ. आ. मूला. १–२) । ३८. यदा तु आत्मनः सकाशात् आत्मानं जानाति तदा ज्ञानं भण्यते । (आरा. सा. टी. ६) । ३९. साकारं ज्ञानम्, × × × वस्तुनो विशेषपरिज्ञानं ज्ञानम् । (त. वृत्ति श्रुत. २–९) । ४०. स्वाऽपूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः । (पंचाध्या. २–३९७) । ४१. जेण जाणामि अप्पाणं, भावी वा जत्थ वा रहे । अज्जयारिं अणण्णं वा तं णाणं अयलं धुवं ॥ (ऋषिभा. ४–५) ।

१ जो जानता है वह ज्ञान कहलाता है । ३ तीनों कालविषयक बहुत भेदयुक्त द्रव्य, गुण और पर्यायों को जो प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से जानता है उसका नाम ज्ञान है । ७ जो सामान्य को गौण कर विशेष की प्रधानता से वस्तु को ग्रहण करता है उसे ज्ञान ...

ज्ञानकुशील—१. णाणे णाणायारं जो उ विराहेइ कालमाईयं । (प्रव. सारो. ११०) । २. ज्ञानाचारं कालादिकं यो विराधयति स ज्ञाने ज्ञानविषये कुशील इति शेषः । इदमुक्तं भवति—काले विणये बहुमाणे उवहाणे तह अनिण्हवणे । वंजण-अत्थ-तदुभये अट्ठविहो णाणमायारो ॥१॥ इत्यमुमष्टविधं ज्ञानाचारं यो विराधयति—न सम्यगनुतिष्ठति स ज्ञानकुशीलः । (आव. हरि. वृ. मल. हे. टि. पृ. ८२) । ३. यो ज्ञानाचारं कालादिकं 'काले विणये' इत्यादिरूपं विराधयति स ज्ञाने ज्ञानकुशील उच्यते । (व्यव. भा. मलय. वृ. १, पृ. ११७) ।

१ जो काल-विनयादिरूप आठ प्रकार के ज्ञानाचार की विराधना करता है वह ज्ञानकुशील कहलाता है ।

ज्ञानचेतना—१. × × × णाणमध एक्को । चेदयदि × × × ॥ × × × पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ॥ (पंचा. का. ३८–३९) । २. अन्यतरे तु प्रक्षालितसकलमोहकलङ्केन समुच्छिन्नकृत्स्नज्ञानावरणतयाऽत्यन्तमुन्मुद्रितसमस्तानुभावेन चेतकस्वभावेन समस्तवीर्यान्तरायक्षयासादितानन्तवीर्या अपि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यन्तकृतकृत्यत्वाच्च स्वतो व्यतिरिक्तं स्वाभाविकं सुखं ज्ञानमेव चेतयन्ते इति । (पंचा. का. अमृत. वृ. ३८); केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयन्ते । (पंचा. का. अमृत. वृ. ३९) । ३. एको जीवराशिस्तेनैव चेतकभावेन विशुद्धशुद्धात्मानुभूतिभावनाविनाशितकर्ममलकलङ्केन केवलज्ञानमनुभवति । (पंचा. का. जय. वृ. ३८); विशिष्टशुद्धात्मानुभूतिभावनासमुत्पन्नपरमानन्दैकसुखामृतसमरसीभावबलेन दशविधप्राणत्वमतिक्रान्ता सिद्धजीवास्ते केवलज्ञानं विन्दति । (पंचा. का. जय. वृ. ३९) । ४. एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः । शुद्धा शुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥ (पंचाध्या. २–१९४) ।

१ प्राणों से रहित होकर केवल एक मात्र ज्ञान का ही जो अनुभव किया जाता है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं । २ मोहनीय, ज्ञानावरण और अन्तराय के क्षीण हो जाने पर कृतकृत्य होकर चेतक स्वभाव से अपने से अभिन्न स्वाभाविक ज्ञान—केवलज्ञान—का अनुभव करना, यह ज्ञानचेतना का लक्षण है ।

ना । ज्ञानसाधनदानं च ज्ञानदानमितीरितम् ॥ (धि. श्रा. पु. च. १, १, १५४)।

धर्म से अनभिज्ञ जीवों के लिए सूत्र व अर्थ के उपदेश आदि तथा ज्ञान के साधनभूत शास्त्रादि के देने को ज्ञानदान कहते हैं।

ज्ञाननय—१. णायंमि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थंमि। जइयव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नामं। (दशवै. नि. १४९)। २. ××× य उपदेशो ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम, ज्ञाननय इत्यर्थः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १४९, पृ. ८० व २८५)। ३. ××× य उपदेशो ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम, ज्ञाननय इत्यर्थः। (विशे. भा. को. वृ. ४३३२, पृ. ८७९; आव. नि. मलय. वृ. १०६६, पृ. ५८७)। ४. ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणमिति स्थितम्, इत्येवमुक्तेन न्यायेन य उपदेशो ज्ञानप्राधान्यख्यापनपरः स नयो नाम, ज्ञाननय इत्यर्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १२७)।

४ 'ज्ञान ही इस लोक और परलोक में सुख का प्रधान कारण है' इस न्याय के अनुसार ज्ञान के माहात्म्य की प्रधानता के प्रगट करने वाले उपदेश को ज्ञाननय कहते हैं।

ज्ञानपण्डित—१. मत्यादिपञ्चप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणतः ज्ञानपण्डितः। (भ. आ. विजयो. २५)। २. पञ्चविधज्ञानपरिणतो ज्ञानपण्डितः। (भावप्रा. टी. ३२)।

१ मति आदि पांच प्रकार के सम्यग्ज्ञान में से यथासम्भव सम्यग्ज्ञान से परिणत जीव को ज्ञानपण्डित कहते हैं।

ज्ञानपण्डितमरण—१. ज्ञानपण्डितमरणानि च तेषु (नरके भवनेषु विमानेषु ज्योतिष्केषु वान-व्यन्तरेषु द्वीपसमुद्रेषु) एव। मनुष्यलोके एव केवल-मनःपर्यय-ज्ञानपण्डितमरणं भवति। (भ. आ. विजयो. २५)। २. नरके भवनेषु विमानेषु ज्योतिष्केषु वान-व्यन्तरेषु द्वीपसमुद्रेषु च ज्ञानपण्डितमरणम्। मनःपर्ययमरणं मनुष्यलोक एव मरणम्। (भावप्रा. टी. ३२)।

१ ज्ञानपण्डित के मरण को ज्ञानपण्डितमरण कहते हैं। वह मरण विमानवासी देवों, नारक, भवनवासी, वानव्यन्तर और द्वीप-समुद्रों में ही होता है। किन्तु केवलज्ञानमरण और मनःपर्ययज्ञानमरण मनुष्यलोक के भीतर ही होता है।

ज्ञानपरीषहजय—देखो अज्ञानपरीषहजय। ज्ञानं तु श्रुताख्यं चतुर्दशपूर्वाण्येकादशाङ्गानि, समस्तश्रुतधरो ऽहमिति गर्वमुद्वहते, तन्मानवर्जनकरणात् ज्ञानपरीषहजयः। ज्ञानप्रतिपक्षेणाप्यज्ञानेनाभिभूयमानतया परीषहो भवति, ज्ञानावरणक्षयोपशमोदयविजृम्भितमेतदिति स्वकृतकर्मफलपरिभोगादपैति तपोऽनुष्ठानेन चेत्येवमालोचयतो ज्ञानपरीषहजयो भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–९)।

ज्ञान से तात्पर्य चौदह पूर्व और ग्यारह अंगरूप श्रुतज्ञान का है। इस ज्ञान के आश्रय से 'मैं समस्त श्रुतज्ञान का धारक हूं' इस प्रकार का अभिमान होना सम्भव है, उसे न करना यह ज्ञानपरीषहजय है।

ज्ञानपुलाक—१. स्खलितादिभिर्ज्ञानपुलाकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९)। २. स्खलित-मिलितादिभिरतिचारैर्ज्ञानमाश्रित्यात्मानमसारं कुर्वन् ज्ञानपुलाकः। (प्रव. सारो. वृ. ७२३, पृ. २१०)।

२ स्खलित (विस्मरण) और मिलित आदि अतिचारों के द्वारा ज्ञान का आश्रय लेकर अपने को निस्सार—चारित्रहीन—करने वाला साधु ज्ञानपुलाक कहलाता है।

ज्ञानप्रवाद—१. पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रादुर्भावविषयायतनानां ज्ञानिनाम् अज्ञानिनामिन्द्रियाणां च प्राधान्येन यत्र विभागो विभावितः तज्ज्ञानप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२)। २. णाणपवादं णाम पुव्वं वारसण्हं वत्थूणं १२ विसदवालीसपाहुडाणं २४० एगूणकोडिपदेहिं पंचणाणाणि तिण्णि अण्णाणाणि वण्णेदि। दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठियणयं पडुच्च अणादिअणिहण-अणादिसणिहण सादिअणिहण-सादिसणिहणाणि वण्णेदि, णाणं णाणसरूवं च वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११६); पञ्चानामपि ज्ञानानां प्रादुर्भावविषयायतनानां ज्ञानिनामज्ञानिनामिन्द्रियाणां च प्राधान्येन यत्र विभागोऽनादिनिधनानादिसनिधन-सादिनिधन-सादिसनिधनादिविशेषैर्विभावितस्तज्ज्ञानप्रवादम्। (धव. पु. ९, पृ. २१२)। ३. णाणप्पवादो मदि-सुद-ओहि-मणपज्जव केवलणाणाणि वण्णेदि। पच्चक्खाणुमाणादिसयलपमा-

चाणि अण्णाणुववत्तिएक्कलक्खणहेउसरूवं च परू-वेदि। (जयध. १, पृ. १४१)। ४. एकोनकोटि-पदम् अष्टज्ञानप्रकाराणां उ[त]दुदयहेतूनां तदाधा-राणां च प्ररूपकं ज्ञानप्रवादम् ९९९९९९९। (श्रुत-भ. टी. ११, पृ. १७)। ५. ज्ञानप्रवादं पञ्चमम्, तस्मिन् मतिज्ञानादिपञ्चकस्य भेदप्ररूपणा यस्मात् कृता तस्मात् ज्ञानप्रवादम्। (समवा. अभय. वृ. सू. १४७, पृ. १२१)। ६. ज्ञानानां प्रवादः प्ररूपणम् अस्मिन्निति ज्ञानप्रवादं पञ्चमं पूर्वम्। तत् मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि पञ्चज्ञानानि कुमति-कुश्रुत-विभंगाख्यानि त्रीण्यज्ञानानि; स्वरूप-संख्या-विषय-फलान्याश्रित्य तेषां प्रामाण्याप्रामाण्यविभाग च वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६६)। ७. अष्टज्ञान-तदुत्पत्तिकारण-तदाधारपुरुष-प्ररूपकं एकोनकोटिप्रमाणं ज्ञानप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)।

१ जिस पूर्वश्रुत में उत्पत्ति, विषय, आयतन, ज्ञानी जन, अज्ञानी जन और इन्द्रियों की प्रधानता से पांचों ज्ञानों के विभाग का विचार किया गया है वह ज्ञानप्रवादपूर्व कहलाता है। ५ मतिज्ञानादि पांच प्रकार के ज्ञानों की प्ररूपणा करने के कारण पांचवां पूर्व ज्ञानप्रवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

ज्ञानबाल—वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबा-लाः। (भ. आ. विजयो. २५; भावप्रा. टी. ३२)। वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्राहक ज्ञान से रहित जीवों को ज्ञानबाल कहते हैं।

ज्ञानबोधि—बोधनं बोधिः जिनधर्मलाभः, ज्ञान-बोधिः—ज्ञानावरणक्षयोपशमसम्भूता ज्ञानप्राप्तिः। (स्थाना. २, ४, १०४, पृ. ६१)।

ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए ज्ञान की प्राप्ति को ज्ञानबोधि कहते हैं।

ज्ञानमूढ—ज्ञानमूढा उदितज्ञानावरणाः। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०४, पृ. ६१)।

ज्ञानावरणकर्म के उदययुक्त प्राणियों को ज्ञानमूढ कहा जाता है।

ज्ञानमोह—ज्ञानं मोहयति आच्छादयतीति ज्ञान-मोहो ज्ञानावरणोदयः। (स्थाना. अभय वृ. २, ४, १०४, पृ. ६१)।

जो ज्ञान को मोहित—विपरीत—करता है उसे ज्ञानमोह कहते हैं।

ज्ञानविनय—१. काले विणए उवधाणे बहुमाणे तहेवणिण्हवणे। वंजण अत्थ तदुभए विणओ णाणम्मि अट्ठविहो॥ (भ. आ. ११३; मूला. ५-१७०)। २. सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यास-स्मरणादि-र्ज्ञानविनयः। (स. सि. ९-२३; त. वा. ९, २३, २; त. श्लो. ९-२३)। ३. तत्थ णाणविणओ पंचविधो—अभिणिबोहियणाणविणओ सुतणाणवि-णओ ओहिणाणविणओ मणपज्जवणाणविणओ केव-लणाणविणओ त्ति, से णाणविणओ कहं भवइ? तं जहा—जस्स एतेसु णाणेसु पंचसुवि भत्ती बहु-माणो वा, जे वा एतेहिं णाणेहिं पंचहिं भावा दिट्ठा दीसंति दीसिस्संति वा तेसिं सद्दहणत्तं एस णाणवि-णओ। (दशवै. चू. १, पृ. २६)। ४. अनलसेन शुद्धमनसा देश-कालादिविशुद्धिविधानविचक्षणेन सब-हुमानो (चा. सा.—सबहुमानेन) यथाशक्ति निषे-व्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यास-स्मरणादिर्ज्ञान-विनयो वेदितव्यः। (त. वा. ९, २३, २; चा. सा. पृ. ६५)। ५. णाणविणओ णाम अभिक्खणभि-क्खणं णाणोवजोगजुत्तदा बहुसुदभत्ती पवयणभत्ती च। (धव. पु. ८, पृ. ८०)। ६. तत्र ज्ञानविनयः काल-विनय-बहुमानोपधानादिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२३); अस्मिन् सति ज्ञानादिपञ्चके भक्ति-र्बहुमानो ज्ञानस्वरूपश्रद्धानं तद्विषयं श्रद्धानं च ज्ञान-विनयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२३) ७. ज्ञान-स्य ग्रहणाभ्यास-स्मरणादीनि कुर्वतः। बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत्॥ (त. सा. ७-३२)। ८. आगमाध्ययनं कार्यं कृतकालादिशुद्धिना। विन-याकुञ्चितेन बहुमानविधायिना॥ (अमित. श्रा. १३-१०)। ९. णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए। जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाण-विणओ हु॥ (वसु. श्रा. ३२२)। १०. द्रव्यादि-शोधनं वस्तु प्रमाणावग्रहादिकम्। बहुमानः श्रुतज्ञेषु श्रुतज्ञाऽऽसादनोज्झनम्॥ वयःशील-श्रुतेनाधिका-श्रुपाध्यायकीर्तनम्। चाऽनिह्नवेन येनायं ज्ञानावरण-कारणम्॥ स्वराक्षर-पद-ग्रन्थार्थाहीनाध्ययनादिक-म्। स्याज्ज्ञानविनयः सम्यग्ज्ञान-स्वर्मोक्षकारणम्॥ (आचा. सा. ६, ७२-७४)। ११. तत्र सबहुमानं ज्ञानग्रहणाभ्यास-स्मरणादि ज्ञानविनयः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। १२. शुद्धव्यञ्जनवाच्यतद्-द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया योग्यावग्रहधारणेन समये

तदुभाविति भक्त्यापि च । यत्काले विहिते कृताञ्जलि-पुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः, सच्छास्त्राध्ययनं स बोध-विनयः साध्योऽष्टधापीष्टदः ॥ (अन. ध. ७–६७)। १३. अनलसेन देश-काल-द्रव्य-भावादिविशुद्धिकरणेन बहुमानेन मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणं ज्ञानाभ्यासो ज्ञानसंस्मरणादिकं यथाशक्ति ज्ञानविनयो वेदितव्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२३)। १४. अनलसेन देश-कालादि-विशुद्धिविधानज्ञेन सबहुमानो यथाशक्ति क्रियमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यास-स्मरणादिः ज्ञानविनयः। (भावप्रा. टी. ७८)। १५. ज्ञाने जिनोक्तसिद्धान्ते द्वादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्वाणां कालशुद्धया पठनं व्याख्यानं परिवर्तनम्, हस्त-पादौ प्रक्षाल्य यत् पठति यस्मात् पाठयति तयोः कीर्तनम्, व्यञ्जनशुद्धम्, अर्थशुद्धम्, व्यञ्जनार्थशुद्धमिति ज्ञाने अष्टप्रकारो विनयः। (कार्तिके. टी. ४५६); ज्ञाने द्वादशाङ्ग-लक्षणे व्यञ्जनोर्जितादिना पठनं पाठनं वा चिदानन्दैकस्वस्वरूपपरिज्ञाने वा ज्ञानविनयः। (कार्तिके. टी. ४५७)।

२ मोक्ष के निमित्त अतिशय सम्मान के साथ ज्ञान को ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना और अभ्यस्त विषय का स्मरण रखना; इत्यादि सब ज्ञानविनय कहलाता है। ६ काल, विनय, बहुमान और उपधान आदि रूप आठ प्रकार के ज्ञानाचार का नाम ज्ञानविनय है।

ज्ञानविराधना—ज्ञानस्य विराधना ज्ञानविराधना—ज्ञानप्रत्यनीकता निह्नवादिरूपा। (समवा. अभय. वृ. ३, पृ. ७)।

निह्नवादिरूप—ज्ञान का अपलाप करना एवं गुरु आदि के नाम को छिपाना इत्यादिरूप—ज्ञान के प्रतिकूल आचरण करने का नाम ज्ञानविराधना है।

ज्ञानसमय—१. तेषाम् (पञ्चानामस्तिकायानाम्) एव मिथ्यादर्शनोदयोच्छेदे सति सम्यगवायः परिच्छेदो ज्ञानसमयो ज्ञानागम इति यावत्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ३)। २. तेषामेव पञ्चानां मिथ्यात्वोदयाभावे सति संशय-विमोह-विभ्रमरहितत्वेन सम्यगवायो बोधो निर्णयो निश्चयो ज्ञानसमयोऽर्थ-परिच्छित्तिर्भावश्रुतरूपो भावागम इति यावत्। (पंचा. का. जय. वृ. ३)।

१ मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाने पर पांचों अस्तिकायों का जो सम्यक्—संशय, विमोह और विभ्रम से रहित—निश्चयात्मक बोध होता है उसे ज्ञानसमय कहते हैं।

ज्ञानाकार — अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारावर्शतलवत् ज्ञानाकारः। (त. वा. १, ६, ५, पृ. ३४)।

प्रतिबिम्ब के आकार से रहित शुद्ध दर्पणतल के समान ज्ञान का आकार होता है।

ज्ञानाचार—१. काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेवणिण्हवणे। वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥ (मूला. ५–७२)। २. काले विणए बहुमाणे उवहाणे तह य अनिण्हवणे। वंजण अत्थ तदुभए अट्ठविहो णाणमायारो ॥ (दशवै. नि. १८४; व्यव. भा. १–६३; पंचाश. ७१७; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६७ उद्.)। ३. तस्मिन् वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाचारः। (भ. आ. विजयो. ४६); पञ्चविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः। (भ. आ. विजयो. व मूला. ४१९)। ४. संशय-विपर्यासानध्यवसायरहितत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानम्, तदाचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः। (परमा. वृ. १–७)। ५. ज्ञानाचारः—श्रुतज्ञान-विषयः कालाध्ययन-विनयाध्ययनादिरूपो व्यवहारोऽष्टधा। (समवा. अभय. वृ. १३६, पृ. १००)। ६. पञ्चविधज्ञाननिमित्तं शास्त्राध्ययादिक्रिया ज्ञानाचारः। (मूला. वृ. ५-२)।

१, २ काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यञ्जन, अर्थ और तदुभय (दोनों); इन आठ ज्ञानाङ्गों के साथ ज्ञान का अभ्यास करना, इसका नाम ज्ञानाचार है। ३ वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण करने वाले ज्ञान में जो परिणति होती है, इसे ज्ञानाचार कहा जाता है।

ज्ञानातिचार—१. अक्षर-पदादीनां न्यूनताकरणम्, अतिवृद्धिकरणम्, विपरीतपौर्वापर्यरचना, विपरीतार्थनिरूपणा, ग्रन्थार्थयोर्वैपरीत्यम्; अमी ज्ञानातिचारः। (भ. आ. विजयो. १६)। २. ज्ञानस्य [अतिचाराः] द्रव्यादिशुद्धिं विनाध्ययनम्, अर्थ-पदादीनां न्यूनाधिकत्वकरणम्, विपरीतपौर्वापर्यरचना, विपरीतार्थनिरूपणम् ग्रन्थार्थयोर्वैपरीत्यम्; सन्देह-सन्देहविपर्यासानध्यवसाया वा। (भ. आ. मूला. १६)।

ग्रन्थ के अक्षर और पद आदि में कमी करना, अतिशय वृद्धि करना, पूर्वापरविरोधी विपरीत रचना

करना, विपरीत अर्थका निरूपण करना तथा ग्रन्थ व अर्थ की विपरीतता करना; ये ज्ञानातिचार हैं।

ज्ञानानुभूति— आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा। आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥ (समय. क. १३)।

शुद्ध नयस्वरूप जो आत्मा का अनुभवन है, इसे ही ज्ञानानुभूति कहा जाता है।

ज्ञानाराधना— १. सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा। णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुत्ते ॥ (आरा. सा. ५)। २. ज्ञानस्य श्रुतस्याराधना—कालाध्ययनादिष्वष्टस्वाचारेषु प्रवृत्त्या निरतिचारपरिपालना ज्ञानाराधना। (स्थाना. अभय. वृ. ३, ४, १९५, पृ. १५०)।

१ सूत्र व अर्थ की भावना अथवा जीवादि भावों का जो अधिगम होता है, इसे ज्ञानाराधना कहते हैं। २ नियत काल में अध्ययन आदि (विनय-बहुमानादि) रूप आठ प्रकार के ज्ञानाचार में प्रवृत्त होने से जो श्रुतज्ञान का निरतिचार परिपालन होता है उसका नाम ज्ञानाराधना है।

ज्ञानावरण, ज्ञानावरणीय—१. आव्रियतेऽनेनावृणोतीति वावरणम्, ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणम्। (श्रा. प्र. टी. १०)। २. णाणमवबोहो अवगमो परिच्छेदो इदि एयट्ठो। तमावारेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं। (धव. पु. ६, पृ. ६); णाणावारओ पोग्गलक्खंधो पवाहसरूवेण अणाइबंधणबद्धो णाणावरणीयमिदि भण्णदे। (धव. पु. ६, पृ. ८–९); ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयम्। (धव. पु. १३, पृ. २०६); सायारो णाणं, तदावारयं कम्मं णाणावरणीयमिदि। (धव. पु. १३, पृ. २०७); ३. ज्ञानमाव्रियते येन कर्मणा तत् ज्ञानावरणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–२); ज्ञानावरणं ज्ञानाच्छादनस्वभावं मौलभेदतः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–४); ज्ञानमेव बोधलक्षणो विशेषविषयः पर्याय आत्मनः, × × × तस्य आवरणम्, आच्छादनमावृतिः आवरणम्, आव्रियते वाऽनेनेति भाव-करणयोर्व्युत्पत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–५)। ४. सरउग्गयससिणिम्मलयरस्स जीवस्स छायणं जमिह। णाणावरणं कम्मं पडोवमं होइ एवं तु ॥ (कर्मवि. ग. १०)। ५. ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था येन तज्ज्ञानम्, तस्यावरणं ज्ञानावरणम्। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–११२, पृ. ३३)। ६. मइ १ सुय २ ओही ३ मण ४ केवलाणि जीवस्स आवरिज्जंति। जस्स प्पभावओ तं नाणावरणं भवे कम्मं ॥ (प्रव. सारो. १२५३)। ७. तत्र ज्ञानावरणं तावत् सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधो ज्ञानम्, तस्यावरणं ज्ञानावरणम्। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १३)। ८. जन्तोः सर्वज्ञरूपस्य ज्ञानमाव्रियते सदा। येन चक्षुः पटेनेव ज्ञानावरणकर्म तत् ॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४६५)। ९. ज्ञायतेऽर्थो विशेषरूपतयाऽनेनेति ज्ञानं मतिज्ञानादि, आव्रियतेऽनेनेति आवरणम् आवृणोतीति वा, ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६०७)। १०. ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्, सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः, आव्रियते आच्छाद्यते अनेनेत्यावरणीयम्, ज्ञानस्यावरणीयं ज्ञानावरणीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२८८, पृ. ४५३)। ११. निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः। (पंचाध्या. २–९८८)।

१ ज्ञान के आवारक कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं।

ज्ञानावरणीयवेदना—ज्ञानमावृणोतीति ज्ञानावरणीयं कर्मद्रव्यम्, ज्ञानावरणीयमेव वेदना ज्ञानावरणीयवेदना। (धव. पु. १०, पृ. १४)।

जो कर्मद्रव्य ज्ञान को आच्छादित करता है, उसका नाम ज्ञानावरणीय है, इस ज्ञानावरणीयरूप कर्मद्रव्य को ही ज्ञानावरणीयवेदना कहा जाता है।

ज्ञानोपयोग—१. जीवादिपदार्थस्वतत्त्वविषये सम्यग्ज्ञाने युक्तता ज्ञानोपयोगः। (स. सि. ६–२४)। २. ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः। मत्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिपदार्थ-स्वतत्त्वविषयं प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्यव्यवहितफलं हिताहितानुभयप्राप्ति-परिहारोपेक्षाव्यवहितफलं यत्, तस्य भावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः। (त. वा. ६, २४, ४)। ३. सागारो णाणोवजोगो। (धव. पु. ११, पृ. ३३४)। ४. मत्यादिविकल्पं परोक्ष-प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानम्, तस्य भावनायामुपयुक्तता उपयोगः, ज्ञानस्योपयोगो ज्ञानोपयोगः। (त. सुखबो. ६-२४)।

१ जीवादि पदार्थों के स्वरूप को विषय करने वाले सम्यग्ज्ञान में प्रवृत्त रहने को ज्ञानोपयोग कहते हैं। यह षोडशकारण भावनाओं में एक है। ३ साकार

—विशेष पदार्थविषयक—उपयोग को ज्ञानोपयोग कहा जाता है।

ज्ञायकशरीर—देखो ज्ञशरीरद्रव्यश्रुत। १. ज्ञातुः शरीरं त्रिकालगोचरं तत् ज्ञायकशरीरम्। (स. सि. १–५; त. वा. १, ५, ७)। २. ज्ञायको ज्ञो वा, तस्य शरीरं ज्ञायकशरीरं ज्ञशरीरं वा जीवरहितं सिद्धशिलातलगतं निषीधिकागतं वा। (उत्तरा. नि. शा. वृ. २–६६, पृ. ७२)। ३. तत्र ज्ञायकशरीरं त्रिकालगोचरं यत् ज्ञातुः शरीरं तत् ज्ञायकशरीरम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–५)।

१ तीनों कालविषयक ज्ञाता के शरीर को ज्ञायकशरीर कहा जाता है। २ जो जानता है वह ज्ञायक अथवा ज्ञ कहलाता है, उसके सिद्धशिलागत या निषीधिकागत निर्जीव शरीर को ज्ञायकशरीर अथवा ज्ञशरीर कहते हैं।

ज्ञायकशरीर अर्हन्—ज्ञायकशरीरार्हन्नाम तत्प्राभृतज्ञस्य त्रिकालगोचरं शरीरम्। (भ. आ. विजयो. ४६)।

अर्हत्प्राभृत के ज्ञाता के तीनों कालविषयक शरीर को ज्ञायकशरीर अर्हन् कहते हैं।

ज्ञायकशरीरद्रव्यकृति—जाणयस्स सरीरं जाणयशरीरं। कस्स जाणओ? कदिपाहुडस्स। कथमेदं णव्वदे? पयरणवसादो। तदेव दव्वकदी जाणुगसरीरदव्वकदी। (धव. पु. ६, पृ. २६७); तस्स कदिपाहुडजाणयस्स चुद-चइद-चत्तदेहस्स इमं सरीरमिदि कट्टु, ताणि सव्वसरीराणि जाणुगसरीरदव्वकदी णाम। (धव. पु. ६, पृ. २७०)।

च्युत, च्यावित अथवा त्यक्तशरीर वाले कृतिप्राभृत के ज्ञाता का जो शरीर है उसे ज्ञायकशरीरद्रव्यकृति कहते हैं।

ज्ञायकशरीरद्रव्यानन्त—तत्थ जाणुगसरीरदव्वाणंतं अणंतपाहुडजाणुगसरीरं तिकालजादं। (धव. पु. ३, पृ. १३)।

अनन्तप्राभृत के ज्ञाता के तीनों कालविषयक शरीर को ज्ञायकशरीरद्रव्यानन्त कहते हैं।

ज्ञायकशरीरद्रव्यासंख्येय—जं तं जाणुगसरीरदव्वासंखेज्जयं तं असंखेज्जपाहुडजाणुगस्स सरीरं भविय-वट्टमाण-समुज्झादत्तणेण तिभेदमावण्णं। (धव. पु. ३, पृ. १२३)।

असंख्येयप्राभृत के ज्ञाता के भावी, वर्तमान और समुज्झित (त्यक्त) शरीर को ज्ञायकशरीरद्रव्यासंख्येय कहा जाता है।

ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्तद्रव्यकृति—जा सा जाणुगसरीर-भविय-वदिरित्तदव्वकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा—गंथिम-वाइम-वेदिम-पूरिम-संघादिम-अहोदिम - णिक्खोदिम-ओव्वेल्लिम- उव्वेल्लिम-वण्ण-चुण्ण-गंधविलेवणादीणि जे चामण्णे एवमादिया सा सव्वा जाणुगसरीर-भवियवदिरित्तदव्वकदी णाम। (ष. खं. ४, १, ६५–पु. ९, पृ. २७२)।

ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्त द्रव्यकृति अनेक प्रकार की है। जैसे—ग्रन्थिम, वाइम, वेदिम, पूरिम, संघातिम, अहोदिम, निक्खोदिम, ओवेल्लिम, उव्वेल्लिम, वर्ण, चूर्ण, गन्ध और विलेपन आदि तथा और भी जो इसी प्रकार के अन्य हैं उन सबको ज्ञायकशरीर-भाविव्यतिरिक्तद्रव्यकृति कहा जाता है।

ज्ञायकशरीरभावीजीव—१. भवियंति भवियकाले कम्मागमजाणगो स जो जीवो। जाणुगसरीरभवियं एवं होदित्ति णिद्दिट्ठं॥ (गो. क. ६२)। २. यः कर्मागमज्ञायको भाविकाले भविष्यति स जीवो ज्ञायकभाविशरीरं स्यात्। (गो. क. जी. प्र. टी. ६२)।

१ जो जीव भविष्य में कर्मागम का ज्ञाता होने वाला है उसे ज्ञायकशरीर भावी जीव कहते हैं।

ज्ञायकशरीरव्रत—व्रतज्ञस्य शरीरं त्रिकालगोचरं ज्ञायकशरीरव्रतम्। (भ. आ. विजयो. ११८५)।

व्रतों के जानने वाले जीव के त्रिकालविषयक शरीर को ज्ञायकशरीरव्रत कहते हैं।

ज्ञायकशरीरसिद्ध—ज्ञायकशरीरसिद्धः सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं भूतं भवत् भावि वा। (भ. आ. विजयो. १); सिद्धप्राभृतज्ञस्य शरीरं ज्ञायकशरीरम्। (भ. आ. विजयो. ४६)।

सिद्धप्राभृत के ज्ञाता का तीनों कालों सम्बन्धी शरीर ज्ञायकशरीरसिद्ध कहलाता है।

ज्ञेय—ज्ञेयं हि वस्तु सामान्य-विशेषात्मकमत्र यत्। (आचा. सा. ४–३)।

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को ज्ञेय कहते हैं।

ज्ञेयाकार—प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः। (त. वा. १, ६, ५, पृ. ३४, पं. ३०)।

प्रतिबिम्ब के आकार से परिणत दर्पणतल के समान ज्ञेय का आकार होता है।

ज्येष्ठत्व—ज्येष्ठत्वं माता-पितृ-गृहस्थोपाध्याया-र्यिकादिभ्यो महत्त्वमनुष्ठानेन वा श्रेष्ठत्वम् । (भ. आ. मूला. ४२१, पृ. ६१८) ।

माता, पिता, गृहस्थ, उपाध्याय, आर्यिका आदि की अपेक्षा महत्त्व की प्राप्ति अथवा अनुष्ठान के द्वारा प्राप्त श्रेष्ठता का नाम ज्येष्ठत्व है। यह दस प्रकार के श्रमणकल्प में सातवां है।

ज्योतिश्चारण—अध-उड्ढ-तिरियपसरे किरणे अवलंबिदूण जोदीणं । जं गच्छेदि तवस्सी सा रिद्धी जोदिचारणा णाम ॥ (ति. प. ४-१०४६) ।

जिसके प्रभाव से साधु नीचे, ऊपर और तिरछी फैलने वाली सूर्य-चन्द्रमादि ज्योतिषियों की किरणों का अवलम्बन ले करके आकाश में गमन किया जा सकता है उसे ज्योतिश्चारण ऋद्धि कहते हैं।

ज्योतिष्क—१. द्योतयन्त इति ज्योतींषि विमानानि, तेषु भवा ज्योतिष्काः, ज्योतिषो वा देवाः, ज्योतिरेव वा ज्योतिष्काः । मुकुटेषु शिरोमुकुटोपगूहिभिः प्रभामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैः सूर्य-चन्द्र-तारा-मण्डलैर्यथास्वं चिह्नैविराजमाना द्युतिमन्तो ज्योतिष्का भवन्तीति । (त. भा. ४-१३) । २. द्योतनस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः । (त. वा. ४, १२, १) । ३. द्योतयन्ति प्रकाशयन्ति जगदिति ज्योतींषि विमानानि, तेषु भवा ज्योतिष्काः, यदि वा द्योतयन्ति शिरोमुकुटोपगूहिभिः प्रभामण्डलकल्पैः सूर्यादिमण्डलैः प्रकाशयन्तीति ज्योतिषो देवा सूर्यादयः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-३८, पृ. ७०) । ४. तथा द्योतनं ज्योतिः, औणादिको शब्दव्युत्पत्तिः, ज्योतिरेषामस्तीति ज्योतिष्काः 'व्रीह्यादिभ्य' इति मत्वर्थीय इक्प्रत्ययः, तत आदेरिकारलोपः । (बृहत्सं. मलय. वृ. २) । ५. ज्योतिःस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः । (त. वृत्ति श्रुत. ४-१२) ।

१ लोक को प्रकाशित करने वाले विमानों में उत्पन्न होने वाले देवों को ज्योतिष्क या ज्योतिषी देव कहते हैं। अथवा विमानगत ज्योति (प्रभा) से सम्बन्ध रखने वाले देव ज्योतिष्क कहलाते हैं।

ज्योतीरश्मिचारण—देखो ज्योतिश्चारण । चन्द्रार्क-ग्रह-नक्षत्राद्यन्यतमज्योतीरश्मिसम्बन्धेन भुवीव पादविहारकुशलाः ज्योतीरश्मिचारणाः । (योगशा. स्वो. विव. १-९; प्रव. सारो. वृ. ६०१) ।

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, और नक्षत्र इनमें से किसी एक ज्योतिष विमान की किरणों के सम्बन्ध से जो पृथिवी के समान आकाश में पांवों से चल-फिर सकते हैं वे ज्योतिरश्मिचारण कहलाते हैं।

ज्वलनमुद्रा—हस्ताभ्यां सम्पुटं विधायाङ्गुलीः पद्मवद्विकास्य मध्यमे परस्परं संयोज्य तन्मूलसंलग्नाङ्गुष्ठौ कारयेदिति ज्वलनमुद्रा । (निर्वाणक. १९, ६, १५) ।

दोनों हाथों को मिलाकर, अंगुलियों को कमल के समान विकसित कर और दोनों मध्यमा अंगुलियों को परस्पर में जोड़कर उनके मूल भाग में अंगूठों के लगाने को ज्वलनमुद्रा कहते हैं।

झल्लरी—झल्लरी चर्मावनद्धविस्तीर्णवलयाकारा आतोद्यविशेषरूपा देशविशेषप्रसिद्धा । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११-१९६, पृ. ५४२) ।

किसी विशेष देश में प्रसिद्ध चमड़े से मढ़े हुए गोल आकार वाले बाजे को झल्लरी कहते हैं।

झल्लरीसंस्थान—मज्झम्हि सयभुरमणोदहिपरिक्खित्तदेसेण चंदमण्डलमिव समंतदो असंखेज्जजोयणंरुंदेण जोयणलक्खबाहल्लेण झल्लरीसमाणत्तादो [झल्लरीसंठाणो मज्झिमलोओ] । (धव. पु. ४, पृ. २१) ।

स्वयंभूरमण समुद्र से वेष्टित चन्द्रमण्डल के समान गोल, असंख्यात योजन विस्तृत तथा एक लाख योजन बाहल्यवाले (ऊंचे) क्षेत्र को झालर के आकार होने से झल्लरीसंस्थान (मध्यलोक) कहा जाता है।

झषावर्त—१. उट्ठित-निवेसितो उव्वत्तइ मच्छउव्व जलमज्झे । वंदिउकामो वान्नं झषो व परियत्तए तुरियं ॥ (प्रव. सारो. १५६) । २. उत्तिष्ठन् निविशमानो वा जलमध्ये मत्स्य इव उद्वर्तते—उद्वेल्लति यत्र तन्मत्स्योद्वृत्तम्, अथवा एकमाचार्यादिकं वन्दित्वा तत्समीप एवापरं वन्दनार्हं कंचन वन्दितुमिच्छंस्तत्समीपं जिगमिषुरुपविष्ट एव झष इव मत्स्य इव त्वरितमङ्गं परावृत्य यद्गच्छति तन्मत्स्योद्वृत्तम्, इत्थं च यदङ्गपरावर्तनं तज्झषावर्तमित्यभिधीयते । (प्रव. सारो. वृ. १५६, पृ. ३७) ।

२ जिस प्रकार जल में मछली घूमती है उसी प्रकार वन्दना करते समय जहां उठते हुए या बैठते हुए घूमकर वन्दना की जाती है, अथवा एक आचार्य आदि की वन्दना करके उनके समीपवर्ती

किसी दूसरे आचार्य की वन्दना करने के लिए बैठे-बैठे ही शीघ्रता से घूम कर जो जाना है, इसे झषोद्वृत्त कहते हैं, इस प्रकार से जो शरीर का परावर्तन किया जाता है, वह एक झषावर्त नामक कृतिकर्म का दोष है।

झुषिर (शुषिर)—तत्र शाल्यादिपलालतृणमयो झुषिरः। (व्यव. मलय. वृ. ८–८, पृ. ३)।

शाल्य आदि के पलाल (पुआल) तृणरूप संस्तर को शुषिर कहते हैं।

झोव—यस्मिन् प्रक्षिप्ते समो भागहारो भवति स राशिः समकरणो झोवः। (व्यव. भा. १–१८६, पृ. ६७)।

जिस राशि के मिलाने पर भागहार सम होता है उसे झोव राशि कहते हैं।

टंक—सिलामयपव्वएसु उक्किण्णवावी-कूव-तलाय-जिणघरादीणि टंकाणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४९५)।

शिलामय पर्वतों पर उकेरी गई बावड़ी, कुआं, तालाब और जिनगृह आदि टंक कहलाते हैं।

टोलगतिवन्दनक—१. टोल्लोव्व उप्फिडंतो स्रोस क्कहिसक्कणं कुणइ ॥ (प्रव. सारो. १५७)। २. उत्ष्वष्कणं अग्रतः सरणम्, अभिष्वष्कणं पश्चादपसरणम्, ते उत्ष्वष्कणाभिष्वष्कणे, टोलवत् तिड्डवत् उत्प्लुत्य उपप्लुत्य करोति यत्र तट्टोलगतिवन्दनकम्। (आव. हरि. वृ. मल. हे. टि. पृ. ८७)। ३. अवष्वष्कणं पश्चाद् गमनम्, अभिष्वष्कणम् अभिमुखगमनम्, ते अवष्वष्कणाभिष्वष्कणे, टोलोव्व तिड्डवदुत्प्लवमानः करोति यत्र तट्टोलगतिवन्दनकम्। (प्रव. सारो. वृ. १५७, पृ. ३६)।

१ टिड्डी अथवा शलभ (पतंगा) के समान उछल उछल करके कभी आगे और कभी पीछे वन्दना करने को टोलगतिवन्दनक कहते हैं।

डमरकर—काय-वाङ्मनोभिर्विचित्रं ताडनं डमरम्, तत्करणशीलो डमरकरः। (आव. मलय. वृ. १०८६, पृ. ५९७)।

काय, वचन और मन के द्वारा विचित्र प्रकार के ताडन (डमर) करने वाले व्यक्ति को डमरकर कहते हैं। यह अप्रशस्त भावकर है।

डमरुक मुद्रा—दक्षिणकरेण मुष्टिं बध्वा कनिष्ठिकाङ्गुष्ठौ प्रसार्य डमरुकवच्चालयेदिति डमरुकमुद्रा। (निर्वाणक. १९, ८, १४, पृ. ३३)।

दाहिने हाथ की मुट्ठी बांध कर कनिष्ठा और अंगुष्ठ को पसार कर डमरु के समान चलाने को डमरुकमुद्रा कहते हैं।

डायस्थिति—१. जत्तो ठितिठाणट्ठितो तीए चेव पगतीए उक्कोसितं ठितिं बंधति सा डायट्ठिति वुच्चति। (कर्मप्र. चू. उद्व. क. ६, पृ. १४६)। २. उक्कोस डायठिई ××× । (पंचसं. उद्व. क. १५)। ३. यतः स्थितिस्थानादपवर्तनाकरणवशेन उत्कृष्टां स्थितिं याति तावती स्थितिर्डायस्थितिरित्युच्यते। ××× यतः स्थितिस्थानान्मण्डूकप्लुतिन्यायेन डायां—फालां दत्वा या स्थितिर्बध्यते ततः प्रभृति तदन्ता तावती स्थितिर्बद्धा डायस्थितिरिहोच्यते। सा चोत्कर्षतोऽन्तःसागरोपमकोटीकोट्यूनसकलकर्मस्थितिप्रमाणा वेदितव्या। (पंचसं. मलय. वृ. बं. क. ११२, पृ. ६२)। ४. यतो यस्याः स्थितेरारभ्य परमः उत्कृष्टो बन्धो भवति—उत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति, तस्याः प्रभृति सर्वाऽपि स्थितिर्डायस्थितिरित्युच्यते। सा चोत्कर्षतः किञ्चिदूना—किञ्चिदूनकर्मस्थितिप्रमाणा वेदितव्या। (पंचसं. मलय. वृ. उद्व. क. १५)।

१ जहां स्थितिस्थान में स्थित होकर उसी प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है उस स्थिति का नाम डायस्थिति है। ४ जिस स्थिति से लगाकर उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है उससे लेकर समस्त स्थिति को डायस्थिति कहते हैं।

डड्डर—डड्डरं महता शब्देनोच्चारयतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)।

उच्च स्वर से उच्चारण करते हुए वन्दना करना, यह वन्दना का एक डड्डर नामका दोष है।

तटच्छेद—दोहि वि तडेहि णदीपमाणपरिच्छेदो, अथवा दव्वाणं सयमेव छेदो तडच्छेदो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४३६)।

दोनों तटों से नदीके प्रमाणके जानने का नाम तटच्छेद है, अथवा द्रव्यों का जो स्वयं ही छेद—खण्डन—होता है उसे तटच्छेद जानना चाहिए।

तत—१. चर्मतननिमित्तः पुष्कर-भेरी-दर्दुरादिप्रभवस्ततः। (स. सि. ५–२४)। २. ततं तंत्रीसमुत्थानमवनद्धं मृदंगजम्। (पद्मपु. २४–२०)। ३. चर्मतननात्ततः पुष्कर-भेरी-दर्दुरादिप्रभवः। (त.

भा. ५, २४, ५; त. श्लो. ५-२४) । ४. ततो णाम वीणा-तिसरि- आलावणि-वव्वीस-खुक्खुणादि-जणिदो । (धव. पु. १३ पृ. २२१) । ५. ततो मृदंग-पणवाद्यातोद्यसमुत्थः । (त. भा. हरि. वृ. ५-२४) । ६. ततो मृदंग पटहादिसमुद्भवः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२४) । ७. ततं मृदंगपटहादि । (रायप. मलय. वृ. पृ. ६६) । ८. ततः शब्दः चर्मतननेन सञ्जातः । योऽसौ पुष्करः पटहः भेरी दुन्दुभिः दर्दुरो जल्लावादिविशेषः ततः 'र बाब' इति देश्याम्, इत्यादिकः तत इति कथ्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४) ।

१ चमड़ा के तनने के निमित्त से भेरी, मृदंग और दर्दुर (एक बाजा) आदि से निकलने वाले शब्द को तत कहते हैं ।

तत्त्व—देखो तत्त्वार्थ । १. एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् । (स्वयंभू ४१); य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्व-परप्रणाशिनः । त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ॥ (स्वयंभू. ६१); विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत्, विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः । सदान्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा, त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥ (स्वयंभू ११८) । २. तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं, द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वात् । (युक्त्यनु. ४७); प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मतत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम् ॥ (युक्त्यनु. ४६) । ३. तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः । (स. सि. १-२) । ४. चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः । (लघीय. ६); द्रव्य-पर्यायात्मकम् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं वस्तु तत्त्वम् । (लघीय. स्वो. विवृ. ६) । ५. तदिति विधिः, तस्य भावस्तत्त्वम् ××× तत्त्वं श्रुतं ज्ञानम् । (धव. पु. १३, पृ. २८५-८६) । ६. चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः । तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥ (तत्त्वानु. १११) । ७. योऽर्थो यथावस्थितस्तस्यार्थस्य तथाभावो भवनं तत्त्वम् । (त. वृत्ति श्रुत. १-२) । ८. जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते । (जम्बू. च. ३-१७) ।

१ जो एकान्त दृष्टि का निषेधक होकर तदतत् स्वभाव वाला है—नयविवक्षा से परस्पर विरोधी नित्य-अनित्य व एक-अनेक आदि धर्मों का समन्वय करने वाला है—उसे प्रमाणसिद्ध तत्त्व समझना चाहिए ।

तत्त्वज्ञ—तत्त्वज्ञः वस्तुतत्त्ववेदी । (पञ्चव. वृ. ११, पृ. ४) ।

वस्तुस्वरूप के जानने वाले को तत्त्वज्ञ कहते हैं ।

तत्त्वज्ञान—देखो तत्त्वाभिनिवेश । १. तत्त्वज्ञानं च जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः । (अनगा. ६, १६) । २. तत्त्वज्ञानमूहापोहविज्ञानविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयः । (योगशा. स्वो. विव. १-५१)।

१ जीवादि तत्त्वों की यथार्थता के निश्चय को तत्त्वज्ञान कहा जाता है । २ ऊहापोह रूप विशिष्ट ज्ञान से अतिशय शुद्ध 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का जो निश्चय होता है, उसका नाम तत्त्वज्ञान है । यह बुद्धि के शुश्रूषादि आठ गुणों में अन्तिम है ।

तत्त्वनिर्णिनीषु—तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः । (प्र. न. त. ८-४) ।

साधन और दूषण द्वारा तत्त्व के प्रतिष्ठापन की इच्छा रखने वाले पुरुष को तत्त्वनिर्णिनीषु कहते हैं ।

तत्त्वानुरूपत्व—तत्त्वानुरूपत्वं विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता । (समवा. अभय. वृ. ३५, पृ. ६०; रायप. मलय. वृ. पृ. १६) ।

विवक्षित वस्तुस्वरूप के अनुसरण करने को तत्त्वानुरूपत्व कहते हैं । यह ३५ सत्यवचनातिशयों में १५वां है ।

तत्त्वाभिनिवेश—देखो तत्त्वज्ञान । विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमित्थमेवेति निश्चयस्तत्त्वाभिनिवेशः । (ललितवि. पृ. ४३; ध. बि. १-३३; नीतिवा. ५-५३) ।

विज्ञान, ऊहापोह और अनुगम से विशुद्ध जो 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का निश्चय होता है उसे तत्त्वाभिनिवेश कहते हैं । यह एक बुद्धि का गुण है ।

तत्त्वार्थ—देखो तत्त्व । १. तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्य कस्य ? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः, अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत्, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः । अथवा ××× तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः । (स. सि. १-२) । २. तत्त्वेनार्यत इति तत्त्वार्थः । अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थस्तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः । (त. वा. १, २, ६) । ३. तत्त्वेनाव-

स्थितो भावस्तत्त्वेनैवार्थमानक: । तत्त्वार्थ: सकलो-ऽन्यस्तु मिथ्यार्थ इति गम्यते ॥ ××× तेन एत-दुक्तं भवति—यत्वेन जीवादित्वेनावस्थित: प्रमाण-नयैर्जीवत्वेनैवार्यमाणस्तत्त्वार्थ: सकलो जीवादि: । (त. श्लो. १, २, ५) । ४. मानेनार्थ्यंत इत्यर्थ-स्तत्त्वं भावः स्वरूपतः । (आचा. सा. ३–६) ।

१ जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसी रूप से निश्चित वह तत्त्वार्थ कहलाता है ।

तत्त्वार्थाधिगम—तत्त्वम् अविपरीतोऽर्थ: सुख-दुःख-हेतुः, अधिगम्यते अनेनास्मिन्निति तत्त्वार्थाधिगम: । (त. भा. हरि. वृ. का. २२, पृ. ११) ।

सुख-दुख का कारणभूत यथावस्थित पदार्थ जिसके द्वारा या जिसमें जाना जाता है उसका नाम तत्त्वार्थाधिगम है ।

तत्त्वावबोध—पदार्थस्वरूपपरिज्ञानं तत्त्वावबोध: । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–३७) ।

पदार्थस्वरूप के परिज्ञान का नाम तत्त्वावबोध है ।

तत्पुरुष—तत्पुरुषः समानाधिकरण: कर्मधारय:, धवलश्चासौ वृषभश्च विशेषण-विशेष्यबहुलमिति तत्पुरुषः । धवलत्वं विशेषणं वृषभेण विशेष्येण सह समस्यति, द्वे पदे एकमर्थं ब्रुवते इति समानाधिकर-णत्वम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७३) ।

समानाधिकरणयुक्त कर्मधारय समास को जिसमें विशेषण-विशेष्य की बहुलता रहती है, तत्पुरुष समास कहते हैं । जैसे—'धवलवृषभ' यहां धवल विशेषण और वृषभ विशेष्य है तथा दोनों पदों का एक ही अर्थ होने से उनमें सामानाधिकरण भी है ।

तत्प्रतिबद्ध—तत्प्रतिबद्धं च वृक्षस्थगुन्द-पक्वफला-दिलक्षणम् । (श्रा. प्र. टी. २८६) ।

वृक्ष में स्थित गोंद और पके हुए फलादि को तत्प्रतिबद्ध कहते हैं । यह पौषधोपवास का एक अतिचार है ।

तत्प्रतिरूपकव्यवहार—तथा तत्प्रतिरूपव्यवहर-णम्—तेनाधिकृतेन प्रतिरूपं सदृशं तत्प्रतिरूपम्, तेन व्यवहरणं यदत्र घटते व्रीह्यादि-घृतादिषु पलञ्जी-वसादि, तस्य तत्र प्रक्षेपेण विक्रयः । (श्रा. प्र. टी. २६८) ।

अधिकृत वस्तु के साथ उसके समान किसी अन्य अल्पमूल्य वाली वस्तु को, जहां जो मिश्रित होती हो—जैसे व्रीहि (एक प्रकार का धान्य) में कणरहित धान्य का तथा घी में चर्बी को, मिलाकर व्यवहार करना—बेचना, इसे तत्प्रतिरूपकव्यवहार कहते हैं । यह अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है ।

तत्सेवी—१. पासत्थो पासत्थस्स अणुगदो दुक्कड परिकहेइ । एसो वि मज्झसरिसो सव्वत्थ वि दोससंचइओ ॥ जाणादि मज्झ एसो सुहसीलत्तं च सव्वदोसे य । तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महल्लित्ति ॥ आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मए त्ति जाणादि । सो पवयणपडिकुद्धो[ट्ठो] दसमो आलो-चणादोसो ॥ (भ. आ. ६०१–३) । २. अस्या-पराधेन ममातिचार: समान:, तमयमेव वेत्ति, अस्मै यद्दत्तं तदेव मे युक्तं लघूकर्तव्यमिति स्वदुश्चरित-संवरणं दशमो (पा.—'दशमस्तत्सेवित') दोष: । (त. वा. ९, २२, २; चा. सा. पृ. ६२) । ३. पर-गृहीतस्यैव प्रायश्चित्तस्यानुमतेन स्वदुश्चरितसंवर-णम् । (त. श्लो. ९–२२) । ४. तत्सेवी य आत्मना दोषै: संपूर्णस्तस्य यो महाप्रायश्चित्तभयादात्मीय-दोषं प्रकटयति तस्य तत्सेवी नामा दशम आलोचना-दोषो भवेत् । (मूला. वृ. ११–१५) । ५. मादृशो वेत्त्यसावेव ममागोऽस्मै यदर्पितम् । तन्ममेति स्व-दोषोक्तिरस्मै तत्सेवितं मतम् ॥ (आचा. सा. ६, ३७) । ६. ××× समास्तत्सेवितं त्वसौ । (अन. ध. ७–४३) । ७. शिष्यो यमपराधमालोचयिष्यति तमेव सेवते यो गुरुरसौ तत्सेवी । तत्समीपे यदपरा-धालोचनमेष ममातिचारेण तुल्यस्ततो न किमपि मे प्रायश्चित्तं दास्यत्यल्पं वा दास्यति । न च मां खर-ण्टयिष्यति यथा विरूपं कृतं त्वयेति बुद्ध्या तदा-लोचनं तत्सेवी एष दशमः (तत्सेवी) आलोचना-दोष: । (व्यव. मलय. वृ. ३४२, पृ. १९) । ८. यत्पापं गुर्वग्रे प्रकाशितं तत्सर्वथा न मुंचति पुनरपि तदेव कुरुते स तत्सेवी कथ्यते । अथवा य आचार्य-स्तं दोषं करोति तदग्रे पापं प्रकाशयति, निर्दोषा-चार्याग्रे पापं न प्रकाशयतीति तत्सेवी दोष: । (भाव-प्रा. टी. ११८) ।

२ मेरा अपराध इसके अपराध के समान ही है, इसे यही जानता है, गुरु ने जो प्रायश्चित्त इसे दिया है वही मुझे कर लेना चाहिए । यह सोचकर अपने दुराचरण को प्रकाशित नहीं करना, यह आलोचना

का तत्सेवी नाम का दसवाँ दोष है। ७ जिस जिस अपराध की आलोचना करेगा उसी का सेवन करने वाला जो गुरु है वह तत्सेवी है, उसके समीप आलोचना करने पर चूंकि यह मेरे अतिचार के समान है इसलिए वह मुझे कुछ प्रायश्चित्त नहीं देगा या बहुत थोड़ा देगा तथा 'तुमने यह निकृष्ट कार्य किया है' ऐसा कहकर मुझे तिरस्कृत नहीं करेगा, इस विचार से जो आलोचना की जाती है वह तत्सेवी नाम का दसवां आलोचनादोष है।

तथाकार—१. वायणपडिच्छणाए उवदेसे सुत्त-अत्थ-कहणाए। अवितह मेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तथाकारो॥ (मूला. ४–१३३)। २. वायणपडिसुणणाए उवएसे सुत्त-अत्थकहणाए। अवितहमेयंति तहा पडिसुणणाए तहक्कारो॥ (आव. नि. ६८९)। ३. तथाकरणं तथाकारः, स च सूत्रप्रश्नगोचरो यथा भवद्भिरुक्तं तथेदमित्येवंस्वरूपः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६६, पृ. २५९); तथाकार इति कोऽर्थ इति ? आह—अवितथमेतत् यदाहुर्यूयमिति। (आव. नि. हरि. वृ. ६८९, पृ. २६५)। ४. वाचनाप्रतिश्रवणे उपदेशे सूत्रार्थयोजने गुरुणा क्रियमाणे अवितथमेतदिति कृत्वा पुनरपि यच्छ्रवणं तत्तथाकारः। (मूला. वसु. वृ. ४–१३३)। ५. तत्त्वाख्यानोपदेशादौ नान्यथा भगवद्वचः। तत्तथेत्यादरेणोक्तिस्तथाकारो गुणाकरः॥ (आचा. सा. २–८)।

१, २ वाचना के सुनने में, उपदेश के विषय में तथा सूत्र और अर्थ के कथन में 'आपका कथन यथार्थ है, इस प्रकार फिर से जो उसका श्रवण किया जाता है, यह तथाकार कहलाता है। तथाकार का अभिप्राय यही है कि जैसा आप तत्त्व का व्याख्यान कर रहे हैं वह यथार्थ है। इस प्रकार का तथाकार उक्त वाचनाप्रतिश्रवण आदि के विषय में करना चाहिये। यह दस प्रकार के समाचार के अन्तर्गत है।

तदानीतादान—देखो चौरार्थादान। तदा तच्छब्देन स्तेनपरामर्शः, स्तेनैरानीतमाहृतं कनक-वस्त्रादि, तस्यादानं ग्रहणं मूल्येन मुधिकया वा तदानीतादानम्। स्तेनानीतं हि काणक्रयेण मुधिकया वा प्रच्छन्नं गृह्णंश्चौरो भवति, ततश्चौर्यकरणाद् व्रतभङ्गः, वाणिज्यमेव मया क्रियते न चौरिकेत्यध्यवसायेन व्रतसापेक्षत्वान्न तद्भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचारः। (योगशा. स्वो विव. ३–९१; पृ. ५५२–५३)।

'तदानीत' में तत् शब्द से चोर को ग्रहण किया गया है, उसके द्वारा लाये गये सुवर्ण व वस्त्र आदि को मूल्य देकर अथवा बिना मूल्य दिये ही लेना, इसका नाम तदानीतादान है। यह अचौर्याणुव्रत का अतिचार इसलिये है कि चोरी से लाये गये सुवर्णादि को छिप करके मूल्य से या बिना मूल्य दिये ही ग्रहण करता है, इस प्रकार चोर होने के कारण व्रत को भंग करता है, तथा 'मैं तो व्यापार करता हूं, चोरी नहीं करता' इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखने से व्रत का भंग नहीं भी होता है।

तदाहृतादान—देखो तदानीतादान। १. अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम्। (स. सि. ७–२७, चा. सा. पृ. ६)। २. स्तेनैराहृतस्य द्रव्यस्य मुधा क्रयेण वा ग्रहणं तदाहृतादानम्। (त. भा. ७–२२)। ३. चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानम्। अप्रयुक्तेनाननुमतेन चोरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानं प्रत्येतव्यम्। (त. वा. ७, २७, २)। ४. तदाहृतादानमिति तच्छब्देन स्तेनपरामर्शः, तैराहृतम् आनीतं कनक-वस्त्रादि, तस्यादानम्—ग्रहणं मूल्येन मुधिकया वा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२२)। ५. तथा तैराहृतस्य कुङ्कुमादिद्रव्यस्यादानं संग्रहः। (ध. बि. मु. वृ. ३–२५)। ६. चोरेण चोराभ्यां चोरैर्वा यद्वस्तु चोरयित्वा आनीतं तद्वस्तु यत् मूल्यादिना गृह्णाति तत् तदाहृतादानम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२७)। ७. अप्रेरितेन केनापि दस्युना स्वयमाहृतम्। गृह्यते धन-धान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम्॥ (लाटीसं. ६–५०)।

१ अपनी प्रेरणा या सम्मति के बिना चोर के द्वारा लाये हुए द्रव्य के ग्रहण करने को तदाहृतादान कहते हैं।

तदुभय—१. [तदुभय-] संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम्। (स. सि. ९–२२; त. श्लो. ९–२२)। २. तदुभयसंसर्गे सति शोधनात्तदुभयम्। किञ्चित् कर्म आलोचनमात्रादेव शुद्ध्यति, अपरं प्रतिक्रमणेन, इतरत् पुनः तदुभयसंसर्गे सति शुद्धिमुपयातीति तदुभयमित्युपदिश्यते। (त. वा. ९, २२, ४)। ३. अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या मे दुष्कृतादिभिः। प्रतिक्रान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात्॥ (त. सा.

७–२१)। ४. किञ्चित्कर्माऽऽलोचनमात्रादेव शुद्ध्यत्य-परं प्रतिक्रमणेनेतरं[त्तु] दुःस्वप्नादिकं तदुभयसंसर्गेण शुद्धिमुपयाति। (चा. सा. पृ. ६२)। ५. उभयं आलोचन-प्रतिक्रमणे संसर्गदोषे सति विशोधनात्तदुभयम्। (मूला. वृ. ११–१६)। ६. स्यात्तदुभयमालोचना-प्रतिक्रमणद्वयम्। दुःस्वप्नदुष्टचिन्तादिमहा-दोषसमाश्रयम्॥ (आचा. सा. ६–४२)। ७. दुः-स्वप्नादिकृतं दोषं निराकर्तुं क्रियेत यत्। आलोचन-प्रतिक्रान्तिद्वयं तदुभयं तु तत्॥ (अन. ध. ७, ४८)।

२ आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का सम्बन्ध होने पर जो आत्मशुद्धि होती है उसे तदुभय प्रायश्चित्त कहते हैं।

तदुभयकल्पिक—तदुभयकप्पियजुत्तो तिगम्मि एगाहिगेसु ठाणेसु। णियधम्मऽवज्जभीरु ओवम्मं अज्जवहिरेहिं॥ (बृहत्क. ४०१)।

जो एक अधिक तीन स्थानों में—सूत्र में, सूत्र व अर्थ उभय में तथा सूत्र, अर्थ व उभय इन तीनों में—युक्त है अर्थात् उनके ग्रहण करने में समर्थ है उसका नाम तदुभयकल्पिक है। 'प्रियधर्म' से प्रियधर्मा, दृढधर्मा, प्रियधर्मा-दृढधर्मा तथा न प्रियधर्मा न दृढधर्मा ये चार भंग अभिप्रेत हैं। इनमें चौथा भंग अवस्तुस्वरूप है, अतः उसे छोड़कर शेष तीन भंगों में जो युक्त है वह तदुभयकल्पिक कहलाता है, जो पाप से भयभीत होता ही है। यहां आर्यवज्र का उदाहरण है।

तदुभयप्रत्ययिक-अजीवभावबन्ध—जे दोहिं वि कारणेहिं (मिच्छत्तासंजमकसायजोगेहिंतो तेहि विणा वि) समुप्पण्णा तेसिं तदुभयपच्चइयो अजीवभाव-बंधो त्ति सण्णा। (धव. पु. १४, पृ. २३)।

जो अजीवभाव मिथ्यात्वादि कारणों से और उनके बिना भी—दोनों ही प्रकार से—उत्पन्न होते हैं, उनका नाम तदुभयप्रत्ययिक-अजीवभावबन्ध है।

तदुभयप्रत्ययिक-जीवभावबन्ध— कम्माणमुदय-उदीरणाहिंतो तदुवसमेण च जो उप्पज्जइ भावो सो तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. १०)।

जो जीवभाव कर्मों के उदय और उदीरणा से तथा उनके उपशम से भी उत्पन्न होता है उसका नाम तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध है।

तदुभयवक्तव्यता—जत्थ दो वि परूवेऊण पर-समओ दूसिज्जदि ससमओ थाविज्जदि सा तदुभय-वत्तव्वदा णाम। (धव. पु. १ पृ. ८२)।

जहां स्वसमय और परसमय दोनों की ही प्ररूपणा करके परसमय को दूषित और स्वसमय को स्थापित किया जाता है उसका नाम तदुभयवक्तव्यता है।

तदुभयाचार—शब्दार्थशुद्ध्या पाठादि तदुभया-चारः। (मूला. वृ. ५–७२)।

शब्द और अर्थ की शुद्धि के साथ पाठ आदि के करने को तदुभयाचार कहते हैं।

तदुभयार्ह—तदुभयारिहं जं पडिसेविय गुरुणो आ-लोइज्जइ गुरुसंदिट्ठो य पडिक्कमइ त्ति पच्छा मिच्छा दुक्कडं ति भणइ, एयं तदुभयारिहं। (जीतक. चू. पृ. ६)।

जिस दोष का सेवन कर गुरु के समक्ष आलोचना करता है, गुरु का सन्देश पाकर प्रतिक्रमण करता है, तथा पीछे 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' यह कहता है, वह तदुभयार्ह कहा जाता है।

तद्भवमरण—१. तब्भवमरणं जो जंमि भवग्गहणे मरति णेरइयभवग्गहणादि। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२७)। २. तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्य-(चा. सा. 'प्ति'-) नन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्। (त. वा. ७, २२, २; चा. सा. पृ. २३)। ३. भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपसृष्टपूर्वभवविगमनम्। (भ. आ. वि-जयो. २५; भावप्रा. ३२)। ४. मोत्तुं अकम्मभूमिय नर-तिरये सुरगणे य नेरइये। सेसाणं जीवाणं तब्भ-वमरणं च केसिंचि॥ (प्रव. सारो. १०१२; स्थाना. अभय. वृ. १०२ उद्.)। ५. यस्मिन् भवे वर्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुनर्म्रियमाणस्य मरणं तद्भवमरणम्। एतच्च संख्यातायुष्कनर-तिरश्चामेव, तेषामेव हि तद्भवायुर्बन्धो भवतीति। (स्था-ना. अभय. वृ. २, ४, १०२, पृ. ८१)। ६. भुज्य-मानायुश्चरमसमये मरणं तद्भवमरणम्। (भ. आ. मूला. २५)।

१ जो जिस भवग्रहण में मरता है वह तद्भवमरण कहलाता है। जैसे—नारकभवग्रहण आदि। २ भवा-न्तरप्राप्ति के अनन्तर पूर्व भव का जो विनाश होता है उसे तद्भवमरण कहा जाता है। ४ अकर्मभूमिज (भोगभूमिज) मनुष्य, तिर्यंच, देवगण और नार-

क्रियों को छोड़कर शेष जीवों—कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों में—किन्हीं का तद्भवमरण होता है, अर्थात् वे मरकर पुनः उसी भव में उत्पन्न होते हैं।

तद्भाव—१. कस्तद्भावः ? प्रत्यभिज्ञानहेतुता। तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स तद्भावः। भवनं भावः, तस्य भावः तद्भावः। येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात् तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। (स. सि. ५-३१, त. वा. ५, ३१, १)। २. प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते। (त. सा. ३–१४)। ३. तेषां धर्मादीनां द्रव्याणां येन स्वरूपेण भवनं भावः तद्भावः। (त. वृत्ति श्रुत. ५–४२)।

१ 'यह वही है' इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का जो कारण है उसे तद्भाव कहते हैं। तद्भाव का अभिप्राय यह है कि जो वस्तु जिस रूप से पूर्व में देखी गई है उसी रूप में उसका फिर भी बना रहना, इसका नाम तद्भाव है।

तद्विहीनाभ्यन्तर सचित्तस्थान—जं तं तव्विहीणमब्भंतरं सच्चित्तट्ठाणं तं केवलणाण-दंसणहराणं अमोक्खठिदि-बंधपरिणयाणं सिद्धाणं अजोगिकेवलीणं वा जीवदव्वं। (धव. पु. १०, पृ. ४३५)।

केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक तथा मोक्ष व स्थितिबन्ध से अपरिणत सिद्धों या अयोगिकेवलियोंका जीवद्रव्य तद्विहीन (संकोच-विकोचविहीन) अभ्यन्तर सचित्तनोआगमद्रव्यस्थान कहलाता है।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यलेश्या—तव्वदिरित्तदव्वलेस्सा पोग्गलखंधाणं चक्खिंदियगेज्झो वण्णो। (धव. पु. १६, पृ. ४८४)।

चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य जो पुद्गलस्कन्धों का वर्ण होता है उसका नाम तद्व्यतिरिक्त द्रव्यलेश्या है।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यवर्गणा—तव्वदिरित्तदव्ववग्गणा दुविहा—कम्मवग्गणा णोकम्मवग्गणा चेदि। (धव. पु. १४, पृ. ५२)।

कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणा को तद्व्यतिरिक्त द्रव्यवर्गणा कहा जाता है।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यानन्त—जं तं तव्वदिरित्तदव्वाणंतं तं दुविहं—कम्माणंतं णोकम्माणंतमिदि। (धव. पु. ३, पृ. १५)।

कर्मानन्त और नोकर्मानन्त को तद्व्यतिरिक्त द्रव्यानन्त कहा जाता है।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यार्हत्—तीर्थकरनामकर्म तद्व्यतिरिक्तद्रव्यार्हन्। (भ. आ. विजयो. ४६)।

तीर्थंकरनामकर्म को तद्व्यतिरिक्त द्रव्य-अर्हत् कहा जाता है।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यासंख्यात—जं तं तव्वदिरित्तदव्वासंखेज्जयं तं दुविहं—कम्मासंखेज्जयं णोकम्मासंखेज्जयं चेदि। (धव. पु. ३, पृ. १२४)।

कर्मासंख्यात और नोकर्मासंख्यात को तद्व्यतिरिक्त द्रव्यासंख्यात कहा जाता है।

तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल—ववगददो-गंध-पंचरसट्ठफास-पंचवण्णो कुंभारचक्कहेट्ठिमसिलव्व वत्तणालक्खणो लोगागासपमाणो अत्थो तव्वदिरित्त-णोआगमदव्वकालो णाम। (धव. पु. ४, पृ. ३१४, ३१५)।

जो दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श और पांच वर्ण से रहित है; कुम्हार के चाक के नीचे की कील के समान वर्तनास्वरूप है, तथा लोकाकाश के प्रमाण है, वह तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकाल कहलाता है।

तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यदृष्टिवाद—दिट्ठिवादसुदहेदुभूददव्वाणि आहारादीणि तव्वदिरित्त-णोआगमदव्वदिट्ठिवादो। (धव. पु. ६, पृ. २०४)।

दृष्टिवाद श्रुत के हेतुभूत आहारादि द्रव्य तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यदृष्टिवाद कहलाते हैं।

तद्व्यतिरिक्त नोकर्मद्रव्यासंख्यात—दीव-समुद्दादि णोकम्मासंखेज्जयं। (धव. पु. ३, पृ. १२४)।

द्वीप व समुद्र आदि को तद्व्यतिरिक्त नोकर्मद्रव्यासंख्यात कहा जाता है।

तद्व्यतिरिक्त नोकर्मानन्त—जं तं णोकम्माणंतं तं कडय-रुजगदीव-समुद्दादि एयपदेसादिपोग्गलदव्वं वा। (धव. पु. ३, पृ. १५)।

कटक, रुचक, द्वीप व समुद्र आदि अथवा एक प्रदेशी आदि रूप पुद्गल द्रव्य; ये तद्व्यतिरिक्त नोकर्मानन्त कहलाते हैं।

तद्व्यतिरिक्त परीषह—ताभ्यां ज्ञशरीर-भव्यशरीराभ्यां व्यतिरिक्तः पृथग्भूतः तद्व्यतिरिक्तः, स च प्रकृतत्वात् द्रव्यपरीषहो भवेत्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ७२)।

ज्ञशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त परीषह को तद्व्यतिरिक्तद्रव्यपरीषह कहते हैं।

तद्व्यतिरिक्त संयमलब्धिस्थान—(उप्पादट्ठाण-पडिवादट्ठाणवदिरित्ताणि) सेससव्वाणि चेव चरित्तट्ठाणाणि तव्वदिरित्त (संजमलद्धि) ट्ठाणाणि। (धव. पु. ६, पृ. २८३)।

उपपादस्थान और प्रतिपातस्थानों को छोड़कर शेष सब चारित्रस्थान तद्व्यतिरिक्त संयमलब्धिस्थान कहलाते हैं।

तनुक्लेश—देखो कायक्लेश। तथा तनुः कायः, तस्याः क्लेशः शास्त्राविरोधेन बाधनं तनुक्लेशः। (योगशा. स्वो. विव. ४-८९, पृ. ३११)।

तनु का अर्थ शरीर है, उसे आगमाविरोध से बाधा पहुंचाना; इसका नाम तनुक्लेश है।

तनुचिकित्सा—तनुचिकित्सा ज्वरादिनिराकरणं कण्ठोदरशोधनकारणं च। (मूला. वृ. ६-३३)।

ज्वर आदि के निराकरण तथा कण्ठ व उदर की शुद्धि का जो कारण है उसका नाम तनुचिकित्सा है।

तन्तुचारण—१. मक्कडयतंतुपंतीउवरिं अदि-लघुओ तुरिदपदक्खेवे। गच्छेदि मुणिमहेसी सा मक्कडतंतुचारणा रिद्धी॥ (ति. प. ४-१०४५)। २. तन्तुमस्पृश्य तन्तूपरि गमनं तन्तुचारणत्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से महर्षि अतिशय लघु—गुरुता से रहित—होकर मकड़ी के तन्तु के ऊपर से पादक्षेप करते हुए गमन करने में समर्थ होते हैं उसे तन्तुचारण ऋद्धि कहते हैं।

तन्त्र—१. तन्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वा अर्थ इति तन्त्रम्। (आव. नि. हरि. वृ. १३०, पृ. ८७)। २. स्वमण्डलपालनाभियोगस्तन्त्रम्। (नीतिवा. ३०-४६, पृ. ३५६)।

१ जिसके द्वारा, जहां से अथवा जहां पर अर्थ को विस्तृत किया जाता है वह तंत्र कहलाता है। यह सूत्र या ग्रन्थ का पर्यायवाची नाम है।

तप—१. विसय-कसायविणिग्गहभावं काऊण झाण-सज्झाए। जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण॥ (द्वादशानु. ७७)। २. चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई। सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स॥ (भ. आ. १०)। ३. अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः। (स. सि. ६-२४; त. वा. ६, २४, ७); कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः। (स. सि. ९-६; त. वा. ९, ६, १७); अनशनावमौदर्यादिलक्षणं तपः। (स. सि. ९-२२)। ४. तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठिं, नासेतित्ति वुत्तं भवइ। (दशवै. चू. १, पृ. १५)। ५. कर्मनिर्दहनात्तपः। यथाग्निः संचितं तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निर्दहतीति तप इति निरुच्यते। देहेन्द्रियतपाद्वा। अथवा देहस्येन्द्रियाणां च तापं करोतीत्यनशनादि[अतः] तप इति निरुच्यते। (त. वा. ९, १९, २०-२१); तपोऽनशनादि। अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यानादि तपोऽवगन्तव्यम्। (त. वा. ९, २२, ७)। ६. तपतीति तपः, कर्तर्यसुन्, संयमात्मनः शेषाशयविशोधनार्थं बाह्याभ्यन्तरतापनं तपः, शरीरेन्द्रियतापात् कर्मनिर्दहनाच्च तपः। अपरः प्राह—विशेषेण कायमनस्तापविशेषात् तपः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९-६)। ७. तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्मेति तपोऽनशनादि। (दशवै. सू. हरि. वृ. १-१, पृ. २१)। ८. विशिष्टज्ञान-संवेग-शमसारमतस्तपः। क्षायोपशमिकं ज्ञेयमव्याबाधसुखात्मकम्॥ (तपोऽष्टक ११-८)। ९. तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टप्रकारं कर्मेति तपः। (आव. नि. हरि. वृ. १०३, पृ. ७२; धर्मसं. मलय. वृ. ११७५); कर्म तापयतीति तपः—पृथिव्यादिसंघट्टनादौ निर्विम(कृ)तिकादि। (आव. नि. हरि. वृ. १४१८, पृ. ७६४)। १०. तिण्हं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो तवो। (धव. पु. १३, पृ. ५४-५५); खवणायंबिल-णिव्वियडि-पुरिमंडलेयट्ठाणाणि तवो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ६१)। ११. मनोऽक्षग्राम-कायानां तपनात् सन्निरोधनात्। तपो निरुच्यते तज्ज्ञैस्तदिदं द्वादशात्मकम्॥ (म. पु. २०-२०४)। १२. तपो ह्यनागताघौघप्रवर्तननिरोधनम्। तज्जन्महेतुसंघातप्रतिपक्षयतो यथा (?)॥ भविष्यत्कालकूटादिविकारौघनिरोधनम्। मंत्र-ध्यानविधानादि स्फुटं लोके प्रतीयते॥ नृणामप्यघसम्बन्धो राग-द्वेषादिहेतुकः। दुःखादिफलहेतुत्वादतिभुक्तिविषादिवत्॥ तद्विरोधिविरागादिरूपं तप इहोच्यते। तदसिद्धावतज्जन्मकारणप्रतिपक्षता॥ (त. श्लो. ३७-४०, पृ. १६); अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः। कायक्लेशः समाख्यातं विशुद्धं शक्तितस्तपः॥ (त. श्लो. ६, २४, ९)। १३. अन-

शनादिपरित्यागात्मिका क्रिया अनपेक्षितदृष्टफला द्वादशविधा तपः। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)। १४. परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्। (उ. सा. ६–१९)। १५. इह-परलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो। विविहं कायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥ (कार्तिके. ४००)। १६. तपो ऽनशनादिद्वादशविधानुष्ठानम्। (चा. सा. पृ. २२); रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः। अथवा कर्मक्षयार्थं मार्गाविरोधेन तप्यते इति तपः। (चा. सा. पृ. ५९); गुणालंकृतेन कृतापराधेनोपवासैकस्थाना-चाम्ल-निर्विकृत्यादिभिः क्रियमाणं तप इत्युच्यते। (चा. सा. पृ. ६३)। १७. अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतम्। तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः॥ अथवा—अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम्। शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः॥ (उपासका. ९२२–२३)। १८. इन्द्रिय-मनसोर्नियमानुष्ठानं तपः। (नीतिवा. १–२०)। १९. तत्तपो यत्र जन्तूनां सन्तापो नैव जातुचित्। (क्षत्रचू. ६–१४)। २०. तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तपः बाह्याभ्यन्तरलक्षणं कर्मदहनसमर्थम्। (मूला. वृ. ५–२); कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपः। (मूला. वृ. ११–५)। २१. समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः। (प्रव. सा. जय. वृ. १–७९)। २२. तपः प्राहुरनुष्ठानं मानसाक्षनियामकम्। (आचा. सा. ६–३)। २३. कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्। तद् द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम्॥ (पद्म. पं. १–९८)। २४. × × × सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ। (लि. सा. वृ. ६ उद्धृत)। २५. तपस्तु च्छेदग्रन्थानुसारेण जीतकल्पानुसारेण वा येन केनचित् तपसा विशुद्धिर्भवति तत् तद् देयमासेवनीयं च। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०, पृ. ३१२)। २६. यत्तापयति कर्माणि तत्तपः परिकीर्तितम्। (जि. स. पु. च. १, १, १९७)। २७. तपो मनोऽक्ष-कायाणां तपनात् सन्निरोधनात्। निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम्॥ यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते। अर्जयत्यक्ष-मनसोस्तत्तपो नियमक्रिया॥ (अन. ध. ७, २–३)। २८. तप इन्द्रिय-मनसोर्नियमानुष्ठानम्। (भ. आ. मूला. टी. २)।

१ विषय-कषायों का निग्रह करके ध्यान व स्वाध्याय में निरत होते हुए आत्मचिन्तन करने का नाम तप है। ४ जो आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि—कर्मरूप गांठ—को सन्तप्त करता है—उसे नष्ट करता है, उसे तप कहा जाता है। ५ जो शरीर और इन्द्रियों को सन्तप्त करता हुआ कर्म को नष्ट करता है वह तप कहलाता है।

तप-आचार—१. द्वादशविधेऽपि तपसि × × × साभ्यन्तर-बाह्ये ऽनशनादि-प्रायश्चित्तादिलक्षणे कुशलदृष्टे—तीर्थकरोपलब्धे—अग्लान्या, न राजवेष्टिकल्पेन यथाशक्त्या वा अनाजीवको निःस्पृहः फलान्तरमधिकृत्य यो ज्ञातव्यो ऽसौ तप-आचारः, आचार-तद्वतोरभेदात्। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८१, पृ. १०६)। २. तपाचारः—बारसविहम्मि वि तवे सब्भिंतर-बाहिरे जिणुवदिट्ठे। अगिलाए अणाजीवी णायव्वो सो तवायारो॥ (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ९७ उद्.)। ३. अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तप-आचारः। (भ. आ. विजयो. ४६); चतुर्विधाहारत्यजनं न्यूनभोजनं वृत्तेः परिसंख्यानं रसानां त्यागः कायसंतापनं विविक्तावास इत्येवमादिकस्तपःसंज्ञित आचारः। (भ. आ. विजयो. ४१९)। ४. [तप-आचारः] द्वादशविधतपोविशेषानुष्ठितः। (समवा. अभय. वृ. १३६, पृ. १००)। ५. कायक्लेशाद्यनुष्ठानं तप-आचारः। (मूला. वृ. ५–२)। ६. अनशनादितपश्चरणपरिणतिस्तप-आचारः। (भ. आ. मूला. ४१९)।

१ अनशनादिरूप छह बाह्य और प्रायश्चित्तादि रूप छह अभ्यन्तर, इस प्रकार बारहों प्रकार के तप में उत्साहपूर्वक अथवा यथाशक्ति अनाजीवक (निःस्पृह) होकर फलान्तर की अपेक्षा से जो ज्ञातव्य है, उसका नाम तप-आचार है। यहां आचार और आचारवान् (जीव) में अभेद की विवक्षा रही है। ३ अनशनादिरूप क्रियाओं में प्रवृत्त होने को तप-आचार कहते हैं।

तप-आराधना—बारहविहतवयरणे कीरइ जा उज्जमो ससत्तीए। सा भणिया जिणसुत्ते तवम्मि आराहणा णूणं॥ (आरा. सा. ७)।

अपनी शक्ति के अनुसार बारह प्रकार के तप के आचरण में जो उद्यम किया जाता है, उसे तप-आराधना कहते हैं।

तप-प्रायश्चित्त—उपवासादि पूर्वोक्तं षड्विधं बाह्यं तपस्तपो नाम प्रायश्चित्तम् । (त. वृत्ति श्रुत. ९–२२) ।

उपवासादिरूप छह प्रकार के बाह्य तप का नाम तप प्रायश्चित्त है ।

तपविद्या (तपोविद्या)—छट्ठट्ठमादिउववासविहाणेहि साहिदाओ तवविज्जाओ । (धव. पु. ९, पृ. ७७) ।

षष्ठ व अष्टम उपवासादि के करने से जो विद्यायें सिद्ध की जाती हैं वे तपविद्यायें कहलाती हैं ।

तपविनय (तपोविनय)—१. उत्तरगुणउज्जोगो सम्मं अहियासणा य सद्धा य । आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणीयणुस्सेहो ॥ भत्ती तवोधियम्हि य तवम्हि अहीलणा य सेसाणं । एसो तवम्हि विणओ जहुत्तचारित्तसाहुस्स ॥ (मूला. ५, १७३–७४) । २. तपोऽधिके तपसि च भक्तिः, अनासादना च परेषां तपोविनयः । (भ. आ. विजयो. १०); अनशनादितपोजनितक्लेशसहनं तपोविनयः । (भ. आ. विजयो. ३००) । ३. महातपःस्थिते साधौ तपःकार्ये ससंयमे । भक्तिमात्यन्तिकीं प्राहुस्तपसो विनयं बुधाः ॥ (अमित. श्रा. १३–१३) । ४. बालोऽयं वुड्ढोऽयं संकप्पं वज्जिऊण तवसीणं । जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि ॥ (वसु. श्रा. ३२४) । ५. यथोक्तमावश्यकमावहन् सहन् परीषहानुत्तरगुणेषु चोत्सहन् । भजंस्तपोवृद्धतपांस्यहेलयन् तपोलघूनेति तपोविनीतताम् ॥ (अन. ध. ७–७५) । ६. द्वादशभेदे तपसि अनशनावमौदर्यादिद्वादशप्रकारे तपसि अनुष्ठानम् उत्साहः उद्योगः, तथा आतापनाद्युत्तरगुणेषु उद्यमः उत्साहः, समता-स्तव-वन्दना-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-कायोत्सर्गाणाम् आवश्यकानामपरिहाणिः, तथा यस्यावश्यकस्य यावन्तः पठिताः कायोत्सर्गाः तावन्त एव कर्तव्याः, न तेषां हानिर्वृद्धिर्वा कार्या, द्वादशविधतपोऽनुष्ठाने भक्तिरनुरागः तपस्विनां भक्तिः, इति तपसि विनयः । (कार्तिके. टी. ४५६); अनशनादिद्वादशभेदभिन्नतपोविधानेषु अखेदेन प्रवृत्तिः तदाचरणे उत्साहः आहारेन्द्रिय-कषायाणां राग-द्वेषयोश्च परित्यागः इत्यादितपोविनयः । (कार्तिके. टी. ४५७) ।

१ उत्तरगुणों के परिपालन में उत्साह रखना, इसमें होने वाले परिश्रम को निराकुलतापूर्वक सहना, उसमें श्रद्धा—निर्मल परिणाम—रखना, उचित आवश्यकों की हानि-वृद्धि न होने देना, जो तप में अधिक हैं उनमें और तप में भक्ति (अनुराग) रखना, और शेष—तप से हीन—साधुओं की अवहेलना न करना; यह सब तप का विनय कहलाता है ।

तपस्वी—१. विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः । ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ (रत्नक. १०) । २. महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी । (स. सि. ९–२४; त. श्लो. ९–२४; त. वृत्ति श्रुत. ९–२४; भावप्रा. टी. ७८) । ३. विकृष्टोग्रतपोयुक्तस्तपस्वी । (त. भा. ९–२४) । ४. तव-संजमे तवस्सी × × × ॥ (व्यव. भा. पी. २–१२) । ५. महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी । महोपवासादिलक्षणं तपोऽनुतिष्ठति यः स तपस्वी । (त. वा. ९, २४, ५) । ६. विचित्रं अनशनादिलक्षणं तपो विद्यते येषां ते तपस्विनः, सामान्यसाधवो वा । (आव. नि. हरि. वृ. १७९, पृ. ११९) । ७. आचाम्लवर्द्धन-सर्वतोभद्र-सिंहनिष्क्रीडित-शातकुम्भ-मन्दरपंक्ति-विमानपंक्ति-नन्दीश्वरपंक्ति-जिनगुणसम्पत्ति-श्रुतज्ञान-कनकावलि-मुक्तावलि-मृदङ्गमध्य-वज्रमध्य-कर्मक्षपण-त्रैलोक्यसारादिमहोपवासानुष्ठायी तपस्वी । (चा. सा. पृ. ६६) । ८. ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च । नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥ (उपासका. ८७७) । ९. तपस्वी क्षपकः । (स्थाना. अभय. वृ. ३, ४, २०८, पृ. १५९) । १०. तपस्वी—अष्टमादिक्षपकः । (औपपा. अभय. वृ. २०, पृ. ४३) । ११. तपो विकृष्टमष्टमादस्यास्तीति तपस्वी । (योगशा. स्वो. विव. २–१६); विकृष्टं दशमादि किञ्चिन्न्यूनषण्मासान्तं तपः कुर्वंस्तपस्वी । (योगशा. स्वो. विव. ४-९०, पृ. ३१४)। १२. तपःसंयमे—तपःप्रधानसंयमे—वर्तमानस्तपस्वी, तपोऽस्यास्तीति तपस्वीति व्युत्पत्तेः । (व्यव. मलय. वृ. पी. २–१२, पृ. ६) । १३. महोपवासादितपोऽनुष्ठानं विद्यते यस्य स तपस्वी । (त. वृत्ति श्रुत. ९–२४) । १४. महोपवास-कायक्लेशादितपोऽनुष्ठानं विद्यते यस्य स तपस्वी । (कार्तिके. टी. ४५९) ।

१ जो विषयों की इच्छा के वशीभूत न होकर आरम्भ व परिग्रह से रहित होता हुआ ज्ञान व ध्यान

में उद्यत रहता है वह तपस्वी प्रशंसा का पात्र होता है। २ जो महोपवासादिरूप तप का आचरण करता है वह तपस्वी कहलाता है। ३ जो विप्रकृष्ट—दशमादि कुछ कम छह मास तक—अनशनरूप तप से युक्त होता है उसे तपस्वी कहा जाता है।

तपःसमाधि—१. भवइ अ इत्थ सिलोगो—विविहगुणतवोरए य निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए। तवसा धुणइ पुराणपावगं जुत्तो सया तवसमाहिए ॥ (दशवै. सू. ६, ४, ४ पृ. २५७)। २. तपःसमाधिनापि विकृष्टतपसोऽपि न ग्लानिर्भवति तथा क्षुत्तृष्णादिपरीषहेभ्यो नोद्विजते, तथा अभ्यस्ताभ्यन्तरतपोध्यानाश्रितमनाः स निर्वाणस्थ इव न सुख-दुःखाभ्यां बाध्यते। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १, १०, १०६, पृ. १८८)।

१. जो अनेक गुणयुक्त तप में सदा रत रहता है, इहलोकादि की आशा से रहित है, तथा कर्मनिर्जरा का अभिलाषी है; वह विशुद्ध तप से पुरातन कर्म को नष्ट करता हुआ और नवीन कर्म को न बांधता हुआ तपःसमाधि में युक्त होता है।

तपःसंयम—तपः अनशनादिः, तत्प्रधानः संयमः—पञ्चाश्रवविरमणादिस्तपःसंयमः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ३–१५६, पृ. १४४)।

अनशनादिरूप तप की प्रधानता युक्त संयम—पांच आस्रवों से विरति आदि—का नाम तपःसंयम है।

तपःसिद्ध—१. न किलम्मइ जो तवसा सो तवसिद्धो दढप्पहारिव्व। (आव. नि. ९५२)। २. न क्लाम्यति—न क्लमं गच्छति—यः सत्त्वस्तपसा बाह्याभ्यन्तरेण स एवम्भूतस्तपःसिद्धः अग्लानित्वाद्, दृढप्रहारिवत्। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ९५२)।

२ जो बाह्य और अभ्यन्तर तप से संक्लेश को प्राप्त न हो उसे तपःसिद्ध कहते हैं। जैसे—दृढता से प्रहार करने वाला पुरुष उत्साहयुक्त होने से कभी खेद को नहीं प्राप्त होता।

तपोऽर्ह—तवारिहं जम्मि पडिसेविए निव्वीयाइओ छम्मासपज्जवसाणो तवो दिज्जइ एवं तवारिहं। (जीतक. चू. पृ. ६)।

जिस अपराध के सेवन करने पर निर्विकृति आदि छह मास तक बतलाने वाला तप दिया जाता है वह अपराध तप प्रायश्चित्त के योग्य (तपोऽर्ह) होता है।

तपोदानकथा—यादृशं स्यात्तपोदानमनीदृग्गुणोदयम्। कथनं तादृशस्यास्य तपोदानकथोच्यते ॥ (म. पु. ४–६)।

अनुपम गुणों की अभिवृद्धि से युक्त तप और दान की कथा करने को तपोदानकथा कहते हैं।

तपोमानवशार्तमरण—तपो मयानुष्ठीयते, मत्तो मत्सदृशश्चरणे नास्ति इति संकल्पयतस्तपोमानवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)।

जैसा महान् तपश्चरण मैं करता हूं वैसा दूसरा नहीं कर सकता, इस प्रकार के संकल्प या अभिमान के साथ होने वाले मरण को तपोमानवशार्तमरण कहते हैं।

तपोविद्या—देखो तपविद्या।

तपोविनय—देखो तपविनय।

तप्ततप—१. तत्ते लोहकडाहे पडिअंबुकणं व जीए भुत्तण्णं। झिज्जदि धाऊहिं सा णियझाणाए तत्ततवा ॥ (ति. प. १०५३)। २. तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशुशुष्काल्पाहारतया मल-रुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहाराः तप्ततपसः। (त. वा. ३, ३६, ३)। ३. तप्तं दग्धं विनाशितं मूत्र-पुरीष-शुक्रादि येन तपसा तदुपचारेण तप्ततपः। जेसिं भुत्तचउव्विहाहारस्स तत्तलोहपिंडागरिसिदपाणियस्सेव णीहारो णत्थि ते तत्ततवा। (धव. पु. ९, पृ. ९१)। ४. येषां पाणिपात्रगतमन्नं (?) मल-रुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहरणात्तप्ततपसः। (चा. सा. पृ. १००)। ५. तप्तायःपिण्डपतितजलकणवद् गृहीताहारशोषणान्नीहाररहितास्तप्ततपसः। (प्रा. योगिभ. टी. १५, पृ. २०३)। ६. तप्तायसपिण्डपतितजलबिन्दुवत् गृहीताहारशोषणपरा नीहाररहिताः ये ते तप्ततपसः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से तपी हुई लोह की कड़ाही पर गिरी हुई जल की बूंदों के समान खाया हुआ आहार शीघ्र सूख जाने से मल व रुधिर आदिरूप परिणत नहीं होता वह तप्ततप ऋद्धि कहलाती है।

तम—१. तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि। (स. सि. ५–२४)। २. पूर्वोपात्ताशुभकर्मो-

तमः। (त. वा. ५, २४, १); तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणम्। दृष्टेः प्रतिबन्धकं वस्तु तम इति व्यपदिश्यते, यदपहरन् प्रदीपः प्रकाशको भवति। (त. वा. ५, २४, १५)। ३. तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं केषांचित्। (त. श्लो. ५-२४)। ४. दृष्टिप्रतिबन्धकोऽन्धकारस्तमः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १६; कार्तिके. टी. २०६)। ५. तमयति खेदयति जनलोचनानीति तमः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५७, पृ. ३८)। ६. प्रकाशविपरीतं चक्षुःप्रतिबन्धनिमित्तं तमोऽपि पुद्गलविकारः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२४)।

१ जो प्रकाश का विरोधी होकर दृष्टि के प्रतिबन्ध का कारण है—पदार्थों के देखने में बाधा उत्पन्न करता है—उसे तम कहते हैं। ३ जो किन्हीं (मनुष्यादि) जीवों की दृष्टि में बाधक होता है उसे तम कहा जाता है। ५ जो प्राणियों के नेत्रों को पीड़ित करता है—पदार्थों के दर्शन में बाधक होता है—वह तम (अन्धकार) कहलाता है।

तर्क—१. सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः। अन्यथा सम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः॥ (प्रमाणसं. १२); समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम्। (प्रमाणसं. स्वो. विव. १२)। २. तर्को हेतुर्ज्ञापकमित्यनर्थान्तरम्। (धव. पु. १३, पृ. ३४६)। ३. सम्बन्धं व्याप्तितोऽर्थानां विनिश्चित्य प्रवर्तते। येन तर्कः स संवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते॥ येन हि प्रत्ययेन प्रतिपत्ता साध्य-साधनार्थानां व्याप्त्या सम्बन्धं निश्चित्यानुमानाय प्रवर्तते स तर्कः। त. श्लो. १, १३, ८४); ××× स्वविषयभूतस्य साध्य-साधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात् स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्कः, परम्परया तु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेति। (त. श्लो. १, १३, ११५)। ४. यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वः पावकजन्मैव, अपावकजन्मा न भवतीति सकलदेश-कालव्याप्तसाध्य-साधनसम्बन्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः। (प्रमाप. पृ. ७०)। ५. 'यदिदं तदियता कालेन सामग्रीविशेषेण वा इत्थम्भूतकार्यकारि' इति चिन्ता तर्कः। (सिद्धिवि. वृ. १-२३, पृ. १०६)। ६. कः पुनरयं तर्को नाम इति चेत् व्याप्तिज्ञानम्। व्याप्तिर्हि साध्य-साधनयोरविनाभावः, तद्ग्राहि ज्ञानं तर्कोऽभिधीयते। (न्यायकु. ३-१०, पृ. ४१८-१६)। ७. तर्कस्त्वेवमेव भवति, नान्यथेति व्याप्तिपरिज्ञानात्मा प्रमाणम्। (प्रमाणनि. पृ. ३५)। ८. उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्य-साधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः। (प्र. न. त. ३, ५)। ९. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः। (प्रमाणमी. १, २, ५)। १०. अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिज्ञानं दर्शन-स्मरणाभ्यां गृहीतप्रत्यभिज्ञाननिबन्धनं तर्कः चिन्ता। यथाग्नौ सत्येव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति। (लघीय. अभय. वृ. ३-१०, पृ. २६); चिन्ता तर्कः। (लघीय. अभय. वृ. ४-४, पृ. ४५)। ११. व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्य-साधनयोर्गम्य-गमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो व्याप्तिरविनाभाव इति च व्यपदिश्यते। (न्या. दी. पृ. ६२)।

३ जिस ज्ञान के द्वारा व्याप्ति से साध्य-साधनरूप अर्थों के सम्बन्ध का निश्चय करके अनुमान में प्रवृत्ति होती है उसे तर्क कहा जाता है।

तर्कशास्त्र — दुर्गमदुर्मत-महाकर्दमशोषणप्रवणार्कं तर्कशास्त्रम्। (गद्यचि. २, पृ. ५४)।

जो दुर्गम मिथ्या मतरूप महान् कीचड़ के सुखा देने में सूर्य के समान समर्थ होता है वह तर्कशास्त्र कहलाता है।

तर्काभास—१. असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्। (परीक्षा. ६-१०)। २. असत्यामपि व्याप्तौ तदवभासस्तर्काभासः। (प्र. न. त. ६-३५)। ३. असम्बद्धे व्याप्तिग्रहणं तर्काभासः। (लघीय. अभय. वृ. ४-४, पृ. ४६)।

१ व्याप्तिरूप सम्बन्ध के न रहने पर भी उसका ज्ञान होना, यह तर्काभास है।

तर्जा—तर्जा हस्तादिना चौर्यं प्रति प्रेषणादिसंज्ञाकरणम्। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. ६३)।

हाथ आदि से चोरी करने के लिए भेजने आदि का संकेत करने को तर्जा कहते हैं।

तर्जित—१. तर्जितम्—न कुप्यसि नापि प्रसीदसि काष्ठशिव इत्येवमादि तर्जयन् निर्भर्त्सयन् वन्दते, अङ्गुल्यादिभिर्वा तर्जयन्। (आव. नि. हरि. वृ. १२०६)। २. न वि कुप्पसि न पसीयसि कट्ठसिवो

वेव तज्जियं एयं। सीसंगुलिमाईहिं य तज्जेइ गुरुं पणिवयंतो ॥ (प्रव. सारो. १५६)। ३. काष्ठघटितशिवदेवताविशेष इवावन्द्यमानो न कुप्यसि तथा वन्द्यमानोऽप्यविशेषज्ञतया न प्रसीदस्येवं तर्जयन् वन्दते—निर्भर्त्सयन् यत्र वन्दते तत्तर्जितमुच्यते, यदि वा मेलापकमध्ये वन्दनकं मां दापयन् तिष्ठस्याचार्य ! परं ज्ञास्यते तवैकाकिन इत्यभिप्रायवान् यदा शीर्षेणाङ्गुल्या वा प्रदेशिनीलक्षणया तर्जयन् गुरुं प्रणिपतन्—वन्दमानस्तर्जयन् वन्दते तदा तर्जितं भवति। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. ६६, पृ. ८१)। ४. अन्यांस्तर्जयन्नन्येषां भयमुत्पादयन् यदि वन्दनां करोति तदा तर्जितदोषस्तस्य, अथवाऽऽचार्यादिभिरङ्गुल्यादिना तर्जितः शासितो "यदि नियमादिकं न करोषि निर्वासयामो भवन्तम्" इति तर्जितो यः करोति तस्य तर्जितदोषः। (मूला. वृ. ७-१०८)। ५. तर्जितमवन्द्यमानो न कुप्यसि वन्द्यमानश्चाविशेषज्ञतया न प्रसीदसि इति निर्भर्त्सयतो यद्वा बहुजनमध्ये मां वन्दनं दापयंस्तिष्ठसि, ज्ञास्यते मया तवैकाकिन इति धिया तर्जन्या शिरसा वा तर्जयतो वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)। ६. तर्जितं तर्जनान्येषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः ॥ (अन. ध. ८-१०५)।

३ काष्ठ से निर्मित शिव (महादेव) के समान तुम वन्दना न करने पर न तो कोपित होते हो और न वन्दना के करने पर प्रसन्न ही होते हो, इस प्रकार सिर व अंगुलि आदि से निर्भर्त्सना करते हुए गुरु की वन्दना करने पर तर्जित नाम का दोष होता है। अथवा हे आचार्य ! मेलाके मध्य में तुम मुझसे वन्दना कराते हुए स्थित रहते हो, मैं तुम्हें अकेले में देखूंगा; इस अभिप्राय के साथ सिर या अंगुलि से भर्त्सना करते हुए जो वन्दना की जाती है, यह उस वंदना का तर्जित नामक दोष है। ६ अन्य साधुओं की तर्जना करते हुए—उन्हें भयभीत करते हुए—वन्दना करना अथवा आचार्य (संघ) के द्वारा स्वयं तर्जित (शासित) होकर वंदना करना, यह वन्दना का एक तर्जित नाम का दोष है।

तलवर—१. तलवरः परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धभूषितः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १६)। २. तलवरः परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषितो राजस्थानीयः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १६-२०५, पृ. ३३०)। ३. तलवरो नाम परितुष्टनरपतिप्रदत्तरत्नालंकृतसौवर्णपट्टविभूषितशिराः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४७, पृ. २८०)।

१ प्रसन्न हुए राजा के द्वारा दिये गये सुवर्णमय पट्टबन्ध से जो भूषित होता है उसे तलवर कहते हैं।

तस्कर—संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम्। अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥ (सा. ध. ४-४७)।

रागादि के वश होकर जिसका कि स्वामी अन्य है, ऐसे तृण आदि को—तुच्छ वस्तु को—भी बिना दिये स्वयं ग्रहण करने वाला अथवा दूसरे को देने वाला तस्कर (चोर) कहलाता है।

तस्करप्रयोग—देखो चौरप्रयोग। तस्कराश्चौरास्तेषां प्रयोगो हरणक्रियायां प्रेरणमभ्यनुज्ञा 'हरत यूयम्' इति तस्करप्रयोगः। (धा. प्र. टी. २६८)।

'तुम अमुक वस्तु का अपहरण करो' इस प्रकार चोरों को चोरी करने के लिए प्रेरित करना, इसे तस्करप्रयोग कहा जाता है।

तादात्विक—यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति (योगशा.—अपव्येति) स तादात्विकः। (नीतिवा. २-७)।

जो कुछ भी विचार न करके उत्पन्न धन का अपव्यय करता है उसे तादात्विक कहते हैं।

ताप—१. परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः। (स. सि. ६-११; त. श्लो. ६-११)। २. परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः। परिवादः परिभवः, परुषवचनश्रवणादिनिमित्तापेक्षया कलुषान्तःकरणस्य तीव्रानुशयः परिणामः ताप इत्यभिधीयते। (त. वा. ६, ११, ३)। ३. तापस्तत्फलभूतो देहपीडाविशेषः। (त. भा. हरि. वृ. ६-१२)। ४. उभयनिबन्धनभाववादस्ताप इति। (ध. वि. २-३७)। ५. अभिमतद्रव्यवियोगादिपारिभाव्यादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयपरिणामस्तापः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१२)। ६. तापनं तापः, निन्दाकारणात् मानभंगविधानाच्च कर्कशवचनादेश्च संजातः आविलान्तःकरणस्य कलुषितचित्तस्य तीव्रानुशयोऽतिखेदेन पश्चात्तापः खेदः इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-११)। ७. आतापनामकर्मोदयात् रविमण्डलानामुष्णः प्रकाशस्तापः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. १२६, पृ. ४११)।

१ चिन्ता आदि के निमित्त से व्याकुलचित्त होते हुए जो तीव्र पश्चात्ताप होता है उसका नाम ताप है। ३ शोक के कारणभूत जो शरीर में पीड़ा होती है उसे ताप कहा जाता है। ४ कष (देखो 'कषाय' शब्द) और क्षेम का कारण जो परि-वर्तनशील विचित्र जीवादि पदार्थ हैं उनके ताप (निश्चय) का नाम ताप है। ७ आताप नाम-कर्म के उदय से सूर्यमण्डलों का जो उष्ण प्रकाश होता है उसे ताप कहते हैं।

तापस—१. बाह्यव्रत-विद्याभ्यां लोकदम्भहेतुस्ताप-सः। (नीतिवा. १४–१२, पृ. १७३)। २. तापस × × × जे जडिला ते उ तावसा गीया। (प्रव. सारो. ७३२)।

१ बाहिरी व्रत और विद्या के द्वारा जो लोगों के ठगने में कारण (वंचक) होता है वह तापस कह-लाता है। २ जटाधारी वनवासी पाखण्डी साधुओं को तापस कहते हैं।

ताल—तालस्तु कंसिकादिशब्दविशेषः। (अनुयो. मल. हेम. वृ. १२७, पृ. १३२)।

कंसिका (एक बाजा) आदि के विशेष शब्द को ताल कहते हैं।

तालसम—यत्परस्पराभिहतहस्ततालस्वरानुसारिणा स्वरेण गीयते तत्तालसमम्। (अनुयो. मल. हेम. वृ. १२७, पृ. १३२)।

परस्पर आहत हाथों की ताली के स्वर का अनु-सरण करने वाले स्वर से जो गाया जाता है उसका नाम तालसम है।

तिक्त—१. श्लेष्मादिदोषहन्ता तिक्तः। (अनुयो. हरि. वृ., पृ. ६०)। २. श्लेष्मशमनकृत् तिक्तः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२३)।

१ कफ आदि दोषों के नाशक रस को तिक्त कहते हैं।

तिक्तनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपो-ग्गला तित्तरसेण परिणमंति तं तित्तं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। २. यस्य कर्मण उदयेन शरीर-पुद्गलास्तिक्तरसस्वरूपेण परिणमन्ति तत्तिक्तनाम। (मूला. वृ. १२–१९४)। ३. तत्र यदुदयात् जन्तु-शरीरेषु तिक्तो रसो भवति—यथा मरिचादीनाम् —तत्तिक्तरसनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४७३)।

१ जिस नामकर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल तिक्त रसस्वरूप से परिणत होते हैं वह तिक्त नामकर्म कहलाता है। ३ जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में मिर्च आदिकों के समान तीखा रस होता है उसे तिक्त नामकर्म कहते हैं।

तिरोभाव— तिरोभावस्तु सन्तानरूपेणावस्थितो वैस्रसिको विनाश एवाविलक्षणः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–७)।

सन्तानरूप से अवस्थित आदि स्वरूप (सादि) वैस्र-सिक (स्वाभाविक) विनाश को ही तिरोभाव कहते हैं।

तिर्यक्प्रचय—१. प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–४९)। २. स च प्रदेश-प्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयः। (प्रव. सा. जय. वृ. २–४९)।

१ प्रदेशों के समुदाय को—जैसे आकाश आदि के अनन्त आदि प्रदेशों को—तिर्यक्प्रचय कहते हैं।

तिर्यक्सामान्य—१. तिर्यक्सामान्यं नानाद्रव्येषु पर्यायेषु च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपम्। (युक्त्यनु. टी. ४०, पृ. ९०)। २. सदृशपरिणाम-स्तिर्यक्। (परीक्षा. ४–४)। ३. प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यम्, शबल-शाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा। (प्र. न. त. ५–४)। ४. तिर्यक्सा-मान्यं च गवादिषु सदृशपरिणामात्मकम्। (स्याद्वाद-र. ३–५)। ५. परिणामः समस्तिर्यक् खण्ड-मुण्डादि-गोषु वा। गोत्वं विशेषः पर्याय-व्यतिरेकद्विभेदवान्॥ (आचा. सा. ४–५)। ६. तिर्यक्सामान्यं च गवा-दिषु गोत्वादिस्वरूपसदृशपरिणामात्मकम्। (रत्ना-करा. ३–५, पृ. ३ उद्.); तिर्यगुल्लेखिनाऽनुवृत्ता-कारप्रत्ययेन गृह्यमाणं तिर्यक्सामान्यम्। (रत्नाकरा. ५–४, पृ. ७४ उद्.)। ७. सामान्यं सदृशपरिणाम-लक्षणं तिर्यक्सामान्यम्। (लघीय. अभय. वृ. पृ. ६७)।

१ अनेक द्रव्यों व पर्यायों में जो सादृश्यज्ञान का विषयभूत सदृश परिणाम पाया जाता है उसे तिर्यक्सामान्य कहा जाता है। ३ प्रत्येक व्यक्ति में जो समान परिणाम होता है उसका नाम तिर्यक्-सामान्य है—जैसे शबल (चितकबरी) एवं शाबलेय आदि विभिन्न गायों में पाया जाने वाला गोत्व—सास्ना (गले के नीचे लटकती चमड़ी)।

तिर्यक्सूरि—१. तिरियसूरी य तिर्यगवस्थितं दिनकरं कृत्वा गमनम्। (भ. आ. विजयो. २२२)। २. तिरियसूरि सूर्यं पार्श्वतः कृत्वा गमनम्। (भ. आ. मूला. २२२)।

सूर्य को पार्श्व में (एक ओर) करके गमन करने को तिर्यक्सूरि कहते हैं।

तिर्यगतिक्रम— १. बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतिक्रमः। (स. सि. ७–३०; त. श्लो. ७–३०)। २. बिलप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारः। भूमिबिल-गिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतीचारो द्रष्टव्यः। (त. वा. ७, ३०, ४)। ३. भूमिबिल-गिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतिक्रमः। (चा. सा. पृ. ८)।

१ भूमिगत बिल और पर्वत की गुफा आदि में प्रवेश करके दिग्व्रत की सीमा का उल्लंघन करना, यह तिर्यगतिक्रम नामक दिग्व्रत का अतिचार है।

तिर्यगायु—देखो तिर्यग्योनि। १. जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण तिरिक्खभवस्स अवट्ठाणं होदि तेसिं तिरिक्खाउअमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४८, ४९); जं कम्मं तिरिक्खभवं धारेदि तं तिरिक्खाउअं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६२)। २. यन्निमित्तं तिर्यग्योनिषु जीवति जीवः स तैर्यग्योनम् (तिर्यगायुः)। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१०)।

१ जिस कर्म के उदय से जीव का तिर्यंच पर्याय में अवस्थान होता है उसे तिर्यगायु कर्म कहते हैं।

तिर्यग्—तिरियंति कुडिलभावं विगयसुसण्णा णिकट्ठमण्णाणा। अच्चंतपावबहुला तम्हा तिरिक्खया भणिया॥ (प्रा. पंचसं. १–६१; धव. पु. १, पृ. २०२, उद्.; गो. जी. १४७)।

जो कुटिलता—मन, वचन व काय की विरूपता—को प्राप्त हैं, जिनकी आहारादि संज्ञाएँ प्रगट हैं, जो अतिशय अज्ञानी हैं, तथा अत्यन्त पापी हैं वे तिर्यग् (तिर्यंच) कहलाते हैं।

तिर्यग्गति—सकलतिर्यक्पर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यग्गतिः। अथवा तिर्यग्गतिकर्मोदयापादिततिर्यक्पर्यायकलापस्तिर्यग्गतिः। अथवा तिरो वक्रं कुटिलमित्यर्थः, तदञ्चन्ति व्रजन्तीति तिर्यञ्चः, तिरश्चां गतिः तिर्यग्गतिः। (धव. पु. १, पृ. २०२)।

समस्त तिर्यंच पर्यायों की उत्पत्ति में जो निमित्त है उसे तिर्यग्गति कहते हैं, अथवा तिर्यग्गति नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली तिर्यंच अवस्थाओं के समूह को तिर्यग्गति कहते हैं, अथवा तिर्यंच जीवों की गति को तिर्यग्गति समझना चाहिए।

तिर्यग्गतिनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण तिरियभावो जीवाणं होदि तं कम्मं तिरियगदि त्ति उच्चदि। (धव. पु. ६, पृ. ६७); जं कम्मं जीवाणं तिरिक्खभावणिव्वत्तयं तं तिरिक्खगदिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३)। २. यदुदयाज्जीवस्तिर्यग्गतिभावस्तत्तिर्यग्गतिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिस नामकर्म के उदय से जीवों के तिर्यंचपना प्राप्त होता है उसे तिर्यग्गतिनामकर्म कहते हैं।

तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वीनाम—जस्स कम्मस्स उदएण तिरियगइं गयस्स जीवस्स विग्गहगईए वट्टमाणयस्स तिरियगइपाओग्गसंठाणं होदि तं तिरियगइपाओग्गाणुपुव्वीणाम। (धव. पु. ६, पृ. ७६)।

जिस कर्म के उदय से तिर्यंचगति को प्राप्त हुए जीव के विग्रहगति में वर्तमान होने पर तिर्यंचगति के योग्य आकार होता है उसे तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

तिर्यग्दिग्व्रत—१. तिर्यक् दिशस्तिर्यग्दिशः—पूर्वादिकास्तासां सम्बन्धि तासु वा व्रतं तिर्यग्व्रतम्, एतावती दिग् पूर्वेणावगाहनीया, एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूतमिति भावार्थः। (आव. नि. हरि. वृ. ६, पृ. ८२७)। २. एवंभूतं तिर्यग्दिक्परिमाणकरणं तिर्यग्दिग्व्रतम्—एतावती दिक् पूर्वेणावगाहनीया एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवमात्मकम्। एतदित्थं त्रिधा दिक्षु परिमाणकरणम्। (श्रा. प्र. टी. २८०)।

१ पूर्व दिशा में इतनी दूर और दक्षिण दिशा में इतनी दूर जाऊंगा, उससे आगे न जाऊंगा; इत्यादि-रूप से तिर्यग्दिशाओं—पूर्वादिक तिरछी दिशाओं में—जाने का प्रमाण करने को तिर्यग्दिग्व्रत कहा जाता है।

तिर्यग्योनि—देखो तिर्यगायु। १. तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः, तिर्यग्गतिनामकर्मोदयापादितं जन्म। (स. सि. ३–३९)। २. तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितं जन्म तिर्यग्योनिः। तिर्यग्गतिनाम्नः कर्मण उदयेनापादितं जन्म तिर्यग्योनिरिति व्यपदिश्यते। (त. वा. ३, ३९, १); तिरोभावात्तिर्यग्योनिः। (त. वा. ४, २७, ३)। ३. तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितजन्म तिर्यग्योनिः। (त. श्लो. ३–४०)।

१ तिर्यग्गति नामकर्म के उदय से प्राप्त जन्म को तिर्यग्योनि कहते हैं।

तिर्यग्लोक—तिरियलोगो णाम जोयणलक्खसत्तभागमेत्तसूचिअंगुलबाहल्लजगपदरमेत्तो। (धव. पु. ४, पृ. ३७); तिरियलोगपमाणं जोयणलक्खसत्तभागबाहल्लं जगपदरं। (धव. पु. ४, पृ. ४१)।

एक लाख योजन के सातवें भाग मात्र सूच्यंगुल के बाहल्यरूप जगप्रतर को तिर्यग्लोक कहते हैं।

तिर्यग्वणिज्या—१. गो-महिष्यादीन् अमुत्र (चा.सा. 'अत्र') गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। (त. वा. ७, २१, २१; चा. सा. पृ. ९)। २. यस्माद् देशात् सुरभि-महिषी-बलीवर्द-क्रमेलक-गर्दभादीन् यदि अन्यत्र देशे विक्रीणीते तदा महान् लाभो भवतीति तिर्यग्वणिज्यानामको द्वितीयः पापोपदेशो भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१)।

१ इस देश के गाय-भैंस आदि पशुओं को लेकर दूसरे देश में बेचने पर अधिक लाभ होगा, इस प्रकार का उपदेश देने को तिर्यग्वणिज्या नाम का पापोपदेश कहते हैं।

तिर्यग्व्यतिक्रम—देखो तिर्यगतिक्रम। १. तिर्यक् पूर्वादिदिक्षु योऽसौ भागो नियमितः प्रदेशः, तस्य व्यतिक्रमः (तिर्यग्भागव्यतिक्रमः)। (योगशा. स्वो. विव. ३–९७)। २. सुरंगादिप्रवेशस्तिर्यग्व्यतिक्रमः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३०)। ३. सुरंगादिप्रवेशस्तिर्यग्व्यतिक्रमः तिर्यग्दिशः अतिलङ्घनम् अतिचारः। (कार्तिके. टी. ३४२)।

१ तिरछी पूर्वादिक दिशाओं के जितने भाग में जाने का नियम किया गया है उसके उल्लंघन करने को तिर्यग्व्यतिक्रम कहते हैं। यह दिग्व्रत का एक अतिचार है।

तिर्यञ्च—देखो तिर्यग्गति। १. असेसकम्मुदयाविणाभावितिरिक्खगइणामकम्मोदइल्ला तिरिक्खा णाम। (धव. पु. १४, पृ. २३९)। २. कुटिला ये तिरोऽञ्चन्ति विवेकविकलाशयाः। मायाकर्मबलोत्पन्नास्ते तिर्यञ्चः प्रकीर्तिताः॥ (पंचसं. अमित. १–१३८, पृ. २०)। ३. तिरस्तिर्यगञ्चन्ति गच्छन्ति, यदि वा तिरोहिताः स्वकर्मवशवर्तिनः सर्वासु गतिषु गच्छन्त्युत्पद्यन्त इति तिर्यञ्चः। (संग्रहणी दे. वृ. १, पृ. ३)।

१ समस्त कर्मों के उदय के अविनाभावी तिर्यग्गति नामकर्म के उदय से युक्त जीव तिर्यञ्च कहलाते हैं। ३ जो वक्र गमन करते हैं अथवा अन्तर्हित होकर अपने कर्म के अनुसार सभी गतियों में जाते हैं—उत्पन्न होते हैं—वे तिर्यञ्च कहलाते हैं।

तीक्ष्ण—द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यः स्वजीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसहनो वा। (नीतिवा. १४–१५, पृ. १७४)।

धनादि द्रव्य के लिए अत्यन्त कष्टप्रद कार्य करके अपने जीवन को बेचने वाले गुप्तचर को तीक्ष्ण या असहन चार कहते हैं।

तीर्थ—देखो तीर्थंकर। १. तीर्थमपि स्वं जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽग्रम्। (बृ. स्वयंभू. १०९)। २. तित्थं चाउव्वण्णो संघो सो पढमए समोसरणे। उप्पण्णो उ जिणाणं वीरजिणिंदस्स बीयंमि॥ (आव. नि. २८७)। ३. तित्थंति पुव्वभणियं संघो जो णाण-चरणसंघातो। इह पवयणं पि तित्थं तत्तोऽणत्थंतरं जेण॥ (विशेषा. १३८७)। ४. तत्र येनेह जीवा जन्म-जरा-मरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहावर्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदं राग-द्वेषपवनविक्षोभितं संयोग-वियोग-वीचीयुक्तं प्रबलमनोरथवेलाकुलं सुदीर्घसंसार-सागरं तरन्ति तत्तीर्थमिति। (ललितवि. पृ. १८); तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्। (ललितवि. पृ. ९०; आव. नि. हरि. वृ. ८०, पृ. ५९)। ५. तत्र येनेह जीवा जन्म-जरा-मरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं विचित्रदुःखगण-करि-मकरं राग-द्वेषपवनप्रक्षोभितमनन्तसंसारसागरं तरन्ति तत्तीर्थमिति। तच्च यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थप्ररूपकम् अत्यन्तानवद्यान्याविशालचरण-करणक्रियाधारम्, अचिन्त्यशक्तिसमन्विताविसंवादिप्रकल्पं चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितपरमगुरुप्रणीतं प्रवचनम्। एतच्च संघः प्रथमगणधरो वा। तथा चोक्तम्—"तित्थं भंते तित्थं? तित्थकरे तित्थं? गोयमा! अरिहा नियमा ताव तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णो समणसंघो पढमगणहरो वा" इत्यादि। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५०)। ६. एदेहि (सम्मद्दंसण-णाण-चरित्तेहि) संसार-सायरं तरंति त्ति एदाणि तित्थं। (धव. पु. ८, पृ. ९२); तित्थं दुवालसंगं × × ×। (धव. पु. ९, पृ. ३११)।

७. गुरुस्तूपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः ।। (म. पु. २-३९); संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते। (म. पु. ४-८)। ८. तरन्ति संसार-महार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थम्। (युक्त्यनु. टी. ६२)। ९. तरन्ति संसारं येन भव्यास्तत्तीर्थम्। (भ. आ. विजयो. ३०२)। १०. धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ।। (नीतिवा. २-५)। ११. दृष्ट-श्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेश-रहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णसंसार-समुद्रत्वात् अन्येषां तरणोपायभूतत्वाच्च तीर्थम्। (प्रव. सा. जय. वृ. १-३)। १२. तीर्थं संसारनिस्तरणोपायम्। (आप्तमी. वसु. वृ. १)। १३. भवोदधिं भव्यास्तरन्त्यनेनेति तीर्थम्। (चारित्रभ. टी. ८)। १४. तीर्थं नद्यादेरिव संसारस्य तरणे सुखावतारो मार्गः। (योगशा. स्वो. विव. २-१६); तीर्यते संसार-समुद्रोऽनेनेति तीर्थम्, प्रवचनाधारश्चतुर्विधसंघः प्रथमगणधरो वा। (योगशा. स्वो. विव. ३, १२४)। १५. तीर्यते संसार-समुद्रोऽनेनेति तीर्थम्, तच्च सङ्घः इत्युक्तम्। इह तु तदुपयोगानन्यत्वात् प्रवचनं तीर्थमुच्यते। (आव. नि. मलय. वृ. १२७, पृ. १२९); तीर्थं नाम चातुर्वर्णः श्रमणसंघः। (आव. नि. मलय. वृ. २३३, पृ. २०२); तीर्थं नाम प्रवचनम्। तच्च निराधारं न भवतीति चतुर्वर्णः सङ्घ उच्यते। (आव. नि. मलय. वृ. २८७, पृ. २०९)। १६. तीर्यते संसार-सागरोऽनेनेति तीर्थम्। (आव. भा. मलय. वृ. १९६, पृ. ५९२)।

१ संसार-समुद्र से दुखी प्राणियों के पार उतारने वाले श्रेष्ठ मार्ग को तीर्थ कहते हैं। २ चातुर्वर्ण संघ को तीर्थ कहा जाता है। यह तीर्थ ऋषभादि २३ तीर्थंकरों के प्रथम ही समवसरण में उत्पन्न हुआ, किन्तु वीर जिनेन्द्र के द्वितीय समवसरण में उत्पन्न हुआ। ५ प्रवचनरूप चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ अथवा प्रथम गणधर को तीर्थ माना जाता है।

तीर्थंकर—१. तित्थयरे भगवंते अणुत्तरपरक्कमे अमियनाणी। तिण्णे सुगइगइगए सिद्धिपहपदेसए वंदे ।। (आव. नि. ८०)। २. चरण-करणसंपन्ना परीसहपरायणा महाभागा। तित्थयरा भगवंतो × × ×।। (बृहत्क. भा. ११९५)। ३. तीर्थंकरणशीलास्तीर्थंकराः। (आव. नि. हरि. वृ. ८० व ७४२)। ४. तीर्थंकरः—तरन्ति संसारं येन भव्यास्तत्तीर्थम्। कैवल [केवल] तरन्ति श्रुतेन गणधरैर्वालम्बनभूतैरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थम्। तदुभयकरणात्तीर्थकरः, × × × अथवा 'तिसु तिट्ठदि त्ति तित्थं' इति व्युत्पत्तौ तीर्थशब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मकः उच्यते, तत्करणात्तीर्थंकरो भवति। (भ. आ. विजयो. ३०२)। ५. 'तीर्थंकरत्वेऽपि' अष्टमहाप्रातिहार्यपूजोपचारभाजि प्राणिविशेषे × × × यथायं भुवनाद्भुतभूतविभूतिभाजनं भुवनैकप्रभुः प्रभूतभक्तिनिर्भरामरनिकरनिरन्तरनिषेव्यमाणचरणो भगवांस्तीर्थंकरो वर्तते। (ललितवि. पं. पृ. ९४, ९५)। ६. तीर्यते संसार-समुद्रोऽनेनेति तीर्थम्, तत्करणशीलास्तीर्थंकराः। (जीवाजी. मलय. वृ. २-१४२, पृ. २५५)।

१ जो अनुपम पराक्रम के धारक—क्रोधादि कषायों के उच्छेदक, अपरिमित ज्ञानी—केवलज्ञान से सम्पन्न, तीर्ण—संसार-समुद्र के पारंगत, सुगतिगतिगत—उत्तम पञ्चम गति को प्राप्त—और सिद्धिपथ के उपदेशक हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। उन्हें निर्युक्तिकार नमस्कार करते हैं। ४ जिसके आश्रय से भव्य जीव संसार से पार उतरते हैं—मुक्त होते हैं—वह तीर्थ कहलाता है। कितने ही भव्य श्रुत अथवा गणधरों के आश्रय से तरते हैं, अतः श्रुत और गणधर भी तीर्थ कहलाते हैं। उक्त दोनों प्रकार के—श्रुत व गणधररूप—तीर्थ को जो किया करते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। अथवा रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग को भी तीर्थ कहा जाता है। उसके करने से तीर्थंकर कहे जाते हैं।

तीर्थंकरनाम—१. आर्हन्त्यकारणं तीर्थंकरत्वनाम। (स. सि. ८-११; त. श्लो. ८-११; त. वृत्ति श्रुत. ८-११)। २. तीर्थंकरत्वनिर्वर्तकं तीर्थंकरनाम। (त. भा. ८-१२)। ३. अर्हन्त्यकारणं तीर्थंकरत्वं नाम। यस्योदयादार्हन्त्यमचिन्त्यविभूतिविशेषयुक्तमुपजायते तत्तीर्थंकरत्वनामकर्म प्रतिपत्तव्यम्। (त. वा. ८, ११, ४०)। ४. यस्य कर्मण उदयात् तीर्थं दर्शन-ज्ञान-चरणलक्षणं प्रवर्तयति, यति-गृहस्थधर्मं च कथयति आक्षेप-संक्षेप-संवेग-निर्वेदद्वारेण भव्यजनसंसिद्धये, सुरासुर-मनुजपतिपूजितश्च भवति तत्तीर्थंकरनामेति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ५. तत्र तीर्थंकरणशीलाः तीर्थंकराः, अचिन्त्यप्रभावमहापुण्यसंज्ञितत्नामकर्म-

विपाकः। (ललितवि. पृ. १८) । ६. तीर्थंकरनाम यदुदयात् सदेव-मनुष्यासुरस्य जगतः पूज्यो भवति। (श्रा. प्र. टी. २४; धर्मसं. मलय. वृ. ६२१) । ७. जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स तिलोगपूजा होदि तं तित्थयरं णाम। (धव. पु. ६, पु. ६७); तित्थयरणामकम्मुदयजणिदअट्ठमहापाडिहेर - चोत्तिसदिसयसहिया तित्थयरा। (धव. पु. ६, पु. २४६); जस्स कम्मस्सुदएण जीवो पंच महाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थं दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६६) । ८. उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिं पूइओ होइ। त तित्थयरं नामं तस्स विवागो उ केवलिणो ॥ (कर्मवि. ग. १४६) । ९. यदुदयादष्टमहाप्रातिहार्ययुक्ताश्चतुस्त्रिंशदतिशया अनुभूयन्ते तत्तीर्थकरनाम। (पंचसं. स्वो. वृ. ३,१२७, पृ. ३८) । १०. यस्य कर्मण उदयेन परमार्हन्त्यं त्रैलोक्यपूजाहेतुर्भवति तत्परमोत्कृष्टं तीर्थंकरनाम। (मूला. वृ. १२-१९६) । ११. यदुदयाज्जीवः सदेव-मनुजासुरलोकपूज्यमुत्तमोत्तमपदं धर्मतीर्थस्य प्रवर्तयितृत्वमवाप्नोति तत्तीर्थंकरनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८८) । १२. यदुदयवशात् अष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशयाः प्रादुष्यन्ति तत्तीर्थकरनाम। (प्रव. सारो. वृ. १२६६; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४७५) ।

१ जो कर्म अरहन्त अवस्था की प्राप्ति का कारण है वह तीर्थंकर नामकर्म कहलाता है। ४ जिस कर्म के उदय से दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप तीर्थ का प्रवर्तन किया जाता है, आक्षेप, संक्षेप, संवेग एवं निर्वेद द्वार से भव्य जनों की सिद्धि के लिए मुनिधर्म व गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाता है; तथा सुरेन्द्र, असुरेन्द्र एवं चक्रवर्ती से पूजित होता है उसे तीर्थंकरनाम कहा जाता है।

तीर्थंकरसिद्ध—१. तीर्थंकरसिद्धाः तीर्थंकरत्वमनुभूय सिद्धाः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४) । २. तथा तीर्थंकराः सन्तो ये सिद्धास्ते तीर्थंकरसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ७, पृ. १९) ।

१ तीर्थंकर होकर सिद्ध होने वाले जीवों को तीर्थंकरसिद्ध कहते हैं।

तीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञान—तीर्थंकराः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं तीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४) ।

तीर्थंकर होकर सिद्ध होनेवाले जीवों के केवलज्ञान को तीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं।

तीर्थंकरादत्त—तीर्थंकरादत्तं यत्तीर्थंकरैः प्रतिषिद्धमाधाकर्मिकादि गृह्यते। (योगशा. स्वो. विव. १-२२) ।

तीर्थङ्करों के द्वारा निषिद्ध आधाकर्मिक आदि का ग्रहण करना, इसे तीर्थंकरादत्त कहते हैं।

तीर्थक्षत्रिय—मन्त्र्यादिपदमारूढा जीवने तीर्थक्षत्रियाः ॥ (धर्मसं. श्रा. ६-२२७) ।

जीवननिर्वाह के लिए राज-मन्त्री आदि के पदों पर काम करनेवालों को तीर्थक्षत्रिय कहते हैं।

तीर्थयात्रा—सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः। (नीतिवा. २७-५०) ।

अकार्य से निवृत्त होना, यही तीर्थयात्रा है।

तीर्थव्यवच्छेदसिद्ध—तीर्थस्य व्यवच्छेदः सुविधिस्वाम्याद्यपान्तरालेषु, तत्र ये जातिस्मरणादिनाऽपवर्गमार्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ७, पृ. १९) ।

सुविधि स्वामी आदि तीर्थंकरों के अन्तरालों में तीर्थ का विच्छेद हुआ है, उसमें जो जातिस्मरणादि के द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं वे तीर्थव्यवच्छेदसिद्ध कहलाते हैं।

तीर्थसंकथा—चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा ॥ (म. पु. ४-८) ।

जिननाथ (तीर्थङ्करादि) के चेष्टित—जीवनवृत्त—के कहने को तीर्थसंकथा कहते हैं।

तीर्थसिद्ध—१. तत्र तीर्थे चतुर्विधश्रमणसंघे उत्पन्ने सति ये सिद्धाः ते तीर्थसिद्धाः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४, पृ. २३१) । २. तीर्यते संसार-सागरोऽनेनेति तीर्थं यथावस्थितसकलजीवाजीवादिपदार्थसार्थप्ररूपकं परमगुरुप्रणीतं प्रवचनम्, तच्च निराधारं न भवति इति संघः प्रथमगणधरो वा वेदितव्यः। उक्तं च—तित्थं भन्ते, तित्थं तित्थकरे तित्थं ? गोयमा, अरिहा ताव (नियमा) तित्थकरे, तित्थं पुण चाउवण्णो समणसङ्घो पढमगणहरो वेति। तस्मिन्नुत्पन्ने ये सिद्धास्ते तीर्थसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ७, पृ. १९) ।

२ जिसके द्वारा संसाररूपी समुद्र को पार किया जाता है वह तीर्थ कहलाता है, जो यथावस्थित जीवाजीवादि पदार्थसमूह के प्ररूपक परमगुरु प्रणीत

प्रवचनस्वरूप है। वह चूंकि निराधार सम्भव नहीं है, अतएव संघ अथवा प्रथम गणधर को तीर्थ समझना चाहिए। इस तीर्थ के उत्पन्न होने पर जो सिद्ध हुए हैं वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

तीर्थसिद्धकेवलज्ञान—ये तीर्थंकराणां तीर्थे वर्तमाने सिद्धास्तेषां यत्केवलज्ञानं तत्तीर्थसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४)।

तीर्थंकरों के तीर्थ के रहते हुए जो सिद्ध हुए हैं उनके केवलज्ञान को तीर्थसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है।

तीर्थंकर—देखो तीर्थंकर।

तीव्रभाव—१. बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामस्तीव्रः (स. सि. ६–६)। २. अतिप्रवृद्ध-क्रोधादिवशात् तीव्रनात्तीव्रः। बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामः तीव्रनात् स्थूलभावात् तीव्रः इत्युच्यते। (त. वा. ६, ६, १)। ३. अति-प्रवृद्धक्रोधादिवशात्तीव्रः स्थूलत्वादुद्रिक्तः परिणामः। (त. श्लो. ६–६)। ४. बहिरन्तःकारणोदीरणवशात्तीव्र [व] ते स्थूलो भवति उद्रेकं प्राप्नोति उत्कटो भवति यः परिणामः स तीव्रः इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–६)।

१ अन्तरंग और बहिरंग कारणों की उदीरणा के वश उत्पन्न होनेवाले उत्कट परिणाम को तीव्रभाव कहते हैं।

तीव्र-मन्दभाव—तत्थ तिव्व-मंदभावो णाम— "सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय-विरदे अणंतकम्मंसे। दंसणमोहक्खवए कसाय-उवसामए य उवसंते॥ खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा। तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए सेढीए॥" एदेसि सुत्तुद्दिट्ठपरिणामाणं पगरिसापगरिसत्तं तिव्व-मंद-भावो णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८६-८७)।

'सम्मत्तुप्पत्ती वि य' आदि गाथासूत्रों में निर्दिष्ट परिणामों की प्रकर्षता और अप्रकर्षता को तीव्र-मन्दभाव कहा जाता है।

तुच्छ—तुच्छास्त्वसारा मुद्गफलीप्रभृतय इति। (श्रा. प्र. टी. २८६)।

असार वस्तु—जैसे मूंग की फली आदि—को तुच्छ कहते हैं।

तुला—पलशतं तुला। (त. वा. ३, ३८, ३)।

सौ पल प्रमाण माप को तुला कहते हैं।

तुषित—तुष्यन्ति विषयसुखपराङ्मुखाः भवन्ति तुषिताः। त. वृत्ति श्रुत. ४–२५)।

जो विषयसुखों से पराङ्मुख होकर आत्म-सुख में सन्तुष्ट रहते हैं ऐसे ब्रह्मलोकान्तवासी विशेष लौकान्तिक देवों को तुषित कहते हैं।

तुष्टि—१. × × × तुष्टिस्तद्देशवृत्तिता। (द्वात्रिं. सिद्ध. ११–१५)। २. तुष्टिः दत्ते दीयमाने च प्रहर्षः। (सा. ध. स्वो. टी. ५–४७)।

२ आहारादि के दे देने पर और देते समय भी उत्कृष्ट हर्ष को प्राप्त होना, यह तुष्टि नाम का एक दाता का गुण है।

तृणसंस्तर—णिस्संधी य अपोल्लो णिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु। सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो॥ (भ. आ. ६४४)।

जो तृणसंस्तर (तृण से निर्मित बिस्तर) गांठ से रहित, निश्छिद्र, अखण्डित तृणों से निर्मित, जिसके ऊपर सोना-बैठना आदि भली भांति हो सकता है—जो खुजली आदि का करनेवाला न हो, तथा जन्तु रहित, सरलता से प्रतिलेखन योग्य और कोमल हो, वह अन्तिम (चतुर्थ) तृणसंस्तर होता है।

तृणस्पर्शपरीषहजय—१. तृणग्रहणमुपलक्षणं कस्यचिद् व्यधनदुःखकारणस्य, तेन शुष्कतृण-परुषशर्करा-कण्टक-निशितमृत्तिका-शूलादिव्यधनकृतपादवेदनाप्राप्तौ सत्यां तत्राप्रणिहितचेतसश्चर्या-शय्या-निषद्यासु प्राणिपीडापरिहारे नित्यमप्रमत्तचेतसस्तृणादिस्पर्शबाधापरिषहविजयो वेदितव्यः। (स. सि. ९–९)। २. तृणादिनिमित्त[मिल]वेदनायां मनसोऽप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः। यथाभिनिर्वृत्ताधिकरणशायिनः शुष्कतृण-पत्र-भूमि-कण्टक-फलक-शिलातलादिषु प्रासुकेष्वसंस्कृतेषु व्याधि-मार्गगमन-शीतोष्णजनितश्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य तृणादिबाधितमूर्तेरुत्पन्नकण्डूविकारस्य दुःखमनभिचिन्तयतः तृणादिस्पर्शबाधावशीकृतत्वात् तृणस्पर्शसहनमवगन्तव्यम्। (त. वा. ९, ९, २२; चा. सा. पृ. ५५)। ३. अभूताल्पाणुचेलत्वे कादाचित्कं तृणादिषु। तत्संस्पर्शोद्भवं दुःखं सहेन्नेच्छेच्च तान् मृदून्॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०१ उद्.)। ४. अशुषिरतृणस्य दर्भादेः परिभोगोऽनुज्ञातो गच्छनिर्गतानां गच्छवासिनां च, तत्र येषां शयनमनुज्ञातं निष्पन्नानां तेषां (निषण्णानां ते तान् ?) दर्भान् भूसा-

मास्तीर्य संस्तारकोत्तरपट्टको च दर्भाणामुपरि विधाय शेरते, चौरापहृतोपकरणो वा प्रतनुकसंस्तारकादिपट्टो वाऽत्यन्तजीर्णत्वात् तथापि तं परुषकुशदर्भादितृणस्पर्शं सम्यगधिसहते यस्तस्य तृणस्पर्शपरीषहजयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–९)। ५. तृणादिनिमित्त[मित]वेदनायां मनसोऽप्रणिधानं तृणस्पर्शजयः। (त. श्लो. ९-९)। ६. तृणस्पर्शः शुष्कतृण-परुषशर्करा-कण्टक-निशितमृत्तिकाकृतशरीरपादवेदनासहनम्। (मूला. वृ. ५–५८)। ७. श्रान्तः सन् श्रुतभावनाऽनशनसद्ध्यानाऽध्वयानादिभिः, स्तोकं कालमतिश्रमापहृतये शय्या-निषद्ये भजन्। शुद्धोर्वीतृण-पत्रसंस्तर-शिलापट्टेषु तत्पीडनः, कण्डूयादिसहो भवेदिह तृणस्पर्शक्षमी संयमी॥ (आचा. सा. ७–१२)। ८. तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्यां भजन्निषद्यामथ खेदशान्त्यै। संक्लिश्यते यो न तदर्तिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेषः। (अन. ध. ६–१०५)। ९. यो मुनिः शुष्कतृणपत्रपरुषशर्करोपलनिशितकण्टकमृत्तिकाशूलकटफलकशिलादिव्यधनविहितपादवेदनोऽपि सन् तत्राविहितचेताः चर्यायां शय्यायां निषद्यायां च जन्तुपीडां परिहरन् निरन्तरमेवाप्रमत्तचेताः तृणस्पर्शपरीषहसहः स हि वेदितव्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–९)।

१ सूखे तृण, कठोर कंकड़, कांटे, तीखी मिट्टी और कील आदि के चुभने पर पैरों में वेदना के होते हुए जो उस ओर ध्यान न देकर चर्या (गमन), निषद्या (बैठना) और शय्या में प्राणिरक्षा के लिये सदा सावधान रहता है वह तृणस्पर्शबाधापरीषह का विजयी होता है।

तृतीय प्रतिमा—त्रीन् मासानुभयकालमप्रमत्तः पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानसहितः सामायिकमनुपालयतीति तृतीया। (योगशा. स्वो. विव. ३–१४८)।

प्रमादरहित होकर दोनों कालों में पूर्व दो प्रतिमाओं के अनुष्ठानपूर्वक तीन मास तक सामायिक के परिपालन को तीसरी सामायिक प्रतिमा कहते हैं।

तृतीय मूलगुण—एवं चिय गामादिसु अप्प-बहु (अदत्त) विवज्जणं तइओ। (धर्मसं. हरि. ८५९)।

इसी प्रकार क्रोधादि के वश होकर ग्राम व नगरादि में बिना दी हुई थोड़ी-बहुत वस्तु के ग्रहण करने के त्याग को तीसरा (अचौर्य) मूलगुण कहते हैं।

तृषा—१. पिपासा च तृषा। (रत्नक. टी. ६)। २. असातावेदनीयतीव्र-तीव्रतर-मन्द-मन्दतरपीडया समुपजाता तृषा। (नि. सा. वृ. ६)।

२ असातावेदनीय की तीव्र, तीव्रतर, मन्द अथवा मन्दतर पीड़ा से जो प्यास की बाधा होती है उसका नाम तृषा है।

तृषापरीषहजय—देखो पिपासापरीषहजय व पिपासासहन। १. तृषा—चारित्रमोहनीय-वीर्यान्तराया-पेक्षाऽसातावेदनीयोदयादुदकपानेच्छा × × × तत्सहनं तृषापरीषहजयः। (मूला. वृ. ५–५७)। २. पक्षश्चण्डकरः स्थलस्थितपयःसंचारिणः प्राणिनो भ्रष्टप्लुष्टतनूंस्तनोति नितरां यस्मिंस्तपे तापने; तस्मिन् स्निग्धविरुद्धभोजनज्वराऽऽतापादिपुष्यत्तृषां त्यक्ते निःस्पृहतामृतेन कृतधीर्मुष्णाति तृष्णाजयः॥ (आचा. सा. ७–४)। ३. पथीनानियतासनोदवसितः स्नानाद्यपासी यथा-लब्धाशी क्षपणाद्यपित्तकृ-दवव्याणज्वरोष्णादिजाम्। तृष्णां निष्कुषिताम्बरीषवद्भुवां देहेन्द्रियोन्माथिनीं सन्तोषोद्धकरीरपूरितवरध्यानाम्बुपानाज्जयेत्॥ (अन. ध. ६–९०)।

२ सन्तापजनक जिस ग्रीष्म ऋतु में तीक्ष्ण सूर्य स्थलचर और जलचर जीवों के शरीर को अतिशय जलाया करता है उस (ग्रीष्म ऋतु) में चिक्कण भोजन के विपरीत (रूखे) भोजन से उत्पन्न ताप (ज्वर) आदि से वृद्धिगत प्यास की बाधा को जो मनस्वी साधु निःस्पृहतारूप अमृत से शान्त करता है वह तृषापरीषहजयी होता है।

तृष्—तृषः अभिष्वङ्गलक्षणायाः × × ×। (आव. नि. हरि. वृ. १०६७, पृ. ४९८)।

इन्द्रियविषयों में आसक्ति रखना, इसका नाम तृष् (तृष्णा) है।

तेज—१. मूलोष्णवती प्रभा तेजः। (धव. पु. ८, पृ. २००)। २. इतस्ततो विक्षिप्तं जलादिसिक्तं वा प्रचुरभस्मप्राप्तं वा मनाक् तेजोमात्रं तेजः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २–१३)।

१ मूल में जो अग्नि आदि की उष्ण प्रभा हुआ करती है उसका नाम तेज है।

तेजकाय—१. तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। (दशवै. सू. ४,

१, पृ. १३६)। २. भस्मादिकं परित्यक्तशरीरं तेजस्कायः। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

१ तेजकाय या तेजकायिक जीव वे कहे जाते हैं जो चैतन्ययुक्त ('चित्तमंत' पाठान्तर में 'अल्प चेतना वाले') होकर अनेक हैं व पृथक्-पृथक् हैं। २ अग्निकायिक जीव के द्वारा छोड़े गये भस्म आदिरूप कायको तेजकाय कहते हैं।

तेजकायिक— १. तेज उष्णलक्षणं प्रतीतम्, तदेव कायः शरीरं येषां ते तेजःकायाः, तेजःकाया एव तेजःकायिकाः। (दशवै. सू. हरि. वृ. ४-१, पृ. १३८)। २. तेजः कायत्वेन गृहीतं येन सः तेजस्कायिकः। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

१ तेज नाम उष्ण का है, वही जिन जीवों का शरीर है वे तेजकाय या तेजकायिक कहलाते हैं। २ जिस जीव ने तेज—अग्नि आदि—को शरीर के रूप में धारण कर रक्खा है वह तेजकायिक कहलाता है।

तेजजीव—विग्रहगतौ प्राप्तो जीवः तेजोमध्येऽवतरिष्यन् तेजोजीवः प्रतिपाद्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

विग्रहगति में विद्यमान जो जीव आगे जाकर अग्नि-शरीर को धारण करने वाला है उसे तेजोजीव कहते हैं।

तेजोजराशि—जम्हि रासिम्हि चदुहि अवहिरिज्जमाणे तिण्णि हुांति सो तेजोजं। (धव. पु. ३, पृ. २४९); जो रासी चदुहि अवहिरिज्जमाणो × × × तिगग्गो सो तेजोजो। (धव. पु. १०, पृ. २३); चदुहि अवहिरिज्जमाणे जत्थ तिण्णि एंति सो तेजोजो। (धव. पु. १४, पृ. १४७)।

जिस राशि में ४ का भाग देने पर ३ शेष रहें वह तेजोज राशि कहलाती है।

तेजोलेश्या—१. जाणइ कज्जाकज्जं सेयासेयं च सव्वसमपासी। दय-दाणरदो य विदू लक्खणमेयं तु तेउस्स॥ (प्रा. पंचसं. १-१५०; धव. पु. १, पृ. ३८९ उद्.; गो. जी. ५१५)। २. दृढमित्रता-सानुक्रोशत्व-सत्यवाद-दानशीलात्मीयकार्यसम्पादनपटु-विज्ञानयोग-सर्वधर्मसमदर्शनादि तेजोलेश्यालक्षणम्। (त. वा. ४, २२, १०)। ३: जाणइ कज्जमकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी। दय-दाणरओ मउओ तेऊए कीरए जीवो॥ (धव. पु. १६, पृ. ४९१ उद्.)। ४. सम्यग्दृष्टिरविद्विष्टो हिताहितविवेचकः। वदान्यः सदयो दक्षस्तेजोलेश्यो महामनाः॥ (पंचसं. अमित. १-२७९, पृ. ३५)।

१ कार्य-अकार्य व सेव्य-असेव्य का जानना, सबको समानरूप से देखना, दया-दान में निरत रहना, तथा विद्वत्ता ('मिदू' पाठ के अनुसार सरल परिणाम); ये सब तेजोलेश्या के लक्षण हैं। २ दृढमित्रता, दयार्द्रता, सत्यभाषित्व, दानशीलता, आत्मीय कार्य में कुशलता, विवेकिता और सर्वधर्मसमदर्शित्व आदि तेजोलेश्या के लक्षण हैं।

तैजस—१. तेयप्पहगुणजुत्तमिदि तेजइयं। (ष. खं. ५, ६, २४०—पु. १४, पृ. ३२७)। २. यत्तेजोनिमित्तं तेजसि वा भवं तत्तैजसम्। (स. सि. २-३६)। ३. तेजसो विकारस्तैजसं तेजोमयं तेजः स्वतत्त्वं शापानुग्रहप्रयोजनम्। (त. भा. २-४९, पृ. २१४)। ४. तेजोनिमित्तत्वात्तैजसम्। यत्तेजोनिमित्तं तत्तैजसमिदम्, तेजसि भवं वा तैजसमित्याख्यायते। (त. वा. २, ३६, ८); शंखधवलप्रभालक्षणं तैजसम्। (त. वा. २, ४९, ८); शङ्खधवलप्रभालक्षणं तैजसम्। तद् द्विविधम्—निःसारणात्मकमितरच्च। औदारिक-वैक्रियिकाहारकदेहाभ्यन्तरस्थं देहस्य दीप्तिहेतुरनिःसरणात्मकम्। यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसंयुक्तं बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्यावतिष्ठमानं निष्पावहरितफलपरिपूर्णां स्थालीमग्निरिव पचति, पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसाद् दाह्यार्थो भवति, तदेतन्निःसरणात्मकम्। (त. वा. २, ४९, ८)। ५. तेजोभावस्तैजसं रसाद्याहारपाकजननं लब्धिनिबन्धनं च, × × ×। उक्तं च—× × × सव्वस्स उम्हसिद्धं रसादिआहारपागजणणं च। तेयगलद्धिनिमित्तं तेयगं होइ नायव्वं॥७॥ (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८७)। ६. इहोष्मभावलक्षणं तेजः सर्वप्राणिनामाहारपाचकम्, तस्य तेजसो विकारस्तैजसं तेजःसमावस्थान्तरापत्तिः। (त. भा. हरि. वृ. २-५०); तेजोगुणद्रव्यारब्धमुष्णगुणमाहारपरिपाचनक्षमं तैजःशरीरम्। (त. भा. हरि. वृ. ८, १२)। ७. तेजोमयं तैजसम्। (आव. नि. हरि. वृ. ४३, पृ. ३६ तथा १४३४ पृ. ७९७)। ८. तेजइयणोकम्मसंचिदपदेसपिंडो तेजासरीरं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३१०); शरीरस्कन्धस्य पद्मरागमणि

वर्णस्तेजः, शरीरान्निर्गतरश्मिकला प्रभा, तत्र भवं तैजसं शरीरम्; तेजःप्रभागुणयुक्तमिति यावत् । (धव. पु. १४, पृ. ३२८)। ९. तेजोनिमित्तत्वात्तैजसम् । (त. श्लो. २-३६)। १०. तेज इत्यग्निः, तेजोगुणोपेतद्रव्यवर्गणासमारब्धं तैजोविकारस्तेज एव वा तैजसमुष्णगुणं शापानुग्रहसामर्थ्याविर्भावनम्, तदेव यदोत्तरगुणप्रत्यया लब्धिरुत्पन्ना भवति तदा परं प्रति दाहाय विसृजति रोष-विषाध्मातमानसो गोशालादिवत्, प्रसन्नस्तु शीततेजसाऽनुगृह्णाति । यस्य पुनरुत्तरगुणलब्धिरसती तस्य सततमभ्यवहृताहारमेव पाचयति, यच्च तत् पाचनशक्तियुक्तं तत्तैजसमवसेयम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २, ३७); उष्णभावलक्षणं तेजः संसिद्धं सर्वप्राणिषु पाचकमन्धसः, तस्यैवंविधस्य तेजसो विकारस्तैजसमवस्थान्तरापत्तिरिति । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-४९)। ११. तैजसमन्तस्तेजः शरीरोष्मा यतो भुक्तान्नादिपाको भवतीति । (न्यायकु. ७-७६, पृ. ८५२)। १२. तेजसां तेजःपुद्गलानां विकारस्तैजसम्, तत् मौष्मलिङ्गं भुक्ताहारपरिणमनकारणम्, ततश्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः । (जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १४; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २०–२६७)। १३. तैजसनामकर्मोदयात् तेजोवर्गणया तैजसशरीरम् । (गो. जी. जी. प्र. ६०६)। १४. तैजसनामकर्मोदयनिमित्तं वपुस्तेजःसम्पादकं यत्तत्तैजसम्, तेजसि वा भवं तैजसम् । (त. वृत्ति श्रुत. २–३६)।

१ जो शरीर तेज—शरीर-स्कन्ध का पद्मरागमणि जैसा वर्ण—और प्रभा—शरीर से निकलने वाली किरणकला—गुण से युक्त होता है उसे तैजस कहा जाता है। ६ समस्त प्राणियों के आहार का पाचक जो उष्णतारूप तेज है उसके विकार को तैजस शरीर कहते हैं।

तैजसशरीरनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण तेजइयवग्गणक्खंधा णिस्सरणाणिस्सरण-पसत्थापसत्थप्पयत्तेयासरीरसरूवेण परिणमंति तं तेयासरीरं णाम, कारणे कज्जुवयारादो । (धव. पु. ६, पृ. ६९)। २. यदुदयात्तैजसवर्गणापुद्गलस्कन्धा निःसरणानिःसरणप्रकामप्राप्तसमस्त-प्रत्येकस्वरूपेण भवन्ति तत्तैजसशरीरं नाम । (मूला. वृ. १२–१९३)। ३. यदुदयात् तैजसशरीरप्रायोग्यानादाय तैजसशरीररूपतया परिणमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सह परस्परानुगमरूपतया सम्बन्धयति तत्तैजसशरीरनाम । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४६९)।

१ जिस कर्म के उदय से तैजस वर्गणा के स्कन्ध निःसरण-अनिःसरणरूप (शरीर से बाहर निकलने व न निकलने वाले) और प्रशस्त-अप्रशस्त तैजसशरीरस्वरूप से परिणत होते हैं वह कारण में कार्य के उपचार से तैजसशरीर नामकर्म कहलाता है।

तैजसशरीरबन्धननाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण तेजासरीरपरमाणू अण्णोण्णेण बंधमागच्छंति तं तेजासरीरबंधणणामं । (धव. पु. ६, पृ. ७०)। २. यदुदयात्तैजसपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं कार्मणपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तत्तैजसबन्धननाम । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७०)।

१ जिस कर्म के उदय से तैजसशरीर के परमाणु परस्पर बन्धन को प्राप्त होते हैं वह तैजसशरीरबन्धन नामकर्म कहलाता है। २ जिसके उदय से गृहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का परस्पर में व कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है उसे तैजसबन्धन नामकर्म कहते हैं।

तैजसशरीरसंघातनाम—जस्स कम्मस्स उदएण तेयासरीरक्खंधाणं सरीरभावमुवगयाणं बंधणणामकम्मोदएण एगबंधणबद्धाणं मट्ठत्तं होदि तं तेयासरीरसंघादं णाम । (धव. पु. ६, पृ. ७०)।

जिस कर्म के उदय से शरीर अवस्था को प्राप्त हुए तथा बन्धननामकर्म के उदय से एकबन्धनबद्ध हुए तैजसशरीरस्कन्धों के मृष्टता (चिक्कणता) होती है उसे तैजसशरीरसंघातनामकर्म कहते हैं।

तैजससमुद्घात—देखो तैजस। १. जीवानुग्रहोपघातप्रवणतेजःशरीरनिर्वर्तनार्थस्तैजससमुद्घातः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७७)। २. तेजासरीरसमुग्घादो णाम तेजइयसरीरविउव्वणं । (धव. पु. ४, पृ. २७)। ३. स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यंगुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो

वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्, असावशुभस्तेजःसमुद्घातः। लोकं व्याधि-दुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिण-प्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजःसमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. १०, पृ. २१)। ४. तैजसेन हेतुभूतेन समुद्घातस्तैजससमुद्घातः तैजसशरीरनामकर्माश्रयः। (जीवाजी. मलय. वृ. ११, पृ. १७)।

१ जीवों के अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ ऐसे तैजसशरीर के कारणभूत समुद्घात को तैजस-समुद्घात कहते हैं। ३ अपने मन को अनिष्ट प्रतीत होने वाले किसी कारणान्तर को देखकर जिसे क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे संयम के धारक महामुनि के मूल शरीर को न छोड़कर सिन्दूर-समूह के समान प्रभा वाला, बारह योजन प्रमाण दीर्घ, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल विस्तार से व नौ योजन प्रमाण अग्र विस्तार से सहित और काहल (एक बाजा) के समान आकृति का धारक जो पुरुष उक्त मुनि के बायें कन्धे से निकल कर वाम प्रदक्षिण से मन में स्थित विरुद्ध वस्तु को निर्मूल जलाकर उसी संयमी मुनि के साथ स्वयं भी भस्मसात् हो जाता है—जैसे द्वीपायन नामक मुनि, यह अशुभ तैजससमुद्घात है। लोक को रोग या अकाल से पीड़ित देखकर दयार्द्र हुए संयमी महर्षि के मूल शरीर को न छोड़कर धवल आकृति वाला पूर्वोक्त शरीर के प्रमाण पुरुष दक्षिण-प्रदक्षिण से उक्त रोग व अकाल आदि को नष्ट करके फिर भी अपने स्थान में प्रविष्ट हो जाता है, यह शुभरूप तैजससमुद्घात है।

तैर्यग्योन—देखो तिर्यग्योनि। १. क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकृतोपद्रवप्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद् वसनं तत्तैर्यग्योनम्। क्षुत्पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशकादि-विविधव्यसनविधेयीकृतेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद् वसनं भवति तत्तैर्यग्योनमायुरवगन्तव्यम्। (त. वा. ८, १०, ५)। २. क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातादिकृतोपद्रव-प्रचुरेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद् वसनं तत्तैर्यग्योनम्। (त. श्लो. ८-१०)।

१ जिस कर्म के उदय से भूख, प्यास, शीत और उष्ण आदि के अनेक उपद्रवों के सहने वाले तिर्यंचों में रहना पड़ता है उसे तैर्यग्योन (तिर्यगायु) कहते हैं।

तोरण—पुराणं पुराणं [गोपुराणं] पासादाणं वंदणमालबंधणट्ठं पुरदो ट्ठविदरुक्खविसेसा तोरणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३९)।

नगरगत गोपुरों के प्रासादों के वन्दनमाला बांधने के लिए जो वृक्षविशेष (कदलीस्तम्भ आदि) स्थापित किये जाते हैं वे तोरण कहलाते हैं।

तौष्टिक—तुष्टिर्दत्तवतो यस्य ददतश्च प्रवर्तते। देयासक्तमतेः शुद्धास्तमाहुस्तौष्टिकं जिनाः॥ (अमित. श्रा. ९-५)।

जो पूर्व में दे चुका है अथवा वर्तमान दे रहा है उसके देय द्रव्य में अनासक्त बुद्धि होने से सन्तोष रहता है, इसी से उसे तौष्टिक कहा जाता है।

त्यक्तकृत्य— चियत्ते त्ति— संजमाहिकारियाणि छड्डेऊण सेवइ स त्यक्तकृत्यः। (जीतक. चू. १, पृ. ३, पं. १८)।

जो संयमोचित कार्यों को छोड़कर सेवन करता है, अर्थात् रोगादि के कारण या असमर्थ अवस्था में अपवादरूप से जिनका सेवन करना पड़ा उनको यदि नीरोग व समर्थ होते हुए फिर भी सेवन करता है, तो वह त्यक्तकृत्य कहलाता है।

त्यक्तदेह—१. त्यक्तदेहम्—जीवसंसर्गसमुत्थशक्ति-जनिताहारादिपरिणामप्रभवपरित्यक्तोपचयम्। × × × उक्तं च वृद्धैः—आहारसत्तिजणिताऽऽहार-सुपरिणामजोवचयसुण्णं। भण्णइ हु चत्तदेहं देहोवरओत्ति एगट्ठा॥४॥ (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १४)। २. जीविद-मरणासाहि विणा सरूवोवलद्धिणिमित्तं व (?)चत्तबज्झंतरंगपरिग्गहस्स कदलीघादेणियरेण वा पदिदसरीरं चत्तदेहमिदि। (धव. पु. १, पृ. २६); भत्तपच्चक्खाणिंगिणि-पाओवगमणविहाणेहि छंडिद-सरीरो साहू × × × चत्तदेहो णाम। (धव. पु. ९, पृ. २६९)। ३. आयुषो भवमवेत्य आत्मनैव यत्त्यक्तं तत्त्यक्तशब्देनोच्यते। (भ. आ. विजयो. टी. ७५३)। ४. घादेण अघादेण व पडिदं चागेण चत्तमिदि। (गो. क. ५८)। ५. त्यक्तं भक्ता-दिकत्यागैर्घाताघातगतात्मकम्। (आचा. सा. ९-१२)। ६. त्यक्तं प्रायोपगमनेङ्गिनी-भक्तप्रत्या-

ध्यानवैद्यसमाधिमरणविसृष्टम् । (लघीय. अभय. वृ. ७६, पृ. ६८)।

१ जीव के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई शक्ति के आश्रय से जो आहारादि का परिणमन होता है उसके प्रभाव से होने वाली वृद्धि के त्याग से शरीर के छूटने पर उसे त्यक्तदेह कहा जाता है। २ जीवन व मरण की अभिलाषा के बिना आत्मस्वरूप की प्राप्ति के निमित्त बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर देने वाले साधु का कदलीघात या अन्य प्रकार से जो शरीर छूटता है उसे त्यक्तदेह कहते हैं।

त्यक्तदोष—१. बहुपरिसाडणमुज्झिय आहारो परिगलंत दिज्जंतं । छंडिय भुंजणमहवा छंडियदोसो हवे णेओ ॥ (मूला. ६–५६)। २. आहारं परिगलन्तं दीयमानं तक्र-घृतोदकादिभिः परिस्रवन्तं छिद्रहस्तैश्च बहुपरिसातनं च कृत्वाहारं यदि गृह्णाति त्यक्त्वा चैकमाहारमपरं भुंक्ते यस्तस्य त्यक्तदोषो भवति। (मूला. वृ. ६–५६]।

१ दाता के द्वारा देते समय नीचे गिरने वाले छाछ, घी व जल आदि के लेने को, अथवा स्वयं अपने ही छेदयुक्त हाथों में से नीचे गिरते हुए भी देखकर आहार के ग्रहण करने को त्यक्त अशनदोष कहते हैं।

त्याग—१. णिव्वेग[य]तियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु । जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥ (द्वादशानु. ७८)। २. त्यागो दानम्, तच्छक्तितो यथाविधि प्रयुज्यमानं त्यागः। (स. सि. ६–२४); संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः। (स. सि. ९–६); ३. बाह्याभ्यन्तरोपधिशरीरान्नपानाद्याश्रयो भावदोषपरित्यागस्त्यागः। (त. भा. ९–६)। ४. चागो णाम वेयावच्चकरणेण आयरियोवज्झायादीणं महंती कम्मनिज्जरा भवइ, तम्हा वत्थ-पत्त-ओसहादीहिं साहूण संविभागकरणं कायव्वंति। (दशवै. चू. १, पृ. १८)। ५. परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तरणकारणम्। अत एतत् त्रिविधं यथाविधि प्रतिपद्यमानं त्यागव्यपदेशभाग्भवति। (त. वा. ६, २४, ६); परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः। परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते। (त. वा. ९, ६, १८)। ६. शक्तितस्त्याग उद्गीतः प्रीत्या स्वस्यातिसर्जनम्। नात्मपीडाकरं नापि सम्यगननतिसर्जनम् ॥ (त. श्लो. ६, २४, ८); परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः। × × × दानं वा स्वयोग्यं त्यागः। (त. श्लो. ९-६)। ७. बाह्याभ्यन्तरपरित्यजनं त्यागः। (युक्त्यनु. टी. ६)। ८. जो चयदि मिट्ठभोज्जं उवयरणं राय-दोससंजणयं। वसदिं ममत्तहेदुं चायगुणो सो हवे तस्स ॥ (कार्तिके. ४०१)। ९. न चोज्झनमात्रं त्यागशब्देनोच्यते। किं तर्हि? दानं विशिष्टसंप्रदानकमित्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. ७–३३)। १०. संयतप्रायोग्याहारादिदानं त्यागः। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)। ११. त्यागस्तु धर्मशास्त्रादिविश्राणनमुदाहृतम्। (त. सा. ६–१९)। १२. त्यागः संयतस्य योग्यज्ञानादिदानं त्यागः। (मूला. वृ. ११–५)। १३. व्याख्या यत्क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकम्। स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा ॥ स त्यागः × × × ॥ (पद्म. पं. १–१०१)। १४. शक्त्या दोषैकमूलत्वान्निवृत्तिरुपधेः सदा। त्यागो ज्ञानादिदानं वा सेव्यः सर्वगुणाग्रणीः ॥ (अन. ध. ६–५२)। १५. आहाराभय-ज्ञानानां त्रयाणां विधिपूर्वकमात्मशक्त्यनुसारेण पात्राय दानं शक्तितस्त्याग उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २–२४); संयमिनां योग्यं ज्ञान-संयम-शौचोपकरणादिदानं त्यागः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–६)।

१ जो सब द्रव्यों में मोह को छोड़कर संसार, शरीर और भोग सम्बन्धी निर्वेद का चिन्तन करता है उसके त्याग होता है। २ संयत (साधु) के योग्य ज्ञान आदि के देने को त्याग कहते हैं। ३ बाह्य व अभ्यन्तर उपधि, शरीर और अन्न-पान आदि के आश्रय से होनेवाले भावदोष—मूर्छा, स्नेह व गृद्धि आदि—के परित्याग का नाम त्याग धर्म है।

त्यागी—१. जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वइ। साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥ (दशवै. सू. २–३)। २. मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधाम्। (नीतिवा. ३२–३२, पृ. ३८१)। ३. यथा—मार्गपादपः सर्वैरभ्यागतैः पत्र-पुष्प-फलैरपचित्यमानोऽपि उपद्रवं

सहते तथा त्यागवानपि भोजन-शयनादिभिः संबाध्यमानोऽप्यभ्यागतैः सहत । तथा च गुरुः—यथा मार्गतरुस्तद्वत् सहते य उपद्रवम् । अभ्यागतस्य लोकस्य स त्यागी नेतरः स्मृतः ॥ (नीतिवा. टी. ३१-३२) ।

१ जो शोभायमान व प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी स्वाधीनतापूर्वक उनको पीछे करता है—उनसे विमुख होता है—और स्वेच्छा से छोड़ देता है वही त्यागी कहलाता है । २ जो मार्ग में स्थित वृक्ष के समान सभी अभ्यागतों की बाधा को—उपद्रव को—सहता है उसे त्यागी समझना चाहिए ।

त्रयी—१. जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् । एषा त्रयी यतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता ॥ (उपासका. ८८५) ।

जन्म, जरा और मरणरूप त्रयी (तीन) जीवों के संसार का कारण है । उसका जिस त्रयी—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—के द्वारा विनाश होता है उसे यथार्थ त्रयी कहते हैं ।

त्रस—से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा । तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया । जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइ-गइविन्नाया । जे य कीड-पयंगा जा य कुंथु-पिपीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुआ सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिआ एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउ त्ति पवुच्चइ ।(दशवै. सू. ४-१, पृ. १३६)। २. त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः । (स. सि. २, १२) । ३. त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः । त्रसनामकर्मणो जीवविपाकिनः उदयापादितवृत्तिविशेषाः त्रसाः इति व्यपदिश्यन्ते । (त. वा. २, १२, १) । ४. तत्थ तसंतीति तसा । (दशवै. चू. ४, पृ. १४७) । ५. परिस्पन्दादिमन्तः त्रसनामकर्मोदयात् त्रस्यन्तीति त्रसाः । (त. भा. हरि. वृ. २-१२)। ६. त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः । (धव. पु. १, पृ. २६५-६६; त. श्लो. २-१२; त. वृत्ति श्रुत. २-१२) । ७. त्रस्यन्तीति त्रसाः—त्रसनामकर्मोदयाः द्वीन्द्रियादयः । (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ६, ४, पृ. १४०) । ८. त्रसनामकर्मोदयात् त्रस्यन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियादयः । (स्थाना. अभय. वृ. २-५७, पृ. ३९; व २, १, ७३, पृ. ५६) । ९. त्रसन्ति उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ति गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसाः । अनया च व्युत्पत्त्या त्रसास्त्रसनामकर्मोदयवर्तिन एव परिगृह्यन्ते, न शेषाः । (जीवाजी. मलय. वृ. ९, पृ. ९) ।

१ बहुत से त्रस प्राणी ये हैं—अण्डज (पक्षी आदि), पोत—हाथी आदि, जरायुज—गाय, भैंस व मनुष्य आदि; रसज—तक्र आदि में होने वाले पायकृमि के आकार के अतिशय सूक्ष्म जीव, संस्वेदज—खटमल व जूं आदि, सम्मूर्च्छिम—शलभ व चींटी आदि, उद्भिज-पतंगादि और औपपातिक—देव-नारकी । इनमें किन्हीं के अभिमुख गमन, प्रतिकूल गमन, शरीरसंकोचन, प्रसारण, इधर-उधर गमन दुख से उद्वेजन, पलायन और गति-अगति का ज्ञान भी होता है । कृमी आदि सब दोइन्द्रिय, कुन्थु आदिक सब तीन इन्द्रिय, पतंग आदि सब चौइन्द्रिय तथा गाय आदि तिर्यंच, सब नारकी, सब मनुष्य और सब देव ये पंचेन्द्रिय होते हैं । ये सब त्रस माने गये हैं । २ त्रसनामकर्म के वशीभूत जीव (द्वीन्द्रियादि) त्रस कहलाते हैं ।

त्रसनाम—१. यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम । (स. सि. ८-११; त. श्लो. ८-११) । २. त्रसभावनिर्वर्तकं त्रसनाम । (त. भा. ८-१२) । ३. यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम । यस्योदयाद् द्वीन्द्रियादिषु प्राणिषु जंगमेषु जन्म लभते तत् त्रसनाम । (त. वा. ८, ११, २१) । ४. त्रस्यन्तीति त्रसाः—द्वि-त्रि-चतुःपंचेन्द्रियलक्षणाः प्राणिनः, यस्मात् तस्य कर्मण उदयात् तेषु परिस्पन्दोऽञ्जसा लक्ष्यते, स तादृशो गमनादिक्रियाविशेषो यस्य कर्मण उदयाद् भवति तत् त्रसत्वनिर्वर्तकं त्रसनाम । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२) । ५. त्रसनाम यदुदयाच्चलनं स्पन्दनं च भवति । (श्रा. प्र. टी. २२) । ६. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं तसत्तं होदि तस्स कम्मस्स तसेत्ति सण्णा । (धव. पु. ६, पृ. ६१); जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं संचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणामं । (धव. पु. १३, पृ. ३६५) । ७. त्रसन्ति उष्णाद्यभितप्ताः छायाद्यभिसर्पणेनोद्विजन्ते तस्मादिति त्रसा द्वीन्द्रियादयः, तत्पर्यायविपाकवेद्यं कर्मापि

त्रसनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८७)। ८. द्वीन्द्रियादिषु जन्मनिमित्तं त्रसाख्यं नाम। (भ. आ. मूला. टी. २१२१)। ९. त्रसन्ति उष्णाद्यभितप्ताः सन्तो विवक्षितस्थानादुद्विजन्ते गच्छन्ति च छाया-द्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसा द्वीन्द्रियादयः, तत्पर्यायपरिणतिवेद्यं नामकर्मापि त्रसनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७४)। १०. त्रसनाम यदुदयाज्ज्वलन-स्पन्दने भवतः, चंक्रमणमेवान्ये। (धर्मसं. मलय वृ. ६१९, पृ. २३३)। ११. यदुदयेन द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियेषु जन्म भवति तत् त्रसनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि जीवों में जन्म होता है उसे त्रसनामकर्म कहते हैं। २ जो कर्म त्रसभाव (त्रस पर्याय) को उत्पन्न करने वाला है उसे त्रसनामकर्म कहा जाता है।

त्रसनाली—१. लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा। तेरसरज्जुच्छेहा किंचूणा होदि तसनाली॥ उववाद-मारणंतियपरिणदतस लोयपूरणेण गदो। केवलिणो अवलंबिय सव्वजगो होदि तसनाली॥ (ति. प. २–६ व ८)। २. लोयबहुमज्झदेसे रुक्खे सारव्व रज्जुपदरजुदा। चोद्दसरज्जुत्तुंगा तसणाली होदि गुणणामा॥ (त्रि. सा. १–१४३)।

१ वृक्ष के मध्यगत सार के समान लोक के बहुमध्य भाग में स्थित एक राजु लम्बे-चौड़े और कुछ कम (३२१६२२४१⅔ धनुष) तेरह राजु ऊंचे क्षेत्र को त्रसनाली कहते हैं। अथवा उपपाद और मरणान्तिकगत त्रस और लोकपूरणसमुद्घातगत केवलीकी अपेक्षा समस्त लोक को ही त्रसनाली समझना चाहिए।

त्रसरेणु—१. अट्ठ उड्ढरेणूओ सा एगा तसरेणू। (भगवती. ६, ७, १; जम्बूद्वी. २–१९)। २. तिसियमेत्तहदेहिं तुडिरेणूहिं पि तसरेणू। (ति. प. १–१०४)। ३. अष्टौ त्रुटिरेणवः संहताः एकस्त्रसरेणुः। (त. वा. ३, ३८, ६)। ४. पुरस्तदादिवायुना प्रेरितः त्रस्यति—गच्छतीति त्रसरेणुः। (अनुयो. चू. पृ. ५४)। ५. ते अष्टौ त्रसरेणुः। (संग्रहणी दे. वृ. २४५, पृ. १११); त्रस्यति पूर्वादिवातप्रेरितो गच्छति यो रेणुः स त्रसरेणुः। (संग्रहणी दे. वृ. २४५, पृ. १११)। ६. अष्टावूर्ध्वरेणव एकस्त्रसरेणुः, त्रसरेणुर्नाम यः पौरस्त्यादिवायुप्रेरितः सन् चलनकर्मा भवति, त्रस्यति पौरस्त्यादिवायुप्रेरितः सन् गच्छतीति त्रसः, स चासौ रेणुरिति व्युत्पत्तेः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २-७४, पृ. ४३–४४)। ७. अष्टभिः परमाणुभिः (?) एकस्त्रसरेणुः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

१ आठ ऊर्ध्व रेणुओं का एक त्रसरेणु होता है। २ आठ त्रुटिरेणुओं के समुदाय को त्रसरेणु कहते हैं। ७ आठ परमाणुओं से एक त्रसरेणु होता है।

त्रसस्थिति— पुव्वकोडिपुधत्तेणब्भहियबेसागरोवमसहस्समेत्ता तसट्ठिदी। (धव. पु. ५, पृ. ६५)।

पूर्वकोटिपृथक्त्व से अधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण त्रसस्थिति है।

त्राण—त्राणम् अनर्थप्रतिहननम्, तद्धेतुत्वात् त्राणम्। (औपपा. अभय. वृ. ९, पृ. १५)।

अनर्थ के विघात का नाम त्राण है, उसके कारण होने से श्रमण भगवान् महावीर को त्राण कहा गया है।

त्रायस्त्रिंश—१. मंत्रि-पुरोहितस्थानीयाः त्रायस्त्रिंशाः, त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशाः। (स. सि. ४, ४)। २. त्रायस्त्रिंशा मंत्रि-पुरोहितस्थानीयाः। (त. भा. ४–४)। ३. मंत्रि-पुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः। यथेह राज्ञां मंत्रि-पुरोहिताः हितानुशासिनस्तथा तत्रेन्द्राणां त्रायस्त्रिंशा वेदितव्याः। (त. वा. ४, ४, ३)। ४. त्रयस्त्रिंशति जाता त्रायस्त्रिंशाः ××× महत्तर-पितृ-गुरूपाध्यायतुल्याः। (त. श्लो. ४–४)। ५. त्रायस्त्रिंशास्त्रयस्त्रिंशदेव देवाः प्रकीर्तिताः। पुरोधोमंत्र्यमात्यानां सदृशास्ते दिवौकसाम्॥ (म. पु. २२-२५)। ६. त्रयस्त्रिंशदेव त्रयस्त्रिंशत्संख्याका एव त्रायस्त्रिंशाः, ××× ते पुनरिन्द्राणां राज्यभरचिन्तादिशान्तिक-पौष्टिकादिकर्मकारिणो मंत्रि-पुरोहितस्थानीयाः। (संग्रहणी. दे. वृ. १, पृ. ४)। ७. त्रायस्त्रिंशा मंत्रि-पुरोहितप्राया हरेः पुनः। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७२)। ८. तथा त्रयस्त्रिंशदेव त्रयस्त्रिंशत्संख्याका एव त्रायस्त्रिंशाः, त्रायस्त्रिंशा इन्द्राणां मंत्रि-पुरोहितस्थानीयाः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २)। ९. त्रयस्त्रिंशदेव संख्या येषां ते त्रायस्त्रिंशा मंत्रि-पुरोहितसमानाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–४)।

१ इन्द्रों के मंत्री व पुरोहित के समान जो देव संख्या में तेतीस ही होते हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।

त्रासनी—बद्धमुष्टेर्दक्षिणहस्तस्य प्रसारिततर्जन्या वामहस्ततलताडनेन त्रासनी। (निर्वाणक. १६, ९, १८)।

दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधकर और तर्जनी को पसार कर बाईं हथेली पर ताड़ने को त्रासनी मुद्रा कहते हैं।

त्रिक—त्रिकोणं स्थानं त्रिकं यत्र रथ्यात्रयं मिलति। (जीवाजी. मलय. वृ. ३–१४२, पृ. २५८)।

जिस स्थान पर तीन ओर से मार्ग आकर मिलते हैं उसे त्रिक कहते हैं।

त्रिकावनत (तियोणद)—ओणदं अवनमनम्, भूमावासनमित्यर्थः। तं च तिण्णि वारं कीरदे त्ति तियोणदमिदि भणिदं। तं जहा—सुद्धमणो धोदपादो जिणिददंसणजणिदहरिसेण पुलइदंगो संतो जं जिणस्स अग्गे बइसदि तमेगमोणदं। जमुट्ठिऊण जिणिदादीणं विण्णत्ति काद्रण बइसणं तं विदियमोणदं। पुणो उट्ठिय सामाइयदंडएण अप्पसुद्धिं काऊण सकसायदेहुस्सग्गं करिय जिणाणंतगुणे ज्झाइय चउवीसतित्थयराणं वंदणं काऊण पुणो जिण-जिणालय-गुरवाणं संथवं काऊण जं भूमीए बइसणं तं तदियमोणदं। एवं एक्केक्कम्हि किरियाकम्मे कीरमाणे तिण्णि चेव ओणमणाणि होंति। (धव. पु. १३, पृ. ८९)।

'ओणद' का अर्थ अवनमन अर्थात् भूमि में बैठना है, वह चूंकि तीन बार किया जाता है, अतः उसे तिओणद—त्रिकावनत—कहा जाता है। यथा—पादप्रक्षालनपूर्वक शुद्ध मन से जिनेन्द्र के दर्शन करके हर्ष से रोमांचित होता हुआ जो जिनदेव के आगे बैठता है, यह एक अवनमन है। फिर उठ करके जिनेन्द्र आदि की विज्ञप्ति करके बैठना, यह दूसरा अवनमन है। पश्चात् उठ करके सामायिकदण्डक से आत्मशुद्धि करके कषाय के साथ शरीर से ममत्व छोड़ता हुआ जिनेन्द्रों के अनन्त गुणों का ध्यान करता है, फिर चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करके पश्चात् जिन, जिनालय व गुरु की स्तुति करता हुआ जो भूमि में बैठता है; यह तीसरा अवनमन है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म करते हुए तीन अवनमन होते हैं।

त्रिपुरान्तक—जन्म-मृत्यु-जराख्यानि पुराणि ध्यान-वह्निना। दग्धानि येन देवेन तं नौमि त्रिपुरान्तकम्॥ (आप्तस्व. २५)।

जन्म, जरा और मरणरूप तीन पुरों को ध्यानरूपी अग्नि से भस्म करने वाले अरिहंतदेव को त्रिपुरान्तक कहते हैं।

त्रिलोचन—तृतीयज्ञान नेत्रेण त्रैलोक्यं दर्पणायते। यस्यालब्धचेष्टायां स त्रिलोचन उच्यते॥ (आप्तस्व. २८)।

केवलज्ञानरूप तृतीय नेत्र से तीन लोकों के जानने देखने वाले अरिहन्तों को त्रिलोचन कहते हैं।

त्रिवलित—१. त्रिवलितं शरीरस्य त्रिषु कटि-हृदय-ग्रीवाप्रदेशेषु भंगं कृत्वा ललाटदेशे वा त्रिवलिं कृत्वा यो विदधाति वन्दनां तस्य त्रिवलितदोषः। (मूला. वृ. ७–१०८)। २. त्रिवलितं कटि-ग्रीवा-हृद्भंगो भ्रुकुटिर्नवा॥ (अन. ध. ८–१०६)।

१ कटि, हृदय और ग्रीवा को भंग कर (झुकाकर) अथवा ललाट पर त्रिवली पाड़ करके आचार्यादि की वन्दना करने को त्रिवलित दोष कहते हैं।

त्रिशिखमुद्रा—संमुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधाय मध्यमाङ्गुष्ठ कनिष्ठिकानां परस्परयोजनेन त्रिशिखमुद्रा। (निर्वाणक. १६, ९, १०)।

सामने की ओर दोनों हाथों को जोड़कर मध्यमा, अंगुष्ठ और कनिष्ठिका अंगुलियों के परस्पर जोड़ने को त्रिशिखमुद्रा कहते हैं।

त्रिस्थानबन्धक—एत्थ असादाणुभागो पुव्वं व सेडिआगारेण ठइदूण चत्तारिभागेसु कदेसु तत्थ पढमभागो णिंबसमो एगट्ठाणं, विदियभागो कंजीरसमो विदियट्ठाणं, तदियभागो विससमो तदियट्ठाणं। तत्थ तिण्णि ठाणाणि जम्हि अणुभागबंधे सो तिट्ठाणो णाम, तस्स बंधया जीवा तिट्ठाणबंधा। (धव. पु. ११, पृ. ३१२–१४)।

असातावेदनीय के अनुभाग को श्रेणिके आकार से स्थापित कर चार भाग करने पर प्रथम स्थान नीम के समान, दूसरा कांजीर के समान, तीसरा विष के समान और चौथा हलाहल के समान है। इन चार स्थानों में से तीन स्थान जिस अनुभागबन्ध में होते हैं वह त्रिस्थानबन्ध और उसके बन्धक त्रिस्थानबन्धक कहलाते हैं।

त्रिःकृत्वा (तिक्खुत्त) — पदाहिण-णमंसणादि-किरियाणं तिण्णिवारकरणं तिक्खुत्तं णाम। अथवा एकम्हि चेव दिवसे जिण-गुरु-रिसिवंदणाओ तिण्णि-

वारं किज्जदि त्ति तिक्खुत्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ८९)।

प्रदक्षिणा और नमस्कार आदि क्रियाओं के तीन बार करने का नाम तिक्खुत्त या त्रिःकृत्वा है। अथवा एक ही दिन में जो तीन बार जिन, गुरु और ऋषियों की वन्दना की जाती है उसे तिक्खुत्त जानना चाहिए।

त्रीन्द्रियजातिनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं तीइंदियभावेण समाणत्तं होदि तं तीइंदियजादिणाम। (धव. पु. ६, पृ. ६८)। २. यदुदयाज्जीवस्त्रीन्द्रिय इति शब्द्यते तत् त्रीन्द्रियजातिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस कर्म के उदय से जीवों के त्रीन्द्रिय अवस्था से समानता होती है उसे त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

त्रीन्द्रिय जीव—१. कुंथु-पिपीलिय-मंक्कुण-विच्छिय-जूविदगोव-गोम्ही य। उत्तिंग-मट्टियाई णेया तेइंदिया जीवा॥ (प्रा. पंचसं. १–७१; धव. पु. १, पृ. २४३ उद्.)। २. त्रीणि इन्द्रियाणि (स्पर्शन-रसन-घ्राणानि) येषां ते त्रीन्द्रियाः। (धव. पु. १, पृ. २४२); त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात् त्रीन्द्रियः। (धव. पु. १, पृ. २४८ व २६४); तं चेव वाणिदियं फास-जिब्भिदियाविणाभावेण तेइंदियजादिणामकम्मोदयाविणाभावेण वा तेइंदियो णाम। तेण जुत्तो जीवो वि तेइंदियो होदि। (धव. पु. ७, पृ. ६५)। ३. स्पर्शन-रसन-घ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्श-रस-गन्धानां परिच्छेत्तारस्त्रीन्द्रिया अमनसो भवन्तीति। (पंचा. का. अमृत. वृ. ११५)। ४. त्रयाणां स्पर्शन-रसन-घ्राणेन्द्रियज्ञानानां (आवरणक्षयोपशमात् तन्निज्ञानभाजः) त्रीन्द्रियाः। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १७)।

३ स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से तथा शेष इन्द्रियावरण और नोइन्द्रियावरण कर्म का उदय होने पर स्पर्श, रस और गन्ध के जानने वाले जीवों कोत्रीन्द्रिय जीव कहते हैं।

त्रुटित—चतुरशीतिः त्रुटिताङ्गशतसहस्राणि एकं त्रुटितम्। (जीवाजी. मलय. वृ. २-१७८, पृ. ३४५; ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–६६, पृ. ४०)।

चौरासी लाख त्रुटितांगों का एक त्रुटित होता है।

त्रुटिताङ्ग—१. चतुरशीतिः पूर्वशतसहस्राणि एकं त्रुटिताङ्गम्। (जीवाजी. मलय. वृ. २–१७८, पृ. ३४५)। २. चतुरशीतिमहाकुमुदशतसहस्राण्येकं त्रुटिताङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–६८, पृ. ४०)।

१ चौरासी लाख पूर्व वर्षों को एक त्रुटितांग कहते हैं। २ चौरासी लाख महाकुमुदों को एक त्रुटितांग कहते हैं।

त्रुटिरेणु—१. अट्ठट्ठे गुणिदेहि सण्णासण्णेहि होदि तुडिरेणू। (ति. प. १–१०४)। २. अष्टौ संज्ञासंज्ञा एकस्त्रुटिरेणुः। (त. वा. ३, ३८, ६)। ३. ताभिरप्यष्टसंज्ञाभिः त्रुटिरेणुः स्फुटीकृतः। (ह. पु. ७–३८)।

१ आठ संज्ञासंज्ञों का एक त्रुटिरेणु होता है।

त्रेता, त्रेतौज—१. चतुर्विभक्ते × × × त्रिशेषः त्रेतासंज्ञः। (पंचसं. स्वो. वृ. बं. क. ५८, पृ. ५०)। २. केचिद् विवक्षिता राशयश्चत्वारः स्थाप्यन्ते, तेषां चतुर्भिः भागो ह्रियते, भागे च हृते सति × × × यस्य त्रयः शेषाः स त्रेतौजो, यथा पञ्चदश। (पंचसं. मलय. वृ. ब. क. ५८, पृ. ५०)।

१ जिस राशि में चार का भाग देने पर तीन शेष रहें उसे त्रेता या त्रेतौज कहा जाता है। जैसे—१५÷४=३, शेष ३।

त्रैलोक्यगुरु—त्रैलोक्यवासिसत्त्वेभ्यो गृणन्ति शास्त्रार्थमिति त्रैलोक्यगुरवः। (पञ्चसू. हरि. वृ. पृ. १)।

जो त्रिलोकवासी प्राणियों को शास्त्र के अर्थ को कहते हैं, उन्हें त्रैलोक्यगुरु कहते हैं।

त्र्यस्र—त्र्यस्रं त्रिकोणम्। (संग्रहणी दे. वृ. २७२)।

त्रिकोण वस्तु को त्र्यस्र कहते हैं।

त्र्योजकल्योज—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेओया से तं तेओगकलिओगे। (भगवती ३५, १, १)।

जिस राशि में चार का भाग देने पर एक शेष रहे और उसके अपहार समय त्र्योज हों उसे त्र्योजकल्योज राशि कहते हैं।

त्र्योजकृतयुग्म—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासि-

स्स अवहारसमया तेओगे से तं तेओगकडजुम्मे। (भगवती. ३५, १, १)।

जिस राशि में चार का भाग देने पर चार शेष रहें—कुछ भी शेष न रहे—और उसके अपहार समय त्र्योज हों उसे त्र्योजकृतयुग्म कहते हैं।

त्र्योजत्र्योज—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेओया से तं तेओगतेओगे। (भगवती ३५, १, १)।

जिस राशि में चार का भाग देने पर तीन शेष रहें और अपहार समय त्र्योज हों उसे त्र्योजत्र्योज कहते हैं।

त्र्योजद्वापरयुग्म—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेओया से तं तेओगदावरजुम्मे। (भगवती. ३५, १, १)।

जिस राशि में चार का भाग देने पर दो शेष रहें और उसके अपहार समय त्र्योज हों उसे त्र्योजद्वापरयुग्म कहते हैं।

त्वक् (तय)—तयो णाम रुक्खाणं गच्छाणं कंधाणं वा वक्कलं। (धव. पु. १३, पृ. १९)।

वृक्ष, गच्छ और स्कन्ध के वकला को त्वक् (त्वचा) कहा जाता है।

त्वक्पानक (तयापाणए)—से किं तं तयापाणए? जण्णं अंबं वा अंबाडगं वा जहा पओगपदे जाव बोरं वा तिंदुरुयं वा तरुणागं वा आमगं वा आसगंसि आवीलेति वा पवीलेति वा ण य पाणियं पियइ से तं तयापाणए। (भगवती सं. ३, १५, २७, पृ. ३८८)।

जो आम अथवा आंवला इस प्रकार प्रयोगपद (प्रज्ञापना १६–२०५, पृ. ३२८) में कहे अनुसार बेर पर्यन्त तथा तिन्दुरुक (तेंदू) भी, ये चाहे तरुण—अपक्के—हों या कच्चे हों, उन्हें मुख में डालकर थोड़ा चबाने या अधिक चबाने, किन्तु पानी न पीवे; वह त्वचापानक (त्वचा पानी) कहलाता है।

त्वक्स्पर्श (तयफास)—जं दव्वं तयं वा णोतयं वा पुसदि सो सव्वो तयफासो णाम। (धव. पु. १३, पृ. १९)।

जो द्रव्य त्वक् और नोत्वक् का स्पर्श करता है वह सब त्वक्स्पर्श कहलाता है।

दक्षत्व—दक्षत्वम् आशुकारित्वम्। × × × दक्खत्तं किरियाणं जं करणमहीणकालंमि॥ (आव. नि. हरि. वृ. ८४३, पृ. ३४६)।

जिस प्रकार बाण व आवरण (कवच) आदि सामग्री से युक्त योद्धा जयलक्ष्मी को प्राप्त करता है उसी प्रकार जीवरूप योद्धा यथासम्भव व्रतादिरूप बाणादि सामग्री से सुसज्जित होकर कर्मरूप शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करता है। उस सामग्री के अन्तर्गत एक दक्षत्व भी है। युद्ध में आवश्यक कार्य को शीघ्रता से सम्पन्न करना, इसका नाम दक्षत्व है। इसी प्रकार कर्मरूप शत्रु पर विजय प्राप्त करने में आवश्यक क्रियाओं को ठीक समय पर करने रूप दक्षत्व की भी आवश्यकता रहती है।

दक्षिणत्व—दक्षिणत्वं सरलता। (औपपा. मलय. वृ. १०, पृ. २२; रायप. मलय. वृ. ४, पृ. २७)।

सरलता को दक्षिणत्व कहते हैं। यह ३५ वचनातिशयों में छठा है।

दण्ड (मापविशेष)—१. बेरिक्कूहिं दंडो × × ×। (ति. प. १–११५)। २. दो कुच्छीओ दंडं धणू जुगे नालिआ अक्खे मुसले। (अनुयो. सू. १३३, पृ. १५७)। ३. दंडं धणुं जुगं नालिया य अक्ख मुसलं च चउहत्था। (ज्योतिष्क. २–७६, पृ. ४१)। ४. दण्डः किष्कुद्वयं दण्डः धनुर्नाड्या समा मताः। (ह. पु. ७–४६)। ५. चउरयणि दंड मणि भवहि। (म. पु. पुष्प. १, पृ. २४)। ६. × × × बे किक्कूहि य हुवे तहा दंडो। (जं. दी. प. १३–३३)। ७. दण्डो हि चतुःकरः। (समवा. अभय. वृ. ९६, पृ. ९१)। ८. चत्वारो हस्ता दण्डो धनुर्वा युगं वा नालिका वा ऽक्षो वा मुसलं वा। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २-७६, पृ. ४४)। ९. चतुर्भिः हस्तैर्मपित एको दण्डः। × × × चतुर्भी रत्निभिः दण्डः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

१ दो रिक्कुओं (किष्कुओं) का एक दण्ड होता है। २ दो कुक्षियों (कुक्षि=२ हाथ) का एक दण्ड होता है। ३ दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष व मुसल ये समानार्थक नाम हैं।

दण्ड (अपराधप्रतीकार)—१. वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं दण्डः। (नीतिवा. २९-७४, पृ. ३३३)। २. दण्ड्यते—ज्ञानाद्यैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते प्राण्यनेनेति दण्डः। (स्थाना. अभय. वृ. १-३, पृ. १३)। ३. दण्डः शरीर-धनयोरपहारः। (विपाक. अभय. वृ. ४, पृ. ४२)। ४. यत्र शत्रोर्वधः क्रियते, परिक्लेशो वार्थहरणं वा क्रियते स दण्ड उच्यते। तथा च जैमिनिः—वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशोऽथवा रिपोः। अर्थस्य ग्रहणं भूरिदण्डः स परिकीर्तितः॥ (नीतिवा. टी. २९-७४)।

१ शत्रु का वध करना, उसे कष्ट देना, अथवा उसकी सम्पत्ति का अपहरण करना; इसका नाम दण्ड है।

दण्डनीति—यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः। (नीतिवा. ९-२, पृ. १०९)।

अपराध के अनुसार दण्ड की व्यवस्था करना, यह दण्डनीति कहलाती है।

दण्डपारुष्य—वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं वा क्रमेण दण्डपारुष्यम्। (नीतिवा. १६-३०, पृ. १७९)।

अपराधी का वध करने, क्लेश पहुंचाने या धन के अपहरण करने को दण्डपारुष्य—दण्ड की कठोरता—कहते हैं।

दण्डमुद्रा—दक्षिणहस्तेन मुष्टिं बध्वा तर्जनीं प्रसारयेदिति दण्डमुद्रा। (निर्वाणक. १९, ७, १)।

दाहिने हाथ की मुट्ठी को बांध कर तर्जनी के पसारने को दण्डमुद्रा कहते हैं।

दण्डसमुद्घात— १. तत्थ दंडसमुग्घादो णाम पुव्वसरीरबाहल्लेण तत्तिगुणबाहल्लेण वा सविक्खंभादो सादिरेयतिगुणपरिट्ठएण केवलिजीवपदेसाणं दंडागारेण देसूणचोद्दसरज्जुविसप्पणं। (धव. पु. ४, पृ. २८); पढमसमये दंडं करेदि। तम्हि ट्ठिदीए असंखेज्जे भागे हणदि। सेसस्स च अणुभागस्स अप्पसत्थाणमणंते भागे हणदि। (धव. पु. ६, पृ. ४१२); तत्थ पढमसमए देसूणचोद्दसरज्जुआयामेण सगदेहविक्खंभादो तिगुणविक्खंभेण सगदेहविक्खंभेण वा विक्खंभतिगुणपरिरएण एगसमएण वेदणीयट्ठिदिं खंडिदूण विणासिदसंखेज्जाभागं अप्पसत्थाणं कम्माणं अणुभागस्स धादिदअणंताभागं दंडं करेदि।(धव. पु. १०, पृ. ३२०); सजोगिजिणो अंतोमुहुत्तावसेसे आउए दंड-कवाड-पदर-लोगपूरणाणि करेदि। तत्थ जं पढमसमए देसूणचोद्दसरज्जुउस्सेहं सगवि-क्खंभपमाणवट्टपरिवेढ[ढ]मप्पाणं कादूण ट्ठिदीए अ-संखेज्जे भागे अणुभागस्स अणंते भागे घादेदूण चेट्ठदि तं दंडं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ८४)। २. अंतोमुहुत्ताउवे सेसे केवली समुग्घादं करेमाणो पुव्वाहिमुहो उत्तराहिमुहो वा होदूण काउस्सग्गेण वा करेदि, पलियंकासणेण वा। तत्थ काउस्सग्गेण दंडसमुग्घादं कुणमाणस्स मूलसरीरपरिणाहेण देसूणचोद्दसरज्जुआयामेण दंडायारेण जीवपदेसाणं विसप्पणं दंडसमुग्घादो णाम। (जयध. प. १२३८; धव. पु. ६, पृ. ४१२, टि. ४)।

१ अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु के शेष रह जाने पर सयोगकेवली दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातों को करते हैं। इनमें प्रथमतः दण्डसमुद्घात के करने में उनके जो आत्मप्रदेश अपने शरीर के विस्तार प्रमाण अथवा उससे तिगुने विस्तार प्रमाण, विस्तार से तिगुनी परिधिवाले तथा चौदह राजु प्रमाण लम्बे दण्ड के आकार में निकलते हैं; इसका नाम दण्डसमुद्घात है।

दण्डायतशयन—१. दण्डवदायतं शरीरं कृत्वा शयनम्। (भ. आ. विजयो. २२५)। २. दण्डवदायतं शरीरं कृत्वा शेते इत्येवं व्रतं यस्य स दण्डायतशायी साधुस्तत्साहचर्यात्तच्छयनमपि तथोक्तं दण्डायतशयनम्। (भ. आ. मूला. २२५)।

१ दण्ड के समान शरीर को लम्बा करके सोने को दण्डायतशयन कहते हैं।

दण्डासन—श्लिष्टांगुली श्लिष्टगुल्फौ भूश्लिष्टोरू प्रसारयेत्। यत्रोपविश्य पादौ तद्दण्डासनमुदीरितम्॥ (योगशा. स्वो. विव. ४-१३१, पृ. ३३८)।

जिस आसन में बैठ करके दोनों पैरों की अंगुलियों, गुल्फों (गांठों) और जंघाओं को संसृष्ट (संबद्ध) करते हुए उनको फैलाते हैं उसे दण्डासन कहते हैं।

दण्डुकक्ल—से किं तं दंडुक्कले? दण्डुक्कले णामं जेणं दंडदिट्ठंतेणं आदिल्ल-मज्झवसाणाणं (आदिल्ल-मज्झवसाण) पण्णवणा, एसमुदयमेत्ताभिधाणाइं, णत्थि सरीरातो परं जीवो त्ति भववति वोच्छेयं वदति से तं दंडुक्कले। (ऋषिभाषित २०, पृ. १५)।

दण्ड के दृष्टान्त द्वारा जीव के आदि, मध्य और अन्त की प्ररूपणा करना व यह कहना कि शरीर को छोड़कर अन्य कोई जीव नहीं है, इस प्रकार जीव

के अभाव को बतलाना, इसे दंडुक्कल (दण्डोत्कल) कहा जाता है। यह पांच उत्कलभेदों में प्रथम है।

दत्ति—तत्र करस्थालादिभ्यो ऽव्यवच्छिन्नधारया या पतति भिक्षा सा दत्तिरभिधीयते, भिक्षाविच्छेदे च द्वितीया दत्तिः, सिक्थमात्रेऽपि पात्रे पतिते भिन्नैव दत्तिरिति। (प्रव. सारो. वृ. १६७)।

हाथ के थाल आदि से अखण्ड धारापूर्वक जो भिक्षा गिरती है उसे दत्ति कहते हैं, भिक्षा का विच्छेद होने पर दूसरी दत्ति कहलाती है, पात्र में सीथ मात्र के भी गिरने पर भिन्न ही दत्ति मानी जाती है। इस प्रकार एक-दो आदि दत्तियों की संख्या के अनुसार जो भोजन ग्रहण किया जाता है वह दस प्रकार के प्रत्याख्यान में परिमाणकृत प्रत्याख्यान माना जाता है।

दत्ति-ग्रासपरिमाण—१. दत्ति-ग्रासपरिमाणं एकेनैव दीयमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणम्, आनीतायामपि भिक्षायाम् इयत एव ग्रासान् गृह्णामि इति वा परिमाणम्। (भ. आ. विजयो. २१९)। २. दत्ति-ग्रासपरिमाणं एकेनैव दायकेन द्वाभ्यां वा दीयमानस्य ग्रहणं दत्तिपरिमाणम्, आनीतायामपि भिक्षायां इयत इव ग्रासान् ग्रहीष्यामि इति ग्रासपरिमाणम्। (भ. आ. मूला. २१९)।

एक ही दाता के द्वारा अथवा दो ही दाताओं के द्वारा दिये जाने वाले भोजन को ग्रहण करूंगा, इस प्रकार के दानक्रिया के प्रमाण को दत्तिपरिमाण कहते हैं। लाई गई भिक्षा में भी इतने ही ग्रासोंको ग्रहण करूंगा, इस प्रकार ग्रासों का प्रमाण करने को ग्रासपरिमाण कहा जाता है।

दन्तकर्म—हत्थिदंतेसु किण्णपडिमाओ दंतकम्मं। (धव. पु. ९, पृ. २५०); हत्थिदंतुक्किण्णपडिमाओ दंतकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. १०); हत्थिदंतुक्किण्णजिणिदपडिमाओ दंतकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); दंतिदंतादिसु अहिदरूवाणि दंतकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ६)।

हाथी के दांतों पर उकेरी गई प्रतिमाओं को दन्तकर्म कहते हैं।

दन्तवाणिज्य—१. दन्तवाणिज्जं—पुव्विं चेव पुलिंदाणं मुल्लं देइ दंते देज्जाहित्ति, पच्छा पुलिंदा हत्थि घाएंति अचिरा सो वाणियओ एहितित्ति काउं। (आ. प्र. टी. २८८)। २. दन्त-केश-नखास्थि-त्वग्रोम्णो ग्रहणमाकरे। त्रसांगस्य वाणिज्यार्थं दन्तवाणिज्यमुच्यते। (योगशा. ३-१०७, पृ. ५६६; त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३४१)। ३. दन्तवाणिज्यं यत्पूर्वमेव पुलिन्दाणां मूल्यं ददाति दन्तान् मे यूयं दद्यातेति, ततस्ते हस्तिनो घ्नन्ति अचिरादसौ वाणिजक एष्यतीति कृत्वा। (धर्मबिन्दु वृ. ३-२९)। ४. दन्तवाणिज्यं हस्त्यादिदन्ताद्यवयवानां पुलिन्दादिषु द्रव्यदानेन तदुत्पत्तिस्थाने वाणिज्यार्थं ग्रहणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-२२)।

१ दांतों को देने के लिए जो पहिले ही भीलों को मूल्य दे दिया जाता है उसके लिए भील पीछे 'वह शीघ्र ही आने वाला होगा' इस विचार से हाथी का घात करते हैं, यह दन्तवाणिज्य कहलाता है।

दन्तसंस्कार—दन्तमलापकर्षणं तद्रंजनं वा दन्तसंस्कारः। (भ. आ. विजयो. टी. ९३)।

दांतों के मैल के निकालने तथा उनके रंगने को दन्तसंस्कार कहते हैं।

दम—१. मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयेषु राग-द्वेषविरतिर्दमः संयमः। (युक्त्यनु. टी. ६)। २. दम इन्द्रियजयः। (योगशा. स्वो. विव. २-३१, पृ. २७५)।

१ इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियविषयों में राग-द्वेष के छोड़ने का नाम दम—संयम है। २ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना, इसे दम कहते हैं।

दम्भ—दम्भनं दम्भो वेष-वचनाद्यनुमेयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)।

वेष और वचन आदि से जिस छल-कपट का अनुमान किया जा सकता है उसे दम्भ कहते हैं। यह माया कषाय का पर्याय नाम है।

दया—१. × × × दया प्राण्यनुकम्पनम्। (म. पु. ५-२१)। २. दया भूतानुकम्पा। (योगशा. स्वो. विव. २-४); दया करुणा। (योगशा. स्वो. विव. ३-१६)। ३. दया दुःखार्तजन्तुत्राणाभिलाषः। (अन. ध. स्वो. टी. ४-१)।

१ प्राणियों के प्रति अनुकम्पा करने को—उनके दुःख को देखकर स्वयं दुख के अनुभव करने को—दया कहते हैं।

दयादत्ति—१. सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः॥ (म. पु. ३८-३६)। २. दयादत्तिरनुकम्पयाऽनु-

ग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम् । (चा. सा. पृ. २१; कार्तिके. टी. ३६१, पृ. २६०) ।

१ अनुग्रह के योग्य प्राणिसमूह के लिए मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक अभयदान देना—उनके कष्ट को दूर करना, इसका नाम दयादत्ति है ।

दयाव्रत—साकल्येन देशतो वा प्राणिहिंसातो विरतिर्दयाव्रतम् । (युक्त्यनु. टी. ६) ।

प्राणिहिंसा के एकदेश या सर्वदेश त्याग को दयाव्रत (अहिंसाव्रत) कहते हैं ।

दर्दुरदोष—१. दर्दुरम् आत्मीयशब्देनान्येषां शब्दानभिभूय महाकलकलं बृहद्गलेन कृत्वा यो वन्दनां करोति तस्य दर्दुरदोषः । (मूला. वृ. ७-११०) । २. दुर्दरो[दर्दुरो] ध्वनिनाऽन्येषां स्वेन च्छादयतो ध्वनीन् ॥ (अन. ध. ८-११०) ।

अपने शब्दों से दूसरे के शब्दों को दबाकर अतिशय गलपूर्वक महान् कलकल करते हुए वन्दना करने को दर्दुरदोष कहते हैं ।

दर्प—१. दर्पो बलकृतः ।(त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)। २. तत्थ दप्पो धावण-डेवणाई । (जीतक. चू. १, पृ. ३) । ३. अमीषामयमर्थः—धावण त्ति निःकारणेण खड्डप्पयाणं धावणं, डेवणं गड्डवरंडाईफड्डणं । आदिशब्दात् मल्लवत् बाहुयुद्धकरणं लगुडिभमाडणं । (जीतक. चू. वि. व्याख्या पृ. ३४) । ४. पुनरकुशलपरिणामतः प्रतिषेवणा सा दर्पः । दर्पप्रतिसेवना, दर्पिका इत्यर्थः । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १-३६, पृ. १६); दर्पो निष्कारणोऽनादरः । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. ४-३२६, पृ. ६१); व्यायाम-वल्गनादिषु व्यापृततया यो निष्कारणोऽनादरः उपस्थापनायाः स दर्प उच्यते । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. ४-३२७, पृ. ६२); दर्पो निष्कारणधावन-वल्गन-वीरमुद्धादिकरणम् । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १०-१३४, पृ. ८४) ।

१ बलकृत अहंकार का नाम दर्प है । ३ निष्प्रयोजन दौड़कर, उछल-कूदकर और युद्धादि करके अपने बल के प्रदर्शन करने को दर्प कहते हैं । ४ अकुशल परिणाम से—अविरति आदिरूप भाव से—बाह्य वस्तु के प्रतिसेवन का नाम दर्प—दर्पिका प्रतिसेवना है । बिना प्रयोजन के दौड़ना व वीरयुद्धादि करना, इसे दर्प कहा जाता है ।

दर्पिका—देखो दर्प । या कारणमन्तरेण प्रतिसेवना क्रियते सा दर्पिका (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १-३८, पृ. १४) ।

बिना कारण जो बाह्य वस्तु का सेवन किया जाता है, उसका नाम दर्पिका प्रतिसेवना है ।

दर्शन (सम्यग्दर्शन)—१. दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संयमं सुधम्मं च । णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥ (बो. प्रा. १४) । २. ××× जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं । (मो. प्रा. ३७)। ३. दंसणं अत्तागम-पदत्थेसु रुई पच्चओ सद्धा फोसणमिदि एयट्ठो । (धव. पु. ६, पृ. ३८); अत्तागम-पयत्थेसु पच्चओ रुई सद्धा फासो च दंसणं णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३५७-३५८) । ४. वस्तुयाथात्म्यश्रद्धानं दर्शनम् । (भ. आ. विजयो. १६) । ५. दर्शनमात्मविनिश्चितिः ××× । (पु. सि. २१६) । ६. ××× दर्शनं तत्त्वरोचकम् । (चन्द्र. च. १८, १२४) । ७. दृश्यन्ते—श्रद्धीयन्ते पदार्था अनेनास्मादस्मिन् वेति दर्शनम्, दर्शनमोहनीयस्य क्षयः क्षयोपशमो वा, दृष्टिर्वा दर्शनम्—दर्शनमोहनीयक्षयाद्याविर्भूततत्त्वश्रद्धानरूप आत्मपरिणामः । (स्थाना. अभय. वृ. १-४३, पृ. २१-२२) । ८. रुचिराप्तागमपदार्थानां दर्शनं मूढवर्जितम् । (आचा. सा. ३-३) । ९. दर्शनविशोधिकानि यानि सूत्राणि शास्त्राणि वा तानि दर्शनम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. १-१०३, पृ. ३२) । १०. ××× दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानम् । (भ. आ. मूला. २) । ११. ××× श्रद्धानं तस्य दर्शनम् । (धर्मश. २१-१६२) । १२. आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं दर्शनं विदुः । (जी. चम्पू. ७-६)।

१ जो मोक्षमार्ग, सम्यक्त्व, संयम और उत्तम धर्म को दिखलाता है तथा जो परिग्रह से रहित होकर ज्ञानस्वरूप है उसे दर्शन कहा गया है । ३ आप्त, आगम और पदार्थों में जो रुचि होती है उसे दर्शन कहते हैं । रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और दर्शन ये समानार्थक शब्द हैं ।

दर्शन (उपयोग)—१. जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं ××× । (सन्मति. २-१) । २. अनाकारं दर्शनम् । (त. वा. २, ९, १); दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमाविर्भूतवृत्तिरालोचनं दर्शनम् (त. वा. ९, ७, ११, पृ. ६०४) । ३. जीवस्वाभाव्यात् सामान्यप्रधानं उपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते । (ललितवि. पृ. ६२)। ४. सामान्यावबोधो दर्शनम् ।

(त. भा. हरि. वृ. २-९)। ५. दर्शनावरणकर्मक्षयोपशमादिजं सामान्यमात्रग्रहणं दर्शनमिति। उक्तं च—जं सामण्णग्गहणं भावाणं कट्टु णेव आगारं। अविसेसिऊण अत्थं दंसणमिति वुच्चए समए॥ (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०३; अनुयो.मल. हेम. वृ. १४४, पृ. २२०)। ६. जं एत्थ निव्विसेसं गहो विसेसाण दंसणं होति। (धर्मसं. हरि. १३६४)। ७. अप्पविसओ उवओगो दंसणं। (धव. पु. ६, पृ. ९); तदात्मक-(सामान्य-विशेषात्मक-) स्वरूपग्रहणं दर्शनम्। ××× भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद् दर्शनम् (धव. पु. १, पृ. १४७); आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनं। अस्य गमनिका—आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनम्, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः। प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका—प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनम्। विषय-विषयिसम्पातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः। (धव. पु. १, पृ. १४८-१४९); स्वरूपसंवेदनं दर्शनम्। (धव. पु. १, पृ. ३८३); स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्। (धव. पु. १, पृ. ३८४); ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदो दर्शनम्, आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः। (धव. पु. ६, पृ. ३२-३३); प्रकाशवृत्तिर्दर्शनम्। (धव. पु. ७, पृ. ७); जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं। अविसेसिदूण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए॥ (धव. पु. ७, पृ. १०० उद्.; गो. जी. ४८२, द्रव्यसं. ४३); अणागारुवजोगो दंसणं। को अणागारुवजोगो णाम? सायारुवजोगादो अण्णो। कम्म-कत्तारभावो आगारो, तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो त्ति। (धव. पु. १३, पृ. २०७); रसादयोऽर्थाः विषयः, षडपीन्द्रियाणि विषयिणः। ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वावस्था विषय-विषयिसंपातः ज्ञानोत्पादनकारणपरिणामविशेषसन्तत्युत्पत्त्युपलक्षितः अन्तर्मुहूर्तकालः दर्शनव्यपदेशभाक्। (धव. पु. १३, पृ. २१६); सकवस्स बज्झत्थपडिबद्धस्स संवेयणं दंसणं णाम। (धव. पु. १५, पृ. ६)। ८. ××× अनाकारं च दर्शनम्॥ भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया। सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शनम्॥ (म. पु. २४, १०१-२)। ९. किञ्चिदित्ययमात्यत्र वस्तुमात्रमपोद्धृतम्। तद्ग्राहि दर्शनं ज्ञेयमवग्रहनिबन्धनम्। (त. श्लो. १, १५, ११)। १०. दर्शनस्यानाकारग्रहणं स्वरूपम्। (अष्टस. १५, पृ. १३२)। ११. ××× शुद्धनयः पुनरनाकारमेव सङ्गिरते दर्शनम् आकारवच्च ज्ञानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-९)। १२. यद्विशेषमकृत्वैवं गृह्णीते वस्तुमात्रकम्। निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः॥ (त. सा. २-१२); दर्शनावरणस्य स्यात् क्षयोपशमसन्निधौ। आलोचनं पदार्थानां दर्शनं तच्चतुर्विधम्॥ (त. सा. २-८६)। १३. सामान्यग्राहि दर्शनम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)। १४. भावाणं सामण्णविसेयाणं सरूवमेत्तं जं। वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि॥ (गो. जी. ४८३)। १५. रूपादीनां पदार्थानां सामान्यस्यावलोकनम्। चतुर्धा दर्शनं ज्ञेयं जीवसामान्यलक्षणम्॥ (पंचसं. अमित. १, २४९, पृ. ३१)। १६. यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति, तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४३)। १७. दर्शनं सामान्यार्थबोधरूपम् ××× । (स्थाना. अभय. वृ. २-१०५)। १८. दर्शनं च सामान्यावबोधः। (औपपा. अभय. वृ. १०, पृ. १५)। १९. अविद्यमान आकारः भेदो ग्राह्यस्य यस्येत्यनाकारं दर्शनमुच्यते। (सम्मति. अभय. वृ. २-१, पृ. ४५८)। २०. विषय-विषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरं दर्शनम्। (प्र. न. त. २-७); विषयो द्रव्य-पर्यायात्मकोऽर्थः, विषयी चक्षुरादिरिन्द्रियानिन्द्रियग्रामः, तयोः समीचीनो भ्रान्त्याद्यजनकत्वेनानुकूलो यो निपातो योग्यदेशावस्थानम्, तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सत्तामात्रगोचरं निःशेषविशेषवैमुख्येन सन्मात्रविषयं दर्शनं निराकारावबोधः। (स्या. र. २-७); इन्द्रियार्थयोर्योग्यतालक्षणसम्बन्धे सति सकलहेयोपादेयतासाधारणगोचरं निराकारबोधस्वरूपं दर्शनम्। (स्या. र. २-१०)। २१. दर्शनस्य किञ्चिदित्यादिरूपेणाकारग्रहणं स्वरूपम्। (सप्तभं. पृ. ४७)। २२. अनाकारं दर्शनं तत्कीर्तितं मुनिपुङ्गवैः॥ (लोकप्र. ३)। २३. सामान्यविषयं दर्शनम्। (आव. नि. मलय. वृ., पृ. २७७); निर्विशेषं विशेषाणां ग्रहो दर्शनमुच्यते। (आव. नि. मलय. वृ. १०२१, पृ. ५९८ उद्.)।

२४. दृश्यते सामान्यरूपतया ऽवगम्यतेऽर्थोऽनेनेति दर्शनम् । (धर्मसं. मलय. वृ. १०७); यत् अस्मादत्र विशेषाणां घटादीनाम्, निर्विशेषं विशेषरूपतापरिहारेण, सामान्याकारेणेति यावत्, ग्रहो दर्शनं भवति । (धर्मसं. मलय. वृ. ११६४) । २५. दर्शनं नाम सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सामान्यावबोधः । (जीवाजी. मलय. वृ. १–१३, पृ. १८)। २६. सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनम् × × × । (प्रतिष्ठासा. २–६०)। २७. दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः । (प्रव. सारो. वृ. १२४१) । २८. दर्शनंवस्तुसामान्यांशग्राहि । (संग्रहणी दे. वृ. २७३) । २९. भावानां सामान्य-विशेषात्मकबाह्यपदार्थानाम्, आकारं भेदग्रहणम्, अकृत्वा यत्सामान्यग्रहणं स्वरूपमात्रावभासनं तत् दर्शनम् । (गो. जी. जी. प्र. टी. ४८२)। ३०. विशेषमकृत्वा सत्तावलोकनमात्रं दर्शनम् । (त. वृत्ति श्रुत. २–९) ।

१ जो सामान्य को—द्रव्यार्थिक नय की विषयभूत सामान्य वस्तु को—ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा जाता है । २ दर्शनावरण के क्षय या क्षयोपशम से जो निराकार आलोचन मात्र आविर्भूत होता है उसका नाम दर्शन है । ३. सामान्य को प्रधान और विशेष को गौण कर जो पदार्थ का ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं । ७ आत्मविषयक उपयोग दर्शन कहलाता है । सामान्य-विशेषात्मक आत्मस्वरूप के ग्रहण का नाम दर्शन है ।

दर्शनकुशील—१. दंसण दंसणयारं (जो उ विराहेइ) × × ×॥ (प्रव. सारो. ११०) । २. निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ । उववूह-थिरीकरणे वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥ अमुं पुनरष्टप्रकारं दर्शनाचारं विराधयति स दर्शने दर्शनविषये कुशीलः । (आव. हृ. वृ. मल. हे. टि. वृ. ८२) । ३. दर्शनाचारं (निःशंकितादिकं) यो विराधयति, दर्शने दर्शनविषये कुशीलः । (प्रव. सारो. वृ. ११०)। ४. यस्तु दर्शनाचारं निःशंकितत्वादिकं विराधयति स दर्शने दर्शनकुशीलः । (व्यव. भू. भा. मलय. वृ., पृ. ११७) ।

१ निःशंकित और निःकांक्षित आदि रूप आठ प्रकार के दर्शनाचार की विराधना करने वाले साधु को दर्शनकुशील कहते हैं ।

दर्शनक्रिया—१. रागार्द्रीकृतत्वात् प्रमादिनो रमणीयरूपावलोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया । (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ९) । २. रागार्द्रीकृतचित्तत्वात् प्रमत्तस्य [प्रयतस्य] प्रमादिनः । रम्यरूपावलोकाभ्याभिप्रायो दर्शनक्रिया ॥ (ह. पु. ५८-६९)। ३. रागार्द्रस्य प्रमत्तस्य सुरूपालोकनाशयः । स्याद्दर्शनक्रिया × × × ॥ (त. श्लो. ६, ५, १२) । ४. रागार्द्रीकृतस्य प्रमादवतः सुरूपविलोकनाभिनिवेशो दर्शनक्रिया । (त. वृत्ति श्रुत. ६–५) ।

१ राग के वशीभूत होकर प्रमादी हुए जीव के जो रमणीय रूप के देखने की अभिलाषा होती है उसे दर्शनक्रिया कहते हैं ।

दर्शनपण्डित—१. क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपण्डितः । (भ. आ. विजयो. टी. २५) । २. त्रिविधसम्यक्त्वः दर्शनपण्डितः । (भा. प्रा. टी. ३२) ।

१ क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व से परिणत हुए जीव को दर्शनपण्डित कहते हैं ।

दर्शनपण्डितमरण—व्यवहारपण्डितस्य मिथ्यादृष्टेः बालमरणं यथा भवति सम्यग्दृष्टेस्तदेव दर्शनपण्डितमरणम् । (भ. आ. विजयो. टी. २५) ।

सम्यग्दर्शन से युक्त जीव के मरण को दर्शनपण्डितमरण कहते हैं ।

दर्शनपुलाक—कुदृष्टिसंस्तवादिभिर्दर्शनपुलाकः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९; प्रव. सारो. वृ. ७२३)।

मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा—स्तुति आदि करने वाले साधु को दर्शनपुलाक कहते हैं ।

दर्शनप्रतिमा—१. श्रावको यस्यां निःशंकितादिसम्यग्दर्शनो मासं स्यात् सा प्रथमा । × × × प्रथमं दर्शनप्रतिमा, तस्यां नन्दिचैत्यवन्दनकक्षमाश्रमणवासक्षेपविधिः दर्शनप्रतिमाभिलापेन । (आ. दि. पृ. ५१) । २. पसमाइगुणविसिट्ठं कुग्गहसंकाइसल्लपरिहीणं । सम्मद्दंसणमणहं दंसणपडिमा हवइ पढमा ॥ (प्रव. सारो. ९८२) । ३. प्रथमा भावार्थः—सम्यग्दर्शनस्य कुग्रहशंकादिशल्यरहितस्याणुव्रतादिगुणविकलस्य योऽभ्युपगमः सा दर्शनप्रतिमा । (प्रव. सारो. वृ. ९८२) ।

२ प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा व आस्तिक्य इन पांच गुणों से युक्त और दुराग्रह व शंकादि शल्यों से

विहीन जो निर्मल सम्यग्दर्शन है उसे दर्शनप्रतिमा कहते हैं। वह ग्यारह प्रतिमाओं में प्रथम है।

दर्शनबाल—मिथ्यादृष्टयः सर्वथा तत्त्वश्रद्धानरहिताः दर्शनबालाः। (भ. आ. विजयो. टी. २५)।

तत्त्वार्थश्रद्धान से सर्वथा रहित मिथ्यादृष्टि जीवों को दर्शनबाल कहते हैं।

दर्शनबालमरण—देखो इच्छाप्रवृत्त व अनिच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण।

दर्शनबाल-इच्छामरण—तयोराद्यमग्निना धूमेन शस्त्रेण विषेण उदकेन मरुत्प्रपातेन उच्छ्वासनिरोधेन अतिशीतोष्णपातेन रज्ज्वा क्षुधा तृषा जिह्वोत्पाटनेन विरुद्धाहारसेवनया बाला मृतिं ढौकन्ते कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिणः। (भ. आ. विजयो. टी. २५)।

अग्नि, धूम, शस्त्र, विष, जल, वायुप्रपात, उच्छ्वासनिरोध, अति शीतपात, अति उष्णपात, रस्सी, भूख, प्यास, जीभ का उत्पाटन और विरुद्ध आहार के सेवन से जो दर्शनबाल मरण को प्राप्त होते हैं उनके इस प्रकार के मरण को दर्शनबाल-इच्छामरण कहते हैं।

दर्शनबोधि—दर्शनबोधिः दर्शनमोहनीयक्षयोपशमादिसम्पन्नः श्रद्धानलाभः। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०३, पृ. ९१)।

दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयोपशमादि से सम्पन्न जो सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है उसे दर्शनबोधि कहते हैं।

दर्शनमोह—१. दर्शनं मोहयति मोहनं वा दर्शनमोहः। (त. वा. ६, १३, १३); दर्शनमोहस्य प्रकृतिः तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। (त. वा. ८, ३, ४; अन. ध. स्वो. टी. २–३९)। २. दर्शनं मोहयति मोहनमात्रं वा दर्शनमोहः। (त. श्लो. ६–१३)। ३. तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनम्, तन्मोहनाद् दर्शनमोहनीयम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)। ४. दंसणं अत्तागम-पदत्थेसु रुई पच्चओ सद्धा फोसणमिदि एयट्ठो, तं मोहेदि विवरीयं कुणदि त्ति दंसणमोहणीयं। जस्स कम्मस्स उदएण अणत्ते अत्तबुद्धी अणागमे आगमबुद्धी अपयत्थे पयत्थबुद्धी अत्तागमपयत्थेसु सद्धाए अत्थिरत्तं दोसु वि सद्धा वा होदि तं दंसणमोहणीयमिदि उत्तं होदि। (धव. पु. ६, पृ. ३८); दंसणस्स मोहयं विवरीयभावजणणं दंसणमोहणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५८)। ५. दर्शनमोहोदये सति निश्चयशुद्धात्मरुचिरहितस्य व्यवहाररत्नत्रय-तत्त्वार्थरुचिरहितस्य वा योऽसौ विपरीताभिनिवेशपरिणामः स दर्शनमोहः। (पंचा. का. जय. वृ. १३१)। ६. शुद्धात्मादितत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशजनको मोहो दर्शनमोहो मिथ्यात्वम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८)। ७. तत्र दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, तन्मोहयतीति दर्शनमोहनीयम्। (श्रा. प्र. टी. १५)। ८. तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनम्, तन्मोहयति विपर्यासं गमयतीति दर्शनमोहनीयम्। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १५)। ९. दर्शनं सम्यग्दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणम्, तन्मोहयतीति दर्शनमोहनीयम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१२)। १०. तत्रापि दृष्टिमोहाख्यं मिथ्यादृष्टिविपाककृत्। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७०)। ११. एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः। तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते॥ (पंचाध्या. २–१००२)।

१ जो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन को मोहित करता है उसे दर्शनमोह कहते हैं।

दर्शनविनय—१. जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे। ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो॥ (मूला. ५–१६९; ७-८८)। २. भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स। आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण॥ (भ. आ. ४७)। ३. शंकादिदोषविरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः। (स. सि. ९–२३)। ४. पदार्थश्रद्धाने निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः। सामायिकादौ लोकबिन्दुसारपर्यन्ते श्रुतसमुद्रे ये यथा भगवद्भिरुपदिष्टाः पदार्थाः तेषां तथा श्रद्धाने निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयो वेदितव्यः। (त. वा. ९, २३, ३; चा. सा. पृ. ६५)। ५. शंकाकांक्षादिनिरासो दर्शनविनयः। (भ. आ. विजयो. ३००)। ६. तत्त्वार्थश्रद्धाने निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः। (त. श्लो. ९–२३)। ७. दंसणविणओ णाम पवयणेसुवइट्ठसव्वभावसद्दहणं तिमूढादो ओसरणमट्ठमलच्छद्दणमरहंत-सिद्धभत्ती खणलवपडिबुज्झणदा लद्धिसंवेगसपण्णदा च। (धव. पु. ८, पृ. ८०)। ८. दर्शनविनयो निःशंक-निःकांक्षादिभेदः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–२३)। ९. यत्र निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता भवेत्। श्रद्धाने सप्ततत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि॥ (त. सा. ७-३१)। १०. जिनेशानां विमुक्तानामाचार्याणां विपश्चिताम्।

साधूनां जिनचैत्यानां जिनराद्धान्तवेदिनाम् ॥ कर्त्तव्या महती भक्तिः सपर्या गुणकीर्तनम् । अवर्णवादतिरस्कारः सम्भ्रमः शुभदृष्टिभिः ॥ (अमित. श्रा. १३, ८–९) । ११. येऽर्थपर्याया जीवाजीवादयः सूक्ष्म-स्थूलभेदेनोपदिष्टाः स्फुटं जिनवरैः श्रुतज्ञाने द्वादशांगेषु चतुर्दशपूर्वेषु तान् पदार्थांस्तथैव तेन प्रकारेण याथात्म्येन रोचयति नरो भव्यजीवो येन परिणामेन स एव दर्शनविनयः । (मूला. वृ. ५, ६९); शंकादिपरिणामपरिहारे यत्नः उपगूहनादिपरिणामानुष्ठाने च यत्नो दर्शनविनयः । (मूला वृ. ५–१७१) । १२. णिस्संकियसंवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए पुव्वं । तेसिमणुपालणं जं स वियाणीहि दंसणे विणओ । (वसु. श्रा. ३२१) । १३. सामायिकादौ लोकविन्दुसारपर्यन्ते श्रुते भगवत्प्रकाशितपदार्थान्यथात्वासम्भवात् तत्त्वार्थश्रद्धा निःशंकितत्वादिना दर्शनविनयः । (योगशा. स्वो. विव. ४, ९०) । १४. दर्शनं प्रति विनीतत्वाद्दर्शनप्राधान्यविवक्षया दर्शनविनय उच्यते । (व्यव. भा. मलय. वृ. १–६४, पृ. २७) । १५. तत्त्वार्थश्रद्धाने शंकादिदोषरहितत्वं दर्शनविनयः । (त. वृत्ति श्रुत. ९–२३) । १६. तत्त्वश्रद्धाने निःशंकितत्वादिर्दर्शनविनयः । (भा. प्रा. टी. ७८) । १७. दर्शने तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणे निश्चय-व्यवहारसम्यक्त्वे निःशंकितत्वादिदोषरहितं स्वस्वरूपशुद्धबुद्धैकात्मनि श्रद्धानरुचिलक्षणं वा दर्शनविनयः । (कार्तिके. टी. ४५५) ।

४ चूंकि आगम में जिनप्रकपित पदार्थों का स्वरूप अन्यथा हो नहीं सकता, अतएव निःशंकित आदि आठ अंगों के साथ तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना, इसका नाम दर्शनविनय है ।

दर्शनविशुद्धि—१. जिनेन भगवताऽर्हत्परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः । (स. सि. ६–२४) । २. जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशंकितत्वाद्यष्टांगा दर्शनविशुद्धिः । जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षवर्त्मनि रुचिर्दर्शनविशुद्धिः । (त. वा. ६, २४, १) । ३. दंसणं सम्मद्दंसणं, तस्स विसुज्झदा । ××× तिमूढावोढ-अट्ठमलवदिरित्तसम्मद्दंसणभावो दंसणविसुज्झदा णाम । (धव. पु. ८, पृ. ७९–८०) । ४. निःशंकाद्यष्टगुणा जिनकथिते मोक्षसत्पथे श्रद्धा । दर्शनविशुद्धिराद्यस्तीर्थंकरप्रकृतिकृद्धेतुः । (ह. पु. ३४–१३२) । ५. जिनोद्दिष्टेति नैर्ग्रन्थ्यमोक्षवर्त्मन्यशंकनम् । अनाकांक्षणमप्यत्रामुत्र चैतत्फलाप्तये ॥ विचिकित्सान्यदृष्टीनां प्रशंसा-संस्तवच्युतिः । मोढ्यादिरहितत्वं च विशुद्धिः सा दृशो मता ॥ (त. श्लो. ६, २४, १–२) । ६. निःशंकितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनविशुद्धिः । (भ. आ. विजयो. १६७) । ७. दृष्टिः दर्शनं तत्त्वविषया रुचिः प्रीतिः जीवादिषु प्रत्ययावधारणम्, तस्य दर्शनस्य नाना(वि)शुद्धिः निर्मलता ××× क्षायोपशमिकौपशमिक-क्षायिकाणां सम्यग्दर्शनानां यथास्वं नाना शुद्धिविशुद्धिः ××× । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–२३) । ८. उपलब्धनिजस्वरूपस्य सम्यग्दर्शनस्य प्रथम-द्वितीयोपशमक-वेदक-क्षायिकान्यतमविशिष्टस्य ज्ञान-दर्शन-तपश्चारित्रेषु तद्वत्सु च विनये, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगयुक्तत्वे, साधुभ्यः प्रासुकप्रदाने, द्वादशविधतपसि, साधूनां समाधिवैयावृत्यकरणे अर्हत्सु व्रतशीलावश्यकसम्पन्नाचार्येषु च बहुश्रुतेषु प्रवचने च भक्तौ प्रवचनप्रभावने, प्रवचनवत्सलत्वे प्रवर्तनं विशुद्धता । (चा. सा. पृ. २५) । ९. दृशः सम्यक्त्वस्य विशुद्धिः शंकादिमलनिरासेन सम्पादितप्रसादो नैर्मल्यमिति यावत् । (अन. ध. स्वो. टी. २–११०) । १०. दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य विशुद्धिः निर्मलता दर्शनविशुद्धिः । (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४) । ११. एतैरष्टाभिः (निःशंकितत्वादिभिः) गुणैर्युक्तत्वं चर्म-जल-तैल-घृत-भूतनाशनाऽप्रयोगत्वं-मूलक-गर्जर-सूरण-कन्द-गुंजन-पलाण्डु-विश-दौग्धिक-कालिंगपंच-पुष्पसंधानक - कौसुंभपत्र-पत्रशाक-मांसादिभक्षकभाजन-भोजनादिपरिहरणं च दर्शनविशुद्धिः । (भा. प्रा. टी. ७७) ।

१ जिन देव के द्वारा प्ररूपित निर्ग्रन्थतारूप मोक्षमार्ग के विषय में जो रुचि होती है उसे दर्शनविशुद्धि कहते हैं ।

दर्शनशुद्ध—भय-वसण-मलविवज्जिय संसार-सरीर-भोगणिव्विण्णो । अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो ॥ (रयणसार ५) ।

सात भय, सात व्यसन और पच्चीस दोषों से रहित; संसार, शरीर और भोगों से विरक्त तथा निः-

शंकितादि आठ अंगों से युक्त होकर जो पांच पर-मेष्ठियों का भक्त होता है उसे दर्शनश्राद्ध कहा जाता है।

दर्शनसमाधि—(सम्यगाधियते व्यवस्थाप्यते मोक्षं तन्मार्गं वा प्रति येनात्मा धर्मध्यानादिना स समाधिः धर्मध्यानादिकः) दर्शनसमाधौ व्यवस्थितो जिन-वचनभावितान्तःकरणो निवातशरणप्रदीपवन्न कुम-तिवायुभिर्भ्राम्यते। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १०६, पृ. १८७)।

जिसके द्वारा जीव धर्मध्यान आदि के आश्रय से मोक्ष या उसके मार्ग में स्थापित किया जाता है उसका नाम समाधि है जो धर्मध्यानादिस्वरूप है। जिसका अन्तःकरण जिनागम के संस्कार से निर्मल हो चुका है वह दर्शनसमाधि में स्थित होता हुआ वायुविहीन दीपक के समान कुबुद्धिरूप वायु के वशीभूत होकर इधर-उधर चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

दर्शनाचार—१. णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्वि-तिगिच्छा अमूढदिट्ठी य। उववूह-थिरीकरणे वच्छ-ल्ल-पभावणे अट्ठ॥ अतिसेस इड्ढि आयरिय वादि धम्मकहि खमग णेमित्ती। विज्जा राया गण-सम्मया य तित्थं पभावेंति॥ (दशवै. नि. १८२-८३ पृ. १०१)। २. तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचारः। (भ. आ. विजयो. ४६); जीवादितत्त्वश्रद्धानपरि-णतिः दर्शनाचारः। (भ. आ. विजयो. ४१९)। ३. चल-मलिनावगाढरहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वम्, तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारः। (परमा. टी. ७)। ४. दर्शनाचारः सम्यक्त्ववतां व्यवहारो निःशंकितादिरूपोऽष्टधा। (समवा. अभय. वृ. १३६, पृ. १००)। ५. तत्त्वार्थविषयपरमार्थ-श्रद्धानुष्ठानं दर्शनाचारः। (मूला. वृ. ५-२); दर्शनाचारः शंकाद्यभावेन तत्त्वश्रद्धानविषयो यत्नः। (मूला. वृ. ५-१७१)। ६. दर्शने निर्मला वृत्ति-र्ज्ञान-चारित्रसम्पदः। पदे मुक्तिरमादर्शे दर्शनाचार ईरितः॥ (आचा. सा. ३-७२)। ७. जीवादि-तत्त्वश्रद्धानपरिणतिदर्शनाचारः। (भ. आ. मूला. टी. ४१९)।

१ निःशंकितादि आठ अंगयुक्त सम्यक्त्व का परि-पालन करना, इसका नाम दर्शनाचार है। अतिशय-वन्त, ऋद्धिधारक, आचार्य, वादी, धर्मकथक, क्षपक या तपक (तपस्वी), ज्योतिषी, वैद्य, राजा और मन्त्रसाधक; ये तीर्थ को प्रभावित करते हैं।

दर्शनघाती—णव य पदत्था एदे जिणदिट्ठा वण्णिदा मए तच्चा। एत्थ भवे जा संका दंसणघादी हवदि एसो॥ बलदेव-चक्कवट्टी-सेट्ठी-रायत्तणादिअहि-लासो। इह परलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो॥ (मूला. ५, ५१ व ५३)।

जिन भगवान् के द्वारा तत्त्वस्वरूप जिन नौ पदार्थों का वर्णन किया गया है उनके विषय में जो शंका रखते हैं वे दर्शनघाती हैं। इसी प्रकार इस लोक में जो बलदेव, चक्रवर्ती, श्रेष्ठी (सेठ) और राजा आदि के पद की अभिलाषा करते हैं एवं परलोक में देवत्व की प्रार्थना करते हैं वे भी दर्शनघाती हैं।

दर्शनावरण—१. दर्शनावरणस्य अर्थानालोचनम्। (त. वा. ८, ३, ४)। २. दंसणमावारेदि त्ति दंस-णावरणीयं। जो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगेहि कम्मसरूवेण परिणदो जीवसमवेदो दंसणगुणपडिबंधओ सो दंसणावरणीयं। (धव. पु. ६, पृ. १०); दंसणस्स आवारयं कम्मं दंसणावर-णीयं। (धव. पु. १३, पृ. २०८)। ३. दंसणसीले जीवे दंसणघायं करेइ जं कम्मं। तं पडिहारसमाणं दंसणवरणं भवे जीवे॥ जह रण्णो पडिहारो अण-भिप्पेयस्स सो उ लोयस्स। रण्णो तहि दरिसावं न देइ दट्ठुंपि कामस्स॥ जह राया तह जीवो पडिहारसमं तु दंसणावरणं। तेणिह विबंधएणं न पिच्छए सो घडाईयं॥ (कर्मवि. ग. १९-२१)। ४. त एव दृश्यन्तेऽवलोक्यन्ते येन तद्दर्शनम्, तस्या-वरणं दर्शनावरणम्। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-११९, पृ. ३३)। ५. एवमिह दंसणावरणमेयमावरइ दरि-सणं जीवे। (प्रव. सारो. १२५५)। ६. दृश्यते-ऽनेनेति दर्शनम्—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सा-मान्यग्रहणात्मको बोधो दर्शनम्, तस्यावरणस्वभावं कर्म दर्शनावरणम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२-२८, पृ. ४५३; कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १४; प्रव. सारो. वृ. १२४९)। ७. पंचनिद्रादर्शनानां चतुष्क-स्यावृतिश्च या। दर्शनावरणीयस्य विपाकः कर्मणः स तु॥ यथा दिदृक्षुः स्वमीशं प्रतिहारनिरोधतः। न पश्यति तथाऽऽत्मापि येन दृष्ट्यावृतिस्तु तत्॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४६७-८)।

१ दर्शनावरण की प्रकृति पदार्थ का अवलोकन न

होने देता है, अर्थात् जो पदार्थ के दर्शन में बाधक हो उसे दर्शनावरण कहते हैं। ३ दर्शन गुण के आवारक कर्म को दर्शनावरण कहा जाता है। जैसे—प्रतीहार (द्वारपाल) राजा के दर्शन की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को उसके दर्शन में बाधा पहुंचाता है वैसे ही दर्शनावरण कर्म पदार्थों के दर्शन में बाधा पहुंचाता है।

दर्शनावरणीय—देखो दर्शनावरण।

दर्शनार्य—दर्शनार्या दशधा आज्ञा-मार्गोपदेश-सूत्र-बीज-संक्षेप-विस्तारार्थावगाढ-परमावगाढरुचिभेदात्। (त. वा. ३, ३६, २)।

गुणी जन जिनकी सेवा किया करते हैं उन्हें आर्य कहा जाता है। सम्यग्दर्शन से सम्पन्न आर्य दर्शन-आर्य कहलाते हैं। वे आज्ञारुचि, मार्गरुचि और उपदेशरुचि आदि के भेद से दस प्रकार के हैं। (इन सबके लक्षण पृथक् उन-उन शब्दों में देखिए)।

दर्शनिक—१. सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार-शरीर-भोगनिर्विण्णः। पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥ (रत्नक. १३७)। २. बहु-तससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं। जो ण य सेवदि णियदं सो दंसणसावओ होदि॥ (कार्तिके. ३२८)। ३. तत्र दार्शनिकः संसार-शरीर-भोगनिर्विण्णः पंचगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति। (चा. सा. पृ. २)। ४. यो निर्मलां दृष्टिमनन्यचित्तः पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम्। गुणावनद्धां हृदये निधत्ते स दर्शनी धन्यतमोऽभ्यधायि॥ (अमित. श्रा. ७–६७)। ५. शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं संवेगादिगुणान्वितम्। यो धत्ते दर्शनं सोऽत्र दर्शनी कथितो जिनैः॥ (सुभा. सं. ८३३)। ६. हारयष्टिरिव तापहारिणी यस्य दृष्टिरवतिष्ठते हृदि। यामिनीपतिमरीचिनिर्मला दर्शनी भवति सोऽनघद्युतिः॥ (धर्मप. २०–५३)। ७. सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्य-मांस-मधुत्यागोदुम्बरपंचकपरिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् संग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापर्द्ध्यादिभिर्निष्प्रयोजनजीवघातादौ निवृत्तः प्रथमो दर्शनिकश्रावको भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४५)। ८. पंचुंबरसहियाई सत्तवि विसणाइ जो विवज्जेई। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ॥ (वसु. श्रा. ५७)। ९. पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक्। भवांगभोगनिर्विण्णः परमेष्ठिपदैकधीः॥ निर्मूलयन् मलान् मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः। न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन् दर्शनिको मतः॥ (सा. ध. ३, ७–८)। १०. गृही दर्शनिकस्तत्र सम्यक्त्वगुणभूषितः। संसार-भोगनिर्विण्णो ज्ञानी जीवदयापरः॥ (भावसं. वाम. ४४८)। ११. पाक्षिकाचारसम्पत्त्या निर्मलीकृतदर्शनः। विरक्तो भव-भोगाभ्यामर्हदादिपदार्चकः॥ मलान् मूलगुणानां निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुकः। न्याय्यां वार्तां वपुःस्थित्यै दधद्दर्शनिको मतः॥ (धर्मसं. श्रा. ५, १४–१५)। १२. अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः। नरो दर्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत् सद्दर्शनान्वितः॥ (लाटीसं. २–६)।

१ जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध होकर संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है तथा पांच परमेष्ठियों के चरणों को शरण मानता है वह दर्शनिक श्रावक कहलाता है।

दर्शनी—देखो दर्शनिक।

दर्शनीय—दर्शनीयो यं पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति। (विपाक. अभय. वृ. २, पृ. २२)।

जिसे देखते हुए नेत्र थकते नहीं उसे दर्शनीय कहते हैं।

दर्शनोपयोग—१. को दंसणोवजोगो णाम? अंतरंगउवजोगो। (धव. पु. ११, पृ. ३३३)। २. अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादो। × × × तम्हा विसय-विसयिसंपायादो पुव्वं चेव विसयीकयंतरंगो दंसणुवजोगो उप्पज्जदि त्ति घेत्तव्वो। (जयध. १, पृ. ३३७-३३८)।

१ अन्तरंग—आत्मविषयक—उपयोग का नाम दर्शनोपयोग है।

दवदान—१. व्यसनात् पुण्यबुद्ध्या वा दवदानम् भवेद् द्विधा। (योगशा. ३–११४); दवस्य दावाग्नेः तृणादिदहननिमित्तं दानं वितरणं दवदानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–११४)। २. दवदानं दावाग्नेस्तृणादिदहनार्थं वितरणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२२)।

१ व्यसन से—फलनिरपेक्ष अभिप्राय से—घास आदि के जलाने के लिए अग्नि को प्रज्वलित करना, जैसे भील जंगल में आग लगाया करते हैं। अथवा पुराने घास आदि जला देने पर नवीन तृणांकुर उत्पन्न होंगे और उन्हें गायें चरेंगी, इस प्रकार की पुण्य-

वृद्धि से अग्नि को प्रज्वलित करना, इसका नाम ध्यान है।

दशपूर्वी—१. रोहिणिपहुदीण महाविज्जाणं देवदाओ पंच सया। अंगुट्ठपसेणाइं खुल्लयविज्जाण सत्त सया ॥ एत्तूण पेसणाइं मग्गंते दसमपुव्वपढणम्मि। णेच्छंति संजमत्ता ताओ जे ते अभिण्णदसपुव्वी ॥ भुवणेसु सुप्पसिद्धा विज्जाहरसमणणामपज्जाया। ताणं मुणीण बुद्धी दसपुव्वी णाम बोद्धव्वा ॥ (ति. प. ४, ९९८–१०००)। २. महारोहिण्यादिभिस्त्रिभिरागताभिः प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिरविचलितचारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३)।

१ दसवें विद्यानुवाद पूर्व के पढ़ते हुए रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं के तथा अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ छोटी विद्याओं के द्वारा सिद्ध होकर अभीष्ट कार्यसिद्धि के लिए प्रार्थना करने पर भी जो उनकी इच्छा न करते हुए चारित्र से विचलित नहीं होते हैं उन विद्याधर श्रमणों को दशपूर्वी कहते हैं।

दशमी प्रतिमा— दशमासानात्मार्थनिष्पन्नमाहारं न भुङ्क्ते इति दशमी। (योगशा. स्वो. विव. ३–१४८)।

अपने निमित्त बने हुए आहार के खाने का दस मास तक त्याग करने को दशमी प्रतिमा कहते हैं।

दशवैकालिक— १. दश विकाले पुत्रहिताय स्थापिताध्ययनानि दशवैकालिकम्। (त. भा. हरि. वृ. १–२०)। २. दशवेयालियं आयार-गोयरविहिं वण्णेइ। (धव. पु. १, पृ. ९७); दसवेयालियं दव्व-खेत्त-काल-भावे अस्सिदूण आयारगोयरविहिं वण्णेदि। (धव. पु. ९, पृ. १९०)। ३. साहूणमायार-गोयरविहिं दसवेयालियं वण्णेदि। (जयध. पु. १, पृ. १२०)। ४. द्रुम-पुष्पितादिदशाधिकारैर्मुनिजनाचरणसूचकं दशवैकालिकम्। (श्रुतभ. टी. २४, पृ. १७९)। ५. विशिष्टाः काला विकालास्तेषु भवानि वैकालिकानि वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति दशवैकालिकम्, तत्साधूनामाचार-गोचरविधिं पिण्डशुद्धिलक्षणं च वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६७–६८)। ६. वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकं च दशवैकालिकम्। (त. वृत्ति. श्रुत. १–२०)। ७. जदिगोचरस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च जं परूवेदि। दसवेयालियसुत्तं दह काला जत्थ संवुत्ता ॥ (अंगप. ३–२४, पृ. ३०८)।

१ मनक नामक पुत्र के हित के लिए शय्यंभव सूरि के द्वारा अकाल में रचे गये दस अध्ययन स्वरूप श्रुत को दशवैकालिक कहा जाता है। २ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर मुनियों के आचार और गोचर (भिक्षाटन) की विधि अथवा आचारविषयक विधि के वर्णन करने वाले श्रुत को दशवैकालिक कहते हैं।

दहन—१. दहनं प्रतीतमुल्मुकादिभिः। (ध्यानश. हरि. वृ. १९)। २. बालादित्यसमज्योतीरत्युष्णश्चतुरंगुलः। आवर्तवान् वहन्नूर्ध्वं पवनो दहनः स्मृतः ॥ (योगशा. ५–५१)।

१ उल्मुक (अलात) आदि के द्वारा दहन प्रसिद्ध है। २ उदित होते हुए सूर्य के समान कान्ति वाली, अत्यन्त उष्ण और चार अंगुल ऊंची ऐसी ऊपर संचार करने वाली आवर्त (गोलाकार भ्रमण) युक्त वायु को दहन कहा जाता है।

दंशमशकपरीषहजय—१. दंशमशक-मक्षिका-पिशुक-पुत्तिका-मत्कुण-कीट-पिपीलिका-वृश्चिकादिकृतां बाधामप्रतिकारां सहमानस्य तेषां बाधां त्रिधा ऽप्यकुर्वाणस्य निर्वाणप्राप्तिमात्रसंकल्पप्रावरणस्य तद्वेदनासहनं दंशमशकपरिषहक्षमा। (स. सि. ९–९)। २. दंशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारम्। प्रत्याख्यातशरीराच्छादनस्य क्वचिदपि अप्रतिबद्धचेतसः परकृतायतन-गुहा-गह्वरादिषु रात्रौ दिवा वा दंश-मशक-मक्षिका-पिशुक-पुत्तिका-यूक-मत्कुण-कीट-पिपीलिका-वृश्चिकादिभिः तीक्ष्णपातैर्भक्ष्यमाणस्यातितीव्रवेदनोत्पादकैः अव्यथितमनसः स्वकर्मविपाकमनुचिन्तयतो विद्या-मंत्रौषधादिभिः तन्निवृत्तिं प्रति निरुत्सुकस्य आ शरीरपतनादपि निश्चितात्मनः परबलप्रमर्दनं प्रति प्रवर्तमानस्य मदान्धगन्धसिन्धुरस्य रिपुजनप्रेरितविविधशस्त्रप्रतिघातादपराङ्मुखस्य निःप्रत्यूहविजयोपलम्भनमिव कर्मागतपृतनापराभवं प्रति प्रयतनं दंशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारमित्याख्यायते। (त. वा. ९, ९, ८)। ३. न दष्टो दंशमशकैस्त्रासं द्वेषं मुनिर्व्रजेत्। न वारयेदुपेक्षेत सर्वाहारप्रियत्ववित् ॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०३ उद्.)। ४. दंशमशकादिभिः दश्यमानोऽपि न ततः स्थानादपगच्छेत्, न च तदपनयनार्थं धूमादिना

मयेन, न च व्यजनादिना निवारयेदित्येवं दंशमशकपरीषहजयः कृतः स्यात्, नान्यथेति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-९)। ५. दंशमशकादीनां सहनम्। (त. श्लो. ९-९)। ६. दंशाश्च मशकाश्च दंशमशकम्, दंशमशकैः बाध्यमानस्य शरीरपीडा दंशमशकमित्युच्यते कार्ये कारणोपचारात् × × × तत्सहनं दंशमशकादिसहनम्। (मूला. वृ. ५-५७)। ७. शून्यागार-दरी-गुहादिशुचिनि स्थाने विविक्ते स्थितस्तीक्ष्णैर्मत्कुण-कीट-दंशमशकाद्यैश्चंडतुंडैः क्षताम्॥ स्वाङ्गार्ति परदेहजातिमिव तां यो मन्यमानो मुनिर्निःसंगः स सुखी च दंशमशकक्लेशं क्षमी तं नुमः॥ (आचा. सा. ७-८)। ८. दंशादिदंशककृतां बाधामबिभ्यता सया। निःक्षीणं सहतो दंशमशकोर्मीक्षमा मुनेः। (अन. ध. ६-९३)। ९. दंशमशकादिभिर्भक्ष्यमाणस्याचलितचेतसः कर्मविपाकं स्मरतो निवृत्तप्रतीकारस्य शस्त्रघातादिपराङ्मुखस्य दंशादिबाधासहनम्। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, मधुमक्खी, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छू आदि के द्वारा की गई बाधा को बिना किसी प्रकार के प्रतिकार के सहते हुए उनको मन-वचन-काय से पीड़ा न पहुंचाना, इसे दंशमशकपरिषहजय कहा जाता है।

दाक्षिण्य—दाक्षिण्यं परकृत्येष्वपि योगपरः शुभाशयो ज्ञेयः। गाम्भीर्य-धैर्यसचिवो मात्सर्यविघातकृत् परमः॥ (षोडश. ४-४)।

गम्भीरता और धीरता को धारण कर जो दूसरों के कार्यों में भी मात्सर्य से विहीन होकर निर्मल अभिप्राय से उत्तम प्रयत्न किया जाता है उसे दाक्षिण्य कहते हैं।

दाता—१. श्रद्धान्वितो भक्तियुतः समर्थो विज्ञानवांल्लोभविवर्जितश्च। क्षान्त्यान्वितः सत्त्वगुणोपपन्नस्तादृग्विधो दानपतिः प्रशस्तः॥ (वरांगच. ७-३०)। २. नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः। भक्ति-श्रद्धा-सत्त्व-तुष्टि-ज्ञानालौल्य-क्षमागुणः। (सा. ध. ५-४७)।

२. भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, सन्तोष, विज्ञान, अलोभ और क्षमा इन सात गुणों से युक्त नवधा भक्तिसमन्वित दान देने वाले पुरुष को दाता कहते हैं।

दातृदोष—नग्नः शौण्डः पिशाचोऽन्धः पतितो मृतकाऽनुगः। तीव्ररोगी व्रणी लिंगी नीचोऽच्चस्थावसंस्थितः॥ आसन्नगर्भिणी वेश्या दास्यन्तरिता अशुचिः। भक्षयन्ति किमप्येवमाद्या दोषास्तु दातृगाः॥ (आचा. सा. ८, ५०-५१)।

नग्न, मद्यपायी, पिशाच, अन्ध, पतित, मृतक का अनुगामी, तीव्ररोगी, घावयुक्त, लिंगी(?), नीचे-ऊंचे स्थान में स्थित, आसन्नगर्भिणी, वेश्या, दासी, अन्तरिता, अपवित्र और कुछ भी खाने वाली, इत्यादि ये दाता के दोष हैं।

दातृविशेष—१. अनसूयाविषादादिर्दातृविशेषः। (स. सि. ७-३९; त. श्लो. ७-३९)। २. दातृविशेषः प्रतिगृहीतर्यनसूया, त्यागेऽविषादः, अपरिभाविता, दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभिसन्धिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपधत्वमनिदानत्वमिति। (तत्त्वा. भा. ७-३४)। ३. अनसूयाविषादादिर्दातृविशेषः। प्रतिगृहीतरि अनसूया त्यागेऽविषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिः दातृविशेषोऽवसेयः। (त. वा. ७, ३९, ४)।

१ दातृविशेष (विशेष दाता) उसे कहा जाता है जो असूया (ईर्ष्या) और विषाद आदि से रहित होता है। २ पात्र के विषय में असूया का अभाव—क्षमाशीलता व प्रसन्नचित्तता, त्याग में अखिन्नता, आदरबुद्धि; देने के इच्छुक, वर्तमान में देते हुए एवं अतीत में दे चुकने वाले दाता के प्रति अनुरागभाव; कर्मांशरूप कुशा (कांस) के काटनेरूप कुशलता का अभिप्राय, सांसारिक दृष्ट फल की उपेक्षा, निष्कपटता और निदान का अभाव; इन गुणों से युक्त दाता दातृविशेष (विशिष्ट दाता) माना गया है।

दान—१. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। (त. सू. ७-३३)। २. नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन। अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥ (रत्नक. ११३)। ३. परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्। (स. सि. ६-१२; त. वा. ६, १२, ४; त. श्लो. ६-१२); स्व-परोपकारोऽनुग्रहः। × × × अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं वेदितव्यम्। (स. सि. ७-३८; त. वा. ७, ३८, २)। ४. आत्म-परानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्न-पानादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम्। (त. भा. ७-३३)।

५. दानं सर्वज्ञेतेषु स्वस्याहारादेः प्रतिसर्जनलक्षणम्। (त. भा. हरि. वृ. ६–१३)। ६. रत्नत्रयवद्भ्यः स्ववित्तपरित्यागो दानं रत्नत्रयसाधनदित्सा वा। (धव. पु. १३, पृ. ३८९)। ७. स्वं धनं स्यात् परित्यागोऽतिसर्गस्तस्य तु स्फुटः। तद्दानमिति निर्देशोऽतिप्रसंगनिवृत्तये॥ (त. श्लो. ७–३८)। ८. यत् तेषु दानं भक्त-पान-वस्त्र-पात्राश्रयादेर्दीनानाथ-वनीपकादिषु अगारिष्वनगारेषु च ज्ञान-दर्शनाचरणसम्पन्नेषु एकान्तकर्मनिर्जराफलं च भवति। अथवा × × × स्वस्य परानुग्रहाभिप्रायेणातिसर्गो दानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१३)। ९. परात्मनोरनुग्राही धर्मवृद्धिकरत्वतः। स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम्॥ (त. सा. ४–९९)। १०. आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये। स्वपरानुग्रहायेत्थं यत्स्यात्तद्दानमिष्यते॥ (उपासका. ७६६)। ११. दानं पात्रेषु द्रव्यविश्राणनम्। (योगशा. स्वो. विव. २–३१)। १२. अनुग्रहार्थं स्वोपकाराय विशिष्टगुणसंचयलक्षणाय परोपकाराय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिवृद्धये स्वस्य धनस्य अतिसर्गो अतिसर्जनं विश्राणनं प्रदानं दानम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३८)।

१. अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धन का त्याग किया जाता है उसे दान कहते हैं। ३ दान से दाता के जो पुण्य का संचय होता है, यह हुआ स्व का अनुग्रह; साथ ही उसके आश्रय से पात्र के जो सम्यग्ज्ञानादि की अभिवृद्धि होती है, इसे उससे पर का उपकार भी जानना चाहिए।

दानविधि—१. प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः। (स. सि. ७–३९)। २. प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः। प्रतिग्रह उच्चदेशस्थापनं पादप्रक्षालनम् अर्चनं प्रणमनमित्येवमादिक्रियाविशेषाणां क्रमो विधिरित्याख्यायते। (त. वा. ७, ३९, १)। ३. तत्र प्रतिग्रहोच्चदेशस्थापनमित्येवमादीनां क्रियाणामादरेण करणं विधिविशेषः। (चा. सा. पृ. १५)।

२ पडिगाहन करना, ऊंचे स्थान में बैठाना, पैरों का धोना, पूजा करना और प्रणाम करना; इत्यादि क्रियाविशेषों के क्रम को दान की विधि कहा जाता है।

दानान्तराय—१. तत्र दानान्तरायं यदुदयात् सति दातव्ये प्रतिग्राहके च पात्रविशेषे दानफलं च जानन्नोत्सहते दातुम्। (श्रा. प्र. टी. २९)। २. जस्स कम्मस्स उदएण देंतस्स विग्घं होदि तं दाणंतराइयं। (धव. पु. ६, पृ. ७८); दानस्य विघ्नकृदन्तरायो दानान्तरायः। (धव. पु. १३, पृ. ३९०); दाणविग्घयरं दाणंतराइयं। (धव. पु. १५, पृ. १४)। ३. दानं देयम्। सत्यपि द्रव्ये न ददाति तद्धि कर्मोदितं दीयमानस्य कर्मणो विघ्नम्—अन्तरायमन्तर्धानं करोतीति दानान्तरायः। द्रव्ये प्रतिग्राहके च सन्निहितेऽस्मै दत्तं महाफलमिति जानानोऽपि दातव्यं न ददाति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१४)। ४. सइ फासुयंमि दाणे दाणफलं तह य बुज्झई प्रउलं। बंभच्चेराइजुयं पत्तंपि य विज्जए तत्थ॥ दाउं नवरि न सक्कइ दाणविघायस्स कम्मणो उदए। दाणंतरायमेयं × × ×॥ (कर्मवि. ग. १६०–६१)। ५. सति दातव्ये वस्तुनि समागते च गुणवति पात्रे दानस्य च कल्याणकं फलविशेषं विद्वानपि यदुदयाद्दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायम्। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८८)। ६. तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७५)। ७. तत्र यदुदयात् सति दातव्ये पात्रविशेषे च प्रतिग्राहके स्वर्गाङ्गनोपभोगसम्प्राप्त्यादि च दानफलं जानन्नपि दातुं नोत्सहते तत् दानान्तरायम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६२३)। ८. यस्यान्तरायस्य प्रभावतो दातुं न लभते जीवस्तद्दानान्तरायम्। (प्रव. सारो. वृ. १२६०)।

१ जिसके उदय से देने योग्य वस्तु के होने पर, ग्राहक पात्रविशेष के उपस्थित रहने पर तथा दान के फल को जानते हुए भी देने के लिए उत्साह नहीं होता है उसे दानान्तराय कहते हैं। २ जो कर्म दान देने में विघ्न किया करता है वह दानान्तराय कहलाता है।

दान्त—दान्तो नाम इन्द्रिय-नोइन्द्रियजयसम्पन्नः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–३४०, पृ. १९)।

इन्द्रिय और मन के वश में रखने वाले पुरुष को दान्त कहते हैं।

दापना—दापना शय्याहारोपधि-स्वाध्याय-शिष्यगणानां प्रदापनम्। (व्यव. भा. मलय. ५–४९)।

शय्या, आहार, उपधि, स्वाध्याय और शिष्यसमूह

के दिखाने को दायना कहा जाता है।

दायकदोष—१. दायकः परिवेषकः, तेनाशुद्धेन दीयमानमाहारं यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य दायक-नामाशनदोषः। (मूला. वृ. ६-४३)। २. मलिनी-गर्भिणी-लिंगिन्यादिनार्या नरेण च। क्लीवेनापि क्लीवेन दत्तं दायकदोषभाक्॥ (अन. ध. ५-३४)। अशुद्ध परोसने वाले के द्वारा दिये जाने वाले आहार को यदि साधु ग्रहण करता है तो वह दायकदोष का पात्र होता है।

दायकदोषदुष्टा—१. मृत-जातसूतकयुक्तगृहिजनेन मत्तेन व्याधितेन नपुंसकेन पिशाचगृहीतेन नग्नया वा दीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा। (भ. आ. विजयो. २–३०)। २. मृत-जातसंयुक्तेन मत्तेन नपुंसकेन पिशाचगृहीतेन नग्नया वा दीयमाना वसतिः दायक-दुष्टा। (भ. आ. मूला. टी. २–३०)। ३. मृत-जातसूतकयुक्तगृहिजनेन व्याधितेन ग्रथिलेन दीय-माना वसतिर्दायकदुष्टा। (कार्तिके. टी. ४४८-४९, पृ. ३३८)।

१ मरण व जन्म के सूतकसे युक्त गृहस्थजन, उन्मत्त, रोगी, नपुंसक और पिशाच से पीड़ित जन के द्वारा तथा नग्न स्त्री के द्वारा दी जाने वाली वसति दायकदोष से दुष्ट कही जाती है।

दायकशुद्ध—दायकशुद्धं तु यत्र दाता औदार्यादि-गुणान्वितः। (विपाक. अभय. वृ. पृ. ६३)।

दाता के उदारतादि गुणों से युक्त होने पर दान दायकशुद्ध माना जाता है।

दारक (दरत्)—निजपतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रु-हृदयं दारयति भिनत्तीति दरत् (दारकम्)। (नीति-वा. १९–६, पृ. १९१)।

जो अपने स्वामी का उत्कर्ष बढ़ाकर शत्रुओं के हृदय को विदीर्ण किया करता है उसे दारक या दरत् कहते हैं।

दास—दासो मूल्यक्रीतः। (धा. वि. वृ. ७४)।
मूल्य देकर खरीदे हुए सेवक को दास कहते हैं।

दासी—दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती। (लाटीसं. ६–१०५)।

दासकर्म करने वाली या क्रीत (खरीदी हुई) स्वीकृत (रखैल) स्त्री को दासी कहते हैं।

दासी-दासप्रमाणातिक्रम—तथा दासी-दासप्रमा-णातिक्रम इति सर्वद्विपद-चतुष्पदोपलक्षणमेतत्। तत्र द्विपदं पुत्र-कलत्र-दासी-दास-कर्मकर-शुक-सारिकादि, चतुष्पदं गवोष्ट्रादि, तेषां स्वपरिमाणं तस्य गर्भा-धानविधापनेनातिक्रमो ऽतिचारो भवति। (ध. बि. मु. वृ. ३–२७)।

पुत्र, स्त्री, दासी, दास व सेवक मनुष्य एवं तोता, मैना आदि पक्षी इन द्विपदों का तथा गाय और ऊंट आदि चतुष्पदों का जो प्रमाण किया गया है उसका गर्भाधान कराकर उल्लंघन करना; यह दासी-दास-प्रमाणातिक्रम नाम का परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का एक अतिचार है।

दाह—दाहो णाम संकिलेसो। कुदो? इह-परभव-संतावकारणत्तादो। (धव. पु. ११, पृ. ३३६)।
इस भव और परभव में सन्तापजनक संक्लेश को दाह कहा जाता है।

दाहस्थिति—दाहो उक्कस्सट्ठिदिपाओग्गसंकि-लेसो, तस्स दाहस्स कारणभूदट्ठिदी दाहट्ठिदी णाम। (धव. पु. ११, पृ. ३४१)।

उत्कृष्ट स्थिति के योग्य संक्लेश का नाम दाह है, उसकी कारणभूत स्थिति को दाहस्थिति कहा जाता है।

दिक्—१. आकाशप्रदेशश्रेणी दिक्। आकाशस्य प्रदेशाः परमाणुपरिच्छेदात् प्रविभक्ता श्रेणीकृता दिग्व्यपदेशमर्हन्ति। (त. भा. ७, २१; १)। २. आकाशप्रदेशश्रेणी दिक्। (त. श्लो. ७–२१)।
१ परमाणुप्रमाण से विभक्त आकाश के प्रदेशों की श्रेणी को दिक् या दिशा कहते हैं।

दिक्कुमार — १. जङ्घाग्रपादेष्वधिकप्रतिरूपाः श्यामा हस्तिचिह्ना दिक्कुमाराः। (त. भा. ४–११) २. दिक्कुमारा भूषणनियुक्तगजरूपचिह्नधारिणः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, १, ११७, पृ. १६१)। ३. दिक्कुमारा जङ्घाग्रदेष्वत्यन्तरूपाः स्वर्णगौराः। (संग्रहणी दे. वृ. १७, पृ. १३)। ४. दिशन्ति अति-सर्जयन्ति अवकाशमिति दिशः, दिक्क्रीडायोगाद-मृताभ्यसोऽपि दिशः, दिशः च ते कुमाराः दिक्कुमा-राः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–१०)।

१ जो देव जंघाओं और पावों के अग्रभाग में अधिक सुन्दर, वर्ण से श्याम और हाथी के चिह्न से युक्त होते हैं वे दिक्कुमार कहलाते हैं। ४ जो अवकाश देती हैं वे दिशायें कहलाती हैं। दिशाओं में क्रीड़ा करने वाले अमृतभोजियों (देवों) को भी दिक्

(दिशा) कहा जाता है। तदनुसार दिशास्वरूप भेदों को विस्तारपूर्वक जानना चाहिए।

दिक्शुद्धि—दिक्शुद्धिः प्राच्युदीचीजिन-जिनचैत्या-धिष्ठिताशासमाश्रयणस्वरूपा। (व. बि. मु. वृ. ३–१४)।

पूर्व व उत्तर दिशागत जिन और जिनचैत्यालय आदि से अधिष्ठित दिशाओं के आश्रय से की जाने वाली शुद्धि को दिक्शुद्धि कहते हैं।

दिगाचार्य—दिगाचार्यः सचित्ताचित्त-मिश्रवस्त्वनुज्ञायी। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६, पृ. २०८; योगशा. स्वो. विव. ४–९०)।

सचित्त, अचित्त और मिश्र वस्तुओं के ग्रहण करने की अनुज्ञा देने वाले आचार्य को दिगाचार्य कहते हैं।

दिग्दाह—दिशा दाह उत्पातेन दिशोऽग्निवर्णाः। (मूला. वृ. ५–७७)।

उपद्रवस्वरूप से दिशाओं के अग्नि के समान लाल वर्ण होने को दिग्दाह कहा जाता है।

दिग्विरति—१. दिसि विदिसि माण पढमं ×××। (चा. प्रा. २४)। २. दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि। इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै॥ (रत्नक. ४–६८)। ३. दिक् प्राच्यादिः, तत्र प्रसिद्धैरभिज्ञानैरवधिं कृत्वा नियमनं दिग्विरतिव्रतम्। (स. सि. ७–२१)। ४. दिग्व्रतं नाम तिर्यगूर्ध्वमधो वा दशानां दिशां यथाशक्ति गमनपरिमाणाभिग्रहः। (त. भा. ७-१६)। ५. ऊर्ध्वाधोदिग्विदिक्स्थानं कृत्वा तत्परिमाणतः। पुनराक्रम्यते नैव प्रथमं तद् गुणव्रतम्॥ (वरांगच. १५-११७)। ६. तत्र दिशां सम्बन्धि दिक्षु वा व्रतमेतावत्सु पूर्वादिविभागेषु मया गमनाद्यनुष्ठेयम्, न परतः; इत्येवंभूतं दिग्व्रतम्। (श्राव. हरि. वृ. ६, पृ. ८२७)। ७. यः प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृतावध्यनतिक्रमः। दिग्विदिक्षु गुणेष्वाद्यं तेषां दिग्विरतिव्रतम्॥ (ह. पु. ५८–१४४)। ८. जह लोहणासणट्ठं संगपमाणं हवेइ जीवस्स। सव्वदिसाण पमाणं तह लोहं णासए णियमा॥ जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं। उवओगं जाणित्ता गुणव्वदं जाण तं पढमं॥ (कार्तिके. ३४१–४२)। ९. प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः। प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता॥ (पु. सि. १३७)। १०. यद्दिशाया-वधि दिक्षु दशस्वपि निजेच्छया। नाक्रामति पुनः प्रोक्तं प्रथमं तद् गुणव्रतम्॥ (सुभा. सं. ७९२)। ११. ककुबष्टकेऽपि कृत्वा मर्यादां यो न लङ्घयति धन्यः। दिग्विरतेस्तस्य जिनैर्गुणव्रतं कथ्यते प्रथमम्॥ (अमित. श्रा. ६–७६)। १२. यद्दशस्वपि काष्ठासु विधाय विधिनाऽवधिम्। न ततः परतो याति प्रथमं तद् गुणव्रतम्॥ (धर्मप. १९-७४, पृ. २७६)। १३. तत्र प्राची-अवाची-उदीची-प्रतीची-ऊर्ध्व-अधो-विदिशश्चेति। तासां परिमाणं योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैश्च, ताश्च दिशो दुष्परिहारैः क्षुद्रजन्तुभिराकुला। अतस्ततो बहिर्नयास्यामीति निवृत्तिर्दिग्विरतिः। (चा. सा. पृ. ८)। १४. पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं। परदो गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं॥ (वसु. श्रा. २१३)। १५. तत्र सूर्योदयलक्षिता पूर्वा, शेषाश्च पूर्व-दक्षिणादिकाः सप्त, तथा ऊर्ध्वमधश्च द्वे, एवं दशसु दिक्षु विषये गमनपरिमाणकरणलक्षणं व्रतं नियमो दिग्व्रतम्। (ध. बि. मु. वृ. ३–१७)। १६. जं तु दिसावेरमणं गमणस्स दु जं च परिमाणं। तं च गुणव्वयपढमं भणियं जियरायदोसेहिं॥ (धर्म-र. १४८)। १७. दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लङ्घ्यते। ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद् गुणव्रतम्॥ (योगशा. ३-१; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६५); ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी, ऐशानी, नागी, ब्राह्मीति दश दिशस्तासु, अपिशब्दादेक-द्वि-त्र्यादिदिक्ष्वपि, सीमा मर्यादा कृता प्रतिपन्ना यत्र व्रते सति न लङ्घ्यते नातिक्रम्यते तत्प्रथमं गुणव्रतम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१)। १८. यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृत्वा दिक्षु दशस्वपि। नात्येत्यणुव्रती सीमां तत्स्याद्दिग्विरतिर्व्रतम्॥ (सा. ध. ५–२)। १९. कृत्वा संख्यानमाशायां ततो बहिर्न गम्यते। यावज्जीवं भवत्येतद् दिग्व्रतमादिमं व्रतम॥ (भावसं. वाम. ४५९)। २०. तासु दिक्षु प्रदिक्षु च हिमाचल-विन्ध्यपर्वतादिकमभिज्ञानपूर्वकं मर्यादां कृत्वा परतो नियमग्रहणं दिग्विरतिव्रतमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१)। २१. दशदिक्ष्वपि संख्यानं कृत्वा यास्यामि नो बहिः। तिष्ठेदित्याऽमृतेर्यत्र तत्स्याद् दिग्विरतिव्रतम्॥ (धर्मसं. श्रा. ७–३)। २२. सुप्रसिद्धानां जगद्विख्यातानां ग्रामादिनामाङ्कितानां पूर्व-पश्चिम-दक्षिणोत्तर-दिशानां

चतसृणां अग्नि-नैर्ऋत्य-वायवीशानविदिशानां चतसृणां ऊर्ध्वदिशः अधोदिशश्चेति दशदिशां परिमाणं मर्यादा योजनादिः संख्या, अतः परं अहं न गच्छामि इति नियमेन मर्यादा क्रियते । अथवा दशसु दिक्षु हिमाचल-विन्ध्यपर्वतादिकं अभिज्ञानपूर्वकं मर्यादां कृत्वा परतो नियमग्रहणं दिग्विरतिव्रतमुच्यते । (कार्तिके. टी. ३४१-४२) । २३. परिमाणव्रतं ग्राह्यं दिक्षु सर्वासु सर्वदा । स्वशक्त्याऽऽम-[त्म-] गुरोः पार्श्वे तदाद्यं स्याद् गुणव्रतम् ॥ (पू. उपा. २८) । २४. दिग्विरतिर्यथानाम दिक्षु प्राच्यादिकासु च । गमनं प्रतिजानीते कृत्वा सीमानमार्हतः ॥ (लाटीसं. ६-१११) ।

२ दिशासमूह को मर्यादित करके "मैं इससे बाहिर नहीं जाऊंगा" ऐसा जीवन पर्यन्त के लिए नियम करके उससे बाहिर नहीं जाना, इसे दिग्विरति या दिग्व्रत कहते हैं ।

दिग्व्रत—देखो दिग्विरति ।

दिनब्रह्मचारी—देखो दिवाब्रह्मचारी ।

दिवस—१. ××× मुहुत्तया तीसं । दिवसो ×××॥ (ति. प. ४-२८८) । २. चउपोरिसिओ दिवसो ××× ॥ (आव. नि. ७३०) । ३. ××× त्रिंशन्मुहूर्ता दिनरात्रिरेका । (वरांग-च. २७-५) । ४. दिवसश्चतुष्प्रहरात्मकः, यद्वा आकाशखण्डमादित्येन स्वभाभिर्व्याप्तं तद्दिवसम् इत्युच्यते । (आव. नि. हरि. वृ. ६६३, पृ. २५७) । ५. षोडश मुहूर्ता दिवसः । (आव. भा. हरि. वृ. १९८, पृ. ४६५) । ६. एक्कवीससहस्स-छस्सयमेत्तपाणेहिं संवच्छरियाण दिवसो होदि । एत्थ पुण एगलक्ख-तेरहसहस्स-णउदिसयपाणेहिं दिवसो होदि । (धव. पु. ३, पृ. ६७); त्रिंशन्मुहूर्तो दिवसः । (धव. पु. ४, पृ. ३१८); तीसमुहुत्तेहिं दिवसो होदि । (धव. पु. १३, पृ. ३००) । ७. तीसमुहुत्तो दिवसो ×××। (भावसं. दे. ३१४) । ८. तीसमुहुत्तं दिवसं ××× (जं. दी. प. १३-७) । ९. चतुःप्रहरात्मको दिवसः यदि वा यावदाकाशखण्डमादित्येन स्वप्रभाभिर्व्याप्तं तावदाकाशपरिभ्रमणच्छिन्नः कालो दिवसः । (आव. मलय. वृ. ६६३, पृ. ३४१) । १०. द्वादशादिमुहूर्तो दिवसः । (आव. भा. मलय. वृ. २००, पृ. ५६१) ।

१ तीस मुहूर्तों का एक दिन होता है । २ चार पौरुषियों का एक दिवस या दिन होता है । ४ चार प्रहर का एक दिवस होता है, अथवा सूर्य के द्वारा जो आकाश का भाग अपनी प्रभा से व्याप्त किया जाता है वह दिवस कहलाता है । ५ सोलह मुहूर्त का दिवस होता है । १० बारह आदि मुहूर्तों का दिवस होता है ।

दिवसभृतक—भ्रियते पोष्यते स्मेति भृतः, स एवानुकम्पितो भृतकः, कर्मकर इत्यर्थः । प्रतिदिवसं नियतमूल्येन कर्मकरणार्थं यो गृह्यते स दिवसभृतकः । ××× इह गाथे—दिवसभयगो उ घेप्पइ छिन्नेण धणेण दिवस देवसियं (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २७१) ।

अनुकम्पापूर्वक जिसका भरण-पोषण किया जाता है वह भृतक कहलाता है । जो भृतक प्रतिदिन निश्चित मूल्य से—नियमित वेतन देकर—कार्य करने के लिए ग्रहण किया जाता है उसे दिवसभृतक कहते हैं ।

दिवाब्रह्मचारी—१. निषेवते यो दिवसे न नारी-मुद्दामकन्दर्पमदापहारी । कटाक्षविक्षेपशरैरविद्धो बुधैर्दिनब्रह्मचरः स बुद्धः ॥ (अमित. श्रा. ७-७२) । २. मैथुनं भजते मर्त्यो न दिवा यः कदाचन । दिवामैथुननिर्मुक्तः स बुधैः परिकीर्तितः ॥ (सुभा. सं. ८३८) । ३. धर्ममना दिवसे गतरागो यो न करोति वधूजनसेवाम् । तं दिनमैथुनसंगविरक्तं धन्यतमं निगदन्ति महिष्ठाः ॥ (धर्मप. १९-५८) । ४. मण-वयण-काय-कय-कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा । दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥ (वसु. श्रा. २९६) । ५. मनोवाक्कायसंशुद्ध्या दिवा नो भजतेऽङ्गनाम् ॥ भण्यतेऽसौ दिवाब्रह्मचारीति ब्रह्मवेदिभिः ॥ (भावसं. वाम. ५३८) ।

१ उद्धत कामदेव के मद को नष्ट करने वाला जो स्त्री के कटाक्षपात रूप बाणों से न बेधा जाकर दिन में उक्त स्त्री का सेवन नहीं करता है वह दिनब्रह्मचारी या दिवाब्रह्मचारी कहलाता है । ४ जो मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकारों से दिन में मैथुन का परित्याग करता है उसे छठा—छठी प्रतिमा का धारक—श्रावक जानना चाहिए ।

दिव्यध्वनि—१. जादे अणंतणाणे णट्ठे छदुमट्ठियम्मि णाणम्मि । णवविहपदत्थसारा(मव.—त्थगब्भा) दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थं ॥ (ति. प. १–७४; धव. पु. १, पृ. ६४ उद्.) । २. स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्टः सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः । दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्वभाषास्वभावपरिणामगुणप्रयोज्यः ॥ (भक्तामर ३५) । ३. केरिसा सा (दिव्वज्झुणी) ? सव्वभासासरूवा अक्खराणक्खरप्पिया अणंतत्थगब्भबीजपदघडियसरीरा तिसंझविसय-छघडियासु णिरंतरं पयट्टमाणिया इयरकालेसु संसय-विवज्जासाणज्झवसायभावगयगणहरदेवं पडि वट्टमाणसहावा संकर-वदिगराभावादो विसदसरूवा एऊणवीसधम्मकहाकहणसहावा । (जयध. १, पृ. १२६) । ४. सकलवचनभेदाकारिणी दिव्यभाषा । जीव. च. ६–१६, पृ. १११) ।

१ छद्मस्थ अवस्था के ज्ञान (क्षायोपशमिक मत्यादि) के नष्ट हो जाने पर प्रगट हुए अनन्त ज्ञान (क्षायिक केवलज्ञान) के द्वारा जो जीवाजीवादि नौ पदार्थों से सम्बद्ध सूत्र व अर्थ का कथन करती है उसे दिव्यध्वनि कहा जाता है। ३. जो सर्वभाषामयी है, अक्षरात्मक भी है और अनक्षरात्मक भी है, अनन्त अर्थ-गर्भित बीजपदों से युक्त है, तीनों संध्या समयों में छह घड़ी निरन्तर प्रवर्तमान होती है, इतर समय में संशय, विपर्यय, व अनध्यवसाय को प्राप्त गणधरदेव के प्रति प्रवर्तमान होती है, संकर-व्यतिकर दोषों के अभाव से निर्मल स्वरूप वाली है, तथा जो स्वभावतः उन्नीस धर्मकथाओं का निरूपण करती है; ऐसी अतिशय वाली तीर्थंकरों की वाणी को दिव्यध्वनि या दिव्यभाषा कहते हैं।

दिव्यभाषा—देखो दिव्यध्वनि ।

दिशा—१. सगट्ठाणादो कंडुज्जुवा दिसा णाम । (धव. पु. ४, पृ. २२६) । २. दिसा परलोकदिगुपदर्शनपरसूरिणा स्थापितः भवतां दिशं मोक्षवर्त[त्मं]न्याश्रयमुपदिशति यः सूरिः स दिशा इत्युच्यते । (भ. आ. विजयो. ६८) । ३. दिसा एलाचार्यः संघाधिपतिना यावज्जीवमाचार्यकत्यागेन स्वपदेप्रतिष्ठितः स्वसमानगुणग्रामः, स्वशिष्यः इत्यर्थः । (भ. आ. मूला. ६८) ।

१ अपने स्थान से बाण के समान सीधे क्षेत्र को दिशा कहा जाता है। २ जो संघाधिपति के द्वारा अपने पद पर प्रतिष्ठित किया गया है, आपको (या भव्य जीवों को) परलोक की दिशा दिखलाने वाला है, तथा मोक्षमार्ग के आश्रय का उपदेशक है, ऐसे सूरि को दिशा कहा जाता है।

दीक्षा—१. दीक्षा सर्वसत्त्वाभयप्रदानेन भावसत्रम् । (पंचव. स्वो. वृ. ६, पृ. ४) । २. दीक्षां सर्वसंगपरित्यागलक्षणां भवनाशिनीम् । (जम्बू. च. ३–११८) ।

१ समस्त प्राणियों को अभयदान के द्वारा जो भावसत्र—अन्तरंग सदावर्त (दैनिक अन्नदान का स्थान) है उसका नाम दीक्षा है। २ समस्त परिग्रह के परित्याग को दीक्षा कहा जाता है।

दीक्षागुरु—१. लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि । (प्रव. सा. ३–१०) । २. यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः । (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–१०) ।

लिंग (जिनलिंग) ग्रहण के समय दीक्षादानपूर्वक निर्विकल्प सामायिक संयम के प्रतिपादक आचार्य को दीक्षागुरु कहते हैं।

दीक्षायोग्य—सुद्धो जाइ-कुलेणं रूवेणं तह य उवसमी धीरो । संविग्गमणो तुट्ठो पव्वज्जं कप्पए पुरिसो ॥ (आ. दि. पृ. ७५ उद्.) ।

जो जाति और कुल से शुद्ध, रूपवान्, शान्तपरिणामी, धीर, सन्तुष्ट एवं संसार से उदासीन हो; वह दीक्षाग्रहण करने के योग्य होता है।

दीन—दीनाः पुनः "दीङ् क्षये" इति वचनात् क्षीणसकलधर्मार्थ-कामाराधनशक्तयः । (ध. बि. मु. वृ. १–१८) ।

जिसकी धर्म, अर्थ और कामसेवन की समस्त शक्तियां क्षीण हो गई हों उसे दीन कहते हैं।

दीपक सम्यक्त्व—१. सयमिह मिच्छद्दिट्ठी धम्मकहाईहि दीवइ परस्स । सम्मत्तमिणं दीवग कारणफलभावओ नेयं ॥ (श्रा. प्र. ५०) । २. दीपकं तद्यदन्येषामपि सम्यक्त्वदीपकम् । (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६१०) ।

१ जो स्वयं मिथ्यादृष्टि होकर धर्मकथा आदिकों के द्वारा दूसरे के सम्यक्त्व का प्रकाशक होता है उसे

कारण में कार्य के उपचार से दीपक सम्यक्त्व कहा जाता है।

दीप्ततप—१. बहुविहउववासेहिं रविसमवड्ढंतकायकिरणोघो। काय-मण-वयणबलिणो जीए सा दित्ततवरिद्धी॥ (ति. प. ४-१०५२)। २. महोपवासकरणेऽपि प्रवर्धमानकाय-वाङ्मानसबलाः विगन्धरहितवदनाः पद्मोत्पलादिसुरभिनिःश्वासाः अप्रच्युतमहादीप्तिशरीराः दीप्ततपसः। (त. वा. ३, ३६, ३)। ३. दीप्तिहेतुत्वाद्दीप्तं तपः, दीप्तं तपो येषां ते दीप्ततपसः। चउत्थ-छट्ठमादिउववासेसु कीरमाणेसु जेसिं तववजणिदलद्धिमाहप्पेण सरीरतेजो पडिदिणं वड्ढदि धवलपक्खचंदस्सेव ते दित्ततवा। (धव. पु. ९, पृ. ९०)। ४. महोपवासकरणेऽपि प्रवर्द्धमानकायवाङ्मनोबलाः दुर्गन्धरहितवदना पद्मोत्पलादिसुरभिनिःश्वासाः प्रतिदिनप्रवर्द्धमानाऽप्रच्युतमहादीप्तिशरीराः दीप्तमनसः[तपसः]। (चा. सा. पृ. ९८)। ५. देहदीप्त्या प्रहताऽन्धकारा दीप्ततपसः। (योगिभ. टी. १४)। ६. शरीरदीप्त्या द्वादशार्कतेजस्काः दीप्ततपसः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

२ जिस ऋद्धि के प्रभाव से महाउपवासों के करने पर भी जिनका मनोबल, वचनबल और कायबल बढ़ता ही रहता है; मुख दुर्गन्ध से रहित और निःश्वास कमल-पुष्पादि के समान सुगन्धित होती है, तथा जिनके शरीर की दीप्ति अविनष्ट रहती है; वे दीप्ततप—दीप्ततप नामक—ऋद्धि के धारक होते हैं।

दीर्घ—द्विमात्रो दीर्घः। (धव. पु. १३, पृ. २४८)। दो मात्रा उच्चारण काल वाले स्वरको दीर्घ कहते हैं।

दीर्घ-ह्रस्व अनुयोगद्वार—दीहे रहस्सेत्ति अणियोगद्दारं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसे अस्सिदूण दीह-रहस्सत्तं परूवेदि। (धव. पु. ९, पृ. २३५)।

दीर्घ-ह्रस्व अनुयोगद्वार वह है जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का आश्रय लेकर दीर्घ-ह्रस्वता की प्ररूपणा करता है।

दुरभि—दौर्मुख्यकृतः दुरभिः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ९०)।

दुर्मुखता (विमुखता) को उत्पन्न करने वाली गन्ध का नाम दुरभि है।

दुरभिगन्धनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गला दुग्गंधा होंति तं दुरहियंधं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। २. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन शरीरपुद्गला दुर्गन्धा भवन्ति तद् दुर्गन्धनाम। (मूला. वृ. १२-१९४)। ३. यदुदयाद् दुरभिगन्धः शरीरेषूपजायते, यथा लशुनादीनाम्, तद् दुरभिगन्धनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४७३)।

१ जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल दुर्गन्धयुक्त होते हैं उसे दुरभिगन्ध या दुर्गन्ध नामकर्म कहते हैं।

दुर्ग—१. यस्याभियोगात् परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम्। (नीतिवा. २०-१, पृ. १९८)। २.× × × तथा च शुक्रः—यस्य दुर्गस्य संप्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः। स्वामिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत्॥ दंष्ट्राविरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः। दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवेद् रिपोः॥

जिसके रहने से शत्रु दुःख को प्राप्त होते हैं अथवा जो शत्रुओं के रोकने के उद्योगविषयक अपनी आपत्तियों को जतलाता है वह दुर्ग कहलाता है। यह दुर्ग का निरुक्त लक्षण है।

दुर्गन्धनाम—देखो दुरभिगन्धनाम।

दुर्जन—× × × दुर्जना दोषविलकाः। (म. पु. १-८४)।

दोषरूप धन से सम्पन्न—दूसरों के दोषों के देखने वाले—पुरुषों को दुर्जन कहते हैं।

दुर्णय—१. तथा चोक्तम्—× × × दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥ तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्णयः। (अष्टश. १०६)। २. भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः। ये तेऽपेक्षाऽनपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नय-दुर्नयाः॥ (लघीय. ५-३०, पृ. ६०५)। ३. सावधारणानि वाक्यानि दुर्णयाः। (धव. पु. ९, पृ. १८३)। ४. प्रविवेकेण गुण-पर्यायेषु मिथ्यात्वप्रतिपत्त्या द्रव्यार्थावधारणं क्वचित् केषुचित् वा प्रत्यभिज्ञाविसंवादात् सर्वेण तद्विसंवादात् पर्यायावधारणं च दुर्णयः तत्प्रतिक्षेपात्। (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १०-९, पृ. ६६८, पं. २७-२८); सर्वथा द्रव्यप्रतिक्षेपे पर्यायप्ररूपणकमोऽयं दुर्णयः। (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १०-२७, पृ. ६६९, पं. २६); निरपेक्षाः परविषयनिषेधकाः नयाः दुर्णयाः। (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १०-२७, पृ. ६६१, पं. १४); विज्ञेया दुर्णयास्ते च कुमतिभूताः। (सिद्धिवि. स्वो. वृ. १०-२८, पृ. ६६१, पं. २५)।

५. अपेक्षातो निष्क्रान्तो निरस्तो वा अपेक्षा येनासौ निरपेक्षः—दुर्नयः। (न्यायकु. ६–७१, पृ. ७११)। ६. इतरेतराकांक्षारहितस्तु दुर्नयः। (आव. नि. मलय. वृ. ५४, पृ. ३७०)।

२ भेदाभेदस्वरूप वस्तु में जो अनपेक्षा से—विपक्ष धर्म की अपेक्षा न करके—भेद-अभेद का अभिप्राय होता है, इसे दुर्नय कहा जाता है।

दुर्दर—देखो दर्दुरदोष।

दुर्दिन—दुर्दिनः पतदुदकाभ्रसंयुक्तो दिवसः। (मूला. वृ. २–७८)।

जल बरसाते हुए मेघों से व्याप्त दिन को दुर्दिन कहते हैं।

दुर्ध्यान—दुरिति शब्दो वैकृते वर्तते, विकृतो वर्णो दुर्वर्ण इति यथा, एवं विकृतं ध्यानं विकारान्तरमापन्नं दुर्ध्यानमिति। अथवा ऋद्धौ दुःशब्दः, ऋद्धिवियुक्ता यवना दुर्यवनम्, दुष्कं (ष्टं ?) बीजमिति, एवं ध्यानलक्षणविनिर्मुक्तं दुर्ध्यानम्। अनीप्सायां वा दुःशब्दः, अनीप्सितोऽस्या भग इति दुर्भगा कन्या, एवमनीप्सितं दुर्ध्यानमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–२८)।

ध्यान के साथ उपयुक्त 'दुर्' शब्द विकार अर्थ का वाचक है—जैसे दुर्वर्ण, अतः विकृत ध्यान का नाम दुर्ध्यान है। अथवा 'दुर्' का अर्थ ऋद्धि से विहीन है, तदनुसार ऋद्धि से रहित ध्यान को दुर्ध्यान जानना चाहिए। अनिच्छित अर्थ में भी 'दुर्' का उपयोग होता है—जैसे दुर्भगा कन्या, इस प्रकार जो ध्यान अभीष्ट नहीं है वह दुर्ध्यान कहलाता है।

दुर्भगनाम—१. यदुदयाद् रूपादिगुणोपेतोऽप्यप्रीतिकरस्तद् दुर्भगनाम। (स. सि. ८–११, त. श्लो. ८–११; भ. आ. विजयो. २१२४; मूला. वृ. १२–१९६)। २. दौर्भाग्यनिर्वर्तकं दुर्भगनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. यदुदयाद् रूपादिगुणोपेतोऽपि अप्रीतिकरस्तद् दुर्भगनाम। रूपादिगुणोपेतोऽपि सन् यस्योदयात् परेषामप्रीतिहेतुर्भवति तद् दुर्भगनाम। (त. वा. ८, ११, २४)। ४. दौर्भाग्यं नामानिष्टो मनसो योऽप्रियः दुर्भगस्तद्भावो दौर्भाग्यं यस्य कर्मण उदयादिति। (त. भा. हरि. वृ. ८–१२)। ५. तद्विपरीतं च दुर्भगनामेति। (श्रा. प्र. टी. २३)। ६. इत्थी-पुरिसाणं दूहवभावणिव्वत्तयं दूहवं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६५); जस्स कम्मस्सुदएण जीवो दूहवो होदि तं दूहवं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६६)। ७. यतोऽप्रीतिकरोऽन्येषां नाम्ना दुर्भगनाम तद्। (ह. पु. ५८–२७)। ८. सौभाग्यविपरीतलक्षणं दुर्भगनाम। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। ९. दुर्भगनामकर्मोदयादुपकारं कुर्वन्नपि जनाप्रियो भवति। (पंचसं. स्वो. वृ. ३, १२६, पृ. ३८)। १०. दूहगकम्मुदए पुण दुहओ सो सयललोयस्स। (कर्मवि. ग. १४४)। ११. दुर्भगनाम यदुदयादुपकारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति। उक्तं च—उवगारकारगो वि हु न रुच्चए दुब्भगस्सुदए। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७४; प्रव. सारो. वृ. १२६५)। १२. तद्विपरीतं दुर्भगनाम। उक्तं च—उपकारकारगो वि हु ण रुच्चइ दुब्भगस्सुदए। (धर्मसं. मलय. वृ. ६२०)। १३. यदुदयेन रूपलावण्यसहितोऽपि दृष्टः श्रुतो वा परेषामप्रीतिजनको भवति तद् दुर्भगनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)। १४. यदुदयात् रूपादिगुणोपेतेऽपि अप्रीतिं विदधाति जनः तद् दुर्भगनाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)।

१ जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से सम्पन्न होकर भी प्रीतिकर नहीं होता उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं। २ दुर्भगता के जनक कर्म को दुर्भग नामकर्म कहा जाता है। ११ जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी व्यक्ति लोगों को अप्रिय होता है उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

दुर्भिक्ष—सालि-वीहि-जव-गोधूमादिधण्णाणं दुल्लहत्तं दुब्भिक्खं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)।

सालि, व्रीहि, जौ और गेहूं आदि की दुर्लभता का नाम दुर्भिक्ष है।

दुर्विनीत—१. यो युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः। (नीतिवा. ५–४०, पृ. ५७)। २. तथा च नारदः—युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः। दुर्वृत्तः स परिज्ञेयो यो वा वाममतिर्भवेत्॥ (नीतिवा. टी. ५–४०, पृ. ५७)।

योग्य-अयोग्य के विवेक से रहित अथवा विपरीत बुद्धि वाले राजा को दुर्विनीत कहते हैं।

दुर्वृष्टि—अतिवृष्टयवृष्टिलिङ्गा स्वपतक्षारत्वादिगुणेन सस्यसम्पादने अक्षमा वा दुर्वृष्टिः। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)।

अधिक वर्षा का होना या वर्षा का न होना, अथवा

जाने में वर्तमान आरता आदि गुण के कारण जो आगम के अध्ययन में असमर्थ रहती है उसे दुर्बुद्धि कहा जाता है।

दुष्ट—दुष्टः कषायविषय[विष] दूषितः। (आचा. शि. पृ. ७४)।

कषायरूप विष से दूषित मनुष्य को दुष्ट कहते हैं।

दुष्पक्वाहार—१. असम्यक्पक्वो दुःपक्वः। (स. सि. ७–३५)। २. दुष्पक्वास्त्वर्धस्विन्नाः। (श्रा. प्र. टी. २८६)। ३. असम्यक् पक्वो दुष्पक्वः। अन्तस्तण्डुलभावेनातिक्लेदनेन वा दुष्ठु पक्व आहारो दुष्पक्व इत्युच्यते। (त. वा. ७, ३५, ६)। ४. दुष्पक्वं मन्दपक्वमभिन्नतन्दुल-फल-लोष्ट-यव-गोधूम-स्थूलमण्डककण्डुकादि, तस्याभ्यवहारः ऐहिक-प्रत्यवायकारी यावता चांशेन सचेतनस्तावता पर-लोकमप्युपहन्तीति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–३०)। ५. सान्तस्तन्दुलभावेनातिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दुष्पक्वाहारः। (चा. सा. पृ. ११)। ६. तथा दुष्पक्वो मन्दपक्वः, स चासाहारश्च दुष्पक्वाहारः। स चार्धस्विन्नपृथुक-तन्दुल-यव-गोधूम-स्थूलमण्डक-कर्कटकफलादिरैहिकप्रत्यवायकारी, यावता चांशेन सचेतनस्तावता परलोकमुपहन्ति, पृथुकादेर्दुष्पक्वतया सम्भवत्सचेतनावयत्वात्, पक्वत्वेनाचेतन इति भुञ्जा-नस्यातिचारः पञ्चमः। (योगशा. स्वो. विव. ३–६८)। ७. असम्यक् पक्वो दुःपक्वः अस्विन्नः, अतिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दग्धपक्वः दुःपक्वः, तस्य आहारः दुःपक्वाहारः। (त. वृत्ति श्रुत. ७, ३५)। ८. आहारं स्निग्धग्राहित्व(?) दुर्जरं जठ-राग्निना। असंख्यातकतस्तस्य दोषो दुष्पक्वसंज्ञकः। (लाटीसं. ६–२१८)।

१ ठीक से न पके हुए आहार को दुष्पक्वाहार कहते हैं। २ आधे पके हुए आहार का नाम दुष्पक्वाहार है। ६ मन्द पके हुए (अधपके) आहार को दुष्पक्वाहार कहते हैं। जैसे—अधपके पृथुक (शाक-विशेष), चावल, जौ, गेहूं, स्थूलमण्डक (मोटी रोटी ?) और ककड़ी आदि जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं ऐसे दुष्पक्व आहार के ग्रहण करने पर दुष्पक्वाहार नाम का भोगोपभोगपरिमाणव्रत का अतिचार होता है।

दुष्प्रतिलेखासंयम—दुःप्रतिलेखो दुष्ठु प्रमार्जनं जीवघात-मर्दनाविकारकम्, तस्य संयमनं यत्नेन प्रतिलेखनं जीवप्रमर्दमन्तरेण दुष्प्रतिलेखसंयमः। (मूला. वृ. ५–२२०)।

भली भांति प्रमार्जन न करके इस प्रकार से प्रमार्जन करना कि जिससे जीवों का विघात हो अथवा उन्हें पीड़ा पहुंचे, इसका नाम दुष्प्रतिलेख है। उसका संयमन करना—प्रयत्नपूर्वक सावधानी से प्रतिलेखन करना, इसे दुष्प्रतिलेखासंयम कहा जाता है।

दुष्प्रत्युपेक्षण—दुष्टमुद्भ्रान्तचेतसः प्रत्युपेक्षणं दुष्प्रत्युपेक्षणम्। (श्रा. प्र. टी. ३२३)।

व्याकुलचित्त होकर देखी गई भूमि पर शय्या व संस्तर बिछाना और मल-मूत्रादि का क्षेपण करना, यह दुष्प्रत्युपेक्षण नाम का प्रोषधोपवास का एक अतिचार है।

दुष्प्रमृष्टदोष—आलोक्याऽसम्यक् प्रतिलिख्य तद् गृह्णतो निक्षिपतो वा तृतीयो दुष्प्रमृष्टसंज्ञो दोषः। (भ. आ. मूला. ११९८)।

देखकर भलीभांति प्रमार्जन न करते हुए किसी वस्तु के उठाने या रखने को दुष्प्रमृष्टदोष कहते हैं। यह आदाननिक्षेपसमिति का तीसरा दोष है।

दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण—दुष्प्रमृष्टमुपकरणादि निक्षिप्यमाणं दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणम्, स्थापनाधि-करणं वा दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणम्। (भ. आ. विजयो. ८१४)।

रखे जाने वाले उपकरणादि के अच्छी तरह प्रमा-र्जन किये बिना या असावधानी से प्रमार्जन करते हुए रख देने को अथवा जहां उन्हें स्थापित करना है उस स्थान का प्रमार्जन न करके ही स्थापित करने को दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं।

दुष्प्रयुक्तकायक्रिया—१. प्रमत्तसंयतस्यानेककर्तव्य-तासु बहुप्रकारा दुष्प्रयोगकायक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)। २. दुष्प्रयुक्तस्य दुष्टप्रयोगवतो दुष्प्र-णिहितस्येन्द्रियाण्याश्रित्येष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् संवेग-निर्वेदगमनेन तथा अनिन्द्रियमाश्रित्याशुभमनः-संकल्पद्वारेणापवर्गमार्गं प्रति दुर्व्यवस्थितस्य, प्रमत्तसंयतस्येत्यर्थः, कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रिया। (स्थाना. अभय. वृ. २–६०, पृ. ३८)। ३. दुष्टं प्रयुक्तं प्रयोगः कायादीनां यस्य स दुःप्रयुक्तः, तस्य कायिकी दुःप्रयुक्तकायिकी, एवं प्रमत्तस्यापि

भवति, प्रमत्ते सति कायदुःप्रयोगसम्भवात् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२-२७१, पृ. ४३५-३६) ।

१ प्रमत्तसंयत के अनेक कर्तव्य कार्यों के विषय में जो बहुत प्रकार से योगों की दुष्प्रवृत्ति होती है उसे दुष्प्रयोगकायक्रिया कहते हैं । २ दुष्ट प्रयोग वाला—असावधान—व्यक्ति इन्द्रियों के आश्रय से इष्ट-अनिष्ट विषयों की प्राप्ति होने पर जो किंचित् संवेग और निर्वेद को प्राप्त होता है तथा मन का आश्रय करके अशुभ संकल्प द्वारा मोक्षमार्ग के प्रति अव्यवस्थित रहता है उस प्रमत्तसंयतके शरीर से होने वाली प्रवृत्ति का नाम दुष्प्रयुक्तकायक्रिया है ।

दुष्प्रयोगकायक्रिया—देखो दुष्प्रयुक्तकायक्रिया ।

दुहिता—दोग्धि च केवलं जननीं स्तन्यार्थमिति दुहिता । (उत्तरा. नि. शा. वृ. १-५७, पृ. ३८) ।

जो केवल दूध के लिए माता का दोहन करती है उसका नाम दुहिता (पुत्री) है । यह दुहिता का निरुक्त लक्षण है ।

दुःकथा— दुःकथा दुष्टा—चित्तकालुष्यकारिणी, कथा काम-क्रोधादिकथा राजादिकथा वा । (सा. ध. ६-१४) ।

चित्त को कलुषित करने वाली काम-क्रोधादि की या राजादि की कथा (चर्चा) करने को दुःकथा कहते हैं ।

दुःख—१. असद्वेद्येऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादि-परिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः परितापरूपः परिणामः दुःखमित्याख्यायते । (स. सि. ५-२०); पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् । (स. सि. ६-११; त. श्लो. ६-११) । २. तथा असद्वेद्योदयात् आत्म-परिणामो यः संक्लेशप्रायः स दुःखम् । (त. वा. ५, २०, २); पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् । विरोधि-द्रव्योपनिपाताभिलषितवियोगानिष्ट-निष्ठुरश्रवणादि-बाह्यसाधनापेक्षादसद्वेद्योदयादुत्पद्यमानः पीडालक्षणः परिणामो दुःखमित्याख्यायते । (त. वा. ६, ११, १) । ३. तत्र दुःखयतीति दुःखं बाधालक्षणं शारीरादिः । (त. भा. हरि. वृ. ६-१२) । ४. असादं दुक्खं । (धव. पु. ६, पृ. ३५); अणिट्ठत्थसमागमो इट्ठत्थ-वियोगो च दुक्खं णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३३४); सिरोवेयणादी दुक्खं णाम । (धव. पु. १५, पृ. ६) । ५. तत्र दुःखयतीति दुःखं [illegible] लक्षणं विरोधिद्रव्यान्तरो-पनिपातादभिमतवियोगानिष्टश्रवणादसद्वेद्योदयापन्नः पीडालक्षणः परिणाम आत्मनो दुःखमित्यर्थः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१२) । ६. पारतन्त्र्यं हि दुःखम् । (त. श्लो. २४१, पृ. ५०); पीडालक्षणः परिणामो दुःखम् । (त. श्लो. ६-११) । ७. जं णोकसाय-विग्घचउक्काण बलेण दुक्खपहुदीणं । असुहपयडीणु-दयभवं इंदियखेदं हवे दुक्खं ॥ (ल. सा. ६१०) । ८. दुःखम् असातोदयरूपं तत्कारणं च । (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. १, १२, २१)। ९. दुःखमप्रीतिः । (नीतिवा. ६-१७) । १०. यस्मिन् वस्तुनि दृष्टे आच्छादिते वा ऽप्रीतिर्वैराग्यं भवति तद् दुःखमभिधीयते श्रेष्ठे-ऽपि च वस्तुनि । तथा च शुक्रः—यत्र नो जायते-ऽप्रीतिर्दृष्टे वाच्छादितेऽपि वा । तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते ॥ (नीतिवा. टी. ६, १७) । ११. दुःखयतीति दुःखं वेदनालक्षणः परि-णामः । (त. वृत्ति श्रुत. ६-११) ।

१ अन्तरंग में असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर बाह्य द्रव्यादि के परिपाक का निमित्त मिलने से जो चित्त में परिताप (पीड़ा) परिणाम होता है उसे दुःख कहते हैं ।

दुःखविपाक—से किं तं दुहविवागा ? दुहविवागेसु णं दुहविवागाणं नगराइं उज्जाणाइं वणसंडाइं चेइ-याइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मा-यरिया धम्मकहाओ इहलोइय-परलोइया इड्ढि-विसेसा निरयगमणाइं संसारभवपवंचा दुहपरंपराओ दुकुलपच्चायाईओ दुलहबोहियत्तं आघविज्जइ से तं दुहविवागा । (नन्दी. सू. ५५, पृ. २३४) ।

जिसमें दुःखके विपाक से युक्त जीवोंके नगर, उद्यान, वनखण्ड, चैत्य, समवसरण (एकत्र मिलाप), राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, ऐहलौकिक व पार-लौकिक ऋद्धिविशेष, नरकगतिगमन, संसारभवप्रपंच (६०-७० वर्ष की अवस्था), दुःख की परम्परा, निम्न कुल में उत्पत्ति और बोधि की दुर्लभता, इत्यादि की प्ररूपणा की जाती है वह दुःखविपाक कहलाता है ।

दुःपक्वाहार—देखो दुष्पक्वाहार ।

दुःप्रयुक्तकायिकी—देखो दुष्प्रयुक्तकायक्रिया ।

दुःश्रुति—१. आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषराग-मदमदनैः । चेतः कलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भ-वति ॥ (रत्नक. ७९) । २. हिंसा-रागादिप्रवर्धन-दुष्टकथाश्रवण-शिक्षण-व्यापृतिरशुभश्रुतिः । (स.

सि. ७–२१; त. वा. ७, २१, १४)। ३. हिंसादिकथाश्रवणासीक्ष्ण्यात् [दृ] तिलक्षणात्स्यादशुभश्रुतेः × × ×। (त. श्लो. ७–२१)। ४. हिंसारागादिसंवर्धिदुःकथाश्रुति-शिक्षया। पापबन्धनिबन्धो यः स स्यात् पापाशुभश्रुतिः॥ (ह. पु. ५८–१५२)। ५. जं सवणं सत्थाणं भंडण-वसियरण-कामसत्थाणं। परदोसाणं च तहा अणत्थदंडो हवे चरिमो॥ (कार्तिके. ३४८)। ६. रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्। न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जन-शिक्षणादीनि॥ (पु. सि. १४५)। ७. रागादिप्रवृद्धितो दुष्टकथाश्रवण-शिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः। (चा. सा. पृ. १०)। ८. चित्तकालुष्यकृत्काम-हिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम्। न दुःश्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्॥ (सा. ध. ५–९); × × × दुःश्रुतिं कामादिशास्त्रश्रवणलक्षणां × × ×। (सा. ध. स्वो. टी. ५–९)। ९. यत्राऽधीते श्रुते कामोच्चाटनक्लेशमूर्च्छनैः। अशुभं जायते पुंसामशुभश्रुतिरिष्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ७–१३)। १०. हिंसाप्रवर्तकं शास्त्रम् अश्वमेधादि, रागप्रवर्तकशास्त्रं कुक्कोकनामादि, द्वेषप्रवर्तकं शास्त्रं नानाप्रकारम्, मधु-मांसादिप्रवर्तकं शास्त्रं स्मृत्यादि, तेषां शास्त्राणां कथनं शिक्षणं व्यापारश्च दुःश्रुतिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१)।

१ आरम्भ, परिग्रह, पराक्रम, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अभिमान और विषयाकांक्षा इनके द्वारा—इन्हें उत्पन्न करके—जो शास्त्र चित्त को कलुषित करने वाले हैं उनके सुनने को दुःश्रुति कहते हैं। २ हिंसा और राग-द्वेष आदि के बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने व शिक्षा देने आदि में प्रवृत्त होना; इसका नाम दुःश्रुति है।

दुःषमदुःषमा—एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुसमदुसमा। (भगव. ६, ७, ५)।

इक्कीस हजार वर्ष वाले काल को दुःषमदुःषमाकाल कहते हैं।

दुःषमसुषमा—१. एगा सागरोवमकोडाकोडीओ बायालीसए वाससहस्सेहिं ऊणिया कालो दुसमसुसमा। (भगव. ६, ७, ५)। २. ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुःषमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटाकोटी द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना। (त. वा. ३, २७, ५)।

१ ब्यालीस हजार वर्षों से हीन एक कोड़ाकोड़ि सागर प्रमाण काल का नाम दुःषमसुषमा है।

दुःषमा—१. एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुसमा। (भगव. ६, ७, ५)। २. ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुःषमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। (त. वा. ३, २७, ५)।

१ इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण काल का नाम दुःषमाकाल है।

दुःस्वरनाम—१. तद्विपरीतं (यन्निमित्तम् अमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत्) दुःस्वरनाम। (स. सि. ८–११; त. श्लो. ८–११)। २. दौःस्वर्यनिर्वर्तकं दुःस्वरनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. तद्विपरीतं दुःस्वरनाम। तद्विपरीतफलत्वात् तद्विपरीतम् अमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनकरं दुःस्वरनाम। (त. वा. ८, ११, २६)। ४. तथा दुःस्वरं चैवेति सुस्वरनामोक्तविपरीतम्। (श्रा. प्र. टी. २३)। ५. तद्विपरीतं दुःस्वरनाम। यत्तु श्रूयमाणमसुखमावहति तद् दुःस्वरनामेति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। ६. अमहुरो सरो दुस्सरो, जहा गद्दहुट्ट-सियालादीणं। जस्स कम्मस्स उदएण जीवे दुस्सरो होदि तं कम्मं दुस्सरं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६५); जस्स कम्मस्सुदएण खरोट्टाण व कण्णसुहो सरो ण होदि तं दुस्सरं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६६)। ७. अनिष्टं स्वरहेतुर्यत्प्रोक्तं दुःस्वरनाम तत्। (ह. पु. ५८–२७१)। ८. दूसरउदए वि सरो अपंतो होइ जणवेसो। (कर्मवि. ग. १४५)। ९. यदुदयात् दुःस्वरताऽमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं तत् दुःस्वरनाम। (मूला. वृ. १२–१९५)। १०. यदुदयात् खरभिन्नहीनदीनः स्वरो भवति तद् दुःस्वरनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १९; प्रव. सारो. वृ. १२६५)। ११. दुःस्वरनाम यदुदयात् काकोलूकस्वरकल्पः स्वरो भवति। (धर्मसं. मलय. वृ. ६२०)। १२. दुःस्वरनाम यदुदयात् स्वरः श्रोतृणामप्रीतये भवति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७४)। १३. अमनोज्ञस्वरनिर्वर्तकं दुःस्वरनाम। (भ. आ. मूला. २१२४)। १४. यदुदयात् अमनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं भवति तद् दुःस्वरनाम। (गो. क. जी. प्र. टी. ३३)। १५. यदुदयेन खर-मार्जार-काकादिस्वरवत् कर्णशूलप्रायः स्वर उत्पद्यते तद् दुःस्वरनाम। (त. वृत्ति श्रुत, ८–११)।

१ जिसके उदय से सुस्वर के विपरीत—गधा व ऊंट आदि के समान—अमनोज्ञ स्वर उत्पन्न होता है उसे दुःस्वरनाम कहते हैं।

दूतदोष—देखो दूतीपिण्ड। १. जल-थल-आयास-गदं सय-परगामे सदेस परदेसे। संबंधिवयणणयणं दूदीदोसो हवदि एसो ॥ (मूला. ६-२६)। २. ग्रामान्नगरान्तराच्च देशादन्यदेशतो वा सम्बन्धिनां वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४९)। ३. स्वग्रामात् परग्रामं गच्छति जले नावा तथा स्वदेशात् परदेशं गच्छति जले नावा, तत्र तस्य गच्छतः कश्चिद् गृहस्थ एवमाह—भट्टारक मदीयं सन्देशं गृहीत्वा गच्छ। स साधुस्तत्सम्बन्धिनो वचनं नीत्वा निवेदयति यस्मै प्रहितम्। स परग्रामस्थः परदेशस्थश्च तद्वचनं श्रुत्वा तुष्टः सन् दानादिकं ददाति। तद्दानादिकं यदि साधुर्गृह्णाति तदा तस्य दूतकर्मणोत्पादनं दोषः। (मूला वृ. ६-२६)। ४. ××× दूतता मता। दूरबन्धुजनानां वाग्नयनानयनक्रिया। (आचा. सा. ८-३७)। ५. दूतोऽशनादेरादानं संदेशनयनादिना। तोषिताद्दातुः ××× ॥ (अन. ध. ५-२१)। ६. ग्रामान्तरादेशेषु संदेशं वार्त(?) वा संपाद्योत्पादिता दूतकर्मदुष्यः। (भ. आ. मूला. २३०)। ७. दूरबन्धुजनानां वचनानां नयनमानयनं च दूतत्वम्। (भावप्रा. टी. ७९)।

१ जल, स्थल अथवा आकाश का आश्रय लेकर अपने ग्राम से अन्य ग्राम को या अपने देश से अन्य देश को जाते हुए यदि किसी सम्बन्धी के सन्देश को ले जाता है तथा उससे सन्तुष्ट होकर अन्य ग्रामस्थ या देशस्थ मनुष्य यदि उसे दान देता है तो उस दान के ग्रहण करने पर दूत नामक उत्पादनदोष होता है। २ ग्राम, नगर अथवा देश आदि से अन्य ग्राम आदि में जाकर व किन्हीं सम्बन्धियों की बात को कहकर जो वसति प्राप्त की जाती है वह दूतदोष से दूषित होती है।

दूतीपिण्ड—तथा कार्यसंघटनाय दौत्यं विधत्ते इति दूतीपिण्डः। (आचारा. शी. वृ. २, १, २७३, पृ. ३२०)।

कार्य की सिद्धि के लिए दूत का काम करके भोजन प्राप्त करना, इसका नाम दूतीपिण्ड है।

दूर-अर्थ—१. दूराः देशविप्रकृष्टाः। (आ. मी. वसु. वृ. ५)। २. दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः। (लाटीसं. ४-८)।

१ देश की अपेक्षा दूरवर्ती पदार्थों को दूर-अर्थ कहा जाता है।

दूरघ्राणत्व—घाणिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतराया। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि ॥ घाणुक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयणगदाणि। जं बहुविहगंधाणि तं घादयदि दूरघाणत्तं ॥ (ति. प. ४, १०९१-९२)।

घ्राणेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहिर संख्यात योजनगत अनेक प्रकार के गन्ध के सूंघने की जो शक्ति प्राप्त होती है उसे दूरघ्राणत्व ऋद्धि कहते हैं।

दूरदर्शन—रूविदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतराए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि ॥ रूउक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयणठिदाइं। जं बहुविहदव्वाइं देक्खइ तं दूरदरिसिणं णाम ॥ (ति. प. ४, ९९६-९७)।

चक्षुरिन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर चक्षुरिन्द्रिय के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र से बाहिर संख्यात योजनों में स्थित बहुत प्रकार के पदार्थों के देखने की जो शक्ति प्राप्त होती है उसे दूरदर्शन ऋद्धि कहते हैं।

दूरश्रवणत्व—सोदिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मम्मि ॥ सोदुक्कस्सखिदीदो बाहिरसंखेज्जजोयणपएसे। चेट्ठंताणं माणुस-तिरियाणं बहुवियप्पाणं ॥ अक्खर-अणक्खरमए बहुविहसद्दे विसेससंजुत्ते। उप्पण्णे आयण्णइ जं भणिअं दूरसवणत्तं ॥ (ति. प. ४, ९९३-९५)।

श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र से बाहिर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में रहने वाले मनुष्य और तिर्यंचों के अक्षर-अनक्षरात्मक विविध प्रकार के शब्दों के उत्पन्न होने पर उनके सुनने की

को महान् सामर्थ्य प्राप्त होता है उसे दूरस्पर्शत्व ऋद्धि कहते हैं।

दूरस्वादित्व—१. जिब्भिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मिम्मि॥ जिब्भुक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयणठियाणं। विविहरसाणं सादं जं जाणइ दूरसादित्तं॥ (ति. प. ४, ९८७-८८)। २. तपःशक्तिविशेषाविर्भावितासाधारणरसनेन्द्रिय-श्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमांगोपांगनामलाभापेक्षस्याऽवधृतनवयोजनक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनविप्रकृष्टक्षेत्रादायातस्य रसस्याऽऽस्वादनसामर्थ्यम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२)।

१ रसनेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर रसनेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र से बाहिर संख्यात योजन दूर स्थित विविध रसों के स्वाद लेने की जो शक्ति प्राप्त होती है उसे दूरास्वादित्व ऋद्धि कहते हैं।

दूरस्पर्श—१. पासिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए। उक्कस्सक्खउवसमे उदिदंगोवंगणामकम्मिम्मि॥ पासुक्कस्सखिदीदो बाहिं संखेज्जजोयणठियाणि। अट्ठविहप्पासाणि जं जाणइ दूरपासत्तं॥ (ति. प. ४, ९८९-९०)। २. एवं (श्रोत्रेन्द्रियविषय इव) शेषेष्वपि इन्द्रियविषयेषु अवधृतक्षेत्राद् बहिर्बहुयोजनप्रकृष्टदेशादायातेषु ग्रहणसामर्थ्यं योज्यम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२)।

१ स्पर्शनेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर स्पर्शनेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषयक्षेत्र से बाहिर संख्यात योजनों की दूरी पर स्थित आठों प्रकार के स्पर्श को जान लेने का जो सामर्थ्य प्राप्त होता है उसे दूरस्पर्शत्व ऋद्धि कहते हैं।

दूरापकृष्टि—१. जत्तो ट्ठिदिसंतकम्मादो सेसादो संखेज्जे भागे घेत्तूण ठिदिखंडए घादिज्जमाणे घादिदसेसं णियमा पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागपमाणं होदूण चिट्ठदि तं सव्वपच्छिमं पलिदोवमस्स संखेज्जदिभागपमाणं ट्ठिदिसंतकम्मं दूरावकिट्टि त्ति भण्णदे। ××× पलिदोवमट्ठिदिसंतकम्मादो सुट्ठु दूरयरमोसारिय सव्वजहण्णपलिदोवमसंखेज्जभागसरूवेणावट्ठाणादो। पल्योपमस्थितिकर्मणोऽपसरणाद् दूरतरमपकृष्टत्वादतिकृशत्वाच्च दूरापकृष्टिरेषा स्थितिरित्युक्तं भवति। अथवा दूरतरमपकृष्टा तस्याः स्थितिकाण्डकमिति दूरापकृष्टिः। इतः प्रभृत्यसंख्येयान् भागान् गृहीत्वा स्थितिकाण्डकघातमाचरतीत्यतो दूरापकृष्टिरिति। (धव. पु. ६, पृ. २५५ का टिप्पण ३)। २. पल्ये उत्कृष्टसंख्यातेन भक्ते यल्लब्धं तस्मादेकैकहान्या जघन्यपरिमितासंख्यातेन भक्ते पल्ये यल्लब्धं तस्मादेकोत्तरवृद्ध्या यावन्तो विकल्पास्तावन्तो दूरापकृष्टिभेदाः। तेषु कश्चिदेव विकल्पो जिनदृष्टभावो दूरापकृष्टिसंज्ञितो वेदितव्यः। (ल. सा. टी. १२०)।

१ कर्म के जिस स्थितिसत्त्व के अवशेष संख्यात बहुभाग को ग्रहण कर स्थितिकाण्डक का घात करते हुए घात करने से शेष रहा नियम से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होकर स्थित होता है, पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण उस सर्वान्तिम स्थितिसत्कर्म का नाम दूरापकृष्टि है।

दूषण—१. वादिना प्रमाणमुपन्यस्तम्, तच्च प्रतिवादिना दुष्टतयोद्भावितं पुनर्वादिना परिहृतम्, तदेव तस्य साधनं भवति प्रतिवादिनश्च दूषणमिति। (प्र. र. मा. ६-७३)। २. साधनदोषोद्भावनं दूषणम्। (प्रमाणमी. २, १, २८)।

१ वादी ने किसी प्रमाण को प्रस्तुत किया, पर प्रतिवादी ने उसे सदोष बतलाया, तत्पश्चात् वादी ने प्रतिवादी के द्वारा प्रदर्शित दोष का निराकरण कर दिया; इस प्रकार से उक्त प्रमाण वादी के लिए सहेतु और प्रतिवादी के लिए दूषण हो जाता है। २ साधन में दोष के प्रगट करने को दूषण कहते हैं।

दूषणाभास — अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि। (प्रमाणमी. २, १, २९)।

साधन में जो दोष सम्भव नहीं हैं उनके उद्भावन को दूषणाभास कहते हैं। इनको जात्युत्तर भी कहा जाता है।

दृष्ट दोष (आलोचनादोष)— १. जं होदि अण्णदिट्ठं तं आलोचेदि गुरुसयासम्मि। अदिट्ठं गूहंतो मायिल्लो होदि णायव्वो॥ दिट्ठं व अदिट्ठं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण। आयरिय पायमूले तदिओ आलोयणादोसो॥ (भ. आ. ४, ५७४-७५)।

२. अन्यादृष्टदोषगूहनं कृत्वा प्रकाश(चा. सा. 'दृष्ट') दोषनिवेदनं मायाचारस्तृतीयो (चा. सा. 'यो यद्-दृष्टदोष:') दोष: । (त. वा. ९, २२, २; चा. सा. पृ. ६१) । ३. परादृष्टदोषगूहनेन प्रकटदोषनिवेदनम् । (त. श्लो. ९-२२) । ४. परिर[ल]क्षितागः-संकीर्तिः स्याद् दृष्टं × × × ॥ (आचा. सा. ६-११) । ५. यद् दृष्टं अन्यैर्यदवलोकितं दोषजातं तदालोचयत्यदृष्टमवगूहयति यस्तस्य तृतीयो दृष्ट-नामाऽऽलोचनादोष: । (मूला. वृ. ११-१५) । ६. यद् दृष्टमपराधजातं क्रियमाणमाचार्यादिना तदेवालोचयति नापरमिति तृतीय:(दृष्ट:) आलोचना-दोष: । (व्यव. भा. मलय. वृ. १-३४२, पृ. ११) । ७. यद् दृष्टं दूषणस्यान्यदृष्टस्यैव प्रथा गुरो: । (अन. ध. ७-४१) ।

१ जो दोष दूसरे के द्वारा देखा जा चुका है उसकी आलोचना गुरु के पास में करता है, पर अदृष्ट दोष को छिपाता है; ऐसा करने वाला वह साधु मायाचारी होता है । आचार्य के पादमूल में यदि दृष्ट दोष के समान अदृष्ट दोष को भी विनयपूर्वक नहीं कहता है तो वह तीसरे दृष्ट नामक आलोचना-दोष से लिप्त होता है ।

दृष्ट दोष (वन्दनादोष)—१. दृष्टम्-आचार्यादिभि: दृष्ट: सन् सम्यग्विधानेन वन्दनादिकं करोत्यन्यथा स्वेच्छयाऽथवा दिगवलोकनं कुर्वन् वन्दनादिकं यदि विदधाति तदा तस्य दृष्टो दोष: । (मूला. वृ. ७-१०९) । २. दृष्टं पश्यन् दिश: स्तौति पश्यत्स्वन्येषु सुष्ठु वा । (अन. ध. ८-१०८) ।

१ आचार्य आदि के द्वारा देख लेने पर यदि विधिपूर्वक वन्दना करता है, अन्यथा मनमाने ढंग से वन्दना करता है; अथवा दिशाओं का अवलोकन करता हुआ यदि वन्दना आदि करता है तो वह दृष्ट दोष का भागी होता है ।

दृष्टादृष्टवन्दनक—१. अंतरिओ तमसे वा न वंदई वंदई उ दीसंतो । एयं दिट्ठमदिट्ठं × × × ॥ (प्रव. सारो. १६६) । २. बहुषु वन्दमानेषु साध्वादिना केनचिदन्तरित:, तमसि वा—सान्धकारप्रदेशे व्यवस्थितो मौनं विधायोपविश्य वाऽऽस्ते, न तु वन्दते, दृश्यमानस्तु वन्दते, एतद् दृष्टादृष्टं वन्दनकमभिधीयते । (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८९; प्रव. सारो. वृ. पृ. १६६) । ३. दृष्टादृष्टं तमसि स्थित: केनचिदन्तरित एवमेवास्ते, दृष्टस्तु वन्दत इति । (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०) ।

२ जब बहुत साधु जन वन्दना कर रहे हों तब किसी साधु आदि से व्यवहित होकर, अथवा अन्धकारपूर्ण प्रदेश में स्थित होकर, अथवा मौनपूर्वक बैठ कर स्थित होता है; पर वन्दना नहीं करता है । किसी के द्वारा देखा जाने पर वन्दना करता है । इस प्रकार से वन्दना करने न करने में दृष्टादृष्टवन्दनक दोष होता है ।

दृष्टान्त—१. यत्र लौकिकानां परीक्षकाणां च बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त:, तत्थ लोइयगहणेण गोवालादी सत्थबाहिरो जणो गहिओ, परिक्खगगहणेण जेहिं सहसत्थाणि णायादीणि सत्थाणि अधीतानि ते परिक्खगा, एतेसिं लोइयाणं परिक्खगाणं च जंमि अत्थे बुद्धिविसंवादो न भवइ सो दिट्ठंतो । (दशवै. चू. पृ. ३८) । २. सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञात: साध्य-साधनधर्मयो: । स दृष्टान्त × × × ॥ (न्यायवि. २-११) । ३. दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्त:, अतीन्द्रियप्रमाणादृष्टं संवेदननिष्ठां नयतीत्यर्थ: । (दशवै. नि. हरि. वृ. ५२, पृ. ३४) । ४. तत्र साध्य-साधनान्वय-व्यतिरेकप्रदर्शनमाहरणम्, दृष्टान्त इति । (आव. नि. हरि. वृ. ८६); दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्त: । × × × साध्योपमाभूतस्तु दृष्टान्त: । उक्तं च—यत: साध्यस्योपमाभूत: स दृष्टान्त इति कथ्यते । (आव. नि. हरि. वृ. ९४८; नन्दी. हरि. वृ., पृ. ६२) । ५. तत्र दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्त: । लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त इत्यन्ये । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १५) । ६. दृष्टावन्तौ धर्मौ स्वभावावग्नि-धूमयोरिव साध्य-साधकयोर्वादि-प्रतिवादिभ्यां कर्तुं भूताभ्यामविवादेन यत्र वस्तुनि स दृष्टान्त: । (पंचा. का. जय. वृ. २७)। ७. प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्त: । (प्र. न. त. ३-४०) । ८. साध्यव्याप्तिप्रदर्शन-विषयो दृष्टान्त: । (उपदे. मु. वृ. ४८) । ९. स (दृष्टान्त:) व्याप्तिदर्शनभूमि: । (प्रमाणमी. १, २, २०) । १०. दृष्ट: अन्त: परिच्छेदो विवक्षितसाध्य-साधनयो: सम्बन्धस्याविनाभावरूपस्य प्रमाणेन यत्र ते दृष्टान्ता: । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २०-२१४, पृ. ४३२) । ११. व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्त: । (न्यायदी. १०४) ।

१ जिस अर्थ के विषय में लौकिक जनों—तत्त्व से बहिर्भूत ग्वाला आदि—और परीक्षक जनों में—व्याकरण एवं न्यायादि शास्त्रों के ज्ञाता विद्वानों में—बुद्धि की समानता हो—किसी प्रकार का विसंवाद न हो, उसे दृष्टान्त कहते हैं। २ जहाँ साध्य और साधन धर्मों का सम्बन्ध जाना जाता है वह दृष्टान्त कहलाता है।

दृष्टान्ताभास—१. ××× तदाभासाः साध्यादिविकलादयः। (न्यायवि. २–२११)। २. साध्य-साधनोभयविकला दृष्टान्ताभासाः। (लघीय. अभय. वृ. ४–३, पृ. ४६)।

१ साध्य आदि (साधन) से रहित दृष्टान्तों को दृष्टान्ताभास कहते हैं।

दृष्टि-अविष, दृष्टिनिर्विष—१. रोग-विसेहिं पहुदा दिट्ठीए जीए झत्ति पावंति। णीरोग-णिव्विसत्तं सा अणिदा दिट्ठिणिव्विसा रिद्धी॥ (ति. प. ४–१०७६)। २. येषामालोकनमात्रादेवातितीव्रविषदूषिता अपि सन्तः विगतविषा भवन्ति ते दृष्टयविषाः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३; चा. सा. पृ. ६६)। ३. अथवा ××× दृष्टिविषाणां विषमविषं येषां ते दृष्टयविषाः। (चा. सा. पृ. ६६)।

१ जिसके प्रभाव से रोग व विष से व्याप्त प्राणी देखने मात्र से ही शीघ्र नीरोग व विष से रहित हो जाते हैं उसे दृष्टिनिर्विषा ऋद्धि कहते हैं। ३ अथवा जिनके देखने मात्र से दृष्टिविष सर्पों का विष विषरूपता से रहित हो जाता है वे दृष्टयविष कहलाते हैं।

दृष्टिपात—देखो दृष्टिवाद।

दृष्टिराग—१. तत्र त्रयाणां त्रिषष्टयधिकानां प्रावादुकशतानामात्मीयात्मीयदर्शनानुरागो दृष्टिरागः। यथोक्तम्—असियसयं किरियाणं अकिरियवाईणमाहु चुलसीई। अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा॥ जिणवयणबाहिरमई मूढा णियदंसणाणुराएण। सव्वण्णुकहियमेते मोक्खपहं न उ पवज्जंति॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८)। २. दृष्टिरागः पुनरयं दर्शनिनां निज-निजदर्शनेषु युक्तिपथावतारासहेऽपि कम्बललाक्षारागवत् प्रायेणोत्सारयितुमशक्यः पूर्वराग (स्नेहराग-कामराग) इत्यपेक्षयातिदुरन्तभावः प्रतिबन्धो निरूप्यते स इति। (उपदे. मु. वृ. १८९)।

१ तीन सौ तिरेसठ प्रवादियों का अपने-अपने दर्शन-विषयक जो राग है उसे दृष्टिराग कहते हैं।

दृष्टिवाद—१. से किं तं दिट्ठिवाए? दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जइ। (नन्दी. सू. ५६, पृ. २३५)। २. कौत्कल-काणेविद्धि-कौशिक-हरिश्मश्रु-मांछ (धव. 'मांद्ध') पिक-रोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचिकुमारकपिलोलूक-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुरशीतिः, साकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कठ (धव. 'कण्व')-माध्यंदिन-मौद-पैप्पलाद-बादरायणाम्बष्ठि-कृदौविकायन- (धव. 'बादरायण-स्वेष्टकृदैतिकायन') वसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ट-पाराशर-जतुकर्णि- (धव. 'कर्ण') - वाल्मीकि-रोमहर्षिणि (धव. 'हर्षणी')-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां वैनयिकदृष्टीनां द्वात्रिंशत्। एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ठ्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. १, पृ. १०७; धव. पु. ९, पृ. २०३-२०४)। ३. दृष्टीनां अज्ञानिकादीनां यत्र प्ररूपणा कृता स दृष्टिवादः, तासां व यत्र पातः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १–२०); दृष्टयो दर्शनानि, वदनं वादः, दृष्टीनां वादः दृष्टिवादः, दृष्टीनां वा पातो यत्रासौ दृष्टिपातः, सर्वनयदृष्टय एवेहाख्यायन्त इत्यर्थः, तथा चाह—दृष्टिवादेन दृष्टिपातेन दृष्टिवादे दृष्टिपाते वा सर्वभावप्ररूपणा आख्यायते। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०६)। ४. दिट्ठीओ वददीदि दिट्ठिवादं ति गुणणामं। (धव. पु. १, पृ. १०९)। ५. दृष्टयो दर्शनानि नयाः, उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यस्मिन्नसौ दृष्टिवादो दृष्टिपातो वा द्वादशमङ्गम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २६२)। ६. दिट्ठीणं तिण्णिसया तेसट्ठीणं पि मिच्छवायाणं। जत्थ णिराकरणं खलु तण्णामं दिट्ठिवादंगं॥ (अंगप. १–७३)।

१ जिस श्रुत में सब भावों (पदार्थों) की प्ररूपणा की जाती है वह दृष्टिवाद अंग कहलाता है। २ जिसमें कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत और मुण्डाश्वलायन आदि

१८० क्रियावाददृष्टियों; मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर और मौद्गलायन आदि ८४ अक्रियावाददृष्टियों; साकल्य, वल्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कठ, माध्यंदिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, अम्बष्ठि, कृदौविकायन, वसु और जैमिनि आदि ६७ अज्ञानिकदृष्टियों; तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, इन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि ३२ वैनयिकदृष्टियों; इन ३६३ दृष्टियों की प्ररूपणा और उनका निग्रह किया जाता है उसे दृष्टिवाद अंग कहा जाता है।

दृष्टिविषा—१. जीए जीओ दिट्ठो महासिणा रोसभरिदहिदएण। अहिदट्ठं व मरिज्जदि दिट्ठिविसा णाम सा रिद्धी ॥ (ति. प. ४–१०७६)। २. उत्कृष्ट तपसो यतयः क्रुद्धा यमीक्षन्ते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषाः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०४; चा. सा. पृ. ६६)। ३. दृष्टिरिति चक्षुर्मनसोर्ग्रहणम्, तत्रोभयत्र दृष्टिशब्दप्रवृत्तिदर्शनात्। तत्साहचर्यात् कर्मणोऽपि। रुट्ठो जदि जोएदि चिंतेदि किरियं करेदि वा 'मारेमि'त्ति तो मारेदि, अण्णं पि असुहकम्मं संरंभपुव्वावलोयणेण कुणमाणो दिट्ठिविसो णाम। (धव. पु. ६, पृ. ८६)। ४. तपोबला मुनयः क्रुद्धाः सन्तो यमक्षिगतमीक्षन्ते स पुमान् तत्क्षणादेव तीव्रविषपरीतः पंचत्वं प्राप्नोति, एवंविधं सामर्थ्यं येषां ते दृष्टिविषाः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से कोधित महर्षि के द्वारा देखा गया जीव सर्पदष्ट के समान मरण को प्राप्त हो जाता है उसे दृष्टिविषा ऋद्धि कहते हैं।

दृष्टिसंमोह—गुणतस्तुल्ये तत्त्वे संज्ञाभेदागमान्यथादृष्टिः। भवति यतोऽसावधमो दोषः खलु दृष्टिसंमोहः। (षोडशक ४–११)।

गुण—उपकारफल—की अपेक्षा विवक्षित दो वस्तुओं में तत्त्व के समान होने पर भी जिस दोष के कारण प्राणी नामभेद के आश्रय से आगम के विषय में विपरीत बुद्धि को प्राप्त होता है वह निकृष्ट दृष्टिसंमोह दोष है। अथवा अहिंसा एवं प्रशम आदि के तत्त्वों के अन्य दर्शनों में भी समान होने पर जिस दोष के कारण परिभाषाभेदमात्र से प्राणी आगमों में अन्यथा भाव को प्राप्त होता है उसका नाम दृष्टिसंमोह है।

देयशुद्ध दान—देयं शुद्धं द्विचत्वारिंशद्दोषरहितं भवेत्। (त्रि. श. पु. च. १, १, १८३)।

ब्यालीस दोषों से रहित आहार आदि को शुद्ध देय—देने योग्य द्रव्य—कहा जाता है।

देव (सुर)—१. देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूतिविशेषैः द्वीपाद्रि-समुद्रादिषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः। (स. सि. ४–१)। २. देवा णाम दीवं आगासं, तंमि आगासे जे वसंति ते देवाः। (दशवै. चू. पृ. १५)। ३. देवगतिनामकर्मोदये सति द्युत्याद्यर्थाविरोधाद् देवाः। अन्तरङ्गहेतौ देवगतिनामकर्मोदये सति बाह्यद्युत्यादिक्रियासम्बन्धमन्तर्नीय दीव्यन्तीति देवाः इति व्यपदिश्यन्ते। (त. वा. ४, १, १)। ४. तत्र दीव्यन्तीति देवाः, निरुपमक्रीडामनुभवन्तीत्यर्थः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २६)। ५. कीडंति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठहिं दिव्वभावेहिं। भासंतदिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा ॥ (प्रा. पंचसं. १–६३; धव. पु. १, पृ. २०३ उद्.; गो. जी १५०)। ६. अणिमाद्यष्टगुणावष्टम्भबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः। (धव. पु. १, पृ. २०३)। ७. देवगतिनामकर्मोदये सति दीव्यन्तीति देवाः। (त. श्लो. ४-१)। ८. केसट्ठि-मंस-नह-रोम-रुहिर-वस-चम्म-मुत्त-पुरिसेहिं। रहिया निम्मलदेहा सुगंधिनीसासगयलेवा ॥ अंतमुहुत्तेणं चिय पज्जत्ता तरुणपुरिससंकासा। सव्वंगभूसणधरा अजरा निरुजा समा देवा ॥ अणिमिसनयणा मणकज्जसाहणा पुप्फदामअमिलाणा। चउरंगुलेण भूमिं न छिवंति सुरा जिणा विंति ॥ (संग्रहणी, १४६–४८)।

१ अभ्यन्तर हेतुभूत देवगति नामकर्म का उदय होने पर जो बाह्य वैभव के साथ द्वीप, पर्वत एवं समुद्र आदि प्रदेशों में इच्छानुसार क्रीडा किया करते हैं वे देव कहलाते हैं। २ दिव नाम आकाश का है, उसमें जो रहते हैं, उन्हें देव कहा जाता है।

देव (अर्हन्)—देखो जिनदेव। १. दीव्यते—स्तूयते भक्तिभरनिर्भरामरप्रभुप्रभृतिभिर्भव्यैरनवरतमिति देवः, स च क्लेश-कर्म-विपाकाशयैः[कायैः]रपरामृष्टः पुरुषविशेषः। (ध. बि. मु. वृ. १–१८)। २. सर्वज्ञो

विगतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः । यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ (योगशा. २–४) ।

१ 'दीव्यते स्तूयते इति देवः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसकी स्तुति भक्ति से परिपूर्ण देवेन्द्रादि के द्वारा की जाती है तथा जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित होता है ऐसे आप्त को देव कहा जाता है।

देवगतिनाम— १. अणिमाद्यष्टगुणाद्यष्टम्भबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । देवानां गतिः देवगतिः । अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिधान-प्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको देवगतिः । देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगतिः, कार्ये कारणोपचारात् । (धव. पु. १, पृ. २०३); जस्स कम्मस्स उदएण देवभावो जीवाणं होदि तं कम्मं देवगदि त्ति उच्चदि । (धव. पु. ६, पृ. ६७); देवभावणिव्वत्तयं कम्मं देवगदिणामं । (धव. पु. १३, पृ. ३६३) । २. यदुदयाज्जीवो देवभावस्तद् देवगतिनाम । (त. वृत्ति श्रुत. ८–११) ।

१ अणिमा-महिमा आदि आठ गुणों के आश्रय से जो क्रीड़ा किया करते हैं उन देवों की गति को देवगति कहते हैं।

देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी—१. यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग्वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते तदैव देवभावं प्रत्यभिमुखस्य तस्य पूर्वशरीरसंस्थानानिवृत्तिकारणं विग्रहगतावुदेति तद् देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम । (त. वा. ८, ११, ११) । २. जस्स कम्मस्स उदएण देवगइं गयस्स जीवस्स विग्गहगईए वट्टमाणस्स देवगइपाओग्गसंठाणं होदि तं देवगदिपाओग्गाणुपुव्वीणामं । (धव. पु. ६, पृ. ७६) ।

१ मनुष्य या तिर्यंच जीव विवक्षित आयु के समाप्त हो जाने से जब पूर्व शरीर से रहित होकर देव भव के अभिमुख होता है तब उसके विग्रहगति में पूर्वशरीर गत आकार के अविनाश के कारणभूत जिस कर्म का उदय रहता है उसे देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य कहा जाता है। २ जिस कर्म के उदय से देवगति को प्राप्त हुए जीव का विग्रहगति में देवगति प्रायोग्य आकार होता है उसे देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी कहते हैं।

देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य— देखो देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी।

देवच्छन्द—१. वसहीए मज्झम्मिहे देवच्छंदो दुजोयणुच्छेहो । इगिजोयणवित्थारो चउजोयणदीहसंजुत्तो ॥ सोलसजोयणुच्छेहं समचउरस्सं तदद्धवित्थारं । लोयविणिच्छयकत्ता देवच्छंदं परूवेइ ॥ (ति. प. ४, १८६५–६६) । २. अर्हदायतनमध्यदेशनिवेशिनः षोडशयोजनायाम-तदर्धविष्कम्भोच्छ्राया रत्नमया देवच्छन्दाः ॥ (त. वा. ३, १०, १३, पृ. १७८) । ३. देवच्छंदो हेमो दुग-इग-चउवाससदीहदमो ॥ (त्रि. सा. ९८४) । ४. फलिहमणिभित्तिणिवहा णाणामणि-रयणजालपरियरिया ॥ वेरुलियखंभपउरा सोवाणतिएहि संजुत्ता ॥ दिव्वामोदसुयंधा देवछंदे त्ति णामदो णेया । वरगब्भघरा दिट्ठा पइण्णकुसुमच्चणसणाहा ॥ (जं. दी. प. ५, २५–२६) ।

१ वसति के भीतर गर्भगृह में जो देवच्छन्द होता है वह दो योजन ऊंचा, एक योजन विस्तृत और चार योजन लम्बा होता है। 'लोकविनिश्चयकर्ता' के मतानुसार वह सोलह योजन ऊंचा और उससे आधे (८ यो.) विस्तार वाला समचतुष्कोण हुआ करता है। २ जिनालय के मध्य में सोलह योजन लम्बे और इससे आधे (आठ-आठ योजन) विस्तार व ऊंचाई से सहित देवच्छन्द हुआ करते हैं। (यह देवच्छन्द का विस्तारादि उत्कृष्ट जिनभवनों का है। मध्यम व जघन्य जिनभवनों के देवच्छन्द का विस्तारादि यथायोग्य उससे हीन समझना चाहिए।)

देवदेव—एदेहिं बाहिरेहिं य अब्भंतरगुणगणेहि संजुत्तो । सो होदि देवदेवो जो मुक्को कम्मकलुसादो ॥ (जं. दी. प. १३–११०) ।

जो इन प्रातिहार्यादिरूप बाह्य गुणों से तथा अनन्तचतुष्टयादिरूप अभ्यन्तर गुणों से युक्त और कर्म-कालिमा से रहित हो उसे देवदेव कहा जाता है।

देवभाव— देवगदिणामकम्मोदएण अणिमादिगुणं पीदो देवभावो होदि । (धव. पु. १४, पृ. ११)। देवगति नाम कर्मके उदय से अणिमा आदि गुणों को प्राप्त होना, इसका नाम देवभाव (देवत्व) है।

देवमूढ़ता—१. ईसर-बंभा-विण्हू-अज्जा-खंदादिया य जे देवा । ते देवभावहीणा देवत्तणभावणे मूढो ॥ (मूला. ५–६३) । २. वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः । देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ (रत्नक. १–२३) । ३. क्षुधाद्यष्टादशदोषरहित-मनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं वीतरागसर्वज्ञस्वरूप-

-मजानन् ख्याति-पूजा-लाभ-रूप-लावण्य-सौभाग्य-पुत्र-कलत्र-राज्यादिविभूतिनिमित्तं राग-द्वेषोपहतार्त्त-रौद्रपरिणतक्षेत्रपाल-चण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद् देवतामूढत्वम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१) । ४. ब्रह्मोमापति-गोविन्द-शाक्येन्दु-तपनादिषु । मोह-कादम्बरीमत्तेष्वाप्तधीर्देवमूढता ॥ (आचा. सा. ३–४६) । ५. ऐहिकाशावशित्वेन कुत्सितो देवतागणः । पूज्यते भक्तितो यद्वं सा देवमूढता मता ॥ (भावसं. वाम. ४०५) । ६. सदोषा देवता लक्ष्म्याद्यर्थं सेव्येत यन्नरा: । यवादि देवतामूढमरार्गैर्विश्ववेदिभि: ॥ (धर्मसं. श्रा. ४–४०) । ७. राग-द्वेषमलीमसदेवानां सेवा देवमूढता ॥ (कार्तिके. ३२६) । ८. अदेवे देवबुद्धि: स्यादधर्मे धर्मधीरिह । अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥ (लाटीसं. ४–११७; पञ्चाध्या. २–५६५) ।

१ ईश्वर (महादेव), ब्रह्मा, विष्णु, आर्या (भगवती) और स्कन्द (कार्तिकेय) आदि जो वस्तुतः देवत्व से रहित हैं—जिनमें न आप्तता है और न जो चार प्रकार के देवों के भी अन्तर्गत हैं—उन्हें देवता मानना; इसका नाम देवमूढता है । २ वरप्राप्ति की इच्छा से आशावान् होकर जो राग-द्वेष से मलिन देवताओं की उपासना की जाती है, इसे देवमूढता कहा जाता है ।

देवर्षि—१. देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ता: । (चा. सा. पृ. २२) । २. नभस्तलविसर्पी यो देवर्षि: परमागमे । (धर्मसं. श्रा. ९–२८७) ।

१ आकाश-गमन ऋद्धि से संयुक्त भिक्षुओं को देवर्षि कहते हैं ।

देवागम— देवास्त्रिदशास्तेषां स्वर्गावतरण-जन्म-निष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-मुक्तिगमनस्थानेषु आगमनम् आगम: अवतार: देवागम: । (आप्तमी. वसु. वृ. १) ।

तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान की प्राप्ति और मुक्तिगमन इन पांच कल्याणकों में देवों के आगमन को देवागम कहते हैं ।

देवाधिदेव—एवं वुच्चइ देवाधिदेवा: ? देवाधिदेवा गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पण्णणाण-दंसणधरा जाव सव्वदरिसी ते तेणट्ठेणं जाव देवाधिदेवा । (भगवती. १२, ९, ५, खण्ड ३, पृ. १८६) ।

जो अरहन्त भगवान् उत्पन्न हुए केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक होकर सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) होते हैं उन्हें देवाधिदेव कहा जाता है ।

देवायु—१. शारीर-मानससुखप्रायेषु देवेषु जन्मोदयात् देवायुष: । (त. वा. ८, १०, ८; त. श्लो. ८–२०) । २. जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण उड्ढगमणसहावस्स जीवस्स देवभवम्मि अवट्ठाणं होदि तेसिं देवाउअमिदि सण्णा । (धव. पु. ६, पृ. ४८-४९); जं कम्मं देवभवं धारेदि तं देवाउअं णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३६२) ।

१ जिस कर्म के उदय से शारीरिक और मानसिक सुखों से परिपूर्ण देवों में जन्म होता है उसे देवायु कहते हैं ।

देवावर्णवाद—१. सुरा-मांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवाद: । (स. सि. ६–१३; त. श्लो. ६–१३) । २. सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवाद: । सुरां मांसं चोपसेवन्ते देवा:, आह (अहि)ल्यादिषु सक्तचेतस: इत्याद्याघोषणं देवावर्णवाद: । (त. वा. ६, १३, १२) । ३. तेषां (चतुर्विधानां देवानां) चावर्णवाद:— ××× परस्परप्रवीचारा: खलु देवा: षण्ढवत्, अपरे बलवन्तोऽल्पबलं देवमप्यभियुज्य मैथुनमासेवन्ते स्तब्धलोचनपुटास्तथात्यन्तासद्भूतदोषप्रख्यापनशुक्र-शोणितबल्युपहाराशिनो देवा:, अहल्यायै जार इन्द्र: कृतभगसहस्र: छात्रैर्भर्षित इत्याद्यशिष्टव्यवहाराद्यघोषणं देवानामवर्णवाद: । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१४) ।

२ देव सुरा (मद्य) और मांस का सेवन करते हैं तथा अहिल्या (एक ऋषिपत्नी) आदि में आसक्तचित्त रहते हैं, इत्यादि रूप से देवों में दोषों के कथन को देवावर्णवाद कहते हैं ।

देश— १. ××× तस्स (खंधस्स) दु अद्धं भणंति देसो त्ति । (पंचा. का. ७५; मूला. ५-३४; गो. जी. ६०४)। २. ग्रामादीनामवधृतपरिमाणप्रदेशो देश: । (स. सि. ७–२१; त. श्लो. ७–२१) । ३. देश: त्रिभागश्चतुर्भागादि: । (उत्तरा. चू. ३६, पृ. २८१) । ४. कृत्स्नो धर्मास्तिकाय:, तदर्द्धं देश: । (त. भा. ५, २४, ७); कुतश्चिद्दिश्यते इति देश: । कुतश्चिदवयवात् दिश्यते इति देश: प्रदेश:, एकदेश इत्यर्थ: । (त. भा. ७, २, १); ग्रामादीनामवधृतपरिमाण: प्रदेशो देश: । ग्राम-नगर-गुहापवरकादी-

नामवतुलपरिमाणानां प्रदेशो देशः। (स. का. ७, २१, ३)। ५. नानाव्रीहि-कोद्रव-कङ्गु-गोधूमादि-निष्पत्तिभाग्देशः। (भा. प्र. टी. ३२५)। ६. × × × तस्स य अद्धं च वुच्चदे देसो। (भावसं. दे. ३०४)। ७. भर्तुर्दण्ड-कोशवृद्धि च दिशति ददातीति देशः। (नीतिवा. १९-२, पृ. १९१)। ८. सयलं मुणेहि खंधं अद्धं देसो × × ×। (वसु. श्रा. १७)। ९. ततो हीनाणुतो यावदर्द्धं देशः × × ×। (आचा. सा. ३-१९)।

१ स्कन्ध के आधे भाग को देश कहते हैं। २ देशव्रत में ग्रामादि के आश्रय से जितने प्रदेश का नियम किया जाता है वह प्रदेश देश कहलाता है। ३ तीसरे और चौथे आदि भाग को देश कहा जाता है। ४ किसी अवयवविशेष से जिसका निर्देश किया जाता है उसका नाम देश है। जैसे—अणुव्रत में हिंसादि से देशतः निवृत्ति। ५ व्रीहि, कोदों, कांगनी और गेहूं आदि अनेक धान्यों की उत्पत्ति के स्थान को देश (खेत) कहते हैं। ७ राजा के सैन्य और कोश की वृद्धि को जो देता है वह देश कहलाता है।

देशक— संसार-ज्वरसंतापच्छेदि यद्वचनामृतम्। पीयते भव्यलोकेन प्रीत्या नित्यं स देशकः॥ (आचा. सा. २-३४)।

जिसका वचनरूप अमृत (उपदेश) संसाररूप ज्वर के सन्ताप को नष्ट करता है उसे देशक—उपाध्याय—कहा जाता है।

देशकथा—तथा देशकथा—यथा दक्षिणापथः प्रचुरान्नपानः स्त्रीसंभोगप्रधानः, पूर्वदेशो विचित्रवस्त्र-गुड-खण्ड-शालि-मद्यादिप्रधानः, उत्तरापथे शूराः पुरुषाः जविनो वाजिनो गोधूमप्रधानानि धान्यानि सुलभं कुंकुमं मधुराणि द्राक्षा-दाडिम-कपित्थादीनि, पश्चिमदेशे सुखस्पर्शानि च वस्त्राणि सुलभा इक्षवः शीतं वारीत्येवमादिः। (योगशा. स्वो. विव. ३-७९)।

विभिन्न देशों की—उनमें उत्पन्न होने वाले धन धान्यादि की—कथा करने को देशकथा कहते हैं। जैसे—दक्षिण देश बहुत अन्न-पान से परिपूर्ण है; पूर्व देश में अनेक प्रकारके वस्त्र, गुड़, खांड, चावल, एवं मदिरा आदि पदार्थ प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं; उत्तर देश में पुरुष शूरवीर, घोड़े वेगशाली, गेहूं आदि प्रमुख धान्य, सुलभ केसर और मीठे अंगूर व अनार आदि होते हैं; तथा पश्चिम देश में सुखप्रद स्पर्शवाले वस्त्र और सुलभ गन्ने आदि पाये जाते हैं; इत्यादि।

देशकरणोपशमना— १. पगइ-ठिई-अणुभागप्पएस-मूलुत्तराहिपविभत्ता। देसकरणोवसमणा तीए समियस्स अट्ठपयं। (कर्मप्र. उपश. ६६)। २. दंसणमोहणीये उवसामिदे उदयादिकरणेसु काणि वि करणाणि उवसंताणि, काणि वि करणाणि अणुवसंताणि, तेणेसा देसकरणोवसामणा त्ति भण्णदे। (कसायपा. टि. २, पृ. ७०७)। ३. देसकरणोपसमणा भण्णति, पगइ-ठिति-अणुभाग-पदेसाणमज्झवसाणविसेसेणं थोवं उवसामिज्जति ण सव्वं; तम्हा देसकरणोपसमणा वुच्चति। (कर्मप्र. चू. उपश. ६६)। ४. देशतः करणाभ्यां यथाप्रवृत्तापूर्वकरणसंज्ञाभ्यां कृत्वा प्रकृत्यादीनामुपशमना देशकरणोपशमना। इदमुक्तं भवति—यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणाभ्यां यत् प्रकृत्यादिकं देशतः उपशमयति, न सर्वात्मना, सा देशकरणोपशमना। (कर्मप्र. मलय. वृ. उपश. ६६)।

२ दर्शनमोहनीय का उपशम कर देने पर उदयादि करणों में कुछ करणों का तो उपशम हो जाता है और कुछ करणों का उपशम नहीं भी होता है, इसी से उसे देशकरणोपशामना कहा जाता है। ४ अध्यवसानविशेष से अधःकरण और अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अल्प मात्रा में उपशम किया जाता है उसे देशकरणोपशमना कहते हैं।

देशकाल—देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्, तस्य कालो देशकालः, अभीष्टवस्त्ववाप्त्यवसरकाल इति भावः। (आव. मलय. वृ. ६६०)।

देश, प्रस्ताव, अवसर, विभाग और पर्याय ये समानार्थक शब्द हैं। इस प्रकार के देश का जो काल है उसे देशकाल अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का अवसरकाल कहा जाता है।

देशकांक्षा—१. तस्स देसकंखा जहा कोई एगं कुतित्थियमतं कंखइ, ण सेसाणि मताणि, एसा देसकंखा। (दशवै. चू. वृ. ९५)। २. देशविषया एकमेव सौगतं दर्शनमाकांक्षति चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितो-

अन्यमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरिति अतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति । (श्रा. प्र.टी. ८७)। ३. देशकांक्षा स्वैकादिदर्शनविषयः । यथा सुगतेन भिक्षूणामक्लेशको धर्म उपदिष्टः स्नानान्न-पानाच्छादन-शयनीयादिषु सुखानुभवनद्वारेण । (योगशा. स्वो. विव. २-१७)।

१ किसी एक ही कुतीर्थिक—मिथ्यादृष्टिप्रणीत—मत की अभिलाषा करना, अन्य मतों की नहीं, इसका नाम देशकांक्षा है ।

देशक्रम—युगपद्भाविनां देशप्रत्यासत्तिरूपो देशक्रमः । (न्यायकु. १-५, पृ. १५१)।

युगपत् उत्पन्न होने वाले पदार्थों की देश सम्बन्धी समीपता को देशक्रम कहते हैं ।

देशघातिस्पर्द्धक—१. स्वस्य ज्ञानादेर्गुणस्य देशं मतिज्ञानादिलक्षणं घातयन्तीत्येवं शीलानि देशघातीनि । (कर्मप्र. मलय. वृ. २-४४)। २. स्वघात्यज्ञानादेर्गुणस्य देशं मतिज्ञानादि लक्षणं घातयन्तीत्येवंशीलानि देशघातीनि । (पंचसं. संक्रम. मलय. वृ. ५२)। ३. विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाश्च देशघातिस्पर्द्धकानि । (धन. ध. स्वो. टी. २-४६, ४७)। ४. उक्तशेषा घातिकर्मप्रकृतयः पंचविंशतिर्देशघातिन्यः, तासां ज्ञानादिगुणैकदेशघातित्वात् । (कर्मप्र. यशो. वृ. १-१, पृ. ११)।

१ अपने ज्ञानादिगुणों के मतिज्ञानादिरूप देश का जो घात करते हैं वे देशघाती कहलाते हैं ।

देशचारित्र—अगारिणां गृहस्थानां देशतः एकदेशविरतिलक्षणम् (देशचारित्रम्) । (योगशा. स्वो. विव. १-४६)।

हिंसादि पापों से की जाने वाली एकदेशविरति का नाम देशचारित्र है, जो गृहस्थों के होता है ।

देशछन्दकथा—देशे मगधादौ छन्दो गम्यागम्यविभागो, यथा लाटदेशे मातुलभगिनी गम्या, अन्यत्रागम्येति । (स्थाना. अभय. वृ. २८३, पृ. २००)।

गम्य-अगम्य (भोग्याभोग्य) के विभाग का नाम छन्द है । मगधादि देश में गम्यागम्य—स्त्री के सेव्यासेव्य—की कथा करने को देशछन्दकथा कहते हैं । जैसे—लाट देश में मामा की बहन (पुत्री ?) भोग्य मानी जाती है, अन्य देश में नहीं ।

देशजिन— अवरे (अरहंत-सिद्धव्यदिरित्ता) आइरिय-उवज्झाय-साहू देसजिणा, तिव्वकसाइंदिय-मोहविजयादो । (धव. पु. ९, पृ. १०)।

आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीव्रकषाय, इन्द्रियों और मोह के जीत लेने से देशजिन कहलाते हैं ।

देशज्ञानावरणीय—देशम्—ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिकमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम् । (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०५)।

जो ज्ञान के देशभूत आभिनिबोधिक आदि को आच्छादित करता है उसे देशज्ञानावरणीय कहते हैं ।

देशत्यागी—देशस्य जन्मक्षेत्रादेस्त्यागो देशत्यागः, स यस्मिन्नविनये प्रभुगालीप्रदानादस्ति स देशत्यागी । (स्थाना. अभय. वृ. ३, ३, १८७)।

स्वामी को गाली देने आदि रूप जिस अविनय में जन्मक्षेत्रादि का त्याग होता है वह देशत्यागी नामक अविनयरूप मिथ्यात्वक्रिया है ।

देशना—१. छद्दव्व-णवपदत्थोवदेसो देसणा णाम । (धव. पु. ६, पृ. २०४)। २. दिश्यते परस्मै प्रतिपाद्यते इति देशना उपदेश्यमानो धर्मो धर्मोपदेशनं वा देशना । (अन. ध. स्वो. टी. १-५)।

१ छह द्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं । २ दिश्यते इति देशना अर्थात् जिस धर्म का दूसरे के लिए प्रतिपादन किया जाता है उस धर्म को अथवा उसके उपदेश को देशना कहा जाता है ।

देशनालब्धि—१. तीए देसणाए परिणदआइरियादीणमुवलंभो, देसिदत्थस्स गहण-धारण-विचारणसत्तीए समागमो अ देसणलद्धी णाम । (धव. पु. ६, पृ. २०४)। २. छद्दव्व-णवपयत्थोपदेसयरसूरिपहुदिलाहो जो । देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु ॥ (ल. सा. ६)। ३. यथार्थतत्त्वोपदेश-तदुपदेशकाचार्याद्युपलब्धिरुपदिष्टार्थग्रहण-धारणा-विचारणशक्तिर्वा दैशनिकी लब्धिः । (पंचसं. अमित. १-२८७, पृ. ३६; अन. ध. स्वो. टी. २, ४६-४७)। ४. ××× षड् द्रव्याणि जीव-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशानि, पञ्चास्तिकाया अत्रान्तर्भूताः । नव पदार्थाः जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पापानि, सप्ततत्त्वान्यत्रैवान्तर्भूतानि, तेषामुपदेशकराः आचार्योपाध्यायादयः, तेषां लाभो अस्तद्व-

नाप्राप्तिः चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थधारणलाभो वा स देशनालब्धिः। (ल. सा. टी. प्र. ६)।

१ देशना से परिणत—उसमें व्यापृत—आचार्य आदि की उपलब्धि तथा उपदेशित तत्त्व के ग्रहण, धारण एवं चिन्तन की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।

देशनिर्जरा—संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स। सव्वस्स वि होदि जगे XXX॥ मूला. ८-५५)।

चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण करने वाले सर्व संसारी जीवों के क्षयोपशम को प्राप्त हुए कर्म की जो निर्जरा होती है उसे देशनिर्जरा कहते हैं और वह सभी संसारी जीवों के होती है।

देशनेपथ्यकथा—देशे मगधादौ XXX नेपथ्यं स्त्री-पुरुषाणां वेषः स्वभाविको विभूषाप्रत्ययश्चेति। स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २८२)।

मगधादि देश में स्त्री-पुरुषों की स्वाभाविक वेशभूषा की चर्चा करने को देशनेपथ्यकथा कहते हैं।

देशपरिक्षेपी नैगम—देशो विशेषः परमाण्वादिगतस्तं परिक्षेप्तुं शीलमस्येति देशपरिक्षेपी, विशेषग्राहीत्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३५)।

देश से अभिप्राय परमाणु आदिगत विशेष का है, उसे ग्रहण करने वाले विशेषग्राही नैगमनय को देशपरिक्षेपी नैगमनय कहते हैं।

देशपार्श्वस्थ—१. सेज्जायरकुलनिस्सिय ठवणकुलपलोयणाभिहडे य। पुव्विं पच्छा संथव निइअग्गपिंडभोइपासत्थो। (व्यव. भा.३-२३०, पृ. १११)। २. नित्यपिण्डमग्रपिण्डं च यो भुंक्ते स देशतः पार्श्वस्थः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-२३०)।

२ नित्यपिण्ड और अग्रपिण्ड के खाने वाले साधु को देशपार्श्वस्थ कहते हैं।

देशप्रकृतिविपरिणामना—जासिं पयडीणं देसो णिज्जरिज्जदि अधट्ठिदिगलणाए सा देसपयडिविपरिणामणा णाम। (धव. पु. १५, पृ. २८३)।

अधःस्थितिगलन से जो प्रकृतियों का एक देश निर्जीर्ण होता है उसका नाम देशप्रकृतिविपरिणामना है।

देशप्रत्यक्ष—क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च॥ (पंचाध्या. ६९७); देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधि-मनःपर्ययं च यज्ज्ञानम्। देशं नोइन्द्रिय-मनउत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात्॥ (पंचाध्या. १, ६९९)।

अवधि और मनःपर्यय ज्ञान जो क्षायोपशमिक हैं वे ईषत् इन्द्रियरूप मन के आलम्बन से उत्पन्न होने के कारण देशप्रत्यक्ष कहलाते हैं। प्रकृत देशप्रत्यक्ष अप्रतिपाती होने से अविनश्वर और प्रतिपाती होने से विनश्वर भी है।

देशप्रत्यासत्तिकृत संयोगसम्बन्ध—देसपच्चासत्तिकओ णाम दोण्हं दव्वाणमवयवफासं काऊण जमच्छणं सो देसपच्चासत्तिकओ संजोगो। (धव. पु. १४, पृ. २७)।

दो द्रव्य परस्पर अवयवों का स्पर्श करके जो स्थित रहते हैं, इसे देशप्रत्यासत्तिकृत संयोग कहा जाता है।

देशयति—पंच य अणुव्वदाइं सत्त य सिक्खाउ देसजदिधम्मो। सव्वेण य देसेण य तेण जुदे होदि देसजदी॥ (भ. आ. २०६७)।

पांच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों को देशयतिधर्म कहा जाता है। इससे जो पूर्णतया अथवा एकदेशरूप से युक्त होता है उसे देशयति कहते हैं।

देशविकल्पकथा—देशे मगधादौ XXX विकल्पः—सस्यनिष्पत्तिः वप्र-कूपादि-देवकुल-भवनादिविशेषश्चेति, तत्कथा। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २८२)।

विकल्प का अर्थ धान्य की उत्पत्ति व कोट, कुआं, देवगृह और भवन आदि की विशेषता है। उनकी मगधादि देशविशेष की अपेक्षा चर्चा करना, यह देशविकल्पकथा कहलाती है।

देशविचिकित्सा—तत्थ देसवितिगिच्छा सोहणं साहूणं जइ पुण जीवाउलो न लोगो दिट्ठो होंतो तो सुट्ठुयरं होन्तंति एवमाइ देसवितिगिच्छा भण्णइ। (दशवै. चू. २, पृ. ६५)।

साधुओं को यदि जीवों से व्याप्त लोक न दिखता तो बहुत अच्छा होता, इस प्रकार के विचार करने को देशविचिकित्सा कहते हैं।

देशविधिकथा—देशे मगधादौ विधिः—विरचना भोजन-मणिभूमिकादीनाम्, भुज्यते वा यद्यत्र प्रथमतयेति देशविधिः, तत्कथा देशविधिकथा। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, २८२)।

विधि का सर्व भोजन व मणिमय भूमिका आदि की रचना है, यह देशविधि है। अथवा जो जहां प्रथमतया खाया जाता है। अभिप्राय यह है कि अमुक देश में अमुक प्रकार की भोजनपद्धति आदि है तथा अमुक देश के लोग पहले अमुक वस्तु को खाते हैं, इत्यादि प्रकार से विभिन्न देशों के भोजन आदि की विधि की कथा करने को देशविधिकथा कहते हैं।

देशविप्रकृष्ट—देशविप्रकृष्टा मुष्टिस्थादि द्रव्यम्। (धा. श्री. वसु. वृ, ५)।

मुट्ठी में स्थित आदि द्रव्य को देशविप्रकृष्ट कहते हैं।

देशविरत—देशो देशयति। १. दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य। बम्हारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देशविरदेदे॥ (चारित्रप्रा. २१; द्वादशानु. ६९; प्रा. पंचसं. १–१३६; गो. जी. ४७३)। २. सर्वासंयमप्रत्याख्यानस्यासमर्थः हिंसाद्येकदेशाद्विरतः स्थूलभूतप्राणातिपातादिपंचकाद् देशविरतः। (भ. आ. विजयो. २०६८)। ३. देशविरतस्तु पूर्वोक्तैस्त्रिभिः पदैः शुद्धः एकव्रतादियुक्तो यावदुत्कृष्टोऽनुमतिसेवको भवति। (पंचसं. स्वो. वृ. उपश. ३०)। ४. स्थूलहिंसादिपंचकान्मनोवाक्काय-कृतादिना व्यावृत्तो देशविरतः। (भ. आ. मूला. २०७८)। ५. एकव्रतविषयस्थूलसावद्ययोगादौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्जसावद्ययोगान्ते करणत्रय-योगत्रयविषयसर्वसावद्ययोगस्य, देशे विरतमस्यास्तीति देशविरतः। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ३)। ६. यस्तु देशतो विरतः स देशविरतः। (पंचसं. मलय. वृ. उपश. ३०, पृ. १६७)।

१ दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभक्तविरत, अब्रह्मविरत, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये ग्यारह देशविरत श्रावक माने गये हैं। २ सर्व असंयमभाव के छोड़ने में असमर्थ जो व्यक्ति हिंसादि पांच पापों के एकदेश से विरत होता है उसे स्थूल हिंसादि पांच पापों से देशविरत कहते हैं। ३ ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन इन तीन पदों से शुद्ध एक व्रत आदि—प्रथम प्रतिमा से लेकर—उत्कृष्ट अनुमतिसेवक तक देशविरत कहलाता है।

देशविरति—१. ग्रामादीनामवधृतपरिमाणः प्रदेशो देशः। ततो बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम्। (स. सि. ७–२१)। २. ग्रामादीनां अवधृतपरिमाणः प्रदेशो देशः। ग्राम-नगर-गृहापवरकादीनामवधृतपरिमाणानां प्रदेशो देशः इत्युच्यते। × × × विरमणं विरतिः, निवृत्तिरिति यावत्, देशाद् विरतिः देशविरतिः। (त. वा. ७, २१, ३–४)। ३. ग्रामादीनां प्रदेशस्य परिमाणकृतावधिः। बहिर्गतनिवृत्तिर्वा तद् देशविरतिर्व्रतम्॥ (ह. पु. ५८–१४४)। ४. ग्रामादीनामवधृतपरिमाणप्रदेशो देशः। × × × ततो विरतिर्व्रतम्। (त. श्लो. ७–२१)। ५. तत्रापि च परिमाणं ग्रामापण-भवन-पाटकादीनाम्। प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्॥ (पु. सि. १३९)। ६. मदीयस्य गृहान्तरस्य तडागस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशान्तरं न गमिष्यामीति तन्निवृत्तिर्देशविरतिः। (चा. सा. पृ. ९)। ७. देशावधिमपि कृत्वा यो नाक्रामति सदा पुनस्त्रेधा। देशविरतेर्द्वितीयं गुणव्रतं तस्य जायेत॥ (अमित. श्रा. ६–७८)। ८. यदि विज्ञानतः कृत्वा देशावधिमहर्निशम्। नोल्लङ्घ्यते पुनः पुंसां द्वितीयं तद् गुणव्रतम्॥ (सुभा. सं. ७९६)। ९. यद् देशस्यावधि कृत्वा गम्यते न दिवानिशम। ततः परं बुधैरुक्तं द्वितीयं तद् गुणव्रतम्॥ (प. प. १९–७७, पृ. २७४)। १०. वयभंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण। कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं॥ (वसु. श्रा. २१५)। ११. कृत्वा कालावधिं शक्त्या कियत्प्रदेशवर्जनम्। तद् देशविरतिर्नाम व्रतं द्वितीयकं विदुः॥ (भावसं. वाम. ४६०)। १२. गन्तव्यायामपि दिशि नियतदेशात् ग्राम-नदी-क्षेत्र-योजन-वन-गृह-कटकादिलक्षणात् परतो विरमणं देशविरतिव्रतम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१)। १३. इयन्तीं क्ष्मां गमिष्यामि कृतसंख्यां दिशं तथा। इत्युक्त्वा गम्यते यत्तत् द्वितीयं स्याद् गुणव्रतम्॥ (पू. उपासका. २९)।

१ ग्राम-नगरादि के जितने प्रदेश का प्रमाण निश्चित किया गया है उसका नाम देश है; उसके बाहिर गमन का परित्याग करना, इसे देशविरतिव्रत कहा जाता है।

देशविषय मिथ्यादृष्टिप्रशंसा—देशविषयं तु इदमेव बुद्धवचनं साङ्ख्य-कणादादिवचनं वा तत्त्वमिति। (योगशा. स्वो. विव. २–१७)।

यह बुद्ध का वचन, सांख्य का वचन अथवा कणाद

आदि का वचन ही तत्त्व (यथार्थ) है, इस प्रकार मिथ्यामत की प्रशंसा करना, यह देशविषयक मिथ्यादृष्टिप्रशंसा है।

देशव्यतिरेक—स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः। सोऽपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः॥ (पंचाध्या. १–१४७)।

जो एक देश है वह वही है, दूसरा नहीं है, और जो दूसरा देश है वह दूसरा ही है, अन्य नहीं है; इस प्रकार के व्यतिरेक को देशव्यतिरेक कहते हैं।

देशव्रत (एक गुणव्रत)—देखो देशविरतिव्रत। १. देशव्रतं नाम अपवरक-गृह-ग्रामसीमादिषु यथाशक्ति प्रविचाराय परिमाणाभिग्रहः। तत्परतश्च (सर्वभूतेष्वर्थतोऽनर्थतश्च) सर्वसावद्ययोगनिक्षेपः। (त. भा. ७–१६)। २. देशे भागेऽवस्थापनं प्रतिदिनं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति × × × दिक्परिमाणस्यैकदेशो देशस्तद्विषयं व्रतं देशनियमस्तच्च प्रयोजनापेक्षमेकादिदिक्कं सर्वदिक्कम्। (त. भा. हरि. वृ. ७–१६)।

१ अपवरक (गृह का एक भाग), गृह और ग्राम की सीमादिक में यथाशक्ति गमनादि के लिए—उसके नियमनार्थ—परिमाण का नियम करना, यह देशव्रत कहलाता है। कृत परिमाण के बाहिर प्रयोजन व उसके बिना भी समस्त प्राणियों में पूर्ण सावद्ययोग का परिहार हो जाता है, यह इस व्रत का फल है।

देशव्रत (पंचम गुणस्थान)—१. पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु। थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ॥ (गो. जी. ३०)। २. सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेशरागादिरहितस्वाभाविकसुखानुभूतिलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु एकादशनिलयेषु वर्तते स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावकः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ३. प्रत्याख्यानावरणकषायाणां सर्वघातिस्पर्धकोदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च देशघातिस्पर्धकोदयादुत्पन्नत्वाद् देशसंयमः क्षायोपशमिकः। (गो. जी. म. प्र. ३०)। ४. देशेन एकदेशेन त्रसवधनिवृत्त्याश्रयेण संयतो विरतो देशसंयतः। (गो. जी. जी. प्र. ३१)।

१ प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से पूर्ण संयम तो नहीं होता, पर स्तोक (देशतः) व्रत होता है, इसी से पांचवें गुणस्थानको देशविरत कहा जाता है।

देशव्रती—यश्च[प्र्या-]प्रत्याख्यानावरणसंज्ञिद्वितीयकषायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे प्रवृत्तोऽपि यथाशक्त्या त्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावकः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४५)।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने पर पृथिवी आदि पांच प्रकार के स्थावरों के घात में प्रवृत्त होता हुआ भी जो यथाशक्ति त्रस जीवों की हिंसा से विरत रहता है वह देशव्रती (पांचवें गुणस्थानवर्ती) श्रावक कहलाता है।

देशशंका—१. तत्थ देससंका जहा समाणे जीवत्ते कहमेस भविओ इमो अभविउ त्ति, ण पुण चितेइ जहा भावा हेउगेज्झा अहेउगेज्झा य, तत्थ हेउगेज्झा जहा जीवस्स अत्थित्तं एवमादी, अहेउगेज्झा जहा भविया अभविया य, (केवलि)नेयो भावोत्ति, एसा देससंका। (दशवै. चू. २, पृ. ९२)। २. देशशङ्का देशविषया यथा किमयमात्मासंख्येयप्रदेशात्मकः स्यादथ निःप्रदेशो निरवयवः स्यादिति। (श्रा. प्र. टी. ८७)। ३. देशशङ्का एकैकवस्तुधर्मगोचरा। (योगशा. स्वो. विव. २–१६)।

१ जीवत्व के समान होने पर यह भव्य है और यह अभव्य है, ऐसा क्यों; इस प्रकार की शंका देशशंका कही जाती है। वह यह विचार नहीं करता कि कुछ भाव हेतु से ग्राह्य हैं और कुछ बिना हेतु के, उनमें हेतुग्राह्य जैसे जीव के अस्तित्व आदि भाव। अहेतुग्राह्य जैसे भव्यत्व-अभव्यत्व, ये भाव केवलज्ञानगम्य हैं।

देशसत्य—१. ग्राम-नगर-राज-गण-पाखण्ड-जाति-कुलादिधर्माणामुपदेष्टृ यद्वचस्तद् देशसत्यम्। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. १, पृ. ११८; चा. सा. पृ. ९)। २. यद् ग्राम-नगराचार-राज-धर्मोपदेशकृत्। गणाश्रमपदोद्भासि देशसत्यं तु तन्मतम्॥ (ह. पु. १०–१०५)। ३. सर्वदेशैकवाग् देशसत्यमोदनपाकवाक्। यथा वृत्या वृतो ग्राम इति ग्रामादिवर्णनम्। (आचा. सा. ५–३३)।

१ ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति और कुल

आदि अर्थों के उपदेशक वचन को देशसत्य कहते हैं।

देशसंयम—देखो देशव्रत। १. देशविरते प्रत्याख्यानावरणकषायाणां सर्वघातिस्पर्धकोदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव हीनानुभागरूपतया परिणतानां सदवस्थालक्षणे उपशमे च देशघातिस्पर्धकोदयसहिते उत्पन्नं देशसंयमरूपचारित्रं क्षायोपशमिकम्। (गो. जी. म. प्र. ११)। २. देशसंयतापेक्षया प्रत्याख्यानावरणकषायाणाम् उदयागतदेशघातिस्पर्धकानन्तबहुभागानुभागोदयेन सहानुदयागतक्षीयमाणविवक्षितोदयनिषेकसर्वघातिस्पर्धकानन्तबहुभागानामुदयाभावलक्षणक्षये तेषामुपरितननिषेकाणां अनुदयप्राप्तानां सदवस्थालक्षणोपशमे च सति समुद्भूतत्वात् चारित्रमोहं प्रतीत्य देशसंयमः क्षायोपशमिकभावः। (गो. जी. जी. प्र. १३)।

१ प्रत्याख्यानावरण कषायों के सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावस्वरूप क्षय, हीन अनुभागरूप से परिणत उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और देशघातिस्पर्धकों का उदय होने पर देशविरत (पांचवें) गुणस्थान में देशसंयमरूप क्षायोपशमिक चारित्र होता है।

देशसंवर—शेषकाले (बादर-सूक्ष्मयोगनिरोधकालात् प्राक्) चरणप्रतिपत्तेरारभ्य देशसंवरपरिणतिभागात्मा भवति। ××× देशसंवरस्तु सामायिकादिचारित्रवतां सत्यपि परिस्पन्दवत्त्वे विदिततत्त्वानां संसारजलधेरुत्तरीतुमभिवाञ्छतां प्रधानसंवराभावेऽपि न्यस्तसमस्तप्रमादस्थानानां देशसंवरः समस्त्येवेति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–१)।

बादर व सूक्ष्म योगों के निरोध से पूर्व चारित्रप्राप्ति से लेकर आत्मा देशसंवर से युक्त हो जाता है। सामायिक आदि चारित्र वाले जीव यद्यपि परिस्पन्दन से युक्त होते हैं, फिर भी तत्त्वों के ज्ञाता होकर वे चूंकि संसार से पार होने के इच्छुक होते हैं, इसीलिए प्रधान संवर के न होने पर भी समस्त प्रमादस्थानों का उनके देशसंवर होता ही है।

देशस्नान — देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि। (दशवै. सू. हरि. वृ. ३२, पृ. ११६)।

अधिष्ठानप्रदेश की पवित्रता के अतिरिक्त आंखों के पलकों के धोने को भी देशस्नान कहा जाता है।

देशाख्यान — तदेकदेशदेशाद्रि-द्वीपाब्ध्यादिप्रपञ्चनम्। देशाख्यानम्। ××× ॥ (म. पु. ४–५)।

लोक के एकदेशभूत देश, पर्वत, द्वीप और समुद्रादि का विस्तारपूर्वक कथन करने को देशाख्यान कहते हैं।

देशाभिहृत— एकदेशादागतमोदनादिकं देशाभिघटकम्। (मूला. वृ. ६–१९)।

एक देश से आये हुये ओदन (भात) आदि भोज्य सामग्री के ग्रहण करने को देशाभिघट (देशाभिहृत) दोष कहते हैं।

देशामर्शक—जेणेदं सुत्तं देसामासयं, तेण उत्तासेसलक्खणाणि एदेण उत्ताणि। एदं देसामासियसुत्तं कुदो ? एगदेसपदुप्पायणेण एत्थतणसयलत्थस्स सूचयत्तादो। एदं देसामासियसुत्तं, तेणेदेण आमासियत्थेण अणामासियत्थो उच्चदे। (धव. पु. १, पृ. ८ का टिप्पण नं १)।

जो सूत्र आमृष्ट—स्पृष्ट या विवेचित—अर्थ के साथ उससे सम्बद्ध अन्य समस्त अर्थ का सूचक होता है उसे देशामर्शक कहते हैं।

देशावकाशिकव्रत—देखो देशविरति। १. देशावकाशिकं स्यात् कालपरिच्छेदनेन देशस्य। प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ (रत्नक. ९२)। २. दिसिव्वयगहियस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणं परिमाणकरणं देसावगासियं। (श्राव. ६–१०)। ३.[देशः]दिग्व्रतगृहीतदिक्परिमाणस्यैकदेशः अंशः, तस्मिन्नवकाशः—गमनादिचेष्टास्थानं देशावकाशिकस्तेन निर्वृत्तं देशावकाशिकम्। (श्राव. वृ. ६-१०, पृ. ८३५)। ४. पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणो विसंवरणं। इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं। वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोह-कामसमणट्ठं। सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥ (कार्तिके. ३६७–६८)। ५. देशेऽवकाशो देशावकाशः, तत्र भवं देशावकाशिकम्। इदमुक्तं भवति-पूर्वगृहीतस्य दिग्व्रतस्य योजनशतादिकस्य यत्प्रतिदिनं संक्षिप्ततरं योजन-गव्यूति-पत्तन-गृहमर्यादादिकं परिमाणं विधत्ते तद् देशावकाशिकमित्युच्यते। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ७, ७९, पृ. १८२)। ६. देशे विभागे प्राक्प्रतिपन्नदिग्व्रतस्य योजनशतादिपरिमाणरूपस्य अवकाशो गोचरो यस्य प्रतिदिनं प्रत्याख्येयतया तत्तथा। (ध. बि. मु. वृ. ३–१८)। ७. देशावकाशिक देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमवस्थानम्, सोऽस्यास्तीति

देशावकाशिकं शिक्षाव्रतम् । (रत्नक. टी. ४-२) । ८. दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपणं पुनः । दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते ॥ (योगशा. ३, ८४; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६४०); देशे दिग्व्रतगृहीतपरिमाणस्य विभागे अवकाशोऽवस्थानं देशावकाशः, सोऽत्रास्तीति देशावकाशिकम् । (योगशा. स्वो. विव. ३-८४) । ९. दिग्व्रतपरिमितदेशविभागे ऽवस्थानमस्ति मितसमयम् । यत्र निराहुर्देशावकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥ (सा. ध. ५-२५) । १०. दिग्व्रतादृतदेशस्य यत्संहारो गमस्य च । क्रियते सावधिः सीम्ना तत्स्याद् देशावकाशिकम् ॥ (धर्मसं. श्रा. ७-३४) ।

१ अणुव्रती श्रावक दिवसादिरूप काल के नियमपूर्वक जो प्रतिदिन दिग्व्रत में ग्रहण किये विशाल देश का संकोच किया करते हैं, इसे देशावकाशिकव्रत कहा जाता है । ५ दिग्व्रत में जो सौ योजनादि रूप दिशा का प्रमाण किया गया है उसमें प्रतिदिन संक्षेप करके एक योजन, कोश, ग्राम व गृह आदि का प्रमाण करना; यह देशावकाशिकव्रत कहलाता है ।

देशावधि—भवं प्रतीत्य यो जातो गुणं च प्राणिनामिह । देशावधिः स विज्ञेयो दृष्टिमोहाद् विपर्ययः ॥ (त. श्लो. १, ३२, ११३, पृ. २६७) ।

भव या गुण (क्षयोपशम) के आश्रय से जो जीवों के अवधिज्ञान होता है उसे देशावधि कहते हैं । वह दर्शनमोह के उदय से विपर्यय (विभंग) हुआ करता है ।

देशावधिमरण—यत्साम्प्रतमुदेत्यायुर्यथाभूतं तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद् देशावधिमरणम् । (भ. आ. विजयो. २५; भा. प्रा. टी ३२) ।

वर्तमान समय में जैसा आयुकर्म उदय में आ रहा है, उसी प्रकार का यदि एक देश रूप से बांधता है तो इसे देशावधिमरण कहते हैं ।

देशावरण—देशं ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम् । ××× मत्याद्यावरणं तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कट-कुट्यादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति । (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०५, पृ. ८१) ।

ज्ञान के देशभूत आभिनिबोध आदि को जो आच्छादित करता है उसे देशज्ञानावरण कहते हैं । जिस प्रकार मेघों से आच्छादित सूर्य की थोड़ी सी प्रभा दृष्टिगोचर होती है उसी प्रकार ज्ञानावरण से आच्छादित ज्ञान के देशभूत मतिज्ञान आदि प्रगट रहते हैं । ज्ञान के देशभूत मतिज्ञानादि को आवृत करने वाले मतिज्ञानावरणादि थोड़ी सी सूर्यप्रभा के आच्छादक कट व कुटी आदि के समान हैं ।

देशावसन्न—आवस्सय-सज्झाए पडिलेहणझाण-भिक्खभत्तट्ठं । आगमणे णिग्गमणे ठाणे य निसीयण-तुयट्टे ॥ आवस्सयाइयाइं न करेइ अहवा विहीणमहियाइं । गुरुवयणबलाय तहा भणिओ देसावसन्नोत्ति । (प्रव. सारो. १०७-८); यदैतान्यावश्यक-स्वाध्यायादीनि स्थानानि सर्वथा न करोत्यथवा हीनाधिकानि करोति प्रतिषिद्धकालकरणादिदोषदुष्टानि वा करोति तदा देशावसन्नो भवतीत्यर्थः । (प्रव. सारो. वृ. १०७-८) ।

जो प्रतिक्रमणादि आवश्यक, स्वाध्याय, प्रतिलेखन, भिक्षा (गोचरी), ध्यान, भोजन, आगमन, निर्गमन, स्थान (कायोत्सर्गादि में अवस्थान), निषीदन (बैठना) और त्वग्वर्तन (शयन); इन आवश्यक क्रियाओं को या तो सर्वथा ही नहीं करता है या हीनाधिक रूप में करता है, अथवा निषिद्ध काल में उन्हें करता है वह देशावसन्न (साधु) कहलाता है जो वन्दना के अयोग्य होता है ।

देशोपशमना—१. मूलुत्तरकम्माणं पगडिट्ठितिमादि होइ चउमेया । देसकरणेहिं देसं समेइ जं देससमणातो ॥ (पंचसं. उपश. ६५, पृ. २०६) । २. देशोपशमना करणकृता करणरहिता च । ×× × तत्र या करणरहिता तस्या व्याख्या नास्ति, तद्वेतृणामभावात् । सा च गिरिनदीपाषाणवृत्तादिभाववत् संसारस्थजीवानां करण-विशिष्टगुणाभ्यां विनापि वेदनानुभवनादिकारणैर्भवति । (पंचसं. स्वो. वृ. उपश. १); मूलोत्तरकर्माणि प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशभेदाच्चतुर्धा भवन्ति, देशकरणैः (आभ्यां) यथाप्रवृत्तापूर्वकरणसंज्ञैः (आभ्यां) देशं किञ्चिन्मात्रं प्रकृति-स्थित्यादीनां यत उपशामयति अतो देशोपशमना भण्यते । (पंचसं. स्वो. वृ. उपश. ६५, पृ. २०६) । ३. देशोपशमना द्विधा करणकृता करणरहिता च । ××× करणानि यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिसंज्ञानि, तैः कृता करणकृता ।

तद्विपरीता करणरहिता या संसारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्तादिसंभवत्यथाप्रवृत्तादिकरण-साध्यक्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरुपजायते। तस्याश्च सम्प्रत्यनुयोगो व्यवच्छिन्नः, तद्वेतृणामभावात्। (पंचसं. मलय. वृ. उपश. १); यत् यस्मात्कारणाद् देशभूताभ्यामेकदेशभूताभ्यां यथाप्रवृत्तापूर्वकरणसंज्ञिताभ्यां करणाभ्यां प्रकृतिस्थित्यादीनां देशमेकदेशं शमयत्युपशमयति, ततो देशोपशमनाभिधीयते। (पंचसं. मलय. वृ. उपश. ६५)।

१ देशकरणरूप अधःप्रवृत्त और अपूर्वकरण परिणामों के द्वारा जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अल्प मात्रा में उपशम किया जाता है उसे देशकरणोपशमना कहा जाता है।

देहू—देहोऽपि औदारिक-वैक्रियिकाहारकवर्गणागत-पुद्गलपिण्डः, कर-चरण-शिरोग्रीवाद्यवयवैः परिणतो वा। (मूला. वृ. १२–२)।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक वर्गणाओं के पुद्गलपिण्ड को देह कहते हैं। अथवा हाथ, पैर, शिर और ग्रीवा आदि अवयवस्वरूप से परिणत पुद्गलपिण्ड को देह कहा जाता है।

दैव—१. योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्। (अष्टश. ८८)। २. जमुदग्गं वेवेणं कम्मं परिणमइ इह पयासेण। तं दइवं ××× ॥ (उपदे. प. ३५०); बहुकम्मणिमित्तो पुण अज्भवसाओ उ दइवो त्ति ॥ (उपदे. प. ३५१)। ३. यदुदग्रमुत्कटरसतया प्राक् समुपार्जितं स्तोकेनापि कालेन परिमितेन कर्म सद्वेद्यादि परिणमति फलदानं प्रति प्रह्वीभवति इह जने प्रयासेन राजसेवादिना पुरुषकारेण, तद् दैवं लोके समुद्घुष्यते। (उपदे. प. मु. वृ. ३५०); अथवा ××× बहु प्रभूतं पुरुषकारमाश्रित्य कर्म निमित्तं यत्र स पुनरध्यवसाय इह नवोऽल्पार्थत्वादल्पो व्यवसायः पुनर्दैवमिति। यत्र हि कार्यसिद्धावल्पः कर्मणो भावो बहुश्च पुरुषप्रयासस्तत्कार्यं पुरुषकारसाध्यमुच्यते। यत्र पुनरेतद्विपर्ययस्तत् कर्मकृतमिति। (उपदे. प. मु. वृ. ३५१)।

१ योग्यता अथवा पूर्व कर्म को दैव कहते हैं, जिन्हें अदृष्ट कहा जाता है। २ पूर्वोपार्जित कर्म जो परिमित समय में ही तीव्र अनुभागस्वरूप से सातावेदनीय आदिरूप परिणत होता हुआ फल देने के उन्मुख होता है, इसका नाम दैव है। अथवा पुरुषार्थ की अपेक्षा जिस अध्यवसाय में बहुत कर्म निमित्त होता है उसे दैव कहा जाता है।

दैवकृत—अतर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतम्। (अष्टश. ९१)।

अतर्कित—बिना किसी प्रकार के विचारादि के—जो अनुकूल या प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है वह दैवकृत कहलाती है।

दैवविवाह—१. स दैवो विवाहो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा। (नीतिवा. ३१, ५, पृ. ३७४; ध. बि. मु. वृ. १–१२; योगशा. स्वो. विव. १–४७, पृ. १४७)। २. तथा च गुरुः—कृत्वा यज्ञविधानं तु यो ददाति च ऋत्विजः। समाप्तौ दक्षिणां कन्यां दैवं वैवाहिकं हि तत् ॥ (नीतिवा. टी. ३१–५)।

यज्ञ करके उसके समाप्त होने पर याज्ञिक के द्वारा ब्राह्मण को दक्षिणा के रूप में कन्या के देने को दैव विवाह कहते हैं।

दैवसिक—दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिणामो वा दैवसिकः। (आव. हरि. वृ. ४, पृ. ५७१)।

दिन के आश्रय से या दिन प्रमाण जो प्रतिचार किया जाता है वह दैवसिक कहलाता है।

दोग्रन्थिकप्राभृत (दोगंथियपाहुड)—परमाणंदाणंदमेत्तीणं 'दोगंथिय' इत्ति ववएसो। तेसिं कारणदव्वाणं पि उवयारेण 'दोगंथिय' ववएसो। तत्थ[परमाणंद-] आणंदमेत्तीणं पट्ठवणाणुववत्तीदो तण्णिमित्तदव्वपट्ठवणं दोगंथियपाहुडं। (जयध. पु. १, पृ. ३२४)।

परमानन्द और आनन्द मात्र का नाम दोग्रन्थिक है। उनमें चूंकि परमानन्द और आनन्द मात्र का प्रस्थापन (प्रेषण) घटित होता नहीं है, अतएव उनके निमित्तभूत द्रव्यों के प्रस्थापन को दोग्रन्थिकप्राभृत कहा जाता है। यह नोआगम की अपेक्षा प्रशस्त भावप्राभृत माना गया है।

दोलायित—१. दोलायितं दोलामिवात्मानं चलाचलं कृत्वा शयित्वा वा यो विदधाति वन्दनां तस्य दोलायितदोषः। (मूला. वृ. ७–१०६)। २. दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोऽथवा। (अन. ध. ८–९९)।

१ हिचकी के समान अपने को चल-अचल करके अथवा बैठ कर वन्दना करने पर दोलायित दोष का भागी होता है। २ अथवा अस्थिर प्रत्यय—स्तुत्य, स्तुति एवं उसके फल विषयक सन्देह—का नाम दोलायित दोष जानना चाहिए।

दोष—१. अज्ञानादिर्दोषः स्व-परपरिणामहेतुः। (अष्टश. ४)। २. दोषः अज्ञानादि, × × × अथवा मोहान्तराया दोषाः। (आ. मी. वसु. वृ. ४)।

१ स्व-परपरिणाम जनित अज्ञान आदि दोष कहलाते हैं।

दोष (वन्दनादोष)—जह वेलंबगलिंगं जाणंतस्स नमओ हवइ दोसो। निद्धंधसमिय नाऊण वंदमाणे धुवो दोसो॥ (आव. नि. ११३७)।

विदूषक आदि विडम्बकों के द्वारा धारण किये गये साधु के वेष को जानते हुए भी नमस्कार करना तथा इसी प्रकार निर्लज्ज पार्श्वस्थ आदि को भी जानते हुए वन्दना करना, यह वन्दना का दोष है।

दोषज दुःख—दोषजं वात-पित्त-कफवैषम्यसम्भूतम्। (नीतिवा. ६–२१, पृ. ७३)।

वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न होने वाले दुख को दोषज दुःख कहते हैं।

द्युति—१. शरीर-वसनाभरणादिदीप्तिः द्युतिः। (स. सि. ४–२०; त. वा. ४, २०, ४; त. श्लो. ४–२०)। २. द्युतिः शरीराभरणादिदीप्तिः। (औपपा. अभय. वृ. ३८, पृ. ८७)। ३. द्युतिः शरीराभरणादिप्रभा। (ध. बि. ७–८, पृ. ८७)। ४. शरीर-वस्त्राभरणादीनां द्युतिर्दीप्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–२०)।

१ शरीर, वस्त्र और आभूषण आदि की दीप्ति को द्युति कहते हैं।

द्यूत—अक्षपाशादिनिक्षिप्तं वित्ताज्जय-पराजयम्। क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम्॥ (लाटीसं. २–११४)।

जिस क्रिया में चौसर के पांसे आदि पर निक्षिप्त धन से जय-पराजय होता है उसे द्यूत कहते हैं।

द्रव—रात्रिचतुःप्रहरैः प्रक्लिन्नमोदनो द्रव उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३५)।

रात्रि के चार प्रहरों में पकाये गये भात को द्रव कहा जाता है।

द्रवशील—धावइ दुयं दुयं गच्छए य दरिओ व्व गोविसो सरए। सव्वद्दुय-दुयकारी फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं॥ (बृहत्क. १२९९)।

जो शरद् ऋतु के अभिमानी बैल के समान अतिशय शीघ्रतापूर्वक बिना सोचे-विचारे दौड़ता है व जाता है, जो सभी क्रियाओं को बिना विचारे अतिशय शीघ्रता से करता है, तथा जो तीव्र अभिमान से स्थित भी रहता है, उसे द्रवशील कहा जाता है।

द्रविक—द्रविका नाम राग-द्वेषविनिर्मुक्ता, द्रवः संयमः सप्तदशविधानः कर्मकाठिन्यद्रवणकारित्वात्—विलयहेतुत्वात्, स येषां विद्यते ते द्रविकाः। (आचारा. शी. वृ. १, ७, ५८, पृ. ७०)।

कर्म की कठिनता को विलीन करने के कारण सत्तरह प्रकार के संयम को द्रव कहा जाता है। इस द्रव के धारक—राग-द्वेष से रहित—जीवों का नाम द्रविक है।

द्रव्य—१. अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वय-धुवत्तसंबद्धं। गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्व त्ति वुच्चंति॥ (प्रव. सा. २–३)। २. दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं। दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो॥ दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वय-धुवत्तसंजुत्तं। गुण-पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥ (पंचा. का. ९–१०)। ३. सद् द्रव्यलक्षणम्। (त. सू. ५–२९); गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्। (त. सू. ५, ३८)। ४. गुणैर्द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्। (स. सि. १–५)। ५. तदुभयं (गुण-पर्यायाः) यत्र विद्यते तद् द्रव्यम्। गुण-पर्याया अस्य सन्त्यस्मिन् वा सन्तीति गुण-पर्ययवत्। (त. भा. ५–३७)। ६. नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः। अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा॥ (आ. मी. १०७)। ७. गुणाणमासओ दव्वं। (उत्तरा. २८, ६)। ८. दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि। उप्पाय-ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं॥ (सम्मति. १२)। ९. श्रूयते द्रव्यात्न पर्याया द्रव्यं वा पर्ययैर्विना। स्थित्युत्पत्तिनिरोधोऽयं द्रव्यलक्षणमुच्यते॥ (वरांग. २६–५५)। १०. द्रोष्यते गम्यते गुणैर्द्रोष्यति गमिष्यति गुणानिति वा द्रव्यम्। × × × अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्—यद्भाविपरिणामप्राप्ति प्रति योग्य-

तस्मादवार्थं तद् द्रव्यमित्युच्यते । (त. वा. १, ५, ३); द्रवति पर्यायानर्थते वा तैरित्यर्थो द्रव्यम् । (त. वा. १, १७, १); स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यम् । (त. वा. १, २६, १); स्व-पर-प्रत्ययोत्पाद-विगमपर्यायैः द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि । (त. वा. ५, २, १) । ११. ××× द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥ ××× निश्चयात्मकम् ××× । (लघीय. ६६–६७) । १२. यद्रवद् द्रवति द्रोष्यत्येकानेकं स्वपर्ययम् । (न्यायवि. ११४) । १३. तदेकान्तानां विपक्षोपेक्षालक्षणानां त्रिकालविषयाणां समितिर्द्रव्यम् । (अष्टश. १०७) । १४. द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति वा द्रव्यम् । (लघीय. स्वो. वृ. २–३०) । १५. अनादिनिधनं द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम् । स्वतोऽन्यतो विवर्तेत क्रमाद्धेतु-फलात्मना ॥ (सिद्धिवि. ३–१६, पृ. २१०, पं. ८–६) । १६. गुण-पर्ययवद् द्रव्यम् ××× । (न्यायवि. १–११५; प्रमाणसं. स्वो. वृ. ५६) । १७. द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् । (धव. पु. १, पृ. ८३); द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् पर्यायानिति द्रव्यम् । अथवा द्रूयते द्रोष्यते अद्रावि पर्याय इति द्रव्यम् । (धव. पु. ३, पृ. २); 'उप्पाद-ट्ठिदि-भंगा हुंदि दवियलक्खणं' इच्चारिसादो त्ति । (धव. पु. ४, पृ. ३३६); स्वकासाधारणलक्षणापरित्यागेन द्रव्यान्तरासाधारणलक्षणपरिहारेण द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् । (धव. पु. १५, पृ. ३३) । १८. द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान्, द्रूयते गम्यते तैस्तैः पर्यायैरिति वा द्रव्यम् । (जयध. १, पृ. २११); तिकालगोयराणंतपज्जयाणं समुच्चओ अजहउत्तिलक्खणो धम्मी, तं चेव दव्वं । (जयध. १, पृ. २८६) । १९. द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम् । ××× द्रव्यलक्षणं चेवम्—भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥ (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८ उद्.; आव. मलय. वृ. पृ. ६उद्.) । २०. स्व-परप्रत्ययोत्पाद-विगमपर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानीति द्रव्याणि । (त. श्लो. ५, २) । २१. द्रव्यस्य लक्षणं गुण-पर्ययवत्त्वम् । (अष्टस. ७१, पृ. २२८); ततः सूक्तम्—त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति (अष्टस. १०७, पृ. २६०) । २२. समुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः । गुण-पर्ययवद् द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः ॥ (त. सा. ५–१२१) । २३. द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण व्याप्नोति तांस्तान् क्रमभुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यनुगतार्थया निरुक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ६); सद्द्रव्यलक्षणमुक्तलक्षणायाः सत्ताया अविशेषाद् द्रव्यस्य सत्स्वरूपमेव लक्षणम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. १०); द्रव्यं हि गुणानां समुदायः । (पंचा. का. अमृत. वृ. ४४) । २४. निज-निजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्यास्वभाव - विभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् । (आलापप., पृ. १४०) । २५. दवदि दविस्सदि दविदं जं सब्भावेहिं विविहपज्जाए । (द्रव्यस्व. ३६) । २६. द्रूयते गुण-पर्यायैर्यद्यद् द्रवति तानथ । तद् द्रव्यं ××× ॥ (योगशा. २–५) । २७. द्रव्यं पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यम् ऊर्ध्वतःसामान्यम् । (न्यायकु. १–५, पृ. ११७) । २८. यत्र सद्भिराधीयमाना गुणा संक्रामन्ति तद् द्रव्यम् । (नीतिवा. ५–४१, पृ. ५७) । २९. शुद्धगुण-पर्यायाधारभूतं शुद्धात्मद्रव्यं द्रव्यम् । (प्रव. सा. जय. वृ. २–२३) । ३०. अवस्थान्तरं द्रवति गच्छतीति द्रव्यम् । आ. मी. वसु. वृ. १०) । ३१. स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मा द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत । स्वपर्यायानिति द्रव्यमर्थस्तान् तान् विवक्षितान् ॥ गुणपर्ययवद्द्रव्यं स्याद् ××× ॥ (आचा. सा. ३, ७–८) । ३२. तत्र द्रव्यमन्वयिरूपम् । (धर्मसं. मलय. वृ. पृ. ३३८); अन्वयिरूपमिह द्रव्यमुच्यते । (धर्मसं. मलय. वृ., पृ. ३४१) । ३३. द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवदिति द्रव्यम् । (लघीय. अभय. वृ., पृ. ६५) । ३४. द्रूयन्ते गम्यन्ते प्राप्यन्ते यथास्वं यथायथं यथात्मीयं पर्यायैर्यानि तानि द्रव्याणि, द्रवन्ति वा पर्यायैः प्रवर्तन्ते यानि तानि द्रव्याणि । (त. वृत्ति श्रुत. ५–२) । ३५. गुण-पर्ययवद् द्रव्यं लक्षणमेतत् सुसिद्धमविरुद्धम् । गुण-पर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥ गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताऽप्युशन्ति बुधाः । समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥ (पंचाध्या. १, ७२–७३) । ३६. गुण-पर्ययवद् द्रव्यं विगमोत्पाद-ध्रुवत्ववच्चापि । सल्लक्षणमिति

न स्याद् द्राव्यामेवैन वस्तु लक्ष्येद्दा ॥ (अध्यात्मक. २–५)।

१ जो अपने स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सम्बद्ध रहकर गुण और पर्याय से सहित होता है, उसे द्रव्य कहते हैं। ६ नय और उपनय के जो त्रिकालविषयक एकान्त हैं उनके समुदाय का नाम द्रव्य है, इसे वस्तु भी कहा जाता है। ७ जो गुणों का आश्रय होता है उसे द्रव्य कहा जाता है।

द्रव्यकरण—१. द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यनिमित्तं वा करणम्—अनुष्ठानं द्रव्यकरणम्। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १, ५, सू. ३)। २. द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्ये वा करणं द्रव्यकरणमिति। (आव. भा. मलय. वृ. १५३, पृ. ५५८)।

१ द्रव्य का द्रव्य के द्वारा या द्रव्य के निमित्त अनुष्ठान करने को द्रव्यकरण कहते हैं।

द्रव्यकर्म—१. जाणि दव्वाणि सब्भावकिरियाणिप्फण्णाणि तं सव्वं दव्वकम्मं णाम। (षट्खं. ५, ४, १५—धव. पु. १३, पृ. ४३)। २. पोग्गलपिंडो दव्वं (कम्मं) × × × ॥ (गो. क. ६)।

१ जो द्रव्य स्वभावतः सद्भावक्रिया से निष्पन्न हैं, इस सबको द्रव्यकर्म कहा जाता है। जीव का जो ज्ञान-दर्शनस्वरूप से परिणमन है, यह जीवद्रव्य की सद्भावक्रिया है, पुद्गल का जो वर्ण-रसादिरूप परिणमन है, यह पुद्गलद्रव्य की सद्भावक्रिया है। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों की भी सद्भावक्रिया जानना चाहिए। २ द्रव्य और भाव के भेद से कर्म दो प्रकार का है। उनमें ज्ञानावरणादि रूप से परिणत पुद्गल पिण्ड को द्रव्यकर्म कहा जाता है।

द्रव्यकाय—द्रव्यकायो ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तः, शरीरत्वयोग्या अगृहीतास्तत्स्वामिना वा जीवेन मुक्ता यावत् तं परिणामं न मुञ्चन्ति तावद् द्रव्यकायः। (आव. सू. १, मलय. वृ. पृ. ५५७)।

ज्ञायकशरीर और भव्यशरीर से व्यतिरिक्त द्रव्यकाय कहलाता है। शरीर के योग्य अगृहीत अथवा उसके स्वामी जीव के द्वारा छोड़े गये पुद्गलस्कन्ध जब तक उस परिणाम (अवस्था) को नहीं छोड़ते हैं तब तक उन्हें द्रव्यकाय कहा जाता है।

द्रव्यकायोत्सर्ग—१. कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं वा द्रव्यकायोत्सर्गः। (मूला. वृ. ७–१५१)। २. कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भाविजीवस्तद्व्यतिरिक्तो वा द्रव्यकायोत्सर्गः। (अन. ध. स्वो. टी. ८–७०)।

ज्ञायकद्रव्यसेवनद्वारेणागतातीचारनिर्हरणाय कायोत्सर्गः,

१ जो कायोत्सर्ग के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता हो करके वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है ऐसे जीव को, अथवा उसके शरीर को द्रव्यकायोत्सर्ग कहते हैं।

द्रव्यकारक—द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. ४)।

द्रव्य के, द्रव्य के द्वारा अथवा द्रव्यस्वरूप कारक को द्रव्यकारक कहते हैं।

द्रव्यकाल—१. चेयणमचेयणस्स व दव्वस्स ठिइ उ जा चउविगप्पा। सा होइ दव्वकालो अहवा दवियं तु तं चेव ॥ (आव. नि. ६६१)। २. दव्वस्स वत्तणा जा स दव्वकालो तदेव वा दव्वं। न हि वत्तणाविभिण्णं जम्हा दव्वं जओऽभिहियं ॥ सुत्ते जीवाजीवा समयाऽऽवलियादओ पवुच्चंति। दव्वं पुण सामन्नं भण्णइ दव्वट्ठयामेत्तं ॥ (विशेषा. २५२८–२९)। ३. वर्तनादिलक्षणो द्रव्यकालः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६०, पृ. २२७)। ४. 'द्रव्य' इति वर्तनादिलक्षणो वाच्यः × × ×। तत्र चेतनस्य सुरादेर्द्रव्यस्य अचेतनस्य स्कन्धादेर्द्रव्यस्य या स्थितिः—या अवस्था चतुर्विकल्पा—चतुर्भङ्गा—सा द्रव्यकालो भवति, द्रव्यस्य कालो द्रव्यकाल इति षष्ठीतत्पुरुषो भेदे, अथवा तदेव सुरादिद्रव्यं काल उच्यते, पर्याय-पर्यायिणोरभेदोपचारात्। × × × द्रवतीति द्रव्यम्, तस्य द्रव्यस्य या वर्तना दव्वकालो—सा द्रव्यकालो भण्यते। वा—अथवा तदेव द्रव्यं कालो द्रव्यकाल इति कर्मधारयः समासः। × × × जीवाजीवाः समयादयोऽभिधीयन्ते, जीवादयः काल उच्यते इत्यर्थस्तस्माद् द्रव्यमेव कालो द्रव्यकाल इति। (विशेषा. भा. को. वृ. २५२८–२९, पृ. ६०६–७)।

१ चेतन-अचेतन द्रव्य की जो चार भंग (सादि-सपर्यवसान, सादि-अपर्यवसान, अनादि-अपर्यवसान व अनादि-सपर्यवसान) रूप स्थिति है, उसे द्रव्यकाल (द्रव्य का काल) कहा जाता है।

द्रव्यक्रीत—सचित्तं गो-बलीवर्दादिकं दत्त्वा संयतार्थं क्रीतम्, अचित्तं वा घृत-गुड-खण्डादिकं दत्त्वा क्रीतं (वेश्म) द्रव्यक्रीतम् । (भ. आ. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४६) ।

सचित्त गाय-बैल आदि को देकर अथवा अचित्त घी, गुड़ एवं खांड आदि को देकर ग्रहण की गई वसतिका द्रव्यक्रीत नामक उद्गम दोष से दूषित होती है ।

द्रव्यक्रोध—दव्वकोहो णाम भावकोधुप्पत्तिणिमित्तं दव्वं । (धव. पु. ७, पृ. ८२) ।

भावक्रोध की उत्पत्ति के कारणभूत द्रव्य को द्रव्यक्रोध कहते हैं ।

द्रव्यगत पिण्डदोष—द्रव्यमुद्गमादिदोषसहितमप्यधःकर्मणा युक्तं द्रव्यगतमित्युच्यते । (मूला. वृ. ६-६६) ।

उद्गमादि दोषसहित भी अधःकर्म से युक्त भोज्य-पदार्थ द्रव्यगत पिण्डदोष (आहारदोष) से दूषित होता है ।

द्रव्यगत स्वभाव—बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः । (बृहत्स्व. स्तो. ६०) ।

कार्यों के विषय में अन्तरंग और बहिरंग कारणों की पूर्णता को द्रव्यगत स्वभाव कहा जाता है ।

द्रव्यचतुर्विंशति—द्रव्यचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्द्रव्याणि, सचित्ताचित्त-मिश्रभेदभिन्नानि । (आव. भा. मलय. वृ. १६२, पृ. ५८६) ।

सचित्त, अचित्त और मिश्ररूप चौबीस द्रव्यों को द्रव्यचतुर्विंशति कहते हैं ।

द्रव्यचारित्र—द्रव्यचारित्रमभव्यस्य भव्यस्य वाऽनुपयुक्तस्य । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५) ।

अभव्य अथवा भव्य के उपयोग से रहित चारित्र को द्रव्यचारित्र कहा जाता है ।

द्रव्यच्छेदना—दवियं णाम उप्पाद-ट्ठिदि-भंगलक्खणं तं पि छेदणा होदि, दव्वादो दव्वंतरस्स परिच्छेददंसणादो । (धव. पु. १४, पृ. ४३५) ।

द्रव्य का लक्षण उत्पाद, स्थिति और भंग (व्यय) है । इस प्रकार का द्रव्य भी छेदनारूप है, क्योंकि एक द्रव्य (कुडव—धान्य के मापने का एक माप) से दूसरे द्रव्य (धान्य) का छेद—प्रमाण का ज्ञान होता देखा जाता है ।

द्रव्यजिन—१. पणुहसहचारपज्जाएण तीदाणागय-वट्टमाणमणुआणं पणुहववएसो व्व जिणाहारपज्जाएण तीदाणागय-वट्टमाणसरीराणं दव्वजिणत्तं पडिविरोहाभावादो (जिणाहारपज्जाएण तीदाणागद-वट्टमाणसरीरा दव्वजिणा) । (धव. पु. ६, पृ. ७) । २. दव्वजिणा जिणजीवा × × × ॥ (चैत्यवन्दनक भा. दे. गा. ५१) ।

१ जिनकी आधारभूत पर्याय के आश्रय से अतीत, अनागत और वर्तमान शरीर को द्रव्यजिन कहा जाता है । २ जिन जीवों—तीर्थंकरों (समवसरणस्थ तीर्थंकर को छोड़कर)—को द्रव्यजिन कहते हैं ।

द्रव्यजीव—१. यथेन्द्रार्थमानीतं काष्ठमिन्द्रप्रतिमा-पर्यायप्राप्ति प्रत्यभिमुखम् इन्द्रः इत्युच्यते तथा जीव-सम्यग्दर्शनपर्यायप्राप्ति प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं द्रव्यजीवो द्रव्यसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते । (त. वा. १, ५, ४) । २. द्रव्यं तद्गुणवियुक्तः । × × × विवक्षया ज्ञानादिगुणवियुक्तत्वं द्रव्यजीवः । (त. भा. हरि. वृ. १-५) । ३. द्रव्यजीवो नाम योऽयमस्मिन् शरीर आत्मा स यदा भावैर्ज्ञानादिभिर्वियुतो विवक्ष्यते स द्रव्यजीवः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५) ।

१ जीवनपर्याय (मनुष्यादिविशेषरूप) की प्राप्ति के प्रति अभिमुख द्रव्य को द्रव्यजीव और सम्यग्दर्शनपर्याय की प्राप्ति के अभिमुख द्रव्य को द्रव्य-सम्यग्दर्शन कहा जाता है । २ विवक्षावश ज्ञानादिगुणों की वियुक्तता का नाम द्रव्यजीव है ।

द्रव्यज्ञान—तथा द्रव्यज्ञानमनुपयुक्ततावस्था । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५) ।

ज्ञान की उपयोग रहित अवस्था को द्रव्यज्ञान कहते हैं ।

द्रव्यतः इन्द्रियविवेक—१. रूपादिविषये चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तनम् इदं पश्यामि शृणोमि वा, तथा तस्या निविडकुचतटं पश्यामि, नितम्बरोमराजिं वा विलोकयामि, पृथुतरं जघनं स्पृशामि, कलं गीतं सावधानं शृणोमि, मुख-कमल-परिमलं जिघ्रामि, बिम्बाधरमास्वादयामि इति वचनानुच्चारणं वा द्रव्यतः इन्द्रियविवेकः । (भ. आ. विजयो., पृ. १६८) । २. रूपादिषु चक्षुरादीनां रागेण द्वेषेण वा अप्रवर्तनमिदं पश्यामीत्यादिरूपेणान्तर्विकल्पेन वाग्व्यापारेण वा द्रव्यतः इन्द्रियविवेकः । (भ. आ. मूला., पृ. १६८) ।

१ रूप-रसादिरूप इन्द्रिय विषयों में आदर (राग) से अथवा क्रोध (द्वेष) के वश प्रवृत्त न होना, इसे द्रव्यतः इन्द्रियविवेक कहते हैं अथवा इसे देखता हूं, उसे सुनता हूं, उस स्त्री के कुचों को देखता हूं, अथवा नितम्बगत रोमपंक्ति को देखता हूं, इत्यादि रूप से वचन का उच्चारण न करना; इसे द्रव्यतः इन्द्रियविवेक जानना चाहिए।

द्रव्यतः क्रमोत्तर—तत्र द्रव्यतः परमाणोर्द्विप्रदेशिकः ततोऽपि त्रिप्रदेशिकः एवं यावदन्तोऽनन्तप्रदेशिकः स्कन्धः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १-१, पृ. ४)।

परमाणु की अपेक्षा द्विप्रदेशी स्कन्ध, उसकी अपेक्षा त्रिप्रदेशी स्कन्ध, इस प्रकार अन्तिम अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक उत्तरोत्तर बढ़ते हुए स्कन्धों को द्रव्यतः क्रमोत्तर कहते हैं।

द्रव्यतः लोभविवेक—द्रव्यतो लोभविवेको यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य कराप्रसारणादिकः कायेन, ममेदमित्याद्यवचनं वाचा। (भ. आ. मूला., १६८)।

जिस वस्तु के विषय में इसे लोभ है उसको लक्ष्य बनाकर हाथ फैलाने आदिरूप काय से प्रवृत्ति नहीं करना तथा 'यह मेरा है' इत्यादि प्रकार से वचन का उच्चारण न करना, उसे द्रव्यतः लोभविवेक कहा जाता है।

द्रव्यतः न भावतः (हिंसा)—या पुनर्द्रव्यतो न भावतः सा खल्वीर्यादिसमितस्य साधोः कारणे गच्छत इति। उक्तं च—उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए। वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्जा॥ न य तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए। अणवज्जो उपओगेण सव्वभावेण सो जम्हा॥ [?] जम्हा सो अपमत्तो सा य पमाओ त्ति निद्दिट्ठा॥ (दशवै. नि. हरि. वृ. ४५)।

ईर्यासमिति से युक्त साधु जब कारणवश कहीं अन्यत्र जाता है तब वह पैरों को जो उठाता धरता है उसके आश्रय से द्वीन्द्रिय आदि क्षुद्र प्राणियों का मरण सम्भव है, फिर भी उसके आश्रय से उसे सूक्ष्म बन्ध भी आगम में नहीं कहा गया, कारण इसका यह है कि वह प्रमाद से रहित है, अर्थात् जीवरक्षा में सावधान है, और प्राणिहिंसा जो होती है वह प्रमाद से ही हुआ करती है। इस प्रकार उक्त साधु के द्वारा जीवहिंसा (द्रव्यतः) के होने पर भी वैसा भाव न होने से वस्तुतः (भावतः) हिंसा नहीं है। यही द्रव्यतः न भावतः हिंसा कहलाती है।

द्रव्यतीर्थ—१. दाहोपसमणं तण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव। तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं॥ (मूला. ७-६२)। २. द्रव्यतीर्थं तीर्थकृतां जन्म-दीक्षा-ज्ञान-निर्वाण-स्थानम्। यदाह—जम्मं दिक्खा णाणं तित्थयराणं महाणुभावाणं। जत्थ य किर निव्वाणं आगाढं दंसणं होई॥ (योगशा. स्वो. विव. २-१६)।

१ सन्ताप की शान्ति, तृष्णा का विनाश और मलरूप कीचड़ का दूर करना; इन तीन कारणों से जो युक्त है—उनका कारण है—उसे द्रव्यतीर्थ कहते हैं। २ तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण स्थानों को द्रव्यतीर्थ कहा जाता है।

द्रव्यदिक्—तेरसपएसियं खलु तावइएसुं भवे पएसेसुं। जं दव्वं ओगाढं जहण्णयं तं दसदिसागं॥ (आचारा. नि. ४१, पृ. १२)।

आगम और नोआगम के भेद से द्रव्यदिक् दो प्रकार की है। उनमें दिशानिरूपक आगम का ज्ञाता होकर जो जीव वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित है उसे आगम द्रव्यदिक् कहते हैं। ज्ञायकशरीर और भव्यशरीर से भिन्न जो तेरह प्रदेशी द्रव्य तेरह प्रदेशवाले क्षेत्र में स्थित है वह नोआगम की अपेक्षा द्रव्यदिक् कहलाती है। वह दस दिशाओं का विभाग करनेवाली है।

द्रव्यद्रव्य—१. द्रव्यद्रव्यं नाम गुण-पर्यायवियुक्तं प्रज्ञास्थापितं धर्मादीनामन्यतमत्। केचिदप्याहुः—यद् द्रव्यतो द्रव्यं भवति तच्च पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रत्येतव्यम्। अणवः स्कन्धाश्च, सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्त इति वक्ष्यामः। (त. भा. १-५)। २. द्रव्यद्रव्यमिति उभाभ्यां द्रव्यशब्दाभ्यां गुणादिभ्यो निष्कृष्य द्रव्यमात्रे स्थाप्यते। × × × केचित् पुनर्ब्रुवते यदिस्यणुकादि द्रव्यतो द्रव्यमिति। तृतीयार्थे पञ्चम्यर्थे वा तसिरुत्पाद्यः—द्रव्यैः सम्भूय यत् क्रियते, यथा बहुभिः परमाणुभिः सम्भूय स्कन्धस्त्रिप्रदेशिकादिरारभ्यते तद् द्रव्यद्रव्यम्। अथवा यद् द्रव्यात् तस्मादेव स्कन्धात् त्रिप्रदेशिकादेर्यदैकः परमाणुः पृथग्भूतो भवति तदा तस्माद् भिद्यमानात् त्रिप्रदेशिकात् स्कन्धात् परमाणुश्च निष्पद्यते द्विप्रदेशिकश्च स्कन्ध इति स परमाणुरपि द्रव्यद्रव्यं द्विप्रदेशिकोऽपि द्रव्यद्रव्यं भवतीति। तच्चैतद् द्रव्य-

द्रव्यं पुद्गलमेव भवतीति प्रत्येतव्यम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४१–५०) ।

१ गुण और पर्याय से विहीन बुद्धि में स्थापित धर्माधर्मादिकों में से किसी एक को द्रव्यद्रव्य कहा जाता है । किन्हीं आचार्यों के मत से द्रव्य-द्रव्य—द्रव्य से द्रव्य—संघात और भेदके कारण पुद्गल द्रव्य ही होता है ।

द्रव्यधर्म—१. सचित्तेतरभेदस्स होइ दव्वस्स जो सलु सहावो । एसो उ दव्वधम्मोऽणुवउत्तस्सऽहुव सुयमाई ॥ (धर्मसं. १०) । २. द्रव्यस्य—अनुपयुक्तस्य—धर्मो मूलोत्तरगुणानुष्ठानं द्रव्यधर्मः । इहानुपयुक्तो द्रव्यम्; 'अनुपयोगो द्रव्यम्' इति वचनात् । द्रव्यमेव वा धर्मो द्रव्यधर्मः—धर्मास्तिकायः, ××× तिक्तादिर्वा द्रव्यस्य स्वभावो द्रव्यधर्मः । ××× गम्यादिधर्मः स्त्रीविषयो द्रव्यधर्मः । तत्र केषांचित् मातुलदुहिता गम्या, केषांचिदगम्येत्यादिः । (आव. नि. मलय. वृ. १०७५) ।

१ सचित्त—चेतन मनुष्य आदि—और अचित्त—धर्मास्तिकायादि—द्रव्यों के निज स्वभाव को द्रव्यधर्म कहते हैं । अथवा अनुपयुक्त—तत्तद्विषयक उपयोग से रहित—जीव का जो श्रुत आदि है उसे द्रव्यधर्म जानना चाहिए ।

द्रव्यनपुंसक—१. नपुंसकवेदोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयात् स्मश्रु-कूर्च-स्तन-योन्यादिलिंगाभावविशिष्टदेहं द्रव्यनपुंसकं भवति । (गो. जी. म. प्र. २७१) । २. नपुंसकवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन उभयलिङ्गव्यतिरिक्तदेहाङ्कितो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसकजीवो भवति । (गो. जी. जी. प्र. २७१) ।

१ नपुंसक वेद के उदय के साथ अंगोपांगनामकर्म के उदय से स्मश्रु, कूर्च, स्तन और योनि आदि चिह्नों से रहित देह को द्रव्यनपुंसक कहते हैं ।

द्रव्यनमस्कार—१. नमस्तस्मै इत्यादिशब्दोच्चारणं उत्तमाङ्गावनतिः कृताञ्जलिता च द्रव्यनमस्कारः । (भ. आ. विजयो. ७२२) । २. वाचा अर्हत्-सिद्धप्रमुखपरमेष्ठिस्वरूपशुद्धपरमात्मद्रव्यवस्तुस्तवगुणस्तवलक्ष्मीरोदारार्थविराजमानसकलशब्दब्रह्मबीजभूतमाक्षरस्तोत्ररूपः, कायेन पंचाङ्गनत्या प्रणमनरूपो द्रव्यनमस्कारः । (आरा. सा. टी. १, पृ. ४) ।

१ 'उसके लिए नमस्कार हो' इत्यादि शब्दों का उच्चारण करना, मस्तक का झुकाना और हाथों की अंजलिका बांधना—हाथों का जोड़ना, यह द्रव्यनमस्कार कहलाता है ।

द्रव्यनिक्षेप—१. अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् । (लघीय. स्वो. ७६, पृ. ७११) । २. यत्स्वतोऽभिमुखं वस्तु भविष्यत्पर्ययं प्रति । तद् द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरभेदतः ॥ (त. श्लो. १, ५, ६०, पृ. १११) । ३. भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित् । स्याद् गृहीताभिमुख्यं हि तद् द्रव्यं ब्रुवते जिनाः ॥ (त. सा. १-१२)। ४. विवक्षितासाम्प्रतिकपर्यायविशेषस्थितिर्द्रव्यनिक्षेपः । (सिद्धिवि. वृ. १२–२, पृ. ७३६, पं. १३) । ५. आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः । (उपासका. ८२७) । ६. द्रव्यं भविष्यत्पर्यायं गतापितविवर्ति च । (आचा. सा. ६–७) । ७. गुणैर्द्रुतं गतं प्राप्तं द्रव्यम्, गुणान् वा द्रुतं गतं प्राप्तं द्रव्यम्, गुणैर्द्रोष्यते द्रव्यम्, गुणान् द्रोष्यतीति द्रव्यम् । (त. वृत्ति श्रुत. १–५) । ८. वर्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यम् । (परमा. त. १–६) ।

१ जो भावी परिणामविशेष (पर्याय) की प्राप्ति के प्रति अभिमुख हो—उसकी योग्यता को धारण करता हो—उसे द्रव्यनिक्षेप कहते हैं ।

द्रव्यनिबन्धन—निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम् । जं दव्वं जम्हि णिबद्ध तं णिबंधणं ति भणिदं होदि । ××× जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि, जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो तं दव्वणिबंधणं । (धव. पु. १५, पृ. १–२) ।

जो द्रव्य जिन द्रव्यों का आश्रय लेकर परिणमता है, अथवा जिस द्रव्य का स्वभाव द्रव्यान्तर से सम्बद्ध है उसका नाम द्रव्यनिबन्धन है ।

द्रव्यनिद्रा—तत्र द्रव्यनिद्रा निद्रावेदो वेदनमनुभवः, दर्शनावरणीयविशेषोदय इति यावत् । (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. ४२, पृ. ५६) ।

दर्शनावरणीयविशेष के उदय से जो निद्रा का वेदन या अनुभव होता है उसे द्रव्यनिद्रा कहते हैं ।

द्रव्यनिर्जरा—१. द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादि । (भ. आ. विजयो. १८४७; अन. ध. स्वो. टी. २–४२) । २. द्रव्यनिर्जरा मोक्षाधिकारसूच्या

व्रीह्यादीनाम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–४, पृ ४९)। ३. तदनुभाववीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलानां द्रव्यनिर्जरा । (पंचा. का. अमृत. वृ. १४४) । ४. तस्स कर्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा । (बृ. द्रव्यसं. ३६) । ५. तेन शुद्धोपयोगेन नीरसीभूतस्य चिरन्तनकर्मण एकदेशगलनं द्रव्यनिर्जरा । (पंचा. का. जय. वृ. १०८); तस्य शुद्धोपयोगस्य सामर्थ्येन नीरसीभूतानां पूर्वोपार्जितकर्मपुद्गलानां संवरपूर्वकभावेनैकदेशसंक्षयो द्रव्यनिर्जरा । (पंचा. का. जय. वृ. १४४) । ६. आत्मनो गलनं द्रव्यकर्मणां द्रव्यनिर्जरा । (भावा. सा. ३–३५) । ७. पूर्वनिबद्धकर्मणां निर्जरणं द्रव्यनिर्जरा । (परमा. त. ६–१) । ८. आत्मनः शुद्धभावस्य तपसोऽतिशयादपि । यः पातः पूर्वबद्धानां कर्मणां द्रव्यनिर्जरा ॥ (जम्बू. च. १३–१२८) । ९. शुद्धादुपयोगादिह निश्चयतपसश्च संयमादेर्वा । गलति पुरा बद्धं किल कर्मैषा द्रव्यनिर्जरा गदिता ॥ (अध्यात्मक. ४-१३)।

१ ग्रहण किये गये भोजन-पानादिरूप द्रव्यों का वमन-विरेचनादिरूप में एक देश निर्जीर्ण होना, इसका नाम द्रव्यनिर्जरा है। २ मोक्ष के अधिकार को छोड़कर जो व्रीहि (धान्यविशेष) आदि का विनाश होता है, यह द्रव्यनिर्जरा कहलाती है। ३ फलानुभवन के पश्चात् नीरस हुए पूर्वसंचित कर्मरूप पुद्गलों के एकदेश क्षय को द्रव्यनिर्जरा कहते हैं।

द्रव्यनिर्देश—द्रव्यस्यापि त्रिविधस्य सचित्तादेर्यद्विशिष्टमभिधानं स द्रव्यनिर्देशः । तत्र सचित्तद्रव्यविशेषस्य निर्देशो यथा गौरित्यादि, अचित्तद्रव्यविशेषस्य यथाऽयं दण्ड इत्यादि, मिश्रद्रव्यविशेषस्य यथाऽयं रथोऽश्वयुक्त इत्यादि । तेन सचित्तादिद्रव्यविशेषेण निर्देशो यथा गोमानित्यादि । (आव. नि. मलय. वृ. १४०) ।

सचित्तादि द्रव्यों का जो विशेषता से युक्त कथन किया जाता है उसे द्रव्यनिर्देश कहते हैं। सचित्त द्रव्य का निर्देश जैसे—'यह गाय है' इत्यादि, इसी प्रकार अचित्त द्रव्यविशेष का निर्देश जैसे—'यह दण्ड है' इत्यादि, तथा मिश्र द्रव्यविशेष का निर्देश जैसे—'यह घोड़ों से युक्त रथ है' इत्यादि। इस प्रकार सचित्त आदि द्रव्यविशेष से जो निर्देश किया जाता है—जैसे यह गाय वाला है, इत्यादि, इसे द्रव्यनिर्देश जानना चाहिए।

द्रव्यनिर्विचिकित्सागुण—भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणः । (बृ. द्रव्यसं. ४१) ।

भेद-अभेदरूप रत्नत्रय के धारक भव्य जीवों के दुर्गन्धित व बीभत्स शरीर आदि को देख करके धर्मबुद्धि से या करुणाभाव से ग्लानि नहीं करने को द्रव्यनिर्विचिकित्सागुण कहते हैं।

द्रव्यपक्व—उस्सेइमाइ तं चिय पक्किंधणजोगओ पक्कं ॥ (बृहत्क. नि. १०३४) ।

जो उत्स्वेदिम, संस्वेदिम, उपस्कृत और पर्यायरूप चार द्रव्य कहे गये हैं। उनको ईंधन के संयोग से पका लेने पर द्रव्यपक्व कहा जाता है।

द्रव्यपरिवर्तन—देखो कर्मद्रव्यपुद्गलपरिवर्तन व नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन । १. अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं । घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥ (भ. आ. १७७३) । २. णोकम्मपोग्गलपरियट्टणं कम्मपोग्गलपरियट्टणं च दव्वपरियट्टणं । (धव. पु. ४, पृ. ३२५) । ३. बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा । णोकम्मपुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो ॥ (कार्तिके. ६७) । ४. द्रव्यसंसारो नाम शरीरग्रहण-मोक्षणाभ्यावृत्तिरसकृत् । (भ. आ. विजयो. ४४६) । ५. शुद्धात्मद्रव्यादितराणि च पूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण शरीरपोषणार्थाशन-पानादि-पंचेन्द्रियविषयरूपेण चानन्तवारान् गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्यसंसारः । (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५, पृ. ८९) । ६. तत्र संसरणम्—इतश्चेतश्च परिभ्रमणं संसारः । तत्र संसारशब्दार्थज्ञस्तत्रानुपयुक्तो द्रव्याणां वा जीव-पुद्गललक्षणानां यथायोगं भ्रमणं द्रव्यसंसारः । (स्थानां. अभय. वृ. ४, १, २६१) । ७. नारकादिशरीराणां ग्रहण-मोक्षणाभ्यामसकृद्वृत्तिर्द्रव्यसंसारः । (भ. आ. मूला. ४३०) । ८. तावत्स द्रव्यसंसारो लक्ष्यो सूक्ष्मार्थदर्शिभिः । कर्म-नोकर्मरूपेण पुद्गलादानलक्षणः ॥ गृहीताश्चागृहीताश्च मिश्राश्चापि निसर्गतः । विद्यन्ते पुद्गलास्त्वेषा लोकेऽस्मिन् निश्चिताः स्फुटम् ॥ तद्विवक्षितजीवेन ते भेमापीह पुद्गलाः । कर्म-नोकर्मभावेन नीत्वा वारामनन्तशः ॥ मुक्तो-

त्यक्ताः पुनस्तथापि पुनर्नीत्वा पुनस्तथा । एवं समुदितः सर्वो द्रव्यसंसार उच्यते ॥ (जम्बू. च. १३, २७–३०)।

१ प्राणी एक शरीर को ग्रहण करता है, पश्चात् उसे छोड़ अन्य को ग्रहण करता है, फिर उसे भी छोड़ अन्य को ग्रहण करता है। इस प्रकार अरहट की घटिकाओं के समान उत्तरोत्तर पूर्व शरीर को छोड़कर अन्य-अन्य शरीर को ग्रहण करता हुआ संसार में जो परिभ्रमण करता है, इसका नाम द्रव्यपरिवर्तन है। ६ इधर उधर परिभ्रमण का नाम संसार है। संसार शब्द के अर्थ का ज्ञाता होकर जो तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे द्रव्यसंसार कहते हैं, अथवा जीव व पुद्गल द्रव्यों का जो यथायोग्य परिभ्रमण होता है उसे द्रव्यसंसार जानना चाहिए। इसे द्रव्यपरिवर्तन भी कहा जाता है।

द्रव्यपर्याय—अनेकद्रव्यात्मिकाया ऐक्यप्रतिपत्तेर्निबन्धनकारणभूतो द्रव्यपर्यायः अनेकद्रव्यात्मिकैकयानवत् । (पंचा. का. जय. वृ. १६)।

अनेक द्रव्यस्वरूप एक यान (नौका आदि) के समान अनेक द्रव्यस्वरूप एकताप्रतिपत्ति (अभेदज्ञान) की कारणभूत पर्याय को द्रव्यपर्याय कहते हैं। वह अचेतन परमाणुओं के स्कन्धरूप सजातीय और भवान्तर्गत जीव की शरीरनोकर्मपुद्गल के साथ मनुष्यादि पर्यायस्वरूप असमान जातीय के भेद से दो प्रकार की है।

द्रव्यपर्यायार्थिकनैगम— १. द्रव्यार्थिकनयविषयं पर्यायार्थिकनयविषयं च प्रतिपन्नः द्रव्य-पर्यायार्थिकनैगमः। (जयध. १, पृ. २४५)। २. द्रव्य-पर्यायार्थिकनयद्वयविषयः नैगमोऽद्वंद्वजः। (धव. पु. ६, पृ. १८१)।

जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही नयों के विषय को ग्रहण करता है उसे द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमनय कहते हैं।

द्रव्यपाप—१, पुद्गलस्य कर्तृ नि (अन. 'कर्तृनि') श्चयकर्मतामापन्नोऽविशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवाऽशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपापम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३२; अन. ध. स्वो. टी. २–४०)। २. तन्निमित्तेन (भावपापनिमित्तेन) असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतिरूपः पुद्गलपिण्डो द्रव्यपापम्। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)।

जीव के अशुभ परिणाम के निमित्त से जो पुद्गल का विशिष्ट प्रकृतित्वरूप—ज्ञानावरणादि स्वभावरूप—परिणमन होता है उसे द्रव्यपाप कहते हैं। पुद्गल के इस परिणमन का कारण स्वयं पुद्गल है, परन्तु अज्ञानी जीव अपने को उसका कर्ता मान उसमें कर्मता का निश्चय करता है।

द्रव्यपापास्रव—तन्निमित्तो (भावपापास्रवनिमित्तो)ऽशुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपापास्रवः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३६)।

भावपापास्रव के निमित्त से योगरूप द्वार से प्रविष्ट होते हुए पुद्गलों का जो अशुभ कर्मरूप परिणमन होता है उसे द्रव्यपापास्रव कहते हैं।

द्रव्यपुण्य—१. पुद्गलस्य कर्तृनिश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३२)। २. भावपुण्यनिमित्तेनोत्पन्नः सद्वेद्यादिशुभप्रकृतिरूपः पुद्गलपरमाणुपिण्डो द्रव्यपुण्यम्। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ३. यावता (येन कारणेन) पुद्गलस्य कर्तृनिश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम्। (अन. ध. स्वो. टी. २–४०)।

जीव के शुभ परिणामों के निमित्त से जो पुद्गल का विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणमन होता है उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। पुद्गल के इस परिणमन का कारण स्वयं पुद्गल ही है, पर अज्ञानी जीव अपने को उसका कर्ता मान उसमें कर्मता का निश्चय करता है।

द्रव्यपुण्यास्रव— तन्निमित्तः (भावपुण्यास्रवनिमित्तः) शुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपुण्यास्रवः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३५)।

योगरूप द्वार से प्रविष्ट होते हुए पुद्गलों का जो भावपुण्यास्रव के निमित्त से शुभ कर्मरूप परिणमन होता है उसे द्रव्यपुण्यास्रव कहते हैं।

द्रव्यपुद्गलपरावर्त— ओराल-विउव्वा-तेय-कम्म-भासाणपाण - मणएहिं ॥ फासेवि सव्वपोग्गल-मुक्का अह बायर परट्टो। अहव इमो दव्वाई ओराल-विउव्व-तेय-कम्मेहिं। नीसेसदव्वगहणंमि बायरो

होइ परियट्टो ॥ दव्वे सुहुमपरट्टो जाहे एगेण सह सरीरेणं । फासे वि सव्वपोग्गल अणुक्कमेणं नणु गणिज्जा ॥ (प्रव. सारो. १०४१-४३)।

एक जीव ने संसाररूप वन में भटकते हुए अनन्त भवों में औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, भाषा, आनपान और मन इन सात के रूप में समस्त पुद्गलों को छूकर—उनका उपभोग करके—उन्हें छोड़ा। इस क्रिया में उसका जितना काल व्यतीत हुआ उतने कालविशेष का नाम एक बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त है। अथवा मतान्तर के अनुसार एक जीव के द्वारा सर्वलोकगत पुद्गलों को औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण इन चार शरीरों के रूप में ग्रहण करके छोड़ देने पर एक बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त होता है। सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त—कोई एक जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ उक्त औदारिक आदि शरीरों में से एक किसी शरीर के रूप में अनुक्रम से समस्त पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें छोड़ता है। इसमें उसका जितना काल लगता है उसे सूक्ष्म पुद्गलद्रव्यपरावर्त कहा जाता है। इस सूक्ष्म पुद्गल द्रव्यपरावर्त में जो पुद्गल मध्य में विवक्षित शरीर से अन्य शरीररूप से परिणत होते हैं उनकी गणना नहीं है, किन्तु जब-जब विवक्षित शरीर रूप से वे परिणत होते हैं तभी उनकी गणना की जाती है। आहारकशरीर चूंकि एक जीव के अधिक से अधिक चार बार ही सम्भव है, अत एव उसका पुद्गलपरावर्त में उपयोग न होने से उसे उक्त शरीर के साथ नहीं ग्रहण किया गया है।

द्रव्यपुरुष—१. पुंवेदोदयविशिष्टांगोपांगनामकर्मोदयवशात् श्मश्रु-कूर्च-शिश्नादिलिंगांकितशरीरो जीवः द्रव्यपुरुषः भवति। (गो. जी. म. प्र. टी. २७१)। २. पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांगनामकर्मोदयवशेन श्मश्रु-कूर्च-शिश्नादिलिंगांकितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यपुरुषो भवति। (गो. जी. जी. प्र. टी. २७१)।

१ पुंवेद के उदय से युक्त अंगोपांगनामकर्म के उदय के वश श्मश्रु, कूर्च और शिश्न आदि चिह्नों से अंकित शरीर को द्रव्यपुरुष कहते हैं।

द्रव्यपुलाक—दव्वपुलाओ पलंजि भण्णइ। (उत्तरा. चू. पृ. २४६)।

पलंजी—भूसा या पुआल (धान्य के निकाल लेने पर शेष रहे सूखे तृणों का समुदाय)—को द्रव्यपुलाक कहते हैं।

द्रव्यपूजा—१. गन्ध-पुष्प-धूपाक्षतादिदानम् अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥ गन्ध-प्रसून सान्नाद्य दीपधूपाक्षतादिभिः। क्रियमाणाऽथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः॥ (अमित. श्रा. १२, १२-१३)। ३. दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा। (वसु. श्रा. ४४८)। ४. द्रव्यपूजाऽर्हदादीनुद्दिश्य गन्धाक्षतादिदानम्। (अन. ध. ९-११०; भ. आ. मूला. टी. ७)। ५. सचित्ताचित्त-मिश्रेण द्रव्यपूजा त्रिधा भवेत्। प्रत्यक्षमर्हदादीनां सचित्ताऽर्चा जलादिभिः॥ तेषां तु यच्छरीराणां पूजनं सा पराऽर्चना। यत् पुनः क्रियते पूजा द्वयोः सा मिश्रसंज्ञिका॥ (धर्मसं. श्रा. ९, ६२-६३)।

१ अर्हत्-सिद्धादि को लक्ष्य बनाकर गन्ध, पुष्प, धूप और अक्षत आदि के देने का नाम द्रव्यपूजा है। २ वचन और शरीर के संकोच को—उनके उस ओर लगाने को द्रव्यपूजा कहते हैं। ××× अथवा गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप और धूप आदि के द्वारा जो पूजा की जाती है वह द्रव्यपूजा कहलाती है।

द्रव्यपूति—गंधाइगुणसमिद्धं जं दव्वं असुहगंधदव्वजुयं। पूइत्ति परिहरिज्जइ तं जाणसु दव्वपूइत्ति॥ (पिण्डनि. २४४)।

सुगन्ध आदि गुणों से समृद्ध होकर भी जो द्रव्य पीछे अपवित्र गन्धद्रव्य से संयुक्त होकर पूति—दुर्गन्धयुक्त—हुआ है उसे द्रव्यपूति कहते हैं। यह भोजन सम्बन्धी १६ उद्गम दोषों में तीसरा है, जिसे छोड़ना चाहिए। प्रकृत पिण्डनिर्युक्ति में आगे (२४५-४६) इसके लिए एक उदाहरण भी दिया गया है।

द्रव्यप्रतिक्रमण—१. वास्तु-क्षेत्रादीनां बहुप्रकाराणां उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टानां वसतीनाम् उपकरणानां भिक्षाणां च परिहरणम्, अयोग्यानां आहारादीनां गृद्धेर्दर्पस्य च कारणानां संक्लेशहेतूनां

वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमणम् । (भ. आ. विजयो. ११६, पृ. २७५); सचित्तमचित्त-मिश्रमिति त्रिविकल्पं द्रव्यं तस्य परिहरणं द्रव्यप्रतिक्रमणम् । (भ. आ. विजयो. ४२१) । २. सावद्यद्रव्यसेवायाः परिणामस्य निवर्तनं द्रव्यप्रतिक्रमणम् । (मूला. वृ. ७–११५) ।

१ वास्तु क्षेत्र आदि दस प्रकार के परिग्रह; उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष से दूषित वसतियों; उपकरणों और भिक्षाओं का परित्याग करना; तथा लोलुपता व अभिमान के कारणभूत अथवा संक्लेश के हेतुभूत अयोग्य आहारादि का छोड़ना, इसका नाम द्रव्यप्रतिक्रमण है । २ पापयुक्त द्रव्य के सेवनविषयक परिणाम के छोड़ने को द्रव्यप्रतिक्रमण कहा जाता है ।

द्रव्यप्रतिसेवना—तत्र या तस्य तस्य वस्तुनः प्रतिषेव्यमानता सा द्रव्यरूपा प्रतिषेवणा । (व्यव. भा. मलय. वृ. १–३९, पृ. १६) ।

विवक्षित वस्तु की प्रतिसेव्यमानता—प्रतिसेवन की योग्यता या कल्प्यता—को द्रव्यप्रतिसेवना कहा जाता है ।

द्रव्यप्रत्याख्यान—१. दव्वम्मि निण्हगाई × × × । (आव. नि. १०५३) । २. द्रव्यमिति द्वारपरामर्शः, निण्हगाइत्ति निह्नवादिप्रत्याख्यानम् । आदिशब्दाद् द्रव्ययोर्द्रव्याणां द्रव्यभूतस्य द्रव्यहेतोर्वा यत् प्रत्याख्यानं तद् द्रव्यप्रत्याख्यानमिति । (आव. नि. हरि. वृ. १०४०) । ३. द्रव्यतो भावतश्चैव प्रत्याख्यानं द्विधा मतम् । अपेक्षादिकृतं ह्याद्यमतोऽन्यच्चरमं मतम् ॥ अपेक्षाचाविधिश्चैवापरिणामस्तथैव च । प्रत्याख्यानस्य विघ्नास्तु वीर्याभावस्तथापरः ॥ उदग्रवीर्यविरहात् क्लिष्टकर्मोदयेन यत् । बाधते तदपि द्रव्यप्रत्याख्यानं प्रकीर्तितम् ॥ (अष्टक. ८, १–२ व ६) । ४. अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिन्ताप्रबन्धो द्रव्यप्रत्याख्यानम् । (भ. आ. विजयो. ११६, पृ. २७६) । ५. द्रव्यप्रत्याख्यानं तु द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्याद् द्रव्ये द्रव्यभूतस्य वा प्रत्याख्यानं द्रव्यप्रत्याख्यानम्, तत्र सचित्ताचित्तमिश्रभेदस्य द्रव्यस्य प्रत्याख्यानं द्रव्यप्रत्याख्यानम्, द्रव्यनिमित्तं वा प्रत्याख्यानम् यथा धम्मिलस्स (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २, ४, १७९) । ६. पापबन्धकारणद्रव्यं सावद्यं निरवद्यमपि तपोनिमित्तं त्यक्तं न भोक्तव्यं न भोजयितव्यं नानुमन्तव्यमिति द्रव्यप्रत्याख्यानम् । (मूला. वृ. ७–१३१) । ७. द्रव्ये द्रव्यविषयं प्रत्याख्यानं निह्नवः, द्रव्यस्य द्रव्ययोर्द्रव्याणां द्रव्यभूतस्य द्रव्यहेतोर्वा प्रत्याख्यानम् । (आव. नि. मलय. वृ. १०५३, पृ. ५७९) ।

१ द्रव्यविषयक प्रत्याख्यान व निह्नव—सत्यके अपलाप—आदि के प्रत्याख्यान का नाम द्रव्यप्रत्याख्यान है । ४ मैं अयोग्य आहार व उपकरण द्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा, इस प्रकार के विचार की निरन्तरता को द्रव्यप्रत्याख्यान कहते हैं । ५ द्रव्यका, द्रव्यके द्वारा, द्रव्यसे, द्रव्यके विषय में अथवा द्रव्यस्वरूप वस्तुके प्रत्याख्यानको द्रव्यप्रत्याख्यान कहते हैं । सचित्त, अचित्त व सचित्त-अचित्त द्रव्यके प्रत्याख्यान का अथवा द्रव्य के निमित्त किये जाने वाले प्रत्याख्यानको द्रव्यप्रत्याख्यान कहा जाता है । जैसे—धम्मिलल (धनुदेश) का प्रत्याख्यान ।

द्रव्यप्रमाण—प्रमिनो[णो]ति प्रमीयते वा परिच्छिद्यते येनार्थस्तत्प्रमाणम्, तत्र द्रव्यमेव प्रमाणं दण्डादिद्रव्येण वा धनुरादिना शरीरादेर्द्रव्यैर्वा दण्ड-हस्ताङ्गुलादिभिः द्रव्यस्य वा जीवादेः द्रव्याणां वा जीवधर्माधर्मादीनां द्रव्ये वा परमाण्वादौ पर्यायाणां द्रव्येषु वा तेष्वेव तेषामेव प्रमाणं द्रव्यप्रमाणम् । (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २५८) ।

'जो मापता है' इस विग्रह के अनुसार द्रव्य ही प्रमाण होता है अथवा जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसका नाम प्रमाण है । तदनुसार धनुष आदि द्रव्य के द्वारा शरीरादि की ऊँचाई का प्रमाण जाना जाता है; दण्ड, हाथ व अंगुल आदि द्रव्यों के द्वारा एक जीवादि द्रव्यका अथवा जीव, धर्म व अधर्म आदि अनेक द्रव्यों का प्रमाण जाना जाता है; इसी प्रकार परमाणु आदि द्रव्यगत पर्यायों का प्रमाण जाना जाता है । इस क्रमसे द्रव्यप्रमाण अनेक प्रकार का सम्भव है ।

द्रव्यप्रमाणानुगम—यथावस्त्ववबोधः अनुगमः, केवलि-श्रुतकेवलिभिरनुगतानुरूवेणावगमो वा । द्रव्यप्रमाणस्य द्रव्यप्रमाणयोर्वा अनुगमः द्रव्यप्रमाणानुगमः । (धव. पु. ३, पृ. ८) ।

वस्तु के यथार्थ अवबोध का नाम अनुगम है । अथवा केवली और श्रुतकेवली के परम्परागत उपदेश के अनुसार जो वस्तु का बोध होता है वह अनुगम

कहलाता है। द्रव्य के प्रमाण का बोध कराने वाले अथवा द्रव्य और प्रमाण दोनों का ही बोध कराने वाले अधिकार को द्रव्यप्रमाणानुगम कहा जाता है। जैसे—षट्खण्डागमके प्रथम खण्डभूत जीवस्थानगत तृतीय अनुयोगद्वार इत्यादि।

द्रव्यप्राण—१. पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ३०)। २. द्रव्यप्राणाः इन्द्रिय-पंचक-बलत्रिकोच्छ्वासनिःश्वासायुःकर्मानुभवलक्षणाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १८–२३२)। ३. चित्सामान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामो द्रव्यप्राणाः। (अन. ध. ४–२२)। ४. पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्यप्राणाः। (गो. जी. जी. प्र. टी. १२९)।

१ पुद्गल सामान्य से अनुगत इन्द्रिय आदि को द्रव्यप्राण कहा जाता है। २ इन्द्रियां पांच, बल तीन, उच्छ्वास-निःश्वास और आयुकर्म; इनके अनुभवन स्वरूप द्रव्यप्राण कहलाते हैं।

द्रव्यबन्ध—१. भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसए। रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवएसो॥ (प्रव. सा. २–८४)। २. द्रव्यबन्धः कर्म-नोकर्मपरिणतः पुद्गलद्रव्यविषयः। (त. वा. २, १०, २)। ३. पुद्गलानां तुरादानं बन्धो द्रव्यात्मकः स्मृतः। योग्यानां कर्मणः स्वेष्टानिष्टनिर्वर्तनात्मनः॥ (त. श्लो. ८, २, १)। ४. द्रव्यबन्धो निगडादिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)। ५. पुनस्तेनैव (भावबन्धेनैव) पौद्गलिक कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–८४)। ६. कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥ (द्रव्यसं. ३२)। ७. भावबन्धनिमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीर-नीरवदन्योन्य-प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबन्धः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३२)। ८. भावबन्धनिमित्तेन तैलम्रक्षितशरीरे धूलिबन्धवज्जीव-कर्मप्रदेशानामन्योन्यसंश्लेषो द्रव्यबन्धः। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ९. भावास्रवातितापात्मलोहस्यात्मैकदेहगम्। आदत्ते सर्वतोऽनन्तानन्तकर्माणुजीवनम्॥ आत्मनस्तेन संश्लेषो द्रव्यबन्धश्चतुर्विधः। स स्यात् प्रकृति-प्रदेशानुभाग-स्थितिभेदतः॥ (आचा. सा. ३, ३८–३९)। १०. जीव-कर्मप्रदेशानामाश्लेषो द्रव्यबन्धनम्। (भावसं. वाम. ३८७)। ११. यस्तु कर्म-नोकर्मरूपः जीव-पुद्गलसंयोगबन्धः असौ द्रव्यबन्धः। (कार्तिके. टी. २०६)। १२. द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा। (पञ्चाध्या. २–४७)।

१ जिस मोह, राग और द्वेषरूप भाव से जीव विषयता को प्राप्त—दृष्टव्य या ज्ञेय—वस्तु को देखता व जानता है, तथा उसी से जो अनुरक्त होता है; इसका नाम भावबन्ध और उसके निमित्त से जो पौद्गलिक कर्म बन्धता है उसका नाम द्रव्यबन्ध है। ४ सांकल आदि बन्धन के कारणों को द्रव्यबन्ध कहा जाता है।

द्रव्य-भावतः हिंसा—द्रव्यतो भावतश्चेति "जहा केइ पुरिसे मिअवहपरिणामपरिणए मियं पसित्ता आयन्नाइड्ढियकोदंड-जीवे सरं णिसिरिज्जा, से अ मिए तेण सरेण विद्धे मए सिआ एसा दव्वओ हिंसा भावओ वि।" (दशवै. नि. हरि. वृ. ४५)।

कोई वधक मृग के घात का विचार करता हुआ उसे देख कर कर्ण पर्यन्त धनुष की डोरी को खींचता है और बाण को छोड़ देता है। उससे विद्ध होकर मृग मर जाता है। इस प्रकार की हिंसा मृग के प्राणों का घात करने के साथ वधक के तदनुरूप परिणाम के भी रहने से द्रव्य और भाव दोनों से हुआ करती है।

द्रव्यमन—१. पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः। (स. सि. २–११; त. वा. २, ११, १; धव. पु. १, पृ. २५९; त. वृ. २–११)। २. तत्थ मणपज्जत्तिणामकम्मुदयातो जोग्गे मणोदव्वे घेत्तुं मणजोगपरिणामिता दव्वा दव्वमणो भण्णइ। (नन्दी. चू. पृ. २६)। ३. द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकारः। (त. वा. ५, ३, ३); द्रव्यमनश्च ज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्ययाः गुण-दोष-विचार-स्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला वीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणताः इति कृत्वा पौद्गलिकं नाकाशमयम्। (त. वा. ५, १९, २०)। ४. तत्र मनोऽभिनिर्वृत्यै यद् दलिकद्रव्यमुपात्तमात्मना सा मनःपर्याप्तिर्नाम करणविशेषः, तेन करणविशेषेण सर्वात्मप्रदेशवर्तिना यानन्तप्रदेशान् मनोवर्गणायोग्यान् स्कन्धान् चित्तार्थमादत्ते ते करणविशेषपरिगृहीताः स्कन्धाः द्रव्यमनोऽभिधीयते(न्ते)। (त. भा. सि. वृ.

२–११)। ५. हिदि होदि हु दव्वमणं वियसिय-अट्ठच्छदारविंदं वा। अंगोवंगुदयादो मणवग्गण-खंधदो णियमा ॥ (गो. जी. ४४३)। ६. द्रव्यमनश्च ज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्यया गुण-दोषविचार-स्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहका पुद्गला वीर्यविशेषावर्जनसमर्था मनस्त्वेन परिणताः। (चा. सा. पृ. ३६)। ७. तत्र मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयतो यत् मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमितं तद् द्रव्यरूपं मनः। तथा चाह चूर्णिकृत्—मणपज्जत्ति नामकम्मोदयओ तज्जोग्गे मणोदव्वे घेत्तुं मणत्तेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भण्णइ। (नन्दी. मलय. वृ. २६, पृ. १७४; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १५–२००, पृ. ३११)। ८. द्रव्यमनो ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं तद्योग्य-पुद्गलमयम्। (आव. सू. मलय. वृ. पृ. ५५७)। ९. तत्र द्रव्यमनो विशिष्टाकारपरिणताः पुद्गलाः। (योगशा. स्वो. विव. ४–३५)। १०. तदभिमुखस्यास्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः। (भ. आ. मूला. १३२)। ११. नोइन्द्रियावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमसन्निधाने सति द्रव्यमनसा × × ×। (अन. ध. स्वो. टी. १–१, पृ. ४)। १२. द्रव्यमनोऽपि ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमांगोपांगनामकर्मलाभप्रत्ययगुण-दोषविचार-स्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकपुद्गलानां तथात्वेन परिणमनात् पौद्गलिकम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ६०६; कार्तिके. टी. २०६); वीर्यान्तराय-नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमेन अंगोपांगनामोदयेन च मनःपर्याप्तियुक्तजीवस्य मनोवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानामष्टच्छदारविन्दाकारेण हृदये निर्माणनामोदयसंपादितं द्रव्यमनः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ७०३)।

१ पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से जो पुद्गल मनरूप से परिणत होते हैं उन्हें द्रव्यमन कहा जाता है। २ मनःपर्याप्ति नामकर्म के उदय से योग्य मनोद्रव्य—मनवर्गणा—को ग्रहण करके मनरूप परिणमाये गये द्रव्यों का नाम द्रव्यमान है।

द्रव्यमनोयोग—ततः (भावमनोयोगतः) समुत्पन्नो मनोवर्गणानां द्रव्यमनःपरिणामरूपो द्रव्यमनोयोगः। (गो. जी. म. प्र. व जी प्र. २२६)।

भावमनोयोग से उत्पन्न होने वाले मनोवर्गणाओं के द्रव्यमनरूप परिणमन को द्रव्यमनोयोग कहते हैं।

द्रव्यमल—द्रव्यमलं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्र स्वेद-रजोमलादि बाह्यम्। घन-कठिनजीवप्रदेशनिबद्धप्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेशविभक्तज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्म आभ्यन्तरद्रव्यमलम्। (धव. पु. १ पृ. ३२)।

बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से द्रव्यमल दो प्रकार का है। इनमें पसीना और धूलि आदि को बाह्य द्रव्यमल तथा आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध प्रकृति व स्थिति आदि भेदों में विभक्त ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को भावमल कहते हैं।

द्रव्यमंगल—१. सूरि-उवज्झय-साहूदेहाणि हु दव्व-मंगलयं ॥ (ति. प. १–२०)। २. दवए दुयए दोरवयवो विगारो गुणाण संदावो। दव्वं भावं भावस्स भूअभावं च अ जोग्गं ॥ (विशेषा. २८)। ३. उत्तरगुणनिप्फन्ना, सलक्खणा जे उ होंति कुंभाई। तं दव्वमंगलं खलु जह लोए अट्ठ मंगलगा ॥ णेगंतियं अणच्चंतिय च दव्वे उ मंगल होइ। (बृहत्क. ६–१०)। ४. 'द्रु द्रु गतौ' द्रवते द्रूयते वा द्रोरवयवो विकारो वा द्रव्यं 'द्रव्यं च भव्ये' [पा. ५।३।१०४] यत्प्रत्ययान्तस्य द्रव्यं तत्र ज्ञातृ-भव्य-शरीराभ्यां व्यतिरिक्तं द्रव्यमंगलं दध्यक्षत-सुवर्ण-सिद्धार्थक-पूर्णकलशादि। (दशवै. चू., पृ. २)। ५. भूतस्य भाविनो भावस्य हि कारणं तु यल्लोके। तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥ × × × द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान् क्षरति चेति द्रव्यम्, × × × सचेतनम् अनुपयुक्तपुरुषाख्यम्, अचेतनं शरीरादि तथा भूतमन्यद् वा। × × × द्रव्यं च तन्मंगलं चेति समासः। (आव. हरि. वृ. १, पृ. ५)। ६. दव्वमंगलं णाम अणागयपज्जाय-विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतब्भावं वा। (धव. पु १, पृ. २०)।

१ आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर को द्रव्यमंगल कहा जाता है। २ जो अपनी पर्यायों को प्राप्त होता है, अथवा उनके द्वारा स्वयं प्राप्त किया जाता है उसे द्रव्य कहते हैं। 'द्रु' के अवयव—सत्ता के विकार को—भी द्रव्य कहा जाता है। गुणों का समुदाय भी द्रव्य कहलाता है। जो आगामी पर्याय के योग्य है उसे और भूतभाव को द्रव्य (निक्षेप) कहा जाता है। प्रकृत में भविष्य में होने वाली पर्याय विवक्षित है। जो द्रव्य मंगलरूप

पर्याय के योग्य है उसे द्रव्यमंगल जानना चाहिए।

द्रव्यमोक्ष—१. जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि। ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥ (पंचा. का. १५३)। २. कम्म-दव्वमोक्खो णोकम्मदव्वमोक्खो च दव्वमोक्खो। (धव. पु. १६, पृ. ३३७)। ३. द्रव्य-मोक्षो निगडादिवियोग:। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)। ४. खलु भगवत: केवलिनो भावमोक्षे सति प्रसिद्धसंवरस्योत्तरकर्मसन्ततौ निरुद्धायां परमनिर्जराकारणध्यानप्रसिद्धौ सत्यां पूर्वकर्मसंततौ कदाचित् स्वभावेनैव कदाचित् समुद्घातविधानेनायु:-कर्मसम्भूत:[त]स्थित्यामायु:कर्मानुसारेणैव निर्जीर्य-माणायामपुनर्भवाय तद्भवत्यागसमये वेदनीयायु-र्नाम-गोत्ररूपाणां जीवेन सहात्यन्तविश्लेष: कर्मपुद्-गलानां द्रव्यमोक्ष:। (पंचा. का. अमृत. वृ. १५३)। ५. दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो। (द्रव्यसं. ३७)। ६. टंकोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मन: आयुरादिशेषाघातिकर्मणामपि च आत्यन्तिकपृथ-ग्भावो विश्लेषणो विघटनम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३७)। ७. भावमोक्षनिमित्तेन जीवकर्मप्रदेशानां निरवशेष: पृथग्भावो द्रव्यमोक्ष:। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ८. तद्बलेन (शुद्धोपयोगलक्षणभाव-मोक्षबलेन) जीवप्रदेश-कर्मप्रदेशानामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्ष:। (प्रव. सा. जय. वृ. १-८४)। ९. कर्म-पुद्गलानां जीवेन सहात्यन्तविश्लेष: द्रव्यमोक्ष:। (अन. ध. स्वो. टी. २-४४)। १०. जायते द्रव्यमोक्षस्तु जीव-कर्मपृथक्क्रिया। (भावसं. वाम. ३६१)। ११. परमसमाधिबलादिह बोधावरणादिसकलकर्मा-णि। चिद्देशेभ्यो भिन्नीभवन्ति स द्रव्यमोक्ष इह गीत:॥ (अध्यात्मक. ४–१६)।

१ संवर से युक्त जीव समस्त कर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयु कर्म से रहित होकर जो भव को (संसार को—नाम और गोत्र को) छोड़ देता है, इसका नाम द्रव्यमोक्ष है। ३ सांकल आदि के बन्धन से मुक्ति पा लेने का नाम द्रव्य-मोक्ष है।

द्रव्ययुति—दव्वजुडी तिविहा जीवजुडी पोग्गलजुडी जीव-पोग्गलजुडी चेदि। (धव. पु. १३, पृ. ३४८)। जीवयुति, पुद्गलयुति और जीव-पुद्गलयुति ये तीनों द्रव्ययुति के अन्तर्गत हैं। इनका लक्षण पृथक्-पृथक् उन्हीं शब्दों में देखिये।

द्रव्ययोग—१. दव्वे मण-वइ-काए जोग्गा दव्वा ×××। (आव. नि. १०५२)। २. मनोवा-क्काययोग्यानि द्रव्याणि द्रव्ययोग:। इयमत्र भावना —जीवेनागृहीतानि गृहीतानि वा स्वव्यापाराप्रवृ-त्तानि द्रव्ययोग इति, द्रव्याणां वा हरीतकादीनां योगो द्रव्ययोग:। (आव. नि. मलय. वृ. १०५२)। ३. तद्विशिष्टात्मप्रदेशानां य: परिस्पन्द: किञ्चिच्च-लनरूप: स द्रव्ययोग:। (गो. जी. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. २१६)।

१ मन, वचन एवं काय के योग्य द्रव्यों को द्रव्य-योग कहा जाता है।

द्रव्यलक्षण—१. लक्खिज्जइ जं जेणं दव्वं तं तस्स लक्खणं तं च। (विशेषा. २६४६)। २. यद् द्रव्यं येनान्यतो व्यवच्छिद्य लक्ष्यते—स्वरूपेऽवस्थाप्यते, तत्तस्य लक्षणम्। (विशेषा. को. वृ. २६४६)। जिसके द्वारा द्रव्य को अद्रव्यों से पृथक् कर स्वरूप में स्थापित किया जाता है वह द्रव्य का लक्षण होता है।

द्रव्यलिङ्ग (साधुका बाह्य वेष)—तत्र द्रव्यलिङ्गं रजोहरण-मुखवस्त्रिकादि। ××× द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्या:—कदाचित् रजोहरणादि भवति कदाचिन्नेति, मरुदेवी-भरतप्रभृतीनामिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९)।

मुमुक्षु का द्रव्यलिंग रजोहरण (प्रमार्जन का एक उपकरण) और मुखवस्त्रिका (मुंहपत्ति) आदि होता है। उसकी अपेक्षा पुलाकादि मुनि भाज्य हैं—उक्त द्रव्यलिंग पुलाकादि मुनियों में किन्हीं के तो होता है और किन्हीं के वह नहीं भी होता है। जैसे—मरुदेवी व भरत आदि के वह नहीं रहा है।

द्रव्यलिङ्ग (द्रव्यवेद)—१. द्रव्यलिङ्गं योनि-मेहनादि नामकर्मोदयनिर्वर्तितम्। (स. सि. २-५२)। २. यद् द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितम् ×××। (त. वा. २, ६, ३); नामकर्मोदयात् योनि-मेहनादि द्रव्यलिङ्गं भवति। (त. वा. २, ५२, १)। ३. नामकर्मोदयात् स्मरमन्दिरमेहनादिकं द्रव्य-लिङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. २–५२)।

१ नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले योनि व मेहन (पुरुषेन्द्रिय) आदि को द्रव्यलिङ्ग कहते हैं।

द्रव्यलेश्या—१. द्रव्यलेश्या पुद्गलविपाकिकर्मोदयापादिता। (त. भा. २, ६, ८); शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या। (त. भा. ६, ७, ११)। २. वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा। (गो. जी. ४९४); वण्णोदयसंपादिदसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा। (गो. जी. ५३६)। ३. द्रव्यलेश्या कृष्णादिद्रव्याण्येव। (स्थाना. अभय. वृ. १-५१)। ४. वर्णनामकर्मोदयजनितशरीरवर्णस्तु द्रव्यलेश्या। (गो. जी. जी. प्र. टी. ४९४)।

१ पुद्गलविपाकी वर्ण नामकर्म के उदय से जो लेश्या—शरीरगत वर्ण—होता है उसे द्रव्यलेश्या कहते हैं। २ वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का वर्ण होता है उसे द्रव्यलेश्या कहा जाता है। ३ कृष्ण, नील व पीतादि द्रव्यों को ही द्रव्यलेश्या कहते हैं।

द्रव्यलोक—१. जीवाजीवं रूवारूवं सपदेसमपदेसं च। दव्वलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं॥ (मूला. ७-४७)। २. जीवमजीवे रूवमरूवी सप्पएसमप्पएसे य। जाणाहि दव्वलोगं निच्चमनिच्चं च जं दव्वं। (आव. भा. १९७)। ३. द्रव्यलोको जीवाजीवद्रव्यरूपः। (स्थाना. अभय. वृ. १-५)।

१ जीव, अजीव (काल, आकाश, धर्म, अधर्म व पुद्गल); रूपी (पुद्गल), अरूपी (काल, आकाश, धर्म, अधर्म और जीव); सप्रदेशी जीव आदि तथा अप्रदेशी कालाणु व परमाणु इन सबका नाम द्रव्यलोक है।

द्रव्यवर्गणा—तत्र द्रव्यत: एकप्रदेशिकानां यावदनन्तप्रदेशिकानाम्। (आव. नि. हरि. वृ. ३६, पृ. ३४)।

एकप्रदेशी से लेकर अनन्तप्रदेशी तक पुद्गलों की वर्गणाओं को द्रव्यवर्गणा कहा जाता है।

द्रव्यवाक्—१. तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी। (त. वा. ५-१९)। २. द्रव्यवाक् ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्ता शब्दपरिणामयोग्याः जीवपरिगृहीता। (आव. सू. मलय. वृ. १, पृ. ४४७)।

१ भाववाक्सामर्थ्य से सहित क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर वचनरूप से परिणत होने वाले पुद्गलों को द्रव्यवाक् कहा जाता है।

द्रव्यविचिकित्सा — उच्चार-प्रस्रवणादिषु मूत्र-पुरीषादिदर्शने विचिकित्सा द्रव्यगता। (मूला. वृ. ५-५५)।

मल-मूत्रादि को देखकर जो ग्लानि होती है उसे द्रव्यविचिकित्सा कहते हैं।

द्रव्यविवेक— × × × विवेकं द्रव्यतो बहिःसङ्गपरित्यागरूपं × × ×। (उत्तरा. सू. शा. वृ. ४-१०, पृ. २२५)।

बाहिरी परिग्रह के त्यागरूप विवेक को द्रव्यविवेक कहते हैं।

द्रव्यविशेष—१. तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः। (स. सि. ७-३९; त. श्लो. ७-३९)। २. द्रव्यविशेषोऽन्नादीनामेव सार-जाति-गुणोत्कर्षयोगः। (त. भा. ७-३४)। ३. तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः। दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपःस्वाध्यायपरिणामविवृद्धिकारणत्वादिर्द्रव्यविशेषः इति भाष्यते। (त. वा. ७, ३९, ३)। ४. दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्यविशेषः। (चा. सा. पृ. १५)।

१ साधु के लिए दिये जाने वाले अन्न आदि में उसे ग्रहण करने वाले साधु के तप व स्वाध्याय आदिविषयक वृद्धि की कारणता का होना, यह द्रव्यगत विशेषता है। २ अन्न आदि के गन्ध-रसादिविशिष्टतारूप सार; शालि, व्रीहि व गेहूं आदि जाति, और स्निग्ध-मधुरता रूप गुण; इनकी उत्कर्षता के सम्बन्ध को द्रव्यविशेष कहा जाता है।

द्रव्यविहङ्गम—धारेइ तं तु दव्वं तं दव्वविहङ्गमं वियाणाहि। (दशवै. नि. ११७)।

विहंगम नाम पक्षी का है। जो पक्षी पर्याय के हेतुभूत कर्मपुद्गलरूप द्रव्य को धारण करता है उसे द्रव्यविहंगम कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जो पक्षी अवस्था के कारणभूत कर्म को बांधकर भविष्य में इस भ्रमर पर्याय को प्राप्त करने वाला है उसे द्रव्यभ्रमर समझना चाहिए।

द्रव्यवेद—देखो द्रव्यलिंग। नामकर्मोदयोत्पन्नो द्रव्यवेदोऽपि च त्रिधा। (पंचसं. अमित. १-१८८)।

नामकर्म के उदय से शरीर में जो योनि-लिंगादि उत्पन्न होते हैं, यह द्रव्यवेद कहलाता है।

द्रव्यव्युत्सर्ग—द्रव्यव्युत्सर्गो—गणोपधि-शरीरान्न-पानादिव्युत्सर्गः, अथवा द्रव्यव्युत्सर्गो नाम आर्तध्या-

मादिध्यायिनः कायोत्सर्गः । (आव. नि. मलय. वृ. १०६३)।

गण (समान आचारवाले साधुओं का समूह), उपधि (रजोहरणादि), शरीर और अन्न-पान आदि के परित्याग का नाम द्रव्यव्युत्सर्ग है। अथवा आर्त आदि ध्यान करने वाले के कायोत्सर्ग को द्रव्यव्युत्सर्ग जानना चाहिए।

द्रव्यशल्य — मिथ्यादर्शन-माया-निदानशल्यानां कारणं कर्म द्रव्यशल्यम्। (भ. आ. विजयो. २५)।

मिथ्यादर्शन, माया और निदान इन तीनों शल्यों के कारणभूत कर्म को द्रव्यशल्य कहते हैं।

द्रव्यशस्त्र — कप्पणि-कुहाणि-असियग-दत्तिय-कुद्दाल-वासि-परसू अ। सत्थं वणस्सईए हत्था पाया मुहं अग्गी ॥ किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंची। एयं तु दव्वसत्थं ××× ॥ (आचारा. नि. १४६–५०, पृ ५५)।

कल्पनी (शस्त्रविशेष — कैंची या निहानी), कुहाणी (कुठारी या कुल्हाडी), असियंग (हंसिया), दात्रिका (छोटी हंसिया), कुदारी, बसूला और फरसा; ये वनस्पति छेदने आदि के शस्त्र; हाथ, पैर, मुंह और अग्नि आदि सामान्य शस्त्र; कुछ स्व(वनस्पति)काय शस्त्र (लाठी आदि) तथा कुछ परकायशस्त्र (पाषाण व अग्नि आदि); ये सब द्रव्यशस्त्र कहलाते हैं।

द्रव्यशुद्धि—१. दव्वसोधी मलिनं वस्त्रादि पानीयेन शुद्धयतः। (उत्तरा. चू. १२, पृ. २११)। २. ज्वर-कुक्षि-शिरोरोग-दुःस्वप्न-रुधिर-विण्मूत्र-लेपातीसार-पूयस्रावादीनां शरीरे अभावो द्रव्यशुद्धिः। (धव. पु. ६, पृ. २५३)।

१ मलिन वस्त्र आदि, जो जल से शुद्ध होते हैं, यह द्रव्यशुद्धि कहलाती है। २ शरीर में ज्वर, कुक्षि-रोग, शिरोरोग, दुःस्वप्न, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, लेप, अतीसार और पीब का बहना; इत्यादि के न रहने का नाम द्रव्यशुद्धि है।

द्रव्यश्रुत—देखो द्रव्यसूत्र। १. तत्थक्खरलंभे अभिलावे वा दव्वसुत्तं। (नन्दी. चू. पृ. ३४)। २. तन्निमित्तं (भावश्रुतनिमित्तं) तु वचनं द्रव्यश्रुतम्। (अन. ध. स्वो. टी. ३–५); द्रव्यतोऽङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यभेदाद् द्विधा मतम् ॥ (अन. ध. ३, ६); द्रव्यश्रुतं त्वाचारादिद्वादशभेदमङ्गप्रविष्टम्, अङ्गबाह्यं च प्रकीर्णकाख्यं सामायिकादि चतुर्दशभेदम्। (अन. ध. स्वो. टी. ३–६)। ३. वर्ण-पद-वाक्यात्मकं द्रव्यरूपं (श्रुतम्)। तस्य भावश्रुतस्य वा श्रवणं श्रुतमिति निरुक्तेः। (लघीय. अभय. वृ. ६–१२, पृ. ८३)। ४. पुद्गलद्रव्यरूपं वर्ण-पद-वाक्यात्मकं द्रव्यश्रुतम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३४८)।

१ अक्षरों की प्राप्ति अथवा उच्चारण, यह द्रव्यश्रुत कहलाता है। २ भावश्रुत के आश्रय से उत्पन्न होने वाले श्रुत को—बारह अंग और चौदह प्रकार के अंगबाह्य रूप वचनात्मक श्रुत को द्रव्यश्रुत कहा जाता है।

द्रव्यसमवाय—१. धर्माऽधर्मास्तिकाय-लोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वादेकेन प्रमाणेन द्रव्याणां समवायनाद् द्रव्यसमवायः। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ६, पृ. १६६)। २. तत्थ दव्वसमवायो धम्मत्थिय-अधम्मत्थिय लोगागास-एगजीवपदेसा च समा। (धव. पु. १, पृ. १०१)। ३. द्रव्याश्रयेण धर्मास्तिकायेन अधर्मास्तिकायः सदृशः, संसारिजीवेन संसारिजीवः सदृशः, मुक्तजीवेन मुक्तजीवः सदृशः, इत्यादिद्रव्यसमुदायः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. ३५६)।

१ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव; इन द्रव्यों के असंख्यात प्रदेशरूप एक प्रमाण से चूंकि समानता है, अतएव इसे (समान समुदाय को) द्रव्यसमवाय कहा जाता है।

द्रव्यसमाधि—१. दव्वं जेण व दव्वेण समाही आहियं च जं दव्वं। (दशवै. नि. ३२७)। २. पंचसु विसएसु सुभेसु दव्वंमि ता भवे समाहित्ति। (सूत्रकृ. नि. १, १०, १०५)। ३. द्रव्यसमाधिः येन द्रव्येण समाधिः उत्पद्यते। (उत्तरा. चू. १५, पृ. २३६)। ४. पञ्चस्वपि शब्दादिषु मनोज्ञेषु विषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां यथास्वं प्राप्तौ सत्यां यस्तुष्टिविशेषः स द्रव्यसमाधिः, ××× यदि वा द्रव्ययोर्द्रव्याणां वा सम्मिश्राणामविरोधिनां सतां न रसोपघातो भवति, अपि तु रसपुष्टिः स द्रव्यसमाधिः, तद्यथा—क्षीर-शर्करयोर्दधि-गुड-चातुर्जातकादीनां चेति। येन वा द्रव्येणोपभुक्तेन समाधिपानकादिना समाधिर्भवति तद् द्रव्यं द्रव्यसमाधिः। तुलाद्यारोपितं वा यत् द्रव्यं समतामुपैतीत्यादिको द्रव्यसमा-

धि:। (मूला. वि. टी. १, १०, १०५१, पृ. १८६–८७)।

१ पाकरूप द्रव्य को अथवा अविरोधी दूध एवं गुड़ आदि द्रव्य को द्रव्यसमाधि कहा जाता है, तथा त्रिफला आदि, जिस द्रव्य के उपयोग से समाधान होता है, उसे भी द्रव्यसमाधि कहते हैं, अथवा तराजू या कांटे आदि पर स्थापित सो पल (तोला आदि जैसा मापविशेष) आदि के समान जो द्रव्य स्व-स्थान में समता को करता है उसे द्रव्यसमाधि जानना चाहिए। २ अभीष्ट शब्दादि पांच इन्द्रिय-विषयों के प्राप्त होने पर अथवा दो आदि अवि-रोधी द्रव्यों के सम्मिश्रण से जो सन्तोष होता है उसे द्रव्यसमाधि जानना चाहिए।

द्रव्यसम्यग्दर्शन—तथा द्रव्यसम्यग्दर्शनं ये मिथ्या-दर्शनपुद्गला भव्यस्य सम्यग्दर्शनतया शुद्धि प्रति-पत्स्यन्ते तद् द्रव्यसम्यग्दर्शनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)।

मिथ्यादर्शन (दर्शनमोहनीय) कर्म के जो कर्मपर-माणु भव्य जीव के सम्यग्दर्शनरूप से भविष्य में शुद्धि को प्राप्त करने वाले हैं उन्हें द्रव्यसम्यग्दर्शन कहते हैं।

द्रव्यसंकोच—१. तत्र कर-शिरः-पादादिसंन्यासो द्रव्यसंकोचः। (ललितवि. पृ. ६)। २. तत्र द्रव्य-संकोचनं कर-शिरः-पाद्यवयवसंकोचः। (आव. नि. मलय. वृ. ८९०; जम्बूद्वी. शा. वृ. १, पृ. १०)।

१ हाथ, पैर व शिर आदि के संचालनादि के रोक देने को द्रव्यसंकोच कहते हैं। यह द्रव्यसंकोचरूप पूजा है।

द्रव्यसंयोग—द्रव्योर्द्रव्याणां वा संयोगो द्रव्यसंयोगः। (उत्तरा. चू. पृ. १५)।

दो या अधिक द्रव्यों के संयोग को द्रव्यसंयोग कहते हैं।

द्रव्यसंयोगपद—द्रव्यसंयोगपदानि यथा—दण्ड्य: गोपः दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादीनि, द्रव्यसंयोग-निबन्धनत्वात्तेषाम्। (धव. पु. १, पृ. ७७); धणु-हासि-परसुआदिसंजोगेण संजुत्तपुरिसाणं धणुहासि-परसुणामाणि दव्वसंजोगपदाणि। (धव. पु. ६, पृ. १३७)।

धनवान्, गोप, दण्डी, छत्री, गर्भिणी, धनुष, असि (तलवार) और परशु आदि द्रव्य के निमित्त से पुरुषों के भी जो धनुष, असि और परशु आदि नाम प्रसिद्ध होते हैं उन्हें द्रव्यसंयोगपद कहा जाता है।

द्रव्यसंलेखना—सर्वोन्मादमहारोगनिदानानां सम-न्ततः। शोषणं सर्वसाधूनां द्रव्यसंलेखना मता॥ (त्रि. श. पु. च. १, ६, ४३५)।

समस्त उन्माद—विषयासक्ति—और प्रबल रोगों के मूल कारणों का सर्वतः शोषण करना—उन्हें दूर करना, यह सब साधुओं की द्रव्यसंलेखना मानी गई है।

द्रव्यसंवर—१. तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादान-विच्छेदो द्रव्यसंवरः। (स. सि. ९–१; त. श्लो. ९–१)। २. तन्निरोधे तत्पूर्वककर्मपुद्गलादान-विच्छेदो द्रव्यसंवरः। तस्य संसारकारणस्य भाव-बन्धस्य निरोधे तत्पूर्वकस्य कर्मपुद्गलस्य निरासो द्रव्यसंवर इति निश्चीयते। (त. वा. ९, १, ९)। ३. तत्कर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः। (ह. पु. ५८–३००)। ४. द्रव्यसंवरोऽपिधानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)। ५. तन्निमित्तः (भावसंवरनि-मित्तः) शुभाशुभकर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यसंवरः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४२)। ६. दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्य-संवरः॥ (योगसा. अमित. ५–२)। ७. यः कर्म-पुद्गलादानविच्छेदः स्यात्तपस्विनः। स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः॥ (ज्ञाना. ५–२)। ८. भाविकल्मषविशेषरोधकं द्रव्यसंवरमपास्तकल्म-षम्। (अमित. श्रा. ३–६०)। ९. ××× दव्वासवरोहणो अण्णो। (द्रव्यसं. ३४)। १०. भावसं-वरात् कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मा-गमनाभावः स द्रव्यसंवरः। (बृ. द्रव्यसं. ३४)। ११. तेन भावनिमित्तेन नवतरद्रव्यकर्मागमनिरोधो द्रव्यसंवरः। (पंचा. का. जय. वृ. १०८); भाव-संवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसंवरः। (पंचा. का. जय. वृ. १४२); तन्निमित्तद्रव्यकर्मनिरोधो द्रव्यसंवरः। (पंचा. का. जय. वृ. १४३)। १२. द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलानां छिद्राणां तथाविधद्रव्येण स्थगनं संवरः। (स्थाना. अभय. वृ. १–१४, पृ. ११)। १३. यः कर्मपुद्गला-दानच्छेदः स द्रव्यसंवरः। (योगशा. ४–८०)। १४. व्रताद्यैः कर्मसंरोधः स भवेद् द्रव्यसंवरः।

(भावसं. वाम. ३८६)। १५. भावसंवरपूर्वको द्रव्यसंवरः कर्मपुद्गलग्रहणविच्छेद इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१)। १६. कर्मणामास्रवो भावो रागादीनामभावतः। तारतम्यतया सोऽपि प्रोच्यते द्रव्यसंवरः। (अध्यू. च. १३–१२४)। १७. चिद-चिद्भेदज्ञानान्निर्विकल्पात्समाधितस्तथापि। कर्मा-गमननिरोधस्तत्काले द्रव्यसंवरो गीतः। (अध्यात्म-क. ४–१२)।

१ संसार के कारणभूत भावबन्ध के रुक जाने पर तत्पूर्वक कर्मपुद्गलों के ग्रहण के अभाव को द्रव्य-संवर कहते हैं। १२ जल के मध्यगत नाव के जल लाने वाले छेदों को उस प्रकार के द्रव्य से स्थगित कर देना, इसका नाम द्रव्यसंवर है।

द्रव्यसंसार—देखो द्रव्यपरिवर्तन।

द्रव्यसाधु—१. दव्वम्मि लोइयाई ××× ॥ घड-पड-रहमाईणि उ साहंता हुंति दव्वसाहुत्ति। अहवावि दव्वभूया ते हुंती दव्वसाहुत्ति ॥ (आव. नि. १००८–६)। २. दव्वसाहू घड-पडाईणि साध-यंतो दव्वसाहू भण्णइ तहा बोडियणिण्हवगादि दव्वसाधू। (दशवै. चू. पृ. २६१)। ३. द्रव्यसाधु-र्ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तः लौकिकादिस्त्रिविधः। तद्यथा— लौकिको लोकोत्तरः कुप्रावचनिकश्च। तत्र यो लोके शिष्टसमाचारः घट-पटादिसाधको वा स लौकिकः। कुप्रवचनेषु निज-निजसमाचारसम्यक्-परिपालनरतः कुप्रावचनिकश्च। लोकोत्तरे निह्नवः अन्यथा पदार्थप्ररूपणतस्तस्य मिथ्यादृष्टित्वात्, शिथिलव्रतो वा वेषमात्रधारणात्। (आव. मलय. वृ. १००८)।

१ लौकिक आदि—लौकिक, लोकोत्तर और कुप्रा-वचनिक द्रव्यसाधु कहलाते है। घट-पट आदि के सिद्ध करने वाले द्रव्यसाधु माने जाते हैं। अथवा द्रव्यस्वरूप—भाव से विरहित वेषधारी—साधु द्रव्य-साधु कहे जाते हैं अथवा जो भविष्य में साधु अवस्था को प्राप्त करने वाला है उसे द्रव्यसाधु जानना चाहिए।

द्रव्यसामायिक—१. सच्चित्ताचित्तदव्वेसु राग-दोसणिरोहो दव्वसामाइयं। (जयध. १, पृ. ६८)। २. सुवर्ण-रजत-मुक्ताफल-माणिक्यादि-मृत्तिका-काष्ठ-लोष्ठ-कण्टकादिषु समदर्शनं राग-द्वेष-योरभावो द्रव्यसामायिकं नाम। (मूला. वृ. ७-१७)। ३. द्रव्यसामायिकं सुवर्ण-मृत्तिकादिद्रव्येषु रम्यारम्ये-षु समदर्शित्वम्। ××× द्रव्यसामायिकं भवि-ष्यत्परिणामाभिमुखमतीततत्परिणामं वा वस्तु द्रव्यम्, तस्य सामायिकम्। (अन. ध. स्वो टी. ८–१६)। ४. इष्टानिष्टेषु चेतनाचेतनद्रव्येषु राग-द्वेषनिवृत्तिः, सामायिकशास्त्रानुपयुक्तज्ञायकः तच्छरीरादि वा द्रव्यसामायिकम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६७–६८)। ५ इट्ठाणिट्ठेसु चेदणाचेदणदव्वेसु राय-दोसणियट्ठी सामाइयसत्थाणुवजुत्तणायगो तस्स-रीरादि वा दव्वसामाइयं। (अंगप. ३–१३, पृ. ३०५)।

१ चेतन-अचेतन द्रव्यों के विषय में राग-द्वेष के न करने को द्रव्यसामायिक कहा जाता है।

द्रव्यसूत्र—देखो द्रव्यश्रुत। ××× जिणवयण-विणिग्गयत्थादो अविसंवादेण केवलणाणसमाणादो उसहसेणादिगणहरदेवेहि विरइयसद्दरयणादो दव्व-सुत्तादो ×××। (धव. पु. ६, पृ. ३)।

जिन भगवान् के मुख से जिसका अर्थ निकला है, जो विसंवाद रहित होने से केवलज्ञान के समान है, तथा जिसकी शब्दरचना वृषभसेन आदि गणधरों के द्वारा की गई है उसे द्रव्यसूत्र या द्रव्यश्रुत जानना चाहिए।

द्रव्यस्तव—१. दव्वत्थओ पुप्फाई ××× ॥ (आव. भा. १६३)। २. चउवीसण्हं पि तित्थयर-सरीराणं विस-सत्थग्गि-पित्त वाद सेंभजणिदारं स-वेयणुम्मुक्काणं महामंडलतेएण दससु वि दिसासु बारहजोयणेहितो ओसारिदंधयाराणं सत्थि-अंकुसा-दिचउसट्ठिलक्खणाउण्णाणं सुहसंठाण-संघडणाण सु-रहिगंधेणामोइयतिहुवणाणं रत्तणयण-कडक्खसरमो-क्ख-सेय-रय-वियारादिवज्जियाणं पमाणट्ठियणह-रोमाणं खीरोअवेलातरंगजलधवलचउसट्ठिसुवण्ण-दंडसुरहिचामरविराइयाणं सुहवण्णाणं सरूवाणुसरण-पुरस्सरं तक्कित्तणं दव्वत्थओ। (जयध. पु. १, पृ. ११०–११)। ३. तीर्थंकरशरीराणं परमौदा-रिकस्वरूपाणां वर्णभेदेन स्तवनं द्रव्यस्तवः। (मूला. वृ. ७–४१)। ४. वपुर्लक्ष्मगुणोच्छ्रयजनकादिमुखेन या। लोकोत्तमानां संकीर्तिश्चित्रो द्रव्यस्तवोऽस्ति सः ॥ (अन. ध. ८–४१)। ५. द्रव्यविषयो द्रव्यस्त-वः ××× द्रव्यस्तवः पुष्पादिः, आदिशब्दात् गन्धधूपादिपरिग्रहः कारणे कार्योपचाराच्चैवमाह,

अन्यथा द्रव्यस्तवः पुष्पादिभिः समभ्यर्चनमिति द्रष्टव्यम् । (आव. भा. मलय. वृ. १९३, पृ. ५६०)।

१ पुष्प व गन्ध-धूपादि रूप पूजा की सामग्री को कारण में कार्य के उपचार से द्रव्यस्तव कहा जाता है। २ विष-शस्त्रादि जनित वेदना से रहित, अपने तेज से दसों दिशाओं में बारह योजन प्रमाण क्षेत्र से अन्धकार को दूर करने वाले, स्वस्तिक व अंकुश आदि चौंसठ लक्षणों से परिपूर्ण, उत्तम संस्थान व संहनन से सहित, सुरभि गन्ध से तीनों लोकों को सुगन्धित करने वाले लाल नेत्र व कटाक्षरूप बाणों के छोड़ने आदि रूप विकार से विरहित तथा प्रमाणयुक्त नख-रोमादि से संयुक्त ऐसे चौबीस तीर्थंकरों के शरीरों का स्वरूपानुसरणपूर्वक कीर्तन करना, इसका नाम द्रव्यस्तव है। ५ द्रव्यविषयक स्तवन—पुष्प एवं गंध-धूपादि—को कारण में कार्य का उपचार करके द्रव्यस्तव कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि पुष्पादि द्रव्य से पूजा करना, इसे द्रव्यस्तव कहते हैं।

द्रव्यस्त्री—१. स्त्रीवेदोदयसहितांगोपांगनामकर्मोदयात् निर्लोममुख-स्तन योन्यादिलिंगलक्षितशरीरा द्रव्यस्त्री। (गो. जी. म. प्र. टी. २७१)। २. स्त्रीवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांगनामकर्मोदयेन निर्लोममुख-स्तन-योन्यादिलिंगलक्षितशरीरयुक्तो जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंतं द्रव्यस्त्री। (गो. जी. जी. प्र. टी. २७१)।

१ स्त्रीवेद के उदय के साथ अंगोपांगनामकर्म के उदय से जिसका शरीर रोमरहित मुख के साथ स्तन और योनि आदि चिह्नों से उपलक्षित हो उसे द्रव्यस्त्री कहते हैं।

द्रव्यस्थान—द्रव्यस्थानं सर्वद्रव्याणां स्थानमाकाशः। (उत्तरा. चू. १६ पृ. २४०)।

सर्व द्रव्यों के स्थानभूत आकाश द्रव्य को द्रव्यस्थान कहते हैं।

द्रव्यस्नान—जलेन देहदेशस्य क्षणं यच्छुद्धिकारणम्। प्रायोऽन्यानुपरोधेन द्रव्यस्नानं तदुच्यते। (अष्टक २-२)।

अन्य के उपरोध के बिना जो जल से क्षण भर के लिए शरीर देश की शुद्धि का कारण है उसे द्रव्यस्नान कहते हैं।

द्रव्यस्पर्श—१. जं दव्वं दव्वेण पुसदि सो सव्वो दव्वफासो। (षट्खं. ५, ३, १२)। २. एयपोग्गलदव्वस्स सेसपोग्गलदव्वेहि संजोगो समवाओ वा दव्वफासो णाम। अथवा जीवदव्वस्स पोग्गलदव्वस्स य जो एयत्तेण सबधो सो दव्वफासो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ११)।

१ एक द्रव्य अन्य द्रव्य का जो स्पर्श करता है, इसे द्रव्यस्पर्श कहते हैं। २ एक पुद्गल द्रव्य का जो शेष पुद्गल द्रव्यों के साथ संयोग या समवायरूप सम्बन्ध होता है इसका नाम द्रव्यस्पर्श है। अथवा जीवद्रव्य का पुद्गल द्रव्य के साथ जो एकत्वरूप से सम्बन्ध होता है उसे भी द्रव्यस्पर्श कहा जाता है।

द्रव्यागार—द्रव्यागारमगैः — द्रुम-दृषदादिभिः—निर्वृत्तम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १-१ पृ. १६)।

वृक्ष (लकड़ी) एवं पत्थर आदि से बने हुए घर को द्रव्यागार कहते हैं।

द्रव्याग्नि—दव्वाइसन्निकरिसा उप्पन्नो ताणि चेव डहमाणो। दव्वग्गित्ति पवुच्चइ आदिमभावाइजुत्तो वि॥ (बृहत्क. २१४७)।

जो द्रव्य—अरणि काष्ठ व पुरुष-प्रयत्न—के सम्बन्ध से उत्पन्न होकर उन्हीं काष्ठ आदि द्रव्यों को जला देता है वह आदिम (औदयिक) भाव—अग्निनामकर्म के उदय व पारिणामिक भाव—से संयुक्त होने पर भी द्रव्य अग्नि कहलाता है।

द्रव्याजीव—द्रव्याजीवो गुणादिवियुतो बुद्धिस्थापितः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५, पृ. ४६)।

गुणादि से रहित बुद्धि में स्थापित पदार्थ को द्रव्याजीव कहते हैं।

द्रव्याधःकर्म—जं दव्वं उदगाइसु छूढमहे वयइ जं च भारेणं। सीईए रज्जुएण व ओयरणं दव्वहेकम्मं॥ (पिण्डनि. ९८)।

जो पाषाणादि पानी में छोड़ने पर भार के कारण नीचे जाते हैं तथा जो (पुरुषादि) नसैनी या रस्सी के आश्रय से क्रमशः नीचे जाते हैं उनकी नीचे जाने रूप इस क्रिया को द्रव्य-अधःकर्म कहा जाता है।

द्रव्याधिकरण—तत्र द्रव्याधिकरणं छेदन-भेदनादि शस्त्र च दशविधम्। (त. भा. ६-८)।

छेदन-भेदने आदि के उपकरणों और दश प्रकार के शस्त्रों को द्रव्याधिकरण कहते हैं।

द्रव्यानुयोग—१. जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च

बन्ध-मोक्षौ च । द्रव्यानुयोग-दीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ (रत्नक. ४६) । २. दव्वस्स जोऽणुओगो दव्वे दव्वेण दव्वहेऊ वा । दव्वस्स पज्जवेण व जोगो दव्वेण वा जोगो ॥ बहुवयणओऽवि एवं नेओ जो वा कहे अणुवउत्तो । दव्वाणुयोग एसो × × ×॥ (विशेषा. १३९८–९९) । ३. जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मावबोधनम् । बन्ध-मोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥ (उपासका. ९१९) । ४. प्राभृततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषड्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो भण्यते । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२, पृ. १९०) । ५. द्रव्यस्य द्रव्याणां द्रव्येण द्रव्यैर्द्रव्ये द्रव्येषु वा अनुयोगो द्रव्यानुयोगः । (आव. नि. मलय. वृ. १२९, पृ. १३०) । ६. जीवाजीवौ बन्ध-मोक्षौ पुण्य-पापे च वेदितुम् । द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियः ॥ (अन. ध. ३–१२) ।

१ जो श्रुतज्ञान के प्रकाश में जीव-अजीव, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष आदि तत्त्वों को दीपक के समान प्रगट करता है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं । २ द्रव्य का, द्रव्य में, द्रव्य के द्वारा अथवा द्रव्यहेतुक जो अनुयोग होता है उसका नाम द्रव्यानुयोग है । इसके अतिरिक्त द्रव्य का पर्याय के साथ अथवा द्रव्य का द्रव्य के ही साथ जो योग (सम्बन्ध) होता है उसे भी द्रव्यानुयोग कहा जाता है । इसी प्रकार बहुवचन (द्रव्यों का व द्रव्यों में इत्यादि) से भी जानना चाहिए ।

द्रव्याभिग्रह— लेवडमलेवडं वा अमुगं दव्वं च अज्ज भिक्खामि । अमुगेण व दव्वेणं अह दव्वाभिग्गहो नाम । (बृहत्क. १६४८) ।

लेपकृत (लेपमिश्रित जगारी आदि) या लेप से रहित (वाल व चना आदि) भोज्य वस्तु को, अथवा अमुक (मंडक आदि) वस्तु को मैं आज ग्रहण करूंगा, अथवा अमुक द्रव्य— जैसे कलछी या चम्मच आदि—के द्वारा दिये गये भोज्य पदार्थ को ही मैं आज ग्रहण करूंगा; इस प्रकार के नियमविशेष का नाम द्रव्याभिग्रह है ।

द्रव्यार्थिकनय—१. द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः । (स. सि. १–६; धव. पु. ९, पृ. १७०); द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः, तद्विषयो द्रव्यार्थिकः । (स. सि. १-३३) । २. तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवागरणी । दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥ दव्वट्ठियणयपयई सुद्धा संगहपरूवणाविसयो । (सन्मति. १, ३–४) । ३. द्रव्यमस्तीति मतिरस्य द्रव्यभवनमेव नातोऽन्ये भावविकाराः, नाप्यभावस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति द्रव्यास्तिकः । × × × अथवा द्रव्यमेवार्थोऽस्य, न गुण-कर्मणी, तदवस्थारूपत्वादिति द्रव्यार्थिकः । × × × अथवाऽर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम् । द्रवति गच्छतीति द्रव्यं कारणम् । द्रव्यमेवार्थोऽस्य कारणमेव कार्यं नार्थान्तरम्, न च कार्य-कारणयोः कश्चिद् रूपभेदः तदुभयमेकाकारमेव पर्वाङ्गुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिकः । × × × अथवा अर्थनमर्थः प्रयोजनम्, द्रव्यमेवार्थोऽस्य प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिलिंगदर्शनस्य निह्नोतुमशक्यत्वादिति द्रव्यार्थिकः । (त. वा. १, ३३, १) । ४. द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति वा द्रव्यम्, तदेवार्थो यस्य स द्रव्यार्थिकः, सोऽभेदाश्रयः । (लघीय. स्वो. वृ. ३०, पृ. ६०७) । ५. द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्, द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । (धव. पु. १, पृ. ८३); द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । (धव. पु. ९, पृ. १७०) । ६. द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । तद्भवलक्षणसामान्येनाभिन्नं सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च वस्त्वभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति । (जयध. १, पृ. २१६) । ७. पज्जयगउणं किच्चा दव्वं पि य जो हु गिण्हए लोए । सो दव्वत्थिय भणिओ × × × ॥ (ल. न. च. १७; द्रव्यस्व. १९०) । ८. अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः । नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः ॥ (त. सा. १–३९) । ९. जो साहदि सामण्णं अविणाभूदं विसेसरूवेहिं । णाणाजुत्तिबलादो दव्वत्थो सो णओ होदि ॥ (कार्तिके. २६९) । १०. द्रव्यमेवार्थो विषयो यस्यास्ति स द्रव्यार्थिकः । (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६७६) । ११. द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । (नि. सा. वृ. १९) । १२. द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्, तदेवार्थः, सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः । (रत्नाकरा. ७-५, पृ. १२५) । १३. द्रव्यं सामा-

न्यमभेदोऽन्वय उत्सर्गोऽर्थो विषयो येषां ते द्रव्यार्थिकाः। (लघीय. अभय. वृ. ३०, पृ. ५१)। १४. द्रव्यं सामान्यम् उत्सर्गः अनुवृत्तिरिति यावत, द्रव्यम् अर्थो विषयो यस्य स द्रव्यार्थिकः। (त. वृत्ति श्रुत. १–३३)। १५. द्रव्यं सम्मुखतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य। भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः। (पञ्चाध्या. १–५१८)।

१ जिसका प्रयोजन द्रव्य है, अर्थात् जो द्रव्य (सामान्य) को विषय करता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। १२ जो विविध पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त करता है, भविष्य में प्राप्त करेगा, और जिसने भूतकाल में उन्हें प्राप्त किया है, उसका नाम द्रव्य है। इस द्रव्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

द्रव्यार्थिकनिक्षेप—द्रवति अतीतानागतपर्यायानधिकरणत्वेन अविचलितरूपं स (सत्) गच्छतीति द्रव्यम्, तच्च भूत-भाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतनं वा अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः। (सन्मति. अभय. वृ. ६, पृ. ३८७)।

जो स्थिर स्वरूप (ध्रुवता) को प्राप्त होता हुआ भूत और भविष्यत् काल की पर्यायों को आधार रूप से प्राप्त होता है उसका नाम द्रव्य है। वह चेतन अथवा अचेतन द्रव्य ही निश्चय से भूत और भावी पर्यायों का कारण होने से अनुपचरित द्रव्यार्थिकनिक्षेप कहलाता है। उदाहरण के रूप में शब्द के कृतक (अनित्य) होने पर भी वह संकेत द्वारा जिस-जिस अर्थ में नियुक्त किया जाता है उस-उस अर्थ में वह वाचकरूप से प्रवृत्त होता है। इस प्रकार द्रव्य के सदृश होने से वह द्रव्यार्थिक निक्षेप है। कारण यह कि वाच्य और वाचक एवं उनके सम्बन्ध के नित्य होने से द्रव्यार्थता वहां है ही।

द्रव्यार्थिकनैगम—१. सर्वमेकं सदविशेषात्, सर्वं द्विविधं जीवाजीवभेदादित्यादियुक्त्यवष्टम्भबलेन विषयीकृतसंग्रह-व्यवहारनयविषयः द्रव्यार्थिकनैगमः। (जयध. पु. १, पृ. २४४)। २. न एकगमो नैगम इति न्यायात् × × × (शुद्धाशुद्ध) द्रव्यार्थिकनयद्वयविषयः द्रव्यार्थिकनैगमः। (धव. पु. ६, पृ. १८१)।

१ जो संग्रह और व्यवहार इन दोनों नयों के विषय को ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नैगमनय कहते हैं।

द्रव्यावग्रह—१. देविंदमचित्त मीसग दव्वा खलु उग्गहेसु एएसु। जो जेण परिग्गहिओ सो दव्वे उग्गहो होइ॥ (बृहत्क. ६८१)। २. सचित्तादिद्रव्यावग्रहणं द्रव्यावग्रहः। (आव. नि. हरि. वृ. १२२१, पृ. ५४६)। ३. द्रव्यस्य मुक्ताफलादेरवग्रहणं द्रव्यावग्रहः। (प्रव. सारो. वृ. १२६)।

१ देवेन्द्र, राजा, गृहपति, सागारिक और साधर्मिक इन पांच अवग्रहों में जो चेतन—स्त्री-पुरुषादिक, अचेतन—वस्त्र-पात्रादि—और मिश्र—अलंकारयुक्त स्त्री-पुरुषादि—द्रव्य हैं, वे तत् तत् (देवेन्द्र आदि) द्रव्यावग्रह कहलाते हैं। २ सचित्त आदि द्रव्य के अवग्रहण का नाम द्रव्यावग्रह है। नाम व स्थापनादि के भेद से छह प्रकार के अवग्रह में यह तीसरा है।

द्रव्यावधिमरण—किमुक्तं भवति ? अवधिः मर्यादा, ततश्च यानि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते पुनर्यदि तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा द्रव्यावधिमरणम्, तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधेर्यावज्जीवस्य मृतत्वात्, सम्भवति हि गृहीतोज्झितानामपि कर्मदलिकानां पुनर्ग्रहणं परिणामवैचित्र्यादिति। (प्रव. सारो. वृ. १००६, पृ. २९९)।

अवधि का अर्थ मर्यादा होता है। नारक आदि भव के कारण रूप से जिन आयुकर्म के प्रदेशों का अनुभव करके मरता है, वह यदि फिर से उन्हीं का अनुभव करके मरेगा तो यह द्रव्यावधिमरण कहलाता है। कारण यह है कि उन द्रव्यों की अपेक्षा उनके फिर से ग्रहण होने तक जीव मरण को प्राप्त होता है। इसका भी कारण यह है कि परिणामों की विचित्रता से जिन कर्मप्रदेशों को ग्रहण करके छोड़ दिया है उनका फिर से ग्रहण होना सम्भव है।

द्रव्यावश्यक—१. तत्र द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं, द्रव्यं च तदावश्यकं च द्रव्यावश्यकम, भावावश्यककारणमित्यर्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८)। २. तत्र द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्—विवक्षितयोरतीत-भविष्यद्भावयोः कारणम्, अनुभूतविवक्षितभावमनुभविष्यद्विवक्षित-

भावं वा वस्तित्वमर्थः, द्रव्यं च तदावश्यकं च द्रव्यावश्यकम्, अनुभूतावश्यकपरिणाममनुभविष्यदावश्यकपरिणामं वा साधुदेहादीत्यर्थः। (अनुयो. मल. हे. वृ. सू. १२)।

२ अतीत और भविष्यत् विवक्षित पर्याय का जो कारण है वह द्रव्य कहलाता है, द्रव्यस्वरूप आवश्यक को द्रव्यावश्यक जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जो आवश्यक परिणाम का अनुभव कर चुका है या भविष्य में अनुभव करने वाला है-ऐसे साधु-शरीरादि को द्रव्यावश्यक जानना चाहिए।

द्रव्यावीचिमरण—१. अणुसमयनिरंतरमाविइसन्नियं तं भणंति पंचविहं। दव्वे खेत्ते काले भवे य भावे य संसारे॥ (प्रव. सारो. १००८)। २. तत्र द्रव्यावीचिमरणं नाम यन्नारक-तिर्यग्नरामराणामुत्पत्तिसमयात् प्रभृति निज-निजायुःकर्मदलिकानामनुसमयमनुभवनाद्विचटनम्। (प्रव. सारो. वृ. १००८, पृ. २९९)।

नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवों के उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर प्रतिसमय अपने-अपने आयुकर्म के निषेक उदय में आकर जो झड़ते जाते हैं उसे द्रव्यावीचिमरण कहते हैं।

द्रव्यास्तिक—देखो द्रव्यार्थिकनय। १. तथा अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयः अव्यवच्छित्तिनयः, द्रव्यास्तिकनय इत्यर्थः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ८४)। २. एवं च ध्रौव्यद्रव्यास्तिकः, अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकः द्रव्य एवास्तिको द्रव्यास्तिकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२९, पृ. ३७५); अस्ति मतिरस्येत्यास्तिकम्, ××× द्रव्ये आस्तिकं द्रव्यास्तिकम्। ××× अथवा अधिकरणशेषभावविवक्षायां द्रव्यस्यास्तिकं द्रव्यास्तिकम्। अथवा आस्तिकमस्तिमति। किं तत्? नयरूपं प्रतिपादयितृ। कस्य प्रतिपादकम्? द्रव्यस्य। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-३१, पृ. ४००)।

१ अव्यवच्छित्ति (ध्रुवता) के प्रतिपादन करने वाले नय को अव्यवच्छित्तिनय या द्रव्यास्तिकनय कहा जाता है।

द्रव्यास्रव—१. द्रव्यास्रवस्तु आत्मसमवेताः पुद्गला अनुदिता रागादिपरिणामेन। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५)। २. ××× कम्मासवणं परो होदि। (द्रव्यसं. २९); णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि। दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो॥ (द्रव्यसं. ३१)। ३. तद्भूत तं णिमित्तं जोगं जं पुग्गले पदेसत्थं। परिणमदि कम्मभावं तं पि हु दव्वासवं जीवे॥ (द्रव्यस्व. १५३)। ४. भावास्रवनिमित्तेन तैलम्रक्षितानां धूलिसमागम इव ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामास्रवणमागमनं द्रव्यास्रवः। (बृ. द्रव्यसं. टी. २९)। ५. भावनिमित्तेन कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां योगद्वारेणागमनं द्रव्यास्रवः। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ६. उदयोदीरणाकर्म द्रव्यास्रवो मतः (?)। (आचा. सा. ३-३०)। ७. ततो द्रव्यास्रवो योऽसौ कर्माष्टकसमाश्रयः। (भावसं. वाम. १८६)। ८. सत्सु भावास्रवेष्वाशु योग्याः कार्मणवर्गणाः। गच्छन्ति कर्मपर्यायैः स च द्रव्यास्रवः स्मृतः॥ (जम्बू. च. ३-५५); तद्धेतोः कर्मरूपेण भावो द्रव्यास्रवः स्मृतः। (जम्बू. च. १३-१०१)।

१ आत्मा में समवाय को प्राप्त हुए जो कर्मपुद्गल रागादि परिणामरूप से उदय को प्राप्त नहीं है उन्हें द्रव्यास्रव कहा जाता है। २ ज्ञानावरणादि के योग्य पुद्गलों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय—१. निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। (त. सू. २-१७)। २. द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम्। (लघीय. स्वो. वृ. १-५)। ३. द्रव्येन्द्रियं बाह्यनिर्वृत्तिसाधकतमकरणरूपम्। (ललितवि. पृ. ३९)। ४. तत्र पुद्गलैर्बाह्यसंस्थाननिर्वृत्तिः कदम्बपुष्पाद्याकृतिविशिष्टोपकरणं च द्रव्येन्द्रियम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २८)। ५. आत्मभावपरिणामस्य भाविनो यत् सहायतया क्षमं द्रव्यं तदिह द्रव्येन्द्रियं प्रत्यवारुवदेषितव्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-१७)। ६. द्रव्येन्द्रियं नाम निर्वृत्युपकरणो मसूरिकादिसंस्थानो यः शरीरावयवः कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृतिः। (भ. आ. विजयो. ११५); द्रव्येन्द्रियं पुद्गलस्कन्धाः आत्मप्रदेशाश्च तदाधाराः। (भ. आ. विजयो. ३१३)। ७. निर्वृत्त्युपकरणं द्रव्येन्द्रियमुदाहृतम्। (त. सा. २-४०, पृ. १०४)। ८. द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम्—रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवन्तो हि पुद्गलाः, तदात्मकं तत्परिणामविशेषस्वभावम्। (न्यायकु. १-५, पृ. १५५)। ९. द्रव्येन्द्रियं गोलकादिपरिणामविशेषपरिणतरूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्पुद्गलात्मकम्। (प्र. क. मा. २-५, पृ.

२२१) । १०. ××× तु दव्वं देहुदयजदेहचिण्हं तु ॥ (गो. जी. १६५) । ११. पुद्गलपरिणामो द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्त्युपकरणलक्षणम् । (लघीय. अभय. वृ. १-५, पृ. १४) । १२. द्रव्यं पुद्गलपर्यायः, तद्रूपमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रियम् । (गो. जी. मं. प्र. टी. १६५) । १३. प्रतिनियतसंस्थानाभिव्यंजकरूप[पि] पुद्गलद्रव्यात्मकमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रियम् । (गो. जी. जी. प्र. १६५) ।

१ निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहा जाता है । ४ पुद्गलों के द्वारा जो बाहिरी आकार की रचना होती है उसे तथा कदम्बपुष्प आदि के आकार से युक्त उपकरण—ज्ञान के साधन—को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ।

द्रव्योत्थान—द्रव्योत्थानं शरीरं स्थाणुवदूर्ध्वम् अविचलमवस्थानम् । (भ. आ. विजयो. ११६) ।

कायोत्सर्ग करते समय शरीर को स्थाणु (ठूंठ) के समान ऊंचा स्थिर रखने को द्रव्योत्थान कहते हैं । यह उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग के प्रसंग में कहा गया द्रव्योत्थान का लक्षण है ।

द्रव्योत्सर्ग—यत्र द्रव्ये उत्सृजति द्रव्यभूतो वा अनुपयुक्तो वा उत्सृजति एष द्रव्योत्सर्गः । (आव. नि. हरि. वृ. १४५२, पृ. ७७१) ।

जिस द्रव्य के विषय में त्याग करता है उसे द्रव्योत्सर्ग कहते हैं, अथवा जो द्रव्यभूत या तद्विषयक उपयोग से रहित आता है उसे द्रव्योत्सर्ग जानना चाहिए ।

द्रव्योत्सृत (कायोत्सर्ग)—१. धम्मं सुक्कं च दुवे नवि झायइ नवि य अट्ट-रुद्दाइं । एसो काउस्सग्गो दव्वुसिओ होइ नायव्वो ॥ (आव. नि. १४८०) । २. धर्मं शुक्लं च द्वे नापि ध्यायति, नापि आर्त-रौद्रे, एष कायोत्सर्गो द्रव्योत्सृतो भवति । (आव. नि. हरि. वृ. १४८०) ।

१ जो न तो धर्म और शुक्ल इन दो का ध्यान करता है और न आर्त व रौद्र इन दो का भी ध्यान करता है, वह द्रव्योत्सृत कायोत्सर्ग कहलाता है ।

द्रव्योद्गम—दव्वंमि लड्डुगाइ ××× । (पिण्डनि. ८६) ।

द्रव्य—लड्डू आदि—विषयक उद्गम को द्रव्योद्गम कहा जाता है ।

द्रव्योद्योत—दव्वुज्जोओ अग्गी चंदो सूरो मणी चेव । (मूला. ७-५५); दव्वुज्जोओज्जोओ पडिहण्णदि परिमिदम्हि खेत्तम्हि । (मूला. ७-५८) ।

अग्नि, चन्द्र, सूर्य एवं मणि; ये द्रव्योद्योतस्वरूप हैं । यह द्रव्योद्योत परिमित क्षेत्र में रहता और अन्य द्रव्य के द्वारा प्रतिघात को भी प्राप्त होता है ।

द्रव्योपक्रम—१. तत्र द्रव्यस्य नटादेरुपक्रमणं—कालान्तरभाविनोऽपि पर्यायेण सहेदानीमेवोपायविशेषतः संयोजनं द्रव्योपक्रमः, अथवा द्रव्येण—घृतादिना, द्रव्ये भूम्यादौ, द्रव्यतः घृतादेरेवोपक्रमो द्रव्योपक्रम इत्यादिकारकयोजना विवक्षया कर्तव्येति । (अनुयो. मल. हेम. वृ. ६०, पृ. ४५) । २. द्रव्यस्य द्रव्याणां द्रव्येण द्रव्यैर्वा द्रव्ये द्रव्येषु वा उपक्रमो द्रव्योपक्रमः । तत्र द्रव्यस्योपक्रमो यथा एकस्य पुरुषस्य शिक्षाकरणम्, द्रव्याणामुपक्रमो यथा तेषामेव बहूनाम्, द्रव्येणोपक्रमो यथा फलकेन समुद्रतरणम्, द्रव्यैरुपक्रमो बहुभिर्यथा फलकैर्नावं निष्पाद्य समुद्रोल्लंघनम्, द्रव्ये उपक्रमो यथा कस्याप्येकस्मिन् फलके उपविष्टस्य शिक्षाकरणम्, द्रव्येषूपक्रमो बहुषूपविष्टस्य । (आव. नि. मलय. वृ. ७६) ।

१ नट आदि द्रव्य का कालान्तर में होने वाली भी पर्याय के साथ उपायविशेष से वर्तमान में ही संयोजन करने को द्रव्योपक्रम कहते हैं । अथवा घी आदि के द्वारा, अथवा भूमि आदि द्रव्य के विषय में अथवा घृत आदि द्रव्य से जो उपक्रम किया जाता है उसे द्रव्योपक्रम जानना चाहिए; इत्यादि विवक्षा के अनुसार कारकों की योजना करना चाहिए ।

द्रुहिल— द्रोहस्वभावं द्रुहिलम्, यथा—"यस्य बुद्धिर्न लिप्यते हत्वा सर्वमिदं जगत् । आकाशमिव पङ्केन नासौ पापेन युज्यते ॥" कलुषं वा द्रुहिलम्, येन समता पुण्य-पापयोरापाद्यते, यथा— एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्ति बहुश्रुताः ॥ इत्यादि । (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ८८१) ।

द्रोहात्मक वचन को द्रुहिल कहा जाता है । जैसे—समस्त लोक को नष्ट करके जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं की जाती है वह, जैसे कीचड़ से आकाश कभी लिप्त नहीं होता, वैसे पाप से लिप्त नहीं होता है । अथवा जिस वचन के द्वारा पुण्य और पाप में समानता दिखलायी जाती है ऐसे कलुष

वचन को कुहिल जानना चाहिए। यह ३२ सूत्र-दोषों में छठा सूत्रदोष है।

द्रोण—१. चतुराढकं द्रोणः। (त. वा. ३, ३८, ३, पृ. २०६)। २. चतुर्भिराढकैर्द्रोणो ××× (गणितसा. १–३७)।

१ चार आढक प्रमाण माप को द्रोण कहते हैं।

द्रोणपथ—देखो द्रोणमुख। द्रोणपथं जल-स्थल-पथोपेतम्। जलपथयुक्तं स्थलपथयुक्तं वा रत्नभूमिः इत्यन्ये। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. १७५)।

जो नगर जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों से संयुक्त होता है उसे द्रोणपथ कहते हैं। दूसरे किन्हीं का कहना है कि जलमार्ग अथवा स्थलमार्ग से युक्त रत्नभूमि को द्रोणपथ कहा जाता है।

द्रोणमुख—देखो द्रोणपथ। १. दोणामुहाभिधाणं सरिवइवेलाए वेढियं जाण। (ति. प. ४–१४००)। २. समुद्र-निम्नगासमीपस्थमवतरन्नौनिवहं द्रोणमुखं नाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३५)। ३. द्रोणमुखं जलपथ-स्थलपथोपेतम्। (औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७४)।

१ समुद्र की वेला से वेष्टित पुर को द्रोणमुख कहा जाता है। २ समुद्र और नदी के समीपवर्ती स्थान को, जहां नौकाएं उतरती हैं, द्रोणमुख कहते हैं। ३ जलमार्ग और स्थलमार्ग से युक्त स्थान को द्रोणमुख कहते हैं।

द्वन्द्वसमास—१. तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः। तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वो वेदितव्यः—द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्य-पर्याया इति। (त. वा. १, २९, ५)। २. उभयप्रधानो द्वन्द्वः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७३)।

१ दो पदों के मध्य में जो परस्पर सम्बन्धरूप समास होता है उसका नाम द्वन्द्वसमास है। प्रकृत में द्रव्य और पर्याय इन दो शब्दों में द्वन्द्वसमास की सूचना की गई है। २ जिस समास में दोनों पद प्रधान होते हैं उसे द्वन्द्वसमास कहते हैं।

द्वापर—देखो द्वापरयुग्म। चतुर्विभक्ते द्विशेषो द्वापरसंज्ञः। (पञ्चसं. स्वो. वृ. ब. क. ५८, पृ. ५०)।

जिस राशि में चार का भाग देने पर दो शेष रहते हैं उसे द्वापर कहते हैं।

द्वापरयुग्म—देखो दावरयुम्म। इयमत्र भावना—केचिद्विवक्षिताः राशयश्चत्वारः स्थाप्यन्ते, तेषां चतुर्भिर्भागो ह्रियते, भागे च हृते ××× द्वौ शेषौ स द्वापरयुग्मः, यथा चतुर्दश। (पंचसं. मलय. वृ. अनु. ५८, पृ. ५०)।

जिस राशि में चार का भाग देने पर दो शेष रहते हैं उसे द्वापरयुग्म कहते हैं। जैसे—१४ ÷ ४ = ३, शेष २)।

द्वापरयुग्मकल्योज—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा, से तं दावरजुम्मकलिओगे। (भगवती ४, ३५, १, २, पृ. ३३९)।

जिस राशि में चार का भाग दिये जाने पर एक शेष रहे और उस राशि के जो अवहारसमय द्वापरयुग्म होते हैं उसे द्वापरयुग्मकल्योज कहते हैं।

द्वापरयुग्मकृतयुग्म—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेण अवहीरमाणे चउपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा, से तं दावरजुम्मकडजुम्मे। (भगवती ४, ३५, १, २, पृ. ३३९)।

जिस राशि में चार का भाग दिये जाने पर चार शेष रहें और उस राशि के जो अवहारसमय द्वापरयुग्म होते हैं उसे द्वापरयुग्मकृतयुग्म कहते हैं।

द्वापरयुग्मत्र्योज—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा से तं दावरजुम्मतेओगे। (भगवती ४, ३५, १, २, पृ. ३३९)।

जिस राशि में चार का भाग दिये जाने पर तीन शेष रहें और उस राशि के जो अवहारसमय द्वापरयुग्म होते हैं उसे द्वापरयुग्मत्र्योज कहते हैं।

द्वापरयुग्मद्वापरयुग्म—जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा से तं दावरजुम्मदावरजुम्मे। (भगवती ४, ३५, १, २, पृ. ३३९)।

जिस राशि में चार का भाग दिये जाने पर दो शेष रहें और उस राशि के अवहारसमय द्वापरयुग्म होते हैं उसे द्वापरयुग्मद्वापरयुग्म कहते हैं।

द्विगुसमास—संख्यापूर्वकस्तत्पुरुषो द्विगुः समासः। यथापञ्चनदमित्यादि। (धव. पु. १, पृ. ७)।

संख्या के साथ जो तत्पुरुष समास होता है वह द्विगुसमास कहलाता है। जैसे—पञ्चनद (पांच नदियों का समूह)।

द्विचरम—१. चरमत्वं देहस्य मनुष्यभवापेक्षया। द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः। विजयादिभ्यश्च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य ततश्च्युताः पुनर्मनुष्यभवमवाप्य सिद्ध्यन्तीति द्विचरमत्वम्। (स. सि. ४-२६)। २. द्विचरमा इति ततश्च्युताः परं द्विर्जनित्वा सिद्ध्यन्तीति। (त. भा. ४-२७)। ३. द्विचरमत्वं मनुष्यदेहद्वयापेक्षम्। ××× द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः, तेषां भावो द्विचरमत्वम्, एतन्मनुष्यदेहद्वयापेक्षमवगन्तव्यम्—विजयादिभ्यः च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य च्युता मनुष्यभवमवाप्य सिध्यन्ति इति द्विचरमदेहत्वम्। (त. वा. ४, २६, २)।

१ सूत्र में चरमपने का निर्देश मनुष्यशरीर की अपेक्षा से किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि विजयादिक विमानों से च्युत होकर सम्यक्त्व को न छोड़ते हुए जो मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं और वहां संयम का परिपालन करके फिर से विजयादि विमानों में उत्पन्न होते हैं, पश्चात् वहां से च्युत होकर पुनः मनुष्य होते हुए मुक्ति को प्राप्त होते हैं उनके दो मनुष्यभवों की अपेक्षा द्विचरमता सिद्ध है। २ जो विजयादि विमानों से च्युत होते हुए दो बार मनुष्य जन्म लेकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं।

द्विज—द्विजः द्विर्जातो मातृगर्भे जिनसमयज्ञानगर्भे चोत्पादात् द्विजः ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशामन्यतमः। (सा. ध. स्वो. टी. २-१६)।

माता के गर्भ से और जैनागम के ज्ञानरूप गर्भ से जो दो बार जन्म लेते हैं ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में किसी को भी द्विज कहा जाता है।

द्विड्राज्यलङ्घन—देखो विरुद्धराज्यातिक्रम। तथा द्विषोर्विरुद्धयोः राज्ञोरिति शेषः, राज्यं नियमिता भूमिः कटकं वा, तस्य लङ्घनं व्यवस्थातिक्रमः। व्यवस्था च परस्परविरुद्धराजकृतैव, तल्लङ्घनं चान्यतरराज्यनिवासिनः इतरराज्ये प्रवेशः ××× । (योगशा. स्वो. विव. ३-९२)।

शत्रुस्वरूप दो राजाओं के राज्य—भूमि अथवा कटक—का उल्लंघन करना, यह द्विड्राज्यलंघन नामक तीसरे अचौर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

द्वितीय मूलगुण—कोहादिपगारेहिं एवं चिय मोसविरमणं बितिओ। (धर्मसं. ८५९)।

प्रथम अहिंसाव्रत के समान क्रोध व लोभ आदि किसी भी कारण से असत्य वचन नहीं बोलना, यह साधु का दूसरा (असत्यविरमण) व्रत है।

द्वितीया प्रतिमा—द्वौ मासौ यावदखण्डितान्यविराधितानि च पूर्वप्रतिमानुष्ठानसहितानि द्वादशापि व्रतानि पालयतीति द्वितीया। (योगशा. स्वो. विव. ३-१४८)।

दो माह तक पूर्व (प्रथम) प्रतिमा के अनुष्ठान सहित अखण्डित बारह व्रतों का परिपालन करना व उनकी विराधना न होने देना, यह दूसरी प्रतिमा है।

द्वितीयोपशमसम्यक्त्व—तयोपशान्तमोहस्योपशमश्रेणियोगतः। मोहोपशमजमौपशमिकं तु द्वितीयकम्॥ (त्रि. पु. च. १, ३, ६०१)।

उपशमश्रेणि के योग से जिसका मोह (दर्शनमोह) उपशान्त हो चुका है उसके जो मोह के उपशम से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है।

द्विदल—द्विदलं मुद्ग-माषादिधान्यम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५-१८)।

मूंग व उड़द आदि जिस धान्य के दो भाग हो जाया करते हैं उसे द्विदल कहा जाता है। इसे कच्चे दूध, दही या छांछ के साथ मिलाने पर वह जीवाश्रित हो जाने के कारण अभक्ष्य—खाने के लिए अयोग्य—होता है।

द्विपद-सचित्त-प्रधानोत्तर — द्विपदमनुत्तरपुण्यप्रकृतितीर्थंकरनामाद्यनुभवनतः तीर्थंकरः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १-१, पृ. ४)।

अनुपम पुण्य प्रकृतिरूप तीर्थंकर नामकर्म का अनुभव करने वाले तीर्थंकर द्विपद-सचित्त-प्रधानोत्तर कहे जाते हैं।

द्वीन्द्रियजातिनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं बीइंदियत्तणेण समाणत्तं होदि तं कम्मं

बीइंदियणामं। (धव. पु. ६, पृ. ६८); बेइंदियभाव-णिव्वत्तयं जं कम्मं तं बीइंदियजादिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३)। २. यदुदयादात्मा द्वीन्द्रिय इत्यभिधीयते तद् द्वीन्द्रियजातिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस कर्म के उदय से जीवों के द्वीन्द्रिय रूप से समानता होती है उसे द्वीन्द्रियनामकर्म कहते हैं।

द्वीन्द्रिय जीव—१. संबुक्क-मादुवाहा संखा सिप्पी अपादगो य किमी। जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा॥ (पंचा. का. ११४)। २. कुल्ला वराड संखा अक्खुणह अरिट्ठगा य गंडोला। कुक्खिकिमि सिप्पिआई णेया बेइंदिया जीवा॥ (प्रा. पंचसं. १–७०)। ३. द्वे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रियाः। के ते? शंख-शुक्ति-कृम्यादयः। उक्तं च—कुक्खि-किमि-सिप्पि-संखा गंडोलारिट्ठ अक्खखुल्ला य। तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे॥ (धव. पु. १, पृ. २४१); द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः। (धव. पु. १, पृ. २४८ व २६४); फासिंदियावरणसव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा देसघादिफद्दयाणमुदएण जिब्भिंदियावरणस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा देसघादिफद्दयाणमुदएण चक्खु-सोद-घाणिंदियावरणाणं देसघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा सव्वघादिफद्दयाणमुदएण खओवसमियं जिब्भिंदियं समुप्पज्जदि। फासिंदियाविणाभावेण तं चेव जिब्भिंदियं बीइंदियं ति भण्णदि, बीइंदियजादिणामकम्मोदयाविणाभावादो वा। तेण वेइंदियेण वेइंदिएहि वा जुत्तो जेण बीइंदिओ णाम तेण खओवसमियाए लद्धीए बीइंदिओ त्ति सुत्ते भणिदं। (धव. पु. ७, पृ. ६४)। ४. स्पर्शन-रसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्श-रसयोः परिच्छेत्तारो द्वीन्द्रिया अमनसो भवन्तीति। (पंचा. का. अमृत. वृ. ११४)। ५. अनेनैवाभिलापेन द्वयोः स्पर्शन-रसनज्ञानयोः (आवरणक्षयोपशमाद् द्विकविज्ञानभाजः द्वीन्द्रियाः)। (कर्मस्त. गो. वृ. १, पृ. १७)।

१ शम्बूक (एक जलजन्तु), मातृवाह (एक क्षुद्र कीड़ा), शंख, सीप और पैरों से रहित कृमि आदि जो जीव स्पर्श और रस को ही जानते हैं वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। ५ स्पर्शन और रसना ज्ञानाज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो जीव स्पर्श और रस विषयक ज्ञान से युक्त होते हैं उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं।

द्वीपकुमार—१. उरःस्कन्ध-बाह्वग्रहस्तेष्वधिकप्रतिरूपाः श्यामावदाताः सिंहचिह्ना द्वीपकुमाराः। (त. भा. ४–११)। २. द्वीपकुमारा भूषणनियुक्तसिंहरूपचिह्नधराः। (जीवाजी. मलय. वृ. ११७, पृ. १६१)। ३. द्वीपकुमाराः स्कन्ध-वक्षःस्थल-बाह्वग्रहस्तेष्वधिकशोभाः उत्तप्तहेमप्रभाः। (संग्रहणी दे. वृ. ३७)। ४. द्वीपक्रीडायोगात् विविधदोऽपि द्वीपाः। × × × द्वीपाश्च ते कुमाराः द्वीपकुमाराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–१०)।

१ जो भवनवासी देव कन्धों, बाहुओं के अग्रभागों और हाथों में अधिक सुन्दर, वर्ण से श्याम तथा सिंह के चिह्न से युक्त होते हैं वे द्वीपकुमार कहलाते हैं। ४ जो द्वीपों में क्रीडा किया करते हैं उन्हें द्वीपकुमार कहते हैं।

द्वीप-सागरप्रज्ञप्ति—१. दीव-सायरपण्णत्ती बावण्णलक्ख-छत्तीसपदसहस्सेहि (५२३६०००) उद्धारपल्लपमाणेण दीव-सायरपमाणं अण्णं पि दीव-सायरंतब्भूदत्थं बहुभेयं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११०); द्वीप-सागरप्रज्ञप्तौ षट्त्रिंशत्सहस्राधिकद्विपञ्चाशच्छतसहस्रपदायां (५२३६०००) द्वीपसागराणामियत्ता तत्संस्थानं तद्विस्तृतिः तत्रस्थजिनालयाः व्यन्तरावासाः समुद्राणामुदकविशेषाश्च निरूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. २०६)। २. जा दीव सागरपण्णत्ती सा दीव-सायराणं तत्थट्ठिय-जोयिस-वण-भवणावासाणं आवासं पडि संट्ठिद-अकट्टिम-जिणभवणाणं च वण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १३३)। ३. षट्त्रिंशत्सहस्रद्विपंचाशल्लक्षपदपरिमाणा असंख्यातद्वीप-समुद्रस्वरूपप्ररूपिका द्वीप-सागरप्रज्ञप्तिः। (श्रुतभ. टी. ९, पृ. १७४)। ४. द्वीप-सागरप्रज्ञप्तिः असंख्यातद्वीप-सागराणां स्वरूपस्य तत्रस्थितज्योतिर्वनि-भावनावासानाम् आवासं प्रति विद्यमाना कृत्रिमजिनभवनादीनां च वर्णनं करोति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६१)। ५. तियसुण्ण पणवग्गतियलक्खा दीव-जलहिपण्णत्ती। अड्ढाइ(ज्जा) उद्धारसायरमिददीव-

जलहिस्स ।। (संगप. २–८, पृ. २७५) । ६. सर्वद्वीप-सागरस्वरूपनिरूपिका षट्त्रिंशत्सहस्राधिकद्वापंचाशल्लक्षपदप्रमाणा द्वीप-सागरप्रज्ञप्तिः । (त. वृत्ति श्रुत. १–२०) ।

१ जिसमें बावन लाख छत्तीस हजार पदों के द्वारा द्वीप-समुद्रों के प्रमाण और उनके अन्तर्गत अन्य पदार्थों की भी प्ररूपणा की जाती है उसे द्वीपसागरप्रज्ञप्ति कहते हैं।

द्वेष—१. तत्रैवाग्निज्वालाकल्पमात्सर्यापादनाद् द्वेष इति । (ध. बि. ८–१०) । २. तत्र द्विष्यतेऽनेनेति द्वेषः द्वेषवेदनीयं कर्म, आत्मनः क्वचिदप्रीतिपरिणामापादनात् । द्वेषणं द्वेषः द्वेषवेदनीयकर्मापादितो भावोऽप्रीतिपरिणाम एव । (पंचसू. व्या., पृ. १) । ३. अप्रीतिलक्षणो द्वेषः । (श्रा. प्र. टी. ३९३; आव. भा. हरि. वृ. २०१; मलय. वृ. २०३) । ४. क्रोध-मानारति-शोक-जुगुप्सा-भयानि द्वेषः । (धव. पु. १२, पृ. २८३) । ५. तद्-(प्रेम-)विपरीतस्त्वात्मीयोपघातकारिणि द्वेषः (अप्रीतिलक्षणः) । (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. २–२२, पृ. १२६) । ६. द्वेषः अनभिव्यक्तक्रोध-मानव्यक्तिकमप्रीतिमात्रम् । (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७६) । ७. अनिष्टविषये अप्रीतिपरिणामो द्वेषः । (पंचा. का. जय. वृ. १३१) । ८. असह्यजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः । (नि. सा. वृ. ६६) । ९. तत्र द्विष्यते ऽनेनेति द्वेषः द्वेषवेदनीयं कर्म, क्वचिदनिष्टे वस्तुनि तेनात्मनोऽप्रीतिपरिणामापादनात्, द्वेषणं वा द्वेषः—द्वेषवेदनीयकर्मविपाकोदयजनितो जन्तोरप्रीतिपरिणाम एव । (धर्मसं. मलय. वृ. १) ।

२ द्वेष वेदनीय कर्म के उदय से जो अप्रीतिरूप परिणाम होता है उसे द्वेष कहते हैं। ४ क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा और भय ये द्वेषरूप हैं।

द्व्यणुकस्कन्ध—१. द्व्यणुकादिपरिणामः द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्परश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकस्कन्धो भवति । (स. सि. ५–३३; त. वा. ५, ३३, २) । २. द्वयोः परमाण्वोः संघातादेको द्व्यणुकस्कन्धपर्यायः । (पंचा. का. अमृत. वृ. ७५)। ३. परमाणुद्वयं संघातेन द्व्यणुकस्कन्धो भवति । (पंचा. का. जय. वृ. ७५) ।

१ दो स्निग्ध या रूक्ष परमाणुओं के परस्पर श्लेषरूप बन्ध के होने पर जो स्कन्ध उत्पन्न होता है उसे द्व्यणुकस्कन्ध कहते हैं।

धन-धान्यप्रमाणातिक्रम—१. तथा धनं गणिम-धरिम-मेय-परिच्छेद्यभेदाच्चतुर्विधम् । तत्र गणिमं पूगफलादि, धरिमं गुडादि, मेयं घृतादि, परिच्छेद्यं माणिक्यादि, धान्यं व्रीह्यादि । एतत्प्रमाणस्य बन्धनतोऽतिक्रमोऽतिचारो भवति । (ध. बि. मु. वृ. ३–२७) । २. धनं गणिम-धरिम-मेय-परीक्ष्यलक्षणम् । ××× धान्यं सप्तदशविधम् । यदाहु—व्रीहिर्यवो मसूरो गोधूम-मुद्ग-माष-तिल-चणकाः । अणवः प्रियङ्गु-कोद्रव-मकुष्ठकाः शालिराढक्यः ।। किं च कलाय-कुलत्थौ शणसप्तदशानि धान्यानि । धनं च धान्यं च धनधान्यम्, तस्य धनधान्यस्य ××× संख्या व्रतकाले यावज्जीवं चतुर्मासादिकालावधि वा यत्परिमाणं गृहीतं तस्या अतिक्रम उल्लङ्घनं संख्यातिक्रमोऽतिचारः । (योगशा. स्वो. विव. ३–९५) ।

१ गणिम—सुपारी आदि, धरिम—गुड़ आदि, मेय—घी आदि और परिच्छेद्य—माणिक्य आदि के भेद से धन चार प्रकार का है। २ व्रीहि, जौ, मसूर, गेहूं, मूंग, उड़द, तिल, चना, अणु (व्रीहिभेद), प्रियंगु, कोद्रव, मकुष्ठ, शालि, आढकी, कलाय (मटर), कुलत्थ और शण; यह सत्तरह प्रकार का धान्य है। इन दोनों के नियमित प्रमाण का अतिक्रमण करना, यह धन-धान्यप्रमाणातिक्रम नाम का परिग्रहपरिमाणव्रत का अतिचार है।

धन-धान्यसंख्यातिक्रम—देखो धन-धान्यप्रमाणातिक्रम ।

धनुष—१. छण्णवइ अंगुलाणि से एगे दंडेइ वा धणूइ वा जुएइ वा नालियाइ वा अक्खेइ वा मुसलेइ वा । (भगवती ६, ७, १) । २. दंडं धणुं जुगं नालिया य अक्खं मुसलं च चउहत्था । (ज्योतिष्क. ७६) । ३. चउहत्थं धणु । (संग्रहणी २४७) ।

१ छयानबै अंगुल या चार हाथ प्रमाण माप को धनुष कहते हैं। इसके दण्ड, युग, नालिका, अक्ष और मुसल ये नामान्तर हैं।

धरण—सोलस कप्पियमासा एक्को धरणो हवेज्ज संखित्तो । (ज्योतिष्क. १८) ।

सोलह रौप्यमाष (तोला) का एक धरण होता है।

धरणी—धरणीव बुद्धिर्धरणी। यथा धरणी गिरि-सरित्-सागर-वृक्ष-क्षुपाश्मादीन् धारयति तथा निर्णीतमर्थं या बुद्धिर्धारयति सा धरणी नाम। (धव. पु. १३, पृ. २४३)।

जिस प्रकार धरणी (पृथिवी) पर्वत, नदी और समुद्र आदि को धारण करती है उसी प्रकार जो बुद्धि निर्णीत अर्थ को धारण करती है उसे धरणी कहा जाता है।

धरणीकम्प—धरणीकम्पः पर्वत-प्रासादादिसमन्वितायाः भूमेश्चलनम्। (मूला. वृ. ५–७८)।

पर्वत और भवन आदि से संयुक्त पृथिवी के चलन (कम्पन) को धरणीकम्प कहते हैं।

धर्म—१. धम्मो दयाविसुद्धो × × ×। (बोधप्रा. २५); मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥ (भावप्रा. ८१)। २. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। (रत्नक. ३; तत्त्वानु. ५१)। ३. तो भणइ मुणी धम्मो जीवदया निग्गहो कसायाणं। एएसु चेव जीवो मुच्चइ घणकम्मबंधाओ। (पउमच. २६–३४)। ४. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। (दशवै. सू. १–१)। ५. अहिंसालक्षणस्तदागमदेशितो धर्मः। (स. सि. ६–१३; इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः। (स. सि. ९-२)। ६. यस्माज्जीवं नारक-तिर्यग्योनि-कुमानुष-देवत्वेषु प्रपतन्तं धारयतीति धर्मः। उक्तं च—दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद् धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद् धर्म इति स्थितः॥ (दशवै. चू. पृ. १५)। ७. अहिंसादिलक्षणो धर्मः। (त. वा. ६, १३, ५); इष्टे स्थाने धत्त इति धर्मः। आत्मानमिष्टे नरेन्द्र-सुरेन्द्र-मुनीन्द्रादिस्थाने धत्त इति धर्मः। (त. वा. ९, २, ३)। ८. धर्मस्तु सम्यग्दर्शनादिरूपो दान-शील-तपोभावनामयः साश्रवानाश्रवो महायोगात्मकः। (ललितवि. पृ. १६); चेतःस्वास्थ्यसाध्यव्याधिकृतो धर्मः। (ललितवि. पृ. ३९); तथा दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः। उक्तं च—दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून् यस्माद् धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृतः॥ (ललितवि. पृ. ९०; श्राव. सू. अवच. वृ. पृ. ५९२)। ९. दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १–२०, पृ. ११; आव. नि. हरि. वृ. २११ व १७४; श्राव. सू. ६, हरि. वृ. पृ. ४९४)। १०. वचनादनुष्ठानमविरुद्धाद्यथोदितम्। मैत्र्यादिभावसंयुक्तं तद्धर्म इति कीर्त्यते॥ (ध. बि. १, श्लोक ३)। ११. धारेइ दुग्गतीए पडंतमप्पाणयं जतो तेणं। धम्मोत्ति सिवगतीइ व सततं धरणा समक्खाओ॥ (धर्मसं. हरि. २०)। १२. धर्मो दयामयः प्रोक्तः जिनेन्द्रैर्जितमृत्युभिः। (वरांगच. १५, १०७); यत् प्राणिनां जन्म-जरोग्रमृत्युमहाभयव्यालगिराकुलानाम्। भैषज्यभूतो हि दशप्रकारो धर्मो जिनानामिति चिन्तनीयम्। (वरांगच. ३१–९७)। १३. धारणार्थो धृतो धर्मशब्दो वाचि परिस्थितः॥ पतन्तं दुर्गतौ यस्मात् सम्यगाचरितो भवेत्। प्राणिनं धारयत्यस्माद् धर्म इत्यभिधीयते। (पद्मपु. १४, १०३–४)। १४. धम्मो णाम सम्मद्दंसण-णाण-चरित्ताणि। (धव. पु. ८, पृ. ९२)। १५. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा। सद्धर्मः × × × ॥ (म. पु. १–१२० व ५–२०); स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात् संधारयेन्नरम्। धत्ते चाभ्युदयस्थाने निरपायसुखोदये॥ (म. पु. २–३७); दयामूलो भवेद् धर्मो × × ×। (म. पु. ५-२१); ध्रियते धारयत्युच्चैर्विनेयान् कुगतेस्ततः॥ धर्म इत्युच्यते सद्भिः × × × । (म. पु. ४७, ३०२–३)। १६. ध्रियते वा धारयतीति वा धर्मः। (उत्तरा. चू. ३, पृ. ९८)। १७. अहिंसालक्षणो धर्मः। (त. श्लो. ६–१३); इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः। (त. श्लो. ९–२)। १८. स धर्मो यत्र नाधर्मः × × ×। (आत्मानु. ४६; उपासका. २९१)। १९. दुर्गतिप्रस्थितजीवधारणात् शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मः। (भ. आ. विजयो. ४६); अभ्युदय-निःश्रेयससुखानि च प्रयच्छति सुचरितो धर्मः। (भ. आ. विजयो. १४६)। २०. क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुंगवैः। अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम्॥ (त. सा. ६–४२)। २१. धर्मः श्रुत-चारित्रात्मको जीवस्यात्मपरिणामः कर्मक्षयकारणम्। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ५, १४)। २२. धम्मो दयापहाणो × × × ॥ (कार्तिके. ९७); धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो। रयणत्तयं च

धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ (कार्तिके. ४७८)। २३. यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (नीति-वा. १-१, पृ. ८) । २४. यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः। वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्म-सूरयः॥ (उपासका. २) । २५. आत्मानमिष्ट-नरेन्द्र-सुरेन्द्र मुनीन्द्र-मुक्तिस्थाने धत्त इति धर्मः। (चा. सा. पृ. २); चतुर्दशगुणस्थानानां गत्यादिच-तुर्दशमार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारलक्षणो धर्मः। (चा. सा. पृ. ८६) । २६. धारयतीति धर्मः दुर्गतौ पतन्तं सत्त्वमिति । (ओघनि. भा. द्रो. वृ. ५)। २७. संसारे पतन्तं जीवमुद्धृत्य नागेन्द्र नरेन्द्र देवे-न्द्रादिवन्द्ये अव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणलक्षणे मो-क्षपदे धरतीति धर्मः अहिंसालक्षणः सागारानगार-लक्षणो वा उत्तमक्षमादिलक्षणो वा निश्चय-व्यव-हाररत्नत्रयात्मको वा शुद्धात्मसंवित्त्यात्मकमोह-क्षोभरहितात्मपरिणामो वा धर्मः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५) । २८. धारयति दुर्गतौ प्रपततो जीवान् धारयति सुगतौ वा तान् स्थापयतीति धर्मः। उक्तं च—दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून् यस्माद्धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृतः॥ (स्थाना. अभय. वृ. १-४०, पृ. २१) । २९. धर्मं श्रुत-चारित्रात्मकं दुर्गतिप्रपतज्जन्तुधारणस्वभावं × × × । (समवा. अभय. वृ. १, पृ. ४) । ३०. धर्मो नाम कृपामूलः × × × । (क्षत्रचू. ५-३५)। ३१. धर्मः सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्रलक्षणं पुण्यम्, उत्तमक्षमादिस्वरूपो वा, तत्साध्यः कर्तृशुभफलदः पुद्गलपरिणामो वा, जीवादिवस्तुनो यथावस्थित-स्वभावो वा। (न्यायकु. १, पृ. ३) । ३२. मिथ्या-त्व-रागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे पतन्तं प्राणि-नमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। (प्र. सा. जय. वृ. १-८) । ३३. सो धम्मो जत्थ दया × × × । (नि. सा. वृ. ६ उद्.) । ३४. दुर्ग-तिप्रपतत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते। (आचा. शि. वृ. ४८) । ३५. धारयति दुर्गतौ निपततो जीवानिति धर्मः। तथा च वाचकः—प्राग् लोकबिन्दुसारे सर्वाक्षरसन्निपातपरिपठितः। धृञ् धरणार्थो धातु-स्तदर्थयोगाद् भवति धर्मः॥ दुर्गतिभयप्रपाते पतत्त-मभयकरदुर्लभत्राणे। सम्यक् चरितो यस्माद् धार-यति ततः स्मृतो धर्मः॥ (उत्तरा. चू. शा. वृ. ३-८, पृ. १८४) । ३६. 'धर्म' इति दुर्गतिपतज्ज-न्तुधारणात् स्वर्गादिसुगतौ धारणाच्च धर्मः। (ध. बि. मु. वृ. १, श्लोक ३) । ३७. दुर्गतिप्रपत-त्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते। (योगशा. २-११; त्रि. श. पु. च. १, १, १५२); धर्मोऽभ्युदय-निःश्रे-यसकारणम्। (योगशा. स्वो. विव. २-४०); दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः। (योग-शा. स्वो. विव. ३-१२४) । ३८. सम्यग्दर्शनाद्या-त्मपरिणामलक्षणो धर्मः। (धर्मसं. मलय. वृ. २५)। ३९. ध्रियन्ते तिष्ठन्ति नरकादिभ्यो गतिभ्यो निवृत्ता जीवास्तेन सुगताविति धरत्यात्मानं सुगता-विति वा धर्मस्तम्, रत्नत्रयलक्षणं मोहक्षोभविवर्जि-तात्मपरिणामरूपं वा, वस्तुयाथात्म्यस्वभावं वा, उत्तमक्षमादिदशलाक्षणिकं वा × × × । (अन. ध. स्वो. टी. १-५); धर्मः पुंसो विशुद्धिः सुदृग-वगम-चारित्ररूपा स च स्वां, सामग्रीं प्राप्य मिथ्या-रुचिमतिचरणाकारसंक्लेशरूपम्। मूलं बन्धस्य दुःखप्रभवभवफलस्याबधुन्वन्नधर्मं संजातो जन्मदुः-खाद् धरति शिवसुखे जीवमित्युच्यतेऽर्थात्॥ (अन. ध. १-९०) । ४०. धर्मः स्वदारसन्तोषाद्यात्मक-संयमलक्षणो देवादिपरिचरणस्वरूपः सत्पात्रदानादि-स्वभावश्च। (सा. ध. स्वो. टी. २-५) । ४१. धर्मो वस्तुस्वभावः शम-धृतिरथवा स्वोत्थशु-द्धोपयोगः, सद्वृत्तं वा श्रुतं वा दशविधविलसल्लक्षणो वापि धर्मः। (आत्मप्र. ८६) । ४२. अहिंसा-लक्षणो धर्मो यज्ञादिलक्षणोऽथवा। (भावसं. वाम. ३०६) । ४३. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं निःसंग-त्वमित्यादिलक्षणोपलक्षितः सर्वज्ञ-वीतरागप्रणीतः धर्मः, दुर्गतिदुःखादुद्धृत्य इन्द्रादिपूजितपदे धरतीति धर्मः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१३); संसार-सागरा-दुद्धृत्य इन्द्र-नरेन्द्र-धरणेन्द्र-चन्द्रादिवन्दिते पदे आत्मानं धरतीति धर्मः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२) । ४४. × × × धर्मो हिंसादिवर्जितः। (पु. उपा-सका. ३) । ४५. दयादिलक्षणो धर्मः सर्वज्ञोक्तः स्वशक्तितः। पतन्तं दुर्गतौ धत्ते चेतनं सुखदे पदे॥ (धर्मसं. श्रा. १०-९९) । ४६. सर्वप्राणिदयालक्ष्मो गृहस्थ-शमिनोर्द्विधा। रत्नत्रयमयो धर्मः स भिन्नः जिनदेशितः॥ (जम्बू. च. ३-१५१); यस्मादुच्चैः-पदे धत्ते जीवं नीचैःपदादपि॥ धर्मो वस्तुस्वभावः स्यात्कर्मनिर्मूलनक्षमः। तच्चैव शुद्धचारित्रं साम्य-भावचिदात्मनः॥ (जम्बू. च. १३, १५३-५४) ।

४७. अहिंसा परमो धर्मः × × × । (लाटीसं. २–१); धर्मो नीचैःपदादुच्चैःपदे धरति धार्मिकम् । तत्राजवञ्जवो नीचैःपदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ सम्यग्दृग्ज्ञप्ति-चारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः । (लाटीसं. ४, २३७–३८) । ४८. संसारदुःखादुद्धृत्य मोक्षसुखे धरतीति धर्मः । (कार्तिके. टी. ४०५) ।

१ मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के शुद्ध परिणाम को धर्म कहते हैं । २ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को धर्म माना गया है । ३ जीवों की दया और कषायों के निग्रह को धर्म कहा जाता है, कारण यह कि इन्हीं के आश्रय से जीव क्लिष्ट कर्मबन्धन से छुटकारा पाता है ।

धर्मकथा—१. धम्मकहा णाम जो अहिंसादिलक्खणं सव्वण्णुपणीयं धम्मं अणुयोगं वा कहेइ एसा धम्मकहा । (दशवै. चू., पृ. २९) । २. अहिंसालक्षणधर्मान्वाख्यानं धर्मकथा । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०) । ३. एक्कंगस्स एगाहियारोवसंहारो धम्मकहा । तत्थ जो उवजोगो सो वि धम्मकहा त्ति घेत्तव्वो । (धव. पु. ९, पृ. २६३); वत्थु-अणियोगादिविसओ भावो धम्मकहा णाम । (धव. पु. १४, पृ. ९) । ४. यतोऽभ्युदय-निःश्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा । सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥ (म. पु. १–१२०) । ५. सयलंगेक्कंगेक्कंगहियारसवित्थरं ससंखेवं । वण्णणसत्थं थय-थुइ-धम्मकहा होइ णियमेण । (गो. क. ८८) ।

१ सर्वज्ञोक्त अहिंसादिस्वरूप धर्म का जो कथन किया जाता है उसे अथवा अनुयोग के विचार को धर्मकथा कहते हैं । ३ एक अंग के एक अधिकार का जो उपसंहार किया जाता है, इसका नाम धर्मकथा है । तद्विषयक उपयोग को भी धर्मकथा कहा जाता है ।

धर्मकथी—धर्मकथा प्रशस्यास्तीति धर्मकथी । (योगशा. स्वो. [illegible]) ।

प्रशंसनीय [illegible] को धर्मकथी कहा जाता है ।

धर्मचरण—[illegible]चरणं [illegible]सेवनम् । (पंचव. [illegible] स्वो. विव. [illegible]) ।

[illegible] आचरण करने को धर्मचरण [illegible]

धर्मतीर्थंकर—धर्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थम्, तत्करणशीला धर्मतीर्थंकराः । (ललितवि. पृ. ३०) ।

धर्मरूप या धर्मप्रधान तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले महापुरुष को धर्मतीर्थ कहते हैं ।

धर्मदेव—से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ धम्मदेवा ? धम्मदेवा गोयमा ? जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया जाव गुत्तबंभयारी से तेणट्ठेणं जाव धम्मदेवा । (भगवती १२, ९, २, पृ. १७६५) ।

ईर्यासमिति से युक्त होकर ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने वाले अनगारों (साधुओं) को धर्मदेव कहते हैं ।

धर्मद्रव्य—देखो धर्मास्तिकाय । १. तत्थ धम्मदव्वस्स लक्खणं वुच्चदे—ववगदपंचवण्णं ववगदपंचरसं ववगददुगंधं ववगदअट्ठफासं जीव-पोग्गलाणं गमणागमणकारणं असंखेज्जपदेसियं लोगपमाणं धम्मदव्वं । (धव. पु. ३, पृ. ३); धम्मदव्वस्स जीव-पोग्गलदव्वाणं गमणागमणहेउभावेण परिणामो सब्भावकिरिया । (धव. पु. १३, पृ. ४३); जीव-पोग्गलाणं गमणागमणकारणं धम्मदव्वं । (धव. पु. १५, पृ. ३३) । २. एकजीवपरीमाणसंख्यातीतप्रदेशको लोकाकाशमभिव्याप्य धर्माधर्मौ व्यवस्थितौ ॥४८॥ स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वतः । सहकारी भवेद्धर्मः पानीयमिव यादसाम् ॥४९॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११३) ।

१ जो पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ प्रकार के स्पर्श से रहित होता हुआ जीव व पुद्गलों के गमनागमन का कारण एवं लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशों वाला है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं ।

धर्मध्यान—१. धम्मस्स लक्खणं से अज्जव-लहुगत्त-मद्दवोवसमा [मद्दवुवदेसा] । उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ (भ. आ. १७०९) । २. आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम् । (त. सू. दि. ९–३६); आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य । (त. सू. श्वे. ९–३७) । ३. धर्मादनपेतं धर्म्यम् । (स. सि. ९–२८, त. वा. ९, २८, ३; त. श्लो. ९–२८) । ४. आज्ञाविचयाय अपायविचयाय विपाकविचयाय संस्थानविचयाय च स्मृतिसमन्वाहारो धर्मध्यानम् । तदप्रमत्तसंयतस्य भवति । (त. भा. ९–३७) । ५. दसविहसमणधम्मसमणुगतं धम्मं । (दशवै. चू. पृ. २९) ।

६. इत्याद्यर्थनिरोधोऽयं कषायस्तम्भलक्षणः। तद् धर्म्यम् ××× ॥ (द्वात्रिंशिका १०–२७)। ७. तदनपेतं यद्धर्माद् धर्म्यध्यानमितीष्यते। धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादित्रयात्मकम् ॥ (ह. पु. २१–२३); बाह्याध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्म उच्यते। तद्धर्मादनपेतं यद्धर्म्यं तद् ध्यानमुच्यते ॥ (ह. पु. ५६–३५)। ८. सूत्रार्थसाधनमहाव्रतधारणेषु बन्ध-प्रमोक्षगमनागमहेतुचिन्ता। पञ्चेन्द्रियव्युपरमश्च दया च भूते ध्यानं तु धर्ममिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ (दशवै. हरि. वृ., प. ३२ उद्.)। ९. जिनप्रणीतभाव-श्रद्धानादिलक्षणं धर्म्यम्। (श्राव. अ. ४, हरि. वृ. पृ. ५८२)। १०. दहलक्खणसंजुत्तो अहवा धम्मो त्ति वण्णिओ सुत्ते। चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मझाणुत्ति ॥ अहवा वत्थुसहावो धम्मं वत्थू पुणो व सो अप्पा। झायंताणं कहियं धम्मज्झाणं मुणिंदेहिं ॥ (भावसं. दे. ३७२, ३७३)। ११. जिनप्रणीतभावश्रद्धानादिलिङ्गं धर्म्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–२७)। १२. वज्जिय सयलवियप्पे अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो। जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं झाणं ॥ (कार्तिके. ४८२)। १३. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः। तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद् ध्यानमभ्यधुः ॥ आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः। स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्मात् तद्धर्म्यमित्यपि ॥ शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः। तस्माद् वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥ ततोऽनपेतं यज्जातं तद् धर्म्यं ध्यानमिष्यते। धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥ यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः। ततोऽनपेतं यद् ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितम् ॥ (तत्त्वानु. ५१–५५)। १४. आज्ञापाय-विपाकानां विवेकाय च संस्थितेः। मनसः प्रणिधानं यद् धर्मध्यानं तदुच्यते ॥ (त. सा. ७–३९)। १५. सुत्तत्थधम्ममग्गण-वय-गुत्ती-समिदि-भावणाईणं। जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं च इह भणियं ॥ जीवाइ जे पयत्था झायव्वा ते जहट्ठिया चेव। धम्मज्झाणं भणियं रायद्दोसे पमुत्तूणं ॥ (भा. सा. १६–१७)। १६. श्रद्धानं शङ्कितादिलक्ष्यं तत्त्वार्थसंचिन्तनं संवेगः प्रशमोदयेन्द्रियदमः प्राज्ञ्योद्यमः संयमः ॥ वैराग्यं वरगुप्तिताऽसितमृदुता निर्माथिताऽसंगता धर्मस्येति समस्तवस्तुपरमोपेक्षा च वाक्येन्द्रि-तम् ॥ (आचा. सा. १०–४५)। १७. धर्मो वस्तुस्वभावः क्षम-धृतिरथवा स्वोत्थशुद्धोपयोगः सद्वृत्तं वा श्रुतं वा दशविधविलसल्लक्षणो वापि धर्मः। धर्मस्थं धर्मधाम प्रगुणगुणगणं पंचकं वा गुरूणां नेदृक्षाद् ध्येयधर्माद् व्यपगतमिति हि ध्यानमाभाति धर्म्यम् ॥ आज्ञामपायं विविधं विपाकं संस्थानमित्थं च तदभ्युदेति। यं चिन्त्यते येन यतोऽथ यत्र चत्वारि तस्मिन् तदेव धर्म्यम् ॥ (आत्मप्र. ८६–८७)। १८. धर्मो वस्तुस्वरूपम्, तस्मादनपेतम् आश्रितं धर्म्यम्। (भावप्राटी. ७८)।

१ आर्जव (सरलता), लघुता (अपरिग्रहता), मृदुता—जात्यादिविषयक अभिमान का अभाव और हितोपदेश ये धर्मध्यान के लक्षण हैं। २ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के लिए जो बार बार स्मृति को उसी ओर लगाया जाता है; यह धर्मध्यान या धर्मध्यान कहलाता है। विचय का अर्थ विवेक या विचारणा है। ५ दस प्रकार के मुनिधर्म से जो अनुगत होता है उसे धर्मध्यान कहा जाता है।

धर्मध्यान का ध्याता— सम्यनिर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः। आर्त-रौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः ॥ मुक्तलोकद्वयापेक्षः षोढाशेषपरीषहः। अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥ महासत्त्वः परित्यक्तदुर्लेश्याशुभभावनः। इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ॥ (तत्त्वानु. ४३-४५)।

जिसने ध्येयभूत जीवादि तत्त्वों की व्यवस्था का भली भांति निर्णय कर लिया है, जिसने आर्त और रौद्र ध्यान से रहित होकर चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त कर लिया है, जो उभय लोक की अपेक्षा से रहित है, सब परीषहों का सहन करने वाला है, क्रियायोग के अनुष्ठानपूर्वक ध्यानयोग में उद्यत है, तथा जो अशुभ लेश्या व अशुभ भावना से रहित है, ऐसा जीव धर्मध्यान का ध्याता होता है।

धर्मपत्नी—परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्मपत्नी च सैव च। धर्मकार्ये च सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥ (लाटीसं. २–१८०)।

जिसके साथ विधिपूर्वक विवाह किया गया है, जो सजातीय है, और पूजादिरूप धर्मकार्यों में सदा सहयोग प्रदान करती है; उसे धर्मपत्नी कहते हैं।

धर्मवृद्धि—यो अस्तिकायधर्मं श्रुतधर्मं च

चरित्तधम्मं च। सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ॥ (प्रज्ञाप. गा. ११०; प्रव. सारो. ९६०)।

जो जिनप्रकपित अस्तिकायधर्म, श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का श्रद्धान करता है उसे धर्मरुचि—सराग दर्शन-आर्य (सदर्शी)—कहा जाता है।

धर्मवर्णजनन—१. दुःखात् त्रातुम्, सुखं दातुम्, निधीनां चाधिपत्ये स्थापयितुम्, स्वचक्रविक्रमाक्रमितसकलभूपाल-खेचरगणबद्धमकुटचक्रांचितकलाछनान् पादयोः पातयितुम्, सुरविलासिनीचेतःसंमोहावहं तदीयविलुठत्पाठीनलोचनरामममभिवर्धयन्तीं हर्षभरपरवशांद्भिन्नसान्द्ररोमांचकंचुकमाचरितुम्, उन्नतां रूपशोभामन्दिरां संपादयितुम्; अतिशयिताणिमादिगुणप्रसाधनां सामानिकादिसुरसहस्रानुयानोपनीतमहत्तां सततप्रत्ययप्रयुक्तालिंगितां सुभगतालतारोहयष्टिम् अनेकसमुद्रबिन्दुगणनागणितायुःस्थितिं मेरु-कुरु सुरसरित्कुलाचलादिगोचरस्वेच्छाविहारचतुरां सुरांगनापृथुलनितंबबिंबाधरकठिननिबिडसमुन्नतकुचतटक्रीडालोकनस्पर्शनादिक्रियोपयोगामितप्रीतिविस्मितां शतमखतामखेदने झटिति घटयितुम्, विरूपताजननीजरा-डाकिनीनामगोचरां शोकवृकानुल्लंघितां विपद्दावानलशिखाभिरनुपप्लुतां रोगोरगैरदष्टवपुषं यम-महिषखुराखंडितां भीतिवराहसमितिभिरनुल्लिखितां संक्लेशशतशरभैरनध्यासितां प्रियवियोगचंडपुंडरीकैरसेवितताम्, अनर्घ्यसुखरत्नप्रभवभूमिं, निर्वृतिं प्रापयितुं समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथनं धर्मवर्णजननम्। (भ. आ. विजयो. ४७)। २. चतुर्गतिदुःखात् त्रातुं निरातंकातिशयितदीर्घकालोपलालितं सुखं दातुं सकलसाम्राज्यं स्वर्गाधिराज्यं चाधिकर्तुं सुरेन्द्र-नागेन्द्रान् पादयोः पातयितुं समवसरणादिबहिरंगानंतज्ञानाद्यन्तरंगलक्ष्मीलक्षणां जीवन्मुक्तिं सम्यक्त्वाद्यष्टगुणलक्षणामात्यन्तिकीं परममुक्तिं च सम्पादयितुं समर्थो जिनप्रणीत एव धर्मो नान्य इति धर्ममहिमख्यापनं धर्मवर्णजननम्। (भ. आ. मूला. ४७)।

१ दुःखों से रक्षा करने, सुख के देने, निधियों के स्वामित्व में स्थापित करने, तथा अपने चक्ररत्न के प्रभाव से समस्त राजाओं एवं विद्याधरों आदि के चरणसेवक बनाने आदि में धर्म ही सर्वथा समर्थ है। इस प्रकार वह सांसारिक उत्कृष्ट सुख के साथ निर्बाध मोक्षसुख को भी प्राप्त कराने वाला है। इत्यादि प्रकार से धर्म के कीर्तन करने को धर्मवर्णजनन कहा जाता है।

धर्मवाद—परलोकप्रधानेन मध्यस्थेन तु धीमता। स्वशास्त्रज्ञाततत्त्वेन धर्मवाद उदाहृतः। (अष्टक १२-६)।

स्वसमय के रहस्य के जानने वाले व परलोक के मानने वाले मध्यस्थ बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा जो धर्मचर्चा की जाती है उसे धर्मवाद कहते हैं।

धर्मानुकम्पा—१. धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तासंयमेषु, मानापमान-सुखदुःख-लाभालाभ-तृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु, दान्तेन्द्रियान्तःकरणेषु मातरमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोग्रकषाय-विषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान् विचिन्त्य विरागतामुपगतेषु, संसार-महासमुद्राद् भयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु अंगीकृतनिःसंगत्वेषु क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु याऽनुकम्पा सा धर्मानुकम्पा। (भ. आ. विजयो. १८३४)। २. धर्मानुकम्पा नाम यया प्रयुक्तो विवेकिलोकः स्वशक्त्यनिगूहनेन संयमनिष्ठेभ्यस्तयोग्यान्न-पान-वसत्युपकरणौषधादिकं संयमसाधनं प्रयच्छति। (भ. आ. मूला. १८३४)।

१ जिन्होंने सर्व प्रकार के असंयमों को छोड़ दिया है; जो मान-अपमान, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ और तृण-सुवर्णादि में समानचित्त रहते हैं, जिन्होंने इन्द्रियों व मन को जीत लिया है, तथा जो माता के समान मुक्ति के आश्रित हैं; इत्यादि गुणों से विभूषित धर्मात्मा जनों के ऊपर जो दया की जाती है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं।

धर्मानुप्रेक्षा—१. संसारविसमदुग्गे भवगहणे कह वि मे भमंतेण। दिट्ठो जिणवरदिट्ठो जेट्ठो धम्मो त्ति चिंतेज्जो ॥ (मूला. ८-६४)। २. अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतालम्बनः, तस्यालाभादनादिसंसारे जीवाः परिभ्रमन्ति दुष्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवन्तः। अस्य पुनः प्रतिलम्भे विविधाभ्युदयप्राप्तिपूर्विका निःश्रेयसोपलब्धिर्नियतेति चिन्तनं धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा। (स. सि. ९-७)। ३. जीवस्थान-गुणस्थानमार्गणास्थानादिविमार्गणालक्षणो धर्मः स्वाख्यातः × × × एवमादिलक्षणो धर्मो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरहो मम-

वद्भिरर्हद्भिराख्यात इति चिन्तनं धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा । (त. वा. ६, ७, १०, पृ. ६०३ व २०७, पं. ३–४)। ४. जीवस्थान-गुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणालक्षणो धर्मः । (त. श्लो. ६-७)। ५. चतुर्दशगुणस्थानानां गत्यादिचतुर्दशमार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारलक्षणो धर्मः निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरहो भगवद्भिरर्हद्भिः स्वाख्यात इति चिन्तनं धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा । (चा. सा. पृ. ८६)। ६. त्राताऽभीष्टविशिष्टवस्तुनिचयस्याकाङ्क्षिणेऽपि क्षणाद्दर्त्तासैर्नर-नारकादिभवसंभूतेः स्मृतेर्भीकृतेः । हन्ताऽऽक्रान्तजगत्त्रयान्तक-रिपोर्यः स्वान्तगः संस्तुतस्त्राताऽमाणशरीरिणां न हि परो धर्मात् सुखंप्रदात् ॥ (आचा. सा. १०–४४)। ७. लोकालोके रविरिव करैरुल्लसन् सत्क्षमाद्यैः, खद्योतानामिव घनतमोद्योतिनां यः प्रभावम् । दोषोच्छेदप्रथितमहिमा हन्ति धर्मान्तराणाम्, स व्याख्यातः परमविशदख्यातिभिः ख्यातु धर्मः ॥ (अन. ध. ६–८०)।

२ अहिंसा जिसका लक्षण है, सत्य से जो अधिष्ठित है, विनय जिसका मूल है व क्षमा बल है, ब्रह्मचर्य से जो सुरक्षित है, उपशमप्रधान है, और अपरिग्रहता जिसका आलम्बन है; इत्यादि यह जिनोपदिष्ट धर्म है। इसके बिना जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं और उसे पा करके वे अनेक अभ्युदय के साथ मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार का विचार करने को धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं।

धर्मावर्णवाद—१. जिनोपदिष्टो धर्मो निर्गुणस्तदुपसेविनो ये ते चासुरा भविष्यन्तीत्येवमभिधानं धर्मावर्णवादः । (स. सि. ६–१३)। २. निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे । जिनोपदिष्टो दशविकल्पो धर्मो निर्गुणः, तदुपसेविनो ये ते चासुरा भवन्ति, इत्येवमाद्यभिधानं धर्मावर्णवादः । (त. वा. ६, १३, ११)। ३. अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः । ××× निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे । (त. श्लो. ६–१३)। ४. दुर्गतिप्रतिबन्धं स्वर्गादिकं च फलं विधत्ते धर्म इति कथमदृष्टं श्रद्धीयते ? न हि असन्निहितकारणस्य कार्यस्यामुद्भवोऽस्ति यथाङ्कुरस्य। सुखप्रदायी स्वनिष्पत्त्यनन्तरं सुखमात्मन किं न करोति इति धर्मावर्णवादः । (भ. आ. विजयो. ४७)।

१ जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट धर्म निर्गुण है, इसका सेवन करने वाले असुर होने वाले हैं, इत्यादि प्रकार से धर्म की निन्दा करने को धर्मावर्णवाद कहते हैं।

धर्मास्तिकाय—१. धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं । लोगोगाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥ अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं । गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ (पंचा. का. ८३–८४)। २. गमणणिमित्तं धम्मं ××× । (नि. सा. ३०)। ३. गतिपरिणामिनां जीव-पुद्गलानां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायः साधारणाश्रयः । (स. सि. ५–१७)। ४. गइलक्खणो उ धम्मो ××× । (उत्तरा. २८–९)। ५. धर्माधर्मौ यथासंख्यं गति-स्थित्योस्तु कारणम् । (वरांगच. २६–२३)। ६. पढमे धम्मत्थिकाए, सो गइलक्खणो । (दशवै. चू. पृ. १६)। ७. जीवपोग्गलदव्वाण गतिकिरियापरिणयाण उवग्गहकरणलक्खणो धम्मो, अस्तीति ध्रौव्यं, आयन्ति कायः उत्पाद विनाशः, अस्ति चासौ कायश्च अस्तिकायः धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः । (अनुयो. चू. पृ. २६)। ८. स्वयं क्रियापरिणामिनां साचिव्यधानात् धर्मः । स्वयं क्रियापरिणामिनां जीवपुद्गलानां यस्मात् साचिव्यं दधाति तस्माद्धर्म इत्याख्यायते । (त. वा. ५, १, १९)। ९. जीवानां पुद्गलानां च गत्युपष्टम्भकारणम् । धर्मास्तिकायो ज्ञानस्य दीपश्चक्षुष्मतो यथा ॥ (आ. प्र. टी. ७८ उद्.)। १०. गतिपरिणामपरिणतानां जीव-पुद्गलानां गत्युपष्टम्भको धर्मास्तिकायः । (आव. नि. हरि. वृ. ८६)। ११. जीव-पुद्गलानां स्वाभाविके क्रियावत्त्वे गतिपरिणतानां तत्स्वभावधारणाद् धर्मः, अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायः संघातः अस्तिकायः धर्मश्चासावस्तिकायश्चेति समासः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ४१)। १२. तत्र यो हि गतिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोर्गत्युपष्टम्भहेतुर्जलमिव झषस्य, स खल्वसंख्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्तो धर्मास्तिकाय इति । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५८)। १३. जीव-पुद्गलयोर्यस्याद् गत्युपग्रहकारणम् । धर्मद्रव्यं ××× ॥ (म. पु. २४–१३३)। १४. सकलकलगतिपरिणामिनां सांनिध्यधानाद् धर्मः । (त. श्लो. ५–१)। १५. गतिपरिणतो धर्म उपकारकः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–७)। १६. गतिपर्यायस्य बाह्यं गतिहेतुत्वसंज्ञितं गुणं धारयतीति धर्मः । (भ. आ. विजयो.

१६)। १७. जीवाण पुग्गलाणं गइप्पवत्ताण कारणं धम्मो। (भावसं. दे. ३०६)। १८. क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्। आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते॥ जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे। जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः॥ (त. सा. ३, ३३-३४)। १९. धम्ममधम्मं दव्वं गमण-ट्ठाणाण कारणं कमसो। जीवाण पुग्गलाणं बिण्णि वि लोगप्पमाणाणि। (कार्तिके. २१२। २०. विवादापन्नाः सकलजीव-पुद्गलाश्रयाः सकृद्-गतयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षाः, युगपद्भावित्वात् एकसरस्सलिलादिना अनेकमत्स्यादिगतिवत् × × × यत् साधारणं गतिनिमित्तं स धर्मः। (न्यायकु. २-७, पृ. १४०)। २१. गदि-ठाणोग्गहकिरियासाधणभूदं खु होदि धम्मतियं। (गो. जी. ६०४)। २२. जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम्। जीवादीनां पदार्थानां स धर्मः परिवर्णितः॥ (चन्द्र. च. १८, ६९)। २३. गइपरिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमणसहयारी। तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई॥ (द्रव्यसं. १७)। २४. निष्क्रियोऽमूर्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीव-पुद्गलानां गतेः सहकारिकारणम्। (बृ. द्रव्यसं. टी १७)। २५. स लोकगगनव्यापी धर्मः स्याद् गतिलक्षणः। (ज्ञाना. ६-३२, पृ. ६७)। २६. जीव-पुद्गलयोर्गतिहेतुलक्षणो धर्मः। (पंचा. का. जय. वृ. ३)। २७. जीव-पुद्गलजालस्य व्रजतः स्वेन हेतुना। धर्मो याननिमित्तं स्याज्जलं वा जलचारिणाम्॥ (आचा. सा. ३-३०)। २८. जीव-पुद्गलानां स्वाभाविके क्रियावत्त्वे सति गतिपरिणतानां तत्स्वभावधारणाद् धर्मः, स चास्तीनां प्रदेशानां सङ्घातात्मकत्वात् कायोऽस्तिकाय इति। × × × धर्मो हि जीव-पुद्गलानां गत्युपष्टम्भकारी। (स्थाना. अभय. वृ. ७, पृ. १५); धर्मः—धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भगुणः। (स्थाना. अभय. वृ. २-५८, पृ. ४०)। २९. स्वभाव-विभावगतिक्रियापरिणतानां जीव-पुद्गलानां गतिहेतुः धर्मः। (नि. सा. वृ. ९); यथोदकः पाठीनानां कारणं तथा तेषां जीव-पुद्गलानां गमनकारणं स धर्मः। (नि. सा. वृ. ३०)। ३०. धर्मः स तात्त्विकैरुक्तो यो भवेद् गतिकारणम्। जीवादीनां पदार्थानां मत्स्यानामुदकं यथा॥ (धर्मसं. २१-८३)। ३१. लोयपमाणममुत्तं अचेयणं गमणलक्खणं धम्मं। (द्रव्यस्व. ११४)। ३२. जीवानां पुद्गलानां च स्वभावत एव गतिपरिणामपरिणतानां तत्स्वभावधारणात्—तत्स्वभावपोषणाद् धर्मः, अस्तयश्चेह प्रदेशास्तेषां कायः संघातः, × × × अस्तिकायः प्रदेशसंघात इत्यर्थः। धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-३, पृ. ८; जीवाजी. मलय. वृ. ५, पृ. ६)। ३३. जीव-पुद्गलयोः साधारण्येन गतिनिमित्तं धर्मः। (भ. आ. मूला. ३६)। ३४. गतिहेतुर्भवेद् धर्मो जीव-पुद्गलयोर्द्वयोः। (भावसं. वाम. ३६३)। ३५. गतिक्रियावतोर्जीव-पुद्गलयोः तत्क्रियासाधनभूतं धर्मद्रव्यम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ६०५)। ३६. जीव-पुद्गलयोरर्थः स्याद् गत्युपग्रहकारणम्। धर्मद्रव्यं × × ×। (जम्बू. च. ३, ३४)। ३७. धर्मद्रव्यगुणो हि पुद्गल-चितोश्चिद्-द्रव्ययोरात्मभा[त्मना] गच्छद्भाववतोर्निमित्तगतिहेतुत्वं तयोरेव यत्। मत्स्यानां हि जलादिवद् भवति चौदास्येन सर्वत्र च, प्रत्येकं सकृदेव शश्वदनयोर्गत्यात्मशक्तावपि॥ (अध्यात्मक. ३-३०, पृ. ७३)।

१ जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित है; सर्व लोकाकाश में व्याप्त है; स्पृष्ट—अयुतसिद्ध प्रदेशों वाला—है, विस्तृत है, असंख्यातप्रदेशी है, प्रतिसमय होने वाली छह वृद्धियों व हानियों के आश्रय से अनन्त अविभागप्रतिच्छेदों से परिणत है तथा गमनक्रिया से युक्त जीव और पुद्गलों के गमन में सहकारी है; ऐसे द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहते हैं।

धर्मास्तिकायदेश—तथा तस्यैव बुद्धिपरिकल्पितो द्व्यादिप्रदेशात्मको विभागो धर्मास्तिकायस्य देशः। (जीवाजी. मलय. वृ. ४, पृ. ६)।

धर्मद्रव्य के बुद्धि के द्वारा कल्पित दो आदि प्रदेशस्वरूप विभाग को धर्मास्तिकाय का देश कहते हैं।

धर्मास्तिकायप्रदेश—धर्मास्तिकायस्य प्रदेशाः—प्रकृष्टा देशाः प्रदेशाः, प्रदेशा निर्विभागा भागा इति। (जीवाजी. मलय. वृ ४, पृ. ६)।

धर्मास्तिकाय के निर्विभागी अंशों को धर्मास्तिकायप्रदेश कहते हैं।

धर्मास्तिकायानुभाग—जीव-पोग्गलाणं गमणागमणहेदुत्तं धम्मत्थियाणुभागो। (धव. पु. १३, पृ. ३४९)।

जीव और पुद्गलों के गमन और आगमन में सहकारी होना, यह धर्मास्तिकाय का अनुभाग है।

धर्मी—१. प्रसिद्धो धर्मी। (परीक्षा. ३–२७)। २. कारणादिव्यपदेशं द्रव्यं धर्मी, स्वधर्मापेक्षया द्रव्यस्य धर्मिव्यपदेशः। (आ. मी. वसु. ७५)। ३. आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी। (प्र. न. त. ३, २०)। ४. धर्मी प्रमाणसिद्धः। बुद्धिसिद्धोऽपि। (प्रमाणमी. १, २, १६–१७)।

१ जो (साध्य धर्म से विशिष्ट पक्ष) प्रमाण से, विकल्प से अथवा दोनों से प्रसिद्ध होता है उसे अनुमान के प्रकरण में धर्मी कहा जाता है। २ कारण आदि नाम वाला द्रव्य अपने धर्म की अपेक्षा धर्मी कहलाता है।

धर्मोपदेश—१. धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। (स. सि. ९–२५; त. श्लो. ९–२५)। २. धर्मोपदेशो व्याख्यानमनुयोगवर्णनं धर्मोपदेश इत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ९–२५; योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। ३. धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं सन्देहव्यावर्तनापूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते। (त. वा. ९, २५, ५)। ४. आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेदनीति चतस्रः कथाः, तासां कथनं धर्मोपदेशः। (भ. आ. विजयो. १०४)। ५. कथा धर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना। (त. सा. ७–१९)। ६. दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्तनार्थं सन्देहव्यावर्तनार्थमपूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। (चा. सा. पृ. ६७)। ७. द्वादशांगैकदेशोपदेशो धर्मोपदेशनम्। (आचा. सा. ४–९२)। ८. धर्मोपदेशः स्याद् धर्मकथा संस्तुतिमङ्गला। (अन. ध. ७–८७)। ९. दृष्टादृष्टप्रयोजनानपेक्षमुन्मार्गनिवर्तन-सन्देहच्छेदापूर्वार्थप्रकाशनाद्यर्थो धर्मकथानुष्ठानं धर्मोपदेशः। (भाव. प्रा. टी. ७८, पृ. २८५)। १०. दृष्टादृष्टप्रयोजनमनपेक्ष्य उन्मार्गविच्छेदनार्थं सन्देहच्छेदनार्थमपूर्वार्थप्रकाशनादिकृते केवलमात्मश्रेयोऽर्थं महापुराणादिधर्मकथाद्यनुकथनं धर्मोपदेशः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२५)। ११. दृष्टादृष्टप्रयोजनमनपेक्ष्य उन्मार्गविच्छेदनाय सन्देहच्छेदनार्थम् अपूर्वार्थप्रकाशनादिकृते केवलमात्मश्रेयोऽर्थं महापुराणादिधर्मकथाद्यनुकथनं स्तुति-देववन्दनादिकं च धर्मोपदेशः। (कार्तिके. टी. ४६६)।

१ धर्मकथा आदि के अनुष्ठान को धर्मोपदेश कहा जाता है। ३ दृष्ट प्रयोजन के परित्यागपूर्वक कुमार्ग से निवृत्त होने, सन्देह का विनाश करने और अपूर्व अर्थ के प्रकाशित करने के लिए जो धर्मकथा आदि का आचरण किया जाता है इसे धर्मोपदेश कहते हैं।

धर्म्यध्यान—देखो धर्मध्यान। १. धर्म्यमाज्ञादिपदार्थस्वरूपपर्यालोचनैकाग्रता। (समवा. अभय. वृ. ४, पृ. ९)। २. श्रुत-चरणधर्मानुगतं धर्म्यम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २४७)।

१ आज्ञा व अपाय आदि के स्वरूप का एकाग्रता से विचार करना, यह धर्म्यध्यान कहलाता है।

धात्रीदोष—देखो धात्रीपिण्ड। १. मज्जण-मंडण-धादी खेल्लावण खीर अंबधादी य। पंचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोसो दु॥ (मूला. ६–२८)। २. पंचविधानां धात्रीकर्मणां अन्यतमेनोत्पादिता वसतिः काचिद्दारकं स्नपयति भूषयति क्रीडयति आशयति स्वापयति वा वसत्यर्थमेवमुत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८–४९)। ३. पंचविधानां धात्रीणां क्रियया कर्मणा च आहारादिरुत्पद्यते स धात्री नामोत्पादनदोषः। (मूला. वृ. ६–२८)। ४. बाललालन-शिक्षादिर्धात्रीत्वं ××× । (आचा. सा. ८–३७; भावप्रा. टी. ९९)। ५. मार्जन-क्रीडनस्तन्यपान-स्वापन-मण्डनम्। बाले प्रयोक्तुर्यत्प्रीतो दत्ते दोषः स धात्रिका। (अन. ध. ५–२०)। ६. दारकाणां स्नपनेनालंकरणेन क्रीडनेन भोजनेन स्वापेन वा धात्रीवत्कर्मणा संयतेनोत्पादिता वसतिः धात्रीदोषदुष्टा। (भ. आ. मूला. २३०)।

१ मज्जनधात्री, मण्डनधात्री, क्रीडनधात्री, क्षीरधात्री और अम्बधात्री; इन पांच धायों के क्रमशः स्नान, अलंकरण, क्रीडन, दुग्धपान और सुलानेरूप कार्य से अथवा तद्विषयक उपदेश के द्वारा जो भोजन प्राप्त किया जाता है वह इस धात्रीदोष से दूषित होता है।

धात्रीपिण्ड—देखो धात्रीदोष। १. तथाशनाद्यर्थं दातुरपत्योपकारे वर्तत इति धात्रीपिण्डः। (आचारा. सू. शी. वृ. २७३, पृ. ३२०)। २. बालस्य क्षीर-मज्जन-मण्डन - क्रीडनाङ्कारोपणकर्मकारिण्यः

धकच धाण्यः, एतासां कर्म भिक्षार्थं कुर्वतो मुनेर्धा-त्रीपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)।

१ भोजन आदि के लिये दाता की सन्तान के उप-कारार्थ पांच प्रकार के धात्रीकर्म में प्रवृत्त होने पर जो भोजन आदि प्राप्त होता है वह धात्रीपिण्ड नामक उत्पादन दोष से दूषित होता है।

धानुष्क—धानुष्को धनुषो योगात् × × × (पद्मपु. ६–२०८)।

धनुष धारण करनेवाले को उसके निमित्त से धानुष्क कहते हैं।

धान्य—धान्य व्रीह्यादि अष्टादशभेदसुसस्यम्। उक्तं च — गोधूम-शालि-यव-सर्षप-माष-मुद्गाः श्यामाक-कङ्गु-तिल-कोद्रव-राजमाषाः। कीनाश-नालमथ वैणव-माढकी च सिबा-कुलत्थ-चणकादि-सुबीजधान्यम्॥ (कार्तिके. टी. ३४०)।

व्रीहि आदि अठारह प्रकार के अनाज को धान्य कहा जाता है।

धान्यमानप्रमाण—से किं तं धन्नमाणपमाणे? २ दो असईओ पसई दो पसईओ सेतिआ चत्तारि सेइआओ कुलओ चत्तारि कुलया पत्थो चत्तारि पत्थया आढगं चत्तारि आढगाइं दोणो सट्ठि आढ-याइं जहन्नए कुंभे असीइ आढयाइं मज्झिमए कुंभे। आढयसयं उक्कोसए कुंभे अट्ठ य आढयसइए वाहे। एएणं धण्णमाणमाणेणं किं पओअणं? एएणं धण्ण-माणपमाणेणं मुत्तोलीमुखइदुरअलिंदओचारसंसियाणं धण्णाणं धण्णमाणप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ, से तं धण्णमाणपमाणे। (अनुयो. सू. १३२, पृ. १५१)।

धान्य के मापने के बांटों को धान्यमानप्रमाण कहते हैं। जैसे—दो असतिकी एक प्रसृति, दो प्रसृतियों की एक सेतिका, चार सेतिकाओं का एक कुडव, चार कुडवों का एक प्रस्थ, चार प्रस्थों का आढक, चार आढकों का द्रोण, साठ आढकों का जघन्य कुम्भ, अस्सी आढकों का मध्यम कुम्भ, सौ आढकों का उत्कृष्ट कुम्भ और आठ सौ आढकों का वाह होता है। ये सब धान्य के मापविशेष हैं।

धारण—१. गृहीतस्याविस्मरणं धारणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–६)। २. धारणमविस्मरणम्। (योगशा. स्वो. विव. १–५१)।

१ गृहीत (अनुभूत) बात को नहीं भूलना, इसका नाम धारण है।

धारणा—१. धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा (एदे पच धारणाए पज्जायसद्दा)। (षट्खं. ५, ५, ४०—पु. १३, पृ. २४३)। २. अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा। (स. सि. १–१५)। ३. धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च। धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. १–१५)। ४. × × × धरणंमि य धारणं बिंति॥ (आव. नि. ३)॥ ५. × × × धरणं पुण धारणं बिंति॥ (विशेषा. भा. १७९); × × × अविच्चुई धारणा तस्स॥ (विशेषा. भा. १८०)। ६. तव्विसेसावगमस्स धरणं अविच्चुनी, धारणा इत्यर्थः। (नन्दी. चू. पृ. २५)। ७. निर्ज्ञातार्थाऽविस्मृतिर्धारणा। भाषा-वयोरूपादि-विशेषैर्याथात्म्येन निर्णीतस्य (अर्थस्य) पुरुषस्योत्तर-कालं स एवायमित्यविस्मरणं यतो भवति सा धारणा। (त. वा. १, १५, ४)। ८. धारणा स्मृतिहेतुः × × ×। (लघीय. ६); स्मृतिहेतुर्धारणा-संस्कारः। (लघीय. स्वो. वि. ६)। ९. अवगतार्थ-विशेषधरणं धारणा। × × × परिच्छिन्नस्य वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं तद् धरणं पुनर्धा-रणां ब्रुवते। (आव. नि. हरि. वृ. ३)। १०. धारणा प्रतिपत्तिः, यथास्वं मत्यवस्थानमवधारणं च। (अने. ज. प., पृ. १८)। ११. तथा तदर्थविशेषधरणं धारणा, अविच्युति-स्मृति-वासनारूपा। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६३); अपायानन्तरमवगतार्थमविच्युत्या जघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं धारयतो धारणेति भण्यते, ततस्तमेवार्थं उपायोगाच्युतो जघन्येनान्तर्मु-हूर्तादुत्कृष्टतोऽसंख्येयकालात् परतः स्मरतो धरणं धारणोच्यते। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६६); धरणं संख्येयवर्षायुषां संख्येयमसंख्येयवर्षायुषामसंख्येयम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६७)। १२. कालान्तरेऽप्य-विस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा। (धव. पु. १, पृ. ३५४); निर्णीतस्यार्थस्य कालान्तरे अविस्मृति-र्धारणा। जत्तो णाणादो कालंतरे वि अविस्सरण-हेदुभूदो जीवे संसकारो उप्पज्जदि तण्णाणं धारणा णाम। (धव. पु. ६, पृ. १८); निर्णीतार्थाविस्मृ-तिर्यतस्सा धारणा। (धव. पु. ६, पृ. १४४); अवे-

तस्य कालान्तरे अविस्मरणकारणं ज्ञानं धारणा। (धव. पु. १३, पृ. २१८-१९); × × × अवेदवत्थु-लिंगग्गहणदुवारेण कालंतरे अविस्सरणहेदुसंकारजणणं विण्णाणं धारणेत्ति अब्भुवगमादो: (धव. पु. १३, पृ. २३३); धार्यते निर्णीतोऽर्थः अनया इति धारणा। (धव. पु. १३, पृ. २४३)। १३. कालंतरे अंभरणणिमित्तसंसकारहेउणाणं धारणा। (जयध. १, पृ. ३३२); जं कालंतरे अविस्सरणहेउसंसकारुप्पायणं णाणं णिण्णयसरूवं सा धारणा। (जयध. १, पृ. ३३६)। १४. धारणा श्रुतिनिर्दिष्टबीजानामव-धारणम्। (म. पु. २१-२७)। १५. × × × स्मृतिहेतुः सा धारणा। (त. श्लो. १, १५, ४)। १६. सावधारणज्ञानं कालान्तराविस्मरणकारणं धारणा-ज्ञानम्। (प्रमाणप., पृ. ६८)। १७. यदा तु निश्चितं सन्तमविच्युतिरूपेण धारयति लब्धिरूपेण वा कालान्तरानुस्मरणे वा सा धारणा। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१५); तस्यैव स्पर्शादेरर्थस्य परि-च्छिन्नस्योत्तरकालमविस्मृतिर्या सा धारणा। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१७)। १८. तह य अवायमदिस्स कुंअरसद्दे त्ति णिच्छिदत्थस्स। कालंतरअविसरणं सा होदि य धारणा बुद्धी॥ (जं. दी. प. १३-६०)। १९. स्मृतेः अनुभूतवस्तुविषयायाः तच्छब्दपरामृ-ष्टायाः प्रतीतेः हेतुः धारणा—भावना, संस्कार इति यावत्। (न्यायकु. ६, पृ. १७३)। २०. तस्यैव (अवायविषयस्यैव) कालान्तरस्मरणयोग्य-तया ग्रहणं धारणा। (प्रमाणनि. पृ. २८)। २१. कालान्तरे वि णिण्णिदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं। (गो. जी. ३०९)। २२. धारणमविस्मरणम्। (नीतिवा. ५-४९, पृ. ५९)। २३. निर्णीतस्यार्थस्य कालान्तरेष्वविस्मृतिर्धारणा यस्माज्ज्ञानात्कालान्तरे-ऽप्यविस्मरणहेतुभूतो जीवसंस्कार उत्पद्यते तज्ज्ञानं धारणा। (मूला. वृ. १२-१८७)। २४. कालान्तरे परिज्ञातवस्तुस्मरणकारकः। संस्कारो यस्तदुत्पत्ति-कारणं धारणाह्वयम्॥ (आचा. सा. ४-१५)। २५. स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा। (प्र. न. त. २-१०)। २६. स इत्यवायो दृढतमावस्थापन्नो विवक्षितविषयावसाय एव सादरस्य प्रमातुरत्यन्तो-पचितः कंचित् कालं तिष्ठन् धारणेत्यभिधीयते। दृढतमावस्थापन्नो ह्यवायः स्वोपढौकितात्मशक्ति-विशेषरूपसंस्कारद्वारेण कालान्तरे स्मरणं कर्तुं पर्या-प्नोतीति। (रत्नाकरा. २-१०, पृ. ९२)। २७. स्मृतिहेतुर्धारणा। (प्रमाणमी. १, १, ३०)। २८. धारणा अर्हद्गुणाविस्मरणरूपा। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)। २९. अवायज्ञानानन्तरम-न्तर्मुहूर्तं यावत्तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः तत-स्तदाहितो यः संस्कारः संख्येयमसंख्येयं वा कालं यावत् स वासनेत्युच्यते। पुनः कालान्तरे कुतश्चित्ता-दृशार्थदर्शनादिकात् कारणात् संस्कारस्य प्रबोधे सति यत् ज्ञानमुदयते तदेवेदं यत् प्रागुपलब्धमित्यादि तत् स्मृतिः। एतानि च त्रीण्यप्यविच्युत्यादीनि ज्ञानानि अविशेषेण धारणाशब्दवाच्यानि। यदाह—तदनंतरं तदत्थाविच्चवणं जो य वासणाजोगो। कालंतरेण जो पुण अणुमरणं धारणा सा उ॥ (धर्मसं. मलय. वृ. ४४); अवग्रहादिक्रमेण निश्चितार्थविषये तदुपयोगादभ्रंशोऽविच्युतिः, तज्जनितः संस्कारविशे-षो वासना, तत्सामर्थ्यादुत्तरकालं पूर्वोपलब्धार्थविष-यमिद तदित्यादिज्ञानं स्मृतिः, अविच्युति-वासना-स्मृतयश्च धारणलक्षणसामान्यान्वर्थयोगाद् धारणेति व्यपदिश्यते। (धर्मसं. मलय. वृ. ८२३)। ३०. तस्यैवार्थस्य निर्णीतस्य धरणं धारणा। (आव. नि. मलय. वृ. २, पृ. २३)। ३१. धारणा स्मृतिः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-२७६)। ३२. तथा निश्चि-तस्यैवाविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणं धारणा। (प्रव. सारो. वृ. १२५३; कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १३)। ३३. ततः स एव अवायः पुनः पुनः प्रवृ-त्तिरूपाभ्यासजनितसंस्कारात्मकः सन् कालान्तरेऽपि निर्णीतवस्तुस्मरणकारणत्वेन तुर्यं धारणाख्यम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३०९)। ३४. कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव ज्ञानं धारणा। (न्यायदी., पृ. ३७)। ३५. अवेतस्य सम्यक्परि-ज्ञातस्य यत्कालान्तरे अविस्मरणकारणं ज्ञानं सा धारणेत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १-१५); धारणा तु अवगृहीतार्थानामविस्मरणकारणमिति। (त. वृ. श्रुत. १-१६)।

१ धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये धारणा के समानार्थक शब्द हैं। २ अवायसे जाने हुए पदार्थ के कालान्तर में नहीं भूलने का जो कारण है उसे धारणा कहते हैं। ३ विषय के अनु-सार प्रतिपत्ति—गृहीत अर्थविषयक उपयोग के अविनाश, मति में अवस्थान—अन्यत्र उपयोग जाने

पर अविच्युत में धारणारूप मति की विद्यमानता —और अवधारण को धारणा कहा जाता है।

धारणावरणीय—एतस्याः (धारणायाः) आवारकं कर्म धारणावरणीयम्। (धव. पु. १३, पृ. २१६)।

इस धारणा मतिज्ञान का आच्छादन करनेवाले कर्म को धारणावरणीय कहते हैं।

धारणाव्यवहार—धारणाववहारो संविग्गेण गीयत्थेणायरिएणं दव्व-खेत्त-काल-भाव-पुरिसपडिसेवणासु अवलोएऊण जम्मि जं अवराहे दिन्नं पच्छित्तं तं पासिऊण अन्नो वि तेसु चेव दव्वाइएसु तारिसावराहे तं चेव पच्छित्तं देइ, एस धारणाववहारो। अहवा वेयावच्चगरस्स गच्छोवग्गहकारिणो फड्डगपइणो वा संविग्गस्स देसदरिसणसहायस्स वा बहुसो पडितप्पियस्स अवसेससुयाणुओगस्स उचियपायच्छित्तट्ठाणदाणधारणं धारणाववहारो भन्नइ। (जीतक. चू. पृ. ४)।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पुरुषप्रतिसेवना के विषय में देखकर संसार से भयभीत गीतार्थ—आगम के ज्ञाता—आचार्य के द्वारा जिस अपराध के होने पर जो प्रायश्चित्त दिया गया है उसका विचार करके अन्य आचार्य भी जो उक्त द्रव्यादि के आश्रित वैसे अपराध के होने पर वही प्रायश्चित्त देता है; इसका नाम धारणाव्यवहार है। अथवा वैयावृत्त्य करके गच्छ का उपकार करनेवाले, व गण के अवान्तर विभाग के स्वामी, संविग्न (मोक्षाभिलाषी); देशतः दर्शन की सहायता से युक्त, बहुत प्रकार से प्रतितर्पित तथा अवशेष श्रुत के उपयोग से सहित अन्य प्रायश्चित्तदाता आचार्य के प्रायश्चित्त के देने के धारण को व्यवहार कहा जाता है।

धाराचारण—अविराहिय तल्लीणे जीवे घणमुक्कवारिधाराणं। उवरिं जं जादि मुणी सा धाराचारणा रिद्धी॥ (ति. प. ४-१०४४)।

जिसके प्रभाव से साधु मेघों से छोड़ी हुई जलधारा का आश्रय करके ऊपर गमन करते हुए जलधारागत जीवों की विराधना नहीं करता है उसे धाराचारण ऋद्धि कहते हैं।

धार्मिक—धर्मे श्रुत-चारित्रात्मके भवः, स वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकः। (स्थाना. ३, ३, १८८, पृ. १५४)।

श्रुत और चारित्र स्वरूप धर्म में होने वाला अथवा उक्त धर्म जिसका प्रयोजन है वह धार्मिक कहलाता है।

धार्मिक राजा (धम्मितो राया)—१. उभतो जोणी सुद्धो राया दसभागमेत्तसंतुट्ठो। लोए वेदे समए कयागमो धम्मितो राया॥ (व्यव. भा. ३)। २. यो राजा उभययोनिशुद्धो मातृ-पितृपक्षपरिशुद्धः, तथा प्रजाभ्यो दश (म) भागमात्रग्रहणसंतुष्टः तथा लोके लोकाचारे, वेदे समस्तदर्शनिनां सिद्धान्ते, समये नीतिशास्त्रे कृतागमः कृतपरिज्ञानो धार्मिको धर्मश्रद्धावान् स राजा। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३, पृ. १२९)।

जिसका मातृपक्ष और पितृपक्ष शुद्ध हो, जो प्रजा से उसकी आय का दशम भाग लेने में ही सन्तुष्ट रहता हो; तथा जो लोकव्यवहार, वेद—सब दर्शनियों के सिद्धान्त और नीतिशास्त्र का ज्ञाता हो वह धार्मिक राजा कहलाता है।

धीर—१. धीरः सत्त्वसम्पन्नः। (आव. नि. हरि. वृ. ८७४, पृ. ३७२)। २. धीराः कर्मविदारणसहिष्णवो धीरा वा परीषहोपसर्गाक्षोभ्याः, धिया बुद्धया राजन्तीति वा धीरा ये केवलासन्नसिद्धिगमनाः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. १, ६, ११, पृ. १८५)।

२ जो धी अर्थात् बुद्धि से सुशोभित होते हैं वे धीर कहलाते हैं और वे परीषह व उपसर्ग से विचलित न होकर थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त करने वाले होते हैं।

धूमकेतु—१. उप्पादकाले चेव धूमलट्ठि व्व आगासे उवलब्भमाणा धूमकेदू णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३५)। २. धूमकेतुर्गगने धूमाकाररेखाया दर्शनम्। (मूला. वृ. ५-७८)।

१ उत्पात के समय में ही आकाश में जो धूमाकार रेखा दिखाई पड़ती है उसे धूमकेतु कहते हैं।

धूमचारण—१. अध-उड्ढ-तिरियपसरं धूमं अवलंबिऊण जं देंति। जं पदखेवे अक्खलिआ सा रिद्धी धूमचारणा णाम॥ (ति. प. ४-१०४२)। २. धूमवर्ति तिरश्चीनामूर्ध्वगां वा आलम्ब्यास्खलितगमनास्कन्दिनो धूमचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १-९; प्रव. सारो. वृ. ६०२, पृ. १९८)।

१ जिसके प्रभाव से ऋषि जन नीचे, ऊपर और तिरछे फैलने वाले धुएं का अवलम्बन करके

आत्मनिन्दा आक्षेप करते हुए वमन करते हैं उसे धूमचारण ऋद्धि कहते हैं।

धूमदोष—१. तं पुण होदि सधूमं जं आहारेदि णिंदिदो। (मूला. ६–५८)। २. शीतवातातपाद्यु-पद्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दां कुर्वतो वसनं धूमदोषः। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८–४४९, पृ. ३३९)। ३. तथाऽन्त[न्य] प्रान्तादावाहारद्वेषाच्चारित्रस्याभिधूमनाद् धूम्रदोषः। (आचारा. सू. शी. वृ. ९–१, २७३, पृ. ३२१)। ४. यस्मादाहरति निन्दन् जुगुप्समानो विरूपकमे-तदनिष्टं मम एवं कृत्वा यदि भुंक्ते तदानीं धूमो नाम दोषः। (मूला. वृ. ६–५८)। ५. निन्दन् पुनश्चारित्रेन्धनं दहन् धूमकरणाद् धूमो दोषः। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)। ६. धूमोऽनिष्टा-न्न-पानादौ यद् द्वेषेण निषेवनम्। (आचा. सा. ८–५७)। ७. ××× अश्नतो धूमो निन्दया ×××। (अन. ध. ५–३७)।

१ यह आहार मेरे लिए अनिष्टकर है, इस प्रकार निन्दा करते हुए उसे ग्रहण करने पर वह धूमदोष से दूषित होता है। ३ अन्त[अन्य] प्रान्त आदि में आहारविषयक द्वेष के वश चारित्र चूंकि धूमित (मलिन) होता है, अतएव इसे धूम या धूम्रदोष कहा जाता है।

धृति—१. निःश्रेयसधर्मभूमिकानिबन्धनभूता धृतिः। (ललितवि. पृ. ३८); धृतिः मनःप्रणिधानम्। (ललितवि. पृ. ८१)। २. धृतिः चित्तस्वास्थ्यम्। (समवा. अभय. वृ. १४१)। ३. धृतिः समाधि-लक्षणा। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

१ मोक्षप्रापक धर्म की भूमिका का जो कारण है उसे धृति (धैर्य) कहा जाता है, मन की एकाग्रता को धृति कहते हैं।

धृतिमान्—धृतिः संयमे रतिः, सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. १, ६, ३३)। संयम में रति या अनुराग के करने वालों को धृति-मान् कहा जाता है।

धेनुमुद्रा— अन्योन्यग्रन्थिताङ्गुलीषु कनिष्ठिका-नामिकयोर्मध्यमा-तर्जन्योश्च संयोजनेन गोस्तना-कारा धेनुमुद्रा। (निर्वाणक. १९, ३, २)।

दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर में भिड़ाकर —ग्रंथित कर—कनिष्ठा-अनामिका और मध्यमा-तर्जनी के मिला देने पर जो गाय के स्तन के आकार वाली मुद्रा बन जाती है उसे धेनुमुद्रा कहते हैं।

ध्याता—१. णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को। इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा॥ (प्रव. सा. २–९९); जो खविद-मोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता। सम-वट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा॥ (प्रव. सा. २–१०४)। २. पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ। ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्ग-जणियाओ॥ णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च। णाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुणिच्चल-मईओ॥ संकाइदोसरहिओ पसमत्थेज्जाइगुणगणो-वेओ। होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि॥ नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं। चारित्तभावणाए ज्झाणमयत्तेण य समेइ॥ सुवि-दियजगस्सहावो णिस्संगो निब्भओ णिरासो य। वेरग्गभावियमणो ज्झाणंमि सुनिच्चलो होइ॥ (ध्यानश. ३०–३४; धव. पु. १३, पृ. ६८ उद्.)। ३. उत्तमसघडणो ओघबलो ओघसूरो चोद्दसपुव्व-हरो वा [दस-]णवपुव्वहारो वा ××× सम्मा-इट्ठी ××× चत्तासेसबज्झंतरंगगंथो ××× विवित्तपासुयगिरि-गुहा-कंदर-पब्भार-सुसाण-आरा-मुज्जाणादिदेसत्थो ××× जहासुहत्थो ××× अणियदकालो ××× सालंबणो ××× सुट्ठु तिरयणेसु भावियप्पा ××× विसएहिंतो दिट्ठि णिरुंभियूण ज्झेये णिरुद्धचित्तो ×××। एवं ज्झायंतस्स लक्खणं परूविदं। (धव. पु. १३, पृ. ६४–६९)। ४. ध्याताऽकषायकलुषितो गुप्तेन्द्रि-यश्च। (चा. सा. पृ. ७४)। ५. मुमुक्षुर्जन्मनिर्वि-ण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः। जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते॥ (ज्ञाना. ४–६, पृ. ६९); विरज्य काम-भोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्। यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते॥ (ज्ञाना. ५–३, पृ. ८३)। ६. अमुंचन् प्राणनाशेऽपि संयमैकधुरीणताम्। परमप्यात्मवत्पश्यन् स्वस्वरूपा-परिच्युतः॥ उपतापमसंप्राप्तः शीतवातातपादिभिः। पिपासुरमरीकारि योगामृतरसायनम्॥ रागादिभि-रनाक्रान्तं क्रोधादिभिरदूषितम्। आत्मारामं मनः कुर्वन् निर्लेपः सर्वकर्मसु॥ विरतः काम-भोगेभ्यः

स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः । संवेगह्रदनिर्मग्नः सर्वत्र समतां श्रयन् ।। नरेन्द्रे वा दरिद्रे वा तुल्यकल्याणकामनः । अमात्रकरुणापात्रं भवसौख्यपराङ्मुखः ।। सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्ददायकः । समीर इव निःसंगः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ।। (योगशा. ७, २-७)। ७. स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता × × × । (द्रव्यसं. टी. ३६) । ८. आहारासननिद्राणां विजयो यस्य जायते । पंचानामिन्द्रियाणां च परीषहसहिष्णुता ।। गिरीन्द्र इव निष्कम्पो गम्भीरस्तोयराशिवत् । अक्षोभ्यशास्त्रवित् धीरो ध्याताऽसौ कथ्यते बुधैः ।। (भावसं. वाम. ६५७–५८) ।

१ मैं पर (अन्य) का नहीं हूं और पर मेरे नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हूं; इस प्रकार से जो ध्यानमें आत्मचिन्तन करता है उसे ध्याता जानना चाहिए। जो कषायों की कलुषता से रहित व विषयों से विरक्त होता हुआ मन को रोक कर स्वभाव में स्थित होता है वह ध्याता कहलाता है।

ध्यान — १. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् । (त. सू. ९–२७) । २. चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम् । (स. सि. ९-२०)। ३. उत्तमसंहननं वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचं अर्धनाराचं च, तद्युक्तस्यैकाग्रचिन्तानिरोधश्च ध्यानम् । (त. भा. ९–२७) । ४. तस्स (झाणस्स) य इमं लक्खणं । तं०—दढमज्झवसाणंति । केई पुण आयरिया एवं भणंति—एगग्गस्स चिन्ताए निरोधो झाणं, एगग्गस्स किर चिन्ताए निरोधो तं झाणमिच्छंति, तं छउमत्थस्स जुज्जइ, केवलिणो न जुज्जइत्ति । (दशवै. चू. १, पृ. २९) । ५. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं । तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ।। (ध्यानश. २) । ६. ध्यानशब्दो भाव-कर्तृ-करणसाधनो विवक्षावशात् । अयं ध्यानशब्दः भाव-कर्तृ-करणसाधनो विवक्षावशाद् वेदितव्यः । तत्र ध्येयं प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनो ध्यानशब्दः । ध्यायतीति ध्यानमिति बहुलापेक्षया कर्तृसाधनश्च युज्यते । करणप्रशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ समीक्षितायां यथा साध्वसिश्छिनत्तीति प्रयोक्तृ-निर्वर्त्ययोः सतोरप्युद्यमन-निपातनयोरविशेषतंत्रस्याच्छेदनस्य कर्तृधर्माध्यारोपः क्रियते, तथा दिध्यासोरप्यात्मनः ज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषतंत्रत्वात् ध्यानपरिणामस्य युज्यते कर्तृत्वम् । करणत्वमपि चास्य पर्याय-पर्यायिणोर्भेदपरिकल्पनासद्भावात् युज्यते अग्नेर्दाह-पाक-स्वेदादिक्रियाप्रवृत्तस्यात्मभूतोष्णकरणपरिकल्पनवत् । (त. वा. ९, २७, ८) । ७. यत् स्थिरमध्यवसानं तद् ध्यानम् । (ध्यानश. हरि. वृ. २) । ८. अन्तर्मुहूर्तकालं चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानम् । (आव. नि. हरि. वृ. १४६३, पृ. ७७४) । ९. उत्तमसंहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । एत्थ गाहा—जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं । तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ।। (धव. पु. १३, पृ. ६४ उद्.); वंसमसय-सीह-वय-वग्घ-तरच्छच्छहल्लेहि खज्जंतो वि वासीए तच्छिज्जंतो [वि]करवत्तेहि फाडिज्जंतो वि दावानलसिहामुहेण कवलिज्जंतो वि सीद-वादादवेहि बाहिज्जंतो [वि] अच्छरसयकोडीहि लालिज्जंतओ वि जिस्से अवत्थाए ज्झेयादो ण चलदि सा जीवावत्था ज्झाणं णाम । (धव. पु. १३, पृ. ७४); अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाणमेगवत्थुम्हि । छदुमत्थाणं ज्झाणं जोगणिरोहो जिणाणं तु ।। (ध्यानश. ३; धव. पु. १३, पृ. ७६ उद्.)। १०. ध्यानमेकाग्रचिन्ताया बलसंहननस्य हि । निरोधोऽन्तर्मुहूर्तं स्याच्चिन्ता स्यादस्थिरं मनः ।। (ह. पु. ५६–३) । ११. ऐकाग्र्येण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि । तद् ध्यानं वज्रकं यस्य भवेदान्तर्मुहूर्ततः ।। स्थिरमध्यवसानं यत्तद् ध्यानं × × × ।। धीबलायत्तवृत्तित्वाद् ध्यानं तज्ज्ञैर्निरुच्यते । यथार्थमभिसन्धानाद् अपध्यानमतोऽन्यथा ।। (म. पु. २१, ८–९ व ११); प्रशस्तप्रणिधानं यत् स्थिरमेकत्र वस्तुनि । तद् ध्यानमुक्तं मुक्त्यङ्गं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ।। (म. पु. २१–१३२) । १२. ततोऽयं ध्यानशब्दो भाव-कर्तृ-करणसाधनो विवक्षावशात् ध्येयं प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रत्वात् ध्यातिर्ध्यानमिति भवति । करणप्रशंसापरायां वृत्तौ कर्तृसाधनत्वं ध्यायतीति ध्यानम् । साधकतमत्वविवक्षायां कारणसाधनं ध्यायत्यनेन ज्ञानावरण-वीर्यान्तरायविरामविशेषोद्भूतशक्तिविशेषेणेति ध्यानमिति । (त. श्लो. ९–२७, पृ. ४९९) । १३. राग-द्वेष-मिथ्यात्वासंश्लिष्टं अर्थयाथात्म्यस्पर्शिप्रसिनिवृत्तविषयान्तरसंचारं ज्ञानं ध्यानम् । (भ. आ. विजयो. २१); ध्यानं एकाग्रचिन्तानिरोधः । (भ. आ. विजयो. ७०);

वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो यः स ध्यानम्। (भ. आ. विजयो. ७१)। १४. वाक्काय-चित्तानां आयमविधानेन निरोधो ध्यानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२०); यतो निश्चलं स्थिरमध्यवसानमेकालम्बनं छद्मस्थविषयं ध्यानम्। केवलिनां पुनर्वाक्काययोगनिरोध एव ध्यानम्, अभावान्मनसः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२७)। १५. एकाग्रचिन्तानिरोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः। तद् ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्॥ द्रव्य-पर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम्। तत्र चिन्तानिरोधो यस्तद् ध्यानं बभणुर्जिनाः॥ (तत्त्वानु. ५६ व ५८); निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे। स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम्॥ (तत्त्वानु. ९६)। १६. एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया निरोधो ध्यानमिष्यते। अन्तर्मुहूर्ततस्तच्च भवत्युत्तमसंहतेः॥ (त. सा. ७-३८)। १७. ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मनः एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २-१०२); तत्तु (स्वभावे समवस्थानं) स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २-१०४)। १८. शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिर्हि ध्यानम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४६)। १९. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्, एकस्मिन् क्रियासाधनेऽग्रं मुखं यस्याश्चिन्ताया इत्येकाग्रचिन्ता, तस्या निरोधोऽन्यत्राऽसंचारस्तदेकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। ××× ध्यानं चिन्ताप्रबन्धलक्षणम्। (चा. सा. पृ. ७४)। २०. चित्तस्यैकाग्रता ध्यानं ×××। (उपासका. ६१९)। २१. एकं चिन्तानिरोधात् पुनरिदमुभयं ध्यानमान्तर्मुहूर्तम्। (अध्यात्मक. १५)। २२. उत्कृष्टं कायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्ततः। ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः॥ एकचिन्तानिरोधो यस्तद् ध्यानं ×××। (ज्ञाना. १५-१६, पृ. २५५-५६)। २३. जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू। लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं॥ (द्रव्यसं. ५५)। २४. एकाग्रचिन्तानिरोधेन च पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं निश्चलत्वं ध्यानलक्षणम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५५)। २५. एकस्मिन् विषयेऽप्रमाननमभूवस्था मतेरित्यसावेकाग्रा विषयोपयोगनिरता चिन्तानिरोधो यथा-। वस्था स्यान्निजगोचराबलमनो ध्यानं तदन्तर्मुहूर्तादस्थानमतीव दुर्धरतया नाऽतः परं तिष्ठति। (आचा. सा. १०-१२)। २६. अन्तर्मुहूर्तं यावच्चित्तस्यैकाग्रता योगनिरोधश्च ध्यानम्। (समवा. अभय. वृ. ४, पृ. ९)। २७. ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधः। (चारित्रभ. टी. ५; भ. आ. मूला. ७०)। २८. मुहूर्तान्तमनस्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्। धर्म्यं शुक्लं च तद् द्वेधा योगरोधस्त्वयोगिनाम्॥ (योगशा. ४-११५)। २९. ध्यातिर्ध्यानमेकाग्रचिन्तानिरोधः, एकवस्तुनिष्ठमात्मनो ज्ञानमित्यर्थः। ××× एकस्मिन् विवक्षितेऽग्रे मुखे ध्यालम्बने चिन्ताया यथोक्तपरिस्पन्दवच्चैतन्याश्रितायाः अन्तःकरणप्रवृत्तेर्निरोधोऽवरोधो नानार्थध्यावर्तनेन तत्रैवावस्थापनमेकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानस्याक्षूणं लक्षणमुपलक्षणीयम्। (भ. आ. मूला. टी. १६९९)। ३०. एकाग्रचिन्तनं ध्यानं चतुर्भेदविराजितम्। (भावसं. वाम. ६५९)। ३१. मनोविभ्रमपरिहरणं ध्यानमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२०); एकमग्रं मुखमवलम्बनं द्रव्यं पर्यायः तदुभयं स्थूलं सूक्ष्मं वा यस्य स एकाग्रः; एकाग्रस्य चिन्तानिरोधः आत्मार्थं परित्यज्यापरचिन्तानिषेध एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२७)। ३२. कृत्स्नचिन्तानिरोधेन पुंसः शुद्धस्य चिन्तनम्। एकाग्रलक्षणं ध्यानं तदुक्तं परमं तपः॥ (लाटीसं. ७-८७)।

१ उत्तम संहनन वाले जीव के जो एक अग्र में—अनियमित भोजन-गमनादि रूप अनेक क्रियाओं में से किसी एक ही क्रिया के कर्ता रूप में—चिन्ता का जो निरोध होता है उसे ध्यान कहते हैं। वह अन्तर्मुहूर्त काल तक ही होता है। ५ स्थिर अध्यवसान—आत्मपरिणाम—का नाम ध्यान है।

ध्येय—१. जिणो वीयरायो केवलणाणेण अवगयतिकालगोयराणंतपज्जाओवचियछद्दव्वो णवकेवललद्धिप्पहुडिअणंतगुणेहि आरद्धदिव्वदेहधरो अजरो अमरो अजोणिसंभवो अदज्झो अछेज्जो अवत्तो णिरंजणो णिरामओ अणवज्जो सयलकिलेसुम्मुक्को तोसवज्जियो वि सेवयजणकप्परुक्खो, दोसवज्जिओ वि सगसमयपरम्मुहजीवाणं कयंतोवमो सिद्धसज्झो जियजेयो संसार-सायरुत्तिण्णो सुहामियसायरणिबुड्डासेसकर-चरणो णिच्चओ णिराउहभावेण जाणाविथपडिवक्खाभावो सव्वलक्खणसंपुण्णदप्पणसंकंत-

भाणुसकायागारो संतो वि सयलमाणुसपहावुत्तिण्णो अव्वओ अक्खओ × × × छसरूवे दिण्णचित्त-जीवाणमसेसपावपणासओ जिणउवइट्ठणवपयत्था वा ज्झेयं होंति। × × × बारसअणुपेक्खाओ उव-समसेढि-खवगसेढिचडणविहाणं तेवीसवग्गणाओ पंच परियट्टाणि ट्ठिदि-अणुभाग-पयडि-पदेसादि सव्वं पि ज्झेयं होदि त्ति दट्ठव्वं। (धव. पु. १३, पृ. ६९, ७०)। २. अथवा पुरुषार्थस्य परां काष्ठामधिष्ठि-तः। परमेष्ठी जिनो ध्येयो निष्ठितार्थो निरञ्जनः॥ स हि कर्ममलापायाच्छुद्धिमात्यन्तिकीं श्रितः। सिद्धो निरामयो ध्येयो ध्यातृणां भावशुद्धये॥ (म. पु. २१, ११२-१३); ध्येयं स्यात् परमं तत्त्वमवाङ्-मानसगोचरम्॥ (म. पु. २१–२२८)। ३. ध्येयम-प्रशस्त-प्रशस्तपरिणामकारणम्। (चा. सा. पृ. ७४)। ४. यथावद्वस्तुनो रूपं ध्येयं स्यात् संयम[मे] सतां॥ (भावसं. वाम. ६५८)।

१ केवल ज्ञानादि रूप अनेक उत्तम गुणों से सम्पन्न वीतराग जिन व उनके द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं—ध्यान करने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त बारह अनुप्रेक्षायें, उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि पर आरूढ होने की विधि, तेईस वर्गणायें, पांच परिवर्तन और प्रकृति-स्थिति आदि बन्धभेद भी ध्येय (चिन्तनीय) हैं।

ध्रुव-अचित्त-द्रव्यवर्गणा (जघन्य)—१. ध्रुवअ-चित्तदव्ववग्गणा जहण्णा णाम तहाविहपरिणामपरि-णएहिं अचित्तखंधेहिं सव्वकालं अविरहितो लोगो अण्णे उप्पज्जंति अण्णे विगच्छंति। (कर्मप्र. चू. ब. क. १९, पृ. ४२)। २. ध्रुवाचित्तद्रव्यवर्गणा नाम याः सर्वदैव लोके प्राप्यन्ते। तथा हि—एतासां मध्येऽन्या उत्पद्यन्तेऽन्या विनश्यन्ति, न पुनरेताभिः कदाचनापि विरहितो भवति, अचित्तत्वं चासां जीवेन कदाचनापि अग्रहणादवसेयम्। (कर्मप्र. मलय. वृ. ब. क. १९, पृ. ४६)।

२ जो अचित्तद्रव्यवर्गणायें लोक में सदा ही पायी जाती हैं वे ध्रुव अचित्त द्रव्यवर्गणायें कहलाती हैं। अभिप्राय यह है कि इन वर्गणाओं में अन्य उत्पन्न होती हैं और अन्य विनष्ट होती हैं, परन्तु इनसे लोक कभी रहित नहीं होता। अचित्त उन्हें इस लिए कहा जाता है कि जीव ने उन्हें कभी ग्रहण नहीं किया।

ध्रुवप्रत्यय—१. स एवायमहमेव स इति प्रत्ययो ध्रुवः। (धव. पु. ६, पृ. १५४)। २. स्यान्नित्य-त्वविशिष्टस्य स्तम्भादेर्ग्रहणं ध्रुवः। (आचा. सा. ४–२६)।

१ वही यह है, मैं ही वह हूं, इस प्रकार का जो प्रत्यय होता है वह ध्रुवप्रत्यय कहलाता है। २ नित्य-त्वविशिष्ट स्तम्भ आदि के ग्रहण करने को ध्रुव-प्रत्यय कहते हैं।

ध्रुवबन्धप्रकृति—जस्स पयडीए पच्चओ जस्स कस्स वि जीवे अणादिधुवभावेण लब्भइ सा धुवबंध-पयडी। (धव. पु. ८, पृ. १७)।

जिस कर्मप्रकृति का प्रत्यय जिस किसी भी जीव में अनादि व ध्रुवस्वरूप से पाया जाता है वह ध्रुव-बन्धप्रकृति कहलाती है।

ध्रुव-बाह्य-सचित्तनोआगमद्रव्यस्थान—जं तं धुवं तं सिद्धाणमोगाहणट्ठाणं। कुदो? तेसिमोगा-हणाए वड्ढि-हाणीणमभावेण थिरसरूवेण अवट्ठा-णादो। (धव. पु. १०, पृ. ४३४)।

ध्रुवबाह्यसचित्तनोआगमद्रव्यस्थान सिद्धों का अव-गाहनास्थान है, क्योंकि उनकी अवगाहना वृद्धि-हानि से रहित होकर स्थिर स्वरूप से अवस्थित है।

ध्रुवराहु—१. तत्थ णं जे से धुवराहू से णं बहु-लपक्खस्स पाडिवए पण्णरसइभागेणं भागं चंदस्स लेसं आवरेमाणे चिट्ठति तं पढमाए पढमं भागं जाव पन्नरसमं भागं चरमे समए चंदे रत्ते भवति, अवसेसे समए चंदे रत्ते य विरत्ते य भवइ, तमेव सुक्कपक्खे उवदंसेमाणे २ चिट्ठति, तं पढमाए पढमं भागं जाव[पण्णरसमं भागं, चरमे समए] चंदे विरत्ते भवइ, अवसेसे समए चंदे रत्ते विरत्ते य भवइ। (सूर्यप्र. २०–१०५, पृ. २८८)। २. तत्र यः सदैव चन्द्रविमानस्याधस्तात् सञ्चरति स ध्रुवराहुः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. २०–१०५)।

ध्रुवराहु कृष्णपक्ष में प्रतिपदा के दिन चन्द्र के पन्द्रहवें भाग को आच्छादित करता है; इस क्रम से वह प्रतिदिन एक एक भाग को आच्छादित करता है। इस प्रकार अन्तिम समय (अमावस्या) में चन्द्र रक्त (पूर्णतया आच्छादित) रहता है, शेष दिनों में वह कुछ आच्छादित और कुछ प्रगट रहता है। यही क्रम शुक्ल पक्ष में उसके छोड़ने का समझना चाहिए। यही ध्रुवराहु कहलाता है।

ध्रुवसत्ताक—ध्रुवं सत् सत्ता यासां ता ध्रुवसत्ताकाः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ५१, पृ. ५६)। जिन प्रकृतियों की सत्ता सत्त्वव्युच्छित्ति के होने तक नियम से पाई जाती है उन्हें ध्रुवसत्ताक प्रकृतियां कहते हैं।

ध्रुवावग्रह—देखो ध्रुवप्रत्यय। सोऽयमित्यादि ध्रुवावग्रहः। (धव. पु. १, पृ. ३५७); णिच्चत्ताए गहणं धुवावग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. २१)। नित्यरूप से जो वस्तु का ग्रहण होता है वह ध्रुवावग्रह कहलाता है। जैसे—वह यही है, इत्यादि।

ध्रुवोदय—प्रव्वोच्छिण्णो उदओ जाणं पगईण ता धुवोदइया। (पंचसं. ३, १५६, पृ. ४८); जीवकर्मसम्बन्धादव्यवच्छिन्नो ऽनुसन्ततो यासामुदितकालं यावदुदयस्ता ध्रुवोदयाः, प्रतिनिवृत्तो न भवतीति भावः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३, १५६, पृ. ४८)।

जिन प्रकृतियों का उदय उचित रहने के काल तक नष्ट नहीं होता है उन्हें ध्रुवोदयी प्रकृतियां कहते हैं।

ध्रौव्य—१. अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। (स. सि. ५-३०)। २. ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणो ध्रुवतीति ध्रुवः। अनादिपारिणामिकस्वभावत्वेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्, यथा पिण्ड-घटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयात्। (त. वा. ५, ३०, ३)। ३. ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणो ध्रुवतीति ध्रुवस्तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। (त. श्लो. ५-३०)। ४. अनादिना स्वभावेन तद् ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः। (त. सा. ३-८)। ५. पूर्वोत्तरभावोच्छेदोत्पादयोरपि स्वजातेरपरित्यागो ध्रौव्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०)। ६. कालत्रयानुयायित्वं यद्रूपं वस्तुनो भवेत्। तद् ध्रौव्यत्वमिति प्राहुर्धर्माद्याः गणाधिपाः॥ (भावसं. वाम. ३७१)। ७. ध्रुवति स्थिरीसंभवते यः स ध्रुवः, तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ५-३०)। ८. तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः। यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः॥ (पंचाध्या. १-२०४)। ९. वर्तमानं ध्रुवं प्रोक्तं ××× । (लोकप्र. १०)।

१ अनादि पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा व्यय और उत्पाद सम्भव न होने से जो द्रव्य की स्थिरता है उसका नाम ध्रौव्य है।

ध्वजमुद्रा—संहृतोर्ध्वाङ्गुलिवामहस्तमूले चाङ्गुष्ठं तिर्यग्विधाय तर्जनीचालनेन ध्वजमुद्रा। (निर्वाणक. १६, पृ. ३२।१)।

बायें हाथ की अंगुलियों को मिला कर और उसके मूल में अंगूठे को तिरछा रखकर तर्जनी के चलाने से ध्वजमुद्रा होती है।

नकर—नकरं अकरदायिलोकं ××× । (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. १७५)।

कर (टैक्स) नहीं देने वाले व्यक्ति को नकर कहते हैं।

नक्षत्रनाम—से किं तं णक्खत्तणामे?, २ कित्तिआहि जाए कित्तिए कित्तिआदिण्णे कित्तिआधम्मे कित्तिआसम्मे कित्तिआदेवे कित्तिआदासे कित्तिआसेणे कित्तिआरक्खिए, रोहिणीहिं जाए रोहिणिए रोहिणिदिन्ने रोहिणिधम्मे रोहिणिसम्मे रोहिणिदेवे रोहिणिदासे रोहिणिसेणे रोहिणिरक्खिए य, एवं सव्वनक्खत्तेसु नामा भाणिअव्वा। एत्थ संगहणिगाहाओ—कित्तिअ-रोहिणि मिगसिर-अद्दा य पुणव्वसू अ पुस्से अ। तत्तो अ अस्सिलेस्सा महा उ दो फग्गुणीओ अ॥ हत्थो चित्ता साती विसाहा तह य होइ अणुराहा। जेट्ठा मूला पुव्वासाढा तह उत्तरा चेव॥ अभिई सवण धणिट्ठा सतभिसदा दो अ होंति भद्दवया। रेवई अस्सिणि भरणी एसा नक्खत्तपरिवाडी॥ (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४५)।

कृत्तिका आदि किसी नक्षत्र के आश्रय से किसी के नाम की जो स्थापना की जाती है उसे नक्षत्रनाम कहा जाता है। जैसे—कृत्तिका में उत्पन्न होने वाले मास को कार्तिक और कृत्तिका से दिये गये को कृत्तिकादत्त कहा जाता है, इसी प्रकार कृत्तिकाधर्म, कृत्तिकाशर्म, कृत्तिकादेव, कृत्तिकादास, कृत्तिकासेन और कृत्तिकारक्षित आदि कृत्तिकाश्रित अन्य नामों को तथा रोहिणी आदि शेष अन्य नक्षत्रों के आश्रित नामों को भी जानना चाहिए।

नक्षत्रमास—१. नक्खत्तो खलु मासो सत्तावीसं भवे अहोरत्ता। अंसा य एक्कवीसा सत्तट्ठिकएण

क्षेपण ॥ (ज्योतिष्क. ३७)। २. नक्षत्रमासस्वरूपम्—सप्तविंशतिदिनान्येकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः (२७२१/६७)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ३. अत्र पुनरेकोनितनक्षत्रपर्याययोग एको नक्षत्रमासः सप्तविंशत्यहोरात्रा एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५५)। ४. तत्र नक्षत्रेषु भवो नाक्षत्रः। किमुक्तं भवति? चन्द्रश्चारं चरन् यावता कालेनाभिजित आरभ्योत्तराषाढानक्षत्रपर्यन्तं गच्छति तत्प्रमाणो नाक्षत्रो मासः। यदि वा चन्द्रस्य नक्षत्रमण्डले परिवर्तनतानिष्पन्न इत्युपचारतो मासोऽपि नक्षत्रम्। (जम्बूद्वी. शा. वृ. ७–१५१, पृ. ४८६; व्यव. मलय. वृ. २–१५, पृ. ६)।

१ सत्ताईस दिन-रात और एक दिन के सड़सठ भागों में से इक्कीस भाग प्रमाण (२७२१/६७) एक नक्षत्रमास होता है। ४ चन्द्रमा के अभिजित् नक्षत्र से लेकर उत्तराषाढा नक्षत्र तक संचार या परिभ्रमण करने में जितना काल लगता है उसे नक्षत्रमास कहते हैं। अथवा चन्द्र की नक्षत्रमण्डल में परिवर्तनता से उत्पन्न मास को भी उपचार से नक्षत्र कहा जाता है।

नक्षत्रसंवत्सर—१. ता णक्खत्तसंवच्छरे णं दुवालसविहे पण्णत्ते। तं सावणे भद्दवए जाव आसाढे जं वा बहस्सतीमहग्गहे दुवालसहिं संवच्छरेहिं सव्वं णक्खत्तमंडलं समाणेति। (सूर्यप्र. १०, २०, ५५); समगं णक्खत्ता जोयं जोएंति समगं उऊ परिणमंति। नच्चुण्हं नाइसीए बहुउदए होइ नक्खत्ते॥ (सूर्यप्र. १०, २०, ५८, गा. १, पृ. १७१)। २. नक्खत्तचंदजोगो बारसगुणिओ उ नक्खत्तो। (ज्योतिष्क. ३५)। ३. एवंविधद्वादशमासनिष्पन्नो नक्षत्रसंवत्सरः। स चायं त्रीणि शतान्यह्नां सप्तविंशत्युत्तराण्येकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागाः (३२७५१/६७)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ४. स च द्वादशगुणो नक्षत्रसंवत्सरः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. २५१, पृ. ४८६)। ५. यावता कालेनाष्टाविंशत्यापि नक्षत्रैः सह क्रमेण योगपरिसमाप्तिस्तावान् कालविशेषो द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रसंवत्सरः। उक्तं च—नक्खत्तचंदजोगो बारसगुणिओ य नक्खत्तो। अत्र पुनरेकोनितनक्षत्रपर्याययोग एको नक्षत्रमासः, सप्तविंशतिअहोरात्रा एकविंशतिश्च सप्तषष्टिभाग अहोरात्रस्य। एष राशिर्यदा द्वादशभिर्गुण्यते तदा त्रीण्यहोरात्रशतानि सप्तविंशत्यधिकानि एकपञ्चाशच्च सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य एतावत्प्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः। ××× यद् एकः समस्तनक्षत्रयोगपर्यायो द्वादशभिर्गुणितो नक्षत्रसंवत्सरः। ततो ये नक्षत्रसंवत्सरस्य पूरका द्वादश समस्तनक्षत्रयोगपर्यायाः श्रावण-भाद्रपदादिनामानस्तेऽप्यवयवे समुदायोपचारात् नक्षत्रसंवत्सरः। ततः श्रावणादिभेदात् द्वादशविधो नक्षत्रसंवत्सरः। ××× किमुक्तं भवति—यावता कालेन बृहस्पतिनामा महाग्रहो योगमधिकृत्याभिजिदादीन्यष्टाविंशतिमपि नक्षत्राणि परिसमापयति तावान् कालविशेषो द्वादशवर्षप्रमाणो नक्षत्रसंवत्सरः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५४–५५); यस्मिन् संवत्सरे समकं समकमेव एककालमेव, ऋतुभिः सहेति गम्यते, नक्षत्राणि उत्तराषाढाप्रभृतीनि योगं युञ्जन्ति—चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्ति चन्द्रेण सह योग युञ्जन्ति सन्ति तां पौर्णमासीं परिसमापयन्ति तथा समकमेव एककालमेव तथा तथा परिसमाप्यमानया पौर्णमास्या सह ऋतवो निदाघादयः परिणमन्ति वा परिसमाप्तिमुपयन्ति, इयमत्र भावना—यस्मिन् संवत्सरे नक्षत्रैर्माससदृशनामकैस्तस्य तस्य ऋतोः पर्यन्तवर्ती मासः परिसमाप्यते, तेषु च तां तां पौर्णमासीं परिसमापयत्सु तथा तथा पौर्णमास्या सह ऋतवोऽपि निदाघादिकाः परिसमाप्तिमुपयन्ति। यथा उत्तराषाढानक्षत्रं आषाढीं पौर्णमासीं परिसमापयति तया आषाढपौर्णमास्या सह निदाघोऽपि ऋतुः परिसमाप्तिमुपैति, स नक्षत्रसंवत्सरः, नक्षत्रानुरोधेन तस्य तथा तथा परिणममानत्वात्, एतेन च लक्षणद्वयमभिहितं द्रष्टव्यं, तथा न विद्यतेऽतिशयेन उष्णम् उष्णरूपः परितापो यस्मिन् स नात्युष्णः, तथा न विद्यतेऽतिशयेन शीतं यत्र स नातिशीतो बहु उदकं यत्र स बहूदकः एवंरूपैः पञ्चभिः समग्रैर्लक्षणैरुपेतो भवति नक्षत्रसंवत्सरः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५७, पृ. १७२)।

१ श्रावण-भादों आदि बारह मासों का एक नक्षत्रसंवत्सर होता है। अथवा बृहस्पति महाग्रह बारह वर्षों में जो समस्त नक्षत्रमण्डल को समाप्त करता

है उतने काल का नाम नक्षत्रसंवत्सर है। ३ बारह नक्षत्रमासों को अर्थात् तीन सौ सत्ताईस अहोरात्र और एक अहोरात्र के सड़सठ भागों में से इक्यावन भाग प्रमाण काल को (३२७५१/६७) नक्षत्रसंवत्सर कहते हैं।

नखसंस्कार—१. निर्वर्तन-विलेखन-घर्षण-रंजनादिको नखसंस्कारः। (भ. आ. विजयो. ९३)। २. लेखन-कर्तन-घर्षण-रंजनादिको नखसंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

२ नखों के लिखने, काटने, घिसने और रंगने आदि को नखसंस्कार कहते हैं।

नगर—१. चतुर्गोपुरान्वितं नगरम्। (धव. पु. १३, पृ. ३३४)। २. चतुर्भिर्गोपुरैर्भासुरं नगरम्। (नि. सा. वृ. ५८)।

१ चार गोपुरों से युक्त पुर को नगर कहते हैं।

नग्न—यः सर्वसङ्गसंत्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः। (उपासका. ८६०)।

जो सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित हो उसे नग्न (दिगम्बर मुनि) कहते हैं।

नन्दा—पूर्वपक्षीकृतपरदर्शनानि निराकृत्य स्वपक्षस्थापिका व्याख्या नन्दा। (धव. पु. ९, पृ. २५२)।

अन्य दर्शनों को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्ष को स्थापित करने वाली व्याख्या को नन्दा कहते हैं।

नन्दिवर्धन—सुनाभिर्नन्दिवर्धनः। (निर्वाणक. ४, पृ. ८)।

जिस शंख की नाभि सुन्दर हो उसे नन्दिवर्धन कहते हैं। यह आठ शंखभेदों में चौथा है।

नन्दी—महाकुक्षीर्नन्दी। (निर्वाणक. ४, पृ. ८)।

जिसका उदर या मध्य भाग बड़ा हो उस शंख को नन्दी कहते हैं। यह आठ शंखभेदों में तीसरा है।

नपुंसक— १. चारित्रमोहविकल्पनोकषायभेदस्य नपुंसकवेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति। (स. सि. २-५०); नपुंसकवेदोदयात्तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। (स. सि. २-५२); यदुदयान्नपुंसकान् भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः। (स. सि. ८-९; त. वृत्ति श्रुत. ८-९)। २. णेवित्थी ण य पुरिसो णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो। इट्टावग्गिसमाणो वेदणगरुओ कलुसचित्तो॥ (प्रा. पंचसं. १-१०७; धव. पु. १, पृ. ३४२ उद्.; गो. जी. २७५)। ३. नपुंसकवेदाशुभवेदोदयान्नपुंसकानि। चारित्रमोहविकल्पनोकषायभेदस्य नपुंसकवेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि। (त. वा. २, ५०, ४); नपुंसकवेदोदयात् तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। (त. वा. २, ५२, १); यत्कर्मोदयात् नपुंसकान् भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः। (त. वा. ८, ९, ४)। ४. तदुभयात्यये नपुंसकम्। (लघीय. स्वो. विव. ४७)। ५. नपुंसकस्य तु नपुंसकवेदोदयादुभयाभिलाषः। (आ. प्र. टी. १८)। ६. न स्त्री न पुमान् नपुंसकमुभयाभिलाष इति। (धव. पु. १, पृ. ३४१); जेसिमुदएण इट्टावागग्गिसारिच्छेण दोसु वि आकंखा उप्पज्जइ तेसिं णउंसयवेदो त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); णवुंसयवेदोदएण णवुंसयवेदो होदि। (धव. पु. ७, पृ. ७९); जस्स कम्मस्स उदएण इत्थि-पुरिसेसु अहिलासो उप्पज्जदि तं कम्मं णवुंसयवेदो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ७. न स्त्री न पुरुषः पापो द्वयरूपो नपुंसकः। (पंचसं. अमित. १९५, पृ. २६); सुष्ठु क्लिष्टमनोवृत्तिर्द्वयाकांक्षी नपुंसकः। नरप्रजावतीरूपो दुःसहाधिकवेदनः। (पंचसं. अमित. २०१, पृ. २६)। ८. तदुभयात्यये स्त्यान-प्रसवनोभयाभावे नपुंसकम्। (न्यायकु. २-४७, पृ. ६४८)। ९. इत्थी-पुरिसाणुवरिं जस्सिह उदएण राग उप्पज्जे। नगरमहादाहसमो सो उ विवागो अपुमवेए॥ (कर्मवि. ग. ५३)। १०. येषां च पुद्गलस्कन्धानामुदयेनेष्टकाग्निसदृशेन द्वयोराकांक्षा जायते तेषां नपुंसकवेद इति संज्ञा। (मूला. वृ. १२-१९२)। ११. नपुंसकवेदं नपुंसकभावप्राप्तिनिमित्तोदयकषायवेदनीयविशेषं क्षपयति। (भ. आ. मूला. २०९७)। १२. यदुदयेन पण्डकस्य स्त्री-पुंसयोरुभयोरभिलाषः पित्तश्लेष्मणोरुदयेन मज्जिकाभिलाषवत् स महानगरदाहाग्निसमानो नपुंसकवेदः। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८४; धर्मसं. मलय. वृ. ६१५)। १३. उभयोरप्यभिलाषो नपुंसकवेदः। (जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १८)। १४. नपुंसकस्य वेदो नपुंसकवेदः। नपुंसकस्य स्त्रियं पुरुषं च प्रत्यभिलाष इत्यर्थः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि नपुंसकवेदः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४६३)।

१ चारित्रमोह के विकल्परूप नोकषाय के भेदभूत

नपुंसकवेद और अशुभ नामकर्म के उदय से जो न स्त्री होते हैं और न पुरुष ही, वे नपुंसक कहे जाते हैं। ××× जिसके उदय से जीव नपुंसक के भावों को प्राप्त होता है उसे नपुंसकवेद (नोकषाय-भेद) कहते हैं। ६ जिसके उदय से स्त्री और पुरुष के ऊपर नगर के महादाह के समान राग उत्पन्न होता है उसे नपुंसकवेद जानना चाहिए।

नपुंसकवेद—देखो नपुंसक।

नभ—देखो आकाश। भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं ॥ (उत्तरा. २८–९)।

जो सब द्रव्यों का भाजन (आधार) है व जिसका अवकाश देना स्वभाव है उसे नभ (आकाश) कहते हैं।

नभोनिमित्त—रवि-ससि-गहपहुदीणं उदयत्थमणादिआइ दट्ठूणं। खीणत्तं दुक्ख-सुहं जं जाणइ तं हि णहणिमित्तं ॥ (ति. प. ४–१००३)।

सूर्य, चन्द्र और ग्रह आदि के उदय और अस्तमन आदि को देखकर क्षीणता और सुख-दुःखादि के जान लेने को नभोनिमित्त कहते हैं।

नभोयान—नभसि गगने हेममयाम्भोजोपरि यानं नभोयानम्। (आ. मी. वृ. १)।

आकाश में सुवर्णमय कमल के ऊपर गमन करने को नभोयान कहते हैं।

नम—नम इति नैपातिकं पदं द्रव्य-भावसंकोचार्थम्, आह च—नेवाइयं पयं दव्व-भावसंकोयणपयत्थो। नमः—कर-चरण-मस्तकसुप्रणिधानरूपो नमस्कारो भवत्वित्यर्थः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. १, पृ. १०)।

'नम' यह निपात से निष्पन्न पद है, इसका अर्थ है द्रव्य और भाव का संकोच। अभिप्राय यह है कि हाथ, पैर और मस्तक की सावधानता को या उनके शुभ व्यापार को नम (नमस्कार) कहा जाता है।

नमस्कार—१. पंचहिं मुट्ठीहिं जिणिंदचलणे सुणिवदणं णमंसणं। (धव. पु. ८, पृ. ९२)। २. अर्हदादिगुणानुरागवतः आत्मनो वाक्कायक्रियास्तवनशिरोवनतिरूपो नमस्कारः। (भ. आ. विजयो. ७५३)।

१ पांच मुट्ठियों (अंगों) से जिनेन्द्र के चरणों में पड़ने का नाम नमंसन (नमस्यन) या नमस्कार है। २ अरहंत आदि के गुणों में अनुराग रखने वाला जीव जो स्तुति और सिर झुकाने रूप अपने वचन और काय की क्रिया को करता है, इसे नमस्कार कहा जाता है।

नमस्कृतिमुद्रा—संलग्नौ दक्षिणाङ्गुष्ठाक्रान्तवामाङ्गुष्ठपाणोति नमस्कृतिमुद्रा। (निर्वाणक. १९, १, ७, पृ. ३३)।

दाहिने अंगूठे से आक्रान्त बायें अंगूठे से युक्त संलग्न दोनों हाथों की जो अवस्था होती है, इसे नमस्कृतिमुद्रा कहते हैं।

नमस्यन—देखो नमस्कार।

नमि—परीषहोपसर्गादिनामनाद् नमिः, तथा गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः। (योगशा. हेम. पृ. ३–१४२)।

परीसह व उपसर्ग आदि के नमाने के कारण तथा शत्रु राजाओं के द्वारा भी नमस्कार किये जाने के कारण इक्कीसवें तीर्थंकर 'नमि' कहलाये।

नय—१. गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतुर्नयः ×××। स्वयम्भू. ५२); नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः। (स्वयम्भू. ६५)। २. सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः। स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः। (आ. मी. १०६)। ३. वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः। (स. सि. १–३३)। ४. नयाः प्रापकाः कारकाः साधका निर्वर्तका निर्भासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम्। जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्तीति नयाः। (त. भा. १–३५, पृ. १२०–२१)। ५. नायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि। जइअव्वमेव इइ जो उवएसो सो णओ नाम ॥ (आव. नि. १०६६; दशवै. नि. १४९)। ६. णीञ् प्रापणे, तस्य नय इति रूपम्, वक्तैव सूत्रार्थप्रापणे गम्ये परोपयोगान्नयति नयः, नीयते वानेन अस्मिन् वेति नयनं वा नयः, वस्तुनः पर्यायाणां संभवतोऽधिगमनमित्यर्थः। (उत्तरा. चू. पृ. ९); नयाः कारका दीपकाः व्यञ्जका भावकाः उपलम्भका इत्यर्थः, विविधैः प्रकारैरर्थविशेषान् स्वेन स्वेनाभिप्रायेण नयन्तीति नयाः। (उत्तरा. चू. पृ. ४७)। ७. एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः। (न्यायाव.

२६) । ८. ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः × × × । (सिद्धिवि. १०–१); × × × नयो ज्ञातुर्मतं मतः । (सिद्धिवि. १०–२) । ९. भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः । ये ते ऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नय-दुर्नयाः ॥ (लघीय. ३०); नयो ज्ञातुरभिप्रायः । (लघीय. स्वो. वि. ३०); तदपेक्षो (षट्कारकापेक्षो) नयः । (लघीय. स्वो. वि. ४८); नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः । (लघीय. ५२; प्रमाणसं. ८७); × × × नयो विकलसंकथा । (लघीय. ६२); श्रुतभेदा नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः । द्रव्य-पर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥ (लघीय. ६६); सापेक्षो नयः । (लघीय. स्वो. वि. ७१); तदर्थांशपरीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः (लघीय. स्वो. वि. ७४) । १०. प्रवयवविषया नयाः । (त. वा. १, ६, ३); सम्यगेकान्तो नयः । (त. वा. १, ६, ७); प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः । (त. वा. १, ३३, १) । ११. तस्य (अर्थतत्त्वस्य) विशेषो नित्यत्वादिः पृथक् पृथक्, तस्य प्रतिपादको नयः । तथा चोक्तम्—अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः । नयो धर्मान्तरापेक्षी × × × ॥ (अष्टश. १०६); उक्तलक्षणो (स्याद्वादप्रविभक्तार्थव्यञ्जको) द्रव्य-पर्यायस्थानः संग्रहादिर्नयः । (अष्टश. १०७) । १२. नयनं नीयते वा ऽनेनादस्मादस्मिन्निति वा नयः, वस्तुनः पर्यायाणां संभवतोऽधिगम इत्यर्थः । (आव. नि. हरि. वृ. ७६, पृ. ५४); नयन्तीति नयाः, वस्त्ववबोधगोचरं प्रापयन्त्यनेकधर्मात्मकज्ञेयाध्यवसायान्तरहेतवः इत्यर्थः । (आव. नि. हरि. वृ. ७५४, पृ. २८२) । १३. नयनं नयः, नीयते ऽनेनास्मिन्नस्मादिति वा नयः अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छेद इत्यर्थः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. २७); नीतयो नयाः अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छित्तयः । (अनुयो. हरि वृ. पृ. ९९) वस्तुनोऽनेकधर्मिणः एकेन धर्मेण नयनं नयः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०५) । १४. प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः । (धव. पु. १, पृ. ८३; पु. ९, पृ. १६३; जयध. १, पृ. १९९ व १९९); ज्ञातुरभिप्रायो नयः । अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थः । प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसाय अभिप्रायः । युक्तितः प्रमाणात् अर्थपरिग्रहः द्रव्य-पर्याययोरन्यतरस्य अर्थं इति परिग्रहो वा नयः, प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुनः द्रव्ये पर्याये वा वस्त्वध्यवसायो नय इति यावत् । (धव. पु. ९, पृ. १६२–६३); प्रमाणपरिच्छिन्नवस्तुनः एकदेशे वस्तुत्वार्पणा नयः । (धव. पु. ९, पृ. १६४) । प्रमाणपरिगृहीतवस्तुनि यो व्यवहार एकान्तरूपः स नयनिबन्धनः × × × तथा पूज्यपादभट्टारकैरप्यभाणि सामान्यनयलक्षणमिदमेव । तद्यथा—प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः इति । × × × तथा प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि—प्रमाणव्यपाश्रयतत्परिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेषप्ररूपणप्रवणः प्रणिधिर्यः स नय इति । × × × सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः—अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति । (धव. पु. ९, पृ. १६५-६७); आत्रिकामुत्रिकफलप्राप्त्युपायो नयः । (धव. पु १३, पृ. २८७) । १५. अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्ययुक्त्यपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः इति । अयं वाक्यनयः सारसंग्रहीयः । प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः । अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थभाष्यगतः । × × × प्रमाणव्यपाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेषप्ररूपणप्रवणः प्रणिधिर्यः स नय इति । अयं वाक्यनयः प्रभाचन्द्रीयः । जयध. १, पृ. २१०) । १६. नयो ऽनेकात्मनि द्रव्ये नियतैकात्मसंग्रहः । (ह. पु. ५८–३९) । १७. स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत् । स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः । (त. श्लो. १, ६, ४ ; × × × सामान्यादेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः । स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजनात्मकः ॥ (त. श्लो. १, ३३, २); नीयते गम्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः । (त. श्लो. १, ३३, ६) । १८. अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मबलप्रसूतो नयः । (भ. आ. विजयो. ५) । १९. नयन्तीति नयाः कारकाः व्यञ्जका इति × × × ये ह्यनेकधर्मात्मकं वस्त्वेकेन धर्मेण निरूपयन्ति एतावदेवेदं नित्यमनित्यं वेत्यादिविकल्पयुक्तं ते नयाः नैगमादयः । × × × नयास्तु एकांशावलम्बिनः, यत्तु ज्ञानमनेकधर्मात्मकं सद्वस्तु एकधर्मावधारणेनावच्छिन्नस्यैवमात्मकमेवैतदिति तन्नया इति कथ्यन्ते । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–६) । २०. लोयाणं ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि । सुयणाणस्स वियप्पो

सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥ (कार्तिके. २६३)। २१. जं णाणीण वियप्पं सुयभेयं वत्थुयंससंगहणं। तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेहिं णाणेहिं ॥ (नयच. २; द्रव्यस्व. १७४)। २२. प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः। (आलाप. पृ. १४५)। २३. वस्तुनो ऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः। एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः ॥ (त. सा. १–३७)। २४. नय इति प्रमाणगृहीतैकदेशाध्य[ध्य]वसायाभिप्रायः। (सिद्धि. वि. वृ. १०–३)। २५. नयस्तु विकलसंकथा—वस्त्वेकदेशकथनम्। (न्यायकु. ६२, पृ. ६८८)। २६. तत्राऽनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः। (प्र. क. मा. ६–७४)। २७. स्याद्वादप्रविवेचितार्थैकदेशप्रतिपत्त्रभिप्रायो नयः। (न्यायवि. वृ. ३–९१)। २८. नयनं—अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो नियतैकधर्मावलम्बनेन प्रतीतौ प्रापणं नयः। × × × नयनं नयः। अनन्तधर्मणोऽर्थस्यैकांशेनेति निरुक्तयः ॥ (उत्तरा. नि. शा. वृ. २८, पृ. ११); नयति—अनेकांशात्मकं वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीतिपथमारोपयति, नीयते वा तेन तस्मिंस्ततो वा, नयनं वा नयः, प्रमाणप्रवृत्त्युत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः। उक्तं च—स नयइ तेण तहिं वा ततोऽहवा वत्थुणो व जं णयणं। बहुहा पज्जायाणं संभवओ सो णओ णामं ॥ (उत्तरा. सू. शा. वृ. ४८, पृ. ६७)। २९. नयनं नयः, नीयतेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वा नयः—अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकांशपरिच्छेद इत्यर्थः। (स्थाना. सू. अभय. वृ. १, पृ. ४); नयन्ति परिच्छिन्दन्त्यनेकधर्मात्मकं सद्वस्तु सा(अन)वधारणतयैकेन धर्मेणेति नयाः। (स्थाना. सू. अभय. वृ. ३, ३, १८६, पृ. १५२)। ३०. नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः। (प्र. न. त. ७–१)। ३१. नीयते गम्यते श्रुतपरिच्छिन्नार्थैकदेशोऽनेनेति नयः। (स्या. र. १–१, पृ. ८)। ३२. नयनं नयो नीयते परिच्छिद्यते अनेनास्मिन्नस्मादिति वा नयः, सर्वत्रानन्तधर्माध्यासिते वस्त्वेकांशग्राहको बोध इत्यर्थः। (अनुयो. मल. हेम. वृ. ५९, पृ. ४५); अनन्तधर्मणो वस्तुन एकांशेन नयनं नयः। (अनुयो. हेम. वृ. १४५, पृ. २२३)। ३३. नयः प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायः। (आ. मी. वसु. वृ. २३); जातियुक्तिनिबन्धनो वितर्को नयः। (आ. मी. वसु. वृ. १०१); एकधर्मप्रतिपत्तिर्नयः। (आ. मी. वसु. वृ. १०६)। ३४. श्रुतनिरूपितैकदेशाध्यवसायो नयः। (मूला. वृ. ९–६७)। ३५. धर्मैकवचनमतन्त्रम्, तेनांशावंशा वा येन परामर्शविशेषेण श्रुतप्रमाणप्रतिपन्नवस्तुनो विषयीक्रियन्ते तदितरांशौदासीन्यापेक्षया स नयो ऽभिधीयते। (रत्नाकरा. ७–१, पृ. १)। ३६. नयो नाम प्रतिनियतैकवस्त्वंशविषयो ऽभिप्रायविशेषः। यदाहुः समन्तभद्रादयः—नयो ज्ञातुरभिप्राय इति। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १–७, पृ. ३६)। ३७. नयनं नीयते वा अनेनेति नयः—वस्तुनो वाच्यस्य पर्यायाणां सम्भवतोऽधिगमः। (आव. नि. मलय. वृ. ७९, पृ. ९०); अनेकधर्मकं वस्त्ववधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धि नीयते प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः। आह च—एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेण (इट्ठेण)। नयणं धम्मेण नओ होइ तओ सत्तहा सो य ॥ (आव. नि. मलय. वृ. ७५४, पृ. ३६९; प्रव. सारो. वृ. ८४७); ज्ञेये प्रमाणपरिच्छेद्ये वस्तुनि ये भेदाभेदाभिसन्धयः सामान्य-विशेषविषयाः पुरुषाभिप्रायाः अपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते ते यथासंख्यं नय-दुर्नया ज्ञातव्याः। किमुक्तं भवति? विशेषाकांक्षः सामान्यग्राहको वा अभिप्रायः सामान्यसापेक्षो विशेषग्राहको वा नयः। [लघीयस्त्रयस्य ३०तमायाः कारिकाया इयं व्याख्या]। (आव. नि. मलय. वृ. ७५४, पृ. ३७०)। ३८. अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो अन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभाविधर्मपरिच्छेदबलप्रसूतो नयः। (भ. आ. मूला. ५)। ३९. नयनं वस्तुनो विवक्षितधर्मप्रापणं नयः। (लघीय. अभय. वृ. ६२, पृ. ८४)। ४०. प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही प्रमातुरभिप्रायविशेषो नयः। (न्यायदी. पृ. १२५)। ४१. जीवादौ अनेकान्तात्मनि अनेकरूपिणि वस्तुनि अविरोधेन प्रतीत्यऽनतिक्रमेण हेत्वर्पणात् द्रव्य-पर्यायार्पणात् साध्यविशेषयाथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः उच्यते। अस्यायमर्थः—साध्यविशेषस्य नित्यत्वानित्यत्वादेः याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो यथावस्थितस्वरूपेण प्रदर्शनसमर्थव्यापारो नयः। (त.

वृत्ति मुल. १–३३)। ४२. इत्युक्तलक्षणोऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे। तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च यः॥ (पंचाध्या. १–५०४)। ४३. नयनं नीयते ऽनेनास्मिन्नस्मादिति वा नयः—अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छेदः एकेनैव धर्मेण पुरस्कृतेन वस्त्वङ्गीकार इत्यर्थः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ५)।

२ सधर्मा दृष्टान्त के साथ ही साधर्म्य होने से जो बिना किसी प्रकार के विरोध के स्याद्वाद रूप परमागम में विभक्त अर्थ (साध्य) विशेष का व्यंजक (गमक) होता है उसे नय कहते हैं। 'नीयते साध्यते गम्यार्थोऽनेनेति नयो हेतुः' इस निरुक्ति के अनुसार प्रकृत नय शब्द यहां हेतु का नामान्तर है। ३ अनेक धर्मात्मक वस्तु के विषय में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता के प्राप्त कराने में समर्थ जो प्रयोग होता है उसे नय कहा जाता है। ४ नय प्रापक, कारक, साधक, निर्वर्तक, निर्भासक, उपलम्भक और व्यंजक ये सब समानार्थक शब्द हैं। तदनुसार जो जीवादि पदार्थों को प्राप्त कराते हैं, कराते हैं, साधते हैं अथवा प्रकाशित करते हैं उन्हें नय समझना चाहिए। ८ ज्ञाता जनों के जो अभिप्राय हुआ करते हैं उनका नाम नय है। १४ प्रमाण से परिगृहीत वस्तु के एक देश में जो वस्तु का निश्चय होता है वह नय कहलाता है।

नयगति—से किं तं णयगती ? २ जण्णं णेगम-संगह-ववहार-उज्जुसुय-सद्द-समभिरूढ-एवंभूयाणं जा गती अहवा सव्वणया वि जं इच्छंति से तं नयगती। (प्रज्ञाप. १६–२०५, पृ. ३२७)।

नैगमादि नयों की गति को नयगति कहते हैं। अथवा सभी नय जो स्वीकार करते हैं, इसका नाम नयगति है।

नयनक्रिया—स्वयं नयनक्रिया अन्यैर्वाऽऽनायनं स्वच्छन्दतो नयनक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

स्वयं ले जाना या स्वच्छन्दतापूर्वक दूसरों से मंगवाना; यह नयनक्रिया कहलाती है।

नयप्रमाण—नीतयो नयाः अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छित्तयः तद्विषया वा ते एव वा प्रमाणं नयप्रमाणम्, नयसमुदायात्मकत्वाद्धि स्याद्वादस्य समुदाय-समुदायिनोः कथंचिदभेदेन नया एव प्रमाणं नयप्रमाणम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६६)।

अनन्त धर्मस्वरूप वस्तु के एक अंश के ग्रहण करने वाले ज्ञानों, उनके विषयों अथवा उन नयों को ही नयप्रमाण कहा जाता है। कारण यह कि प्रमाणभूत स्याद्वाद नयों के समुदाय रूप है, अतः समुदाय और समुदायी में कथंचित् अभेद होने से नयों को प्रमाण कहना विरुद्ध नहीं है।

नयवाद—स (नयः) उच्यते कथ्यते अनेनेति नयवादः सिद्धान्तः। (धव. पु. १३, पृ. २८७)।

नय के प्ररूपक सिद्धान्त को नयवाद कहा जाता है।

नयविधि—नया नैगमादयः, ते विधीयन्ते निरूप्यन्ते सदसदादिरूपेणास्मिन्निति नयविधिः। अथवा नैगमादिनयैः विधीयन्ते जीवादयः पदार्था अस्मिन्निति नयविधिः। (धव. पु. १३, पृ. २८४)।

सत् असत् आदि रूप से जहां नैगमादि नयों का निरूपण किया जाता है उसे नयविधि कहते हैं, अथवा जहां नैगमादि नयों के आश्रय से जीवादि पदार्थों का विधान किया जाता है वह नयविधि कहलाती है।

नयसप्तभङ्गी—विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभङ्गी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्। (प्र. क. मा. ६, ७४, पृ. ६८२)।

विकलादेश स्वभाववाली सप्तभंगी वस्तु के केवल एक अंश की प्ररूपणा करने के कारण नयसप्तभंगी कहलाती है।

नयान्तरविधि—नयान्तराणि नैगमादिसप्तशतनयभेदाः। ते विधीयन्ते निरूप्यन्ते विषयसाङ्कर्यनिराकरणद्वारेण अस्मिन्निति नयान्तरविधिः श्रुतज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. २८४)।

विषयसांकर्य का निराकरण करते हुए जहां सात सौ नयभेदों की प्ररूपणा की जाती है उसे नयान्तरविधि कहा जाता है।

नयाभास—१. पुनर्नैगमादयो निरपेक्षा परस्परेण ते नयाभासाः इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–७)। २. निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६७६)। ३. स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः। (प्र. न. त. ७–२)। ४. नयाभासो नयप्रतिबिम्बात्मा, दुर्नय इत्यर्थः।

यथा तीर्थिकानां नित्यानित्याद्येकान्तप्रदर्शकं सकलं वाक्यम् । (रत्नाकरा. ७–२, पृ. ५) ।

१ परस्पर की अपेक्षा से रहित नैगमादि नयों को नयाभास कहा जाता है। २ प्रतिपक्ष का निराकरण करने वाले नय को नयाभास कहते हैं।

नयुत—चतुरशीतिनयुताङ्गशतसहस्राणि एकं नयुतम् । (जीवाजी. मलय. वृ. १७८, पृ. ३४५) ।

चौरासी लाख नयुतांगों का एक नयुत होता है।

नयुताङ्ग—चतुरशीतिः प्रयुतशतसहस्राणि एकं नयुताङ्गम् । (जीवाजी. मलय. वृ. १७८, पृ. ३४५)।

चौरासी लाख प्रयुतों का एक नयुतांग होता है।

नर—१. धर्मार्थ-काम-मोक्षकार्यकरणान्नरः । धर्मार्थ-काम-मोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणन्ति नयन्तीति नराः । (त. वा. २, ५०, १) । २. 'नृ नये' नृणन्ति तथाविधद्रव्य-क्षेत्रादिसामग्रीमवाप्य स्वर्गापवर्गादिहेतुसम्यग्नय-विनयपरा भवन्तीत्यपि नरा मनुष्याः । (संग्रहणी. दे. वृ. १, पृ. ३) ।

१ जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप कार्यों को ले जाते हैं—उनकी आराधना करते हैं—वे नर कहलाते हैं। २ उस प्रकार की द्रव्य-क्षेत्रादिरूप सामग्री को पाकर जो स्वर्ग-मोक्ष आदि के कारणों में समुद्यत होते हैं उन्हें नर या मनुष्य कहते हैं।

नरक—१. नरान् कायन्तीति नरकाणि । शीतोष्णासद्वेद्योदयापादितवेदनया नरान् कायन्ति शब्दायन्त इति नरकाणि, नृणन्तीति वा । अथवा पापकृतः प्राणिनः आत्यन्तिकं दुःखं नृणन्ति नयन्तीति नरकाणि । (त. वा. २, ५०, २–३) । २. नरान् प्राणिनः कायति पातयति खलीकरोति इति नरकः कर्म । (धव. पु. १, पृ. २०१) । ३. को नरकः ? परवशता। (रत्नमा. १३) ।

१ असातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त हुई शीत व उष्ण आदि की वेदना से जो नरों को—जीवों को—शब्द कराते हैं—रुलाते हैं वे नरक कहलाते हैं। अथवा जो पाप करने वाले प्राणियों को अतिशय दुःख को प्राप्त कराते हैं उन्हें नरक कहा जाता है।

नरकगति नामकर्म—१. यन्निमित्त आत्मनो नारको भावस्तन्नरकगतिनाम । (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, १) । २. यस्या उदयः सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः । (धव. पु. १, पृ. २०१; जस्स कम्मस्स उदएण णिरयभावो जीवाणं होदि तं कम्मं णिरयगदि त्ति उच्चदि । (धव. पु. ६, पृ. ६७); जं णिरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाणं णिव्वत्तयं कम्मं तं गदिणामं (जं णिरयभावणिव्वत्तयं कम्मं तं णिरयगदिणामं) । (धव पु. १३, पृ. ३६३) । ३. जीए उदएण जीवो णेरइयो होइ नरयगुइयीए । सा भणिया नरयगई सेसगईओवि एमेव ॥ (कर्मवि. ग. ८५) । ४. नारकशब्दव्यपदेशपर्यायनिबन्धनं नरकगतिनाम । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १७) । ५. नरकस्य गतिर्नरकगतिरात्मनो नारकभावनिमित्तं नामकर्मविशेषः । (भ. आ. मूला. २०६५) । ६. यन्निमित्तमात्मनो नारकपर्यायः तन्नरकगतिनाम । (गो. क. जी. प्र. ३३) । ७. यदुदयाज्जीवो नारकशरीरनिष्पत्तिको भवति तन्नरकगतिनाम । (त. वृत्ति श्रुत. ८–११) ।

१ जिस कर्म के निमित्त से जीव के नारकभाव—नारक पर्याय—प्राप्त होती है उसे नरकगति नामकर्म कहते हैं।

नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम—१. यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग्वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते तदैव नरकभवं प्रत्यभिमुखस्य तस्य पूर्वशरीरसंस्थानानिवृत्तिकारणं विग्रहगतावुदेति तन्नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम । (त. वा. ८, ११, ११) । २. जस्स कम्मस्स उदएण णिरयगइं गयस्स जीवस्स विग्गहगईए वट्टमाणस्स णिरयगइपाओग्गसंठाणं होदि तं णिरयगइपाओग्गाणुपुव्वीणाम । (धव. पु. ६, पृ. ७६) । ३. नरयाउअस्स उदए नरए वक्केण गच्छमाणस्स । नरयाणुपुव्वियाए तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (कर्मवि. ग. १२२) । ४. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन नरकगतिं गतस्य जीवस्य विग्रहगतौ वर्तमानस्य नरकगतिप्रायोग्यसंस्थानं भवति तन्नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम । (मूला. वृ. १२–१९४)। ५. यद्यत्पूर्वशरीराकारम् अविनाश्य जीवेन सह नरकादि यावदेव घोलापकवद् गच्छति तत् (आनुपूर्विकं नाम) नरकादिगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यादिभेदाच्चतुर्विधम् । (भ. आ. मूला. २०६५) ।

१ जो मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु के क्षीण हो जाने से पूर्व शरीर को छोड़कर नारक पर्याय के अभिमुख होता है उसके पूर्व शरीर के आकार के बने

रहने का कारणभूत जो कर्म विग्रहगति में उदय को प्राप्त होता है उसे नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम-कर्म कहते हैं। ३ नारक आयु का उदय होने पर मोड़ लेकर नरक में जाते हुए जीव के वहां (मोड़ वाली विग्रहगति में) नरकानुपूर्वी का उदय होता है, अन्यत्र (ऋजुगति में) उसका उदय नहीं होता।

नरकायु—जं नेरइयं नारयभवम्मि तहिं धरइ उव्विग्गंतंपि। आणसु तं निरयाउं हडिसरिसो तस्स उ विवागो ॥ (कर्मवि. ग. ६४)।

जो कर्म नारकी जीव को उद्विग्न होने पर भी नारक पर्याय में धारण करता है—उसे वहां रोक-कर रखता है—उसे नरकायु कहते हैं। उसका विपाक काठ की बेड़ी के समान है।

नरत—देखो नारक। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेष्वन्यो-न्येषु च निरता: नरता:। ××× उक्तं च—ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल-भावे य। अण्णोण्णेहिं जम्हा तम्हा ते णारया भणिया ॥ (धव. पु. १, पृ. २०२)।

जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव तथा परस्पर में भी रत (प्रीतियुक्त) नहीं होते हैं वे नरत (नारकी) कहे जाते हैं।

नरतगति—देखो नारकगति। तेषां (नरतानां) गतिर्नरतगति:। (धव. पु. १. पृ. २०२)।

नरतों (नारकियों) की गति को नरतगति कहते हैं।

नरदेव—से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ नरदेवा? गोयमा जे इमे रायाणो चाउरंतचक्कवट्टी उप्पण्णस-म्मत्ता चक्करयणपहाणा नवणिहिपइणो समिद्धकोसा बत्तीसंरायवरसहस्साणुयातमग्गा सागरवरमेहलाहि-पतिणो मणुस्सिदा, से तेणट्ठेणं जाव नरदेवा। (व्याख्याप्र. १२, ६, २, पृ. १७६४–६५)।

जो चातुरन्त चक्रवर्ती होकर सम्यक्त्व से सहित, चक्ररत्न के स्वामी, नौ निधियों के अधिपति, समृद्धिगत कोश (खजाना) से सहित, बत्तीस हजार राजाओं से अनुगत और समुद्र पर्यन्त पृथिवी के पति होते हैं; उन मनुष्यश्रेष्ठों को नरदेव कहा जाता है।

नर्तक—गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटकाभिनयरङ्गनर्तको वा। (नीतिवा. १४–२३, पृ. १७३)।

गीत के योग्य शरीर की वेषभूषा के साथ जो नृत्य-वृत्ति से आजीविका चलाता है, अथवा नाटक की रंगभूमि में नृत्य करता है उसे नर्तक कहते हैं।

नलिन—१. ××× तं पि गुणिदव्वं। चउसी-दिलक्खवासे णलिणं णामं वियाणाहि ॥ (ति. प. ४–२९७)। २. पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पर्वाङ्गं परिभा-ष्यते। पूर्वाङ्गताडितं तत्तु पर्वाङ्गं पर्वमिष्यते ॥ गुणाकारविधि: सोऽयं योजनीयो यथाक्रमम्। उत्तरे-ष्वपि संख्यानविकल्पेषु निराकुलम् ॥ ××× नलिनाङ्गमतोऽपि च ॥ नलिनं कमलाङ्गं च ××× । (म. पु. ३, २१९–२४)। ३. चतुरशीति-नलिनाङ्गशतसहस्राणि एकं नलिनम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८; ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६६)।

१ चौरासी लाख वर्षों से गुणित नलिनांग प्रमाण एक नलिन होता है। ३ चौरासी लाख नलिनांगों का एक नलिन होता है।

नलिनाङ्ग—१. पउमं चउसीदिहदं णलिणंगं होदि ××× ॥ (ति. प. ४–२९७)। २. तत्तो महाल-याणं चुलसीइ चेव सयसहस्साणि। नलिणंगं नाम भवे ××× ॥ (ज्योतिष्क ६५)। ३. चतुर-शीति: पद्मशतसहस्राणि एकं नलिनाङ्गम्। (जीवा-जी. मलय. वृ. ३, २, १७८)। ४. महालताख्य-संख्यास्थानादूर्ध्वं महालतानां चतुरशीतिशतसहस्राणि नलिनाङ्गं नाम संख्यास्थानं भवति। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६५)।

१ चौरासी से गुणित पद्म प्रमाण एक नलिनांग होता है। २ चौरासी लाख महालता प्रमाण एक नलिनाङ्ग होता है।

नवमी प्रतिमा—नवमासान् प्रेष्यैरप्यारम्भं न कारयतीति नवमी। (योगशा. स्वो. विव. ३-१४८, पृ. २७२)।

नौवीं प्रतिमा का धारक वह श्रावक होता है जो स्वयं तो आरम्भ करता ही नहीं, पर साथ ही सेवकों से भी नौ महीने आरम्भ नहीं कराता है।

नागकुमार—१. शिरोमुखेष्वधिकप्रतिरूपा: कृष्णा: श्यामा मृदुललितगतय: शिरस्सु फणिचिह्ना नाग-कुमारा:। (त. भा. ४–११)। २. फणोपलक्षिता: नागा:। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)। ३. नागकु-मारा भूषणनियुक्तनागस्फटारूपचिह्नधरा:। (जीवा-

औ. अभय. वृ. ३, १, ११७) । ४. नागकुमाराः शिरोमुखेष्वधिकरूपशोभाः श्वेतवर्णा ललितगतयः। (संग्रहणी दे. वृ. १७) । ५. नगेषु पर्वतेषु चन्दनादिषु वृक्षेषु वा भवा नागाः × × × ते च ते कुमाराः नागकुमाराः। (त. वृ. श्रुत. ४-१०)।

१ जो देव शिर व मुख में अधिक सुन्दर, वर्ण से कृष्ण, श्याम, कोमल व शोभायमान गति से सहित और शिर में सर्प के चिह्न से युक्त होते हैं वे नागकुमार कहलाते हैं। ५ जो नगों (पर्वतों) या चन्दनादि वृक्षों पर होते हैं उन्हें नागकुमार कहा जाता है।

नाग्न्यपरीषहजय — देखो अचेलपरीषहजय। १. जातरूपवन्निष्कलंकजातरूपधारणमशक्यप्रार्थनीयं याचन रक्षण-हिंसनादिदोषविनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्निर्वाणप्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं नाग्न्यं बिभ्रतो मनोविक्रियाविप्लुतिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचिकुणपरूपेण भावयतो रात्रिदिवं ब्रह्मचर्यमखण्डमातिष्ठमानस्याचेलव्रतधारणमनवद्यमवगन्तव्यम्। (स. सि. ९-९)। २. जातरूपधारणं नाग्न्यम्। गुप्ति-समित्यविरोधिपरिग्रहनिवृत्ति-परिपूर्णब्रह्मचर्यमप्रार्थिकमोक्षसाधनचारित्रानुष्ठानं यथाजातरूपम् असंस्कृतमविकारं मिथ्यादर्शनाविष्टविद्विष्टं परममांगल्यं नाग्न्यमभ्युपगतस्य स्त्रीरूपाणि नित्याशुचि-बीभत्स-कुणपभावेन पश्यतो वैराग्यभावनावरुद्धमनोविक्रियस्याऽसंभावितमनुष्यत्वस्य नाग्न्यदोषासंस्पर्शनात् परिषहजयसिद्धिरिति जातरूपधारणमुत्तमं श्रेयःप्राप्तिकारणमित्युच्यते। (त. वा. ९, ९, १०)। ३. वासोऽशुभं न वा मेऽस्ति नेच्छेत् तत्साध्वसाधु वा। लाभालाभविचित्रत्वं जानन्नाग्न्येन विप्लुतः॥ (आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ४०३)। ४. जातरूपधारणं नाग्न्यसहनम्। (त. श्लो. ९-९; चा. सा. पृ. ५१)। ५. नाग्न्यपरीषहस्तु न निरुपकरणतैव दिगम्बरभौतादिवत्। किं तर्हि? प्रवचनोक्तविधानेन नाग्न्यम्। प्रवचने तु × × ×। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-९)। ७. भूषावेषविकारशस्त्रनिचयत्यागात् प्रशस्ताकृतेर्बालस्येव मनोजजातविकृतिहिवसस्य लज्जेति ताम्। हित्वा मातृसमानमेव सकलं कान्ताजनं पश्यतः पूज्यो नाग्न्यपरीषहस्य विजयस्तस्वशतापोदयः॥ (आचा. सा. ७-२०)। ६. निर्ग्रन्थनिर्भूषणविश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितुं प्रवृत्ते। चित्ते निमित्ते प्रबलेऽपि यो न स्पृश्येत दोर्षैर्जितनाग्न्यरुक् सः॥ (अन. ध. ६-६४)। ८. नाग्न्यं नाम जात्यसुवर्णवदकलङ्कम्, परं विषयिभिरशक्यैः शोफविकारवद्भिश्च धर्तुं न शक्यते। तद्धरतां परप्रार्थनं न भवति। नाग्न्यं हि नाम याचनावन-जन्तुघातादिदोषरहितमपरिग्रहत्वात् मुक्तिप्राप्तिहेतुकारणं परेषां बाधाया अकारकम्। यो मुनिस्तन्नाग्न्यं बिभर्ति तस्य मनसि विकृतिर्नोत्पद्यते, स्त्रीरूपमतीवापवित्रकं मृतककुणपसमानमहर्निशं भावयति। ब्रह्मचर्यमक्षुण्णं तस्य भवति। एवमचेलव्रतधारणं नाग्न्यं निष्पापं ज्ञातव्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९-९)।

१ नग्नता (निर्वस्त्रता) का धारण करना उत्पन्न हुए बालक की नग्नता के समान निर्दोष, अशक्यप्रार्थनीय—वस्त्रादि की याचना से रहित; याचना, रक्षण और हिंसा आदि दोषों से रहित; परिग्रह से रहित होने के कारण निर्वाणप्राप्ति का प्रमुख हेतु तथा अन्य बाधाओं से रहित है। इस नग्नता का धारक साधु मानसिक विकार से रहित होता हुआ स्त्रियों के रूपों को निर्जीव शरीर (शव) के समान अपवित्र देखता है। इस प्रकार से वह रात-दिन अखण्ड ब्रह्मचर्य का परिपालन करता हुआ निर्दोष अचेलव्रत को धारण करता है— नाग्न्यपरीषह को जीतता है।

नान्तरीयक—न अन्तरा भवतीति नान्तरीयकम्, अविनाभावीत्यर्थः। (सिद्धिवि. वृ. ४३, टि. १०)।

जो जिसके बिना नहीं होता है वह उसका नान्तरीयक कहलाता है। जैसे—अग्नि के बिना न होने वाला धुआं उसका नान्तरीयक या अविनाभावी है।

नाभ्यधोनिर्गम—१. नाभ्यधो निर्गमनं नाभेरधो मस्तकं कृत्वा यदि निर्गमनं भवेत्। (मूला. वृ. ६-७७)। २. × × × निर्गमो नाभ्यधः शिरः॥ नाभ्यधोनिर्गमः × × ×। (अन. ध. ५-४७, ४८)।

१ नाभि के नीचे मस्तक को करके यदि कहीं निकलना पड़ता है तो वह नाभ्यधोनिर्गम नाम का भोजन का अन्तराय माना जाता है।

नाम—१. नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम। (स. सि. ८-४)। २. गति-जात्यादीन् नमयति—अभिमुखीकरोति संसारिणः प्रापयतीति नामोच्यते।

(त. भा. हरि. वृ. ८–१२)। ३. तथा गत्यादिशुभाशुभनमनान्नामयतीति नाम। (श्रा. प्र. टी. ११)। ४. तांस्तानात्मभावान् नामयतीति नाम कर्मपुद्गलद्रव्यम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६३)। ५. णाना मिनोति निर्वर्तयतीति नाम। जे पोग्गला शरीर-संठाण-संघडण-वण्ण-गंधादिकज्जकारया जीवणिविट्ठा ते णामसण्णिदा होंति त्ति उत्तं होदि। (धव. पु. ६, पृ. १३); णाणा मिणोदि त्ति णामं। (धव. पु. १३, पृ. २०९)। ६. नम्यतेऽनेन वाऽऽत्मानं नमयत्यपि नाम तत्॥ (ह. पु. ५८, २१७)। ७. नामयतीति नाम प्रह्वयत्यात्मानं गत्याद्यभिमुखमिति, नम्यते वा प्रह्वीक्रियतेऽनेनेति नाम। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–५); नमयति प्रापयति नारकादिभावान्तराणि जीवमिति नाम। अथवा जीवप्रदेशसम्बन्धिपुद्गलद्रव्यविपाकसामर्थ्याद् यथार्थसंज्ञा। नमयति प्रह्वयतीति नाम, यथा शुक्लादिगुणोपेतद्रव्येषु चित्रपटादिव्यपदेशप्रवृत्तिनियतसंज्ञाहेतुरिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। ८. ××× छट्ठं कम्मं तु भण्णए नामं। तं चित्तगरसमाणं जह होइ तहा निसामेह॥ जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं। सोहणमसोहणाइं चोक्खाचोक्खेहिं वण्णेहिं॥ तह नामंपि य कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स। सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स॥ गइयाइएसु जीवं नामइ भेएसु जं तओ नामं॥ (कर्मवि. ग. ६६–६९)। ९. नामयत्यधम-मध्योत्तमासु गतिषु प्राणिनं प्रह्वीकरोतीति नाम। (पंचसं. चं. स्वो. ३-१, पृ. ३३)। १०. तथा नामयति परिणमयत्यात्मानं तैस्तैर्गत्यादिभिः पर्यायैरिति नाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १७)। ११. तथा नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२८८, पृ. ४५४; धर्मसं. मलय. वृ. ६०८; प्रव. सारो. वृ. १२५०)। १२. गति-जात्यादिवैचित्र्यकारि चित्रकरोपमम्। नामकर्मविपाकोऽस्य शरीरेषु शरीरिणाम्। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७३)।

१ जो जीव को नमाता है—गति आदि के प्रति नम्रीभूत करता है—उसे नामकर्म कहा जाता है। २ जो संसारी प्राणियों को गति-जाति आदि के अभिमुख करता है—उन्हें प्राप्त कराता है—वह नामकर्म कहलाता है।

नामकरण—१. तत्र च नामकरणं करणमिति नामैव, नाम्नो वा करणं नामकरणम्—प्रियङ्कर-शुभङ्कराद्यभिधानधानम्। यदि वा नामतःकरणं नामकरणं यत् पूज्यनामापेक्षया पूजादिविधानम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८३, पृ. १९४); इह नामकरणं करणमित्यभिधानमात्रम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८४)। २. नामकरणमिहाभिधानमात्रं 'करणम्' इत्यक्षरत्रयात्मकं परिगृह्यते, ××× यद्वा तदर्थविकले वस्तुनि सङ्केतमात्रतः करणमिति नाम क्रियते तन्नामकरणम्। (आव. भा. मलय. वृ. १५३, पृ. ५५८)।

१ 'करण' इस नाम मात्र को नामकरण कहा जाता है। अथवा प्रियंकर व शुभंकर आदि नामों के करने को नामकरण जानना चाहिए। पूज्य नाम की अपेक्षा पूजादि के विधान को भी नामकरण कहा जाता है।

नामकायोत्सर्ग—खर-परुषादिसावद्यनामकरणद्वारेणागतातीचारशोधनाय कायोत्सर्गो नाममात्रकायोत्सर्गो वा नामकायोत्सर्गः। (मूला. वृ. ७–१५१)। खर व परुष आदि सावद्य नाम करने के द्वारा लगे हुए दोषों के शोधन के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसे अथवा नाममात्र कायोत्सर्ग को नामकायोत्सर्ग कहा जाता है।

नामकृति—जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं वा जीवस्स च अजीवस्स च जीवस्स च अजीवाणं च जीवाणं च अजीवस्स च जीवाणं च अजीवाणं च जस्स णामं कीरदि कदित्ति सा णामकदी णाम। (ष. खं. ४, १, ५१—पु. ९, पृ. २४६)।

एक जीव, एक अजीव, बहुत जीव, बहुत अजीव, एक जीव एक अजीव, एक जीव बहुत अजीव, बहुत जीव एक अजीव तथा बहुत जीव बहुत अजीव; इन आठ में जिसका 'कृति' यह नाम किया जाता है उस सबको नामकृति कहा जाता है।

नामक्षेत्र—जीवाजीवुभयकारणनिरवेक्खो अप्पाणम्हि पयट्टो खेत्तसद्दो णामखेत्तं। (धव. पु. ४, पृ. ३)।

जीव, अजीव व उभय कारणों से निरपेक्ष अपने

भाव में प्रवृत्त 'जीव' शब्द को नामजीव कहा जाता है।

नामचतुर्विंशति—तत्र नामचतुर्विंशतिः जीवस्य अजीवस्य वा यस्य चतुर्विंशतिरिति नाम क्रियते, चतुर्विंशत्यक्षरावली वा। (आव. नि. मलय. वृ. १०६८)।

जिस किसी चेतन या अचेतन पदार्थ का 'चतुर्विंशति' ऐसा नाम किया जाता है उसे अथवा 'चतुर्विंशति' इन अक्षरों की पंक्ति को नामचतुर्विंशति कहते हैं।

नामच्छेदना—सचित्त-अचित्तदव्वाणि अण्णेहिंतो पुध काऊण सण्णा जाणावेदि त्ति णामच्छेदणा। (धव. पु. १४, पृ. ४३५)।

सचित्त अचित्त द्रव्यों को दूसरों से अलग करके चूंकि संज्ञा बतलाती है, अतः उसे नामच्छेदना कहते हैं।

नामजिन—१. णामजिणा जिणणामा। (चैत्यवन्दनक भा. ५१)। २. जिणसद्दो णामजिणो। (धव. पु. ९, पृ. ६)।

१ जिन के नामों को नामजिन कहते हैं। २ 'जिन' शब्द को नामजिन कहा जाता है।

नामजीव—१. जीवनगुणमनपेक्ष्य यस्य कस्यचिन्नाम क्रियमाणं नामजीवः। (स. सि. १–५)। २. नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम्। चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः। (त. भा. १–५)। ३. नाम्नैव जीवः, जीवशब्द इत्यर्थः। ××× तत्र यो जीव इति शब्दः प्रवर्तते स नामजीवः। ××× जीव इत्ययं ध्वनिः तच्चेद्वाच्योऽर्थो नामतया नियुज्यते स नामजीव इति। 'सः' इत्यनेन तत्र चेतनावत्यचेतने वा यदृच्छया यो जीवशब्दो नियुक्तस्तं व्यपदिशति स शब्दो नामजीव इत्युच्यते। न तद्वस्तूपाधिक इति। (त. भा. हरि. वृ. १–५)। ४. नामैव जीवो नामजीवः योऽयं जीव इति ध्वनिः, अयं च यस्य कस्यचिद् वस्तुनो वाचकः स नामजीवोऽभिधीयते। ××× स इत्यनेन चेतनावत्यचेतने वा यदृच्छया यो जीवशब्दो नियुक्तस्तं व्यपदिशति स शब्दो नामजीव इति। एतदुक्तं भवति— स एव शब्दो जीव इत्युच्यते तद्वस्तूपाधिक इति, अर्थाभिधान-प्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति न्यायात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४५–४६)। ५. जीवनगुणं विनापि यस्य कस्यचिज्जीवसंज्ञा विधीयते स नामजीवः। (त. वृत्ति श्रुत. १–५)।

१ जीवन गुण की अपेक्षा न करके जिस किसी पदार्थ का 'जीव' ऐसा नाम रखने को नामजीव कहते हैं। २ नाम और संज्ञाकर्म ये समानार्थक शब्द हैं। चेतन अथवा अचेतन द्रव्य का 'जीव' ऐसा जो नाम किया जाता है उसे नामजीव कहा जाता है।

नामदिक्—तत्र सचित्तादेर्द्रव्यस्य दिगित्यभिधानं नामदिक्। (आचारा. नि. शी. वृ. ४०, पृ. १२)।

सचित्त या अचित्त द्रव्य का 'दिक्' ऐसा नाम रखने को नामदिक् कहते हैं।

नामद्रव्य—१. यस्य जीवस्याजीवस्य वा नाम क्रियते द्रव्यमिति तन्नामद्रव्यम्। (त. भा. १–५)। २. नामद्रव्यं यस्य चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यमिति नाम क्रियते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)।

१ जिस जीव या अजीव का 'द्रव्य' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामद्रव्य कहते हैं।

नामधर्म—जीवस्साजीवस्स व अन्नत्थविवज्जियस्स जस्सेह। धम्मो णामं कीरइ स नामधम्मो तदक्खा वा॥ (धर्मसं. हरि. २८)।

धर्म के अन्वर्थ से रहित जिस किसी जीव या अजीव पदार्थ का 'धर्म' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामधर्म कहते हैं। अथवा धर्म की संज्ञा (नाम) को ही नामधर्म जानना चाहिए।

नामनमस्कार—नामनमस्कारो यस्य कस्यचिन्नमस्कार इति कृता संज्ञा। (भ. आ. विजयो. ७५३)।

जिस किसी का 'नमस्कार' ऐसा जो नाम किया जाता है वह नामनमस्कार कहलाता है।

नामनिक्षेप—१. अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम। (स. सि. १–५)। २. नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. १–५)। ३. पज्जायाणभिधेयं ठिअमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं। जाइच्छियं च नामं जावदव्वं च पाएणं॥ (विशेषा. २५)। ४. यद्वस्तुनोऽभिधानं जाति-रूपादिपर्यायप्रभेदानुसरणस्वभावं तन्नाम, नमनं प्रह्वत्वमिति, वस्तु नमनात्—प्रतिवस्तु नमनात् भवनादित्यर्थः। (उत्तरा. चू. पृ. १०)। ५. नीयते गम्यतेऽनेनार्थः, नमति वाऽर्थमभिमुखी-

करोतीति नाम। ××× निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम। निमित्तादन्यन्निमित्तं निमित्तान्तरम्, तदनपेक्ष्य क्रियमाणा संज्ञा नाम इत्युच्यते। यथा परमैश्वर्यलक्षणेन्दनक्रियानिमित्तान्तरानपेक्षं कस्यचित् 'इन्द्र' इति नाम। (त. वा. १, ५, १)। ६. तत्र निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम। (लघीय. स्वो. वि. ७४)। ७. यस्य कस्यचित् प्रनिर्दिष्टविशेषस्य निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम। (सिद्धिवि. स्वो. वि. १२-२)। ८. यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम्। पर्यायानभिधेयं (च) नाम यादृच्छिकं च तथा॥ (आव. हरि. वृ. पृ. ४ उद्.; अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६ उद्.; आव. मलय. वृ. पृ. ५ उद्.)। ९. जातावेव तु यत्संज्ञाकर्म तन्नाम मन्यते। तस्यामपरजात्यादिनिमित्तानामभावतः॥ गुणे कर्मणि वा नाम संज्ञाकर्म तथेष्यते। गुणकर्मान्तराभावाज्जातेरप्यनपेक्षणात्॥ (त. श्लो. १, ५, ४-५, पृ. ९९); तेनेच्छामात्रतंत्रं यत्संज्ञाकर्म तदिष्यते। नामाचार्यैर्न जात्यादिनिमित्तापन्नविग्रहम्॥ सिद्धे हि जात्यादिनिमित्तान्तरे विवक्षात्मनः शब्दस्य निमित्तात् संव्यवहारिणां निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम इत्याहुराचार्याः। (त. श्लो. १, ५, ५३, पृ. १११)। १०. संज्ञायाः क्रिया संज्ञाक्रिया संज्ञाकर्म, नामकरणम् इत्यर्थः, अनेन ध्वनिना वस्त्विदं प्रतिपाद्यत इति यावत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५)। ११. या निमित्तान्तरं किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते। द्रव्यस्य कस्यचित् संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम्॥ (त. सा. १-१०)। १२. तदनपेक्षं (निमित्तान्तरानपेक्षं) यत् संज्ञाकर्म संज्ञाकरणमिच्छावशात्तन्नाम। (न्याय-कु. ७४, पृ. ८७४)। १३. प्रतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये। यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात्॥ (उपासका. ८२५)। १४. यस्य कस्यचिद् वस्तुनो व्यवहारार्थमभिधानं निमित्तसव्यपेक्षं प्रनपेक्षं वा यत् संकेत्यते तन्नाम। (सन्मति. प्रभय. वृ. ६, पृ. ३७९)। १५. जीवाजीवोभयेष्टार्थजातिद्रव्य-गुणक्रिया। नामोत्पत्तिनिमित्तानपेक्षं यन्नाम तन्मतम्॥ (आचा. सा. ९-५)। १६. प्रतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारप्रवर्तननिमित्तं पुरुषाकारात् हठात्प्रियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम। (त. वृत्ति श्रुत. १, ५)। १७. प्रतद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। (परमा. त. १-९)। १८. वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम। (पंचाध्या. १, ७४२)।

१ नाम के अनुसार वस्तु में गुण न होने पर भी व्यवहार के लिए जो पुरुष के प्रयत्न से नामकरण किया जाता है, इसे नामनिक्षेप कहा जाता है। ३ अन्य अर्थ में वर्तमान पर्यायवाचक शब्दों से जो नहीं कहा जा सकता है ऐसा विवक्षित अर्थ से निरपेक्ष जो इच्छानुसार नामकरण किया जाता है उसे नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी भृतक (नौकर) के पुत्र का 'इन्द्र' नाम। उसे इन्द्र के पर्यायवाची शक्र-पुरन्दर आदि शब्दों से नहीं कहा जा सकता है। कारण कि अन्वर्थक रूप से वह देवेन्द्ररूप अर्थ में वर्तमान है।

नामनिबन्धन—जस्स णामस्स वाचगभावेण पवुत्तीए जो प्रत्थो आलंबणं होदि सो णामणिबंधणं णाम। (धव. पु. १५, पृ. २)।

जिस नाम का वाचकस्वरूप से प्रवृत्ति में जो अर्थ आलम्बनीभूत होता है उसका नाम नामनिबन्धन है।

नामनिर्देश—नामनिर्देशो यस्य निर्देश इति नाम क्रियते, नाम्नो वा निर्देशो यथा अयं जिनभद्र इत्याद्यभिधानविशेषभणनं। (आव. नि. मलय. वृ. १४०)।

जिसका 'निर्देश' यह नाम किया जाता है उसे नामनिर्देश कहते हैं, अथवा नाम के निर्देश को नामनिर्देश कहा जाता है। जैसे—यह जिनभद्र है, इस प्रकार नामविशेष का कहना।

नामपद—नामपदं नाम गौडोऽन्ध्रो द्रमिल इति गौडान्ध्रद्रमिलभाषा-नाम-धामत्वात्। (धव. पु. १, पृ. ७७)।

गौड, आन्ध्र और द्रमिल ये नामपद हैं, क्योंकि ये गौड, आन्ध्र और द्रमिल भाषा के नामके आश्रित हैं।

नामपिण्ड—गोण्णं समयकयं वा जं वावि हवेज्ज तदुभयेण कयं। तं विंति नामपिण्डं ××× ॥ (पिण्डनि. ६; ओघनि. ३३३)।

'पिण्ड' इस प्रकार का जो नाम गौण, समयकृत, उभयकृत अथवा अनुभयज है उसे नामपिण्ड कहा जाता है। गौण से अभिप्राय है द्रव्य, गुण अथवा क्रियारूप गुण से सिद्ध। जैसे—सजातीय-विजातीय कठिन द्रव्यों का एकत्रीकरणरूप पिण्ड। यह गुण

से निष्पन्न (अन्वर्थक) पिण्ड नाम है। आचारांग में द्रव द्रव्यरूप जल को भी पिण्ड कहा गया है। यह समयकृत पिण्ड नाम है। भिक्षु या भिक्षुणी किसी गृहस्थ के घर जाकर जिस गुडपिण्ड या ओदनपिण्ड को प्राप्त करते हैं वह उभयकृत (गौण व समयकृत) पिण्ड नाम है। यह अन्वर्थक भी है और आगमप्रसिद्ध भी है। किसी पुरुषविशेष का शरीरावयवों के समुदाय की विवक्षा के बिना 'पिण्ड' यह नाम करना यह अनुभयज 'पिण्ड' कहा जायगा। कारण कि उसमें न अन्वर्थकता है और न आगमप्रसिद्धता भी है। इस तरह उक्त चारों प्रकार के पिण्ड को नामपिण्ड कहा जाता है।

नामपुरुष—नाम इति संज्ञा, तन्मात्रेण पुरुषो नामपुरुषः, यथा घटः पट इति। यस्य वा पुरुष इति नामेति। (सूत्रकृ. नि. शी. वृ. १–५५)।

नाम मात्र से जो पुरुष है, अथवा जिसका 'पुरुष' यह नाम है, उसे नामपुरुष कहा जाता है।

नामपूजा— नामोच्चार्य जिनादीनां स्वच्छदेशे क्वचिज्जनैः। पुष्पादीनि विकीर्यन्ते नामपूजा भवेदसौ॥ (धर्मसं. श्रा. ९–८७)।

अरहन्त आदि के नामों का उच्चारण करके पुष्प आदि के अर्पण करने को नामपूजा कहते हैं।

नामप्रतिक्रमण—१. अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिप्रतिक्रमणम्। तर्हि दारिगा सामिणी इत्यादिकमयोग्यं नाम। (भ. आ. विजयो. ११६, पृ. २७५); भट्टिणी भट्टिदारिगा इत्याद्ययोग्यनामोच्चारणं कृतवतस्तत्परिहरणं नामप्रतिक्रमणम्। (भ. आ. विजयो. ४२१, पृ. ६१५)। २. नामप्रतिक्रमणं पापहेतुनामातीचारान्निवर्तनं प्रतिक्रमणदण्डकगतशब्दोच्चारणं वा। (मूला. वृ. ७–११५)।

१ भट्टिनी (स्वामिनी) व भट्टिनीदारिका आदि अयोग्य नामों का उच्चारण नहीं करना, अथवा उच्चारण करने पर उसका परिहार करना, इसे नामप्रतिक्रमण कहते हैं।

नामप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा—१. सरीरणामकम्मस्स उदएणं परोप्परं बद्धाणं पोग्गलाणं फड्डगपरूवणा णामपच्चयफड्डगपरूवणा। (कर्मप्र. चू. ब. क. २१, पृ. ५४)। २. तथा नामप्रत्ययस्य—बन्धननामनिमित्तस्य शरीरदेशस्पर्द्धकस्य प्ररूपणा नामप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा। अयमर्थः—शरीरबन्धननामकर्मोदयतः परस्परं बद्धानां शरीरपुद्गलानां स्नेहमधिकृत्य या स्पर्द्धकप्ररूपणा सा नामप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा। (पञ्चसं. मलय. वृ. ब. क. १९, पृ. २१)।

१ शरीरनामकर्म के उदय से परस्पर में बन्ध को प्राप्त पुद्गलों के स्पर्द्धकों की प्ररूपणा करने को नामप्रत्ययस्पर्द्धकप्ररूपणा कहते हैं।

नामप्रत्याख्यान—अयोग्यं नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यानम्। (भ. आ. विजयो. ११६)।

मैं आगे अयोग्य नाम का उच्चारण नहीं करूंगा, इस प्रकार का विचार करने को नामप्रत्याख्यान कहते हैं।

नामप्रमाण—से किं तं नामपमाणे ?, २ जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुभयाणं वा पमाणेत्ति नामं कज्जइ से तं णामपमाणे। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४४)।

एक जीव, एक अजीव, बहुत-बहुत जीव, बहुत-बहुत अजीव, एक-एक जीव-अजीव, अथवा बहुत-बहुत जीव-अजीव; इनमें से जिस का 'प्रमाण' यह नाम किया जाता है वह नामप्रमाण कहलाता है।

नामबन्ध—जो सो णामबंधो णाम सो जीवस्स वा, अजीवस्स वा जीवाणं वा, अजीवाणं वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाणं च, जीवाणं च अजीवस्स च, जीवाणं च अजीवाणं च जस्स णामं कीरदि बंधो त्ति सो सव्वो णामबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, ७—धव. पु. १४, पृ. ४)।

एक जीव; एक अजीव, बहुत जीव, बहुत अजीव, एक जीव एक अजीव, एक जीव बहुत अजीव, बहुत जीव एक अजीव, बहुत जीव बहुत अजीव, इन आठ में से जिसका 'बन्ध' यह नाम किया जाता है उसे नामबन्ध कहते हैं।

नामबन्धक—णामबंधया णाम 'बंधया' इदि सद्दो जीवाजीवादिअट्ठभंगेसु पयट्टंतो। (धव. पु. ७, पृ. ३)।

जीवाजीवादि आठ भंगों में जिनका 'बन्धक' यह नाम किया जाता है उन्हें नामबन्धक कहते हैं।

नामभाव—भावसद्दो बज्झत्थणिरवेक्खो अप्पाणम्हि चेव पयट्टो णामभावो होदि। (धव. पु. ५, पृ.

१८३); भावसद्दो णामभावो णाम। (धव. पु. १२, पु. १)।

बाह्य अर्थ की अपेक्षा न रखते हुए अपने आप में ही प्रवृत्त 'भाव' शब्द को नामभाव कहा जाता है।

नाममंगल—१. अरहाणं सिद्धाणं आइरिय-उवज्झयाइसाहूणं। णामाइं णाममंगलमुद्दिट्ठं वीयराएहिं॥ (ति. प. १–१६)। २. एगम्मि अणेगेसु व जीवद्व्वे व तव्विवक्खे वा। मंगलसम्ना नियता तं सन्नामंगलं होइ॥ (बृहत्क. भा. ६)। ३. तत्र यत् जीवस्याजीवस्योभयस्य वा मङ्गलमिति नाम क्रियते तन्नाममङ्गलम्। (आव. हरि. वृ. १, पृ. ४)। ४. तत्थ णाममंगलं णाम णिमित्तंतरणिरवेक्खा मंगलसण्णा। (धव. पु. १, पु. १७); बज्झत्थणिरवेक्खो मंगलसद्दो णाममंगलं। (धव. पु. १, पृ. १९)। ५. तत्र मङ्गलमिति नामैव नाममङ्गलम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. पृ. २)।

१ अरहंत आदि पांच परमेष्ठियों के नामों को नाममंगल कहते हैं। २ एक जीवद्रव्य, अनेक जीव द्रव्यों अथवा उनके विपक्षभूत एक-अनेक अजीव द्रव्यों में जो 'मंगल' यह संज्ञा नियत है उसे संज्ञामंगल या नाममंगल कहा जाता है।

नामलक्षण—१. लक्खणमिह जं णामं जस्स व लक्खिज्जए व जो जेणं। (विशेषा. भा. २६४५)। २. इह लक्षणमिति यन्नाम यदभिधानं वर्णविन्यासो वा तन्नामलक्षणम्, लक्ष्यतेऽनेनेति कृत्वा, यस्य वा पदार्थस्य लक्षणमिति संज्ञा विधीयते स नामलक्षणम्, अभेदात्, यो वा अभ्यादिर्येन नाम्ना विलुप्यते। (विशेषा. भा. वृ. २६४५—नि. ७५१)।

जिस किसी वस्तु का 'लक्षण' ऐसा नाम किया जाता है उसे, अथवा जिस (लक्षणशब्द) के द्वारा पदार्थ लक्षित होता है उसे भी नामलक्षण कहते हैं।

नामलेश्या—लेस्सासद्दो णामलेस्सा। (धव. पु. १६, पृ. ४८४)।

'लेश्या' शब्द को नामलेश्या कहा जाता है।

नामलोक—णामाणि जाणि काणिचि सुहासुहाणि लोगम्हि। णामलोगं वियाणाहि अणंतजिणदेसिदं। (मूला. ७–४५)।

लोक में जो कुछ भी शुभ-अशुभ नाम हैं उन्हें नामलोक जानना चाहिए।

नामवर्गणा—वग्गणासद्दो णामवग्गणा। (धव. पु. १४, पृ. ५२)।

'वर्गणा' यह शब्द नामवर्गणा कहलाता है।

नामवेदना—अट्ठविहदव्वज्झत्थाणालंबणो वेयणासद्दो णामवेयणा। (धव. पु. ६, पृ. ५)।

आठ प्रकार के बाह्य (जीवाजीवादि) अर्थ का आलम्बन न करने वाले 'वेदना' शब्द को नामवेदना कहते हैं।

नामव्रत—नामव्रतं कस्यचिद् व्रतमिति कृता संज्ञा। (भ. आ. विजयो. ११८५)।

किसी पदार्थ की जो 'व्रत' ऐसी संज्ञा की जाती है उसे नामव्रत कहा जाता है।

नामश्रुत—से किं तं नामसुयं? २ जस्स णं जीवस्स वा जाव सुएत्ति नामं कज्जइ से तं नामसुयं। (अनुयो. सू. ३०)।

एक जीव, एक अजीव, बहुत जीव, बहुत अजीव, एक-एक जीव-अजीव अथवा बहुत-बहुत जीव-अजीव; इनमें से जिसका 'श्रुत' यह नाम किया जाता है उसे नामश्रुत कहते हैं।

नामसत्य—१. नामसच्चं नाम जं जीवस्स अजीवस्स वा सच्चमिति नाम कीरइ। (दशवै. चू. पृ. २३६)। २. तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे यद् व्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, इन्द्र इत्यादि। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५; धव. पु. १, पृ. ११७; चा. सा. पृ. २६; कार्तिके. टी. ३९८)। ३. दशधा सत्यसद्भावे नामसत्यमुदाहृतम्। इन्द्रादिव्यवहारार्थं यत् संज्ञाकरणं हि तत्॥ (ह. पु. १०, ९८)। ४. नामसत्यं नाम कुलमवर्धयन्नपि कुलवर्धन इत्युच्यते, धनमवर्धयन्नपि धनवर्धन इत्युच्यते, अयक्षश्च यक्ष इति। (दशवै. नि. हरि. वृ. २०८, पृ. २७३)। ५. इन्द्रादिसंज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजाति-गुण-क्रिया-द्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणतिमात्रेण वस्तुनः प्रवृत्ता नामसत्यम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. ११९३)। ६. व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थमर्थाभावो[वे]ऽपि लौकिकैः। कृतं नाम मतं नामसत्यं चन्द्रादिवन्नृषु॥ (आचा. सा. ५–२६)। ७. यथा भक्तादिनाम देशाद्यपेक्षया सत्यं भवति तथा पुनरन्यनिरपेक्षतयैव संव्यवहारार्थं कस्यचित्प्रयुक्तं संज्ञाकर्म नामसत्यम्। यथा कश्चित्पुरुषो जिनदत्त इति। (गो. जी. म. प्र. व जी प्र. टी. २२३)।

१ जीव अथवा अजीव का जो 'सत्य' ऐसा नाम

किया जाता है उसे नामसत्य कहते हैं। २ अर्थ के न होने पर भी सचेतन व अचेतन द्रव्य का व्यवहार के लिए जो नामकरण किया जाता है वह नामसत्य कहलाता है। जैसे इन्दनक्रिया के अभाव में भी किसी का 'इन्द्र' यह नाम।

नामसम—नाना मिनोतीति नाम। अणेगेहि पयारेहि अत्थपरिच्छित्ति णामभेदेण कुणदि त्ति एगादिअक्खराण बारसगाणिओगाणं मज्झट्ठिददव्वसुदणाणवियप्पा णाणमिदि वुत्तं होदि। तेण णामेण दव्वसुदेण समं सह वट्टदि उप्पज्जदि त्ति सेसाइरिएसु ट्ठिदसुदणाणं णामसमं। (धव. पु. ९, पृ. २६०); बुद्धिविहूणपुरिसभेएण एगक्खरादीहि ऊणकदिअणियोगो णाणा मिणोदीदि वुप्पत्तीदो णाममिदि भण्णदे। तेण सह वट्टमाणो भावकदिअणियोगो णामसमं णाम। (धव. पु. ९, पृ. २६९); आइरियपादमूले बारहंगसद्दागमं सोऊण जस्स अहिलप्पत्थविसयं चेव सुदणाणं समुप्पण्णं सो णामसमं। (धव. पु. १४, पृ. ८)।

जो नानारूप से जानता है उसे नाम कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि नामभेद से जो अनेक प्रकार से अर्थ का परिच्छेदन करता है उसको नाम कहते हैं। तदनुसार एक-दो आदि अक्षरस्वरूप बारह अंगों के अनुयोगों के मध्यवर्ती जितने द्रव्यश्रुतज्ञान के विकल्प हैं उन्हें नाम जानना चाहिए। इस नामरूप द्रव्यश्रुत के साथ शेष आचार्यों में वर्तमान या उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान नामसम कहलाता है।

नामसंक्रम—संकमसद्दो णामसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ३३९)।

'संक्रम' शब्द को नामसंक्रम कहा जाता है।

नामसंख्या—से किं तं नामसंखा? २ जस्स णं जीवस्स वा जाव से तं नामसंखा। (अनुयो. सू. १४६, पृ. २३०)।

एक जीव व एक अजीव आदि में से जिसका 'संख्या' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामसंख्या कहते हैं।

नामसामायिक—१. निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरध्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम्। (भ. आ. विजयो. ११६)। २. शुभनामान्यशुभनामानि च श्रुत्वा राग-द्वेषादिवर्जनं नामसामायिकं नाम ××× अथवा जाति-द्रव्य-गुण-क्रियानिरपेक्षं संज्ञाकरणं सामायिकशब्दमात्रं [वा] नामसामायिकं नाम। (मूला. वृ. ७–१७; अन. ध. स्वो. टी. ८–१९)। ३. शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः। स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम्॥ (अन. ध. ८–२१)। ४. इष्टानिष्टनामसु राग-द्वेषनिवृत्तिः सामायिकमित्यभिधानं वा नामसामायिकम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३६७–६८)। ५. तत्थ इट्ठाणिट्ठणामेसु राय-दोसणिव्वत्ती सामाइयमिदि अहिहाणं वा णामसामाइयं। (अंगप. ३–१३, पृ. ३०५)।

१ किसी जीवादि पदार्थ की निमित्त की अपेक्षा न करके जो 'सामायिक' ऐसी संज्ञा की जाती है उसे नामसामायिक कहा जाता है। २ इष्ट और अनिष्ट नामों को सुन करके उनमें राग या द्वेष के नहीं करने को नामसामायिक कहते हैं। अथवा जाति, द्रव्य, गुण व क्रिया की अपेक्षा न करके जो 'सामायिक' संज्ञा की जाती है उसे नामसामायिक जानना चाहिए।

नामस्तव—१. चतुर्विंशतितीर्थंकराणां यथार्थानुगतैरष्टोत्तरसहस्रसंख्यैर्नामभिः स्तवनं चतुर्विंशतिनामस्तवः। ××× अथवा जाति-द्रव्य-गुण-क्रियानिरपेक्षं संज्ञाकर्म चतुर्विंशतिमात्रं नामस्तवः। (मूला. वृ. ७–४१)। २. अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम्। वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः॥ (अन. ध. ८–३९)।

१ चौबीस तीर्थंकरों का एक हजार आठ सार्थक नामों से जो स्तवन किया जाता है वह नामस्तव कहलाता है। अथवा जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया की अपेक्षा न रखकर जो 'चतुर्विंशति' मात्र नामकरण किया जाता है उसे नामस्तव जानना चाहिए।

नामस्थापना[स्थान]—नामस्थापना[स्थानं] यो यस्य नाम्नः अर्हो योग्य इत्यर्थः। (उत्तरा. चू. पृ. २४०)।

जो स्थान जिस नाम के योग्य है उसे नामस्थान कहते हैं।

नामस्पर्श—जो सो णामफासो णाम सो जीवस्स वा, अजीवस्स वा, जीवाणं वा, अजीवाणं वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाणं च, जीवाणं च अजीवस्स च, जीवाणं च अजीवाणं च

जस्स णाम कीरदि फासेत्ति सो सव्वो णामफासो णाम। (षट्खं. ५, ३, ९—पु. १३, पृ. ८)।
एक जीव व एक अजीव आदि आठ में से जिसका 'स्पर्श' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामस्पर्श कहते हैं।

नामाजीव—अजीव इति नाम यस्य चेतनस्याचेतनस्य वा क्रियते स नामाजीवः। (त. भा सिद्ध. वृ. १–५)।
जिस चेतन व अचेतन पदार्थ का 'अजीव' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामअजीव कहते हैं।

नामानन्त— णामाणंतं जीवाजीव-मिस्सदव्वस्स कारणणिरवेक्खा सण्णा अणंता इदि। (धव. पु. ३, पृ. ११)।
जीव, अजीव और मिश्र द्रव्य की जो कारण की अपेक्षा बिना 'अनन्त' ऐसी संज्ञा की जाती है उसे नामानन्त कहते हैं।

नामानुयोग—१. नामस्स जोऽणुओगो अहवा जस्साभिहाणमणुओगो। नामेण व जो जोग्गो जोगो णामाणुओगो सो॥ (विशेषा. १३९६)। २. नामानुयोगो यस्य जीवादेरनुयोग इति नाम क्रियते, नाम्नो वा अनुयोगो नामानुयोगो नामव्याख्या, यदि वा नाम्नाऽनुरूपो योगो नामानुयोगः। (आव. नि. मलय. वृ. १२९)।
१ नाम का जो अनुयोग है उसे नामानुयोग (नामव्याख्या) कहते हैं। अथवा जिसका 'अनुयोग' ऐसा नाम है उसे नामानुयोग कहा जाता है। नाम के अनुरूप योग भी नामानुयोग कहलाता है।

नामान्तर—णामंतरसद्दो बज्झत्थे मोत्तूण अप्पाणम्हि पयट्टो। (धव. पु. ५, पृ. १–२)।
बाह्य अर्थ को छोड़कर अपने आप में प्रवृत्त 'अन्तर' शब्द को नामअन्तर कहते हैं।

नामाल्पबहुत्व—अप्पाबहुअसद्दो णामप्पाबहुअं। (धव. पु. ५, पृ. २४१)।
'अल्पबहुत्व' इस शब्द को नामअल्पबहुत्व कहा जाता है।

नामावश्यक—१. से किं तं नामावस्सयं? २ जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुभयाणं वा आवस्सए त्ति नामं कज्जइ से तं नामावस्सयं। (अनुयो. सू. ९)। २. तत्र नाम अभिधानम्, नाम च तदावश्यकं च नामावश्यकम्, आवश्यकाभिधानमित्यर्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६)।
एक जीव, एक अजीव, बहुत जीव, बहुत अजीव, दोनों एक-एक तथा दोनों बहुत-बहुत; इनमें से जिसका 'आवश्यक' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामावश्यक कहते हैं।

नामासंख्यात—णामासंखेज्जयं णाम जीवाजीवमिस्सस्सरूवेण ट्ठिदअट्ठभंगासंखेज्जाणं कारणणिरवेक्खा सण्णा। (धव. पु. ३, पृ. १२३)।
जीव, अजीव और मिश्ररूप से स्थित आठ संयोगी भंगों में जिसकी 'असंख्यात' ऐसी संज्ञा की जाती है उसे नामासंख्यात कहते हैं।

नामास्रव—नामास्रवो यस्य आस्रव इति नाम कृतं स नामास्रवः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)।
जिसका 'आस्रव' ऐसा नाम किया गया है उसे नामास्रव कहते हैं।

नामोत्तर—तत्र नामोत्तरमिति नामैव, यस्य वा जीवादेरुत्तरमिति नाम क्रियते। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १, पृ. ३)।
'उत्तर' इस नाम को ही नामोत्तर कहा जाता है। अथवा जिस किसी जीवादि का 'उत्तर' ऐसा नाम किया जाता है उसे नामोत्तर कहते हैं।

नामोपक्रम—तत्र नामतश्चिरतरकालभाविनः सन्निहितकाल एव करणं नामोपक्रमः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–२८, पृ. ३१)।
चिरतर काल में होने वाले कार्य के निकटवर्ती काल में करने को नामोपक्रम कहते हैं।

नारक—देखो नरत। १. नरकेषु भवा नारकाः। (त. भा. ३–३; त. वा. २, ५०, ३)। २. ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल-भावे य। अण्णोण्णेहि य णिच्चं तम्हा ते णारया भणिया॥ (प्रा. पंचसं. १–६०; धव. पु. १, पृ. २०२ उद्.; गो. जी. १४७)। ३. नरान् कायन्तीति नरकास्तेषु भवा नारकाः। (आव. नि. हरि. वृ. ६२८, पृ. २५१)। ४. नरान् कायन्तीति नरकाः, योग्यतया शब्दयन्तीत्यर्थः, तेषु भवा नारकाः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २९)। ५ नारकाः शर्करासन्निविष्टोष्ट्रिकाकृतयः, तेषु भवाः अतिप्रकृष्टदुःखोपेताः प्राणिनो नारकाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२२)। ६. न रमन्ते महादुःखा ये द्रव्यादिचतुष्टये। ये परस्परतो

जीवा नारकास्ते निरूपिताः ॥ (पंचसं. अमित. १-१४७) । ७. नरान् उपलक्षणात्तिरश्चोऽपि, योग्यतामतिक्रमेण कायन्त्याकारयन्तीति नारकाः सीमन्तकादयस्तेषु भवाः नारकाः नरकायुर्नरकगत्यादिकर्मोदयवर्तिनः । (संग्रहणी दे. वृ. १, पृ. २) । ८. ××× ये न रमन्ते—प्रीतिं न भजन्ते न सुख्यन्ति अन्योन्यैश्च परस्परं च न रमन्ते, तस्मात्ते नरताः, नरता एव नारताः, स्वार्थिकाण्विधानात्, इति भणिताः पूर्वसूरिभिः । ××× गतिनामकर्मोत्तरप्रकृतिविकल्पो नारकगतिनामकर्म, तदुदयाज्जाताः नारकाः । अथवा नरान् कायन्ति कदर्थयन्ति क्लेशयन्तीति नरकाणि अधोभूमिगतसीमन्तादिबिलानि, तेषु भवाः नारकाः, सहज शारीर-मानसागन्तुक-क्षेत्रजैर्दुःखैर्निरन्तरसंक्लेशितपरिणामाः बह्वारम्भ-परिग्रहत्वाद्यार्त-रौद्रध्यानार्जितनारकायुःकर्मोदयलब्धनारकभववृत्तयः सप्ताधोभूमिगताः पंचेन्द्रियजीवाः नारकाः इति संक्षेपतो ज्ञातव्याः । (गो. जी. म. प्र. टी. १४७) । ९. ××× अन्योन्यैः सह नूतन-पुरातननारकाः परस्परं च न रमन्ते, तस्मात् कारणात् ते जीवाः नरता इति भणिताः, नरता एव नारताः । ××× अथवा नरकेषु जाता नारकाः ××× अथवा नरान् प्राणिनः कायति पातयति कदर्थयति खलीकरोति बाधत इति नरकं कर्म, तस्यापत्यानि नारकाः, तेषां गतिः नारकगतिः । अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावेषु अन्योन्येषु च अरताः नरताः, तेषां गतिर्नरतगतिः । (गो. जी. जी. प्र. टी. १४७) ।

१ जो नरकों में होते हैं उन्हें नारक कहा जाता है । २ जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में तथा परस्पर में भी नहीं रमते हैं वे नारत या नारक कहलाते हैं । ३ जो नरों (मनुष्यों—जीवों) को क्लेश पहुंचाने वाले नरकों में उत्पन्न होते हैं वे नारक कहलाते हैं ।

नारककालावीचिमरण—जं णेरइया नेरइयकाले वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए गहिताइं ताइं दव्वाइं आवीचि अणुसमयं णिरंतरं मरतीति कट्टु णेरइयकालावीचीमरणं । (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२७) ।

नारककाल में वर्तमान नारकी जीवों ने जिन द्रव्यों को नारक आयु के रूप में ग्रहण किया है वे द्रव्य प्रत्येक समय में निरन्तर मरते हैं—निषेकक्रम से क्षीण होते हैं, इसी का नाम नारककालावीचिमरण है ।

नारकक्षेत्रावीचिमरण—जे णं णेरइया णेरइयखेत्ते वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए गहिताइं ताइं दव्वाइं आवीचि अणुसमयं णिरंतरं मरतीति कट्टु णेरइयखेत्तावीचिमरणं । (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२७) ।

नारकक्षेत्र में वर्तमान नारकी जीवों ने जिन द्रव्यों को नरकायु के रूप में ग्रहण किया है वे प्रत्येक समय में निरन्तर मरते हैं—निषेकक्रम से निर्जीर्ण होते हैं, इसी को नारकक्षेत्रावीचीमरण कहा जाता है ।

नारकद्रव्यात्यन्तिकमरण—जे णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं संपयं मरंति ताइं दव्वाइं अणागते कालेण पुणो ण मरिस्संति तं णेरइयदव्वातियंतियमरणं भवति । (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२८) ।

नारकद्रव्य में वर्तमान नारक जीव जो द्रव्य इस समय मरते हैं—उन्हें छोड़ते हैं—उन्हें भविष्य में फिर से नहीं छोड़ेंगे, यह नारकद्रव्यात्यन्तिकमरण कहते हैं ।

नारकद्रव्यावधिमरण—णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं संपइं मरंति, जण्णं णेरइया ताइं दव्वाइं अणागते काले पुणो वि मरिस्संति नेरइए । (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२८) ।

नारकद्रव्य में वर्तमान नारकी जिन द्रव्यों को इस समय निर्जीर्ण कर रहे हैं, आगामी काल में फिर भी उन्हीं द्रव्यों को निर्जीर्ण करेंगे, उसे नारकद्रव्यावधिमरण कहते हैं ।

नारकद्रव्यावीचीमरण—जं नेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए गहिताइं ताइं दव्वाइं आवीचि अणुसमयं णिरंतरं मरतीति कट्टु णेरइयदव्वावीचिमरणं । (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२७) ।

नारकद्रव्य में वर्तमान नारकी जीवों ने जिन द्रव्यों को नारक आयु के रूप में ग्रहण किया है उनकी अपेक्षा प्रतिसमय में मरण होता है—वे प्रत्येक

समय में निषेकक्रम से क्षय को प्राप्त होते हैं, यही नारकद्रव्यावीचीमरण कहलाता है।

नारकभवावीचीमरण—जं णं णेरइया णेरइयभवे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए गहिताइं ताइं दव्वाइं आवीचि अणुसमयं णिरंतर मरतीति कट्टु णेरइयभवावीचीमरणं। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२७)।

नारकभव में वर्तमान नारक जीवों ने जिन द्रव्यों को नारक आयु के रूप में ग्रहण किया है उन्हें जो प्रतिसमय निषेकक्रम से निर्जीर्ण किया जाता है, इसका नाम नारकभवावीचीमरण है।

नारकभावावीचीमरण—जण्णं णेरइयभावे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए गहिताइं ताइं दव्वाइं आवीची अणुसमयं णिरंतरं मरतीति कट्टु णेरइयभावावीचियमरणं। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२७)।

नारकभाव में वर्तमान नारकी जीवों ने जिन द्रव्यों को नारक आयु के रूप में ग्रहण किया है उन द्रव्यों को जो प्रत्येक समय में निरन्तर निषेकक्रम से निर्जीर्ण किया जाता है, इसका नाम नारकभावावीचीमरण है।

नारकानुपूर्वी—देखो नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम।

नारकायु—१. नरकेषु भवं नारकमायुः, × × × नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकम् (आयुः)। (स. सि. ८–१०; त. श्लो. ८–१०)। २. नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं तन्नारकायुः। नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनाकरेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं भवधारणं भवति तन्नारकायुः। (त. वा. ८, १०, ५)। ३. तत्र नरका उत्पत्तियातनास्थानानि पृथिवीपरिणतिविशेषाः, तत्सम्बन्धिनः सत्त्वा अपि तात्स्थ्यान्नरकाः, तेषामिदमायुर्नारकम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–११)। ४. जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण जीवस्स उड्ढगमणसहावस्स णेरइयभवम्मि अवट्ठाणं होदि तेसिं णिरयाउमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४८); जं कम्मं णिरयभवं धारेदि तं णिरयाउअं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६२)। ५. नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु दीर्घजीवनं नारकमायुः। (गो. क. जी. प्र. ३३)। ६. यदुदयात् तीव्रशीतोष्णदुःखेषु दीर्घकालं जीवति तत् नारकायुः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१०)।

१ जिस कर्म के निमित्त से तीव्र शीत-उष्ण की वेदना वाले नरकों में दीर्घ काल तक जीवित रहना पड़ता है उसे नारक आयु कहते हैं। ३ पृथिवी के विशेष परिणमन रूप उत्पत्ति व पीड़ा के स्थानों को नरक कहा जाता है। उन नरकों से सम्बद्ध जीव भी वहां स्थित रहने के कारण नरक कहलाते हैं। इन नरकों (नारक जीवों) की आयु का नाम नारक आयु है।

नारत—देखो नारक।

नाराचसंहनन—१. तदेवोभयं वज्राकारबन्धनव्यपेतमवलयबन्धनं सनाराचं नाराचसंहननम्। (त. वा. ८, ११, ६)। २. जस्स कम्मस्स उदएण वज्जविसेसणरहिदणारायणखीलियाओ हड्डसंधीओ हवंति तण्णारायणसरीरसंघडणं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७४)। ३. मर्कटबन्धः य उभयपार्श्वयोरस्थिबन्धः स किल नाराचः × × × नाराचनाम्नि तु मर्कटबन्ध एव केवलो न कीलिका न पट्टः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। ४. यस्य कर्मण उदयेन वज्रविशेषणरहितोऽस्थिबन्धो नाराचकीलितो भवति तत्तृतीयम्। (मूला. वृ. १२–१९४)। ५. उभओ मक्कडबंधो नाराओ होइ विन्नेओ। (संग्रहणी ११७)। ६. यत्रास्थ्नोर्मर्कटबन्ध एव केवलस्तन्नाराचसंज्ञं तृतीयं संहननम्। (जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १५)। ७. यत्र त्वस्थ्नां मर्कटबन्ध एव केवलो भवति तत्संहननं नाराचम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७२)। ८. यत्रास्थ्नोर्मर्कटबन्ध एव केवलस्तन्नाराचम्। (संग्रहणी दे. वृ. ११७, पृ. ५८)। ९. यस्य कर्मण उदयेन वज्रविशेषणेन रहितनाराचकीलिता अस्थिसन्धयो भवन्ति तन्नाराचशरीरसंहननं नाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)। १०. वज्राकारेण वलयेन च रहितं नाराचसंहनननाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ वज्राकार बन्धन और वलयबन्धन से रहित, पर नाराच से सहित हड्डियों का बन्धनविशेष जिस कर्म के उदय से होता है उसे नाराचसंहनन कहते हैं। ३ उभय पार्श्व भागों में जो हड्डियों का मर्कटबन्ध होता है उसका नाम नाराच है। नाराचसंहनन नामकर्म के उदय से कीलिका और पट्ट के

रहित केवल मर्कटबन्ध ही होता है।

नारी—१. णारिसओ णत्थि णरो णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी। (भ. आ. ९७८)। २. स्तन-योनिमती नारी ××× (पंचसं. अमित. १–१९५)।

१ जिसके समान नर (मनुष्य) का दूसरा अरि (शत्रु) नहीं है उसे नारी कहा जाता है। २. जो स्तन और योनि से सहित होती है उसे नारी कहते हैं।

नालिका—१. ते (लवाः) ऽष्टात्रिंशदर्धं च नालिका। (त. भा. ४–१५)। २. सत्तत्तरिदलिदलवा णाली ××× ॥ (ति. प. ४–२८७)। ३. अट्ठत्तीसं तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ। (ज्योतिष्क. १–१०)। ४. अठतीस लवे अद्धलवं च घेत्तूण एगा णालिया हवदि। (धव. पु. ३, पृ. ६५); अट्ठत्तीसद्धलवा णाली ××× । (धव. पु. ३, पृ ६६ उद्धृ.; भावसं. दे. ३१३, गो. जी. ५७५; जं. दी. प. १३–६); साद्धअट्ठत्तीसलवेहि णाली णाम कालो होदि। (धव. पु. ४, पृ. ३१८)।

१ साढ़े अड़तीस (३८½) लव प्रमाण काल को नालिका या नाली कहते हैं।

नाली—देखो नालिका।

नावागति—१. जण्णं णावा पुव्ववेतालीओ दाहिणवेयालिं जलपहेणं गच्छति, दाहिणवेतालिओ वा अवरवेतालिं जलपहेणं गच्छति से तं णावागती। (प्रज्ञाप. सू. २०५, पृ. ३२७)। २. नावागतिर्यन्नावा महानद्यादौ गमनम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २०५, पृ. ३२९)।

१ नाव के द्वारा पूर्व वेताली से दक्षिण वेताली और दक्षिण वेताली से अपर वेताली को जलमार्ग से जाना, इसका नाम नावागति है।

नाश—नाशः पुनः स्वभावप्रच्यवनम्। (सिद्धिवि. वृ. ८–२०, पृ. ५५४)।

स्वभाव की प्रच्युति का नाम नाश है।

नासासंस्कार—अन्तर्मल-रोमापनोदादिको नासासंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

नासिका के भीतर के मल और रोमों के दूर करने आदि को नासासंस्कार कहते हैं।

नास्ति-अवक्तव्य—१. आइट्ठोऽसब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स। तं णत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा ॥ (सन्मति, १–३९, पृ. ४७४)। २. परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्च युगपत्स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४)।

१ द्रव्य के एक अंश या धर्म के असद्भाव में और दूसरे अंश के दोनों में—सद्भाव असद्भाव में—युगपत् विवक्षित होने पर 'नास्ति अवक्तव्य द्रव्य' नाम का छठा भंग होता है। २ परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्व और पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विवक्षित द्रव्य को नास्ति-अवक्तव्य-द्रव्य कहा जाता है।

नास्तिक—देव-गुरु-धर्मरहिते पुंसि नास्तिप्रत्ययः। (धीतिवा. २५–६५, पृ. २५५)।

देव, गुरु और धर्म से रहित—उनके ऊपर श्रद्धा न रखने वाले—पुरुष के विषय में जो 'नास्ति' प्रत्यय होता है उसे नास्तिक कहा जाता है।

नास्तिद्रव्य—१ अत्यंतरभूएहि णियएहि य ××× । (सन्मति. १–३६, पृ. ४४१)। २. परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरादिष्टं नास्तिद्रव्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४)।

१ अर्थान्तरभूत—घट से भिन्न पट आदि—की विवक्षा में 'नास्ति घटः' ऐसा दूसरा भंग होता है। २ पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से द्रव्य का कथन करने पर 'नास्ति द्रव्य' कहा जाता है।

निकाच—निकाचो निकाचनं छंदनं निमन्त्रणमित्येकार्थाः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ५–४९)।

निकाच, निकाचन, छंदन और निमंत्रण ये समानार्थक हैं।

निकाचना—देखो निकाचिता। १. तस्सेव (पुव्वबद्धस्स कम्मस्सेव) तत्तसंकोट्टियलोहसलागासंबंधसरिसकिरिता निकायणा। (कर्मप्र. चू. बं. क. २, पृ. १८)। २. तथा 'कच बन्धने' नितरां कच्यते—स्वयमेव बन्धमायाति कर्म जीवस्य तथाविधसंक्लिष्टाध्यवसायपरिणतस्य तत्प्रयुङ्क्ते जीव एव, तथानुकूल्येन भवनात्, ततः प्रयोक्तृव्यापारे णिच्, ततो निकाच्यते अवश्यं वेद्यतया व्यवस्थाप्यते जीवेन यया सा निकाचना। अथवा 'कच बन्धने' इति चौरादिकोऽप्यस्ति, ततो निकाच्यते अवश्यं वेद्यतया निबध्यते यया कर्म सा निकाचना जीववीर्यविशेषपरिणतिः। (कर्मप्र. मलय. वृ. ब. क. २, पृ. १९; पंचसं.

मलय. वृ. १, पृ. २)। ३. निकाचना पुन: सर्वकरणायोग्यत्वमिति। (धर्मसं. हरि. वृ. ११, पृ. १५)।

१ पूर्वस्पृष्ट कर्म की जो तपाकर घन से कूटी गई लोहे की शलाकाओं के सम्बन्ध के समान क्रिया होती है उसे निकाचना कहते हैं। ३ कर्म की सब करणों के अयोग्य अवस्था का नाम निकाचना है।

निकाचित—१. जं पदेसग्गं ण सक्कमोकड्डिदुमुक्कड्डिदुमण्णपयडिसंकामेदुमुदए दादुं वा तण्णिकाचिदं णाम। (धव. पु. ९, पृ. २३६); जं पदेसग्गं ओकड्डिदुं णो सक्कं उक्कड्डिदुं णो सक्कं अण्णपयडिं संकामिदुं णो सक्कं उदए दादुं णो सक्कं तं पदेसग्गं णिकाचिदं णाम। (धव. पु. १६, पृ. ५१७); जं पदेसग्गं ण वि ओकड्डिज्जदि [ण वि उक्कड्डिज्जदि] ण वि संकामिज्जदि ण वि उदए दिज्जदि तं णिकाचिदं णाम। (धव. पु. १६, पृ. ५७६)। २. × × × चउसु वि दादुं कमेण णो सक्कं। × × × णिकाचिदं होदि जं कम्मं॥ (गो. क. ४४०)। ३. उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रमयितुमुत्कर्षयितुमपकर्षयितुं चाशक्यं तन्निकाचितं नाम। (गो. क. जी. प्र. टी. ४४०)।

१ कर्म के जिस प्रदेशपिण्ड का न अपकर्षण हो सकता है, न उत्कर्षण हो सकता है, न अन्य प्रकृति रूप संक्रमण हो सकता है, और न उदय हो सकता है उसे निकाचित कहा जाता है।

निकाचिता—देखो निकाचित। निकाचिता तु स्पृष्टानन्तरभाविनी, × × × बद्धं नामात्मप्रदेशैः सह श्लिष्टम्। यथा सूचयः कलापीकृताः परस्परेण बद्धा कथ्यन्ते, ता एवाग्नौ प्रक्षिप्तास्ताडिताः समभिव्यज्यमानान्तराः स्पृष्टा इति व्यपदिश्यन्ते, ता एव यदा पुनः पुनः प्रताप्य घनं घनेन ताडिताः प्रनष्टस्वविभागा एकपिण्डतामितास्तदा निकाचिता इति व्यपदेशमश्नुवते, एवं कर्माप्यात्मप्रदेशेषु योजनीयम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३, पृ. ३८)।

जिस प्रकार लोहे की शलाकाओं को एकत्रित करने पर वे परस्पर बद्ध कही जाती हैं, फिर उन्हीं को आग में डालकर ताड़ित करने पर अन्तर के स्पष्ट रहते हुए स्पृष्ट कहा जाता है, तत्पश्चात् उन्हीं को जब बार-बार तपा कर घन से खूब ताडित करते हैं तब अन्तर से रहित होकर वे एकपिण्ड बन जाती हैं, उनकी इस अवस्था को निकाचित कहा जाता है। इसी प्रकार कर्म भी क्रम से आत्मप्रदेशों से बद्ध व स्पृष्ट होते हुए निकाचित अवस्था को प्राप्त होते हैं।

निकाय—१. देवगतिनामकर्मोदयस्य स्वधर्मविशेषापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः संघाताः। (स. सि. ४-१)। २. स्वधर्मविशेषापादितसामर्थ्यात् निचीयन्ते इति निकायाः। देवगतिनामकर्मोदयस्वधर्मविशेषापादितसामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः, संघाताः इत्यर्थः। (त. वा. ४, १, ३)। ३. स्वधर्मविशेषापादितसामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः। (त. श्लो. ४-१)।

१ अपने धर्मविशेष से प्राप्त अनेक भेदों वाले देवगति नामकर्म के उदय के प्रभाव से जो समुदाय को प्राप्त होते हैं वे निकाय कहलाते हैं।

निकायकाय—नियतो नित्यः कायो निकायः, नित्यता चास्य त्रिष्वपि कालेषु भावात्। अधिको वा कायो निकायः, यथा अधिकदाहो निदाह इति। आधिक्यं चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया स्वभेदापेक्षया वा। तथाहि—एकादयो यावदसंख्येयाः पृथिवीकायिकास्तावत्कायस्त एव स्वजातीयान्यप्रक्षेपापेक्षया निकाय इति, एवमन्येष्वपि विभाषा। इत्येवं जीवनिकायसामान्येन निकायकायो भण्यते। अथवा जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो भण्यते तत्समुदायः, एवं च निकायकाय इति। (आव. नि. हरि. वृ. १४३६, पृ. ७६८)।

नित्य काय अथवा अधिक काय का नाम निकाय है। पृथिवीकायादिगत यह अधिकता धर्म-अधर्म अस्तिकायों की अपेक्षा अथवा अपने भेदों की अपेक्षा समझना चाहिए। एक से लेकर असंख्येय पृथिवीकायिक तक काय कहलाते हैं। वे ही अपनी जातिगत अन्य भेदों के प्रक्षेप की अपेक्षा निकाय कहलाते हैं। यही क्रम अन्य जलकायिकादिकों के विषय में जानना चाहिए। इस प्रकार से बने हुए छहों निकायों के समुदाय को निकायकाय कहा जाता है।

निकृति—१. निकृतिर्वञ्चना। मणि-सुवर्ण-रूप्याभासदानतो द्रव्यान्तरादानं निकृतिः। (धव. पु. १२, पृ. २८५)। २. निक्रियतेऽनया परः परिभूयत इति निकृतिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०)।

३. प्रतिसन्धानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वंचना निकृतिः। (भ. आ. विजयो. २५)।

१ निकृति का अर्थ धोखा देना है, अभिप्राय यह है कि बनावटी (नकली) मणि, सोना अथवा चांदी देकर बदले में अन्य द्रव्य के ग्रहण करने को निकृति कहा जाता है। ३ दूसरों के ठगने की कुशलता को निकृति कहते हैं। अथवा धन या कार्य की अभिलाषा रखने वाला जो दूसरों को ठगता है उसे निकृति समझना चाहिए।

निकृतिवाक्—वणिग्व्यवहारे याममवार्थं निकृतिप्रवण आत्मा भवति सा निकृतिवाक्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५; धव. पु. १, पृ. ११७)।

व्यापार में जिस वचन के आश्रय से आत्मा ठगने में तत्पर होता है उसे निकृतिवाक् कहा जाता है।

निक्षिप्तदोष—१. सच्चित्तपुढवि-आऊ-तेऊ-हरिदं च बीय-तसजीवा। जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयं॥ (मूला. ६–४६)। २. निक्षिप्तः स्थापितः, सचित्तादिषु परिनिक्षिप्तमाहारं यदि गृह्णाति साधुस्तदा तस्य निक्षिप्तदोषः। (मूला. वृ. ६–४६)। ३. सचित्तपद्मपत्रादौ क्षिप्तं निक्षिप्तसंज्ञितम्। (आचा. सा. ८–४७)। ४. पृथिव्युदकतेजोवायु-वनस्पतिषु त्रसेषु च यदन्नाद्यचित्तमपि स्थापितं तन्निक्षिप्तम्। (योगशा. स्वो. विव. १-३८, पृ. १३७)। ५. ××× निक्षिप्तमाहितम्। सचित्तक्ष्माग्नि-वार्बीज-हरितेषु त्रसेषु च॥ (अन. ध. ५, ३०)। ६. सचित्तपृथिव्यादेस्त्रसानां वा उपरि पीठफलकादिकं स्थापयित्वा अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसतिः सा निक्षिप्ता। (भ. आ. मूला. टी. २३०)। ७. सचित्तपद्मपत्रादौ यत्क्षिप्तं तन्निक्षिप्तम्। (भावप्रा. टी. ९९)। ८. सचित्तपृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पति-बीजानां त्रसानामुपरि स्थापितं पीठ-फलकादिकम् 'अत्र मया[त्वया]शय्या कर्तव्या' या दीयते वसतिः सा निक्षिप्ता। (कार्तिके. टी. ४४८–४९)।

१ जो पृथिवी, जल, तेज, हरित, बीजकाय और त्रसकाय सचित्त हैं उनके ऊपर स्थापित भोज्य पदार्थ के ग्रहण करने पर निक्षिप्तदोष होता है। वह पृथिवी आदि के भेद से छह प्रकार का है। ८ सचित्त पृथिवी आदि के ऊपर आसन या पटिया आदि को स्थापित कर 'यहां आप शयन कीजिए' इस प्रकार से जो वसति दी जाती है वह निक्षिप्त दोष से दूषित होती है।

निक्षेप—१. निक्षिप्यत इति निक्षेपः स्थापना। (स. सि. ६–९)। २. विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्च अधिगमार्थं न्यासो निक्षेप इत्यर्थः। (त. भा. १–५)। ३. तथा निक्षिप्यते अनेनेति अस्मिन् वेति निक्षेपणं वा निक्षेपः, 'क्षिप प्रेरणे' इति नियतो निश्चितो वा क्षेपः निक्षेपः, न्यासः स्थापनेति यावत्। (उत्तरा. चू. १, पृ. ९)। ४. निक्षिप्यत इति निक्षेपः। ××× अथवा ××× निक्षिप्तिर्निक्षेपः। (त. वा. ६, ९, १)। ५. ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते। (लघीय. ५२); तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोपन्यासः न्यासः। (लघीय. स्वो. वि. ७४)। ६. निक्षेपोऽनन्तकल्पश्चतुरवरविधः प्रस्तुतव्याक्रियार्थः, तत्त्वार्थज्ञानहेतुर्द्वयनयविषयः संशयच्छेदकारी। शब्दार्थप्रत्ययाङ्कं विरचयति यतस्तद्यथाशक्ति भेदं, वाच्यानां वाचकेषु श्रुतविषयविकल्पोपलब्धेस्ततः सः॥ (सिद्धिवि. १२–१, पृ. ७३८)। ७. तथा निक्षेपणं निक्षिप्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वा निक्षेपः न्यासः स्थापनेति पर्यायाः। (आव. नि. हरि. वृ. ७९, पृ. ५४; अनुयो. हरि. वृ. पृ. २७)। ८. णिच्छये णिण्णये खिवदि त्ति णिक्खेवो। (धव. पु. १, पृ. १०; पु. १३, पृ. ३; पु. १४, पृ. ५१); संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितं तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः। अथवा बाह्यार्थविकल्पो निक्षेपः, अप्रकृतनिराकरणद्वारेण प्रकृतप्ररूपको वा। उक्तं च—अपगयनिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च। संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च। (धव. पु. ४, पृ. २); बज्झत्थवियप्पपरूवणा णिक्खेवो णाम, अणधिगदत्थणिराकरणदुवारेण अधिगदत्थपरूवणा वा। (धव. पु. ९, पृ. १४०, १४१); संशय-विपर्ययानध्यवसायस्थितं जीवं निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः, अप्रकृतापोहनमुखेन प्रकृतप्ररूपणाय अर्पितवाचकस्य वाच्यप्रमाणप्रतिपादनं वा निक्षेपः। (धव. पु. १३, पृ. ३८); संशयविपर्ययानध्यवसायेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः, बाह्यार्थविकल्पप्ररूपको वा। (धव. पु. १३, पृ. १९८)। ९. उपायः कारणम् आत्मादिज्ञानस्य नामादि न्यासो निक्षेप इष्यते। (न्यायकु.

५२, पृ. ६५७); नयधिगतानाम्—श्रुत-नयाधिगतानां द्रव्य-पर्यायरूपाणां जीवादीनाम्, वाच्यतामापन्नानाम्—साधारणस्वरूपाणाम्— × × × वाचकेषु जीवादिशब्देषु भेदेन संकर-व्यतिकरव्यतिरेकेणोपन्यासो जीवाद्यर्थानां प्ररूपणं न्यासो निक्षेप: इति यावत् । (न्यायकु. ७४, पृ. ८०४) । १०. धर्मिणि क्वचिद् धर्माणां नयाधिगतानां निक्षेपणं योजनम् अध्यारोपणं निक्षेप: । (सिद्धिवि. वृ. १२-१, पृ. ७३८) । ११. नियतं निश्चितं वा नामादिसम्भवत्पक्षरचनात्मकं क्षेपणं न्यसनं निक्षेप: । × × × अत्र संग्रहश्लोका:— × × × निक्षेपणं तु निक्षेपो नामादिन्यसनात्मक: ॥ × × × (उत्तरा. नि. शा. वृ. २८, पृ. १०); नियतं निश्चितं वा ऽऽसनम्—नामादिरचनात्मकं क्षेपण न्यास:, निक्षेप इत्यर्थ: । (उत्तरा. नि. शा. वृ. ६५, पृ. ७२) । १२. निक्षेपो नाम-स्थापना-द्रव्य-भावैर्वस्तुनो न्यास: । (समवा. अभय. वृ. १४०) । १३. निक्षेपणं निक्षेपो नामादिन्यास: । (व्यव. भा. मलय. वृ. १, पृ १) । १४. निक्षेपणं निक्षेपो नामादिभेदै: शास्त्रस्य न्यसनम् । (आव. नि. मलय. वृ. ७९) । १५. निक्षेपणं निक्षिप्यतेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वा निक्षेप:—उपक्रमानीतव्याचिख्यासितशास्त्रस्य नामादिभिर्न्यसनमित्यर्थ:, निक्षेपो न्यास: स्थापनेति पर्याया: । (जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ५) ।

१ जिसे रखा जाता है उसे निक्षेप कहा जाता है । यह अजीवाधिकरण का एक भेद है । २ लक्षण और विधान (भेद) पूर्वक विस्तार से जीवादि तत्त्वों के जानने के लिए जो न्यास—नाम-स्थापनादि के भेद से विरचना या निक्षेप—किया जाता है उसे निक्षेप कहते हैं । ६ द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का विषयभूत जो तत्त्वार्थ के ज्ञान का हेतु है वह निक्षेप कहलाता है । उसका प्रयोजन प्रस्तुत की व्याख्या करके संशय को दूर करना है ।

निक्षेपणासमिति—देखो आदान-निक्षेपणसमिति । यत्किंचिद् वस्तु पुस्तक-कमण्डलुमुख्यं क्वचिन्निक्षिप्यते मुच्यते ध्रियते तन्निक्षेपस्थानं दृष्ट्वा तथैव प्रतिलिख्य च ध्रियते मयूरपिच्छस्यासन्निधाने मृदुवस्त्रेण कयाचित्तथा क्रियते निक्षेपणानाम्नी पञ्चमी समिति: । (चा. प्रा. टी. ३६) ।

पुस्तक या कमण्डलु आदि कोई भी वस्तु जब कहीं पर रखी जाती है तब उसके रखने के स्थान को देखकर उसका मयूरपिच्छी से प्रतिलेखन करना (झाड़ना), अथवा उसके पास में न रहने पर कोमल वस्त्र से प्रतिलेखन करना, इसका नाम निक्षेपणासमिति है ।

निक्षेपणी कथा—ततो निक्षेपणी तत्त्वमतनिक्षेपकोविदाम् । (पद्मपु. १०६–९२) ।

यथार्थ मत के निक्षेप—प्रतिष्ठापन— में दक्ष (समर्थ) कथा निक्षेपणी कथा कहलाती है ।

निक्खोदिम (निक्खोदिम) — पोक्खरणी-वावी-कूव-तलाय-लेण-सुरंगादिदव्वं णिक्खोदणकिरिया-णिप्फण्णं णिक्खोदिमं णाम । णिक्खोदणं खणणमिदि वुत्तं होदि । (धव. पु. ९, पृ. २७३) ।

पुष्करिणी, बावड़ी, कुआं, तालाब, लयन (पर्वतीय पाषाणगृह) और सुरंग आदि द्रव्य जो खोदने रूप क्रिया से सिद्ध होते हैं उनका नाम निक्खोदिम या णिक्खोदिम है ।

निगडदोष—१. निगडपीडित इव पादयोर्महदन्तरालं कृत्वा यस्तिष्ठति कायोत्सर्गेण तस्य निगडदोष: । (मूला. वृ. ७–१७१) । २. निगडितस्येव विवृतपादस्य मिलितपादस्य वा स्थानं निगडदोष: । (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०, पृ. २५०) ।

१ सांकल के बन्धन से पीड़ित व्यक्ति के समान दोनों पैरों में भारी अन्तर कर जो कायोत्सर्ग से स्थित होता है वह निगड नामक कायोत्सर्ग दोष से लिप्त होता है । मूलाचार के अनुसार यह कायोत्सर्ग का सातवां और योगशास्त्र के अनुसार आठवां दोष है ।

निगम—१. निगमो वणिग्जननिवास: । (प्रश्नव्या. अभय. वृ. १७५) । २. निगम: प्रभूततरवणिग्वर्गावास: । (जीवाजी. मलय. वृ. १–३६, पृ. ४०) ।

१ जहां पर व्यापारी जन निवास करते हैं उसे निगम कहते हैं ।

निगमन—१. निगमणं नाम जत्थ पसाहिए अत्थे पडुच्चत्थहेऊणं पुणो कहणं कज्जइ एयं निगमणं । (दशवै. चू. १, पृ. ३९) । २. प्रतिज्ञायास्तु (उपसंहार:) निगमनम् । (परीक्षामु. ३–५१) । ३. प्रतिज्ञाया उपसंहार: साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनम् । (प्र. र. मा. ३–५१) ।

४. साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् । (प्र. न. त. ३, ४६)। ५. साध्यस्य निगमनम् । (प्रमाणमी. २, १, १५); साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसंहारो निगम्यन्ते पूर्वेषामवयवानामर्थोऽनेनेति निगमनम् । यथा तस्मा-दग्निमानिति । (प्रमाणमी. स्वो. वृ. २, १, १५) । ६. हेतुपूर्वकं पुन: पक्षवचनं निगमनम् । (न्यायदी. पृ. ७६) ।

१ जहां प्रसाधित अर्थ के विषय में अध्यात्म हेतुओं का फिर से कथन किया जाता है, इसे निगमन कहते हैं। २ प्रतिज्ञा के उपसंहार को—साध्यधर्मविशि-ष्टरूप से दिखलाने को—निगमन कहा जाता है।

निगमनाभास — १. उक्तलक्षणोल्लंघनेनोपनय-निगमनयोर्वचने तदाभासौ । × × × तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् कृतक: शब्द: इति, तस्मात् परिणामी कुम्भ इति च । (प्र. न. त. ६–८० व ६–८२) । २. अत्रापि साधनधर्मं साध्यधर्मिणि साध्यधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिणि उपसंहरतो निगमनाभास: । (रत्ना-करा. ६–८२) ।

२ साधनधर्म के साध्यधर्मी में या साध्यधर्म के दृष्टान्तधर्मी में उपसंहार करने को निगमनाभास कहते हैं।

निगोद—१. निगोदा जीवाश्रयविशेषा: । (जीवा-जी. मलय. वृ. ५, २, २३८, पृ. ४२३) । २. नियतां गां भूमिं क्षेत्रं निवासमनन्तानन्तजीवानां ददातीति निगोदम् । (गो. जी. जी. प्र. टी. १९१; कार्तिके. टी. १२१) ।

१ जीवों के आश्रयविशेषों का नाम निगोद है। २ जो अनन्तानन्त जीवों को नियत गो (भूमि या क्षेत्र) को देता है उसे निगोद कहते हैं।

निगोदजीव—जेसिमणंताणंतजीवाणमेक्कं चेव सरी-रं भवदि साधारणरूवेण ते णिगोदजीवा भण्णंति। (धव. पु. ३, पृ. ३५७); अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो । भावकलंकइपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ।। (धव. पु. ४, पृ. ४७७ उद्.); णिगोदेसु जीवंति, णिगोदभावेण वा जीवंति त्ति णिगोदजीवा । (धव. पु. ७, पृ. ५०६) ।

जिन अनन्तानन्त जीवों का साधारण रूप से एक ही शरीर होता है वे निगोदजीव कहलाते हैं।

निगोदशरीर—देखो निगोद । निगोदं शरीरं येषां ते निगोदशरीरा: । (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. १९१; कार्तिके. टी. १२१) ।

जिन जीवों का शरीर निगोद होता है वे निगोद-शरीर (निगोदिया) कहलाते हैं।

निग्रह—१. तस्य (योगस्य) स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनं निग्रह: । (स. सि. ९–४) । २. प्राकाम्याभावो निग्रह: । प्राकाम्यं यथेष्टं चारित्रम्, तस्याभावो निग्रह: इत्याख्यायते । (त. वा. ६, ४, २) । ३. आस्तां तावल्लाभादिरयमेव हि निग्रह: । न्या-येन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम् ।। (न्यायवि. २–२१४) । ४. प्राकाम्याभावो निग्रह: । (त. श्लो. ९–४) । ५. स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यवादिन: । (न्यायवि. वि. २–२१२, पृ. २४३) । ६. स: (स्वपक्षासिद्धिरूप: पराजय:) निग्रहो वादि-प्रति-वादिनो: । (प्रमाणमी. २, १, ३३) ।

१ योग की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को दूर करना, इसका नाम योग का निग्रह या गुप्ति है। ३ लाभ सुवर्णा-दि की प्राप्ति अथवा पूजादि की प्राप्ति के अभाव को निग्रह कहा जाय, यह तो रहे; वस्तुत: वाद में विजयाभिलाषी प्रवादियों के अभिप्राय का निरा-करण करना, इसे निग्रह का स्वरूप समझना चाहिए।

निग्रहबुद्धि—द्वेषवशादुपवासादिना शरीरादे: कद-र्थनाभिप्रायो निग्रहबुद्धि: । (समाधि. टी. ६१) ।

द्वेष के वश उपवासादि के द्वारा शरीरादि के पीड़ित करने के अभिप्राय को निग्रहबुद्धि कहते हैं।

निग्रहस्थान— × × × तस्मान्निराकृतपक्षत्वमेव निग्रहस्थानम् । (सिद्धिवि. वि. ५–६, पृ. ३३२) ।

अपने पक्ष के निराकृत (खण्डित) हो जाने का नाम निग्रहस्थान है।

नित्य—१. तद्भावाऽव्ययं नित्यम् । (त. सू. ५, ३१) । २. यत् सतो भावान्न व्येति, न व्येष्यति तन्नित्यमिति । (त. भा. ५–३०) । ३. अनाद्य-नन्तसर्वकालैकस्वरूपं नित्यम् । (आ. मी. वसु. वृ. १०) । ४. द्रव्यलक्षणान्तरंगनिमित्तयोगान्नित्य-त्वम् । (स्वयंभू. टी. ४३) । ५. पूर्वावस्थाविगमे-ऽप्युत्तरपर्यायसमुत्पादे हि । उभयावस्थाव्यापि च तद्भावाव्ययमुवाच तन्नित्यम् ।। (अध्यात्मक. २–१९) ।

१ तद्भाव—वस्तुस्वभाव—का विनाश न होना, इसका नाम नित्य है। अभिप्राय यह है कि वस्तु

जिस रूप से पूर्व में देखी गई है उस रूप का सदा बना रहना, यही उस वस्तु की नित्यता है। २ जो वस्तु सत्—अन्वयी अंश—से विनष्ट नहीं होती है उसे नित्य कहा जाता है।

नित्यनिगोत, नित्यनिगोद—१. त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः। (त. वा. २, ३२, २७)। २. जे सव्वकालं णिगोदेसु चेव अच्छंति ते णिच्चणिगोदा णाम। (धव. पु. १४, पृ. २३६)। ३. अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो। भावकलंकइपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति॥ (धव. पु. ४, पृ. ४७७ उद्; गो. जी. १९७)। ४. त्रसत्वं ये प्रपद्यन्ते कालानां त्रितयेऽपि नो। ज्ञेया नित्यनिगोतास्ते भूरिपापवशीकृताः॥ (अन. ध. स्वो. टी. ४-२२ उद्.)। ५. यैर्निगोदजीवैस्त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां परिणामः पर्यायः कदाचिदपि न प्राप्तः ते जीवा अनन्तानन्ता अनादौ संसारे निगोदभवमेवानुभवन्तो नित्यनिगोदसंज्ञा सर्वदा सन्ति। ××× एकदेशाभावविशिष्टसकलार्थवाचिना प्रचुरशब्देन कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशेर्निर्गत्य अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु मुक्तिं गतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभवं विमुच्य चतुर्गतिभवं गच्छन्तीत्ययमर्थः प्रतिपादितो ज्ञातव्यः। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. १९७)।

१ जो जीव तीनों ही कालों में त्रस पर्याय के योग्य नहीं होते हैं वे नित्यनिगोत या नित्यनिगोद कहलाते हैं। ५ गोम्मटसार जीवकाण्ड की उक्त गाथागत 'प्रचुर' शब्द के अनुसार आठ समय अधिक छह मासों के भीतर जब ६०८ जीव चतुर्गति सम्बन्धी जीवराशि में से निकल कर मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं तब उतने ही जीव नित्यनिगोद अवस्था को छोड़कर चतुर्गति जीवराशि में आ जाते हैं।

नित्यपिण्ड—प्रतिदिनं तवैतावन्मात्रं दास्यामि, मद्गृहे नित्यमागन्तव्यमिति निमंत्रितस्य नित्यं गृह्णतो नित्यपिण्डः। (प्रव. सारो. वृ. १०५, पृ. २५)।

आपके लिए मैं इतना आहार प्रतिदिन दूंगा, आप मेरे घर पर गोचरी के लिए प्रतिदिन आइये, इस प्रकार से निमंत्रित होकर प्रतिदिन गृहस्थ के घर जाने और आहार के ग्रहण करने पर नित्यपिण्ड नाम का दोष होता है।

नित्यपूजा—देखो नित्यमह। १. स्वगेहे चैत्यगेहे वा जिनेन्द्रस्य महामहः। निर्माप्यते यथाम्नायं नित्यपूजा भवत्यसौ॥ (भावसं. वाम. ५५५)। २. जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम्। यदर्च्यन्ते जिना युक्त्या नित्यपूजाऽभ्यधायि सा॥ (धर्मसं. श्रा. ९, २७)।

१ अपने घर पर अथवा चैत्यालय में जो आम्नाय के अनुसार जिनेन्द्र की पूजा की जाती है उसे नित्यपूजा कहते हैं।

नित्यमरण—नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। (त. वा. ७, २२, २; चा. सा. पृ. २३)।

प्रतिसमय जो आयु आदि का विनाश होता रहता है—उनकी उत्तरोत्तर हीनता होती जाती है—उसे नित्यमरण कहते हैं।

नित्यमह—देखो नित्यपूजा। १. तत्र नित्यमहो नाम शश्वत् जिनगृहं प्रति। स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्ध-पुष्पाक्षतादिका॥ चैत्य-चैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्। शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम्॥ या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी। स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः॥ (म. पु. ३८, २७-२९)। २. नित्यमहो नित्यं यथाशक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद् गन्ध-पुष्पाक्षतादिनिवेदनं चैत्य-चैत्यालयं कृत्वा ग्राम-क्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिपूजनं च। (चा. सा. पृ. २१; कार्तिके. टी. ३९१)। ३. प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवैश्चैत्यादिनिर्मापणम्। भक्त्या ग्राम-गृहादिशासनविधादानं त्रिसन्ध्याश्रया सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम्॥ (सा. ध. २-२५)। ४. तेषु नित्यमहो नाम स नित्यं यज्जिनोऽर्च्यते। नीतैश्चैत्यालयं स्वीयगेहाद् गन्धाक्षतादिभिः॥ (प्रतिष्ठासा. १-५)। ५. नित्यं स्वयं निजगृहाज्जल-चन्दनादि लात्वा जिनेन्द्रभवने किल भावशुद्ध्या। ईर्यापथप्रचलनेन शुभोपयोगादर्चा हि सा प्रतिदिनार्चनमुक्तमुच्चैः॥ (वसु. प्रति. १३-५५)।

१ निरन्तर अपने घर से जिनालय में गन्ध-पुष्पादि सामग्री को ले जाकर पूजा करना, प्रतिमा और

जिनालय आदि का भक्तिपूर्वक निर्माण कराना, राजनियमानुसार ग्रामादि का दान करना, तथा शक्ति के अनुसार दानपूर्वक सदा मुनि जनों की पूजा करना; इसे नित्यमह जानना चाहिए।

नित्यमित्र—१. यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम्। (नीतिवा. २३–२, पृ. २१६)। २. यः पुरुषः कारणं विना रक्ष्यो रक्ष्यते, वा विकल्पेन रक्षको भवति तन्नित्यं मित्रमुच्यते, तथा च नारदः—रक्ष्यते बध्यमानस्तु यश्चैनिष्कारणं नरः। रक्ष्येद्वा बध्यमानं तन्नित्यं मित्रमुच्यते। (नीतिवा. टी. २३–२, पृ. २१६)।

जो अकारण ही दूसरे के द्वारा रक्षणीय या दूसरे का रक्षक होता है उसे नित्यमित्र कहते हैं।

निदर्शन—निश्चयेन दर्श्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम्। (दशवै. नि. हरि. वृ. १–५२, पृ. ३४)।

जहां पर दार्ष्टान्तिकरूप अर्थ निश्चय से दिखाया जाता है उसे निदर्शन (दृष्टान्त) कहते हैं।

निदा—तत्र नितरां निश्चितं वा सम्यक् दीयते चित्तमस्यां इति निदा, × × × सामान्येन चित्तवती सम्यग्विवेकवती वा इत्यर्थः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१०, पृ. ५५७)।

जिस वेदना में अत्यन्त या निश्चितरूप से चित्त दिया जाता है वह निदा वेदना कहलाती है। अभिप्राय यह है कि सामान्य से चित्त वाली अथवा सम्यक् विवेकवाली वेदना को निदा कहा जाता है।

निदान—१. निदानं विषय-भोगाकांक्षा। (स. सि. ७–१८); भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्। (स. सि. ७–३७; त. श्लो. ७–३७); भोगाकाङ्क्षातुरस्यानागतविषयप्राप्तिं प्रति मनःप्रणिधानं संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धस्तुरीयमार्तं निदानम्। (स. सि. ९–३३)। २. कामोपहतचित्तानां पुनर्भवविषयसुखगृद्धानां निदानमार्तध्यानं भवति। (त. भा. ९–३४)। ३. परिच्छण्णकामभोगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगाभिकंखी सतिसमण्णागए यावि भवइ, तस्स परिच्छंति वा पत्थणंति वा णिद्दिसि वा अभिलासोत्ति वा तेप्पत्ति वा कंखंति वा एगट्ठा। (दशवै. चू. १, पृ. ३०)। ४. देविंद-चक्कवट्टित्तणाइगुणरिद्धिपत्थणामइयं। अहमं णियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं॥ (ध्यानश. ९)। ५. भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्। विषयसुखोत्कर्षाभिलाषो भोगाकाङ्क्षा, तया नियतं चित्तं दीयते तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्। (त. वा. ७, ३७, ६); सुषमात्रया प्रलम्भितस्याप्राप्तपूर्वप्रार्थनाभिमुख्यादनागतार्थप्राप्तिनिबन्धनं निदानम्। (त. वा. ९–३३)। ६. निदायते लूयतेऽनेनेति निदानम् अध्यवसायविशेषः, देवेश्वर-चक्रवर्ति-केशवादीनामृद्धिं विलोक्य तदीययोषितां वा सौभाग्यगुणमप्रदमासंध्यानाभिमुखीकृतः महामोहपाशसम्भूतः भूरितपश्चितापरिखेदितमनसाऽध्यवस्यति—ममाप्यमुष्य तपसः प्रभावादेवंविधा एव भोगा भवेयुर्जन्मान्तरे सौभाग्यादिगुणयोगश्चेत्येवं निदाति लुनाति अङ्कुरवत् छिनत्ति मोक्षं सुखमिति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७-१३); निपूर्वाद्दातेर्लवनार्थस्य ल्युटि रूपम्, निदायते लूयते येनात्मीहितमैकान्त्यन्तिका (सिद्ध. वृ. 'मैकान्तिकात्यन्तिका')नाबाधसुखलक्षणं तन्निदानम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–३४)। ७. निदानं दिव्यमानुषर्द्धिसन्दर्शन-श्रवणाभ्यां तदभिलाषानुष्ठानम्। (श्राव. नि. हरि. वृ. ४, १५७१)। ८. चक्कवट्टि-बल-णारायण-सेट्ठि-सेणावइ-पदादिपत्थणं णिदाणं। (धव. पु. १२, पृ. २८४)। ९. निदानविषयः स्मृतिसमन्वाहारः निदानम्। (त. श्लो. ९, ३३)। १०. निदानम्—अवखण्डनं तपसश्चारित्रस्य वा, यदि अस्य तपसो ममास्ति फलं ततो जन्मान्तरे चक्रवर्ती स्यामर्धभरताधिपतिर्महामण्डलिकः सुभगो रूपवानित्यादि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७, १२)। ११. पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्। पूजा-सत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम॥ इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा। यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्तं तत्तुरीयकम्॥ (ज्ञाना. २५–३६, पृ. २६०)। १२. निदानं विषयभोगाकांक्षा। (चा. सा. पृ. ४); विषयसुखोत्कर्षाभिलाषभोगकांक्षतया नियतं चित्तं दीयते तस्मिन् तेनेति वा निदानम्। (चा. सा. पृ. २४)। १३. निर्विकारपरमचैतन्यभावनोत्पन्नपरमाह्लादैक-

कपकुक्कवपुरस्सास्वादमलभमानोऽयं जीवो दृष्ट-श्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतं निरन्तरं चित्तं ददाति तन्निदानशल्यम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२)। १४. इह लोके यदि मम पुत्राः स्युः, परलोके यद्यहं देवो भवामि, स्त्री-वस्त्रादिकं मम स्यादित्येवं चिन्तनं चतुर्थं (निदानं) आर्तध्यानम् । (मूला. वृ. ५–१६८) । १५. नानोपायचयेन नीचचरितैर्भ्रान्त्वा विशालामिलामाभीलं मकराकरं च बहुशो तुच्छेच्छया प्राप्य यत् । प्राप्यं पुण्यवता अनेन कनकं कान्तं च कान्तादिकं तत्कांक्षाक्षुभिता मतिर्बत निदानार्तं महातिप्रदम् ॥ (आचा. सा. १०–१७) । १६. निदानं देवादिऋद्धीनां दर्शन-श्रवणाभ्यामितो ब्रह्मचर्यादेरनुष्ठानाग्ममैता भूयासुरित्यध्यवसायः । (समवा. अभय. वृ. ३) । १७. ऋद्धिभोगादिप्रार्थना निदानम् । (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०२); नितरां दीयते लूयते मोक्षफलमनिन्द्यब्रह्मचर्यादिसाध्यं कुशलकर्म-कल्पतरुवनमनेन देवर्द्ध्यादिप्रार्थनापरिणामनिशितासिनेति निदानम् । (स्थाना. अभय. वृ. ३, ३, १८२, पृ. १४६) । १८. देवेन्द्र-चक्रवर्त्यादिविभवप्रार्थनारूपं निदानम् । (योगशा. स्वो. विव. ३, ७३) । १९. निदानं भाविभोगाद्याकांक्षणम् । (रत्नक. टी. ५–८) । २०. निदानं तपःसंयमाद्यनुभावेन कांक्षाविशेषः । (सा. ध. ४–१); निदानमस्मात्तपसः सुदुश्चराज्जन्मान्तरे इन्द्रश्चक्रवर्ती धरणेन्द्रो वा स्यामहमित्येवमागामिनाभ्युदयाकांक्षा । (सा. ध. ८–४५) । २१. निदानं विषयसुखाभिलाषः । (त. वृत्ति श्रुत. ७–१८) । २२. निदानशल्यं विषयसुखाभिलाषः । (कार्तिके. टी. ३२६); निदानम् इहलोक-परलोकसुखाभिलाषलक्षणम् । (कार्तिके. टी. ३२६); दृष्ट-श्रुतानुभवेह-परलोकभोगाकांक्षाभिलाषः निदानं चतुर्थमार्तध्यानं स्यात् । (कार्तिके. टी. ४७३–७४) ।

१ विषयसुख की अभिलाषा रूप भोगाकांक्षा से जिसमें या जिसके द्वारा नियमित चित्त दिया जाता है वह निदान कहलाता है । × × × भोगाकांक्षा से व्याकुल हुआ प्राणी भविष्य में विषयसुख की प्राप्ति के लिए जो मन से अनेक प्रकार का विचार करता है, इसे निदान नामक चौथा आर्तध्यान कहा जाता है । २ मन में काम से पीड़ित होकर प्राणी जो सांसारिक सुख में गृद्धि को प्राप्त होते हैं, वह निदान नामक चौथा आर्तध्यान है । १० यदि इस तप या चारित्र का कुछ फल मुझे प्राप्त होने वाला है तो उसके प्रभाव से मैं भवान्तर में चक्रवर्ती, अर्धचक्री, महामाण्डलिक, सुभग और सुन्दर होऊं; इस प्रकार के विचार से जो अनुष्ठित तप व चारित्र का खण्डन करना है, इसका नाम निदान है । (यह शल्य के अन्तर्गत, आर्तध्यान के अन्तर्गत तथा सल्लेखना के अतिचारों के अन्तर्गत है ।)

निदानमरण— ऋद्धि-भोगादिप्रार्थना निदानम्, तत्पूर्वकं मरणं निदानमरणम् । (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०२, पृ. ८६) ।

ऋद्धि और भोगों की अभिलाषा को निदान कहते हैं । इस निदानपूर्वक जो मरण होता है उसे निदानमरण कहते हैं ।

निद्रा—१. मद-खेद-क्लमविनोदार्थः स्वापो निद्रा । (स. सि. ८–७; त. श्लो. ८–७; मूला. वृ. १२, १८२) । २. यान्तं संस्थापयत्याशु स्थितमासयते शनैः । आसीनं शाययत्येव निद्रायाः शक्तिरीदृशी ॥ (वरांगच. ४–४३) । ३. मद-खेद-क्लमविनोदार्थः स्वापो निद्रा । मद-खेद-क्लमानां विनोदाय यः स्वापो सा निद्रा इत्युच्यते । × × × यत्सन्निधानादात्मा निद्रायते कुत्स्यते सा निद्रा । द्रायतेर्वा स्वप्नक्रियस्य निद्रा । (त. वा. ८, ७, २); निद्रा-निद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोऽवस्था । निद्राया उदयात् तमोऽवस्था × × × संजायते । (त. वा. ८, ७, १५) । ४. स्वापो निद्रा सुखप्रतिबोधलक्षणा । (त. भा. हरि. वृ. ८–८) । ५. णिद्दाए तिव्वोदएण अप्पकालं सुवइ, उट्ठाविज्जंतो लहुं उट्ठेदि, अप्पसद्देण वि चेअइ । (धव. पु. ६, पृ. ३२); जिस्से पयडीए उदएण अद्धजगंतओ सोवदि, धूलीए भरिया इव लोयणा होंति, गुरुवभारेणोट्ठद्धं व सिरमइभारियं होइ सा णिद्दा णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३५४) । ६. मद-खेदविनोदार्थः स्वापो निद्राविकल्पतः । (ह. पु. ५८–२२७) । ७. × × × सुहपडिबोहो णिद्दा × × × ॥ (कर्मवि. २२) । ८. णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेइ । (गो. क. २४) । ९. नितरां द्रान्ति—गच्छन्ति कुत्सितावस्थामिहामुत्र चानयेति निद्रा । (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४, पृ. १९०) । १०. 'द्रा' कुत्सायां गतौ नियतं द्राति कुत्सिततत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा

सुखप्रबोधा स्वापावस्था, नखच्छोटिकामात्रेणापि यत्र प्रबोधो भवति। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रेति कार्येण व्यपदिश्यते। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १४)। ११. सुखप्रबोधा स्वापावस्था निद्रा। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, ८९)। १२. नितरां द्राति—कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यमनयेति निद्रा, ××× सुखप्रबोधा स्वापावस्था, यत्र नखच्छोटिकामात्रेणापि पुंसः प्रबोधः संपद्यते। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारान्निद्रा। (कर्मसं. मलय. वृ. ११०)। १३. 'द्रा' कुत्सायाम्, नियतं द्राति कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यस्यां स्वापावस्थायां सा निद्रा, यदि वा 'द्रै स्वप्ने' निद्राणं निद्रा नखच्छोटिकामात्रेण यस्यां प्रबोध उपजायते सा स्वापावस्था निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा, कारणे कार्योपचारात्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४६७)। १४. दर्शनावरणीयकर्मोदयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा। (नि. सा. वृ. ६)। १५. भुक्तान्नपरिणाम-मद-खेद-क्लमादेर्विनोदार्थो निद्राख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकनिमित्तो जीवस्येन्द्रियात्ममनोमरुत्सूक्ष्मावस्थालक्षणः स्वापो निद्रा। (भ. आ. मूला. २०६४)। १६. का निद्रा मूढता जन्तोः। (प्रश्नो. मा. ११)। १७. यदुदयात् मद-खेद-क्लमव्यपनोदार्थं स्वापः तन्निद्रादर्शनावरणम्। (गो. क. जी. प्र. टी. ३३)। १८. सर्वदोषिद्रकेवलज्ञान-दर्शननेत्रपरमात्मपदार्थविलक्षणनिद्रादर्शनावरणकर्मोदयेन स्वापलक्षणा निद्रा। (आरा. सा. टी. २६, पृ. ३५–३६)। १९. मद-खेद-क्लमविनाशार्थं स्वपनं निद्रा। (त. वृत्ति श्रुत. ८–७)।

१ मद, खेद व थकावट को दूर करने के लिए जो शयन किया जाता है उसे निद्रा कहते हैं। ४ जिस स्वाप (शयन) में सुखपूर्वक जागरण होता है उसका नाम निद्रा है। १० जिसमें चेतनता कुत्सितपने या अस्पष्टता को प्राप्त होती है उस स्वाप अवस्था को निद्रा कहा जाता है। अथवा जिसमें नखच्छोटिका मात्र से सुखपूर्वक जागरण हो जाता है उसे निद्रा कहते हैं। इसका वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति (निद्रादर्शनावरण) को भी निद्रा कहा जाता है।

निद्राद्विकस्य जघन्य स्थितिसंक्रम—१. निद्दादुगस्स साहियआवलियदुगं तु साहिए तंसे। (पंचसं. सं. क. ४८)। २. निद्राद्विकस्य निद्रा-प्रचलारूपस्य स्वसंक्रमान्ते स्वस्थितेरुपरितनी या एकसमयमात्रा स्थितिः सा 'त्र्यंशे'—त्रस एव समयमात्रायाः स्थितेरनन्तरमधस्तन्यामावलिकाया अधस्तने त्रिभागे—साधिके—समयाधिके प्रक्षिप्यते स जघन्यः स्थितिसंक्रमः। इदमुक्तं भवति—क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थो निद्राद्विकस्य द्वयोरावलिकयोस्तृतीयस्यावलिकाया असंख्येयतमे भागे वर्तमानः सर्वोपरितनीं समयमात्रां स्थितिमपवर्तनाकरणेनाधस्तन्यामावलिकायास्त्रिभागे समयाधिके यत्प्रक्षिप्यते स निद्राद्विकस्य जघन्यस्थितिसंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. सं. क. ४८, पृ. ५०–५१)।

क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ संयत निद्रा और प्रचला की दो आवली तथा तृतीय आवली के असंख्यातवें भाग में वर्तमान होता हुआ समय प्रमाण सब उपरिम स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा जो अधस्तन आवली के तृतीय भाग में प्रक्षिप्त करता है उसे निद्रा व प्रचला इन दोनों का जघन्य स्थितिसंक्रमण कहते हैं।

निद्रानिद्रा—१. तस्याः (निद्रायाः) उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। (स. सि. ८–७; मूला. वृ. १२, १८८; त. श्लो. ८–७)। २. वृक्षाग्रे वाथ रथ्यायां तथा जागरणेऽपि वा। निद्रानिद्राप्रभावेन न दृष्टयुद्घाटनं भवेत्॥ (वरांगच. ४–५०)। ३. उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्रा। तस्या निद्राया उपर्युपरि पुनः पुनर्वृत्तिः निद्रानिद्रा इत्युच्यते। (त. वा. ८, ७, ३)। ४. णिद्दाणिद्दाए तिव्वोदएण रुक्खग्गे विसमभूमीए जत्थ वा तत्थ वा देसे घोरंतो अघोरंतो वा णिब्भरं सोवदि। (धव. पु. ६, पृ. ३१); जिस्से पयडीए उदएण अइणिब्भरं सोवदि, अण्णेहि उट्ठाविज्जंतो वि ण उट्ठइ, स णिद्दाणिद्दा णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५४)। ५. उपर्युपरि तद्वृत्तिनिद्रानिद्राभिधीयते। (ह. पु. ५८–२२७)। ६. बीया पुण निद्दनिद्दा य॥ सा दुक्खबोहणीया ×××। (कर्मवि. ग. २२–२३)। ७. णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को। (गो. क. २३)। ८. निद्रातोऽभिहितस्वरूपाया अतिशायिनी निद्रानिद्रा, शाकपार्थिवादिदर्शनात् 'मयूरव्यंसकादयः' इति मध्यमपदलोपी समासः, तस्यां हि चैतन्य-

स्यात्यन्तमस्फुटीभूतत्वात् बहुभिर्घोलनाप्रकारैः प्रबोधो भवति, ततः सुखप्रबोधहेतुनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या प्रकृतिरपि निद्रानिद्रा उपचारात् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३)। ९. निद्रातोऽभिहितस्वरूपाया अतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, × × × दुःखप्रबोधात्मिका स्वापावस्था । यस्यामस्फुटीभूतचैतन्यभावतो दुःखेन प्रभूतैर्घोलनादिभिः प्रबोधो जन्यत इति । (धर्मसं. मलय. वृ. ६१०)। १०. तथा निद्रातिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः, सा पुनर्दुःखप्रबोधा स्वापावस्था । तस्यां ह्यत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वाद् दुःखेन बहुभिर्घोलनादिभिः प्रबोधो भवति, अतः सुखप्रबोधनिद्रापेक्षयाऽस्या अतिशायिनीत्वम् । तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिः कार्यद्वारेण निद्रानिद्रेत्युच्यते । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १४) । ११. निद्राया उपरिउपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा निद्रानिद्रादर्शनावरणकर्मविशेषोदयजन्यश्चेतनस्य दुःखप्रतिबोधस्वापपरिणामः । उक्तं च—णिद्दाणिद्दा य दुक्खपडिबोहा । (भ. आ. मूला. २०९४) । १२. निद्रायाः पुनः पुनः प्रवृत्तिर्निद्रानिद्रा । (त. वृत्ति. श्रुत. ८–७) ।

१ नींद के ऊपर जो बार-बार नींद आती है उसे निद्रानिद्रा कहा जाता है । २ निद्रानिद्रा के वशीभूत हुआ प्राणी वृक्ष के अग्र भाग पर व गली में भी सो जाता है, जागने पर भी आंखें नहीं खुलतीं । ३ निद्रानिद्रा के प्रभाव से प्राणी को नींद के ऊपर बार बार नींद आती है ।

निधत्त—१. जं पदेसग्गं ण सक्कमुदए दादुं अण्णपयडिं वासंकामेदुं तं णिधत्तं णाम । (धव. पु. ९, पृ. २३५); जं पदेसग्गं णिधत्तीकयं उदए दादुं णो सक्कं, अण्णपयडिं संकामिदुं पि णो सक्कं, ओकड्डिदुमुक्कड्डिदुं च सक्कं; एवंविहस्स पदेसग्गस्स णिधत्तमिदि सण्णा । (धव. पु. १६, पृ. ५१६); अमोकड्डिज्जदि, उक्कड्डिज्जदि, परपयडिं ण संकामिज्जदि उदए ण दिज्जदि पदेसग्गं तं णिधत्तं णाम । (धव. पु. १६, पृ. ५७६) । २. उवट्टण-ओवट्टणावज्जकरणाणं अजोग्गत्तेण ववत्थावणं णिहत्तीकरणं । अहवा पुव्वपुट्ठस्स कम्मस्स तत्तसंमेलियलोहसलागासंबंधसरिसकिरिया निहत्ती । (कर्मप्र. चू. २, पृ. १८) । ३. उदये संकममुदये चउसु वि दादुं कमेण णो सक्कं । उवसंतं च णिधत्तं णिकाचिदं होदि जं कम्मं । (जं कम्मं संकममुदए दादुं णो सक्कं तं णिधत्तं होदि) । (गो. क. ४४०) । ४. निधत्तिरुद्वर्तना-संक्रमरूपैस्त्रिभिः करणैरंदन्यथाकर्तुं न शक्यते । (षडशी. हरि. वृ. ११, पृ. १५)। ५. उद्वर्तनापवर्तनावर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनं निधत्तिः । (कर्मप्र. मलय. वृ. बं. क. २, पृ. १७) । ६. निधीयते उद्वर्तनापवर्तनावर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते यया सा निधत्तिः । (पंचसं. मलय. वृ. बं. क. १, पृ. २; कर्मप्र. यशो. वृ. बं. क. २, पृ. १८) । ७. यत् कर्म उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रमयितुं चाशक्यं तन्निधत्तिनाम । (गो. क. जी. प्र. ४४०) ।

१ जो कर्म का प्रदेशपिण्ड न तो उदय में दिया जा सके और न अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त भी किया जा सके उसे निधत्त या निधत्ति कहा जाता है । २ उद्वर्तना और अपवर्तना करणों को छोड़कर शेष करणों के अयोग्य रूप से जो कर्म को व्यवस्थापित किया जाता है उसे निधत्तिकरण कहते हैं ।

निधत्ति—देखो निधत्त ।

निन्दा—१. तथ्यस्य वा अतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा । (स. सि. ६–२५) । २. सचरित्तपच्छयावो निन्दा × × × । (आव. नि. १०६१) । ३. दोषोद्भावनेच्छा निन्दा । तथ्यस्य वा अतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रतीच्छा मनःपरिणामोऽवक्षेपो निन्दा । (त. वा. ६, २५, १) । ४. अत्रात्मसाक्षिकी निन्दा । (दशवै. सू. हरि. वृ. ४–२, पृ. १४४; स्थाना. अभय. वृ. ३, ३, १६८; योगशा. स्वो. विव. ३–८२; कार्तिके. टी. ३२६) । ५. दोषोद्भावनेच्छा निन्दा । (त. श्लो. ६–२५) । ६. सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्र-पात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीत इत्यन्तःसन्तापो निन्दा । (भ. आ. विजयो. ८७) । ७. कान्ता-पुत्र-भ्रातृ-मित्रादिहेतोः शिष्ट-द्विष्टे निर्मिते कार्यजाते । पश्चात्तापो यो विरक्तस्य पुंसो निन्दा सोक्ताऽबद्धवृक्षस्य दात्री । (अमित. श्रा. २–७६) । ८. सचरित्रस्य सत्त्वस्य पश्चात्तापः स्वप्रत्यक्षं जुगुप्सा निन्दा । उक्तं च—आत्मसाक्षिकी निन्देति । (आव. मलय. वृ. १०६१) । ९. निन्दन—सर्वसंगत्यागो जिनोपज्ञ[ज्ञो]मुक्तिमार्गः, मया पुनः पापेन

परीषहभीरुतया वस्त्र-पात्रादिरन्यो गृहीत इत्यन्तः-सन्तापरूपा निन्दा। (भ. आ. मूला. ८७)।

१ यथार्थ व अयथार्थ दोषों के प्रकट करने की जो इच्छा होती है उसे निन्दा कहा जाता है। २ चारित्रयुक्त जीव के जो अपने आप पश्चात्ताप होता है उसे निन्दा कहते हैं।

निबन्धन—निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम्। जं दव्वं जम्हि णिबद्धं तं णिबंधणं। (धव. पु. १५, पृ. १)।

जो द्रव्य जिसमें सम्बद्ध है उसे निबन्धन कहते हैं।

निमग्ना—णियजलभरउवरिगदं दव्वं लहुगं पि णेदि हेट्ठम्मि। जेणं तेणं भण्णइ एसा सरिया णिमग्ग त्ति ॥ (ति. प. ४-२३६; त्रि. सा. ५९५)।

अपने जलप्रवाह में पड़े हुए लघु (हलके) द्रव्य को भी जो नदी नीचे ले जाती है उसका नाम निमग्ना है।

निमंत्रणा—१. ××× णिमंतणा होइऽगहिएणं। (आव. नि. हरि. वृ. ६९७)। २. तथा निमंत्रणा भवत्यगृहीतेनाशनादिना अहं भवतोऽशनाद्यानयामीति। (आव. हरि. वृ. ६९७)। ३. निमंत्रणं अहं ते भक्तं लब्ध्वा दास्यामीति। उक्तं च—पुव्वगहिएण छंदण निमंतणा होइऽगहिएणं। (अनुयो हरि. वृ. पृ. ५८)।

२ 'मैं आपके लिए भोजन लाता हूं' इस प्रकार अगृहीत भोजन आदि के आश्रय से निमंत्रणा होती है।

निमित्त—१. तिविहं होइ निमित्तं, तीय पडुप्पन्नऽणागयं चेव। तेण न विणा उ नेयं नज्जइ तेणं निमित्तं तु ॥ (बृहत्क. भा. १३१३)। २. अतीत-भविष्यद्वर्तमानकालत्रयवर्तिलाभादिभावकथनं निमित्तं भवति। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८३; प्रव. सारो. वृ. ११४)। ३. तीयाइभावकहणं होइ निमित्तं ×××। (प्रव. सारो. ११४)।

१ तीनों काल सम्बन्धी लाभ-अलाभ का कारणभूत निमित्तशास्त्र अतीतादि के भेद से तीन प्रकार का है। चूंकि ऐसे (चूडामणि आदि) शास्त्र के बिना लाभालाभादि का ज्ञान सम्भव नहीं है, अतः उनके जानने का निमित्त होने से उसे निमित्तशास्त्र कहा जाता है।

निमित्तकुशील—कश्चिन्निमित्तकुशीलः अष्टांगनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशीलः। (भ. आ. विजयो. टी. १९५०)।

अष्टांग निमित्तको जानकर जो अन्य जनों को आदेश देता है उसे निमित्तकुशील कहते हैं।

निमित्तदोष—१. वंजणमंग च सरं छिण्णं भूमं च अंतरिक्खं च। लक्खण सुविणं च तहा अट्ठविहं होइ णेमित्तं ॥ (मूला. ६-३०)। २. अंगं स्वरो व्यंजनं लक्षणं छिन्नं भौमं स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४९)। ३. निमित्तेन भिक्षामुत्पाद्य यदि भुंक्ते तदा तस्य निमित्तनामोत्पादनदोषः। (मूला. वृ. ६-३०)। ४. स्वरान्तरिक्ष-भौमांग-व्यंजन-छिन्नलक्षणम्। स्वप्नाष्टांगनिमित्तैर्यन्निमित्तमशनार्जनम् ॥ (आचा. सा. ८-३९)। ५. अंगादिनिमित्तोपदेशाल्लब्धा निमित्तदुष्टा। (भ. आ. मूला. टी. २३०)। ६. स्वरान्तरिक्ष-भौमाङ्ग-व्यञ्जन-छिन्न-लक्षण-स्वप्नाष्टाङ्गनिमित्तैरशनार्जनं निमित्तम्। (भावप्रा. टी. ९९)।

१ व्यंजन, अंग, स्वर, छिन्न, भौम, अन्तरिक्ष, लक्षण और स्वप्न; यह आठ प्रकार का निमित्त है। इस निमित्त के द्वारा भिक्षा को उत्पन्न करके ग्रहण करना, यह निमित्तनामक उत्पादनदोष है। २ अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष इस प्रकार के निमित्त के उपदेश द्वारा जो वसतिका प्राप्त की जाती है वह निमित्तदोष से दुष्ट होती है।

निमित्तपिण्ड—१. निमित्तम् अङ्गुष्ठप्रश्नादि, तदवाप्तो निमित्तपिण्डः। (आचारा. सू. शी. वृ. २७३, पृ. ३२०)। २. अतीतानागत-वर्तमानकालेषु लाभालाभादिकथनं निमित्तम्, तद् भिक्षार्थं कुर्वतो निमित्तपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८)।

१ अंगुष्ठप्रश्न आदि निमित्तविशेष के निमित्त से भोजन प्राप्त करने पर निमित्तपिण्ड नामक दोष का भागी होता है। २ अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीन कालविषयक लाभालाभादि के कहने का नाम निमित्त है। उसे भिक्षा का साधन बनाने से निमित्तपिण्ड नामका उत्पादनदोष होता है।

निमित्तशुद्धि—निमित्तशुद्धिः तत्कालोच्छलितशङ्ख-पणवादिनिनादश्रवण - पूर्णकुम्भ-भृंगार-छत्र- ध्वज-

चामरावलोकन-सुगन्धाघ्राणादिस्वभावा। (भ. वि. मू. वृ. ३-१४)।

उस समय उठते हुए शंख व ढोल आदि के शब्द को सुनना तथा जलपूर्ण कलश, भृंगार, छत्र, ध्वजा एवं चमर आदि को देखना और उत्तम गन्धादि का सूंघना; यह निमित्तशुद्धि का स्वरूप है।

निमित्तसम्यग्दर्शन—निमित्तं तु यद् यद् बाह्यं वस्तूत्पद्यमानस्य सम्यग्दर्शनस्य प्रतिमादि तद् तत् सर्वमागृहीतम्, ततो निमित्तात् प्रतिमादिकात् सम्यक्त्वं निमित्तसम्यग्दर्शनमुच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३, पृ. ४०)।

जो जो प्रतिमादिरूप वस्तु उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन का निमित्त होती है उसके निमित्त से उत्पन्न होने वाले उस सम्यग्दर्शन को निमित्त-सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

निमिष—१. नयनपुटघटनायत्तो निमिषः। (पंचा. अमृत. वृ. २५)। २. नयनपुटविघटनेन व्यज्यमानः संख्यातीतसमयो निमिषः। (पंचा. जय. वृ. २५)। ३. तादृशैरसंख्यातसमयैः निमिषः अथवा नयनपुट-घटनायत्तो निमेषः। (नि. सा. वृ. ३१)।

१ नेत्रपुटों की घटना के अधीन काल को निमिष कहते हैं। अभिप्राय यह है कि आंखों के पलकों के मिलने में जितना समय लगता है उतने समय का नाम निमिष या निमेष है।

नियतिवाद—१. जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा। तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु॥ (गो. क. ८८२)। २. जेण जदा जं तु जहा णियमेण य जस्स होइ तं तु तदा। तस्स तहा तेण हवे इदि वादो णियदिवादो दु॥ (अंगप. २-२२)।

१ जो जिस समय में, जिससे, जैसे और जिसके नियम से होता है वह उस समय, उसीके द्वारा, उसी प्रकार से और उसके होता ही; इस प्रकार के कथन को नियतिवाद कहते हैं।

नियम—१. णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाण-दंसण-चरित्तं॥ (नि. सा. ३)। २. नियमः परिमि-तकालो ××× ॥ (रत्नक. ८७)। ३. ×× × यावज्जीवनियमः स्मृतः॥ (उपासका. ७६१)। ४. विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः। (नीतिवा. १-२१, पृ. १५)। ५. यः सहजपरम-पारिणामिकभावस्थितः स्वभावानन्तचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतनापरिणामः स नियमः। (नि. सा. वृ. ३)। ६. ××× नियमः कालसीमकृत्॥ (धर्मसं. श्रा. ७-१९)।

१ नियम से करने योग्य कार्य को नियम कहा जाता है। वह ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है। २ नियमित काल के लिए किये गये त्याग को नियम कहते हैं।

नियमनिषिद्ध—आवस्सयंमि जुत्तो नियमणिसिद्धो-त्ति होइ नायव्वो। अहवाऽवि णिसिद्धप्पा णियमा आवस्सए जुत्तो॥ (आव. भा. १२२, पृ. २६७)।

मूल और उत्तर गुणों के अनुष्ठान स्वरूप आवश्यक में जो युक्त है उसे नियमनिषिद्ध—नियम से मूल व उत्तर गुणों के अतिचारों से रहित—जानना चाहिए। अथवा निषिद्धात्मा—उक्त अतिचारों से रहित जीव—उक्त लक्षण आवश्यक में युक्त होता ही है। इस प्रकार आवश्यकी और नैषेधिकी दोनों क्रियाओं को समानार्थक समझना चाहिए।

नियाग—नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यम्, न त्वनामन्त्रितस्य। (दशवै. सू. हरि. वृ. ३-२, पृ. ११६)।

सदा आमंत्रित आहार को ही ग्रहण करना, अना-मंत्रित को ग्रहण न करना; इसका नाम नियाग है। यह संयमी साधु का अनाचरित है।

नियोग—अहिगो जोगो निजोगो अहाहदाहो भवे निदाहो त्ति। अत्थनिउत्तं सुत्तं पसवइ चरणं जओ मुक्खो॥ (बृहत्क. १९४)।

'नि' का अर्थ अधिकता है। सूत्र के साथ अर्थ के अधिक योग को नियोग कहते हैं। अर्थ की अधि-कता से नियुक्त सूत्र उस चरित्र को उत्पन्न करता है जिस के आश्रय से मुक्ति प्राप्त होती है।

नियंसण—१. पाडगणियंसणभिक्खापरिमाणं—इमम् एव पाटकं प्रविश्य लब्धां भिक्षां गृह्णामि, नान्यम्; एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेवेति। अस्य गृहस्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि, न गृहमित्यमभिग्रहः णियंसणमित्युच्यते इति केचिद् वदन्ति। अपरे तु पाटस्य भूमिमेव प्रविशामि, न पाटगृहाणि इति संकल्पः पाडगणियंसणमित्युच्यते इति कथयन्ति। (भ. आ. विजयो. टी. २१९)।

२. पाटकनियंत्रणपरिमाणम्—एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेव वा प्रविश्य भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणम्। यदि वा अस्य गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि, न गृहम्, इत्येवं ग्रहेण भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणम्। अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति भिक्षासंकल्पं पाटकनिवसनपरिमाणमाहुः। (भ. आ. मूला. २१६)।

१ इस मुहल्ला अथवा गली में प्रवेश करके प्राप्त भिक्षा को ग्रहण करूंगा, अथवा एक ही या दो मुहल्लों में प्रवेश करके प्राप्त भिक्षा को ग्रहण करूंगा, दूसरे मुहल्ले में प्रवेश न करूंगा; इस प्रकार के नियम का नाम निवसन है। कितने ही आचार्यों का कहना है कि इस घर के परिकर (परिवार) स्वरूप से स्थित भूमि में प्रवेश करूंगा, घर में नहीं; इस प्रकार की प्रतिज्ञा को निवसन कहा जाता है। अन्य आचार्यों का अभिमत है कि मुहल्ले की भूमि में ही प्रवेश करूंगा, घरों में नहीं; इस प्रकार के नियम को पाडानिवसन कहते हैं।

निरत—देखो नारक। हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु व्यापृताः निरताः। (धव. पु. १, पृ. २०१)।

जो हिंसादिरूप असदाचरण में उद्यत रहते हैं उन्हें निरत या नारक कहा जाता है।

निरतगति—देखो नारकगति। तेषां (निरतानां) गतिर्निरतगतिः। (धव. पु. १, पृ. २०१)।

निरतों (नारकों) की गति को निरतगति (नारकगति) कहते हैं।

निरतिचार छेदोपस्थापन—१. तत्र निरतिचारमित्वरसामायिकस्य शैक्षकस्य यदारोप्यते, यद्वा तीर्थान्तरप्रतिपत्तौ—यथा पार्श्वस्वामितीर्थाद् वर्द्धमानतीर्थं संक्रामतः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०४)। २. तत्र शिक्षकस्य निरतिचारमधीतविशिष्टाध्ययनविदः, मध्यमतीर्थंकरशिष्यो वा यदोपसम्पद्यते चरमतीर्थंकरशिष्याणामिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६, १८)। ३. तत्र निरतिचारं यत् इत्वरसामायिकवतः शैक्षस्यारोप्यते, तीर्थान्तरसङ्क्रान्तौ वा—यथा पार्श्वनाथतीर्थाद् वर्द्धमानस्वामितीर्थं संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ। × × × उक्तं च—सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा। (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. ११६)।

१ इत्वरसामायिक वाले शिष्य साधु के पूर्व पर्याय को छेद कर जो उसका फिर से आरोपण किया जाता है उसे, अथवा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ को प्राप्त होने पर—जैसे पार्श्वनाथ के तीर्थ से वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ में संक्रमण करने वाले साधु के जो चारित्र होता है उसे निरतिचार छेदोपस्थापन कहते हैं।

निरतिचारिता—देखो अतिचार। सुरापाण मांसभक्खण-कोह-माण-माया लोह-हस्स रइ- [अरइ-] सोग-भय-दुगुंछित्थि-पुरिस-णवुंसयवेयापरिच्चागो अदिचारो। एदेसिं विणासो णिरदिचारो संपुण्णदा, तस्स भावो णिरदिचारिदा। (धव. पु. ८, पृ. ८२)।

मद्यपानादि के त्याग न करने रूप अतिचार के अभाव को—उनके परित्याग को—निरतिचारिता कहते हैं।

निरनुकम्प—जो उ परं कंपंतं दट्ठूण न कंपए कढिणभावो। एसो उ निरणुकंपो अणु पच्छाभावजोएणं॥ (बृहत्क. १३२०)।

जो कठोरहृदय दूसरे को पीड़ा से कांपता हुआ देखकर स्वयं कम्पित नहीं होता है उसे निरनुकम्प कहते हैं। 'अनु' का अर्थ पश्चात् है, तदनुसार दुखित जीव के कांपने के पश्चात् जो कम्पन होता है उसका सार्थक नाम अनुकम्पा है। इस अनुकम्पा से जो रहित होता है वह निरनुकम्प कहलाता है।

निरनुतापी—निरणुतावी—जो अकिच्चं काऊण नाणुतप्पइ; जहा मए दुट्ठु कयं। (जीतक. चू. १, पृ. ३)।

जो अकृत्य को—नहीं करने योग्य कार्य को—करके 'मैंने बुरा किया है' इस प्रकार से पश्चात्ताप नहीं करता है उसे निरनुतापी कहते हैं।

निरन्तर—णिग्गयमंतरं जम्हा गुणट्ठाणादो तं गुणट्ठाणं णिरंतरं। × × × णत्थि अंतरं णिरंतरं। (धव. पु. ५, पृ. ५५–५६)।

जिस गुणस्थान से अन्तर नहीं होता है वह निरन्तर कहलाता है।

निरन्तर प्रक्रमणकालविशेष—पढमवक्कमणकंदयजहण्णकाले तस्सेव उक्कस्सकालम्मि सोहिदे सेसो णिरंतरवक्कमणकालविसेसो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४७८)।

प्रथम प्रक्रमणकाण्डक के जघन्य काल को उसी के

उत्कृष्ट काल में से कम कर देने पर जो शेष रहे उसका नाम निरन्तर प्रवक्रमणकालविशेष है।

निरन्तरबन्धप्रकृति—जिस्से पयडीए पच्चओ नियमेण सादि-प्रद्धुओ अन्तोमुहुत्तादिकालावट्ठाई सा णिरंतरबंधपयडी। (धव. पु. ८, पृ. १७); जिस्से बंधकालो जहण्णो वि अन्तोमुहुत्तमेत्तो सा णिरंतर-बंधपयडी। (धव. पु. ८, पृ. १००)।

जिस प्रकृति का प्रत्यय (कारण) नियम से सादि-अध्रुव होकर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहने वाला है वह निरन्तरबन्धप्रकृति कहलाती है। अथवा जिसके बन्ध का काल जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है उसे निरन्तरबन्धप्रकृति जानना चाहिए।

निरन्तरवेदककाल—बद्धसमयादो आवलियामदिक्कंतो समयपबद्धो णियमेण ओकड्डिदूण वेदिज्जदि। तदो उवरि णिरंतरं पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-मेत्तकालं णियमेण वेदिज्जदि, एसो णिरंतरवेदग-कालो णाम।। (धव. पु. १०, पृ. १४२-४३)।

बन्ध के समय से लेकर एक आवली के बीतने पर समयप्रबद्ध का वेदन नियम से अपकर्षणपूर्वक होता है, तत्पश्चात् पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र काल तक उसका वेदन नियम से निरन्तर होता है। इसी का नाम निरन्तरवेदककाल है।

निरपेक्षत्व— अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्षत्वम्। (लघीय. स्वो. वि. ७२)।

अनेकान्त का निराकरण करने से—विरोधी धर्म की अपेक्षा न करने के कारण—नय में निरपेक्षता होती है और इसी से वह मिथ्या माना जाता है।

निरर्थक— १. वर्णक्रमनिर्देशवत् निरर्थकमारादेसा-दिवत्, आर् आत् एस् इत्येते आदेशाः, एतेषु वर्णा-नां क्रमनिदर्शनमात्रं विद्यते, न पुनरभिधेयतया कश्चिदर्थः प्रतीयते इत्येवंभूतं निरर्थकमभिधीयते, डित्थादिवद्वा।(आव. नि हरि. वृ. ८८१, पृ. ३७५)। २. वर्णक्रमनिर्देशवत् निरर्थकम् आरादेसादिवत् डित्थादिवद्वा। (आव. मलय. वृ. ८८१, पृ. ४८३)।

जो शब्द वर्णों के क्रम से युक्त हो, पर अर्थ उसका कुछ भी न हो, वह निरर्थक कहलाता है। जैसे आरादेस्—आर् आत् और एस्; ये तीन आदेश हैं। इनमें वर्णक्रम तो है, पर अर्थ कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार डित्थ-डवित्थ आदि शब्दों को निरर्थक जानना चाहिए। यह ३२ सूत्रदोषों में तीसरा है।

निरंजन—१. जासु ण वण्णु ण गंधु रसु, जासु ण सद्दु ण फासु। जासु ण जम्मणु मरणु णवि, णाउ णिरंजणु तासु।। जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु। जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सो जि णिरंजणु जाणि।। अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, सो जि णिरंजण भाउ।। (परमा. १९-२१)। २. जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल-लेस्साओ। जाइ जरा मरणं वि य णिरंजणो सो अहं भणिओ।। णत्थि कला संठाणं मग्गण-गुणठाण जीवठाणाइं। ण य लद्धि-बंधठाणा णोदयठाणाइया केई।। फास-रस-रूव-गंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो। सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणि-ओ।। (तत्त्वसा. १९-२१)।

१ जिसके वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श, जन्म, मरण, क्रोध, मोह, मद, माया, मान, स्थान, ध्यान, पुण्य, पाप, हर्ष और विषाद नहीं हैं तथा एक भी दोष नहीं है, ऐसे परम शुद्ध आत्मस्वभाव को निरंजन कहते हैं।

निराकार उपयोग—देखो अनाकारोपयोग। १. अनाकारं दर्शनम्। (स. सि. २-९; त. वा. २, ९, १)। २. निराकारो दर्शनोपयोगः सामान्य-विषयत्वात्। (त. श्लो. २-९)। ३. सामान्यार्था-वभासो यो हृषीकाद्यभिमानसैः। उपयोगो निरा-कारः स ज्ञेयोऽन्तर्मुहूर्तगः।। (पंचसं. अमित. ३३४, पृ. ४६)।

१ आकार से रहित—सामान्यविषयक—उपयोग को निराकार या दर्शन कहा जाता है।

निराकांक्षा—१. तथा निर्गता कांक्षा अन्यान्य-दर्शनग्रहणरूपा यस्यासौ निराकांक्षः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ६६, पृ. ६१)। २. निराकांक्षत्वं हि प्रतिपत्तृधर्मः वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्द-धर्मः, तस्याचेतनत्वात्। (न्यायकु. ६५, पृ. ७३८)।

१ विभिन्न दर्शनों के ग्रहणरूप आकांक्षा से जो रहित हो चुका है ऐसे सम्यग्दृष्टि को निराकांक्ष कहा जाता है। २ वाक्य में जो निराकांक्षता मानी गई है वह वस्तुतः प्रतिपत्ता (ज्ञाता) का धर्म है, शब्द का नहीं।

निरालम्ब ध्यान—धारणा यत्र काचिन्न न संप्र-पदचिन्तनम्। मनःसंकल्पनं नास्ति तद् ध्यानं गतलम्बनम्।। आत्मानमात्मनात्मानं निश्चयात्म-

संस्थितो मुनिः। कृतात्मात्मगतं ध्यायेत् तन्निरालम्बमुच्यते ॥ (धर्मसं. श्रा. १०, ११३–१४)।

ध्यान की जिस अवस्था में न कोई धारणा हो, न किसी अंगवद्ध का चिन्तवन हो, न मन में किसी प्रकार का संकल्प हो; किन्तु अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा रोककर मुनि जो आत्मस्थ होता है उस अवस्था को निरालम्ब ध्यान कहते हैं।

निरालम्बन योग— × × × तत्त्वगस्त्वपर: ॥ (षोडश. १४–१)।

जिनके तत्त्व को—केवलज्ञानादि स्वभाव को—प्राप्त हुए योग (ध्यान) को निरालम्बन योग कहा जाता है।

निरालम्ब प्रतिसेवना—१. निरालम्बो आलम्बणरहिओ सेवइ। (जीतक. चू. १, पृ. ३)। २. निरालम्बो ज्ञानाद्यालम्बनरहितप्रतिसेवनाकः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०–६३४)।

१ ज्ञानादि आलम्बन से रहित जो अकल्पित (अयोग्य) का सेवन किया जाता है, इसका नाम दर्पविषयक निरालम्ब प्रतिसेवना है। यह दस प्रकार की दर्पित प्रतिसेवना में तीसरी है।

निरुपक्रमा निर्जरा—तत्र निरुपक्रमा उपक्रमकारणमन्तरेण संसारिणां परिपाकोदयलक्षणप्राप्तस्य कर्मणः परिसाड [शाट] रूपा। (स्था. र. २–२३)।

उपक्रमकारण— कर्मपरिपाक के योग्य प्रयत्नविशेष—के बिना जो संसारी जीवों के परिपाकोदय को प्राप्त कर्म का पृथक्करण होता है, इसे निरुपक्रम निर्जरा कहते हैं।

निरूपण—१. तस्य (आलम्बनस्य) नामादिभिः प्रकल्पना निरूपणम्। (त. वा. १, १२, ११, पृ. ५५)। २. निरूपणमाराधनानिर्विघ्नसिद्ध्यर्थं देश-राज्यादिकल्याणगवेषणम्। (अन. ध. स्वो. टी. ७–९८)।

१ नामादि के द्वारा आलम्बन की कल्पना का नाम निरूपण है। यह बौद्धाभिमत पांच विज्ञानधातुओं में तीसरा है। २ आराधना की निर्विघ्न सिद्धि के लिए कल्याणकारक देश व राज्य आदि के अन्वेषण करने को निरूपण कहते हैं। यह भक्तप्रत्याख्यान मरण से सम्बद्ध अर्हलिंगादि में से एक है।

निरोध—१. अनियतक्रियार्थस्य नियतक्रियाकर्तृत्वेनावस्थानं निरोधः। गमन-भोजन-शयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते। (त. वा. ९, २७, ५)। २. तस्य एकत्रावस्थापनमन्यत्राप्रचारो निरोधः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–२७)।

१ गमन, भोजन और शयन आदि क्रियाविशेषों में अनियम से प्रवर्तमान मन को किसी एक क्रिया के कर्तारूप से स्थापित करना, यह चिन्ता का निरोध है।

निर्ग्रन्थ—१. एत्थवि णिग्गन्थे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजते सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते विऊ दुहओवि सोयपलिछिन्ने णो पूया-सक्कार-लाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने समियं चरे दन्ते दविए वोसट्ठकाए णिग्गन्थेत्ति वच्चे। (सूत्रकृ. सू. १, १६, ४, पृ. २७३–७४)। २. उदकदण्डराजिवदनभिव्यक्तोदयकर्माण ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञान-दर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः। (स. सि. ९–४६)। ३. ये वीतरागछद्मस्था ईर्यापथप्राप्तास्ते निर्ग्रन्थाः। ईर्या योगः, पन्था संयमः, योग-संयमप्राप्ता इत्यर्थः। (त. भा. ९–४८)। ४. उदके दण्डराजिवत्संनिरस्तकर्माणोऽन्तर्मुहूर्तकेवलज्ञान-दर्शनप्रापिणो निर्ग्रन्थाः। उदके दण्डराजिर्यथा आश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्यक्तोदयकर्माण ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञान-दर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः। (त. वा. ९, ४६, ४)। ५. निर्ग्रन्थाः बाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः। (आव. हरि. वृ. ४, पृ. ७६०)। ६. निर्गतो ग्रन्थान्निर्ग्रन्थः, बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहित इत्यर्थः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १५८, पृ. ८४)। ७. अव्यक्तोदयकर्माणो ये पयोदण्डराजिवत्। निर्ग्रन्थास्ते मुहूर्तोर्ध्वोद्भिद्यमानात्मकेवलः। (ह. पु. ६४–६३)। ८. उदके दण्डराजिवत्संनिरस्तकर्माणोऽन्तर्मुहूर्तकेवलज्ञान-दर्शनप्रापिणो निर्ग्रन्थाः। (त. श्लो. ९–४६)। ९. ग्रन्थः कर्माष्टकप्रकारं मिथ्यात्वाऽविरति-(कषाय-)दुष्प्रणिहितयोगश्च, तज्जये प्रवृत्तानि निर्ग्रन्थानि। निर्गच्छद्ग्रन्था निर्ग्रन्थाः धर्मोपकरणादृते परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरोपधयो निर्ग्रन्थाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४८); उपशान्त-क्षीणमोहा निर्ग्रन्थाः। (त. भा. सिद्ध. वृ.

९–४१)। १०. देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो। तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो॥ (आरा. सा. ३३)। ११. बहिरब्भंतरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण। सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ सवणो॥ (ल. सा. १०)। १२. यथोदके दण्डराजिराश्वेव विलयमुपयाति तथाऽनभिव्यक्तोदयकर्माण ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञान-दर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः। (चा. सा पृ. ४५)। १३. संसार-द्रुममूलेन किमनेन ममेति यः। निःशेषं त्यजति ग्रन्थं निर्ग्रन्थं तं विदुर्जिनाः॥ (सुभा. सं. ८४१)। १४. गंथो मिच्छत्त धणाइओ मओ जे य निग्गया तत्तो। ते णिग्गंथा वुत्ता ××× ॥ (प्रव. सारो. ७२०); णिग्गंथ सक्क तावस गेरुय आजीव पंचहा समणा। तम्मि णिग्गंथा ते जे जिणसासणभवा मुणिणो॥ (प्रव. सारो. ७३१)। १५. तथाऽप्रकटकर्मोदया मुहूर्तादुपरि समुत्पद्यमानकेवलज्ञान-केवलदर्शनद्वयाः निर्ग्रन्थाः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–४६)।

१ निर्ग्रन्थ उसे कहना चाहिए जो एक है, एकवित्—एक आत्मा को ही परलोकगामी मानता है, बुद्ध है, स्रोतों—कर्मास्रवद्वारों—को नष्ट करने वाला है, भली भांति संयत है, सुसमित—पांच समितियों के आश्रय से मोक्षमार्ग को प्राप्त है, सुसामायिक—शत्रु-मित्र को समान समझता है, आत्मवाद को प्राप्त है, विद्वान् है, द्रव्य व भाव से द्रव्यस्रोतों एवं भावस्रोतों को विनष्ट करने वाला है, पूजा-सत्कार की प्राप्ति का इच्छुक नहीं है, धर्मार्थी है, धर्मवित् है, और नियाग—मोक्षमार्ग या समीचीन संयम को प्राप्त है। ऐसा निर्ग्रन्थ दान्त होकर शरीर से निर्ममत्व होता हुआ समताभाव का आचरण करता है। २ जिनके लकड़ी के द्वारा जल में खींची जाने वाली रेखा के समान कर्म का उदय प्रगट नहीं है, तथा जो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेने वाले हैं, वे मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। ३ जो वीतराग-छद्मस्थ ईर्यापथ को—योग-संयम को—प्राप्त हैं उन्हें निर्ग्रन्थ कहा जाता है।

निर्ग्रन्थत्व—तत्थ अब्भंतरिया मिच्छत्त-तिवेद-हस्स-रदि-अरदि-सोग-भय-दुगुंछा-कोह-माण-माया-लोहभेएण चोद्दसविहा, बाहिरिया खेत्त-वत्थु-धण-धण्ण-दुवय-चउप्पय-जाण-सयणासण-कुप्प-भंडभेएण दसविहा। कधं खेत्तादीणं भावगंथसण्णा? कारणे कज्जोवयारादो। ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं, णइगमणएण तिरयणाणुवजोगी बज्झब्भंतरपरिग्गहपरिच्चाओ णिग्गंथत्तं। (धव. पु. ९, पृ. ३२३, ३२४)।

मिथ्यात्वादिरूप चौदह प्रकार की अभ्यन्तर नोश्रुत ग्रन्थकृति और क्षेत्र-वास्तु आदिरूप दस प्रकार की बाह्य नोश्रुत ग्रन्थकृति कहलाती है। व्यवहार-नय की अपेक्षा क्षेत्र-वास्तु आदि तथा निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यात्व आदि ग्रन्थ कहलाते हैं। दोनों प्रकार के इस ग्रन्थ के परित्याग का नाम निर्ग्रन्थता है।

निर्ग्रन्थधर्म—नास्मिन् मौनीन्द्रधर्मे बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति निर्ग्रन्थः, स चासौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्मः, स च श्रुत-चारित्राख्यः क्षान्त्यादिको वा सर्वज्ञोक्तः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ६, ४२)।

मौनीन्द्र धर्म में—मुनियों के आचार में—बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकार का ग्रन्थ (परिग्रह) नहीं है, इसीलिए उस धर्म को निर्ग्रन्थधर्म कहा जाता है।

निर्जरा—देखो निर्जरानुप्रेक्षा। १. बद्धपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहि पण्णत्तं। (द्वादशानु. ६६)। २. पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा हवे दुविहा। पढमा विवागजादा विदिया अविवागजादा य॥ (मूला. ५–४८; भ. आ. १८४७)। ३. एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। (स. सि. १–४); पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत् पूर्वस्थितिक्षयादवस्थानाभावात् कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा। (स. सि. ८–२३)। ४. निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ९–७)। ५. तपोबलात् प्राक्तनकर्महानिस्तथा मुनेः सा खलु निर्जरोक्ता॥ (वरांगच. ३१–९४)। ६. निर्जीर्यते यया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा। निर्जीर्यते निरस्यते यया निरसनमात्रं वा निर्जरा। (त. वा. १, ४, १२); एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। उपात्तस्य कर्मणो तपोविशेषसन्निधाने सत्येकदेशसंक्षयलक्षणा निर्जरा।

(त. वा. १, ४, १९); पूर्वार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा। पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनवत् व्यावर्तते स्थितिक्षयादवस्थानाभावात्। (त. वा. ८, २३, १)। ७. तवसा उ निज्जरा इह निज्जरणं खवणनाससेगट्ठा। कम्माभावापायणमिह् निज्जरमो जिना विति॥ (श्रा. प्र. ८२)। ८. कर्मणां विपाकतस्तपसा वा शाटो निर्जरा। (त. भा. हरि. वृ. १–४); प्रथमबद्धस्य च निर्जरणं निर्जरा आत्मप्रदेशेभ्यः परिशाटनं कर्मणः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १०–२)। ९. बद्धस्य कर्मणः शाटो यस्तु सा निर्जरा मता। (षड्द. स. ५२)। १०. निर्जरणं निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा। (आव. नि. हरि. वृ. ११०८, पृ. ५१९)। ११. गुणसेढीए एक्कारसभेदभिण्णाए कम्मगलणं णिज्जरा णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५२)। १२. पूर्वोपार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा। ××× ततोऽनुभूतानां गृहीतवीर्याणां पुद्गलानां निवृत्तिर्निर्जरा। (त. श्लो. ८–२३)। १३. कर्मणां तु विपाकात् तपसा वा यः शाटः सा निर्जरा। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–४); निर्जरणं निर्जरा—विपक्वानां कर्मावयवानां परिशटनम्, हानिरित्यर्थः। ××× निर्जरा च भवतीति चिरन्तनबद्धकर्माभावप्रतिपत्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–३); निर्जरणं निर्जरा आत्मप्रदेशेभ्योऽनुभूतरसकर्मपुद्गलपरिशटना। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९, ७)। १४. निर्जीयते निरस्यते यया, निर्जरणं वा निर्जरा। आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्यते यया परिपरिणत्या सा निर्जरा। निर्जरणं पृथग्भवनं विश्लेषणं वा कर्मणां निर्जरा। (भ. आ. विजयो. ३८); पूर्वगतकर्मपुद्गलस्कन्धावयवानां जीवप्रदेशेभ्यो ऽपगमनं निर्जरा। तथा चोक्तम्—एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति। (भ. आ. विजयो. १८४७)। १५. उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा ×××। (त. सा. ७–२)। १६. कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्बृंहितशुद्धोपयोगो जीवस्य, तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलानां च निर्जरा। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०८)। १७. पुव्वकयकम्मसडणं णिज्जरा ×××। (भावसं. दे. ३५४)। १८. तदणंतरं (विवागाणंतरं) तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण॥ (कार्तिके. १०३)। १९. पूर्वोपार्जितकर्मैकदेशसंक्षयलक्षणा। निर्जरा ××× ॥ (योगशा. ६–१)। २०. कर्मैकदेशगलनं निर्जरा। (का. सा. पृ. ८७)। २१. ××× निर्जरा कर्मक्षपणलक्षणा। (चन्द्र. च. १८–१०९)। २२. संचितं पुनः तत् (कर्म) निर्जरातः प्रलीयते, उपात्तकर्मणां निर्हरणं निर्जरा इति वचनात्। (न्यायकु. ७६, पृ. ८१२ उद्.)। २३. पूर्वोपार्जितकर्मैकदेशसंक्षयलक्षणा। सविपाकाविपाका च द्विविधा निर्जराऽकथि॥ (अमित. श्रा. ३–६३)। २४. जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्म-पुग्गलं जेण। भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥ (द्रव्यसं. ३६)। २५. शुद्धोपयोगभावनासामर्थ्येन नीरसीभूतकर्म-पुद्गलानामेकदेशगलनं निर्जरा। (बृ. द्रव्यसं. टी. २८)। २६. यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः। प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः। (ज्ञाना. पृ. ४७)। २७. निर्जरणं निर्जरा विशरणं परिशटनमित्यर्थः, देशतः कर्मक्षयो निर्जरा। (स्थाना. अभय. वृ. १–१६, पृ. १८); निर्जरा कर्मणोऽकर्मत्वभवनमिति। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २५०, पृ. १८४)। २८. निर्जरा देशतः कर्मक्षयः। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९)। २९. णिज्जराए पुव्वोवचियसुहासुहकम्मपोग्गलपरिसाडो, ××× णिज्जरा पुण गुत्ति-समिइ-समण-धम्म-भावणा-मूलगुण-उत्तरगुण-परीसहोवसग्गाहियासणरयस्स भवइ। (जीतकचू. २, पृ. ५)। ३०. निर्जरणं निर्जरत्यनया वा निर्जरा जीवलग्नकर्मप्रदेशहानिः। (मूला. वृ. ५–६)। ३१. गलनं निर्जरांशस्य स्याच्चिरन्तनकर्मणः। (आचा. सा. ३–३३)। ३२. निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्। तपोभिर्बहुभिः सा स्याद् वैराग्याश्रितचेष्टितैः॥ (पद्म. पं. ६–५३)। ३३. कर्मणां भवहेतूनां जरणादिह निर्जरा। (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११४ उद्.); संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह। निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा कामवर्जिता॥ (योगशा. ४–८६)। ३४. निर्जीयते कर्म निरस्यते यया पुंसः प्रदेशस्थितमेकदेशतः। सा निर्जरा पर्ययवृत्तिरंशतस्तत्संक्षयो निर्जरणं मताऽथ सा॥ (अन. ध. २–४२)। ३५. निर्जरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेषः इत्यर्थः। केषाम्? कर्मणां सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया

स्वसंवेदनादीनाम् । (इष्टो. टी. २४) । ३६. निर्जीर्यते आत्मप्रदेशादेकदेशेन पृथक् क्रियते कर्म यया जीवपरिणत्या सा, अथवा निर्जरणं निर्जरा, कर्मणामेकदेशेन संक्षयः । (भ. आ. मूला. ३८) । ३७. चिरबद्धकम्माणिवहं जीवपदेसा हु जं च परिगलइ । सा णिज्जरा पउत्ता × × × ॥ (द्रव्यस्व. १५८) । ३८. दुर्जरं निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम् । निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदतः ॥ (धर्मश. २१-१२२) । ३९. कर्मणामेकदेशेन गलनं निर्जराऽऽत्मनः । (धर्मसं. श्रा. १०-९६) । ४०. कर्मणामेकदेशगलनं निर्जरा । (आरा. सा. टी. ४) । ४१. एकदेशेन कर्मक्षयो निर्जरा । (त. वृत्ति श्रुत. १-४) । ४२. एकदेशेन कर्मणः निर्जरणं गलनं अधःपतनं शटनं निर्जरा । (कार्तिके. टी. २) ।

१ बंधे हुए कर्मों के प्रदेशपिण्ड के गलने का नाम निर्जरा है । ८ परिपाक के वश अथवा तप के द्वारा कर्मों के आत्मा से पृथक् होने को निर्जरा कहा जाता है ।

निर्जरानुप्रेक्षा—१. सा (वेदनाविपाकरूपा निर्जरा) द्वेधा अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति । तत्र नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा, सा अकुशलानुबन्धा । परीषहजये कृते कुशलमूला, सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति । इत्येवं निर्जराया गुणदोष-भावनं निर्जरानुप्रेक्षा । (स. सि. ९-७; त. वा. ९, ७, ७) । २. निर्जरा वेदना विपाक इत्यनर्थान्तरम् । स द्विविधः अबुद्धिपूर्वः कुशलमूलश्च । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकादयो अबुद्धिपूर्वकस्तमवद्यतोऽनुचिन्तयेत् अकुशलानुबन्ध इति । तपःपरीषहजयकृतः कुशलमूलः, तं गुणतोऽनुचिन्तयेत् शुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति । एवमनुचिन्तयन् कर्म निर्जरायैव घटत इति निर्जरानुप्रेक्षा । (त. भा. ९-७) । ३. कर्मैकदेशगलनं निर्जरा । साऽपि द्वेधा उदयोदीरणाविकल्पात् । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकोदयोद्भवा, परीषहजयादुदीरणोद्भवा । सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जराऽनुप्रेक्षा । (चा. सा. पृ. ८७, ८८) । ४. निरन्तरानेकभवार्जितस्य या, पुरातनस्य क्षतिरेकदेशतः । विपाकजाऽपाकजभेदतो द्विधा यतीश्वरास्तां निगदन्ति निर्जराम् । (अमित. श्रा. १४-५६) । ५. संश्लिष्टात्मबलस्य निर्गलनतो निःशेषविश्लेषतश्चान्तर्बाह्यचतुःस्वहेतुवशतः स्वर्णोपले स्वर्णता । यद्वद् देहिनि कर्मणोऽस्यगलनान्निःशेषविश्लेषतः सम्यक्त्वग्रहणाद्यनेककरणैस्तद्विशुद्धात्मता ॥ (आचा. सा. १०-४१) । ६. अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला च निर्जरा द्विप्रकारा भवति । तत्राबुद्धिपूर्वा अकुशलानुबन्धापरनामिका नरकादिषु कर्मफलोदयजा जायते । परीषहसहने तु शुभानुबन्धा निरनुबन्धा च द्विप्रकारापि कुशलमूला निर्जरा उच्यते । एवं निर्जरायाः दोषान् गुणांश्च भावयतो भव्यजीवस्य कर्मनिर्जरणार्थं प्रवृत्तिर्भवतीति निर्जरानुप्रेक्षा । (त. वृत्ति श्रुत. ९-७) ।

१ निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशलमूलक । नरकादि गतियों में फल के दे चुकने पर कर्मों की जो निर्जरा होती है वह अबुद्धिपूर्वक निर्जरा है, जो पापबन्ध की निरन्तरता का कारण है । परीषहजय के द्वारा जो कर्मों की निर्जरा होती है वह कुशलमूलक निर्जरा है, जो या तो पुण्यबन्ध की कारण होती है, या फिर पाप और पुण्य दोनों के ही अबन्ध की कारण होती है । इस प्रकार से निर्जरा के गुण और दोषों के चिन्तन करने को निर्जरानुप्रेक्षा कहते हैं ।

निर्जराभाव—एदेहि चेव परिणामेहि (तिव्वमंदभावेहि) असंखेज्जगुणाए सेढीए कम्मसडणं कम्मसडणजणिदजीवपरिणामो वा णिज्जराभावो णाम । (धव. पु. ५, पृ. १८७) ।

तीव्रता या मन्दता को प्राप्त जीवपरिणामों के द्वारा असंख्यातगुणित श्रेणि के क्रम से कर्म जो आत्मा से पृथक् होते हैं, उनकी इस पृथक्ता का नाम निर्जराभाव है । अथवा कर्मों की इस पृथक्ता से जो जीव का परिणाम उत्पन्न होता है उसे निर्जराभाव जानना चाहिए ।

निर्देश—१. निर्देशः स्वरूपाभिधानम् । (स. सि. १-७) । २. निर्देशोऽर्थस्यावधारणम् । (त. भा. १-७) । ३. दुविहो णिद्देसो—सोदाराणं जहा णिच्छयो होदि तहादेसो णिद्देसो, कुतीर्थ-पाखण्डिनः अतिशय्य कथनं वा निर्देशः । × × × गत्यादिमार्गणास्थानैरविशेषितानां चतुर्दशगुणस्थानानां प्रमाणप्ररूपणमोघनिर्देशः । (धव. पु. ३, पृ. ८); णिद्देसो पदुप्पायणं कहणमिदि एयट्ठो । (धव. पु. ४. पृ. ९); णिद्देसो कहणं वक्खाणमिदि एयट्ठो ।

(धव. पु. ४, पृ. १४४); णिद्देसो कहणं पयासणं अहिव्वत्तिजणणमिदि एयट्ठो। (धव. पु. ४, पृ. ३२२)। ४. यत्किमित्यनुयोगेऽर्थस्वरूपप्रतिपादनम्। कात्स्न्र्यतो देशतो वापि स निर्देशो विदां मतः॥ (त. श्लो. १, ७, २)। ५. तद्विशेषप्रतिपादयिषया वचनं निर्देशः, ××× निश्चयेन उपयुज्यते प्रस्तुते वस्तुनि स निर्देशः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–७)। ६. किमित्यनुयोगे वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः। (न्यायकु. ७५, पृ. ८०२; लघीय. अभय. वृ. ७५, पृ. ६५)। ७. निर्देशनं निर्देशः विशेषाभिधानम्। (आव. नि. मलय. वृ. १३७, पृ. १४६)। ८. निर्दिश्यते इति निर्देशः, निर्देशश्च स्वरूपकथनम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–७)।

१ विवक्षित वस्तु के स्वरूप के कथन करने को निर्देश कहते हैं। ३ निर्देश दो प्रकार का है— श्रोताओं को जिस प्रकार से निश्चय होता है, उस प्रकार के कथन का नाम आदेशनिर्देश है, अथवा पाखण्डियों का निराकरण करके कथन करना, इसे आदेशनिर्देश कहा जाता है। गत्यादि मार्गणाओं की विशेषता से रहित चौदह गुणस्थानों के प्रमाण के निरूपण को ओघनिर्देश कहते हैं।

निर्देशदोष—निर्देशदोषो यत्र उद्दिश्य पदानामेकवाक्यभावो न क्रियते, यथा देवदत्तः स्थाल्यामोदनं पचतीति वक्तव्ये पचतिशब्दानभिधानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ८८४, पृ. ४८४)।

जहां उद्देश्य करके पदों में एकवाक्यता नहीं की जाती है वहां निर्देशदोष होता है। जैसे—देवदत्त थाली में ओदन पकाता है, इस विवक्षा में 'पचति (पकाता है)' शब्द का कथन न करना। यह ३२ सूत्रदोषों में ३०वां दोष है।

निर्दोषत्व — १. दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादय उक्ताः, निष्क्रान्तो दोषेभ्यो निर्दोषः। (अष्टस. ६, पृ. ६२)। २. आवरण-रागादयो दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्। (न्यायदी. पृ. ४५)।

१ अज्ञान, राग और द्वेष आदि दोषों से जो रहित हो चुका है उसे निर्दोष कहा जाता है।

निर्मम—निर्ममो ममेदमिति संकल्पनिष्क्रान्तः। (धर्म. स. स्वो. वृ. ४–१०६)।

'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प से जो रहित है उसे निर्मम कहते हैं।

निर्मल बोध—निर्मलबोधोऽप्येवं शुश्रूषाभावसंभवो ज्ञेयः। शमगर्भशास्त्रयोगात् श्रुत-चिन्ता-भावनासारः॥ (षोडश. ४–६)।

उपशमभाव के प्ररूपक शास्त्र के सम्बन्ध से जो शुश्रूषापूर्वक ज्ञान प्रगट होता है उसे निर्मल बोध जानना चाहिए। वह श्रुतसार, चिन्तासार और भावनासार के भेद से तीन प्रकार का है।

निर्माण—१. यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम्। (स. सि. ८–११; त. श्लो. ८–११; भ. आ. मूला. २१२)। २. जाति-लिङ्गाकृतिव्यवस्थानियामकं निर्माणनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम्। अंगोपांगानां यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणमिति ज्ञायते। (त. वा. ८, ११, ५)। ४. सर्वजीवानामात्मीयात्मीयावयवविन्यासनियमकारणं कलाकौशलोपेतवर्द्धकिवत्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)। ५. निर्माणनाम यदुदयात् सर्वजीवानां जातौ अङ्गोपाङ्गनिवेशो भवति। जाति-लिङ्गाकृतिव्यवस्थानियम इत्यन्ये। (श्रा. प्र. टी. २४)। ६. नियतं मानं निमानम्। तं दुविहं पमाणणिमिणं संठाणणिमिणमिदि। जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं दो वि णिमिणाणि होंति तस्स कम्मस्स णिमिणमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६६); जस्स कम्मस्सुदएण अंग-पच्चंगाणं ठाणं पमाणं च जादिवसेण णियमिज्जदि तं णिमिणणामं। (धव. पु १३, पृ. ३६६)। ७. देहंगावयवाणं लिंगागिइ-जाइणियमणं जं च। तहि सुत्तहारसरिसो णिम्माणे होइ हु विवागो॥ (कर्मवि. ग. १४८)। ८. यदुदयात् स्वजात्यनुरूपाण्यङ्गोपाङ्गानि निष्पद्यन्ते तन्निर्माणनाम। (पंचसं. च. स्वो. वृ. ३–१२७, पृ. ३८)। ९. यदुदयाज्जातौ जातौ जीवदेहेषु स्त्र्यादिलिङ्गाकारनियमो भवति तत्सूत्रधारसमानं निर्माणनामेति। (शतका. अभय. वृ. ४२)। १०. यदुदयाच्छरीरेष्वङ्ग-प्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवृत्तिता भवति तत्सूत्रधारकल्पं निर्माणनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. २०)। ११. यदुदयाज्जन्तुशरीरेषु स्व-स्वजात्यनुसारेणाङ्ग-प्रत्यङ्गानां प्रतिनियतस्थानवर्तिता भवति तन्निर्माणनाम, तच्च सूत्रधारकल्पम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५; पंचसं. मलय. वृ. ३–७, पृ. ११६; प्रव. सारो. वृ. १२६६)। १२. यदुदयात् परिनिष्पत्ति-

भवति तत् निर्माणं द्विप्रकारं जातिनामकर्मोदयापेक्षं ज्ञातव्यम्। स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चक्षुरादीनां स्थानं संख्यां च निर्मापयति। निर्मीयते अनेनेति निर्माणम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिस कर्म के निमित्त से परिनिष्पत्ति—जाति नामकर्म की अपेक्षा रखते हुए चक्षुरादि शरीरावयवों के स्थान और प्रमाण की रचना—होती है वह निर्माण नामकर्म कहलाता है। २ जो कर्म जाति-विशेष में स्त्री-पुरुषादि के लिंग और आकार का नियामक है उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। ४ जिसके उदय से सब जीवों के जाति के अनुसार अंग और उपांगों का निवेश (स्थापन या रचना) होता है उसे निर्माण नामकर्म कहा जाता है। अन्य कितने ही आचार्य उसे जातिगत लिंग और आकार की व्यवस्था का नियामक मानते हैं।

निर्याणकथा—निर्याणं निर्गमः, तत्कथा निर्याण-कथा। यथा—वज्जताउज्जममंदबंदिसद्दं मिलंतसा-मंतं। संखुद्धसेन्नमुद्धुर्यचिघं नयरा निवे नियइ॥ (स्थाना. अभय. वृ. २८२, पृ. २००)।

राजा आदि के नगर से निकलने की कथा को निर्याणकथा कहा जाता है।

निर्यापक—१. छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावया समणा। (प्रव. सा. ३-१०)। २. कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा। गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया॥ (भ. आ. ६४८)। ३. निर्यापका आराधकस्य समाधिसहायाः। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. ६६)। ४. यः पुनरनन्तरं सविकल्पछेदोपस्थापनसंयमप्रति-पादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसन्धानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव। (प्रव. सार. अमृत. वृ. ३-१०)। ५. तयोश्छेदयोः (देश-सकलछेदयोः) प्रायश्चित्तं दत्त्वा संवेग-वैराग्यजनक-परमागमवचनैः संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरवः श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते। (प्रव. सा. जय. वृ. ३-१०)।

१ दीक्षादायक गुरु के अतिरिक्त जो देश और सकल दोनों ही प्रकार के छेद (व्रतभंग) में व्रत का आरोपण करने वाला होता है वह निर्यापक श्रमण कहलाता है। २ जो कल्प्य और अकल्प्य की—ग्राह्य और अग्राह्य भोजन-पान की—परीक्षा में कुशल होते हैं, समाधि के कराने में—आराधक के चित्त के स्वस्थ करने में—उद्यत होते हैं, तथा जो प्रायश्चित्त ग्रन्थों के रहस्य के साथ सूत्रार्थ के ज्ञाता होते हैं, ऐसे मुनियों को निर्यापक कहते हैं।

निर्यापकपरिग्रह—निर्यापकपरिग्रहः आराधकस्य समाधिसहायपरिवर्गः। (अन. ध. स्वो. टी. ७, ६८)।

समाधिमरण के लिए उद्यत आराधक की समाधि में सहायक परिवर्ग (परिजनसमुदाय) को निर्यापक-परिग्रह कहते हैं।

निर्युक्ति—देखो आवश्यकनिर्युक्ति। १. जुत्ति त्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ति॥ (मूला. ७-१४)। २. णिज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती। तहवि य इच्छावेइ विभासिउं सुत्त-परिवाडी॥ (आव. नि. ८८)।

१ निर्युक्ति में 'नि' का अर्थ निरवय या सम्पूर्ण तथा 'युक्ति' का अर्थ है उपाय। तदनुसार अभीष्ट तत्त्व के उपाय को निर्युक्ति जानना चाहिए। २ 'नि' का अर्थ निश्चय या अधिकता है तथा 'युक्त' का अर्थ सम्बद्ध है। तदनुसार जो जीवा-जीवादि तत्त्व सूत्र में निश्चय से या अधिकता से प्रथम ही सम्बद्ध हैं, उन निर्युक्त तत्त्वों की जिसके द्वारा व्याख्या की जाती है उसे निर्युक्ति कहा जाता है।

निर्लाञ्छन—१. नासावेधोऽङ्कनं मुष्कछेदनं पृष्ठ-गालनम्। कर्ण-कम्बलविच्छेदो निर्लाञ्छनमुदीरि-तम्॥ (त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३४६; योगशा. ३-१११); नितरां लाञ्छनमङ्गावयवच्छेदः, तेन कर्म जीविका निर्लाञ्छनाकर्म। (योगशा. स्वो. विव. ३-१११)। २. निर्लाञ्छनं निर्लाञ्छनकर्म वृषभादेर्नासावेधादिना जीविका, निर्लाञ्छनं नितरां लाञ्छनमङ्गावयवच्छेदः॥ (सा. ध. ५-२२)।

१ बैल आदि की नासिका का वेधन करना, गाय व घोड़े आदि को दागना—गरम लोहशलाका आदि से चिह्नित करना, बैल व घोड़े आदि को बधिया करना, ऊंटों की पीठ का गालना, गाय-बैल के कानों एवं गलकम्बल का विच्छेद करना; इत्यादि को निर्लाञ्छनकर्म कहते हैं।

निर्लेपन—आहारसरीरिंदिय-आणपाणपज्जत्तीणं णिव्वत्ती णिल्लेवणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५०७)।

आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनपान अपर्याप्तियों की निर्वृत्ति का नाम निर्लेपन है।

निर्लेपनस्थान—१. जत्थ छप्पज्जत्तिणिमित्तं पोग्गलाणमागमो थक्कदि तण्णिल्लेवणट्ठाणं णाम। ××× एवमागच्छमाणे जत्थ पंचण्णं पज्जत्तीणं वज्जुवयरणाणमक्कमेण णिप्पत्ती होदि तण्णिल्लेवणट्ठाणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५२७)। २. एगसमये बद्धकम्मपरमाणवो बंधावलियमेत्तकाले वोलिदे पच्छा उदयं पविसमाणा केत्तियं पि कालं सांतर-णिरंतरसरूवेणुदयमागंतूण जम्हि समयम्हि सव्वे चेव णिस्सेसमुदयं कादूण गच्छंति तेसि णिरुद्धभवसमयपबद्धपदेसाणं तण्णिल्लेवणट्ठाणमिदि भण्णदे। (जयध.—कसायपा. पृ. ८२८, टि. नं. २)।

२ कर्मलेप के दूर होने के स्थान को निर्लेपनस्थान कहते हैं। अर्थात् एक समय में बंधे हुए कर्मपरमाणु बन्धावली के पश्चात् क्रमशः उदय में प्रविष्ट होकर सान्तर या निरन्तररूपसे अपना फल देते हुए जिस समय में सभी निःशेषरूप से निर्जीर्ण हो जाते हैं उसे निर्लेपनस्थान कहते हैं।

निर्वर्गणा— बंधोदयजहण्णकिट्टीणमणंतगुणहाणीए ओसरणवियप्पा णिव्वग्गणा। (जयध. अ. प. ११८२)।

बन्ध और उदय सम्बन्धी जघन्य कृष्टियों के अनन्तगुणहानि के क्रम से होने वाले अपसरणभेदों को निर्वर्गणा कहते हैं।

निर्वर्गणाकाण्डक—१. एदिस्से अद्धाए (अधापवत्तकरणद्धाए) संखेज्जदिभागो णिव्वग्गणकंडयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६१५)। २. विवक्खियसमयपरिणामाणं जत्तो परमणुकट्टिवोच्छेदो तं णिव्वग्गणकंडयमिदि भण्णदे। (जयध. अ. प. ९४६—षट्खं. पु. ६, पृ. २१५ का टि. ३)। ३. ताए अधापवत्तद्धाए संखेज्जभागमेत्तं तु। अणुकट्टीए अद्धा णिव्वग्गणकंडयं तं तु॥ (ल. सा. ४३)। ४. वर्तमानसमयसादृश्यम्, ततो निष्क्रान्ता उपर्युपरि समयवर्तिपरिणामखण्डाः, तेषां काण्डकं पर्व निर्वर्गणाकाण्डकम्। (ल. सा. टी. ४३)।

१ अधःप्रवृत्तकरणकाल के संख्यातवें भाग मात्र परिणामस्थानों का नाम निर्वर्गणाकाण्डक है।

निर्वर्तनकाण्डक—१. णिव्वत्तणकंडगं णाम जहण्णिगाए ठितीए अणुकड्ढी जत्थ णिट्ठिया तं णिव्वत्तणकंडगं वुच्चति। (कर्मप्र. चू. बं. क. ६५, पृ. १३७)। २. निर्वर्तनकाण्डकं नाम यत्र जघन्यस्थितिबन्धारम्भभाविनामनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः परिसमाप्ता तत्पर्यन्ता मूलतः आरभ्य स्थितयः पल्योपमासंख्येयभागमात्रप्रमाणा उच्यन्ते। (कर्मप्र. मलय. वृ. बं. क. ६५)।

२ जघन्य स्थिति के बन्ध से लेकर होने वाले अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानों की अनुकृष्टि के समाप्त होने तक प्रारम्भ से लेकर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितियों का नाम निर्वर्तनकाण्डक है।

निर्वर्तना—देखो निर्वर्तनाधिकरण। १. निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना निष्पादना। (स. सि. ६–९; त. सुखबो. ६–९)। २. निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना। (त. वा. ६, ९, १)। ३. हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तना। (अन. ध. स्वो. टी. ४–२८)।

१ जो रचा जाता है उसका नाम निर्वर्तना है। ३ हिंसा के उपकरणरूप से जिसकी रचना की जाती है उसे निर्वर्तना कहते हैं।

निर्वर्तनाधिकरण—१. निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति। तत्र मूलगुणनिर्वर्तनं पञ्चविधम्—शरीर-वाङ्मनःप्राणापानाश्च। उत्तरगुणनिर्वर्तनं काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मादि। (स. सि. ६-९)। २. तत्र निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणमुत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं च। तत्र मूलगुणनिर्वर्तना पञ्च शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च। उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मादीनि। (त. वा. ६-१०)। ३. निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं मूलोत्तरभेदात्। ×× × तत्र मूलं पंचविधानि शरीराणि वाङ्मनःप्राणापानाश्च। उत्तरं काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मादि। (त. वा. ६, ९, १२)। ४. दुःप्रयुक्तं शरीरं हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरणं भवति। उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीववधनिमित्तानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणम्। (भ. आ. विजयो. ८१४)।

१ निर्वर्तनाधिकरण दो प्रकार का है—मूलगुण-

निर्वर्तनाधिकरण और उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण। इनमें मूलगुणनिर्वर्तन पांच प्रकार का है—शरीर, वचन, मन, प्राण और अपान। काष्ठ-कर्म, पुस्तकर्म और चित्रकर्म आदि को उत्तर-गुणनिर्वर्तन कहा जाता है। ४ दुष्प्रवृत्तियुक्त शरीर को हिंसा के उपकरणस्वरूप से निर्वर्तित करने का नाम निर्वर्तनाधिकरण है। उपकरण भी जो जीवघात के निमित्त छेदयुक्त रचे जाते हैं उन्हें भी निर्वर्तनाधिकरण कहा जाता है।

निर्वर्तनाधिकरणिकी — १. यच्चादितस्तयोः (खड्ग-तन्मुष्ट्यादिकयोः) निर्वर्तनं सा निर्वर्तना-धिकरणिकीति। (स्थाना. अभय. वृ. २–६०)। २. तथा निर्वर्तनमसि-शक्ति कुन्त तोमरादीनां मूलतो निष्पादनम्, तदेवाधिकरणिकी निर्वर्तनाधिकरणि-की, पञ्चविधस्य वा शरीरस्य निष्पादनं निर्वर्तना-धिकरणिकी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२–२७६, पृ. ४३६)।

१ प्रथमतः तलवार व उसकी मुट्ठी आदि को बनाना, यह निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया कहलाती है। २ तलवार, शक्ति, भाला और बाण आदि के उत्पन्न करने को अथवा पांच प्रकार के शरीर के निष्पादन को निर्वर्तनाधिकरणिकी क्रिया कहते हैं।

निर्वहन—१. निराकुलं वहनं धारणं निर्वहणम्, परीषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरि-णती वृत्तिः। (भ. आ. विजयो. २)। २. परी-षहाद्युपनिपातेऽपि निराकुलं लाभादिनिरपेक्षं धा वहनं धारणम्। (भ. आ. मूला. २)।

सम्यग्दर्शनादि का निराकुलतापूर्वक धारण करना तथा परीषह आदि के उपस्थित होने पर भी उनमें परिणत रहना—उनकी विराधना न करना, इसका नाम निर्वहन है।

निर्वाण—१. पारतन्त्र्यनिवृत्तिलक्षणस्य निर्वाणस्य (पारतन्त्र्यनिवृत्तिलक्षणं निर्वाणम्) शुद्धात्मतत्त्वो-पलम्भरूपस्य × × ×। (पंचा. का. अमृत. वृ. २)। २. सकलकर्मविमोचनलक्षणनिर्वाणम्। (पंचा. का. जय. वृ. २)। ३. निर्वान्ति राग-द्वेषोपतप्ताः प्रीतीभवन्त्यस्मिन्निति निर्वाणम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–४६)।

१ परतंत्रता की निवृत्ति अथवा शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि को निर्वाण कहते हैं। ३ जहां राग द्वेष से सन्तप्त प्राणी शीतलता को प्राप्त करते हैं उसका नाम निर्वाण है।

निर्वाणपथ—देखो निर्वाणमार्ग। सम्मद्दंसणदिट्ठो नाणेण य सुट्ठु तेहि उवलद्धो। चरणकरणेण पहओ निव्वाणपहो जिणिंदेहिं॥ (आव. नि. ६१०)।

जो अरहन्तों के द्वारा समीचीन दर्शन से देखा गया है, ज्ञान के आश्रय से यथावस्थित जाना गया है, तथा चरण (व्रतादि) और करण (पिण्डविशुद्धि आदि) से आराधित है; वही मोक्षपथ है।

निर्वाणमार्ग— निर्वृत्तिर्निर्वाणम्, सकलकर्मक्षय-जमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः, निर्वाणस्य मार्गो निर्वाण-मार्ग इति। (आव. नि. हरि. वृ. ४, पृ. ७६१)।

समस्त कर्मों के क्षय से जो आत्यन्तिक सुख प्राप्त होता है, उसका नाम निर्वाण है, इस निर्वाण के सम्यग्दर्शनरूप मार्ग को निर्वाणमार्ग कहते हैं।

निर्वाणसुख—संसारसुखमतीत्यात्यन्तिकमैकान्तिकं निरुपमं नित्यं निरतिशयं निर्वाणसुखम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०–७)।

सांसारिक सुख का अतिक्रमण करके जो आत्यन्तिक, ऐकान्तिक (अविनश्वर), अनुपम, नित्य और निरतिशय सुख है वह निर्वाणसुख कहलाता है।

निर्वापकथा—पक्वापक्वान्नभेदा व्यञ्जनभेदा वेति निर्वापकथेति। × × × पक्कापक्को य होइ निव्वाओ। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २८२)।

पक्व या अपक्व अन्नभेदों की अथवा नाना प्रकार के व्यञ्जनभेदों—शाक व पापड़ आदि रसव्यञ्जक वस्तुओं—की चर्चा को निर्वापकथा कहते हैं।

निर्विकृति—१. यथा रूक्षाहारस्य भोजनं तक्रेण वा शक्त्याद्यपेक्षया। विकृतयो रसाः, निर्गता विकृतयो यस्या भुक्तेः सा निर्विकृतिः। (प्रायश्चित्त चू. १, १२)। २. निर्विकृतिः—विक्रियेते जिह्वा-मनसी येनेति विकृतिर्गोरसेक्षुरस-फलरस-धान्यरसभेदाच्च-तुर्धा। तत्र गोरसः क्षीर-घृतादिः, इक्षुरसः खण्ड-गुडादिः, फलरसः द्राक्षाम्रादिनिष्यन्दः, धान्यरसः-स्तैल-मण्डादिः। अथवा यथेन सह भुज्यमानं स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते। विकृतेर्निष्क्रान्तं भोजनं निर्विकृति। (सा. ध. स्वो. टी. ५–३५)।

२ जिस गोरस, इक्षुरस, फलरस, और धान्यरस से जिह्वा एवं मन विकार को प्राप्त होते हैं उसे विकृति कहा जाता है। अथवा जो जिसके साथ

खाने से सुस्वादु बनता है उसे विकृति समझना चाहिए। इस प्रकार की विकृति से जो भोजन-रहित होता है उसे निर्विकृति कहते हैं।

निर्विचिकित्स—देखो निर्विचिकित्सा अंग। १. विचिकित्सा मतिविभ्रमः, निर्गता विचिकित्सा मतिविभ्रमो यतोऽसौ निर्विचिकित्सः। ××× यद्वा साधुजुगुप्सारहितः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८२; ध. बि. मु. वृ. २–११; व्यव. मलय. वृ. १, पृ. २७)। २. तथा निर्गता विचिकित्सा चित्त-विप्लुतिविद्वज्जुगुप्सा वा यस्यासौ निर्विचिकित्सः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ६९)। ३. विचिकित्सा फलं प्रति सन्देहः, विदः विज्ञाः, ते च तत्त्वतः साधव एव, तज्जुगुप्सा वा; तदभावो निर्विचिकित्सं निर्वि-ज्जुगुप्सं वा। (उत्तरा. ने. वृ. २८–३१)।

१ विचिकित्सा का अर्थ मतिविभ्रम—युक्ति और आगम से संगत भी अर्थ में फल के प्रति संमोह (अस्थिरता) है। इस प्रकार के मतिविभ्रम से जो रहित है उसे निर्विचिकित्स कहते हैं। अथवा नामान्तर से उसे निर्विद्वज्जुगुप्स—विद्वान् साधुओं के विषय में ग्लानि से रहित—भी कहा जाता है। यह दर्शनाचार का तीसरा भेद है।

निर्विचिकित्सा—देखो निर्विचिकित्स। १. जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं। सो खलु णिव्विदिगिछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ (समयप्रा. २४९)। २. स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवि-त्रिते। निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥ (रत्नक. १३)। ३. शरीराद्यशुचिस्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयः, अर्हत्प्रवचने वा इदम-युक्तं घोरं कष्टम्, न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभ-भावनाविरहः निर्विचिकित्सता। (त. वा. ६, २४, १)। ४. यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायक-स्वभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साभावान्नि-र्जुगुप्सः, ततोऽस्य विचित्साकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जरैव। (समयप्रा. अमृत. वृ. २४९)। ५. क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु। द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया॥ (पु. सि. २५)। ६. दहविहधम्मजुदाणं सहावदु-ग्गंध-असुइदेहेसु। जं णिंदणं ण कीरदि णिव्विदि-गिछा गुणो सो हु। (कार्तिके. ४१७)। ७. तपस्वि-नां यस्तनुमस्तसंस्कृतिं जिनेन्द्रधर्मं सुतरां सुदुष्करम्। निरीक्षमाणो न तनोति निन्दनं स भण्यते धन्यतमो-ऽविचिकित्सनम्॥ (अमित. श्रा. ३–७५)। ८. भेदा-भेदरत्नत्रयमाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्ध-बीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्य-ते। यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनम्, परं किन्तु वस्त्र-प्रावरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादिकुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा निर्विचिकित्सा। ××× निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्म-लात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्वि-चिकित्सागुणः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१, पृ. १५१)। ९. विचिकित्सा जुगुप्सा अस्नान-मलधारण-नग्न-त्वादिव्रताकचिः, विचिकित्साया निर्गतो निर्विचि-कित्सस्तस्य भावो निर्विचिकित्सता द्रव्य-भावद्वारेण विपरिणामाभावः। (मूला. वृ. ५–४)। १०. तीव्रं जैनतपस्तत्र निन्द्यं चामज्जनादिकम्। सम्यगस्य-विति स्वान्तत्यागः स्यान्निर्जुगुप्सता॥ रत्नत्रय-पवित्राणां छर्दिलालाद्यपोहने। विचिकित्सात्ययो वा सा ज्ञात्वा गात्रापवित्रताम्॥ (आचा. सा. ३, ५७–५८)। ११. स्वभावमलिने देहे रत्नत्रयपवि-त्रिते। जुगुप्सारहितो भावो सा स्यान्निर्विचिकित्स-ता॥ (भावसं. वाम. ४१२)। १२. शरीरादिकं पवित्रमिति मिथ्यासंकल्पनिरासो निर्विचिकित्सता। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)। १३. शरीरादौ शुचीति मिथ्यासंकल्परहितत्वं निर्विचिकित्सता। मुनीनां रत्नत्रयमण्डितशरीरमलदर्शनादौ निःशूकत्वं तत्र समादाय वैयावृत्त्यविधानं वा निर्विचिकित्सता। (भावप्रा. टी. ७७)। १४. शरीराद्यशुचिस्वभाव-मवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पनिराशः, अथवा अर्हत्-प्रवचने इदं मलधारणमयुक्तं घोरकष्टम्, न चेदिदं सर्वमुपपन्नम् इत्यशुभभावनानिराशः सम्यक्त्वस्य निर्विचिकित्सतानामा तृतीयो गुणः। (कार्तिके. टी. ३२६)। १५. दुर्दैवाद् दुःखिते पुंसि तीव्रासाता-घृणा-स्पदे। यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः॥ (लाटीसं. ४–१०२; पंचाध्या. २–५८०)।

१ जो आत्मा (जीव) सभी वस्तुधर्मों में जुगुप्सा

या ग्लानि को नहीं करता है उसे निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि कहते हैं। २ मनुष्यशरीर यद्यपि स्वभाव से अपवित्र है, फिर भी चूंकि रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण वह मनुष्यशरीर ही है, अतएव रत्नत्रय से पवित्र मुनि आदि के शरीर में घृणा को छोड़कर गुण के कारण प्रीति करना; इसे निर्विचिकित्सता अंग कहते हैं। ३ शरीर आदि के अपवित्र स्वभाव को जानकर 'वह पवित्र है' इस प्रकार के मिथ्या संकल्प के निराकरण को निर्विचिकित्सा कहते हैं। अथवा 'जिनशासन में यदि तपश्चरणादि के घोर कष्ट का विधान न होता तो अन्य सब संगत था' इस प्रकार की अशुभ भावना के दूर करने को निर्विचिकित्सा कहते हैं।

निर्विश्यमान परिहारविशुद्धिक—१. तत्र निर्विश्यमानकास्तदासेवकाः, तदव्यतिरेकात् तदपि चारित्रं निर्विश्यमानकमिति। (आव. नि. हरि. वृ. ११४, पृ. ८०)। २. तत्र निर्विश्यमानकम्—आसेव्यमानकम्, परिभुज्यमानकमित्यर्थः × × × तत्सहयोगात् तदनुष्ठायिनोऽपि निर्विश्यमानकाः। × × × निर्वेशः उपभोगः, निर्विश्यमानकास्तत् उपभुञ्जानाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–१८)। ३. निर्विश्यमानका विवक्षितचारित्रसेवकाः। (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. ११९)।

१ परिहार एक तपविशेष है, उससे विशुद्धि को प्राप्त चारित्र परिहारविशुद्धिक कहलाता है। जो उस चारित्र का सेवन कर रहे हैं उनको तथा उनसे अभिन्न उस चारित्र को भी निर्विश्यमानक परिहारविशुद्धिक कहते हैं।

निर्विष्टकायिक परिहारविशुद्धिक—१. आसेवितविवक्षितचारित्रकायास्तु निर्विष्टकायाः, त एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानात् निर्विष्टकायिकाः तदव्यतिरेकाच्चारित्रमपि निर्विष्टकायिकमिति। (आव. नि. हरि. वृ. ११४, पृ. ८०)। २. निर्विष्टकायिकमासेवितमुपभुक्तम्, × × × निर्विष्टकायिकास्तु निर्विष्टः कायो येषामस्ति ते निर्विष्टकायिकाः, तत्सहयोगात् तेनाकारेण तपोऽनुष्ठानद्वारेण परिभुक्तः कायो यैरिति परिभुक्तआदृष्टिवततपसः, निर्विष्टकायिका इत्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–१८)। ३. निर्विष्टकायिका आसेवितविवक्षितचारित्रकायाः। (आव. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. ११९)।

१ जो विवक्षित चारित्रकाय का परिपालन कर चुके हैं वे निर्विष्टकायिक परिहारविशुद्धिक कहलाते हैं। उनसे अभिन्न होने के कारण उस चारित्र को भी निर्विष्टकायिक परिहारविशुद्धिक कहा जाता है।

निर्वृति (निर्वाण)—निर्वृतिर्निर्वाणम्—अशेषकर्म-रोगापगमेन जीवस्य स्वरूपेऽवस्थानम्, मुक्तिपदमिति यावत्। (आव. नि. हरि. वृ. ९३)।

सर्व कर्मों से रहित होकर जीव के आत्मस्वरूप में अवस्थान को—मुक्तिप्राप्ति को—निर्वृति कहते हैं।

निर्वृत्ति (इन्द्रिय)— १. निर्वर्त्यते निष्पाद्यते इति निर्वृत्तिः। (स. सि. २–१७)। २. निर्वृत्तिरङ्गोपाङ्गनामनिर्वर्तितानीन्द्रियद्वाराणि, कर्मविशेषसंस्कृताः शरीरप्रदेशाः, निर्माणनामाङ्गोपाङ्गप्रत्यया मूलगुणनिर्वर्तनेत्यर्थः। (त. भा. २–१७)। ३. आगारो निव्वत्ती चित्ता बज्झा इमा अंतो॥ पुप्फं कलंबुयाए धन्नमसूराइमुत्त-चंदो य। होइ खुरप्पो नाणागिई य सोइंदियाईणं॥ (विशेषा. ३५६१–६२)। ४. निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्युपदिश्यते। (त. वा. २, १७, १)। ५. निर्वर्तनं निर्वृत्तिः—प्रतिविशिष्टसंस्थानोत्पत्तिः। (त. भा. हरि. वृ. २–१७)। ६. णिव्वत्ती णाम चक्खुगोलियाए णिप्पत्ती। (धव. पु. ७, पृ. ४३६)। ७. स्वरूप-भेदाभ्यां निर्वर्तनं निर्वृत्तिः प्रतिविशिष्टसंस्थानोत्पादः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१७)। ८. कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। (भ. आ. विजयो. ११५; मूला. वृ. १, १६)। ९. तत्र निर्वृत्तिराकारः। (ललितवि. पं. पृ. ३९)। १०. निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्टः संस्थानविशेषः। (नन्दी. सू. मलय. वृ. ३, पृ. ७५; जीवाजी. मलय. वृ. १३, पृ. १६; प्रव. सारो. वृ. ११०५)। ११. निर्वर्त्यते निष्पाद्यते कर्मणा या सा निर्वृत्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१७)।

१ कर्म के द्वारा जिसकी रचना की जाती है उसे निर्वृत्ति कहा जाता है। ५ प्रतिविशिष्ट आकार की उत्पत्ति का नाम निर्वृति है। ६ चक्षु आदि इन्द्रियों की पुतली आदि के आकाररूप रचना होने को निर्वृत्ति कहते हैं।

निर्वृत्तिस्थान— अप्पप्पणो जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणे

समऊणे अप्पप्पणो उक्कस्साउअम्मि सोहिदे जिव्व-त्तिट्ठाणाणि होंति । (धव. पु. १४, पृ. ३५८) ।

एक समय कम अपने अपने जघन्य निर्वृ'त्तिस्थान को अपनी अपनी उत्कृष्ट आयु में से कम कर देने पर निर्वृ'त्तिस्थान होते हैं।

निर्वृ'त्यक्षर—१. जीवाणं मुहादो णिग्गयस्स सद्दस्स णिव्वत्तिअक्खरमिदि सण्णा । (धव. पु. १३, पृ. २६५) । २. कण्ठोष्ठ-ताल्वादिस्थान-स्पृष्टता-दिकरण-प्रयत्ननिर्वर्त्यमानस्वरूपं अकारादि-ककारा-दिस्वर-व्यञ्जनरूपं मूलवर्ण-तत्संयोगादिसंस्थानं निर्वृ'-त्यक्षरम् । (गो. जी. जी. प्र. व मं. प्र. टी. ३३३) ।

१ जीवों के मुख से निकले हुए शब्द का नाम निर्वृ'त्यक्षर है। २ कण्ठ, ओष्ठ व तालु आदि स्थानों से तथा ओष्ठों के परस्पर मिलने आदिरूप स्पृष्टतादि क्रिया व प्रयत्नों से उत्पन्न होने वाले अकारादि स्वर और ककारादि व्यंजनरूप मूल वर्णों को तथा उनके संयोगी अक्षरों को निर्वृ'त्य-क्षर कहते हैं।

निर्वृ'त्यपर्याप्त—१. जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति-अपुण्णगो ताव । (गो. जी. १२१) । २. पज्जत्तिं गिह्णंतो मणुपज्जत्तिं ण जाव समणोदि । ता णिव्वत्तिअपुण्णो ××× ॥ (कार्तिके. १३६) । ३. यावत्कालं शरीरमपूर्णम् औदारिकादित्रयपर्याप्ति-रनिष्पन्ना तावदाहार-शरीरपर्याप्तिद्वयकालपर्यन्तं जीवो निर्वृ'त्यपर्याप्तकः । (गो. जी. मं. प्र. टी. १२१) । ४. यावत् शरीरपर्याप्त्या न निष्पन्नाः तावत्समयोनशरीरपर्याप्तिकालान्तर्मुहूर्तपर्यन्तं निर्वृ'-त्यपर्याप्ता इत्युच्यन्ते । निर्वृ'त्या शरीरनिष्पत्त्या अपर्याप्ता अपूर्णा निर्वृत्यपर्याप्ता इति निर्वचनात् । (गो. जी. जी. प्र. टी. १२१; कार्तिके. टी. १३६)।

१ जब तक जीव की शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है तब तक उसे निर्वृ'त्यपर्याप्त कहा जाता है।

निर्वेद—१. नरगो तिरिक्खजोणी कुमाणुसत्तं च णिव्वेओ । (दशवै. नि. २०३) । २. नरकस्तिर्य-ग्योनिः कुमानुषत्वं च निर्वेदः । (दशवै. नि. हरि. वृ. २०३, पृ. ११३) । ३. निर्वेदो देह-भोगेषु संसारे च विरक्तता । (म. पु. १०-५७) । ४. निर्वेदो विषयेष्वनभिषङ्गोऽर्हदुपदेशानुसारितया यस्य भवति ××× । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३; पृ. ३४); निर्वेदो निर्विण्णता शरीर-भोग-संसारविषयवैमुख्य-मुद्वेगः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-७, पृ. ६३) । ५. देहे भोगे निन्दिते जन्मवासे क्लृप्टेष्वापुक्षिप्तबा-णास्थिरत्वे । यद्वैराग्यं जायते निष्प्रकम्पं निर्वेदोऽसौ कथ्यते मुक्तिहेतुः । (अमित. श्रा. २-७५) । ६. निर्वेदो भवादुद्वेजनम् । (श्र. डि. मु. वृ. ३-७)। ७. निर्वेदो भववैराग्यम् । (योगशा. स्वो. विव. २-१५) । ८. संसारवासः कारेव बन्धनान्येव बान्धवाः । ससंवेगस्य विम्तेयं या निर्वेदः स उच्यते ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६१४) । ९. संसार-शरीर-भोगेषु विरक्तता निर्वेदः । (कार्तिके. टी. ३२६) । १०. त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा । (लाटीसं. ३-८६; पंचाध्या. २-४४३) ।

१ नरक, तिर्यंच अवस्था और कुमानुष पर्याय इन्हें निर्वेद कहा जाता है। यह निर्वेदनीकथा के प्रसंग में कहा गया है। ३ संसार, शरीर और इन्द्रियभोगों से होने वाली विरक्ति को निर्वेद कहते हैं।

निर्वेदनीकथा—१. णिव्वेयणी पुण कहा शरीर-भोगे भवोघे य । (भ. आ. ६५७) । २. पावाणं कम्माणं असुभविवागो कहिज्जए जत्थ । इह य परत्थ य लोए कहा उ णिव्वेयणी नाम ॥ (दशवै. नि. २०१) । ३. निर्वेदनीं तथा पुण्यां भोगवैराग्यका-रिणीम् । (पद्मपु. १०६-९३) । ४. निर्विद्यते भवादनया श्रोतेति निर्वेदनी । (दशवै. नि. हरि. वृ. २०१) । ५. संसार-सरीर-भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम । उक्तं च—××× निर्वेगिनीं चाह कथां विरागाम् ॥ (धव. पु. १, पृ. १०५-६)। ६. संसार-शरीर भोगरागजनितदुष्कर्मफलनारकादि-दुष्कुल-विरूपांग-दारिद्र्यापमानदुःखादिवर्णनाद्वारेण वैराग्यकथनरूपा निर्वेजनी कथा । (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३५७) । ७. णिव्वेयणीकहाए भणि-ज्जइ परमवेरग्गं । (अंगप. ६६, पृ. २७०) ।

१ संसार, शरीर और भोगों में वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं। २ इस लोक व परलोक में पाप कर्मों के अशुभ फल का कथन करने वाली चर्चा को निर्वेदनी कथा कहा जाता है।

निर्वेदनीरस—थोवंपि पमायकयं कम्मं साहिज्जई

अहिं नियमा। पउरासुहपरिणामं कहाइ निव्वेय-णीइरसो ॥ (दशवै. नि. २०२)।

जहां पर तीव्र अशुभ फल वाले प्रमादकृत कर्म का नियम से थोड़ा सा भी कथन किया जाता है वह निर्वेदनीकथा का रस (सार) है।

निर्व्याघातपादपोपगमन—१. निर्व्याघातं तु प्रव्रज्या-शिक्षा-पदादिक्रमेण जराजर्जरितशरीरः करोति, यदुपहितचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानो निर्जन्तुकं स्थण्डिलमाश्रित्य पादप इवैकेन पार्श्वेन निपत्याऽपरिस्पन्दस्तावदास्ते प्रशस्तध्यानव्यापृतान्तःकरणो यावदुत्क्रान्ताः प्राणास्तदेतत् पादपोपगमनाख्यम् अनशनम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९-१९)। २. निर्व्याघातवत् पुनर्यःसूत्रार्थ-तदुभयनिष्ठितः शिष्याशिष्याद्योत्सर्गतः द्वादशसमाः कृतपरिकर्मा सन्ध्याकाल एव करोति। उक्तं च—चत्तारि विचित्ताइं विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि। संवच्छरे य दोण्णि उ एगंतरियं च आयामं ॥ णाइविगट्ठो य तवो छम्मासे परमियं च आयामं। अन्ने वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥ वासं कोडीसहियं काउ आणुपुव्वीए। गिरिकंदरं तु गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥ (दशवै. नि. हरि. वृ. पृ. २६-२७)।

१ प्रव्रज्या, शिक्षा या पद आदि के क्रम से जिसका शरीर बुढ़ापा से जर्जरित हो गया है वह निर्व्याघातपादपोपगमन अनशन को करता है—तब वह चारों प्रकार के आहार के परित्याग को स्वीकार करके जीव-जन्तुरहित शुद्ध भूमि का आश्रय लेता है और वहां पादप (वृक्ष) के समान एक पार्श्वभाग से पड़कर हलन-चलन से रहित होता हुआ प्रशस्त ध्यान में मन को तब तक लगाता है जब तक कि प्राण नहीं निकलते, यह निर्व्याघातपादपोपगमन नाम का अनशन है।

निर्व्यूढ (णिज्जूढ)—सम्मं धम्मविसेसो जहिमं कस-छेय-तावपरिसुद्धो। वण्णिज्जइ निज्जूढं एवंविहमुत्तमसुमाइं ॥ सम्यग् धर्मविशेषः पारमार्थिकः यत्र ग्रन्थरूपे कषच्छेद-तापपरिशुद्धः—त्रिकोटिदोषवर्जितः वर्ण्यते, सम्यक् निर्व्यूढमेवंविधं भवति ग्रन्थरूपं तच्चोत्तमश्रुतादि, उत्तमश्रुतं—स्तवपरिज्ञा इत्येवमादीति गाथार्थः। (पञ्चव. १०२०)।

जिसमें कष, छेद और ताप से शुद्ध धर्मविशेष का (सुवर्ण के समान) समीचीनता से वर्णन किया जाता है ऐसे उत्तम श्रुत आदि को निर्व्यूढ कहा जाता है।

निर्हारिम—यद्वसतेरेकदेशे विधीयते ततः शरीरस्य निर्हरणात् निस्सारणान्निर्हारिमम्। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०२)।

जो मरण वसति के एकदेश में किया जाता है उसे निर्हारिम पादपोपगमन कहते हैं। वहां से चूंकि उसके निर्जीव शरीर का निर्हरण किया जाता है, अतः उक्त मरण की 'निर्हारिम' संज्ञा सार्थक है।

निवसनपरिमाण—देखो निवंसण।

निवृत्तिगुणस्थान—१. यद् बादरकषायाणां प्रविष्टानामिमं मिथः। परिणामा निवर्तन्ते निवृत्तिबादरोऽपि सत् ॥३६॥ (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पृ. ११२)। २. अपूर्वकरणाद्धायावचान्तर्मौहूर्तिक्याः प्रथमसमये जघन्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यध्यवसायस्थानानि असंख्येयलोकाकाशप्रदेशमात्राणि, द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि, तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि, चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं यावच्चरमसमय इति। तानि च स्थापनायां विषमचतुरस्रं क्षेत्रमास्तृणन्ति। ××× प्रथमसमयजघन्यात् प्रथमसमयोत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माद् द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्मादुत्कृष्टमनन्तगुणेन विशुद्धमिति। एवं यावद् द्विचरमसमयोत्कृष्टाच्चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्मादुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति। एकसमयगतानि तु परस्परं षट्स्थान पतितानीति। युगपदेतद्गुणस्थान प्रविष्टानां बहूनां जीवानामन्योऽन्यस्य सम्बन्धिनोऽध्यवसायस्थानस्यास्ति निवृत्तिरपीति निवृत्तिगुणस्थानमपीदमुच्यते। (कर्मस्त. गो. वृ. २)।

१ बादर कषाय से युक्त होते हुए अपूर्वकरण गुणस्थान में प्रविष्ट जीवों के परिणाम चूंकि परस्पर में निवर्तमान होते हैं, अतः इस गुणस्थान को बादरनिवृत्तिगुणस्थान भी कहा जाता है।

निश्चय काल—१. तदाधारभूतं द्रव्यं निश्चयकालः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १००)। २. णिच्छयकालु पवत्तणलक्खणु। (म. पु. पुष्प. २-४, पृ. २२)। ३. ××× वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ लोयायासपदेसे इक्केक्के जे ट्ठिया हु इक्केक्का। रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥

(द्रव्यसं. २१—२२)। ४. पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्तना भण्यते। सैव लक्षणं यस्य स वर्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः। × × × योऽसावनाद्यनिधनस्तथैवामूर्तो नित्यः समयाद्युपादानकारणभूतोऽपि समयादिविकल्परहितः कालाणुद्रव्यरूपः स निश्चयकालः। (बृ. द्रव्यसं. टी. २१, पृ. ५२)। ५. अनाद्यनिधनः समयादिकल्पनाभेदरहितः कालाणुद्रव्यरूपेण व्यवस्थितो वर्णादिमूर्तिरहितो निश्चयकालः। (पंचा. का. जय. वृ. १०१)।

१ व्यवहारकाल के आधारभूत द्रव्य को—कालाणु को—निश्चय काल कहते हैं।

निश्चय चारित्र—१. रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रम्, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचारः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५२, पृ. १९२)। २. तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थानं निश्चयचारित्रम्। (समयप्रा. जय. वृ. १६५)। ३. × × × वान्ताशेषकषायकर्मभिदुदासीनं च रूपं चितः। (अन. ध. १–९१); वान्ताश्छर्दिता स्वतो विश्लेषिता अशेषाः सर्वे कषायाः क्रोधादयो हास्यादयश्च यस्य तद्वान्ताशेषकषायम्, कर्म ज्ञानावरणादि मनोवाक्कायव्यापारांश्च भिनत्तीति कर्मभित्, उदास्यते इत्युदासीनमुपेक्षाशीलम्, वान्ताशेषकषायं च तत् कर्मभिच्च तद् वान्ताशेषकषायकर्मभित्, तच्च तदुदासीनं च तत् तथाभूतमात्मनो रूपं निश्चयसम्यक्चारित्रं स्यात्। (अन. ध. १–९१)। ४. तत्रानवरताभ्यासश्चारित्रं निश्चयात्मकम्। कर्मोपचयहेतूनां निग्रहो व्यवहारतः॥ निराकुलत्वजं सौख्यं स्वयमेवावतिष्ठतः। यदात्मनैव संवेद्यं चारित्रं निश्चयात्मकम्॥ अगोचरं तद्वचसामक्षसौख्यातिरेकभाक्। न भयं न स्पृहा यत्र चारित्रं निश्चयात्मकम्॥ (मोक्षपं. ४४–४६)।

१ औपाधिक रागादि विकल्पों से रहित स्वाभाविक सुख के स्वाद से जो चित्त की स्थिरता होती है, इसका नाम वीतराग चारित्र या निश्चय चारित्र है।

निश्चय ज्ञान—× × × शल्यत्रयविभावपरिणामप्रभृतिसमस्तशुभाशुभसंकल्प-विकल्परहितेन परमस्वास्थ्यसंवित्तिसमुत्पन्नतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणसुखामृततृप्तेन स्वेनात्मना स्वस्य सम्यग् निर्विकल्परूपेण वेदनं परिज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४२, पृ. १६१)।

समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित परमानन्दरूप आत्मा के स्वरूप का वेदन करना, यह निश्चय ज्ञान कहलाता है।

निश्चय तपश्चरणाचार—समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरंगसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतापनं विजयनं निश्चयतपश्चरणाचारः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५२, पृ. १९२)।

समस्त परद्रव्यों की इच्छाओं को रोककर अनशन आदि बारह प्रकार के तपों को तपते हुए आत्मस्वरूप में तपन को निश्चय तपश्चरणाचार कहते हैं।

निश्चय दर्शनाचार—भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धसमयसारशब्दवाच्यो भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मादिसमस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनम्, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५२)।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मादि समस्त परद्रव्यों से भिन्न उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार के श्रद्धानरूप निश्चय-सम्यग्दर्शन में आचरण करने को निश्चय दर्शनाचार कहते हैं।

निश्चय नय—१. × × × भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ। (समयप्रा. ११)। २. निश्चयमिह भूतार्थं × × ×। (पु. सि. ५)। ३. शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चनयः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–९७)। ४. भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकस्वभावं तमनुभवन्ति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य। (समयप्रा. अमृत. वृ. ११)। ५. अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः। (तत्त्वानु. २९)।

२ शुद्ध द्रव्य के निरूपण करने वाले नय को निश्चय नय या शुद्ध नय कहते हैं।

निश्चय प्रतिक्रमण—शुद्ध-निर्विकल्पपरमात्मतत्त्व-

भावनाबलेन दृष्ट-श्रुतानुभूतभोगाकांक्षास्मरणरूपाणामतीतरागादिदोषाणां निराकरणं निश्चयप्रतिक्रमणं भवति। (परमा. वृ. २-६४)।

शुद्ध, निर्विकल्प परमात्मतत्त्व की भावना के बल से दृष्ट, श्रुत व अनुभूत भोगों की स्मृतिस्वरूप अतीत रागादि दोषों के निराकरण करने को निश्चय प्रतिक्रमण कहते हैं।

निश्चय प्रत्याख्यान—१. पुनर्भाविकाले संभाविनां निखिलमोह-राग-द्वेषादिविविधविभावानां परिहारः परमार्थप्रत्याख्यानम्। अथवानागतकालोद्भवः विविधान्तर्जल्पपरित्यागः शुद्धं निश्चयप्रत्याख्यानम्। (नि. सा. वृ. १०५)। २. वीतरागचिदानन्दैकानुभूतिभावनाबलेन भाविभोगाकांक्षारूपाणां रागादीनां त्यजनं निश्चयप्रत्याख्यानं भाण्यते। (परमा. वृ. २-६४)।

२ वीतराग चिदानन्दरूप आत्मानुभूति की भावना के बल से आगामी काल में भोगों की आकांक्षारूप रागादि के त्याग को निश्चय प्रत्याख्यान कहते हैं।

निश्चय मोक्षमार्ग—१. निजनिरंजनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३९)। २. निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। (परमा. वृ. २-१४)।

१ अपने नित्य, निरंजन, शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप एकाग्र परिणति को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं।

निश्चय लोक—आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचनेनादर्शे बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते यतस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोकः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५, पृ. १२५)।

आदि, मध्य और अन्त से रहित शुद्ध-बुद्धैकस्वभावरूप परमात्मा के निर्मल केवलज्ञानरूप दर्पण में प्रतिबिम्बों के समान शुद्ध आत्मादि सर्व पदार्थ आलोकित होते हैं, इसलिए शुद्ध परमात्मा को ही निश्चय लोक कहते हैं।

निश्चय वात्सल्य—निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्व-रागादिसमस्तशुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसंजातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१, पृ. १५४)।

व्यवहार वात्सल्य गुण की सहकारिता से धर्म में दृढ़ता के हो जाने पर मिथ्यात्व व रागादि रूप समस्त शुभाशुभ बाह्य भावोंसे प्रीति छोड़कर रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित उत्कृष्ट स्वास्थ्य के संवेदन से उत्पन्न हुए शाश्वतिक परमानन्दरूप सुखामृत के रसास्वादन में प्रीति करने को निश्चय वात्सल्य कहते हैं।

निश्चय वीर्याचार—निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यनवगूहनं निश्चयवीर्याचारः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५२, पृ. १९२)।

निश्चय दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार और तपाचार की रक्षा के लिए अपनी शक्ति के नहीं छिपाने को निश्चय वीर्याचार कहते हैं।

निश्चय श्रुतकेवली—१. ××× ततो गत्यन्तराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायात्यतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एवं सति य आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव। (समयप्रा. अमृत. वृ. १०)। २. यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली। (समयप्रा. जय. वृ. १०)।

१ जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली कहलाता है। २ जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा को जानता है उसे निश्चय श्रुतकेवली कहते हैं।

निश्चय सम्यक्त्व—१. ××× णिच्छयदो अप्पाणं (सद्दहणं) हवइ सम्मत्त॥ (दर्शनप्रा. २०)। २. केवलज्ञानादिगुणास्पदनिजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. १४); तथैव तेनैव व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यं शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१, पृ. १५६)। ३. वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूति-

लक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूतम्, तदेव निश्चय-सम्यक्त्वम् । (परमा. वृ. १४३) । ४. तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वम् । (समयप्रा. जय. वृ. १६५) । ५. मिथ्यार्थाभिनिवेश-शून्यम् ××× । (अन. ध. १-९१); मिथ्या विपरीतः प्रमाणबाधितोऽर्थो मिथ्यार्थः, सर्वथैकान्त-मिथ्यार्थस्याभिनिवेश आग्रहो मिथ्यार्थाभिनिवेशः, तेन शून्यं रहितम् । अथवा मिथ्या अर्थाभिनिवेशो यस्मात् तन्मिथ्यार्थाभिनिवेशं दर्शनमोहनीयं कर्म, तेन शून्यमात्मनो रूपं निश्चयसम्यग्दर्शनं स्यात् । (अन. ध. स्वो. टी. १-९१) ।

१ आत्मा का श्रद्धान करना, यह निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है । ३ स्वकीय आत्मा के अनुभवस्वरूप जो वीतराग चारित्र का अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व है उसे निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं ।

निश्चय सम्यग्ज्ञान—१. तेषामेव (भूतार्थेनाधि-गतानां पदार्थानामेव) सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानम् । (समयप्रा. जय. वृ. १६५) । २. ××× प्रभव-त्सन्देह-मोहभ्रमम् ××× । (अन. ध. १-९१); प्रभवन्तोऽध्रियमानाः सन्देह-मोह-भ्रमा यस्य तदात्मनो रूपं निश्चयसम्यग्ज्ञानम् । (अन. ध. स्वो. टी. १-९१) ।

१ भूतार्थस्वरूप से जाने गये जीवादि पदार्थों को समीचीन बोध के द्वारा शुद्ध आत्मा से भिन्न जानना, इसे निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

निश्चय सुख—××× केवलज्ञानान्तर्भूत यदना-कुलत्वलक्षणं निश्चयसुखम् ××× । (पंचा. का. जय. वृ. ५८) ।

केवलज्ञान के अन्तर्गत आकुलता रहित सुख को निश्चय सुख कहते हैं ।

निश्चय हिंसा—बहिरङ्गान्यजीवस्य मरणेऽमरणे वा निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणप्रयत्नरहितस्य निश्च-यशुद्धचैतन्यप्राणव्यपरोपणरूपा निश्चयहिंसा भवति । ××× अयमत्रार्थः—स्व-स्वभावनारूपनिश्चय-प्राणस्य विनाशकारणभूता रागादिपरिणतिर्निश्चय-हिंसा भण्यते । (प्रव. सा. जय. वृ. ३-१७) ।

जीव मरे या न मरे, निर्विकार स्वसंवेदनरूप प्रयत्न के बिना जो निश्चय शुद्ध चैतन्यरूप प्राण का नाश होता है, इसे निश्चय हिंसा कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि अपनी अपनी भावना-रूप निश्चय प्राण के विनाश की कारणभूत रागादि परिणति को निश्चय हिंसा जानना चाहिए ।

निश्चयालोचन—निजशुद्धात्मोपलम्भबलेन वर्तमा-नोदयागतशुभाशुभनिमित्तानां हर्ष-विषादादिपरि-णामानां निजशुद्धात्मद्रव्यात् पृथक्करणं निश्चया-लोचनम् । (परमा. वृ. १६१) ।

अपनी शुद्ध आत्मा की उपलब्धि के बल से वर्त-मान में उदय को प्राप्त हुए पुण्य-पाप के निमित्तभूत हर्ष-विषादादिरूप परिणामों को अपने शुद्ध आत्मद्रव्य से पृथक् करना, इसका नाम निश्चय आलोचना है ।

निश्रावचन—एकं कंचन निश्राभूतं कृत्वा या विचित्रोक्तिरसौ निश्रावचनम् । (दशवै. नि. हरि. वृ. ७३) ।

किसी एक को आलम्बनभूत करके जो विचित्र वचन बोला जाता है उसे निश्रावचन कहते हैं ।

निश्रित—देखो निःसृत और अनिश्रित । निश्रितो लिङ्गप्रमितोऽभिधीयते । (त. भा. सिद्ध. वृ. १, १६) ।

लिंग (हेतु) से जो ज्ञान होता है उसे निश्रित अवग्रह कहते हैं ।

निषद्या—निषद्या समस्फिगुनिवेशनं पर्यङ्कबन्धा-दि । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-१६, पृ. ९३) ।

कटिभाग को सम रखकर पद्मासन आदि आसनों से बैठने को निषद्या कहते हैं ।

निषद्यापरिषहविजय—१. श्मशानोद्यान-शून्यायत-नगिरिगुहा-गह्वरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसत आदि-त्यप्रकाश-स्वेन्द्रियज्ञानपरीक्षितप्रदेशे कृतनियमक्रियस्य निषद्यां नियमितकालामास्थितवतः सिंह-व्याघ्रादि-विविधभीषणध्वनिश्रवणान्निवृत्तभयस्य चतुर्विधोप-सर्गसहनादप्रच्युतमोक्षमार्गस्य वीरासनोत्कुटिकाद्या-सनादविचलितविग्रहस्य तत्कृतबाधासहनं निषद्याप-रिषहविजयः । (स. सि. ९-९) । २. संकल्पिताना-सनादविचलनं निषद्यातितिक्षा । श्मशानोद्यान शून्या-यतन-गिरिगुहा गह्वरादिषु अनभ्यस्तपूर्वेषु विदित-संयमक्रियस्य धैर्यसहायस्योत्साहवतो निषद्यामधि-रूढस्य प्रादुर्भूतोपसर्ग-रोगविकारस्यापि सतः तत्प्रदे-

शावविचलत: मंत्र-विद्यालक्षणप्रतीकारानपेक्षमा-नस्य क्षुद्रजन्तुप्रायविषमदेशाश्रयात् काष्ठोपलवह्नि-ह्यचलस्यानुभूतमृदुकुथास्तरणादिस्पर्शसुखमविगणयत: प्राणिपीडापरिहारोद्यतस्य ज्ञान-ध्यान-भावनाधीन-धिय: संकल्पितवीरासनोत्कुटिकासनादिरतेरासनतो-ऽचलयान्निषद्यातितिक्षेत्याख्यायते। (त. वा. ९, ९, १५; चा. सा. पृ. ५२)। ३. श्मशानादिनिषिद्यासु स्त्र्यादिकण्टकवर्जिते। उपसर्गाननिष्टेष्टानेकोऽभी-रस्पृहः क्षमेत्॥ (आव. नि. हरि. वृ. ६१८, पृ. ४०३)। ४. निषीदन्त्यस्यामिति निषद्या स्थानं स्त्री-पुरुष-पण्डकविवर्जितमिष्टानिष्टोपसर्गजयिना तत्रा-नुद्विग्नेन निषद्यापरिषहजय: कार्य:। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–९)। ५. संकल्पितासनादविचलनं निषद्या-तितिक्षा। (त. श्लो. ९–९)। ६. निषिद्या श्मशा-नोद्यानशून्यायतनादिषु वीरासनोत्कुटिकाद्यासन-जनितपीडा × × × तत्क्षमणं निषद्यापरिषहजय:। (मूला. वृ. ५, ५७–५८)। ७. सर्वाशाशमहान्ध-कारपूरुत्राऽऽयामां त्रियामां यमी योगैर्योगमयत्यवा-र्यमहिमाऽऽमोर्गैर्मुहूर्तं यथा। क्षेत्रे स्त्रीजन-पश्ववद्य-रहिते हृद्ये निषद्यास्थित: सन्नत्युग्रनिशाचराप्रतिहत-ध्यानो निषद्याजयी॥ (आचा. सा. ७–२४)। ८. भीष्मश्मशानादिशिलातलादौ विद्यादिनाऽजन्य-गदाद्युदीर्णम्। शक्तोऽपि भङ्क्तुं स्थिरमङ्घ्रिपीडां त्यक्तुं निषद्यासहन: समास्ते। (अन. ध. ६–९८)। ९. श्मशानादिस्थितस्य संकल्पितवीरासनाद्यन्यत-मासनस्य प्रादुर्भूतोपसर्गस्यापि तत्प्रदेशाविचल-तोऽकृतमंत्र-विद्यादिप्रतीकारस्य अनुभूतमृद्वास्तरणा-दिकमस्मरतश्चित्तविकाररहितस्य निषद्यातितिक्षा। (आरा. सा. टी. ४०)। १०. यो मुनि: पितृवन-शून्यागार-पर्वतगुहा-गह्वरादिषु पूर्वानभ्यस्तेषु निवासं करोति, भास्कर-निजेन्द्रियज्ञानोद्योतपरीक्षितप्रदेशे क्रियाकाण्डकरणार्थं नियतकालां निषद्यामाश्रयति, तत्र च दूरक्षहर्यक्षतरक्षु-द्वीपि-गजादिनानाभयानक-पाकसत्त्वशब्दश्रवणादिनापि निर्भयो भवति, देव-तिर्यङ्मनुष्याचेतनकृतोपसर्गान् यथासम्भवं सहमा-नोऽपि वीरासन-कुक्कुटासनादिषु अविघटमानशरीरो भवति, मोक्षमार्गान्न प्रच्यवते, मंत्र-विद्यादिप्रतीकारं न करोति, पूर्वोक्तदुष्टश्वापदबाधां च सहते, तस्य मुनेर्निषद्यापरीषहजयो भवति। (त. वृत्ति. श्रुत. ९–९)।

१ श्मशान, उद्यान, सूना घर, पर्वत की गुफा और गह्वर (पर्वत का प्राकृतिक बिल) आदि अपरि-चित स्थानों में रहते हुए जो सूर्य के प्रकाश और इन्द्रियजन्य ज्ञान से परीक्षित स्थान में नियमक्रिया को करता है, नियत समय तक आसन से स्थित रहता है—उससे विचलित नहीं होता है, सिंहादि हिंसक जीवों के भयानक शब्द को सुनता हुआ भी भयभीत नहीं होता, चारों प्रकार के उपसर्ग को सहता हुआ मोक्षमार्ग में स्थिर रहता है, तथा वीरा-सन आदि आसनविशेष से स्थित होता हुआ शरीर को स्थिर रखता है; ऐसा साधु निषद्यापरीषह का जीतनेवाला होता है।

निषधाचल—१. निषीधन्ति तस्मिन्निति निषध:। यस्मिन् देवा देव्यश्च क्रीडार्थं निषीधन्ति स निषध:। (त. वा. ३, ११, ५)। २. निषीदन्ति तस्मिन्निति निषधो हरि-विदेहयोर्मर्यादाहेतु:। (त. श्लो. ३–११)।

१ जिसके ऊपर देव-देवियां क्रीड़ा के लिये स्थित होते हैं उस पर्वत को निषधाचल कहा जाता है।

निषिद्धिका (श्रुतविशेष)—णिसिहियं बहुविह-पायच्छित्तविहाणवण्णणं कुणइ। (धव. पु. १, पृ. ९८); णिसिहियं पायच्छित्तविहाणमण्णं पि आच-रणविहाणं कालमस्सिदूण परूवेदि। (धव. पु. ९, पृ. १९१)।

जिस अंगबाह्य श्रुत में बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त के विधान की प्ररूपणा की जाती है उसे निषिद्धका कहते हैं। यह सामायिक व चतुर्विंशति आदि अंग-बाह्य श्रुत के चौदह अर्थाधिकारों में से एक है।

निषिद्धिका (सामाचारविशेष)— १. कंदर-पुलिण-गुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धियं कुज्जा। (मूला. ४–१३)। २. णिसिही निषेधिका परिपृ-च्छ्य प्रवेशनम्। (मूला. वृ. ४–४)। ३. जीवानां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्। अस्माभि: स्थीयते युष्मद्दिष्ट्यैवेति निषिद्धिका॥ (आचा. सा. २–११)।

१ कन्दर (जल से विदारित स्थान), पुलिन (जल के मध्यगत जलरहित देश) और गुफा आदि में प्रवेश करते समय व्यन्तरादि से पूछ करके प्रवेश करना; इसका नाम निषिद्धिका या निषेधिका है। यह दस प्रकार के औघिक सामाचार में पांचवां है।

निशीथ (निसीह)—देखो निषिद्धिका (श्रुतवि-शेष)। पच्छन्नं तु निसीहं निसीहनामं जहज्झयणं। (आव. नि. १०२१)।

जिसका पाठ व उपदेश एकान्त में किया जाता है ऐसे प्रच्छन्न श्रुत को निशीथ कहा जाता है। यह एक लोकोत्तर श्रुत है। जैसे—आचारांग की द्वितीय चूलिका के अन्तर्गत निशीथ नामक एक अध्ययन।

निसीधिका (निसीहिया)—एगंता सालोगा णा-विविकिट्ठा ण चावि आसण्णा। वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥ (भ. आ. १६६८)।

जो एकान्त में हो, प्रकाश युक्त हो, नगर आदि से न अति दूर हो और न अति समीप भी हो, विस्तीर्ण हो, प्रासुक हो, तथा अतिशय दृढ़ हो; ऐसी निषीधिका या निषद्या होती है, जहां आराधक के निर्जीव शरीर को स्थापित किया जाता है।

निषेक—१. आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ। (ष. खं. १, ९–६, ६ व ९ आदि, पु. १५० आदि)। २. निषेचनं निषेक:, कम्मपरमाणुक्खंधणिक्खेवो णिसेगो णाम। (धव. पु. ११, पृ. २३७)। ३. आ-बाहूणियकम्मट्ठिदी णिसेगो दु सत्तकम्माणं। (गो. क. १६० व ९१९)। ४. आबाधोर्ध्वंस्थिता-वस्था समयं समयं प्रति। कर्माणुस्कन्धनिक्षेपो निषेक: सर्वकर्मणाम् ॥ (पंचसं. अमित. २०९, पृ. १११)। ५. निषेकस्य प्रतिसमयं बहु-हीन-हीनतरस्य दलिकस्यानुभवनार्थं रचना निषत्तमपीह निषेक उच्यते। (समवा. अभय. वृ. १५४)।

१ विवक्षित कर्म की स्थिति में से उसके आबाधाकाल को घटा देने पर शेष रही स्थिति प्रमाण उसका निषेक—प्रत्येक समय में क्रम से उदय में आने वाला कर्मस्कन्ध—होता है। विशेष इतना है कि आयु कर्म की निषेकरचना उसकी स्थिति के समयों प्रमाण ही होती है।

निषेकक्षुद्रभवग्रहण—सुहुमेइंदियअपज्जत्तसंजुत्तो बद्धण्णाउअबंधो णिसेयखुद्दाभवग्गहणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३६२)।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त नामकर्म के साथ जो जघन्य आयु का बन्ध होता है उसका नाम निषेकक्षुद्र-भवग्रहण है।

निषेकस्थितिप्राप्तक—१. जं कम्मं जिस्से ट्ठिदीए णिसित्तं ओकड्डिदं वा उक्कड्डिदं वा तिस्से चेव ट्ठिदीए उदए दिस्सइ तं णिसेयट्ठिदिपत्तयं। (कषाय-पा. चू. पृ. २३६)। २. जं कम्मं जिस्से ट्ठिदीए णिसित्तं तमोकड्डुक्कड्डणाहि हेट्ठिम-उवरिमट्ठिदीसु गंतूण पुणो ओकड्डुक्कड्डणवसेण ताए चेव ट्ठिदीए होदूण जहाणिसित्तेहि सह उदए दिस्सदि तण्णिसेय-ट्ठिदिपत्तयं णाम। (धव. पु. १०, पृ. ११३)।

१ जो कर्मप्रदेशाग्र बंधने के समय में ही जिस स्थिति में निषिक्त कर दिया गया है वह अपकर्षित उत्कर्षित होकर उसी स्थिति में यदि उदय में आता है तो उसे निषेकस्थितिप्राप्तक कर्म कहते हैं।

निषेधिका—देखो निषिद्धिका।

निष्कल परमात्मा—निष्कलो मुक्तिकान्तेशश्चिद-दानन्दैकलक्षण:। अनन्तसुखसंतृप्त: कर्माष्टकविव-र्जित: ॥ (भावसं. वाम. ३५७)।

जो आठ कर्मों से रहित होकर मुक्तिरूप कान्ता का स्वामी हो चुका है—सिद्ध हो चुका है—वह अनन्त सुख का अनुभव करने वाला निष्कल परमात्मा कहलाता है।

निष्काङ्क्षा गुण—देखो नि:कांक्षित अंग। इह-लोक-परलोकाशारूपभोगाकाङ्क्षानिदानत्यागेन केव-लज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं ज्ञान-पूजा-तपश्च-रणाद्यनुष्ठानकरणं निष्काङ्क्षागुण:। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१)।

इस लोक और पर लोक में आशारूप भोगाभिला-षास्वरूप निदान को छोड़कर केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की अभिव्यक्तिरूप मोक्ष के निमित्त ज्ञान, पूजा और तपश्चरण आदि का जो अनुष्ठान किया जाता है उसे निष्कांक्षा गुण कहते हैं।

निष्कांक्षित—देखो नि:कांक्षित। तथा निष्कांक्षितो देश-सर्वकांक्षारहित:। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८२, पृ. १०२; द. वि. मु. वृ. २–११)।

देशकांक्षा और सर्वकांक्षा से रहित सम्यग्दृष्टि जीव को निष्कांक्षित कहते हैं।

निष्कृप—चंकमणाई सत्तो सुनिक्किवो थावराइ-सेसु। काउं च नाणुतप्पइ एरिसओ निक्किवो होइ ॥ (बृहत्क. १३१९)।

कार्यान्तर में आसक्त कोई निर्दय मनुष्य स्थावर आदि जीवों में गमनादि कार्यों को करता है, फिर भी वैसा करता हुआ वह उसके लिए पश्चात्ताप नहीं करता है। ऐसा मनुष्य निष्कृप कहलाता है।

निष्क्रिय—१. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायः द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। तस्या निष्क्रान्तानि निष्क्रियाणि। (स. सि. ५–७; त. वा. ५, ७, १–२)। २. अपेतक्रियाणि निष्क्रियाणि, करणं क्रिया द्रव्यस्य भावस्तेनाकारेण। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–६)। ३. बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् संजायमानो द्रव्यस्य पर्यायः देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया, तस्याः क्रियायाः निष्क्रान्तानि निष्क्रियाणि। (त. वृत्ति श्रुत. ५–७)।

१ बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के निमित्त से द्रव्य में जो देशान्तर की प्राप्ति में कारणभूत पर्याय उत्पन्न होती है उसे क्रिया कहा जाता है। इस क्रिया से जो द्रव्य रहित हैं वे निष्क्रिय कहलाते हैं।

निष्ठानकथा—१. अमुकस्य रसवत्यां रूपकशतं लगत्यमुकस्य पञ्च शतानि तावद्यावदमुकस्य लक्षपाका रसवती भवतीत्येवंस्वरूपा निष्ठानकथेति। (आव. हरि. वृ. मल. हे. टि. पृ. ६२)। २. एतावत् द्रविणं तत्रोपयुज्यत इति निष्ठानकथा। (स्था. भा. अभय. वृ. २८२)।

१ अमुक की रसोई (भोजन) में प्रतिदिन सौ रुपया लगते हैं और अमुक की रसोई में पांच सौ रुपया खर्च होते हैं, इस क्रम से अमुक की रसोई का पाक एक लाख रुपया तक में सम्पन्न होता है, इत्यादि प्रकार से भोजन सम्बन्धी चर्चा करने को निष्ठानकथा कहते हैं।

निष्ठीवन—××× निष्ठीवनाह्वयः। स्वेन क्षेपे कफादेः स्यात ××× (अन. ध. ५-५५); निष्ठीवनाह्वयः स्यात्। क्व सति ? कफादेः श्लेष्म-थूत्कादेः क्षेपे निरसने कृते सति। केन ? स्वेनात्मना, न कासादिवशतः। (अन. ध. स्वो. टी. ५–५५)।

भोजन करते समय साधु के मुख से कफादि के निकल जाने पर निष्ठीवन नामका अन्तराय होता है।

निसर्ग—१. निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः। (स. सि. १–३); निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्तनम्। (स. सि. ६–९)। २. निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेश इत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. १–३)। ३. निसर्जनं निसर्गः, स्वभाव इत्यर्थः। (त. वा. १–३); निसृज्यतेऽसौ निसर्ग इति। अथवा भावसाधनो ××× निसृष्टिर्निसर्ग इति। (त. वा. ६, ९, १)। ४. अपूर्वकरणानन्तरभाव्यनिवर्तिकरणं निसर्गः, तत्तस्तत्त्वरुचिभावात्। निसृज्यते त्यज्यते तत्त्वरुच्याख्यकार्यनिर्वृत्तौ सत्यामिति निसर्गः। (त. भा. हरि. वृ. १–३)। ५. यत्तदपूर्वकरणानन्तरभाव्यनिवृत्तिकरणं तत् निसर्ग इति भण्यते। ××× निसृज्यते त्यज्यतेऽसौ कार्यनिर्वृत्तौ सत्यामिति निसर्गः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३, पृ. ३५–३६); निसर्जनं निसर्गः त्यागः उज्झनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६, १०)। ६. निसर्गः स्वभावो गुरूपदेशादिनिरपेक्षः सम्यक्श्रद्धानकारणम्। (योगशा. स्वो. विव. १–१७, पृ. ११६)। ७. निसृज्यते प्रवर्तते निसर्गः प्रवर्तनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६–९)।

१ निसर्ग नाम स्वभाव का है, यह क्वचित् सम्यग्दर्शन का हेतु हुआ करता है। मन, वचन और काय से प्रवृत्ति करने को निसर्ग अधिकरण कहते हैं। ४ अपूर्वकरण परिणाम के अनन्तर जो तत्त्वश्रद्धा का कारणभूत अनिवृत्तिकरण होता है उसे निसर्ग कहा जाता है। निसर्ग का अर्थ है छूट जाना है, सो वह सम्यग्दर्शन के उत्पन्न हो जाने पर छूट ही जाता है।

निसर्गक्रिया—१. पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, १०)। २. निसर्गक्रिया चिरकालप्रवृत्तिः, परदेशितयाऽपार्थानुज्ञा। (त. भा. हरि. वृ. ६–६)। ३. पापादानादिवृत्तीनामभ्यनुज्ञानमात्मना। सा निसर्गक्रिया नाम्ना निसर्गेणासवावहा। (ह. पु. ५८, ७५)। ४. पापप्रवृत्तावन्येषामभ्यनुज्ञानमात्मना। स्यान्निसर्गक्रियालस्यादकृतिर्वा सुकर्मणाम्॥ (त. श्लो. ६, ५, १८)। ५. चिरकालप्रवृत्तपरदेशिनि पापार्थे यदनुज्ञानं सा निसर्गक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)। ६. पापप्रवृत्तौ परानुमतदानं निसर्गक्रिया। (त. वृत्ति श्रुत. ६–५)।

१ पाप की कारणभूत प्रवृत्तिविशेष की अनुमोदना करने को निसर्गक्रिया कहते हैं।

निसर्गज सम्यग्दर्शन— देखो निसर्ग सम्यग्दर्शन।

निसर्गरुचि—देखो निसर्ग व नैसर्गिक सम्यग्दर्शन ।

निसर्ग सम्यग्दर्शन—१. भूयत्थेणाहिगया जीवाऽजीवा य पुण्ण पावं च । सहसम्मुइया ऽऽसव-संवरे य रोएइ उ निसग्गो ।। (प्रज्ञाप. गा. ११६, पृ. ५६; उत्तरा. २८–१७); जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव । एमेय नऽन्नहत्ति य निसग्गरुइत्ति नायव्वो ।। (प्रज्ञाप. गा. १२१; उत्तरा. २८-१८; प्रव. सारो. ९५१) । २. निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेश इत्यनर्थान्तरम् । ज्ञान-दर्शनोपयोगलक्षणो जीव इति वक्ष्यते । तस्यानादौ संसारे परिभ्रमतः कर्मत एव कर्मणः स्वकृतस्य बन्ध-निकाचनोदय-निर्जरापेक्षं नारक-तिर्यग्योनि-मनुष्यामरभवग्रहणेषु विविधं पुण्य-पापफलमनुभवतो ज्ञान-दर्शनोपयोगस्वाभाव्यात् तानि तानि परिणामाध्यवसायस्थानान्तराणि गच्छतो ऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि सतः परिणामविशेषादपूर्वकरणं तादृग्भवति येनास्यानुपदेशात् सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते इत्येतन्निसर्गसम्यग्दर्शनम् । (त. भा. १-३)। ३. एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च । (प्रशमर. २२३) । ४. अथवा यथा कुरुक्षेत्रे क्वचित् कनकं बाह्यपौरुषेयप्रयत्नाभावात् जायते तथा बाह्यपुरुषोपदेशपूर्वकजीवाद्यधिगममन्तरेण यज्जायते तन्निसर्गजम् । (त. वा. १, ३, ८) । ५. अपरोपदेशात्तथा भव्यत्वादितः कर्मोपशमादिजं तु निसर्गसम्यग्दर्शननम् । (त. भा. हरि. वृ. १–३) । ६. आत्मनस्तीर्थंकराद्युपदेशदानमन्तरेण स्वत एव जन्तोर्यत् कर्मोपशमादिभ्यो जायते तत् निसर्गसम्यग्दर्शनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३) । ७. निसर्गः स्वभावस्तेन रुचिः जिनप्रणीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्य स निसर्गरुचिः । (प्रव. सारो. वृ. ९५१, पृ. २८३) । ८. अथानिवृत्तिकरणादन्तरकरणे कृते । मिथ्यात्वं विरलीकुर्युर्वेदनीयं यदग्रतः ।। आन्तर्मुहूर्तिकं सम्यग्दर्शनं प्राप्नुवन्ति यत् । निसर्गहेतुकमिदं सम्यक्श्रद्धानमुच्यते ।। (योगशा. स्वो. विव. १–१७, पृ. ११८; त्रि. श. पु. च. १, १, ६१६–६१७— 'विरलीकृत्य चतुर्गतिकजन्तवः ।।' इति अत्र पाठभेदः) । ९. विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे । तत्त्वबोधः निसर्गः स्यात् × × ×।। (धर्म. श्र. २-४८)। १०. परोपदेशमन्तरेण यज्जायते तन्निसर्गमित्याख्यायते । (त. सुखबो. वृ. १–३)। ११. यत्सम्यग्दर्शनं बाह्योपदेशं विना उत्पद्यते तत्सम्यग्दर्शनं निसर्गजमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. १-३)।

१ यथार्थ स्वरूप से जाने गये जीव-अजीवादि पदार्थों का जो आत्मसंगत मति से—परोपदेशनिरपेक्ष जातिस्मरणादिरूप प्रतिभा से—स्वयं श्रद्धान करता है उसे निसर्गरुचि दर्शन-आर्य कहा जाता है। ४ जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में कहीं पर कनक (सुवर्ण) पुरुषप्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार बाह्य पुरुष के उपदेशपूर्वक जो जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है उसके बिना उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

निस्तरण—१. उपयोगान्तरेणान्तर्हितानां दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं साधनं भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम् । (भ. आ. विजयो. २) । २. णिच्छरणं—भवान्तरप्रापणम्, निस्तरो मरणान्तप्रापणम् । (भ. आ. मूला. २) ।

१ अन्य उपयोग से अन्तर्हित दर्शनादि परिणामों को सिद्ध करना व उन्हें भवान्तर में प्राप्त कराना, यह उक्त दर्शनादि का निस्तरण है।

निह्नव—१. कुल-वय-सीलविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं । कुल-वय-सीलमहल्ले णिण्हववदोसो दु जप्पंतो ।। (मूला. ५–८६) । २. कुतश्चित्कारणान्नास्ति न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं निह्नवः । (स. सि. ६–१०) । ३. णिण्हवो णाम पुच्छिओ संतो सव्वहा अवलवइ । (दशवै. चू. पृ. २८५) । ४. पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः । यत्किंचित् परनिमित्तमभिसन्धाय नास्ति न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं वचनं निह्नवः । (त. वा. ६, १०, २) । ५. परातिसन्धानतो व्यपलापो निह्नवः । (त. श्लो. ६-१०) । ६. निह्नवोऽपलापः कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरित्यभिसन्धानमपलापः । (भ. आ. विजयो. ११३) । ७. अन्यतः श्रुतमधीत्यान्यस्य गुरोः कथनं गुरोरपलापः । (भ. आ. मूला. ११३) । ८. यत् किमपि कारणं मनसि धृत्वा विद्यमानेऽपि ज्ञानादौ एतदहं न वेद्मि एतत्पुस्तकादिकमस्मत्पार्श्वे न वर्तते, इत्यादि ज्ञानस्य अपलपनं विद्यमानेऽपि 'नास्ति' कथनं निह्नवः उच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ६–१०) ।

१ जो कुल, व्रत और शील से हीन हैं उनसे सूत्रार्थ

को जानकर जो कुल, व्रत और शीलसे महान् हैं उनके नाम का उल्लेख करने वाला निह्नव दोष का भागी होता है। तीर्थंकर, गणधर और सात प्रकार की ऋद्धि से जो युक्त होते हैं वे कुलादि से महान् माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष मुनि जनों को कुलादि से हीन जानना चाहिए। २ किसी कारण से 'वह मेरे पास नहीं है या मैं उसे नहीं जानता हूं' इस प्रकार से ज्ञान का अपलाप करने को निह्नव कहा जाता है।

निःकांक्षित—१. जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु। सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो। (समयप्रा. २४८)। २. कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था-श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता। (रत्नक. १२)। ३. उभय-लोकविषयोपभोगाकांक्षानिवृत्तिः कुदृष्टयन्तराकां-क्षानिरासो वा निःकांक्षता। (त. वा. ६, २४, १)। ४. निर्गता कांक्षा अन्यान्यदर्शनग्रहणरूपा यस्यासौ निराकांक्षा। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ६९, पृ. १६१)। ५. इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्व-केशवत्वादीन्। एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च न काङ्क्षेत्॥ (पु. सि. २४)। ६. यतो हि सम्य-ग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कां-क्षः। (समयप्रा. अमृत. वृ. २४८)। ७. ऐहलौ-किक-पारलौकिकेन्द्रियविषय उपभोगा(कार्ति. टी. 'विषयभोगोपभोगा') कांक्षानिवृत्तिः, कुदृष्टयन्तरा (कार्तिके. टी. 'ष्टयाचारा') कांक्षानिरासो वा निःकांक्षता। (चा. सा. पृ. ३; कार्तिके. टी. ४२६)। ८. जो सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं। मोक्खं समीहमाणो णिक्कंखा जायदे तस्स॥ (कार्तिके. ४१६)। ९. विधीयमानाः शम-शील-संयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम्। सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं निष्कांक्षितो नेति करोति काङ्क्षाम्॥ (अमित. श्रा. ३-७४)। १०. कांक्षा इह-परलोकभोगाभिलाषः, कांक्षाया निर्गतो निष्कां-क्षस्तस्य भावो निष्कांक्षता सांसारिकसुखारुचिः। (मूला. वृ. ५-४)। ११. वांछाऽभावोऽन्यदृग्ज्ञान-वृत्तोत्कर्षेष्वकांक्षता। अत्राऽमुत्र च जाते वा नश्वरे-न्द्रियजे सुखे॥ (आचा. सा. ३-५५)। १२. निः-कांक्षितो देश-सर्वकांक्षारहितः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-६४)। १३. संसारेन्द्रियभोगेषु सर्वेषु भंगु-रात्मसु। निरीहभावना यत्र सा निष्कांक्षा स्मृता बुधैः॥ (भावसं. वाम. ४११)। १४. इह-परलो-कभोगोपभोगकांक्षारहितं निःकांक्षित्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२४)। १५. इहलोक-परलोकभोगोपभोगा-कांक्षानिवृत्तिर्निष्कांक्षितत्वम्। (भावप्रा. टी. ७७)।

१ जो कर्म के फल—सातावेदनीयजन्य सुख—एवं समस्त वस्तुधर्मों के विषय में कांक्षा (अभिलाषा) को नहीं करता है उसे निःकांक्षित अंग का धारक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। १२ जो देशकांक्षा और सर्वकांक्षा से रहित होता है उसे निःकांक्षित कहा जाता है।

निःशङ्क—१. सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण। सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥ जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे। सो णिस्संको चेदा सम्मा-दिट्ठी मुणेदव्वो॥ (समयप्रा. २४६-४७)। २. इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्य-कम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥ (रत्नक. ११)। ३. इहलोक-परलोक-व्याधि-मरणासंयमा-रक्षणाकस्मिकसप्तविधभयविनिर्मुक्तता, अर्हदुपदिष्टे वा प्रवचने किमिदं स्याद्वा नवेति शंकानिरासो निः-शंकितत्वम्। (त. वा. ६, २४, १)। ४. निः-शङ्कित इत्यत्र शङ्का शङ्कितम्, निर्गतं शङ्कितं यतो-ऽसौ निःशङ्कितः, देश-सर्वशङ्कारहित इत्यर्थः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १८२, पृ. १०१; उत्तरा. ने. वृ. २८-३१; व. बि. मु. वृ. २-११)। ५. आर्हते प्रवचने निर्गता शङ्का देश-सर्वरूपा यस्य स निःशङ्कः, 'तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदि-तम्' इत्येवं कृताध्यवसायः। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ६९, पृ. १६१)। ६. यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबन्धशंकाकर-मिथ्यात्वादिभावाभावान्निःशंकः। (समयप्रा. अमृत. वृ. २४०)। ७. सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तु-जातमखिलज्ञैः। किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्तव्या। (पु. सि. २३)। ८. तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिर्मरणम् अगुप्तिः अत्राणं आकस्मिक इति सप्तविधाद् भयाद् विनिर्मुक्तता, अथवा ऽर्हदुपदिष्टद्वादशांगप्रवचनगहने एकमक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वा न वेति शंकानिरासो निःशंकितत्वम्।

(भा. सा. पृ. २)। ९. विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना जिनेशिनोक्ते कथिता न वेति यः। करोति शङ्कां न कदापि मानसे निःशङ्कितोऽसौ गदितो महामनाः॥ (अमित. श्रा. ३-७३)। १०. किं जीवदया धम्मो जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो। इच्चेवमादिसंका तदकरणं जाण णिस्संका॥ दयभावो वि य धम्मो हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो। इदि संदेहाभावो णिस्संका णिम्मला होदि॥ (कार्तिके. ४१४-१५)। ११. निश्चयेन पुनः व्यवहारनिःशङ्कागुणस्य सहकारित्वेनेहलोकात्राणागुप्ति-मरण-व्याधि-वेदनाऽऽकस्मिकाभिधानभयसप्तकं मुक्त्वा घोरोपसर्ग-परीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावेनैव निःशङ्कगुणो ज्ञातव्यः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४१, पृ. १४९)। १२. शंका निश्चयाभावः शुद्धपरिणामाच्चलनम्, शंकाया निर्गतो निःशंकस्तस्य भावो निःशंकता तत्त्वरुचौ शुद्धपरिणामः। (मूला. वृ. ५-४)। १३. हेतुद्वयोत्थकार्यानुमेयेयं भवितव्यता। दुर्लंघ्येति भयाऽभावो निःशकत्वं भयोदये॥ भयमाकस्मिकं पारलौकिकं चैहलौकिकम्। मृत्यु-गुप्तित्रआत्राणैः संजातमिति सप्तधा॥ किं स्यात्सत्यमिदं नो वेत्याप्तोक्ते संशयोज्झिता। मतिस्तत्त्वाचलप्रीतिः परा निःशंकिता मता॥ (लाटी. सा. ३, ५२-५४)। १४. णिस्संको—जो णिस्संकितो सेवइ। (जीतक. चू. १, पृ. ३)। १५. निर्गतं शंकितं यस्मादसौ निःशंकितः, देश-सर्वशंकारहितमित्यर्थः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-६४); निःशङ्को निर्व[र्ग]य इह-परलोकशङ्कारहित इत्यर्थः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०-६३४)। १६. इदमेवेदृशं तत्त्वं जिनोक्तं तच्च नान्यथा। इत्यकम्पा रुचिर्यासौ निःशंकांगं तदुच्यते॥ (भावसं. वाम. ४१०)। १७. इहलोकभयं परलोकभयं पुत्राद्यरक्षणमत्राणभयं आत्मरक्षोपायदुर्गाद्यभावादगुप्तिभयं मरणभयं वेदनाभयं विद्युत्पाताद्याकस्मिकभयमिति सप्तभयरहितत्वं जैनं दर्शनं सत्यमिति च निःशंकितत्वमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२४)। १८. इहलोकभय-परलोकभय-वेदनाभय-मरणभय-आत्मरक्षोपायदुर्गाद्यभावागुप्तिभय-अत्राणभयारक्षणभय-विद्युत्पाताद्याकस्मिकभय इति सप्तभयरहितत्वं निःशंकितत्वं निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्ग इति जिनमतं तथेति वा निःशंकितत्वं निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्ग इति जिनमतं तथेति वा निःशंकितत्वम्। (भावप्रा. टी. ७७)। १९. अर्हदुपदिष्टद्वादशांगप्रवचनगहने एकाक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वाच (?) वेति शंकानिरासः जिनवचनं जैनं दर्शनं च सत्यमिति निःशंकितत्वनामा गुणः। (कार्तिके. टी. ३२६)। २०. शंका भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी। तस्या निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशंकितोऽर्थतः॥ (लाटीसं. ४-५; पंचाध्या. २-४८१)।

१ जो सम्यग्दृष्टि जीव इहलोकभय व परलोकभय आदि सात प्रकार के भय से रहित हो चुके हैं वे निःशंक—निःशंकित अंग के धारक—होते हैं। वे निःशंक सम्यग्दृष्टि कर्मबन्ध के कारणभूत होकर आत्मभेद के उत्पन्न करने में मोह के जनक व बाधा पहुंचाने वाले ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप चारों पायों के छेदनेवाले हैं। ५ जिनागम के विषय में जिसकी देशशंका और सर्वशंका दोनों प्रकार की शंका नष्ट हो चुकी है तथा जिसे 'जिनदेव ने जो कहा है वही सत्य है' ऐसी दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई है उसे ही निःशंक कहा जाता है।

निःशंकित— देखो निःशंक।

निःशेषवाचनाविनय—तथा निःशेषम्, किमुक्तं भवति? यावत्समाप्तं भवति तावद्वाचयति, एष निःशेषवाचनाविनयः। (व्यव. भा. १०-३१४)।

विवक्षित आगम के समाप्त होने तक उसके वाचन को निःशेषवाचनाविनय कहते हैं। यह श्रुतविनय के चार (सूत्र, अर्थ, हित व निःशेष) भेदों में अन्तिम है।

निःश्रेयस—१. जन्म-जरामय-मरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्। निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥ (रत्नक. १३१)। २. केवलज्ञानकल्याणं निर्वाणकल्याणमनन्तचतुष्टयं परमनिर्वाणपदं च निःश्रेयमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२६)।

१ जन्म, जरा, रोग, मरण, शोक, दुःख और भय से रहित तथा शुद्ध (निर्बाध) सुख से युक्त निर्वाण (मोक्ष) को निःश्रेयस कहा जाता है।

निःश्वसित—अधः श्वसितं निःश्वसितम्। (आव. नि. हरि. वृ. १४९८, पृ. ७७८; योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)।

नीचे सांस लेने को निःश्वसित कहते हैं।

निःश्वसितोच्छ्वसितसम— निःश्वसितोच्छ्वसितसमानमनतिक्रमतो यद् गेयं तन्निःश्वसितोच्छ्वसितसमम् । (अनुयो. गा. मल. हे. वृ. ५०, पृ. १३२)।

प्राण (निःश्वास और उच्छ्वास) का उल्लंघन न करके जो गाना गाया जाता है उसे निःश्वसितोच्छ्वसितसम कहते हैं। यह अक्षरसम-पदसम आदि सात स्वरभेदों में छठा है।

निःश्वास—देखो उच्छ्वास। १. ताः (आवलिकाः) संख्येया उच्छ्वासः तथा निःश्वासः। तौ बलवतः पट्विन्द्रियस्य कल्पस्य मध्यमवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः। (त. भा. ४–१५)। २. संखेज्जा आवलिया निस्सासो—हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो। एगे ऊसास-णीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥ (भगवती ६, ७, २४६—सुत्तागमे १, पृ. ५०३; जम्बूद्वी. सू. १८, पृ. ८९; अनुयो. सू. १३७, पृ. १७८–७९)। ३. समया य असंखेज्जा हवइ हु निस्सासो। (ज्योतिष्क. ८)। ४. असंख्येयावलिका एक उच्छ्वासस्तावानेव निःश्वासः। (त. वा. ३, ३८, ७)। ५. ताः संख्येयाः आवलिकाः उच्छ्वास एकः, तथा निश्वास एकः एवंमान एव, एतद्भेदश्चोर्ध्वाधोगमनभेदात्। तावुच्छ्वास-निःश्वासौ बलवतः शरीरबलेन, पट्विन्द्रियस्यानुपहतकरणग्रामस्य, कल्पस्य—निरुजस्य, मध्यमवयसः—भद्रयौवनवतः, स्वस्थमनसः—अनाकुलचेतसः, पुंसः—पुरुषस्य—प्राणो नाम कालभेदः। (त. भा. हरि. वृ. ४–१५)। ६. ताः संख्येयाः (४४४६$\frac{३४५८}{३७७३}$) तस्य आवलिका एक उच्छ्वासो निःश्वासो वा ऊर्ध्वाधोगमनभेदात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ७. संख्येयाऽऽवलिका निःश्वासः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४४)। ८. समया असंख्येया एक उच्छ्वास-निःश्वासो भवति। किमुक्तं भवति? अनन्तरोक्तस्वरूपाः समया जघन्ययुक्तासंख्यातप्रमाणा एकाऽऽवलिका, संख्येयावलिका एक उच्छ्वासः, तावत्प्रमाण एवैको निःश्वासः। तयोश्चायं भेदः—ऊर्ध्वगमनस्वभाव उच्छ्वासः अधोगमनस्वभावो निःश्वासः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ८)।

१ संख्यात आवली प्रमाण काल को उच्छ्वास और निःश्वास कहते हैं। इन दोनों (उच्छ्वास-निःश्वास) को प्राण कहा जाता है जो बलवान्, स्वस्थमन व मध्यम वयवाले (जवान) मनुष्य के हुआ करते हैं। ३ असंख्यात समय प्रमाण निःश्वास होता है। ४ असंख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास और उतना ही निःश्वास होता है।

निःसरणात्मक तैजस—१. यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसंयुक्तं बहिर्निष्क्रम्य परिवृत्याऽवतिष्ठमानं निष्पावहरितफलपरिपूर्णां स्थालीमग्निरिव पचति, पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति, तदेतन्निःसरणात्मकम्। (त. वा. २, ४९, ८)। २. जं तं णिस्सरणप्पयं तेजइयसरीरविउव्वणं तं दुविहं पसत्थमप्पसत्थं चेदि। तत्थ अप्पसत्थं बारहजोयणायामं णवजोयणवित्थारं सूचिअंगुलस्स संखेज्जदिभागबाहल्लं जासवणकुसुमसंकासं भूमि-पव्वदादिदहणक्खमं पडिवक्खरहियं रोसिंधणं वामंसप्पभवं इच्छियखेत्तविसप्पणं। जं त पसत्थं तं पि एरिसं चेव, णवरि हंसधवलं दक्खिणंससंभवं अणुकंपाणिमित्तं मारि-रोगादिपसमणक्खमं। (धव. पु. ४, पृ. २८)। ३. स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किंचित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेः मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादसयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह भस्म व्रजति द्वीपायनवत्। असावशुभतेजःसमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. १०, पृ. २१)। ४. कश्चिद् यतिरुग्रचारित्रो वर्तते। स तु केनचिद् विराधितः सन् यदाऽतिक्रुद्धो भवति, तदा वामस्कन्धाज्जीवप्रदेशसहितं तैजसं शरीरं बहिर्निर्गच्छति। तद् द्वादशयोजनदीर्घं नवयोजनविस्तीर्णं काहलाकारं जाज्वल्यमानाग्निपुञ्जसदृशं दाह्यं वस्तु परिवेष्ट्यावतिष्ठते। यदा तत्र चिरं तिष्ठति तदा दाह्यं वस्तु भस्मसात्करोति। व्याघुट्य यतिशरीरे प्रविशत् सत् तं यतिमपि विनाशयति। एतत्तैजसं निःसरणात्मकमुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २–४८)।

१ महान् चारित्र के धारक मुनि के क्रोधित होने पर जीवप्रदेशों से युक्त तैजस शरीर बाहिर निकल कर जलाने योग्य पदार्थ को घेर कर स्थित होता है और जिस प्रकार निष्पाव (धान्यविशेष) और हरित फलों से परिपूर्ण थाली को अग्नि पका देती है उसी प्रकार वह तैजस दाह्य पदार्थ को पका कर

जोड़ जाता है। यदि वह बहुत समय तक ठहरता है तो दाह्य पदार्थ को भस्मसात् कर देता है। यह निःसरणात्मक तैजस है। ३ अशुभ निःसरणात्मक तैजस शरीर विरुद्ध वस्तु को जलाकर उसी संयमी साधु के साथ स्वयं भी भस्मसात् हो जाता है। इसके लिए द्वीपायन मुनि का उदाहरण है।

निःसंग साधु—जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं। तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥ (समयप्रा. १२५ क्षे.)।

जो साधु सर्व प्रकार के परिग्रह को छोड़कर उपयोगमय शुद्ध आत्मा को जानता हैं उसे निःसंग साधु कहते हैं।

निःसार—'निःसारं' परिफल्गु वेदवचनवत्। (आव. नि. हरि. वृ. ८८१)।

वेदवचन के समान जो वचन सारहीन हो वह निःसार कहलाता है। यह ३२ सूत्रदोषों में सातवां है।

निःसृत ज्ञान—१. अनिःसृतग्रहणम् असकलपुद्गलोद्गमार्थम् (निःसृतग्रहणं सकलपुद्गलोद्गमार्थम्)। (स. सि. १–१६; त. वा. १, १६, ११)। २. निश्रितमवगृह्णाति—तमेव वेण्वादिशब्दमन्यसापेक्षमिति। (त. भा. हरि. वृ. १–१६)। ३. अहिमुह-अत्थग्गहणं णिसियावग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. २०)। ४. इतरस्य (निःसृतस्य) सकलपुद्गलोद्गतिमतः ××× अवग्रहः। (त. श्लो. १–१६, पृ. २२४)। ५. यदा त्वेतस्मादाख्यालिंगात् परिच्छिनत्ति निश्रितं तदा सलिंगमवगृह्णातीति भण्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१६)। ६. अभिमुखार्थग्रहणं निःसृतावग्रहः। (मूला. वृ. १२, १८७)। ७. वस्त्वेकदेशमात्रस्य विज्ञानं निःसृतं मतम्। घटार्वाग्भागमात्रेऽपि क्वचिज्ज्ञानं हि दृश्यते ॥ (आचा. सा. ४–२२)। ८. स्वयमेव परोपदेशमन्तरेणैव कश्चित्प्रतिपद्यते तद्ग्रहणं निःसृतम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–१६)।

१ समस्त पुद्गल के प्रगट होने पर जो उसका अवग्रहादिरूप ज्ञान होता है उसे निःसृतज्ञान कहते हैं। २ अन्य शब्द की अपेक्षा करके जो वेणु (बांस) आदि के शब्द का ग्रहण होता है वह निश्रितज्ञान कहलाता है। ५ लिंग से जब ज्ञान होता है तब उसे सलिंग निश्रितज्ञान कहा जाता है।

निःसृष्टार्थ (दूत)—यत्कृतौ स्वामिनः सन्धि-विग्रहौ प्रमाणं स निःसृष्टार्थो यथा कृष्णः पाण्डवानाम्। (नीतिवा. १३–४, पृ. १७०)।

जिसके द्वारा किये गये सन्धि और विग्रह (युद्ध) स्वामी को प्रमाण होते हैं उसे निःसृष्टार्थ कहते हैं।

नीचगोत्र—१. यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्। (स. सि. ८–१२)। २. विपरीतं नीचैर्गोत्रं चाण्डाल-मुष्टिक-व्याध-मत्स्यबन्ध दास्यादिनिर्वर्तकम्। (त. भा. ८–१३)। ३. गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम्। गर्हितेषु दरिद्राप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्। (त. वा. ८, १२, ३)। ४. नीचैर्गोत्रं तु यदुदयाज्ज्ञानादियुक्तोऽपि निन्द्यते। (श्रा. प्र. टी. २५)। ५. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं णीचगोदं होदि तं णीचगोदं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७८); दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधान व्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तानः उच्चैर्गोत्रम्। ××× तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्। (धव. पु. १३, पृ. ३८९)। ६. गर्हितेषु यत्कृतं तन्नीचैर्गोत्रम्। (त. श्लो. ८–१२)। ७. गोत्रमुच्चैश्च नीचैश्च तत्र यस्योदयात् कुले। पूजिते जन्म तदुच्चैर्नीचैर्नीचकुलेषु तत् ॥ (ह. पु. ५८–२७९)। ८. सधणो रूवेण जुओ, बुद्धीनिउणो वि जस्स उदएणं। लोयम्मि लहइ निन्दं, एयं पुण होइ नीयं तु ॥ (कर्मवि. ग. १५५)। ९. उच्चैर्नीचैर्भवेद् गोत्रं कर्मोच्चैर्नीचगोत्रकृत्। क्षीरभाण्ड-सुराभाण्डभेदकारिकुलालवत्। (त्रि. पु. च. २, ३, ४७४)। १०. यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्। (मूला. वृ. १२–१९७)। ११. नीचैर्गोत्रं यदुदयात् ज्ञानादिगुणयुक्तोऽपि दुष्कुलोत्पन्नत्वेन निन्द्यते। (धर्मसं. मलय. वृ. ६२२)। १२. यदुदयवशात् पुनर्ज्ञानादिसम्पन्नोऽपि निन्दां लभते हीनजात्यादिसम्भवं च नीचैर्गोत्रम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३)। १३. यदुदये तद्विपरीतेषु गर्हितेषु कुलेषु जन्म भवति तन्नीचैर्गोत्रम्। (गो. क. जी. प्र. ३३)। १४. यदुदयेन निन्दिते दरिद्रे भ्रष्टे इत्यादिकुले जीवस्य जन्म भवति तच्च नीचैर्गोत्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१२)।

१ जिस कर्म के उदय से लोकनिन्दित कुलों में जन्म हो उसे नीचगोत्र कहते है। २ जो कर्म उच्चगोत्र से विपरीत चण्डाल, मुष्टिक (एक प्रमार्य

जाति), व्याध, मत्स्यबन्ध (धीवर) और दासता आदि का निरूपक है वह नीचगोत्र कहलाता है।

नीचैर्वृत्ति—१. गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः। (स. सि. ६–२६)। २. गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः। गुणोत्कृष्टेषु विनयेन अवनतिर्नीचैर्वृत्तिरित्याख्यायते। (त. वा. ६, २६, ३)। ३. नीचैर्वृत्तिः—अभ्युत्थानासनदानाञ्जलिप्रग्रह-यथार्हविनयकरणरूपं नीचैर्वर्तनम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–६)। ४. गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः। (त. श्लो. ६–२६)। ५. गुणोत्कृष्टेषु विनयेन प्रह्वीभावः नीचैर्वृत्तिः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२६)।

१ जो गुणों से उत्कृष्ट हैं उनको विनयपूर्वक नमस्कार आदि करना, इसे नीचैर्वृत्ति कहा जाता है।

नीतिशास्त्र— तंत्रापायौ[वापौ] नीतिशास्त्रम्। स्वमण्डलपालनाभियोगस्तंत्रम्। परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः। (नीतिवा. ३०, ४५–४७)।

अपने राज्य के भलीभांति परिपालन को तंत्र कहते हैं। दूसरे राज्य के प्राप्त करने को अवाप कहते हैं। तंत्र और अवाप इन दोनों के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को नीतिशास्त्र कहते हैं।

नीरजस्क—नीरजस्का इत्यष्टविधकर्मविप्रमुक्ताः। (दशवै. सू. हरि. वृ. ३–३४, पृ. ११९)।

आठ प्रकार के कर्म-रज से रहित सिद्ध जीवों को नीरजस्क कहते हैं।

नीललेश्या—१. मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य। माणी माई य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य॥ णिद्दा-वंचणबहुलो धण-धण्णे होइ तिव्वसण्णाओ। लक्खणमेयं भणियं समासओ णीललेस्सस्स॥ (प्रा. पंचसं. १, १४४–४५); धव. पु. १, पृ. ३८९ व पु. १६, पृ. ४९०–९१ उद्.; गो. जी. ५०९–१०)। २. आलस्य-विज्ञानहानि-कार्यानिष्ठापन-भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया-तृष्णातिमान-वंचनाऽनृतभाषण-चापलातिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम्। (त. वा. ४, २२, १०)। ३. कसायाणुभागफद्दयाणमुदयमागदाणं जहण्णफद्दयप्पहुडि जाव उक्कस्सफद्दया त्ति ठइदाणं छब्भागविहत्ताणं ××× पंचमभागो तिव्वयरो, तस्सुदएण जादकसाओ णीललेस्सा णाम। (धव. पु. ७, पृ. १०४); दाणादिसु पावदविवज्जियं णिव्विण्णाणं णिब्बुद्धि माण-मायबहुलं णिद्दालुअं सलोहं हिंसादिसु अविच्छिअज्झवसायं कुणइ णीललेस्सा। (धव. पु. १६, पृ. ४९०)। ४. नीलवर्णद्रव्यावष्टम्भान्नीललेश्या। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–६)। ५. कोपी मानी मायी लोभी रागी द्वेषी मोही शोकी। हिंस्रः क्रूरश्चण्डश्चौरो मूर्खः स्तब्धः स्पर्द्धाकारी॥ निद्रालुः कामुको मन्दः कृत्याकृत्य[त्या]विचारकः। महामूर्च्छो महारम्भो नीललेश्यो निगद्यते॥ (पंचसं. अमित. १, २७४–७५, पृ. ३५)। ६. निर्बुद्धिर्मानवान् मायी मन्दो विषयलम्पटः। निर्विज्ञानोऽलसो भीरुनिद्रालुः परवंचकः॥ नानाविधे धने धान्ये सर्वत्रैवातिमूर्च्छितः। सारम्भो नीलया प्राणी लेश्यया संयुतो भवेत्॥ (भ. आ. मूला. १९०८)।

१ जो काम करने में मन्द हो, विचारशून्य हो, विशिष्ट ज्ञान से रहित हो, विषयलोलुपी हो, मानयुक्त हो, मायाचारी हो, आलसी हो, अभेद्य हो—जिसके अभिप्राय को समझना अशक्य हो, बहुत निद्रालु हो, दूसरों के ठगने में कुशल हो तथा धन-धान्य का तीव्र अभिलाषी हो; उसे नीललेश्या वाला जानना चाहिए। ४ नील द्रव्य के आश्रय से नीललेश्या हुआ करती है।

नीलवर्णनाम—जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं णीलवण्णो उप्पज्जदि तं णीलवण्णणामं। (धव. पु. ६, पृ. ७४); जस्स कम्मस्स उदएण सरीरे णीलवण्णणिप्पत्ती होदि तं णीलवण्णणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)।

जिस कर्म के उदय से शरीरपुद्गलों का वर्ण नीला होता है उसे नीलवर्ण नामकर्म कहते हैं।

नीवी—आय-व्ययविशुद्धं द्रव्यं नीवी। (नीतिवा. १८–५२, पृ. १८८)।

आय (आमदनी) और व्यय (खर्च) से विशुद्ध (रहित) द्रव्य को नीवी कहते हैं। अमरकोष (२, ९, ८०) के अनुसार नीवी नाम मूल द्रव्य का है।

नीहारचारण— नीहारमवष्टभ्याप्कायिकजीवपीडामजनयन्तो गतिमसङ्गामनुयाना नीहारचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १–९, पृ. ४१; प्रव. सारो. वृ. ६०१, पृ. १६९)।

हिम का आश्रय लेकर जलकायिक जीवों की विराधना न करते हुए गमन करने वाले साधुओं को नीहारचारण कहते हैं।

नीहारप्रायोपगमन—उवसग्गेण य साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं। तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं॥ (भ. आ. २०७०)।

उपसर्ग के द्वारा अपहृत होकर जो अन्यत्र मृत्यु को प्राप्त होता है उसके मरण को नीहारप्रायोपगमन मरण कहते हैं।

नृशंसत्व—नृशसत्वं क्रूरकर्मकारिता। (योगशा. स्वो. विव. २–८४)।

क्रूर कर्म करनेरूप स्वभाव को नृशंसत्व कहते हैं।

नेत्रसंस्कार—प्रक्षालनांजनादिको नेत्रसंस्कारः। (भ. आ. मूला. ९३)।

आंखों के धोने और अंजन आदि लगाने को नेत्र-संस्कार कहते हैं।

नेपथ्यकथा—तासामेव अन्यतमायाः कच्छाबन्धादिनेपथ्यस्य यत्प्रशंसादि नेपथ्यकथेति। यथा—धिग्नारीरौदीच्या बहुवसनाच्छादिताङ्गलतिकत्वात्। यद् यौवनं न यूनां चक्षुर्मोदाय भवति सदा॥ (स्थाना. ४, २, २८२)।

आन्ध्र आदि की स्त्रियों में से किसी एक के कच्छा-बन्ध (कमर का वस्त्र) आदि रूप वेष की प्रशंसा आदि करने को नेपथ्य कथा कहते हैं।

नेम—नेमा नाम भूमिभागादूर्ध्वं निष्क्रामन्तः प्रदेशाः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. सू. ४ व ८, पृ. २३ व ४८)।

भूभाग से ऊपर निकलते हुए प्रदेशों को नेम कहते हैं।

नेमि—धर्म-चक्रस्य नेमिवन्नेमिः, तथा गर्भस्थे भगवति जनन्या रिष्टरत्नमयो महानेमिर्दृष्ट इति रिष्टनेमिः, अपश्चिमादिशब्दवत् नञ्पूर्वत्वेऽरिष्टनेमिः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४, पृ. २२६)।

रथ के चाक के अन्तभाग को (परिधि को), अथवा उसके अन्त में सुरक्षा के लिए जो लोहे का घेरा (हाल) रहता है उसे नेमि कहते हैं। बाईसवें तीर्थंकर चूंकि धर्मरूप रथ के ले जाने में नेमि के समान थे, अतएव वे 'नेमि' कहलाये। अथवा माता ने उनके गर्भवास के समय अरिष्टरत्नमय विशाल रथचक्र की नेमि को देखा था, अतः उनका नाम अरिष्टनेमि प्रसिद्ध हुआ।

नैगम—देखो नैगमनय।

नैगमनय—१. अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। (स. सि. १–३३)। २. निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देश-समग्रग्राही नैगमः (पृ. ११८)। ××× घट इत्युक्ते योऽसौ चेष्टाभिनिर्वृत्त ऊर्ध्वकुण्डलोष्टायत-वृत्तग्रीवोऽधस्तात्परिमण्डलो जलादीनामाहरण-धारणसमर्थ उत्तरगुणनिर्वर्तनानिर्वृत्तो द्रव्यविशेषस्तस्मिन्नेकस्मिन् विशेषवति तज्जातीयेषु वा सर्वेष्वविशेषात् परिज्ञानं नैगमनयः। (पृ. १२२)। ××× आह च—नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनय-गमापेक्षः। देश-समग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः॥ (त. भा. १–३५, पृ. १२७)। ३. णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ती णेगमस्स णेरुत्ती। (आव. नि. ७५५; अनुयो. गा. १३६. पृ. २६४)। ४. से जहानामए केई पुरिसे परसुं गहाय अडवीसमहुत्तो गच्छेज्जा। तं पासित्ता केई वएज्जा कहिं भवं गच्छसि? अविसुद्धो णेगमो भणइ—पत्थगस्स गच्छामि। तं च केई छिदमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं छिंदसि? विसुद्धो णेगमो भणइ—पत्थयं छिंदामि। तं च केई तच्छमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं तच्छसि? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ—पत्थयं तच्छामि। तं च केइ उक्कीरमाणं पासित्ता वएज्जा किं भवं उक्कीरसि? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ—पत्थयं उक्कीरामि। तं च केइ (वि)लिहमाणं पासित्ता वएज्जा—किं भवं (वि) लिहसि? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ—पत्थयं (वि) लिहामि। एवं विसुद्धतरस्स णेगमस्स नामाउडिओ पत्थओ। (अनुयो. सू. १४५, पृ. २२२–२३)। ५. णेगाइं माणाइं सामन्नोभयविसेसनाणाइं। जं तेहिं मिणइ तो णेगमो णओ णेगमाणोत्ति॥ लोगत्थनिबोहा वा निगमा तेसु कुसलो भवो वाऽयं। अहवा जं नेगगमोऽणेगपहो णेगमो तेणं। (विशेषा. २६८२–८३)। ६. अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। निगच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः। तस्य लोके व्यापारः अर्थसंकल्पमात्र-ग्रहणं प्रस्थेन्द्र-गृह-गम्यादिषु। तद्यथा—कश्चित् प्रगृह्य परशुं पुरुषं गच्छन्तमभिसमीक्ष्याह 'किमर्थं गच्छति भवान्' इति? स तस्मै आचष्टे प्रस्थार्थमिति। एवमिन्द्र-गृहादावपि। तथा 'कुतरोऽत्र गमी' इत्युक्ते

आचष्टे 'अहं गमी' इति संप्रत्यगच्छत्यपि गमीति व्यवहार:। एवंप्रकारोऽन्योऽपि नैगमनयस्य विषय:। (त. भा. १, ३३, २)। ७. अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात्। नैगमो × × × ॥ (लघीय. ३९); स्वलक्षणभेदाभेदयोरन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुण: स्यादिति नैगम:। यथा जीवस्वरूपनिरूपणायां गुणा: सुख-दु:खादय:, तत्प्ररूपणायां च आत्मा। (लघीय. स्वो. वि. ३९); गुण-प्रधानभावेन धर्मयोरेकधर्मिणि। विवक्षा नैगमो × × × ॥ (लघीय. ६८); ८. × × × अविवक्षिततादात्म्यलक्षणत्वात् नैगमस्य। सिद्धिवि. स्वो. वृ. १०–७); विद्याविद्याविनिर्भासात् नित्यानित्यत्वसंभवात्। स्वार्थस्वरूपयो: सिद्धि: द्वयरूपेति नैगम: ॥ (सिद्धिवि. १२–११, पृ. ७४७)। ९. निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमा: पदार्था: लौकिका:, तेषु भवो नैगम:। (त. भा. हरि. वृ. १–३४)। १०. न एकं नैकम्, प्रभूतानीत्यर्थ:, नैकैर्मानै: महासत्तासामान्य-विशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोनीति वा नैकम इति, इयं नेकमस्य निरुक्ति:। निगमेषु वा भवो नैगम:, निगमा: पदार्थपरिच्छेदा:। (आव. नि. हरि. वृ. ७५५)। ११. तत्रानेकगमो नैगम: इति कृत्वाऽऽह—अविशुद्धो नैगमो भणति अभिधत्ते 'प्रस्थकस्य गच्छामि' कारणे कार्योपचारात् × × × विशुद्धतरो नैगमो भणति—प्रस्थकं छिनधि। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०५); न एकं नैकं, प्रभूतानीत्यर्थ:। एतै: कै: ? मानै: महासत्तासामान्य-विशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोतीति वा नैकम इति नैकमस्य निरुक्ति:। निगमेषु वा भवो नैगम:, निगमा: पदार्थपरिच्छेदा:। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १२३)। १२. यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकगमो नैगम:, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम: इति यावत्। (धव. पु. १, पृ. ८४); यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति संग्रहव्यवहारयो: परस्परविभिन्नोभयविषयावलम्बनो नैगमनय:, शब्द-शील-कर्म-कार्य-कारणाधाराधेय-भूत-भविष्यद्वर्तमान-मेयोन्मेयादिकमाश्रित्य स्थितोपचारप्रभव: इति यावत्। (धव. पु. ९, पृ. १७१; जयध. १, पृ. २२१); नैकगमो नैगम:, द्रव्य-पर्यायद्वयं मिथो विभिन्नमिच्छन् नैगम इति यावत्। (धव. पु. १३, पृ. १९९)। १३. अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय:। (ह. पु. ५८–४३; त. सा. १–४४)। १४. तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नय:। सोपाधिरित्यशुद्धस्य द्रव्यार्थस्याभिधानत: ॥ संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजन:। तथा प्रस्थादिसंकल्प: तदभिप्राय इष्यते ॥ यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मत:। धर्मयोर्धर्मिणो वापि विवक्षा धर्म-धर्मिणो: ॥ (त. श्लो. १–३३, १७, १८ व २१)। १५. द्रव्ययो: पर्याययोर्द्रव्य-पर्याययोर्वा गुण-प्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्, नैकं गमो नैगम इति निर्वचनात्। (अष्टस. पृ. २८७)। १६. निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमा: लौकिका अर्था:, तेषु निगमेषु भवो योऽध्यवसायो ज्ञानाख्य: स नैगम:। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३४)। १७. सामान्य-विशेषात्मकस्य वस्तुनो नैकेन प्रकारेणावगम: परिच्छेदो निगमस्तत्र भवो नैगम:, नैकगमो वा नैगम: — महासामान्यापान्तरालसामान्यविशेषाणां परिच्छेदक:। (सूत्रकृ. सू. शी. वृ. २, ७, ८१, पृ. १८७)। १८. जो साहेदि अदीदं वियप्परूवं भविस्समत्थं च। संपडिकालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णेओ ॥ (कार्तिके. २७१)। १९. नैकं गच्छतीति निगमो विकल्पस्तत्र भवो नैगम:। (आलाप. पृ. १४६)। २०. सर्वेण देशादिप्रकारेणानयोर्द्रव्य-पर्याययोरतादात्म्यात् नैगम:। (सिद्धिवि. वृ. १०–७, पृ. ६७०); विद्या तत्त्वज्ञानम्, अविद्या विप्लवज्ञानम्, तयोर्विनिर्भासात् प्रतीते: नित्यानित्यत्वसंभवो य एकत्र तस्मात् स्वार्थस्वरूपयो: स्व-स्वरूपस्य अर्थस्वरूपस्य च सिद्धि: निष्पत्ति: निर्णीतिर्वा द्वयरूपा नित्यानित्यस्वभावा इत्येवं नैगम:। (सिद्धिवि. वृ. १२–११, पृ. ७४७)। २१. राश्यन्तरोपलब्धं नित्यत्वमनित्यत्वं च नयतीति निगमव्यवस्थाभ्युपगमपरो नैगमनय:। निगमो हि नित्या-नित्य-सदसत्-कृतकाकृतकस्वरूपेषु भावेष्वपास्तसाङ्कर्यस्वभाव: सर्वथैव धर्म-धर्मिभेदेन सम्पद्यत इति। (सम्मति. अभय. वृ. ३, पृ. ३१०)। २२. स्वलक्षणं पर्यायात्मकं द्रव्यं तदात्मका: पर्यायाश्च, तस्य यो भेदाभेदो तयोर्मध्येऽन्यतरस्य भेदस्याभेदस्य वा प्ररूपणायां क्रियमाणायां इतरो भेदप्ररूपणायामभेदस्तत्प्ररूपणायां वा भेदो गुण: स्यादित्येवंविधो नैगमो नय:। (न्यायकु. ३९, पृ. ६२३); गुण-प्रधानभावेन मुख्यामुख्यरूपतया, धर्मयोरेकस्मिन् धर्मिणि विवक्षा प्रतिपत्तुरभिसन्धि: नैगम:। (न्याय.

कु. ६८, पृ. ७८६)। २३. तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। निगमो हि संकल्पस्तत्र भवस्तत्प्रयोजनो वा नैगमः। (प्रमेयक. ६–७४, पृ. ६७६)। २४. सामान्य-विशेषादिपरस्परापेक्षानेकात्मकवस्तुनिगमनकुशलो नैगमः। (मूला. वृ. ६, ६७)। २५. नैकेन सामान्य-विशेषग्राहकत्वात्तस्यानेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैकमः, अथवा निगमाः—निश्चितार्थबोधास्तेषु कुशलो भवो वा नैगमः, अथवा नैको गमः अर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगमः। (स्थाना. अभय. वृ. ३, ३, १८६)। २६. धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्म-धर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः। (प्र. न. त. ७–७)। २७. अन्योन्यगुण-प्रधानभूतभेदाभेदप्ररूपणो नैगमः, नैकं गमो नैगमः इति निरुक्तेः। (प्रमेयर. ६–७४)। २८. न एकं नैकम्, × × × नैकैः प्रभूतसंख्याकैर्मानैः—महासामान्यावान्तरसामान्य-विशेषादिविषयैः प्रमाणैर्मिमीते—परिच्छिनत्ति वस्तुजातमिति नैगमः। × × × निश्चितो गमो निगमः—परस्परविविक्तसामान्यादिवस्तुग्रहणम्, स एव प्रज्ञादेराकृतिगणतया स्वार्थिकाण्प्रत्ययविधानात् नैगमः, यदि वा निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति निगमास्तेषु भवो योऽभिप्रायो नियतपरिच्छेदरूपः स नैगमः। × × × अथवा गमाः पन्थानः, नैके गमा यस्य स नैगमः। (आव. नि. मलय. वृ. ७५५; प्रव. सारो. वृ. ८४७)। २९. नैगमः निगमो मुख्य-गौणकल्पना, तत्र भवो नयो नैगमः। (लघीय. अभय. वृ. २–६, पृ. ५८)।

१ जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ है—भविष्य में उत्पन्न होने वाला है—ऐसे पदार्थ को जो संकल्प मात्र से ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते हैं। २ निगमों (जनपदों) में जो शब्द कहे गये हैं उनके अर्थ—जैसे 'घट' शब्द का अर्थ जलधारण आदि में समर्थ—तथा शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचकभावरूप परिज्ञान को नैगमनय कहते हैं। यह नैगमनय देश (विशेष) और समग्र (सामान्य) को ग्रहण करने वाला है।

नैगमाभास—१. × × × अर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते ॥ (लघीय. ३९); तदर्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः। (लघीय. स्वो. वृ. ३९); × × × अत्यन्तभेदोक्तिः स्यात्तदाकृतिः। (लघीय. ६८); तदत्यन्तभेदाभिसन्धिः नैगमाभासः। (लघीय. स्वो. वृ. ६८)। २. तेषां जीवसुखादीनां प्रकमादेकान्तेनार्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः। (न्यायकु. ५–३९); तयोः सुखात्मनोरत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभासः। × × × यतोऽसौ धर्म-धर्मिणोस्तादात्म्यं तदप्यविवक्षितत्वात् स्वदुरागमवासनाविपर्यासितमतेः प्रतिपत्तुः प्रवर्तते ततोऽसौ नैगमाभास इति। (न्यायकु. ६–६८, पृ. ७८९)। ३. सर्वथानयोरर्थान्तरत्वाभिसन्धिस्तु नैगमाभासः, धर्म-धर्मिणोः सर्वथार्थान्तरत्वे धर्मिणि धर्माणां वृत्तिविरोधस्य प्रतिपादितत्वादिति। (प्रमेयक. ६-७४)। ४. धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः। (प्र. न. त. ७–११)। ५. आदिशब्दाद् धर्मिद्वय-धर्म-धर्मिद्वययोः परिग्रहः। ऐकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिरैकान्तिकभेदाभिप्रायो नैगमाभासो नैगमदुर्नय इत्यर्थः। (रत्नाकरा. ७-११, पृ. १२०)। ६. सर्वथाऽभेदवादस्तदाभासः। (प्रमेयर. ६–७४)। ७. अर्थान्तरत्वं गुण-गुण्यादीनामत्यन्तभेदः, तस्योक्तौ प्ररूपणायां नैगमाभास इष्यते। (लघीय. अभय. वृ. २–९, पृ. ५९)।

१ गुण-गुणी और धर्म-धर्मी आदि में अत्यन्त भेद का प्रतिपादन करना, इसे नैगमाभास माना जाता है।

नैमित्तिक—१. नैमित्तिको लक्ष्यवेधी दैवज्ञो वा। (नीतिवा. १४–३१, पृ. १७४)। २. निमित्तं त्रैकालिकं लाभालाभादिप्रतिपादकं शास्त्रम्, तद्वेत्त्यधीते वा नैमित्तिकः। (योगशा. स्वो. विव. २, १६)।

१ लक्ष्य के वेधने वाले अथवा ज्योतिषी को नैमित्तिक कहते हैं। २ तीनों कालों सम्बन्धी लाभ व अलाभ आदि के वर्णन करने वाले शास्त्र का नाम निमित्त है। इस शास्त्र को जो जानता है या पढ़ता है वह नैमित्तिक कहलाता है।

नैश्चयिक अवग्रह—तत्र नैश्चयिको नाम सामान्यपरिच्छेदः, स चैकसामयिकः शास्त्रेऽभिहितः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१६)।

सामान्य के ग्रहण करने वाले ज्ञान को नैश्चयिक अवग्रह कहा जाता है। उसे शास्त्र में एकसामयिक—एक समय वाला—कहा गया है।

नैषेधिकी—१. आवस्सियं च णितो जं च अइंतो

णिसीहियं कुणइ। सेज्जा णिसीहियाए णिसीहियाभिमुहो होई॥ जो होइ निसिद्धप्पा निसीहिया तस्स भावओ होइ। अणिसिद्धस्स निसीहिय केवलमेत्तं हवइ सद्दो॥ आवस्सयंमि जुत्तो नियमणिसिद्धोत्ति होइ नायव्वो। अहवाऽवि णिसिद्धप्पा णियमा आवस्सए जुत्तो॥ (आव. भा. १२०–२२, पृ. २६६–६७)। २. निषिद्धात्मनस्त्वातिचारेभ्यः क्रिया नैषेधिकीति। (आव. नि. हरि. वृ. ६६२)। ३. निषिद्धात्मा अहमस्मिन् प्रविशामीति शेषसाधूनामव्याख्यानाय त्रासादिदोषपरिहरणार्थम् अस्यार्थस्य संसूचिका नैषेधिकी। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८)। ४. निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। (व्यव. मलय. वृ. पृ. ५४)।

१ आवश्यकी क्रिया निकलते हुए की जाती है और नैषेधिकी आते हुए की जाती है। जिसने अपनी आत्मा को मूल और उत्तर गुणों सम्बन्धी अतिचारों से रहित कर लिया है उसके यथार्थतः नैषेधिकी क्रिया होती है। अनिषिद्ध के तो केवल शब्द मात्र से निषीधिका होती है, न कि परमार्थ से। मूल व उत्तर गुणों के अनुष्ठानरूप आवश्यक में जो युक्त (निरत) है उसे नियम से निषिद्धात्मा जानना चाहिए। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि निषिद्धात्मा ही आवश्यक में युक्त होता है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी—१. नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समधिगतशिखालक्षितशिरोलिंगाः गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिंगाः, शुक्ल-रक्तवसनखण्डकौपीनलक्षितकटीलिंगाः स्नातका (सा. ध. 'स्नातकाः' स्थाने तथा') भिक्षावृत्तयो देवतार्चनपरा भवन्ति। (चा. सा. पृ. २१; सा. ध. स्वो. टी. ७–१६)। २. स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म। (नीतिवा. ५, १०, पृ. ४५)। ३. शिखा-यज्ञोपवीताङ्कास्त्यक्तारम्भपरिग्रहः। भिक्षां चरन्ति देवार्चां कुर्वते कक्षपट्टकम्॥ धवलारक्तयोरेकतरैकवस्त्रखण्डकम्। चरन्ति ये च ते प्रोक्ता नैष्ठिकब्रह्मचारिणः॥ (धर्मसं. श्रा. ६–२२, २३)। ४. यस्य ब्रह्मचारिणः प्राणान्तिकं मृत्युपर्यन्तं कलत्ररहितं क्रियाकाण्डं भवति स नैष्ठिकः प्रोच्यते। ××× तथा च भारद्वाजः—कलत्ररहितस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते। कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः॥ (नीतिवा. टी. ५–१०)।

१ जो शिर के चिह्न के रूप में शिखा (चोटी) को, वक्ष के चिह्नस्वरूप गणधरसूत्र (यज्ञोपवीत) को, तथा कटिभाग के चिह्नस्वरूप धवल या रक्त वस्त्रखण्ड और लंगोटी को धारण करते हुए भिक्षावृत्ति से भोजन करते हैं व देवपूजा में तत्पर रहते हैं वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं। २ जिसका क्रियाकाण्ड आमरणान्त स्त्री से रहित होता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है।

नैष्ठिक श्रावक—१. नैष्ठिकः निष्ठया चरति तत्र वा भवः। ××× धर्मे निष्ठा निर्वहणं यस्यासौ घटमानदेशसंयमो निरतिचारश्रावकधर्मनिर्वाहपर इत्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टी. १–२०); नैष्ठिको मूलोत्तरगुणश्लाघ्यतपोऽनुष्ठाननिष्ठः। (सा. ध. स्वो. टी. २–५१); देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्। दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः। (सा. ध. ३–१)। २. दृष्टयादिदशधर्माणां निष्ठा निर्वहणं मता। तया चरति यः स स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुकः॥ देशयमघ्नकोपादिक्षयोपशमभावतः। श्राद्धो दर्शनिकादिस्तु नैष्ठिकः स्यात् सुलेश्यकः॥ (धर्मसं. श्रा. ५–६ व ६)।

१ जो निष्ठापूर्वक धर्म का आचरण करता है वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। उसकी धर्म के विषय में निर्वाहरूप निष्ठा रहती है, इसी से वह निरतिचार श्रावकधर्म का परिपालन करता है।

नैसर्गिक मिथ्यादर्शन— १. तत्रोपदेशनिरपेक्षं नैसर्गिकम्। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्याकर्मोदयवशात् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकमिति व्यवसीयते। (त. वा. ८, १, ७)। २. मिथ्याकर्मोदयादाद्य तत्त्वाश्रद्धानलक्षणम्॥ (ह. पु. ५८–१६३)। ३. तत्र नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वकर्मोदयात् तत्त्वार्थानामश्रद्धानलक्षणं परोपदेशनं विनापि समाविर्भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१)।

१ परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो तत्त्वों का अश्रद्धान प्रकट होता है उसे नैसर्गिक मिथ्यादर्शन कहते हैं।

नैसर्गिक सम्यग्दर्शन—देखो निसर्गज सम्यग्दर्शन। १. उभयत्र सम्यग्दर्शने अन्तरङ्गो हेतुस्तुल्यो दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा, तस्मिन् सति

यद् बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम् । (स. सि. १–३; त. वा. १, ३, ५) । २. जाईसरण-निसग्गुग्गया वि न निरागमा दिट्ठी ।। (श्राव. नि. ११४२) । ३. नैसर्गिकमाश्रित्याह—जातिस्मरणात् सकाशात् निसर्गेण स्वभावेनोद्गता सम्भूता जातिस्मरणनिसर्गोद्गता × × × दृष्टिः दर्शनम्, यतः स्वयम्भूरमणमत्स्यादीनामपि जिनप्रतिमाद्याकारमत्स्यदर्शनाज्जातिमनुस्मृत्य भूतार्थालोचनपरिणाममेव नैसर्गिकसम्यक्त्वम् । (श्राव. नि. हरि. वृ. ११४२, पृ. ५२८) । ४. विना परोपदेशेन तत्त्वार्थप्रतिभासनम् । निसर्गो × × × ।। (त. श्लो. १, ३, ३); तत्र प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भव्यस्य दर्शनमोहोपशमादौ सत्यन्तरङ्गे हेतौ बहिरङ्गादपरोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानात् परोपदेशापेक्षाच्च प्रजायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं निसर्गजमधिगमजं च प्रत्येतव्यम् । (त. श्लो. १–१३, पृ. ६१) । ५. तत्त्वोपदेशव्यतिरिक्तभावं × × × ।। (धर्मसं. २०–६६) । ६. किन्तु सत्यन्तरङ्गेऽस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत् । नैसर्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोद्देशादिहेतुना ।। (लाटीसं. ३–२१) ।

१ दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के होने पर जो सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेश के बिना प्रादुर्भूत होता है उसे नैसर्गिक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। २ जो दृष्टि (दर्शन) जातिस्मरण के आश्रय से स्वभावतः उत्पन्न होती है उसे नैसर्गिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसका कारण यह है कि स्वयम्भूरमण समुद्रगत मत्स्यादिकों के जिनप्रतिमादि के आकार मत्स्य के देखने से जाति का स्मरण कर जो भूतार्थ के आलोचनरूप परिणाम होता है वही नैसर्गिक सम्यक्त्व कहलाता है।

नैसर्प निधि—१. काल-महकाल-पंडू माणवसंखा य पउम-णइसप्पा । पिंगल-णाणारयणा अट्ठुत्तरसयजुदाणि णिहि एदे ।। उडुजोग्गदव्व-भायण-धण्णायुह-तूर-वत्थ-हम्माणि । आभरण-सयलरयणा देंति कालादिया कमसो ।। (ति. प. ४, ७३९–४०) । २. णेसप्पम्मि णिवेसा गामागर-णगर-पट्टणाणं च । दोणमुह-मडंबाणं खंधावारावणगिहाणं ।। (जम्बूद्वी. ३–६६, प्र. सारो. १२१६) । ३. काल-महकाल-माणव-पिंगल-णेसप्प-पउम-पांडु तदो । संखो णाणारयणं णवणिहिओ देंति फलमेदं ।। उडुजोग्गकुसुमदामप्पहुदिं भाजणयमाउहाभरणं । गेहं वत्थं धण्णं तूरं बहुरयणमणुकमसो ।। (त्रि. सा. ८२१–२२) । ४. स्कन्धावारपुरग्रामाकरद्रोणमुखौकसाम् । मडंबपत्तनानां च नैसर्पाद्विनिवेशनम् ।। (त्रि. श. पु. च. १४–५७४) ।

१ जो निधि प्रासादों (भवनों) को दिया करती है उसका नाम नैसर्पनिधि है। २ जिसमें ग्राम, आकर, नगर, पट्टन, द्रोणमुख, मडंब, स्कन्धावार, आपण (हाट) और गृह के निवेश की विधि—स्थापनविधि—हो उसे नैसर्पनिधि कहते हैं।

नो-अनुभागदीर्घ—अप्पप्पणो उक्कस्साणुभागट्ठाणाणि बंधमाणस्स अणुभागदीहं । तदूणं बंधमाणस्स णोअणुभागदीहं । (धव. पु. १६, पृ. ५०६) ।

अपने अपने उत्कृष्ट अनुभागस्थानों से हीन बांधने वाले के नो-अनुभागदीर्घ होता है।

नो-आगम—आगमादण्णो णोआगमो । (धव. पु. ३, पृ. १३) ।

आगम से भिन्न नो-आगम कहलाता है।

नोआगम-अचित्तद्रव्यभाव— अचित्तो पोग्गल-धम्माधम्म-कालागासदव्वाणि । (धव. पु. ५, पृ. १८४) ।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तद्व्यतिरिक्त अचित्त नो-आगमद्रव्यभाव हैं।

नोआगम-ज्ञशरीरद्रव्यमङ्गल—तत्र ज्ञस्य शरीरं ज्ञशरीरम्, शीर्यत इति शरीरम्, ज्ञशरीरमेव द्रव्यमङ्गलं ज्ञशरीरद्रव्यमङ्गलम् । अथवा ज्ञशरीरं च तद् द्रव्यमङ्गलं चेति समासः । एतदुक्तं भवति—मङ्गलपदार्थज्ञस्य यच्छरीरमात्मरहितं तदतीतकालानुभूततद्भावानुवृत्त्या सिद्धशिलादितलगतमपि घृतघटादिन्यायेन नोआगमतो ज्ञशरीरद्रव्यमङ्गलमिति, मङ्गलज्ञानशून्यत्वाच्च तस्य । इह सर्वनिषेध एव नोशब्दः । (आव. हरि. वृ. पृ. ५) ।

मंगल पदार्थ के ज्ञाता का जो शरीर है उसे नोआगम-ज्ञशरीरद्रव्यमंगल कहते हैं। अभिप्राय यह है कि मंगल पदार्थ के ज्ञाता का जो निर्जीव शरीर है वह भूतकाल में अनुभूत मंगलभाव की अनुवृत्ति से सिद्धशिलातलपर स्थित होता हुआ घी के घड़े के न्याय से—व्यवहार से—नोआगमज्ञशरीरद्रव्यमंगल कहलाता है।

नोआगम-ज्ञशरीर-भव्यव्यतिरिक्तद्रव्यमंगल—ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तं च द्रव्यमङ्गलं संयम-

तपोनियमक्रियानुष्ठाता अनुपयुक्तः। (आव. हरि. वृ. पृ. ५)।

संयम, तप और नियम क्रियाओं का अनुष्ठाता होकर भी जो वर्तमान में उपयोग से रहित है उसे नो-आगमज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यमंगल कहते हैं।

नोआगमद्रव्यकाल—जीवाजीवादिअट्ठभंगदव्वं वा णोआगमदव्वकालो। (धव. पु. ४, पृ. ३१६)।

अथवा जीव-अजीव आदि आठ भंगस्वरूप (देखिये धव. पु. ६, पृ. २४६) द्रव्य को नोआगमद्रव्यकाल कहते हैं।

नो-आगमद्रव्यदोष—णोआगमदव्वदोसो णाम जं दव्वं जेण उवघादेण उवभोगं ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम। तं जहा। साडियाए अग्गिदड्ढं वा मूसगभक्खियं वा एवमादि। (कसायपा. चू. पृ. १९)।

जो द्रव्य जिस उपघात के निमित्त से उपभोग को प्राप्त नहीं होता है, वह उपघात उस द्रव्य का द्वेष कहलाता है। इसी को तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यद्वेष कहते हैं। जैसे—साड़ी का द्वेष अग्नि से जलना या चूहे से काटा जाना है।

नोआगमद्रव्यनन्दी— नोआगमतस्तु ज्ञशरीर-भव्यशरीरोभयव्यतिरिक्ता च द्रव्यनन्दी द्वादशप्रकार-स्तूर्यसंघातः—भंभा मुकुंद मद्दल कडंब झल्लरि हुडुक्क कंसाला। काहलि तलिमा वंसो संखो पणवो य बारसमो॥ (आव. हरि. वृ. पृ. ७)।

भेरी, मुकुन्द, मृदंग, कडम्ब, झालर, हुडुक्क, कंसाल, काहल, तलिमा, बंस, शंख और पणव इन बारह प्रकार के बाजों के समूह को नोआगम-ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यनन्दी कहते हैं।

नोआगमद्रव्यमङ्गल—देखो नो-आगम-ज्ञशरीर द्रव्यमङ्गल। मङ्गलपयत्थजाणयदेहो भव्वस्स वा सजीवोऽवि। नो-आगमओ दव्वं आगमरहिओत्ति जं भणिअं॥ अहवा नो देसम्मि नो आगमओ तदेकदेसाओ। भूयस्स भाविणो वा ऽऽगमस्स जं कारणं देहो॥ आणय-भव्वसरीराइरित्तमिह दव्वमंगलं होइ। जा मंगल्ला किरिआ तं कुणमाणो अणुवउत्तो॥ जं भूयभावमंगलपरिणामं तस्स वा अयं जोग्गं। जं वा सहावसोहणवन्नाइगुणं सुवण्णाई॥ तं पि य हु भाव-मंगलकारणओ मंगलंति निद्दिट्ठं। नो-आगमओ दव्वं नोसद्दो सव्वपडिसेहे॥ (विशेषा. ४४-४८)।

मंगल पदार्थ के ज्ञाता का जो निर्जीव शरीर है उसको अथवा भविष्य में जो मंगल पदार्थ का ज्ञाता होने वाला है उसके सजीव शरीर को आगम रहित होने से नोआगमद्रव्यमंगल कहा जाता है।

नोआगमद्रव्यविमोक्ष—नोआगमतस्तु ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तो निगडादिकेषु विषयभूतेषु यो विमोक्षः स द्रव्यविमोक्षः, सुब्व्यत्ययेन वा पञ्चम्यर्थे सप्तमी, निगडादिभ्यो द्रव्येभ्यः सकाशाद्विमोक्षः द्रव्यविमोक्षः। (आचारा. नि. शी. वृ. २५८, पृ. २३६)।

विषयभूत सांकल आदि विषयक जो विमोक्ष है वह नोआगमद्रव्यविमोक्ष कहलाता है। अथवा सांकल आदिरूप बन्धन से विमुक्त होने को नोआगमद्रव्यविमोक्ष कहते हैं।

नोआगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्मप्रतिक्रमण—क्षयोपशमावस्थामुपगतः चारित्रमोहः नोआगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्मप्रतिक्रमणम्। (भ. आ. विजयो. ११६)।

क्षयोपशम अवस्था को प्राप्त चारित्रमोहनीय कर्म को नोआगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्मप्रतिक्रमण कहते हैं।

नोआगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्मव्रत—उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारित्रमोहो नोआगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्मव्रतम्। (भ. आ. विजयो. ११८५)।

उपशम अथवा क्षयोपशम अवस्था में स्थित चारित्रमोहनीयकर्म को नोआगमद्रव्यव्यरिक्तकर्मव्रत कहते हैं।

नोआगमद्रव्यश्रुत—नोआगमतस्तु श्रुतपदार्थज्ञशरीरं भूत भविष्यत्पर्यायम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १-१२, पृ. ८)।

श्रुतपदार्थ के ज्ञाता के भूत-भविष्यत् पर्याय सम्बन्धी शरीर को नोआगमद्रव्यश्रुत कहते हैं।

नोआगमद्रव्यसामायिक—नोआगमद्रव्यसामायिकं नाम यत् त्रिविकल्पं ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदेन। सामायिकज्ञस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकारणम्। आत्मैव शरीरमन्तरेण तस्याभावात्। यस्य हि भावाभावौ नियमतो यदनुकरोति तत्तस्य कारणमिति हेतु-फलव्यवस्था वस्तुषु। ततः प्रत्ययसामायिकस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकशब्दवाच्यं भवति। (भ. आ. विजयो. ११६, पृ. २७४)।

ज्ञायकशरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार की सामायिक को नोआगमद्रव्यसामायिक कहा जाता है। सामायिक के ज्ञाता का जो शरीर है वह भी सामायिकज्ञान में कारण है, क्योंकि आत्मा के समान शरीर के बिना सामायिकज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्ययसामायिक का कारण होने से तीन काल सम्बन्धी शरीर भी सामायिक शब्द का अभिधेय होता है।

नोआगमद्रव्योत्तर — नोआगमतो (द्रव्योत्तरं) ज्ञशरीर-भव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तं च। तत्र तद्व्यतिरिक्तं त्रिधा सचित्ताचित्त-मिश्रभेदेन। तत्र सचित्तं पितुः पुत्रः, अचित्तं क्षीरात् दधि, मिश्रं जननीशरीरतो रोमादिमदपत्यम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १, पृ. ३)।

ज्ञशरीर, भावी शरीर और तद्व्यतिरिक्त को नोआगमद्रव्योत्तर कहते हैं। उत्तर पदार्थ विषयक ज्ञाता का शरीर ज्ञशरीर कहलाता है। भविष्य में जो उसका ज्ञाता होने वाला है उसके शरीर को भव्य (भावी) शरीर कहा जाता है। सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से तद्व्यतिरिक्त तीन प्रकार का है— पिता से होने वाला पुत्र सचित्त तद्व्यतिरिक्त है, दूध से उत्पन्न होने वाला दही अचित्त तद्व्यतिरिक्त द्रव्योत्तर है, तथा माता के शरीर से उत्पन्न होने वाला रोमादियुक्त पुत्र मिश्र तद्व्यतिरिक्त द्रव्योत्तर है।

नोआगमभाव-उपशामना—णोआगमभावुवसामणा उवसंतो कलहो जुद्धं वा इच्चेवमादि। (धव. पु. १५, पृ. २७५)।

शान्त हुए झगड़े या युद्ध आदि का नाम नोआगमभाव-उपशामना है।

नोआगमभावकर्म—णोआगमभावो पुण कम्मफलं भुंजमाणगो जीवो। (गो. क. ६६)।

कर्मफल के भोगने वाले जीव को नोआगमभावकर्म कहते हैं।

नोआगमभावकर्मप्रकृतिप्राभृत—आगमेण विणा तदट्ठुवजुत्तो णोआगमभावकम्मपयडिपाहुडमुवयारादो। (धव. पु. ९, पृ. २३०)।

आगम के बिना जो उसके अर्थ में उपयोगयुक्त है उसे नोआगमभावकर्मप्रकृतिप्राभृत कहते हैं।

नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव—१. चतुर्विंशतिसंख्यानां तीर्थंकृतामत्र भारते प्रवृत्तानां वृषभादीनां जिनवरत्वादिगुणज्ञान-श्रद्धानपुरस्सरा चतुर्विंशतिस्तवन-पठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते। (भ. आ. विजयो. ११६, पृ. २७४)। २. चतुर्विंशतिस्तवपरिणतपरिणामो नोआगमभावस्तव इति। (मूला. वृ. ७-४१)।

१ वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों के जिनवरत्व आदि गुणों के ज्ञान और श्रद्धानपूर्वक चतुर्विंशतिस्तवन पढ़नेरूप क्रिया का नाम नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव है। २ चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करनेरूप परिणाम से परिणत जीव को नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

नोआगमभावच्यवनलब्धि—आगमेण विणा तदत्थोवजुत्तो णोआगमभावचयणलद्धी। (धव. पु. ९, पृ. २२८)।

आगम के बिना जो च्यवनलब्धि के अर्थ में उपयुक्त है उसे नोआगमभावच्यवनलब्धि कहते हैं।

नोआगमभावजीव—१. जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवत्वपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः। (स. सि. १-५)। २. जीवनादिपर्यायाविष्टोऽन्यः। जीवनादिपर्यायेणाऽऽविष्ट आत्माऽन्यो नोआगमतो भाव इत्युच्यते। (त. वा. १, ५, ११)। ३. नोआगमः पुनर्भावो वस्तु तत्पर्ययात्मकम्। द्रव्यादर्थान्तरं भेदप्रत्ययाद् ध्वस्तबाधनात्॥ × × × ततोऽन्यस्य जीवादिपर्यायाविष्टस्यार्थादेर्नोआगमभावजीवत्वेन व्यवस्थापनात्। (त. श्लो. १, ५, ६८)। ४. जीवादिपर्यायाविष्टो नोआगमः। (न्यायकु. ७४, पृ. ८०७)। ५. विवक्षितपर्यायपरिणतो नोआगमभावः। (लघीय. अभय. वृ. ७, २, पृ. ९८)। ६. जीवनपर्यायेण समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः मनुष्यजीवनपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १-५)।

१ जीवनरूप पर्याय से अथवा मनुष्यजीवनपर्याय से युक्त आत्मा को नोआगमभावजीव कहा जाता है।

नोआगमभावदृष्टिवाद—आगमेण विणा केवलोहि-मणपज्जवणाणेहि दिट्ठिवादवुत्तत्थपरिच्छेदओ णोआगमभावदिट्ठिवादो। (धव. पु. ९, पृ. २०५)।

आगम के बिना केवलज्ञान, अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान के द्वारा दृष्टिवाद में प्ररूपित पदार्थों के

जानने वाले को नोआगमभाव दृष्टिवाद कहते हैं।

नोआगमभावनन्दी—नोआगमतः (भावनन्दी) पञ्चप्रकारं ज्ञानम्। (आव. हरि. वृ. पृ. ७)।

पांच प्रकार के ज्ञान को नोआगमभावनन्दी कहते हैं।

नोआगमभावनमस्कार— नमस्क्रियमाणार्हदादि-गुणानुरागवतः मुकुलीकृतकर-कमलस्य प्रणामो नो-आगमभावनमस्कारः। (भ. आ. विजयो. ७५३)।

जिनको नमस्कार किया जा रहा है ऐसे अरहन्त आदि के गुणों में अनुरागयुक्त होकर हाथों को जोड़ने वाला जीव जो उनको प्रणाम करता है उसे नोआगमभावनमस्कार कहते हैं।

नोआगमभावनारक—णिरयगदिणामाए उदएण णिरयभावमुवगदो णोआगमभावणेरइओ णाम। (धव. पु. ७, पृ. ३०)।

नरकगति नामकर्म के उदय से नारक पर्याय को प्राप्त हुए जीव को नोआगमभावनारक कहते हैं।

नोआगमभावपूर्वगत—आगमेण विणा केवलोहि-मणपज्जणाणेहि पुव्वगयत्थपरिच्छेदओ णोआगम-भावपुव्वगयं। (धव. पु. ६, पृ. २११)।

आगम के विना केवलज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनःपर्ययज्ञान के द्वारा पूर्वगत श्रुत में प्ररूपित अर्थ के जानने वाले को आगमभावपूर्वगत कहते हैं।

नोआगमभावप्रतिक्रमण— अशुभपरिणामदोषम-वबुध्य श्रद्धाय तत्प्रतिपक्षपरिणामवृत्तिर्नोआगमभाव-प्रतिक्रमणम्। (भ. आ. विजयो. ११६)।

अशुभ परिणामरूप दोष को जानकर उसके विरोधी परिणाम की प्रवृत्ति को नोआगमभावप्रतिक्रमण कहते हैं।

नोआगमभावमंगल—१. नोआगमओ भावो सुविसुद्धो खाइयाईओ॥ अहवा सम्मदंसण-नाण-चरित्तोवओगपरिणामो। नोआगमओ भावो नोसद्दो मिस्सभावंमि॥ अहवेह नमुक्काराइनाण-किरिआवि-मिस्सपरिणामो। नोआगमओ भण्णइ जम्हा से आगमो देसे (सो)॥ (विशेषा. ४९-५१)।

२. नोआगमतो भावमङ्गलम् आगमवर्जं ज्ञानचतुष्ट-यमिति, सर्वनिषेधवचनत्वान्नोशब्दस्य। अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रोपयोगपरिणामो यः स आगम एव केवलः, न चानागमः, इत्यतोऽपि मिश्रवचन-त्वान्नोशब्दस्य नोआगमत इत्याख्यायते। अथवा अर्हन्नमस्काराद्युपयोगः आगमैकदेशत्वात् नोआ-गमतो भावमङ्गलमिति। (आव. हरि. वृ. पृ. ५)।

१ अतिशय विशुद्ध क्षायिक आदि (औपशमिक) भाव को नोआगमभावमंगल कहा जाता है। यहां 'नो' शब्द आगम का सर्वथा निषेधक है। अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप उपयोग परिणाम को नोआगमभावमंगल जानना चाहिए। यहां 'नो' शब्द आगम और अनागम के मिश्रण का बोधक है। अथवा अरहन्त आदि को किये जाने वाले नमस्कार के ज्ञान और क्रियारूप मिश्र परिणाम को नोआगम-भावमंगल कहते हैं।

नोआगमभावमास—तत्र नोआगमतः खलु मूला-दिकः मूल-कंद-कांड-पत्र-पुष्प-फलवेदकः। किमुक्तं भवति? यो धान्यमाषजीवो धान्यमाषभवे वर्तमानो मूलरूपतया कंदरूपतया कांडरूपतया पत्ररूपतया पुष्परूपतया फलरूपतया वा धान्यमाषभावायुर्वेदयते स नोआगमतो भावमासः, प्राकृते माषशब्दस्यापि मास इति रूपसम्भवात्। (व्यव. मलय. वृ. २-२६, पृ. ६)।

मास (माष) अर्थात् उड़द नामक धान्यभव में वर्तमान जो जीव मूल, कन्द, कांड, पत्र, पुष्प और फलरूप अवस्था द्वारा धान्यमाषभावरूप आयु का वेदन करता है उसे नोआगमभावमास कहते हैं। 'माष' शब्द का प्राकृत में 'मास' ऐसा रूप सम्भव है, अतः उसका 'मास' रूप में व्याख्यान किया गया है।

नोआगमभावराग—नोआगमतो रागवेदनीयकर्मो-दयप्रभवः परिणामविशेषः। (आव. नि. हरि. वृ. ९१८)।

रागवेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले परि-णामविशेष को नोआगमभावराग कहते हैं।

नोआगमभावव्रत—नोआगमभावव्रतं नाम चारि-त्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादिपरिणामाभावः अहिंसादिव्रतम्। प्राणिनां वियोजने प्राणानाम्, असदभिधाने, अदत्तादाने, मिथुनकर्मविशेषे, मूर्च्छायां वा ऽपरिणतिरिति यावत्। (भ. आ. ११८५)।

चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से प्रवृत्त हुए हिंसादिरूप परिणामों के अभाव को नोआगमभावव्रत कहते हैं।

नोआगमभावश्रमण—नोआगमतस्तु चारित्रपरिणामवान् यतिः। (दशवै. नि. हरि. वृ. १५३)।

चारित्र परिणाम वाले साधु को नोआगमभाव श्रमण कहते हैं।

नोआगमभावसामायिक—१. से किं तं नोआगमओ भावसामाइए? २—जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे णिअमे तवे। तस्स सामाइअं होइ इइ केवलिभासिअं॥ जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु अ। तस्स सामाइअं होइ इइ केवलिभासिअं॥ जह मम ण पिअं दुक्खं जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं। न हणइ न हणावेइ अ सममणइ तेण सो समणो॥ णत्थि अ सि कोइ वेसो पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥ उरग-गिरि-जलण-सागर-नहतल-तरुगणसमो अ जो होइ। भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो अ सो समणो॥ तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ ण होइ पावमणो। सयणे अ जणे अ समो समो अ माणावमाणेसु॥ से तं नोआगमओ भावसामाइए। (अनुयो. सू. १५०, पृ. २५५–५६)। २. नोआगमभावसामायिकं नाम सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिपरिणामः। (भ. आ. विजयो. ११६)। ३. सामायिकपरिणतपरिणामादि नोआगमभावसामायिकम्। (मूला. वृ. ७–१७)। ४. नोआगमभावसामायिकं पुनर्द्विविधमुपयुक्त-तत्परिणतभेदात्। सामायिकप्राभृतकेन विना सामायिकार्थेषूपयुक्तो जीवः उपयुक्तनोआगमभावसामायिकम्। राग-द्वेषाद्यभावस्वरूपेण परिणतो जीवस्तत्परिणतनोआगमभावसामायिकम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–१९)।

१ जिसकी आत्मा मूलगुणरूप संयम, उत्तरगुणसमूहरूप नियम और अनशनादिरूप तप में संनिहित है; ऐसे जीव के सामायिक होती है। जो त्रस और स्थावररूप सभी जीवों में सम है—राग-द्वेष से रहित है—उसके केवलिप्ररूपित सामायिक होती है। जिस प्रकार दुःख मुझे प्रिय नहीं है, उसी प्रकार वह सभी जीवों को प्रिय नहीं है; ऐसा जानकर चूंकि साधु न स्वयं जीवघात करता है और न दूसरे से कराता है तथा सबको समान मानता है; इसी से वह समन—सबको समान मानने वाला—कहलाता है। सब जीवों में न कोई द्वेष्य—द्वेष करने योग्य—है और न कोई प्रिय भी है, इसी से वह समन—समान मन वाला है; यह उसका दूसरा भी पर्याय नाम है। जो सर्प के समान दूसरे के आश्रय में रहता है, पर्वत के समान परीषह व उपसर्ग के समय अविचल होता है, अग्नि के समान तेजस्वी एवं सूत्र-अर्थरूप तृणादि के विषय में तृप्ति से रहित होता है, समुद्र के समान गम्भीर व ज्ञानादिरूप रत्नों की खान होता है, आकाशतल के समान परालम्बन से रहित होता है, वृक्षसमूह के समान सुख-दुःख का सहने वाला होता है, तथा भ्रमर के समान अनियतवृत्ति, मृग के समान संसार-भय से उद्विग्न, पृथिवी के समान कष्टसहिष्णु, कमल के समान कामभोगों से ऊपर स्थित, सूर्य के समान समभाव से प्रकाश करने वाला, और वायु के समान प्रतिबन्ध से रहित होता है; वह श्रमण कहलाता है। इस प्रकार श्रमण यदि द्रव्यमन की अपेक्षा सुमन—सुन्दर मन वाला—और भावमन की अपेक्षा पाप मन वाला नहीं है तो वह स्वजन और अन्य जन तथा मान और अपमान में सम—हर्ष-विषाद से रहित होता है। इस प्रकार से ज्ञान-क्रियारूप सामायिक के साथ उस सामायिक से युक्त साधु को भी अभेदोपचार से नोआगमभावसामायिक कहा जाता है। २ समस्त सावद्ययोग से निवृत्तिरूप जो परिणाम होता है उसे नोआगमभावसामायिक कहते हैं।

नोआगमभावसिद्ध — क्षायिकज्ञान-दर्शनोपयुक्तः परिप्राप्ताव्याबाधस्वरूपस्त्रिविष्टपशिखरस्थो नोआगमभावसिद्धः। (भ. आ. विजयो. १); निरस्तभाव द्रव्यकर्ममलकलङ्क-परिप्राप्तसकलक्षायिकभावः नोआगमभावसिद्धः। (भ. आ. विजयो. ४६)।

१ जिन्होंने सब द्रव्यकर्म और भावकर्म को दूर करके समस्त क्षायिक भावों को प्राप्त कर लिया है, ऐसे लोकशिखरस्थ मुक्तात्मा को नोआगमभावसिद्ध कहते हैं।

नोआगमभावस्कन्ध—१. एएसिं चेव सामाइअमाइयाणं छण्हं अज्झयणाणं समुदयसमिइसमागमेण आवस्सयसुयखंधे भावखंधे त्ति लब्भइ, से तं नोआगमओ भावखंधे से तं भावखंधे। (अनुयो. सू. ५६, पृ. ४२)। २. णोआगमतो भावखंधो णाण-

किरियागुणसमूहमतो, सो य सामाइयादिछण्हं अज्झयणाणं संमेलो, एत्थ किरिया णोआगमोत्ति काउं, णोसद्दो मीसभावे भवति, तस्स य भावखंधस्स एगट्ठिया इमे × × ×। (अनुयो. चू. पृ. १७)। ३. सामायिकादिषडध्ययनसंहतिनिष्पन्न आवश्यकश्रुतस्कन्धो मुखवस्त्रिका रजोहरणादिव्यापारलक्षणक्रियायुक्ततया विवक्षितो नोआगमतो भावस्कन्धः। (अनुयो. मल. हेम. वृ. सू. ५६, पृ. ४२)।

१ सामायिकादि छहों आवश्यकों के समुदायरूप एक विशिष्ट परिणाम से जो आवश्यक श्रुतस्कन्ध निष्पन्न है वही भावस्कन्ध है और इसी को नोआगमभावस्कन्ध कहा जाता है।

नोआगमभावस्पर्शन—फरिसगुणपरिणदपोग्गलदव्वं णोआगमभावफोसणं। (धव. पु. ४, पृ. १४४)।

स्पर्श गुण से परिणत पुद्गल द्रव्य को नोआगमभावस्पर्शन कहा जाता है।

नोआगमभावानुयोग—नोआगमतो भावस्य नुयोगोऽन्यतमस्यौदयिकादेर्व्याख्यानम्, भावानामनुयोगो नाम बहूनामौदयिकादीनां भावानां व्याख्यानम्। (आव. नि. मलय. वृ. १२६, पृ. १३२)।

औदयिक आदि पांच भावों में से किसी एक भाव के या बहुत भावों के व्याख्यान करने को नोआगमभावानुयोग कहते हैं। इसी प्रकार भाव से अनुयोग, भावों से अनुयोग, एकभावविषयक अनुयोग एवं अनेक भावविषयक अनुयोग आदि अनेक विकल्पों को जानना चाहिए।

नोआगमभावार्त—नोआगमतस्तु औदयिकभाववर्ती राग-द्वेषग्रहपरिगृहीतात्मा प्रियविप्रयोगादिदुःखसङ्कटनिमग्नो भावार्त इति व्यपदिश्यते, अथवा शब्दादिविषयेषु विषविपाकसदृशेषु तदाकांक्षित्वाद्धिताहितविचारशून्यमना भावार्त्तः कर्मोपचिनोति। (आचारा. शी. वृ. १, १, २, १४, पृ. ३१)।

औदयिकभाव के वशीभूत, राग-द्वेष से परिणत और इष्टवियोग व अनिष्टसंयोग जनित दुःख से व्याप्त जीव को नोआगमभावार्त कहते हैं। अथवा विषविपाक के समान शब्दादि विषयों का अभिलाषी होकर हिताहितविचार से शून्य मन वाले जीव को नोआगमभावार्त कहते हैं।

नोआगमभावार्हन्—अरिहननाद् रजोहननाद् रहस्याभावादतिशयपूजार्हत्वाच्चाधिगतार्हद्व्यपदेशा नोआगमभावार्हन्त इति गृहीताः। (प्र. आ. विजयो. ४६)।

जिन्होंने मोहरूप अरि का हनन करके तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप रज (धूलि) और रहस्य (अन्तराय) को नष्ट करके अतिशय पूजा के योग्य होने के कारण 'अर्हत्' नाम को प्राप्त कर लिया है, ऐसे कैवल्य अवस्था को प्राप्त अरहन्त देवों को नोआगमभावार्हन् कहते हैं।

नोआगमभावावश्यक—१. नोआगमतो भावावस्सयं णाणुवयोगेण किरियं करेमाणस्स णाण-किरियारूवसुभोवयोगपरिणयस्स णोआगमतो भावावस्सतं। (अनुयो. चू. पृ. ११)। २. नोआगमतस्तु ज्ञानक्रियोभयपरिणामो भावावश्यकम्, उपयुक्तस्य क्रियेति भावार्थः। (आव. नि. हरि. वृ. ७६, पृ. ५२)।

१ ज्ञानोपयोग के साथ क्रिया को करता हुआ जो जीव ज्ञान और क्रियारूप शुभ उपयोग से परिणत है उसे नोआगमभावावश्यक कहा जाता है। २ आवश्यक क्रियाओं के ज्ञान और आचरणरूप परिणाम को नोआगमभावावश्यक कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सामायिकादि आवश्यकविषयक जीव का जो आचरण है उसे नोआगमभावावश्यक समझना चाहिए।

नोआगमभावी दृष्टिवाद—णोआगमदिट्ठिवादसरूवेण परिणमंतओ जीवो णोआगमभवियदिट्ठिवादो। (धव. पु. ६, पृ. २०४)।

भविष्य में दृष्टिवाद स्वरूप से परिणत होने वाले जीव को नोआगमभावी दृष्टिवाद कहा जाता है।

नोआगमभावी द्रव्यभाव—भावपाहुडपज्जयसरूवेण जो जीवो परिणमिस्सदि सो णोआगमभवियदव्वभावो णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८४)।

जो जीव भावप्राभृत पर्यायस्वरूप से भविष्य में परिणत होगा उसे नोआगमभावी द्रव्यभाव कहा जाता है।

नोआगमभावोपक्रम—तथाचो जामातृ-परीक्षकब्राह्मणी-वेश्यामात्यानामिव संसाराभिवर्द्धिना अध्यवसायेन परभावोपक्रमणरूपः, परश्च श्रुतादिनिमित्तमाचार्यभावावधारणरूपः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ६)।

नोआगमभावोपक्रम प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है—उनमें जामाता, परीक्षक, ब्राह्म-

-भी, वेश्या और मद्यालय के समान संसार के बढ़ाने वाले अध्यवसाय द्वारा परभाव के उपक्रम को अप्रशस्त नोआगमभावोपक्रम और श्रुत आदि के निमित्त आचार्यभाव के अवधारणरूप उपक्रम को प्रशस्त नोआगमभावोपक्रम कहा जाता है।

नोआगममिश्रद्रव्यभाव—पोग्गल-जीवदव्वाणं संजोगो कथंचि जच्चंतरसभावण्णो णोआगममिस्सदव्वभावो णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८४)।

कथंचित् जात्यन्तर अवस्था को प्राप्त जो पुद्गल और जीव द्रव्यों का संयोग है वह नोआगममिश्रद्रव्यभाव कहलाता है।

नोइन्द्रियप्रणिधि—कोहं माणं मायं लोहं च महब्भयाणि चत्तारि। जो रुंभइ सुद्धप्पा एसो नोइंदिअप्पणिही॥ (दशवै. नि. २९९)।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार महाभयानक कषायों को जो रोकता है उस शुद्ध आत्मा को नोइन्द्रियप्रणिधि कहते हैं।

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष—१. नोइन्द्रियप्रत्यक्षं तु यदात्मन एवालिङ्गिकमवध्यादीति। (अनुयो. चू. पृ. ७५; अनुयो. हरि. वृ. पृ. १००)। २. इन्द्रियप्रत्यक्षं न भवतीति नोइन्द्रियप्रत्यक्षम्, नोशब्दः सर्वप्रतिषेधे। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २८)। ३. इन्द्रियप्रत्यक्षं तु यन्न भवति तन्नोइन्द्रियप्रत्यक्षम्, नोशब्दस्य सर्वनिषेधपरत्वात्, यत्रेन्द्रियं सर्वथैव न प्रवर्तते, किन्तु जीव एव साक्षादर्थं पश्यति तन्नोइन्द्रियप्रत्यक्षम्, अवधि-मनःपर्यय-केवलाख्यमिति भावार्थः। (अनुयो. मल. हेम. वृ. १४४, पृ. २१२)।

१ लिंग के बिना—इन्द्रिय आदि की सहायता न लेकर—जीव के जो स्वयमेव अवधि आदिरूप ज्ञान होता है उसे नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहा जाता है।

नोकर्म—१. तदुदयापादितः (कर्मोदयापादितः) पुद्गलपरिणामः आत्मनः सुख-दुःखबलाधानहेतुः औदारिकशरीरादिः, ईषत्कर्म नोकर्मेत्युच्यते। (त. वा. ५, २४, ९, पृ. ४८८)। २. नोकर्म च शरीरत्रयपरिणामविकरसुकम्॥ पुद्गलद्रव्यमाहारप्रभृत्युपचयात्मकम्। (त. श्लो. १, ५, ६४-६५)। ३. शरीर-पर्याप्तियोग्यपुद्गलादानं नोकर्म। (न्यायकु. ७४, पृ. ८०७)। ४. शरीरत्रय-पर्याप्तिषट्क-योग्यपुद्गलपरिणामो नोकर्म। (लघीय. अभय. वृ. ७-२, पृ. ९८)। ५. औदारिक-वैक्रियिकाहारक-शरीरत्रयस्य षट्पर्याप्तीनां च योग्यपुद्गलानामादानं नोकर्म। (त. वृत्ति श्रुत. १-५)।

१ कर्मोदयवश जो पुद्गलपरिणाम जीव के सुख-दुःख का कारण होता है वह नोकर्म कहलाता है। ईषत् (किंचित्) कर्मरूप वह नोकर्म औदारिकादि शरीरस्वरूप है।

नोकर्मद्रव्यनारक—पास-पंजर-जंतादीणि णोकम्मदव्वाणि णेरइयभावकारणाणि णोकम्मदव्वणेरइओ णाम। (धव. पु. ७, पृ. ३०)।

नारकभाव के कारणभूत पाश, पंजर और यंत्र आदि को नोकर्मद्रव्यनारक कहा जाता है।

नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन—देखो नोकर्मद्रव्यसंसार। १. नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्ध-रूक्ष-वर्ण-गन्धादिभिस्तीव्र-मन्द-मध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य मिश्रकांश्चानन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतांश्चानन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनम्। (स. सि. २-१०; भ. आ. विजयो. १७७३ —अत्र 'मध्ये गृहीतांश्चानन्तवारानतीत्य त एव' इत्येतावान् पाठस्त्रुटितः प्रतिभाति; मूला. वृ. ८-१४; भ. आ. मूला. १७७३)। २. औदारिक-वैक्रियिकाहारकशरीरत्रयस्य पर्याप्तिषट्कस्य च ये योग्यपुद्गलाः एकेन जीवेन एकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्ध-रूक्ष-वर्ण-गन्धादिभिस्तीव्र-मन्द-मध्यमभावेन च यथावस्थिताः द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीतान् अनन्तवारान् अतीत्य मिश्रितांश्च अनन्तवारान् अतीत्य मध्यगृहीतांश्च अनन्तवारान् अतीत्य त एव पुद्गलाः तेनैव स्निग्धादिभावेन तेनैव तीव्रादिभावेन च यथावस्थितप्रकारेण च तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत् तावत् समुदितं सर्वं त्रैलोक्यस्थितं पुद्गलद्रव्यं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २-१०)।

१ तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य जिन पुद्गलों को एक जीव ने एक समय में ग्रहण किया था वे स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श, वर्ण और गन्ध आदि से तीव्र, मन्द या मध्यम भाव से यथावस्थित होते हुए द्वितीय आदि समयों में निर्जीर्ण हो गये। पश्चात्

अनन्त बार अगृहीत पुद्गलों का, अनन्त बार मिश्र पुद्गलों का, मध्य में अनन्त बार गृहीत पुद्गलों का अतिक्रमण कर—उनको ग्रहण करते हुए निर्जीर्ण करके—जब वे ही पूर्वोक्त पुद्गल उसी प्रकार से उक्त जीव के नोकर्मरूपता को प्राप्त होते हैं, उतने समुचित काल का नाम नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन है।

नोकर्मद्रव्यसमता—नोकर्म मृत्सुवर्णाश्ममाणिक्या-ऽहिस्रगादिकम्। समताकारणं बाह्यभावभावावलोकिनः॥ (आचा. सा. ६-१६)।

बाह्य पदार्थों की अवस्था के देखने वाले जीव के जो मिट्टी व सुवर्ण, पाषाण व माणिक्य तथा सर्प और माला आदि पदार्थ समता के कारण हैं उन्हें नोकर्मद्रव्यसमता या नोकर्मद्रव्यसामायिक कहा जाता है।

नोकर्मद्रव्यसंसार—देखो नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन। नोकर्मद्रव्यसंसार औदारिक-वैक्रियिकाऽऽहारक तैजस-शरीराणामाहार- शरीरेन्द्रियाऽऽनपान - भाषा-मनः-पर्याप्तीनां विषयः। (भा. सा. पृ. ८०)।

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और तैजस शरीर तथा आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा और मन इन पर्याप्तियों का जो विषय है वह नोकर्मद्रव्यसंसार कहलाता है।

नोकर्मबन्ध—माता-पितृ पुत्रस्नेहसम्बन्धः नोकर्म बन्धः। (त. वा. ब, पृ. ५६१)।

माता, पिता और पुत्र के स्नेह का जो सम्बन्ध है उसे नोकर्मबन्ध कहा जाता है।

नोकषायवशार्तमरण—हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री पुंनपुंसकवेदे मूढमतेर्मरणं नोकषायवशार्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५, पृ. ८०)।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन नोकषायों में मुग्ध हुए जीव के मरण को नोकषायवशार्तमरण कहते हैं।

नोकषायवेदनीय—देखो अकषायवेदनीय। तथा स्त्रीवेदादिनोकषायरूपेण यद्वेद्यते तन्नोकषायवेदनीयम्। (श्रा. प्र. १६; धर्मसं. मलय. वृ. ६१३; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४६८)।

स्त्रीवेद आदि नोकषायरूप से जिसका वेदन किया जाता है उसे नोकषायवेदनीय कहते हैं।

नोकृति—एगो अण्णिज्जमाणो ण वड्ढदि, मूले अवणिदे णिम्मूलं फिट्टदि, तेण एगो णोकदित्ति वुत्तं। (धव. पु. ६, पु. २७४)।

एक (१) अंक का वर्ग करने पर वह वृद्धि को प्राप्त नहीं होता तथा उसे वर्गमूल में से घटाने पर वह निर्मूल नष्ट हो जाता है, इसी से उसे कृति न कहकर नोकृति कहा जाता है।

नोगौण—देखो नोगौण्य। से किं तं नोगुण्णे? अकुंतो सकुंतो अमुग्गो समुग्गो अमुद्दो समुद्दो अलालं पलालं अकुलिया सकुलिया नो पलं असइत्ति पलासो अमाइ-वाहए माइवाहए अबीअवावए बीअवावए नो इंदगोवए इंदगोवे, से तं नोगोण्णे। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४१)।

अकुंत-सकुंत, अमुद्ग-समुद्ग, अमुद्र-समुद्र, अलाल पलाल, अकुलिका-सकुलिका, अपलभक्षक-पलाश, अमातृवाहक-मातृवाहक, अबीजवाप-बीजवाप और नोइन्द्रगोप-इन्द्रगोप; इत्यादि निरुक्त्यर्थ से रहित नामों को नोगौण कहा जाता है। जैसे—पूर्वोक्त नामोंमें कुन्त (भाला) से रहित पक्षी को सकुन्त और मुद्ग (मूंग) से रहित डिब्बे को समुग्ग (समुद्ग) आदि कहना।

नोगौण्य पद—देखो नोगौण। १. नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत्। तद्यथा—चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि नामानि। (धव. पु. १, पृ. ७४-७५)। २. चंदसामी सूरसामी इंदगोव इच्चादिसण्णाओ णोगोण्णपदाओ, णामिल्लए पुरिसे णामत्थाणुवलंभादो। (जयध. १, पृ ३१)।

१ गुणनिरपेक्ष अर्थात् अनुगत अर्थ से जो पद रहित होते हैं उन्हें नोगौण्यपद कहा जाता है। जैसे—चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी और इन्द्रगोप आदि नाम।

नोश्रुतप्रत्याख्यान—नोश्रुतप्रत्याख्यानं श्रुतप्रत्याख्यानादन्यत्। (आव. नि. मलय. वृ. १०५४)।

श्रुतप्रत्याख्यान (प्रत्याख्यानपूर्व) से भिन्न को नोश्रुतप्रत्याख्यान कहते हैं। यह नोश्रुतप्रत्याख्यान मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान के भेद से दो प्रकार का है।

नोसंज्ञाकरण—१. नोसन्ना वीससापओगे। (आव. भा. १५३, पृ. ५५७)। २. नोसंज्ञाकरणं तु यत्करणमपि सन्न तद् संज्ञया रूढं। उक्तं हि—

णोसण्णाकरणं पुण दव्वसण्णाकरणसण्णं पि । (उत्तरा. नि. शा. वृ. १८४, पृ. १६५) ।

२ जो करण होकर भी संज्ञा से कृत नहीं है उसे नोसंज्ञाकरण कहा जाता है। वह विस्रसा (स्वभाव) और प्रयोग की अपेक्षा दो प्रकार का है। इनमें विस्रसाकरण भी दो प्रकार का है—सादि और अनादि। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों का जो परस्पर में संकलनरूप अवस्थान है, वह अनादिकरण है। सादिकरण चक्षु के द्वारा गृह्यमाण स्थूल पुद्गल द्रव्य है।

नोसंसार—१. सयोगकेवलिनश्चतुर्गतिभ्रमणाभावात् असंसारप्राप्त्यभावाच्च ईषत्संसारो नोसंसार इति। (त. वा. ९, ७, ३)। २. सयोगकेवलिनश्चतुर्गतिभ्रमणाभावात् संसारान्तःप्राप्त्यभावाच्चेषत्संसारो नोसंसारः। (चा. सा. पृ. ८०)।

१ सयोगकेवली के चारों गतियों के परिभ्रमणरूप संसार का तो अभाव हो गया है, पर असंसार (मोक्ष) की प्राप्ति अभी हुई नहीं है; अतएव उनके ईषत्संसाररूप नोसंसार माना जाता है।

न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान—१. नाभेरुपरिष्टाद् भूयसो देहसंनिवेशस्याधस्ताच्चाल्पीयसो जनकं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम। (त. वा. ८, ११, ८)। २. न्यग्रोधपरिमण्डलनाम्नस्तु नाभेरुपरि सर्वावयवाः समचतुरस्रसंस्थानलक्षणाविसंवादिनः अधस्तात् पुनरुपरितनभागानुरूपास्तस्य नावयवा इति, अतएव न्यग्रोधपरिमण्डलं तदुच्यते, न्यग्रोधाकृतित्वात्, न्यग्रोधपरिमण्डलमुपरि विशालाकारत्वात् (सि. वृ. 'विशालशाखत्वात्') इति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ३. नाभीत उपर्यादिलक्षणयुक्तं अधस्तादनुरूपं न भवति, तस्मात्प्रमाणाद्धीनतरं न्यग्रोधपरिमण्डलम्। (अनु. हरि. वृ. पृ. ५७)। ४. णग्गोहो वडरुक्खो, तस्स परिमंडलं व परिमंडलं जस्स सरीरस्स तण्णग्गोहपरिमंडलं। णग्गोहपरिमंडलमेव सरीरसंठाणं णग्गोहपरिमंडलसरीरसंठाणं, आयतवृत्तमित्यर्थः। (धव. पु. ६, पृ. ७१); न्यग्रोधो वटवृक्षः, समन्तान्मण्डलं परिमण्डलम्। न्यग्रोधस्य परिमण्डलमिव परिमण्डलं यस्य शरीरसंस्थानस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसंस्थानं नाम। एतस्य यत्कारणं कर्म तस्याप्येषैव संज्ञा। (धव. पु. १३, पृ. ३६८)। ५. न्यग्रोधसंस्थानं शरीरस्योर्ध्वभागेऽवयवपरमाणुबहुत्वम्। (मूला. वृ. १२-४६); न्यग्रोधो वृक्षस्तस्य परिमण्डलमिव परिमण्डलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलं नाभेरूर्ध्वं सर्वावयवपरमाणुबहुत्वं न्यग्रोधपरिमण्डलमिव न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसंस्थानमायतवृत्तमित्यर्थः। (मूला. वृ. १२-१९३)। ६. नाहीइ उवरि बीयं ××× । (संग्रहणी सू. १२१)। ७. न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्य तन्न्यग्रोधपरिमण्डलम्, यथा न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णप्रमाणोऽधस्तु हीनः तथा यत्संस्थानं नाभेरुपरि सम्पूर्णमधस्तु न तथा तन्न्यग्रोधपरिमण्डलम्। (जीवाजी. मलय. वृ. १-३८, पृ. ४२; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २६८, पृ. ४१२)। ८. यदुदयात् न्यग्रोधपरिमण्डलं संस्थानं तन्न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७३)। ९. न्यग्रोध उपरि सम्पूर्णोऽधस्तु हीनस्तथा यन्नाभेरुपरि लक्षणोपेततया सम्पूर्णमधस्तु न तथा, तत् न्यग्रोधवत्परिमण्डलं यस्येति न्यग्रोधपरिमण्डलम्। (संग्रहणी. दे. वृ. १२१)। १०. नाभेरूर्ध्वं प्रचुरशरीरसन्निवेश अधस्तु अल्पशरीरसन्निवेशो न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिस नामकर्म के उदय से नाभि से ऊपर के शरीरावयव विशाल हों और नाभि से नीचे के अंग छोटे हों उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं।

न्यस्तदोष—न्यस्तं क्षिप्त्वा पाकपात्रात् पात्र्यादौ स्थापितं क्वचित्॥ (अन. ध. ५-१२)।

जिस पात्र (बर्तन) में अन्न पकाया गया हो उससे निकाल कर साधु के देने के लिए अन्य पात्र में रखने को न्यस्तदोष कहते हैं।

न्याय—१. न्यायो-द्विज-क्षत्रिय-विट्-शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानम्। (आ. प्र. टी. ३२५)। २. अथवा ज्ञेयानुसारित्वान्न्यायरूपत्वाद्वा न्यायः सिद्धान्तः। (धव. पु. १३, पृ. २८६)। ३. न्यायो युक्तिः प्रमाणेन प्रमेयस्य घटना। (आप्तमी. वसु. वृ. ११)। ४. स्वामिद्रोह-मित्रद्रोह-विश्वसितवञ्चन-चौर्यादिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्वर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः। (योगशा. स्वो. विव. १-४७; सा. ध. स्वो. टी. १-११)। ५. नय-प्रमाणात्मको न्यायः, निपूर्वादिण् गतौ इत्यस्माद् धातोः करणे घञ्प्रत्यये न्यायशब्दसिद्धिः। नितराम् इयते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः। प्रमाण-

शास्त्र-क्षीरसमुद्रस्य श्रीमदित्यादिनियमेन कथंचित्सावधारणत्वेन प्रमेयस्वरूपमियते गम्यते येन स न्याय: नय-प्रमाणयुक्ति:, तत्प्रतिपादकत्वादिति युक्तिशास्त्रमपि न्याय: । (प्रमेयर. टिप्पण २, पृ. ३) ।

१ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के अपनी वृत्ति (आजीविका) के अनुष्ठान को न्याय कहते हैं। २ ज्ञेय का अनुसरण करने वाला अथवा न्यायरूप होने से सिद्धान्त को न्याय कहा जाता है। ३ प्रमाण से प्रमेय की संगतिरूप युक्ति को न्याय कहते हैं।

न्याय्य—न्यायादनपेतं न्याय्यं श्रुतज्ञानम् । (धव. पु. १३, पृ. २८६)।

श्रुत चूंकि न्याय से युक्त है, अत: उसे न्याय्य कहा कहा जाता है।

न्यास—देखो निक्षेप। ××× उपायो न्यास इष्यते । (प्रमाणसं. ८६; लघीय ५२; धव. पु. १, पृ. १७ व पु. ३, पृ. १८ उद्.) ।

जीवादि पदार्थों के जानने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं।

न्यासापलाप—देखो न्यासापहरण।

न्यासापहरण—देखो न्यासापहार । न्यस्यते रक्षणायान्यस्मै समर्प्यत इति न्यास: सुवर्णादि:, तस्यापहरणमपलाप: । (योगशा. स्वो. विव. ३, ५४; सा. ध. स्वो. टी. ४-४६) ।

जो सुवर्णादि द्रव्य सुरक्षा के निमित्त दूसरे के लिए समर्पित किया जाता है उसे न्यास कहा जाता है। इस न्यास के अपहरण का नाम न्यासापहरण या न्यासापलाप है।

न्यासापहार—देखो न्यासापहरण । १. हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्येयमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहार: । (स. सि. ७-२६)। २. न्यासापहारो विस्मरणकृतपरनिक्षेपग्रहणम् । (त. भा. ७-२१) । ३. हिरण्यादिनिक्षेपेऽल्पसंख्यानुज्ञावचनं न्यासापहार: । हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पश: संख्यानमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहार इत्याख्यायते । (त. वा. ७, २६, ४) । ४. न्यस्यते निक्षिप्यत इति न्यासो रूपकाद्यर्पणम्, तस्यापहरणं न्यासापहार: । (श्रा. प्र. टी. २६०) । ५. विस्मृतन्यस्तसंख्यस्य स्वल्पं स्वं संप्रगृह्णत: । न्यासापहार एतावदित्यनुज्ञापकं वच: ॥ (ह. पु. ५८-१६८) । ६. हिरण्यादिनिक्षेपे अल्पसंख्यानुज्ञावचनं न्यासापहार: ॥ (त. श्लो. ७-२६)। ७. गोपनाय स्वद्रव्यार्पणमन्यस्य न्यास:, तस्यापहार: अपलाप: सुश्लिष्टवचनेन । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२१) । ८. हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यानमाददानस्य एवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहार: । (चा. सा. पृ. ५) । ६. न्यास: परगृहे रूपकादेर्निक्षेप:, तस्य अपहार: अपलाप: । (ध. बि. मु. वृ. ३-२४) । १०. न्यासापहारिता द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यं द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनम् । (रत्नक. टी. ३-१०) । ११. न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा—न्यस्तस्य निक्षिप्तस्य हिरण्यादिद्रव्यस्य अंशमेकमंशं विस्मर्तुर्विस्मरणशीलस्य निक्षेप्तुरनुज्ञा । द्रव्यमनुनिक्षेप्तुर्विस्मृततत्संख्यस्याल्पसंख्यं तद् गृह्णत एवमित्यनुमतिवचनम् । सोऽयं न्यासापहाराख्योऽतिचार: । (सा. ध. स्वो. टी. ४-४५) । १२. केनचित्पुरुषेण निजमन्दिरे हिरण्यादिद्रव्यं न्यासीकृतम्, निक्षिप्तमित्यर्थ: । तस्य द्रव्यस्य ग्रहणकाले संख्या विस्मृता, विस्मरणप्रत्ययादल्पं द्रव्यं गृह्णाति, न्यासवान् पुमान् अनुज्ञावचनं ददाति—देवदत्त, यावन्मात्रं द्रव्यं ते वर्तते तावन्मात्रं त्वं गृहाण, किमत्र पृष्टव्यमिति जानन्नपि परिपूर्णं तस्य न ददाति न्यासापहार उच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ७-२६; कार्तिके. टी. ३३३-३४) ।

१ जिसने दूसरे के पास रक्षा के निमित्त सुवर्णादि द्रव्य को रख दिया है वह यदि पीछे भूल से कम प्रमाण में उसे वापिस मांगता है तो 'हां इतना ही है' इस प्रकार कहकर रखे हुए द्रव्य से कम देना, यह न्यासापहार नामक सत्याणुव्रत का एक अतिचार है। २ विस्मरणकृत—दूसरे के विस्मृत—निक्षेप (धरोहर) का ग्रहण करना, इसका नाम न्यासापहार है। अभिप्राय यह है कि किसी ने दूसरे के यहां पांच सौ रखे, पर ठीक स्मरण न रहने से वापिस लेते समय वह पूछता है कि मैंने पांच सौ रखे थे कि चार सौ, जितना रखा हो दे दीजिए। इस पर 'चार सौ ही रखे थे' ऐसा कहते हुए चार सौ देकर भूले हुए शेष एक सौ को स्वयं रख लेना, इसे न्यासापहार जानना चाहिए।

न्यून दोष—१. 'ऊनं' व्यञ्जनाभिलापावश्यकैरसम्पूर्णं वन्दते। (आव. नि. हरि. वृ. १२१०)। २. वयणक्खरेहिं ऊणं जहन्नकालेवि सेसेहिं। (प्रव. सारो. १७१)। ३. वचनं वाक्यं क्रियान्ताक्षरसमूहात्मकम्, तेन अक्षरैर्वा एक-द्व्यादिभिर्हीनं न्यूनमुच्यते, यदि वा ××× यदि पुनः कश्चिदत्युत्सुकः प्रमादितया जघन्येनैव – अतिस्वल्पेनैव कालेन वन्दनकं समापयति तदा आस्तां वचनाक्षरैः, शेषैरप्यवनामादिभिरावश्यकैर्न्यून भवतीत्यर्थः। (आव. ह. वृ. मल. हे. टि. पृ. ८६; प्रव. सारो. वृ. १७१, पृ. ३८)। ४. न्यूनं व्यञ्जनाभिलापावश्यकैरसम्पूर्णम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०, पृ. २३७)।

३ क्रियापर्यन्त अक्षरों के समूह को वचन या वाक्य कहा जाता है, इस प्रकार के वचन से अथवा एक-दो अक्षरों से हीन वन्दना करना, अथवा अत्यन्त उत्सुक होता हुआ प्रमाद के कारण अतिशय अल्प काल में ही जो वन्दना करता है, इसमें अक्षरहीनता तो दूर रहे, शेष अवनामादि आवश्यकों से भी वह हीन होती है। यह न्यून नाम का दोष माना गया है जो कृतिकर्म के ३२ दोषों में से २८वां है।

पक्व—पक्वं नाम यद् अग्निना संस्कृतम्, यथा इङ्गुदीबीज-बिल्वादि। (बृहत्क. भा. क्षे. वृ. १०८०)।

अग्नि से संस्कार की गई—पकाई गई—वस्तु को पक्व कहते हैं।

पक्ष (कालविशेष)—१. पण्णरस अहोरत्ता पक्खो। (भगवती. ६, ७, ४, पृ. ८२५; जम्बूद्वी. १८, पृ. ८६; अनुयो. सू. १३७, पृ. १७६; ज्योतिष्क. ३०; जीवस. ११०)। २. तानि पञ्चदश पक्षः। (त. भा. ४–१५)। ३. ××× पण्णरसेहि दिवसेहिं एक्कपक्खो हु। (ति. प. ४–२८८)। ४. विपञ्चकैस्तैर्दिवसैश्च पक्षः ××× ॥ (वरांगच. २७–५)। ५. पञ्चदशाहोरात्राः पक्षः। (त. वा. ३, ३८, ८)। ६. अहोरात्रं भवेत् पक्षस्तानि पञ्चदशैव ×××। (ह. पु. ७–२१)। ७. पक्षः पञ्चदशाहोरात्रात्मकः। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ६६३)। ८. पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः। (आव. भा. हरि. व मलय. वृ. १९८)। ९. पञ्चदशदिवसाः पक्षः। (धव. पु. ४, पृ. ३१९); पण्णरसदिवसेहि पक्खो होदि। (धव. पु. १३, पृ. ३००)। १०. ××× पणरहदिवसेहिं होइ पक्खं तु। (भा. भावसं. ३१४)। ११. पञ्चदशाहोरात्र: एकः पक्षः। (जीवाजी. मलय. वृ. १७८; ज्योतिष्क. मलय. वृ. ३०)। १२. पञ्चदशपरिपूर्णा अहोरात्राः पक्षः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. सू. ५७, पृ. १६१)। १३. तैः पञ्चदशभिः (अहोरात्रैः) पक्षः। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. ११४, पृ. ६६; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १०४; षडशी. दे. स्वो. वृ. ६६)। १४. पक्षः पुनरहोरात्रैः स्यात्पञ्चदशभिर्ध्रुवम्। (लोकप्र. २८–२८४)।

१ पन्द्रह दिन-रात को पक्ष कहते हैं।

पक्ष (श्रावकाचारविशेष)—स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं धर्माद्यर्थमितीह पक्ष ×××। (सा. ध. १–१९)।

मैत्री-प्रमोद आदि भावनाओं से वृद्धिगत होकर 'मैं धर्मादि के निमित्त हिंसा नहीं करूंगा' इस प्रकार त्रसत्वादि के साथ जो सम्पूर्ण वध के—त्रसहिंसा के—त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है, इस प्रकार के आचार का नाम पक्ष है।

पक्ष (अनुमानांग)—१. साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः। (न्यायाव. १४)। २. धर्म-धर्मिसमुदायः पक्षः। (विशेषा. को. वृ. १५, पृ. ११)। ३. पक्षश्च धर्म-धर्मिसमुदायात्मा। (न्यायकु. १–३, पृ. ६७; स्या. र. २–१)। ४. जिज्ञासितविशेषो धर्मी पक्षः। (सिद्धिवि. वृ. ६–२, पृ. ३७३, पं. १)। ५. धर्म-धर्मिसमुदायलक्षणः पक्षः। (समयप्रा. जय. वृ. ५५, पृ. ३२)। ६. आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी। (प्र. न. त. ३–१८)। ७. साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणो पक्षत्वात् (साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः)। (न्यायदी. पृ. ७२)। ८. साध्यविशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी पक्षः। (षड्द. वृ. ५५, पृ. २१०)।

१ प्रत्यक्षादि के द्वारा जिसका निराकरण नहीं किया गया है ऐसे साध्य (अनुमेय) की स्वीकारता को पक्ष कहा जाता है। २ धर्म और धर्मी के समुदाय को पक्ष कहते हैं।

पक्षधर्म—यो हि धर्मिधर्मः स पक्षधर्मः इत्युच्यते। (न्यायकु. १–३, पृ. ६७)।

धर्मी के धर्म को पक्षधर्म कहते हैं।

पक्षधर्मता—१. पक्षधर्मत्वं हि तज्जनकस्य हेतोः स्वरूपम् । (स्या. र. २–१, पृ. २६१) । २. तस्मिन् (पक्षे) व्याप्य वर्तमानत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम् । (न्यायदी. पृ. ८३) ।

१ पक्षधर्मता—हेतु का पक्ष में रहना, यह अनुमान के जनक हेतु का स्वरूप है । २ हेतु के पक्ष में रहने को पक्षधर्मता कहते हैं ।

पक्षपात—पक्षपातस्तु बहुमान-तत्प्रशंसा-साहाय्य-करणादिना अनुकूला प्रवृत्तिः । (योगशा. स्वो. विव. १–५३, पृ. १५७) ।

सौजन्य व उदारता आदि गुणों के विषय में बहुत सम्मान, उनकी प्रशंसा और सहायता आदि के द्वारा अनुकूल प्रवृत्ति करने को पक्षपात कहते हैं ।

पक्षाभास—१. तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः । (परीक्षा. ६–१२) । २. तत्र प्रतीत-निराकृतानभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणास्त्रयः पक्षाभासाः । (प्र. न. त. ६–३८) ।

१ अनिष्ट, बाधित और सिद्ध साध्यधर्म से युक्त धर्मी (पक्ष) को पक्षाभास कहा जाता है ।

पक्षी—पक्षवन्तस्तिर्यञ्चः पक्षिणः । (धव. पु. १३, पृ. ३९१) ।

पंखों वाले तिर्यंच जीव पक्षी कहलाते हैं ।

पङ्क—पतन्त्यस्मिन्निति पङ्कः, पङ्को नाम स्वेदावद्धो मलः । (उत्तरा. चू. पृ. ७६) ।

पसीने से सम्बद्ध मल को पङ्क कहते हैं ।

पङ्कगति—से जहाणाम ते केइ पुरिसे पंकंसि वा उदयंसि वा कायं उव्विहिया गच्छति, से तं पंकगती । (प्रज्ञाप. २०५, पृ. ३२८) ।

कीचड़ या पानी में शरीर को ऊंचा करके गमन करने को पङ्कगति कहते हैं ।

पञ्चम अणुव्रत—देखो परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ।

पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक—यस्त्वप्रत्याख्यानावरणसंज्ञितद्वितीयकषायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे प्रवृत्तोऽपि यथाशक्त्या त्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावको भण्यते । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४५, पृ. १७१) ।

अप्रत्याख्यानावरण नामक द्वितीय कषाय का क्षयोपशम होने पर स्थावर जीवों के घात में प्रवृत्त होते हुए भी जो शक्ति के अनुसार त्रसजीवघात से निवृत्त हो चुका है उसे पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक कहते हैं ।

पञ्चम महाव्रत—देखो परिग्रहत्यागमहाव्रत ।

पञ्चम मूलगुण—पंचमगो गामाविसु अप्प-बहुविवज्जणेमेव ।। (धर्मसं. हरि. ८६०) ।

ग्राम, नगर अथवा वन आदि में थोड़े-बहुत—सभी प्रकार के—परिग्रह का परित्याग करना, यह साधुओं के प्राणातिपातविरति आदि मूलगुणों में पांचवां मूलगुण है ।

पञ्चमी प्रतिमा—पञ्चमासांश्चतुष्पर्व्यां गृहे तद्द्वारे चतुष्पथे वा परीषहोपसर्गादिनिष्कम्पकायोत्सर्गः पूर्वोक्तप्रतिमानुष्ठानं पालयन् सकलां रात्रिमास्त इति पञ्चमी । (योगशा. स्वो. विव. ३–१४८, पृ. १७१–७२) ।

पांच मास पर्यन्त चारों पर्वों (अष्टमी व चतुर्दशी) में घर पर, उसके द्वार पर अथवा चौराहे पर परीषह और उपसर्ग आदि में अडिग रहते हुए कायोत्सर्गपूर्वक पूर्व चार प्रतिमाओं के अनुष्ठान का परिपालन करना व समस्त रात्रि को बिताना, यह पांचवीं प्रतिमा है ।

पञ्चाग्निसाधक—कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् । येनेदं साधितं स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधकः ।। (उपासका. ८७१) ।

काम, क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पांच अग्नियों को—अग्नि के समान सन्तापजनक दुर्गुणों को—जिसने शान्त कर दिया है, ऐसे साधु को पञ्चाग्निसाधक कहते हैं ।

पञ्चाङ्ग नमस्कार—'पञ्चाङ्ग' पञ्चाङ्गानि जानुद्वय-करद्वय-शिरोलक्षणानि भूस्पृष्टानि यत्र स पञ्चाङ्गः । (चैत्यव. भा. दे. ६, पृ. ५) ।

दो हाथ, दो घुटने और शिर को भूमि से लगाकर नमस्कार करने को पञ्चाङ्ग नमस्कार कहते हैं ।

पञ्चेन्द्रिय—१. सुर-णर णारय-तिरिया वण्ण-रस-फास-गंध-सद्दण्हू । जलचर-थलचर-खचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ।। (पंचा. का. ११७) । २. पञ्चानां स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्रज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् पञ्चविधज्ञानभाजः पञ्चेन्द्रियाः । (शतक. मल. हेम. वृ. ३८; कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. १७) । ३. पञ्च स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्र-

स्पर्शादीन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४८)।

१ जो वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द के ज्ञाता हैं ऐसे देव, मनुष्य, नारकी तथा जलचर, थलचर, नभचर व बलवान् तिर्यंच जीवों को पञ्चेन्द्रिय कहते हैं।

पञ्चेन्द्रिय जातिनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं पंचिदियजादिभावेण समाणत्तं होदि तं पंचिदियजादिणामकम्मं। (धव. पु. ६, पृ. ६८); पंचिदियभावणिव्वत्तयं जं कम्मं तं पंचिदियजादिणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६३)। २. यदुदयात् प्राणी पञ्चेन्द्रिय इति कथ्यते तत्पञ्चेन्द्रियजातिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।

१ जिस कर्म के उदय से जीवों में पंचेन्द्रिय जातिस्वरूप से समानता होती है उसे पंचेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

पञ्जर—तित्तिर-लावक-हरिणादिधरणार्थं विरचितं ग्रन्थिविशेषकलितरज्जुमयं जालं पञ्जरः। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३०३।

तीतर, लावक (पक्षी विशेष) और हरिण आदि के पकड़ने के लिए रस्सी में गांठें लगाकर बनाये गये जाल को पञ्जर कहते हैं।

पटबुद्धि— पटवत् विशिष्टवक्तृवनस्पतिविसृष्टविविधप्रभूतसूत्रार्थ-पुष्प-फलग्रहणसमर्थतया बुद्धिः पटबुद्धिः। (औपपा. अभय. वृ. १५, पृ. २८)।

पट के समान विशिष्ट वक्तारूप वनस्पति (कपास) के द्वारा छोड़े गये (दिये गये) अनेक प्रकार के प्रचुर सूत्र-अर्थरूप पुष्प और फलों के ग्रहणविषयक सामर्थ्य से युक्त बुद्धि को पटबुद्धि कहा जाता है।

पटह—पटह आतोद्यविशेषः, स च किंचिदायत उपर्यधश्च समप्रमाणः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३, ३१६, पृ. ५४२)।

कुछ लम्बे और ऊपर-नीचे समान प्रमाण वाले वादित्रविशेष (ढोल) को पटह कहते हैं।

पट्टन—वररयणाणं जोणी पट्टणणामं विणिद्दिट्ठं। (ति. प. १३९९)।

उत्तम रत्नों के योनिभूत (उत्पादक) स्थान का नाम पट्टन है।

पण्डित—१. देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ। परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥ (परमा. १-१४)। २. पापाड्डीनः पण्डितः, पण्डा वा बुद्धिः, तया इतः अनुगतः पण्डितः। (उत्तरा. चू. पृ. १३१)। ३. पण्डिताः सम्यग्ज्ञानवन्तः, × × × अन्ये व्याचक्षते × × × पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञाः। (दशवै. हरि. वृ. सू. २-११, पृ. ९९)। ४. एतत्पाण्डित्यप्रकर्षरहितं पाण्डित्यं यस्य स पण्डित उच्यते। (भ. आ. विजयो. २६)। ५. पण्डा हि रत्नत्रयपरिणता बुद्धिः संजाता अस्येति पण्डितः। (भ. आ. मूला. २६)। ६. पापात् डीनः—पलायितः पण्डितः। अथवा पण्डा बुद्धिः, सा संजाता अस्येति पण्डितः। (बृहत्क. भा. मलय. वृ. १९६)।

१ जो आत्मानुभूतिरूप परम समाधि में स्थित होकर शरीरसे भिन्न ज्ञानमय परमात्मा को जानता है उसे पण्डित—अन्तरात्मा—कहा जाता है। २ पाप से जो डीन अर्थात् दूर रहता है उसे पण्डित कहते हैं, अथवा 'पण्डा' नाम बुद्धि का है, उससे जो युक्त हो उसे पण्डित जानना चाहिए। ४ पण्डितपण्डित के पाण्डित्यप्रकर्ष से रहित—उसकी अपेक्षा हीन—पाण्डित्य से जो सहित हो वह पण्डित कहलाता है।

पण्डितपण्डित—अतिशयितं पाण्डित्यं यस्य ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु स पण्डितपण्डित इत्युच्यते। (भ. आ. विजयो. २६)।

ज्ञान, दर्शन और चारित्रविषयक पाण्डित्य जिसका अतिशय को प्राप्त है उसे पण्डितपण्डित कहा जाता है।

पण्डितमरण—देखो पण्डित। पंडिताण मरणं पंडितमरणम्, विरतानामित्यर्थः। (उत्तरा. चू. पृ. १२८)।

पण्डितों का—विरतों (संयतों) का—मरण पण्डितमरण कहलाता है।

पण्यस्त्री—पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम्। तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका। (लाटीसं. २-१२९)।

जो धन के लिए पुरुष का सेवन करती है वह पण्यस्त्री के नाम से प्रसिद्ध है।

पतङ्गवीथिका—यस्यां तु त्रि-चतुरादीनि गृहाणि

विमुच्याग्रतः पर्यटति सा पतङ्गवीथिका। पतङ्गः शलभः, तस्येव या वीथिका पर्यटनमार्गः सा पतङ्गवीथिका, पतङ्गो हि गच्छन्नुत्प्लुत्योत्प्लुत्यानियतया गत्या गच्छति, एवं गोचरभूमिरपि या पतङ्गोड्डयनाकारा सा पतङ्गवीथिकेति भावः। (बृहत्क. क्षे. वृ. १६४६)।

जिस गोचरभूमि में साधु तीन-चार घरों को छोड़ कर आगे जाता है वह पतंगवीथिका गोचरभूमि कहलाती है। जैसे पतंगा उछल उछल कर अनियत गति से गमन करता है उसी प्रकार गोचरी के लिए जाते हुए अनियत गति से जाना—कभी किसी गृह में तो कभी अन्य गृह में, इस प्रकार से अनियमित प्रवेश करना; इसे पतंगवीथिका गोचरभूमि कहते हैं। यह क्षेत्राभिग्रहविषयक ऋज्वी आदि आठ गोचरभूमियों में चतुर्थ है।

पतद्ग्रह—१. परिणमयइ जीसे तं पगईइ पडिग्गहो एसो। (कर्मप्र. सं. क. २)। २. परिणमयति जिस्से तं पगतीए पडिग्गहो एसो—यस्यां प्रकृतौ जीवस्तद्भावेन परिणमयति सो प्रकृतिः पगतीए संकममाणाए पडिग्गहो वुच्चति। (कर्मप्र. चू. सं. क. २)। ३. यस्यां प्रकृतौ आधारभूतायां तत्प्रकृत्यन्तरस्थं दलिकं परिणमयति आधारभूतप्रकृतिरूपतामापादयति एषा प्रकृतिराधारभूता पतद्ग्रह इव पतद्ग्रहः, संक्रम्यमाणप्रकृत्याधार इत्यर्थः। (कर्मप्र. मलय. वृ. सं. क. २)।

१ जीव जिस प्रकृति में विवक्षित प्रकृति के प्रदेशों को तद्रूप से परिणमाता है उस प्रकृति को पतद्ग्रह प्रकृति कहते हैं।

पतनान्तराय—भूमौ मूर्च्छादिना पाते पतनाख्यो ××× । (अन. ध. ५-५४)।

आहार करते समय मूर्च्छा आदि के कारण भूमि में गिर जाने पर पतन नाम का अन्तराय होता है।

पति—पाति रक्षति तामिति पतिः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५७, पृ. ३८)।

जो उसकी—भार्या (स्त्री) की—रक्षा करता है वह पति कहलाता है।

पत्तन—देखो पट्टन। १. नावा पादप्रचारेण च यत्र गमनं तत्पत्तनं नाम। (धव. पु. १३, पृ. ३३५)। २. पत्तनं जलपथयुक्तं स्थलपथयुक्तं वा, रत्नभूमिरित्यन्ये। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. १७५)। ३. पत्तनं जलपथोपेतमेव स्थलपथोपेतमेव वा। (औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७४)। ४. पत्तनानि जल-स्थलमार्गयोरन्यतरेण मार्गेण युक्तानि। (कल्प-सू. वि. वृ. ८८, पृ. १११)।

१ जहां नाव के द्वारा और पादप्रचार से (पैदल) जाना होता है उसे पत्तन कहते हैं। २ जलमार्ग से अथवा स्थलमार्ग से युक्त प्रदेश को पत्तन कहते हैं। दूसरे कितने ही आचार्य रत्नों की भूमि को पत्तन कहते हैं।

पत्नी—पत्नी पाणिगृहीता स्यात् ××× ॥ (लाटीसं. २-१७८)।

जिसके पाणि (हाथ) को ग्रहण किया गया है—जिसके साथ विधिपूर्वक विवाह हुआ है—उसे पत्नी कहा जाता है।

पत्र—प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्। साधुगूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम् ॥ ××× मुख्यशब्दात्मकं वाक्यं लिप्यामारोप्यते जनैः। पत्रस्थत्वात् तत्पत्रमुपचारोपचारतः ॥ अथवा प्रकृतवाक्यस्य मुख्यत एव पत्रव्यपदेश इति निगदामः, पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः प्रतिवादिभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन् वाक्ये तत्पत्रमिति पत्रशब्दस्य निर्वचनसिद्धेः। ××× त्रायन्ते वा पदान्यस्मिन् परेभ्यो विजिगीषुणा। कुतश्चिदिति पत्रं स्याल्लोके शास्त्रे च रूढितः ॥ (पत्रप. पृ. १-२)।

जो प्रसिद्ध अवयवों से युक्त वाक्य अपने अभीष्ट अर्थ का साधक होता है तथा जिसमें प्रायः भली भांति पदों की गूढ़ता हो वह पत्र माना जाता है।

पत्रचारण—१. अविराहिदूण जीवे तल्लीणे बहुविहाण पत्ताणं। जा उवरि बच्चदि मुणी सा रिद्धी पत्तचारणा णामा ॥ (ति. प. ४-१०४०)। २. नानावृक्ष-गुल्म-वीरुल्लतावितानानाप्रवालतरुणपल्लवालम्बनेन पर्णसूक्ष्मजीवानविराधयन्तश्चरणोत्क्षेप-निक्षेपपटवः पत्रचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १-९, पृ. ४१)। ३. पत्रमस्पृश्य पत्रोपरि गमनं पत्रचारणत्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

१ जिसके प्रभाव से मुनि पत्रगत जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से गमन करता है उसका नाम पत्रचारण ऋद्धि है।

पथ्य वचन—पथ्यं यदायतौ हितम्। (योगशा. स्वो. विव. १-२१, पृ. १२०)।

परिणाम में हित करने वाले वचनों को पथ्य वचन कहते हैं।

पद—१. सुप्तिङन्तं पदम्। (जैनेन्द्र. १।२।१०३)। २. पद्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति पदम्। (धव. पु. १०, पृ. १९)। ३. वर्णसमुदायः पदम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२४)। ४. वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्। (न्यायकु. ६५, पृ. ७३७)। ५. पद्यते गम्यते येनार्थः तत्पदम्। (सिद्धिवि. वृ. ११-५, पृ. ७०३, पं. १२)। ६. वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहितिः पदम्। (प्र. न. त. ४-१०); पद्यते गम्यते स्वयोग्योऽर्थोऽनेनेति पदम्। (स्या. र. ४-१०)। ७. स्वार्थप्रतिपादकानि पदानि। (उपदे. प. मु. वृ. ८-५६)। ८. पदं त्वर्थपरिसमाप्तिः पदमित्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचिद् पदेनाष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वाच्छ्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात्तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते, तत्रैकं पदं पदमुच्यते। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४२; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७, पृ. १९)। ९. वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम् अव्ययानव्ययभेदभिन्नम्। (लघीय. अभय. वृ. ६४, पृ. ८७)। १०. × × × तत्पदं यत्र नापदः। (जम्बू. च. ४-१५१)।

१ सुबन्त (सु-औ-जस् आदि विभक्तिप्रत्ययान्त) और तिङन्त (तिप्-तस्-अन् आदि ङि तक) शब्द को पद कहते हैं। ३ वर्णों के समुदाय को पद कहा जाता है। ८ अर्थसमाप्ति को यद्यपि पद कहा जाता है, फिर भी जिस पद से अठारह हजार आदि पद प्रमाण आचारादि ग्रन्थ कहे गये हैं उसको यहां श्रुत के अधिकार में पद ग्रहण करना चाहिए। ६ पद (स्थान) वही उत्तम माना जाता है जो आपदाओं से रहित हो—ऐसा पद एक मात्र मोक्ष ही सम्भव है।

पदनिक्षेप—जहण्णुक्कस्सपदविसयणिच्छए लिवदि पादेदि त्ति पदणिक्खेवो णाम। भुजगारविसेसो पदणिक्खेवो, जहण्णुक्कस्सवड्ढि-हाणिपरूवणादो। (जयध.—कसायपा. सु. पृ. ७९ का टिप्पण)।

समुत्कीर्तना और स्वामित्व आदि अनुयोगद्वारों का जघन्य और उत्कृष्ट पदों के द्वारा निक्षेप अर्थात् निश्चय करने को पदनिक्षेप कहते हैं।

पदबद्ध—गेयपदैर्बद्धम्—विशिष्टविरचनया रचितं पदबद्धम्। (अनुयो. मल. हेम. वृ. गा. ४६, पृ. १३२)।

गाने के योग्य पदों के द्वारा जो विशिष्ट रचना की जाती है उसे पदबद्ध कहा जाता है।

पदमीमांसा— एदेसिं पदाणं (उक्कस्साणुक्कस्सादितेरसपदाणं) मीमांसा परिक्खा जत्थ कीरदि सा पदमीमांसा। (धव. पु. १०, पृ. १९); पदाणं मीमांसा परिक्खा गवेसणा पदमीमांसा। (धव. पु. १२, पृ. ३)।

उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य आदि पदों का जिस अनुयोगद्वार में विचार किया जाता है उसका नाम पदमीमांसा है।

पदविग्रह—१. "पायं पदविच्छेदो समासविसयो तयत्थणियमत्थं। पदविग्गहोत्ति भण्णइ सो सुद्धपदं ण संभवदि॥" इह प्रायेण यः समासविषयः पदयोः पदानां वा छेदो अनेकार्थसम्भवे इष्टार्थनियमनाय क्रियते स पदविग्रहः। (उत्तरा. चू. पृ. १४)। २. पदपृथक्करणं पदविग्रहः। (आव. नि. मलय. वृ. १०२७, पृ. ५५६)।

१ अनेक अर्थों की सम्भावना होने पर अभीष्ट अर्थ के नियमन के लिए जो प्रायः समासविषयक दो या दो से अधिक पदों का छेद किया जाता है वह पदविग्रह कहलाता है।

पदविभागी आलोचना—पव्वज्जादी सव्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण। पडिसेविदं तहा तं आलोचिंतो पदविभागी॥ (भ. आ. ५३५)।

प्रव्रज्या लेने के समय से लेकर आज तक जिसका जहां पर जिस भाव से सेवन किया गया है उसकी उसी भाव से क्रमशः आलोचना करने को पदविभागी आलोचना कहते हैं।

पदश्रुतज्ञान—१. तदो (अक्खरसमासादो) एगक्खरणाणे वड्ढिदे पदं णाम सुदणाणं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २३); एगेगक्खरवड्ढिकमेण अक्खरसमासं सुदणाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव संखेज्जक्खराणि वड्ढिदाणि त्ति। पुणो संखेज्जक्खराणि घेत्तूण एगं पदसुदणाणं होदि। (धव. पु. १३, पृ. २६५)। २. एगक्खराद् उत्ति ए गेगेणक्खरेण

वड्ढंतो। संखेज्जे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं ॥ (गो. जी. ३३४)।

१ अक्षरसमास श्रुत के ऊपर एक अक्षरज्ञान की वृद्धि होने पर पद नाम का श्रुतज्ञान होता है।

पदश्रुतज्ञानावरणीय कर्म—पदसुदणाणस्स जमावरणं तं पदसुदणाणावरणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

पदश्रुतज्ञान के आवारक कर्म को पदश्रुतज्ञानावरणीय कहते हैं।

पदसम—यत् गीतपदं नामिकादिकं यत्र स्वरे अनुपाति भवति तत् तत्रैव यत्र गीयते तत्पदसमम्। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. गा. ५०, पृ. १३२)।

जो नामिक आदि पद जिस स्वर में उतरने वाला हो उसको उसी स्वर में जो गाया जाता है, यह पदसम कहलाता है।

पदसमास—१. एदस्स पदस्स सुदणाणस्सुवरि एगक्खरसुदणाणे वड्ढिदे पदसमासो णाम सुदणाणं होदि। एवमेगक्खरादिकमेण पदसुदणाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव संघाओ त्ति। (धव. पु. ६, पृ. २३); एदस्स मज्झिमपदसुदणाणस्सुवरि एगे अक्खरे वड्ढिदे पदसमासो णाम सुदणाणं होदि। पदस्स उवरि अण्णेगे पदे वड्ढिदे पदसमाससुदणाणं होदि त्ति वोत्तुं जुत्तं। पदस्सुवरि एगेगक्खरे वड्ढिदे ण पदसमाससुदणाणं होदि, अक्खरस्स पदत्ताभावादो त्ति? ण एस दोसो, पदावयवस्स अक्खरस्स वि पदव्ववएसे संते विरोहाभावादो। (धव. पु. १३, पृ. २६७)। २. द्व्यादिपदसमुदायस्तु पदसमासः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४२; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७, पृ. १८)।

१ मध्यमपद श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पदसमास श्रुतज्ञान होता है। २ दो आदि पदों के समुदाय का नाम पदसमास है।

पदसमासज्ञानावरणीय कर्म—पदसमासणाणस्स जमावारयं कम्मं तं पदसमासणाणावरणीयं कम्मं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।

पदसमासश्रुतज्ञान के आवारक कर्म को पदसमासज्ञानावरणीय कहते हैं।

पदस्थ ध्यान—१. देवच्चणविहाणं जं कहियं देसविरयठाणम्मि। होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणिंदेहिं ॥ एयपयमक्खरं वा जवियइ जं पंचगुरुसंबंधं। तं पि य होइ पयत्थं झाणं कम्माण णिद्दहणं ॥ (भावसं. ६२६–२७)। २. पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते। तत् पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ (ज्ञाना. ३८-१, पृ. ३८७)। ३. यानि पंचनमस्कारपदानीति मनीषिणा। पदस्थं ध्यातुकामेन तानि ध्येयानि तत्त्वतः ॥ (अमित. श्रा. १५, ३१)। ४. जं झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेट्ठिमंतपयममलं। एयक्खरादिविविहं पयत्थझाणं मुणेयव्वं ॥ (वसु. श्रा. ४६४)। ५. णिसिऊण पंचवण्णा पंचसु कमलेसु पंचठाणेसु। झाएह अट्ठकमेणं पयत्थझाणं इमं भणियं ॥ सत्तक्खरं च मंतं सत्तसु ठाणेसु णिससुसयवण्णं (?)। सिद्धसरूवं च सिरे एयं च पयत्थझाणुत्ति ॥ (ज्ञा. सा. २४–२५)। ६. यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते। तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः ॥ (योगशा. ८-१)। ७. स्वाध्याये यदि वा मंत्रे गुरु-देवस्तुतावपि। चित्तस्यैकाग्रता यत्तत्पदस्थं ध्यानमुच्यते ॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २, पृ. १० उद्.)। ८. पंचानां सद्गुरूणां यत् पदान्यालम्ब्य चिन्तनम्। पदस्थध्यानमाम्नातं ध्यानाग्निध्वस्तकल्मषैः ॥ (भावसं. वाम. ६६२)। ९. महामंत्रे च मंत्रे च मालामंत्रेऽथवा स्तुतौ। स्वप्नादिलब्धमंत्रे वा पदस्थं ध्यानमुच्यते ॥ (बुद्धि-सा. ११८, पृ. २४)।

१ देशविरत गुणस्थान में निर्दिष्ट देवपूजा के विधान को पदस्थ ध्यान कहा जाता है। पांच परमेष्ठियों से सम्बद्ध एक अक्षर अथवा पद का जो जाप किया जाता है, यह भी पदस्थ ध्यान कहलाता है। ६ पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, इसका नाम पदस्थ ध्यान है। ७ स्वाध्याय, मंत्र और गुरु या देव की स्तुति में जो चित्त की एकाग्रता होती है वह पदस्थ ध्यान कहलाता है।

पदस्फोट — स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोटश्चिदात्मा, पदार्थज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः। (श्रुतभ. टी. ४०, पृ. ६८)।

जिसमें अर्थ प्रगट होता है उस चेतन आत्मा का नाम स्फोट है। पदार्थज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मा को पदस्फोट कहते हैं।

पदानुसारी—१. एकपदस्यार्थं परत उपश्रुत्यादौ अन्ते मध्ये वा शेषग्रन्थार्थावधारणं पदानुसारित्वम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०१; चा. सा. पृ. ९३)। २. पदमनुसरति अनुकुरुते इति पदानुसारी बुद्धिः। बीजबुद्धीए बीजपदमवगंतूण एत्थ इदं एदेसिमक्खराणं लिंगं होदि त्ति ईहिदूण सयलसुदक्खर-पदाइमवगच्छंती पदाणुसारी। (धव. पु. ९, पृ. ६०)। ३. द्वादशांग-चतुर्दशपूर्वमध्ये एकं पदं प्राप्य तदनुसारेण सर्वं श्रुतं बुध्यन्ते पादानुसारिणः। (मूला. वृ. ९–९६)। ४. जो सुत्तपएण बहुं सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो। (प्रव. सारो. १५०३)। ५. पदेन सूत्रावयवेनैकेनोपलब्धेन तदनुकूलानि पदशतान्यनुसरन्ति —अभ्यूहयन्तीत्येवंशीलाः पदानुसारिणः। (औपपा. अभय. वृ. १५, पृ. २८)। ६. आदावन्ते चैकपदग्रहणात् समस्तग्रन्थार्थस्यावधारणं यत्र बुद्धौ सा पदानुसारिबुद्धिः। (श्रुतभ. टी. ३) ७. पदानुसारी त्वेकपदावगमात् पदान्तराणामवगन्ता। (योगशा. स्वो. विव. १–८)। ८. या पुनरेकमपि सूत्रपदमवधार्य शेषमश्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते सा पदानुसारिणी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २७३, पृ. ४२४; नन्दी. सू. मलय. वृ. १३)। ९. येषां पुनर्बुद्धिरेकमपि सूत्रपदमवधार्य शेषमश्रुतमपि तदवस्थमेव श्रुतमवगाहते ते पदानुसारिबुद्धयः। × × × जो सुत्तपएण बहुं सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो। (आव. नि. मलय. वृ. ७५, पृ. ८०)।

१ किसी एक पद के अर्थ को दूसरे से सुनकर आदि, अन्त अथवा मध्य में शेष समस्त ग्रन्थ के ज्ञान लेने को पदानुसारी बुद्धि कहते हैं। ४ जो एक सूत्र-पद के द्वारा बहुत से श्रुत का अनुसरण करता है उसे पदानुसारी कहा जाता है।

पदार्थदोष—१. पदार्थदोषः यत्र वस्तुपर्यायवाचिनः पदस्यार्थान्तरपरिकल्पनाऽऽश्रीयते। (आव. नि. हरि. वृ. ८८४, पृ. ३७६)। २. पदार्थदोषो यत्र वस्तुपर्यायवाचिनः पदार्थस्यार्थान्तरपरिकल्पनाश्रयणम्, यथा द्रव्य-पर्यायवाचिनां सत्तादीनां द्रव्याद्यर्थान्तरपरिकल्पनमुलूकस्य। (आव. मलय. वृ. ८८४, पृ. ४८४)।

१ वस्तु के पर्यायवाची पद के अन्य अर्थ की कल्पना करना, इसे पदार्थदोष माना जाता है। यह ३२ सूत्रदोषों में ३१वां है।

पद्म—१. × × × तं पि गुणिदव्वं। चउसीदिलक्खवासे पउमं णामं समुद्दिट्ठं॥ (ति. प. ४-२९६)। २. चतुरशीतिपद्माङ्गशतसहस्राण्येकं पद्मम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६७; जीवाजी. मलय. वृ. १७८)।

१ चौरासी लाख वर्षों से गुणित पद्मांग प्रमाण एक पद्म होता है। २ चौरासी लाख पद्मों का एक पद्म नामक संख्याप्रमाण होता है।

पद्मप्रभ — निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभा यस्याऽसौ पद्मप्रभः, तथा पद्मशयनदोहदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति पद्मप्रभः। (योगशा. स्वो. विव. ३–११४)।

निष्पङ्कता को स्वीकार कर—पद्म के पङ्कजत्व से रहित होकर—उस पद्म की प्रभा के समान प्रभा होने से छठे तीर्थंकर का नाम पद्म प्रसिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त उक्त तीर्थंकर की माता को पद्म (कमल) शय्या पर सोने का जो दोहला हुआ था उसे देवता ने पूर्ण किया था, इसलिए भी उन्हें पद्मप्रभ कहा गया है

पद्ममुद्रा—पद्माकारौ करौ कृत्वा मध्येऽङ्गुष्ठौ कर्णिकाकारौ विन्यसेदिति पद्ममुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३२)।

कमल के आकार दोनों हाथों को करके उनके बीच में कर्णिका के आकार दोनों अंगूठों की रचना को पद्ममुद्रा कहते हैं।

पद्मलेश्या—१. चाई भद्दो चोक्खो उज्जुयकम्मो य खमइ बहुयं पि। साहु-गुरुपूयणिरओ लक्खणमेयं तु पउमस्स॥ (प्रा. पंचसं. १–१५१; धव. पु. १, पृ. ३९० उद्; गो. जी. ५१६)। २. सत्यवाक्य-क्षमोपेत-पण्डित-सात्त्विक-दानविशारद-चतुरर्जुगुरु-देवतापूजाकरणनिरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम्। (त. वा. ४, २२, १०, पृ. २३९)। ३. कसायाणुभागफद्दयाणमुदयमागदाणं जहण्णफद्दयप्पहुडि जाव उक्कस्सफद्दया त्ति ठइदाणं छब्भागविहत्ताणं बिदियभागो मंदतरो, तदुदएण जादकसाओ पम्मलेस्सा णाम। (धव. पु. ७, पृ. १०४); अहिंसादिसु कज्जेसु जीवस्स मज्झिमुज्जमं पम्मलेस्सा कुणइ। वुत्तं च—चाई भद्दो चोक्खो उज्जुवकम्मो य खमइ बहुअं पि। साहु-गुरुपूजणरदो पम्माए परिणओ जीवो। (धव.

पु. १६, पृ. ४९२)। ४. शक्तः क्षमी सदात्यागी देवतार्चनउद्यमी। शुचिः शीलसदानन्दः पद्मलेश्यः प्ररूपितः ॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ५, पृ. २०)।
१ त्यागी, भद्रपरिणामी, पवित्र, सरल व्यवहार करने वाला, क्षमाशील और साधु एवं गुरुजनों की पूजा में निरत; ये पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

पद्माङ्ग—१. कुमुदं चउसीदिहदं पउमंगं होदि ××× (ति. प. ४-२९६)। २. चतुरशीतिमहानलिनशतसहस्राण्येकं पद्माङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६७; जीवाजी. मलय. वृ. १७८)।
१ चौरासी से गुणित कुमुद प्रमाण एक पद्मांग होता है। २. चौरासी लाख महानलिनों का एक पद्मांग नाम का संख्याप्रमाण होता है।

पद्मासन—१. जंघाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जंघया। पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ॥ (योगशा. ४-१२९)। २. पद्मासनं श्रितौ पादौ जङ्घाभ्याम् ×××। (अन. ध. ८-८३)।
१ जंघा के मध्य भाग में जहां जंघा से संश्लेश (सम्बन्ध) होता है, वह पद्मासन कहलाता है।

परकायक्रिया—प्रदुष्टस्य मिथ्यादृष्टेरुद्यमो यः पराभिभवात्मको वाङ्मनसनिरपेक्षः सा तु परतः कायक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।
अतिशय दुष्ट मिथ्यादृष्टि जीव का जो वचन और मन की अपेक्षा से रहित दूसरे के तिरस्काररूप प्रयत्न होता है उसे परकायक्रिया कहा जाता है।

परकायशस्त्र— परकायशस्त्रं पाषाणाग्न्यादि। (आचारा. नि. शी. वृ. १, १, ५, १५०, पृ. ५५)।
वनस्पतिकाय से भिन्न पत्थर व अग्नि आदि परकायशस्त्र कहलाते हैं (द्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा)।

परकृतसंहरण — परकृतं चारण-विद्याधर-देवैः प्रत्यनीकतया ऽनुकम्पया चोत्क्षिप्यान्यत्र क्षेपणं संहरणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७, पृ. ३०६)।
चारणऋद्धिधारक, विद्याधर या देवों के द्वारा शत्रुता या अनुकम्पा से प्रेरित होकर किसी के एक क्षेत्र से उठाकर अन्य क्षेत्र में छोड़ने को परकृतसंहरण कहते हैं।

परक्षेत्रसंसार—देखो क्षेत्रपरावर्त व क्षेत्रपरिवर्तन। १. सम्मूर्च्छन-गर्भोपपादजन्म-नवयोनिविकल्पाद्यालम्बनः परक्षेत्रसंसारः। (त. वा. ६, ७, ३; चा. सा. पृ. ८०)। २. परक्षेत्रपरिवर्तनमुच्यते— सूक्ष्मनिगोदः अपर्याप्तकः सर्वजघन्यावगाहनशरीरः लोकमध्याष्टप्रदेशान् स्वशरीरमध्याष्टप्रदेशान् कृत्वा उत्पन्नः क्षुद्रभवकालं जीवित्वा मृतः स एव पुनस्तेनैव अवगाहनेन द्विवारं तथा त्रिवारं तथा चतुर्वारं एवं यावत् घनाङ्गुलासंख्येयभागः तावद्वारं तत्रैवोत्पन्नः, पुनः एकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोकं स्वस्य जन्मक्षेत्रभावं नयति। तदेतत्सर्वं परक्षेत्रपरिवर्तनं भवति। (गो. जी. जी. प्र. टी. ५६०)।
१ सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद इन तीन जन्मों एवं सचित्तादि नौ योनिभेदों के आलम्बन से जो जन्म-मरणरूप संसरण (परिभ्रमण) होता है उसका नाम परक्षेत्रसंसार है।

परघातनाम—देखो पराघातनाम। १. यन्निमित्तः परशस्त्रादेर्व्याघातस्तत्परघातनाम। (स. सि. ८, ११)। २. यन्निमित्तः परशस्त्राद्याघातस्तत्परघातनाम। परशब्दोऽन्यपर्यायवाची, फलकाद्यावरणसन्निधानेऽपि यस्योदयात् परप्रयुक्तशस्त्राघातो भवति तत् परघातनाम। (त. वा. ८, ११, १४)। ३. परेषां घातः परघातः, जस्स कम्मस्स उदएण परघादहेदू सरीरे पोग्गला णिप्फज्जंति तं कम्मं परघादं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ५९); जस्स कम्मस्सुदएण सरीरं परपीडाय होदि तं परघादणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ४. यन्निमित्तः परशस्त्राघातनं तत्परघातनाम। (त. श्लो. ८-११)। ५. परस्य घातः परघातः, यस्य कर्मण उदयात्परघातहेतवः शरीरपुद्गलाः सर्पदंष्ट्रा-वृश्चिकपुच्छादिभवाः, परशस्त्राघाता वा भवन्ति तत्परघातनाम। (मूला. वृ. १२, १९४)। ६. यत्कारणकः शर[पर] शस्त्राद्याघातस्तत्परघातनाम। (भ. आ. मूला. २१२४)। ७. परेषां घातः परघातः, यदुदयात् तीक्ष्णशृंग-नख-सर्पदाढादयो भवन्ति तत्परघातनाम। (गो. क. जी. प्र. ३३)। ८. यदुदयेन परशस्त्रादिना घातो भवति तत्परघातनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८-११)।
१ जिसके निमित्त से दूसरे के शस्त्र आदि से घात होता है वह परघातनामकर्म कहलाता है। ३. जिस कर्म के उदय से दूसरे का घात करने वाले शरीर में पुद्गल—जैसे सर्प की दाढ़ें आदि—उत्पन्न होते हैं, उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

परचरित्रचर—१. जो परदव्वम्मि सुहं असुहं

रागेण कुणदि जदि भावं। सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ॥ (पंचा. का. १५६)। २. यो हि मोहनीयोदयानुवृत्तिवशाद् रज्यमानोपयोगः सन् परद्रव्ये शुभमशुभं वा भावमादधाति स स्वकचरित्रभ्रष्टः परचरित्रचर इति उपगीयते। यतो हि स्वद्रव्ये शुद्धोपयोगवृत्तिः स्वचरितम्, परद्रव्ये सोपरागोपयोगवृत्तिः परचरितमिति। (पंचा. का. अमृत. वृ. १५६)।

१ जो जीव रागवश परद्रव्य में शुभ-अशुभ भाव को किया करता है वह अपने चरित्र से भ्रष्ट होकर परचरित्रचर कहलाता है।

परत्वापरत्व—१. परत्वापरत्वे त्रिविधे—प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति। तत्र प्रशंसाकृते परो धर्मः परं ज्ञानमपरोऽधर्मः अपरमज्ञानमिति। क्षेत्रकृते एकदिक्कालावस्थितयोर्विप्रकृष्टः परो भवति, सन्निकृष्टोऽपरः। कालकृते द्विरष्टवर्षाद् वर्षशतिकः परो भवति, वर्षशतिकाद् द्विरष्टवर्षोऽपरो भवति। (त. भा. ५–२२)। २. प्रतिसमीपदेशवर्तिनि प्रतिवृद्धे व्रतादिगुणहीने चाण्डाले परत्वव्यवहारो वर्तते, दूरदेशवर्तिनि गर्भरूपे व्रतादिगुणसहिते च अपरत्वव्यवहारो वर्तते(?)। ते द्वे अपि परत्वापरत्वे उक्तलक्षणे कालकृते ज्ञातव्ये। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२२)।

१ परत्व व अपरत्व तीन प्रकार के हैं—प्रशंसाकृत, क्षेत्रकृत और कालकृत। प्रशंसा की अपेक्षा धर्म व ज्ञान को पर तथा अधर्म और अज्ञान को अपर माना जाता है। क्षेत्र की एक दिशा में स्थित दूरवर्ती को पर और निकटवर्ती को अपर कहा जाता है। काल की अपेक्षा १६ वर्ष वाले की अपेक्षा १०० वर्ष वाले में पर और १६ वर्ष वाले में अपर का व्यवहार होता है। २ अतिसमीपदेशवर्ती, अतिवृद्ध और व्रतादि गुणों से विहीन चाण्डाल में परत्व का व्यवहार होता है। दूरदेशवर्ती, शिशु और व्रतादि गुणों से सहित में अपरत्व का व्यवहार होता है। इन दोनों परत्व-अपरत्व को कालकृत जानना चाहिये।

परदारगमन—आत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य दाराः कलत्रं परदारास्तस्मिन् (तेषु) गमनं परदारगमनम्, गमनमासेवनरूपतया दृष्टव्यम् ॥ (श्राव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८३२)।

अन्य की स्त्री के सेवन का नाम परदारगमन है।

परदृष्टिप्रशंसा—देखो अन्यदृष्टिप्रशंसा। एकान्तध्वान्तविध्वस्तवस्तुयाथात्म्यसंविदाम्। न कुर्यात् परदृष्टीनां प्रशंसां दृक्कलङ्किनीम् ॥ (अन. ध. २–८३)।

एकान्तरूप अन्धकार के द्वारा जिनका वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान—अनेकान्तात्मक तत्त्व का समीचीन बोध—लुप्त हो गया है वे परदृष्टि कहे जाते हैं। उनकी प्रशंसा का नाम परदृष्टिप्रशंसा है जो सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाली है।

परनिन्दा—परेषां भूताभूतदूषणपुरस्सरवाक्यं परनिन्दा। (नि. सा. वृ. ६२)।

दूसरों के विद्यमान या अविद्यमान दोषों के प्रकट करने को परनिन्दा कहते हैं।

परपरितापकारिणी क्रिया—परपरितापकारिणी पुत्र-शिष्य-कलत्रादिताडनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

पुत्र, शिष्य और स्त्री आदि के ताड़न करने—उन्हें कष्ट पहुंचाने—को परपरितापकारिणी क्रिया कहते हैं।

परपरिवाद—१. परेषां परिवादः परपरिवादो विकत्थनम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४९)। २. परपरिवादः विप्रकीर्णम् परेषां गुण-दोषवचनम्। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९)। ३. परपरिवादः प्रभूतजनसमक्षं परदोषविकत्थनम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८०, पृ. ४३८)। ४. परपरिवादः विप्रकीर्णपरकीयगुण-दोषप्रकटनम्। (कल्पसू. वि. वृ. ११८, पृ. १७४)।

२ अन्य जनों के बिखरे हुए गुण-दोषों के कहने को परपरिवाद कहते हैं।

परप्रणेय— परकोप-प्रसादानुवृत्तिः परप्रणेयः। (नीतिवा. २९–९८, पृ. ३४१)।

दूसरों के कहने से कोप या प्रसाद का अनुसरण करने वाले राजा को परप्रणेय कहते हैं।

परप्राणातिपातजननी क्रिया—परप्राणातिपातजननी तु मोह-लोभ-क्रोधाविष्टा प्राणव्यपरोपलक्षणा क्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

मोह, लोभ या क्रोध के वशीभूत होकर दूसरे जीवों के प्राणों का घात करने को परप्राणातिपातजननी क्रिया कहते हैं।

परम—तत्र परमो यः खलु निखिलमलविलयवशोपलब्धविशुद्धज्ञानबलविलोकितलोकालोकः जगज्जन्तुचित्तसन्तोषकारणं पुरन्दरादिसुन्दरसुरसमूहाक्रियमाणप्रातिहार्यपूजोपचारः तदनु सर्वसत्त्वस्वभाषापरिणामिवाणीविशेषापादितैककालानेकसत्त्वसंशयसन्दोहापोहः स्वविहारपवनप्रसरसमुत्सारितसमस्तमहीमण्डलातिविततदुरितरजोराशिः सदाशिवादिशब्दाभिधेयो भगवानर्हन्निति, स परमः। (ध. बि. मु. वृ. १–१, पृ. १)।

जो समस्त कर्म-मल के विलीन हो जाने से प्राप्त हुए विशुद्ध केवलज्ञान के प्रभाव से लोक-अलोक को देखता है, समस्त संसारी प्राणियों के चित्त-सन्तोष का कारण है, इन्द्र आदि सुन्दर देवों के समूह द्वारा लाये गये प्रातिहार्यों से सेवित है, समस्त प्राणियों की भाषारूप परिणत होने वाली विशिष्ट वाणी के द्वारा एक ही समय में अनेक जीवों के सन्देह को दूर करता है, अपने विहाररूप वायु के प्रसार से समस्त भूमण्डलमें अत्यन्त विस्तृत पापरूप धूलि के समूह को नष्ट करता है, तथा जो सदाशिव आदि अनेक नामों से कहा जाता है; ऐसा अरहन्त देव ही परम (उत्कृष्ट आत्मा) मानने के योग्य है।

परमब्रह्म—१. अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्। (बृ. स्वयम्भू. ११९)। २. परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशी-रम्भा-तिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. १४, पृ. ३७)।

१ समस्त प्राणियों की अहिंसा—हिंसा के अभाव—को परमब्रह्म कहते हैं। २ परमब्रह्म नामक अपनी शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखस्वरूप अमृत से जो तृप्ति को प्राप्त है तथा जिसका ब्रह्मचर्यव्रत उर्वशी, रम्भा और तिलोत्तमादि देवकन्याओं के द्वारा भी खण्डित नहीं किया जा सका ऐसे परम पुरुष को परमब्रह्म कहते हैं।

परमभावजीव—जो खलु जीवसहावो णो उणिओ णो खयेण संभूदो। कम्माणं सो जीवो भणिओ इह परमभावेण॥ (द्रव्यस्व. नय. २१५)।

जो जीव का स्वभाव न उत्पन्न हुआ है और न कर्मों के क्षय से प्रादुर्भूत हुआ है उसे परमभाव से जीव कहा गया है।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक—गिण्हइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोपचारपरिचत्तं। सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण॥ (ल. न. च. २६; द्रव्यस्व. नय. १९)।

जो अशुद्ध और शुद्ध के उपचार से रहित द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है उसे परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

परमर्षि—१. परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते। (चा. सा. पृ. २२)। २. परमर्षिः जगद्वेत्ति केवलज्ञानचक्षुषा। (धर्मसं. श्रा. ९–२८६)।

१ केवलज्ञानी संयत जीवों को परमर्षि कहते हैं।

परमव्रत—ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयावृते। चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम्॥ (लाटीसं. ४–२५८)।

मोहकर्म का अभाव हो जाने पर शुद्धोपयोगरूप जो चारित्र होता है उसे निश्चय से परमव्रत जानना चाहिए।

परमसमाधि— वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण। जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स॥ संजम-णियम-तवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण। जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स॥ (नि. सा. १२२–२३)।

वचन के उच्चारण की क्रिया को छोड़कर—वचनोच्चारण के बिना—वीतरागस्वरूप से जो आत्मा का ध्यान करता है उसके परम (निर्विकल्प) समाधि होती है। संयम, नियम और तप के आश्रय से जो धर्म और शुक्ल ध्यान के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है उसके परमसमाधि होती है।

परमसुख—आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं वृद्धि-ह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम्। अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममितं शाश्वतं सर्वकालम् उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्। (सिद्धभ. ७)।

जो सुख परके सम्बन्ध से रहित होता हुआ एक आत्मारूप उपादान से उत्पन्न हुआ है, स्वयं अतिशयवान् है, बाधा से रहित है, वृद्धि-हानि से विहीन है, विषय से उत्पन्न नहीं हुआ है, प्रतिपक्ष से विरहित है, अन्य किसी भी बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं करता है, अनुपम व अपरिमित होता हुआ सदा रहने वाला है, तथा उत्कृष्ट व अनन्त प्रभाव से

मुक्त है; वही परमसुख कहलाता है और वह सिद्धात्मा के ही सम्भव है।

परमहंस—१. कर्मात्मनोर्विवेक्ता यः क्षीर-नीरसमानयोः। भवेत् परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः॥ (उपासका. ८७६)। २. तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन परमहंसस्वरूपम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५६)।

१ जैसे हंस मिले हुए क्षीर और नीर को पृथक् कर देता है उसी प्रकार जो क्षीर-नीर के समान मिले हुए कर्म और आत्मा की भिन्नता का अनुभव करता है वह परमहंस कहलाता है, किन्तु जो अग्नि के समान सर्वभक्षक हो वह परमहंस नहीं हो सकता।

परमागम—यदिदं जीवादिपदार्थस्वरूपनिरूपणं नय-प्रमाणाद्यधिगमोपायप्रापितयुक्तिबन्ध-मोक्षादिप्रतिपादनसमर्थमित्येवमादीनामतिशयज्ञानानामाकरः आर्हत आगमः रत्नानामिवोदधिः, अतोऽस्य परमागमत्वम्। (त. वा. ८, १, १६)।

नय और प्रमाण आदि जो अधिगम के उपायभूत हैं उनके आश्रय से प्राप्त युक्ति के बलसे बन्ध-मोक्षादि के प्रतिपादन में समर्थ जो जीवादि पदार्थों के स्वरूप का निरूपण है वह अतिशयित ज्ञान रूप रत्नों की खानिस्वरूप भगवान् अरहन्त के द्वारा प्रणीत है, इसीसे उसे परमागमता सिद्ध है।

परमाणु—१. ××× परमाणू चेव अविभागी। (पंचा. का. ७५; मूला. ५-३४); सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू। सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो॥ आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु। सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो। (पंचा. का. ७७-७८); एयरस-वण्ण-गंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं। खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि॥ (पंचा. का. ८१; ति. प. १-९७—चतुर्थ च. 'तं परमाणुं भणंति बुधा')। २. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं। अविभागी जं दव्वं परमाणुं तं विआणाहि॥ (नि. सा. २६; त. सि. ५-२५ उद्.)। ३. अनादिरमध्योऽप्रदेशो हि परमाणुः। (त. भा. ५-११); उक्तं च—कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरस-गन्ध-वर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥ (त. भा. ५-२५ उद्.; षड्द. स. गु. वृ. ६४ उद्.)। ४. परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः। (प्रशमर. २०८)। ५. सत्थेणं सुतिक्खेणवि छेत्तुं भेत्तुं जं न किर सक्का। तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं॥ (भगवती. ६, ७, ५, पृ. ८२७; जं. दी. प. १३-१२; संग्रहणी २४५)। ६. एगरस एगवण्णे एगे गंधे तहा दुफासे वा। परमाणु ××× ॥ (उत्तरा. नि. ३३, पृ. २३)। ७. परमश्चासावणुश्च परमाणुः निरंशः। (उत्तरा. चू., पृ. २८१)। ८. ××× अविभागी होदि परमाणू॥ सत्थेण सुतिक्खेणं छेत्तुं भेत्तुं च जं किरस्सक्कं। जल-यणलादिहिं णासं ण एदि सो होदि परमाणू॥ एक्क-रस-वण्ण-गंधं दो फासा सद्दकारणमसद्दं। खंधंतरिदं दव्वं तं परमाणुं भणंति बुधा॥ अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिएहि ण हु गेज्झं। जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा॥ पूरंति गलंति जदो पूरण-गलणेहिं पोग्गला तेण। परमाणु च्चिय जादा इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि॥ वण्ण-रस-गंध-फासे पूरण-गलणाइ सव्वकालम्हि। खंदं पि व कुणमाणा परमाणू पुग्गला तम्हा॥ आदेसमत्तमुत्तो धादुचउक्कस्स कारणं जादो। सो णेयो परमाणू परिणामगुणो य खंदस्स॥ (ति. प. १, ९५-१०१)। ९. अन्तादि-मध्यहीनः अविभागोऽतीन्द्रियः एकरस-वर्ण-गन्धः द्विस्पर्शः परमाणुः। (त. वा. ३, ३८, ६)। १०. 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि ×××। (धव. पु १३, पृ. १८ उद्.); न विद्यन्ते द्वितीयादयः प्रदेशाः यस्मिन् सोऽप्रदेशः परमाणुः। (धव. पु. १४, पृ. ५४)। ११. आदि-मध्यान्त-निर्मुक्तं निर्विभागमतीन्द्रियम्। मूर्तमप्यप्रदेशं च परमाणुं प्रचक्षते॥ (ह. पु. ७-३२)। १२. अणवः कार्यलिङ्गाः स्युर्द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः। एकवर्ण-रसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः॥ (म. पु. २४-१४८)। १३. आदि-मध्यान्तप्रदेशैः परिहीण एव परमाणुरिष्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-११)। १४. ××× अविभागी होइ परमाणू॥ (भावसं. दे. ३०४)। १५. आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियैः। गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते॥ (त. सा. ३-५९)। १६. उक्तानां स्कन्धपर्यायाणां योऽन्त्यो

भेदः स परमाणुः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ७७)। १७. ××× परमाणुरनंशकः ॥ (योगप्रा. २-११)। १८. ××× अविभागी चेव परमाणू ॥ (गो. जी. ६०४)। १९. परमाणू अविहायउ असेसु। (जसहरच. ४-१२, पृ. ८३)। २०. अंतादि-मज्झहीणं अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं। जं दव्वं अविभागी तं परमाणू मुणेयव्वा ॥ जस्स ण कोइ अणुदरो सो अणुओ होदि सव्वदव्वाणं। जावे परं अणुत्तं तं परमाणू मुणेयव्वा ॥ सत्थेण सुतिक्खेण य छेत्तुं भेत्तुं च जं किर ण सक्कं। तं परमाणुं सिद्धा भणंति आदिं पमाणेण। (जं. दी. प. १३, १६-१८)। २१. परमाणू अविभागी पुग्गलदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥ (वसु. श्रा. १७)। २२. अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः। कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः ॥ (आचा. सा. ३-१३)। २३. परमश्चासावात्यन्तिकोऽणुश्च सूक्ष्मः परमाणुः द्व्यणुकादिस्कन्धानां कारणभूतः। (स्थाना. अभय. वृ. ४५, पृ. २४); परमाणुः अस्कन्धपुद्गल इति। (स्थाना. अभय. वृ. १६६)। २४. अविभागिभूतं परमाणु। (गो. जी. जी. प्र. ६०४)।

१ जो समस्त स्कन्धों के अन्तिम भेदरूप होता हुआ एक, अविभागी, नित्य (अनादिनिधन) रूपादि परिणाम (मूर्ति) से उत्पन्न होने के कारण मूर्तिभव और शब्द से रहित है वह परमाणु कहलाता है।

परमात्मा—१. कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो। (मोक्षप्रा. ५)। २. णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥ (नि. सा. ७)। ३. ××× परमात्मातिनिर्मलः। (समाधि. ५)। ४. अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण। मेल्लिवि सयलु वि दव्व परु, सो परु मुणहि मणेण ॥ (परमा. १-१५)। ५. मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना। अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमामि तम्। (स्वरूपसं. १)। ६. ××× परमप्पा दोसपरिचत्तो ॥ दोसा छुहाइ भणिया अट्ठारस होंति तिविहलोयम्मि। सामण्णा सयलजणे तेसिमभावेण परमप्पा ॥ (भावसं. २७२-७३)। ७. ससरीरा अरहंता केवलणाणेण मुणियसयलत्था। णाणसरीरा सिद्धा सव्वुत्तमसुक्खसंपत्ता ॥ णीसेसकम्मणासे अप्पसहावेण जा समुप्पत्ती। कम्मजभावखए वि य सा वि य पत्ती परा होदि ॥ (कार्तिके. १९८-९९)। ८. साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम्। निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥ विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम्। कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करुणच्युतम् ॥ निःशेषभवसम्भूतक्लेश-द्रुमहुताशनम्। शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञान-राज्यप्रतिष्ठितम् ॥ विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम्। ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ॥ विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम्। अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ॥ यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यश्चान्तर्मुखैः क्षणात्। तत्स्वभावात्मकं साक्षात् स्वरूपं परमात्मनः ॥ (ज्ञानार्णव ३१, २२-२७, पृ. ३१२); निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः। निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥ (ज्ञानार्णव ३२-८, पृ. ३१७)। ९. ऽम्मट्ठगुणेहिं जुदो अणंतगुणभायणो णिरालंबो। णिच्छेओ णिब्भेओ अणिंदिदो मुणह परमप्पा ॥ (ज्ञा. सा. ३४)। १०. संपुण्णचंदवयणो जडमउडविवज्जिओ णिराहरणो। पहरण-जुवइविमुक्को संतियरो होइ परमप्पा ॥ (धम्मर. १२२)। ११. परमात्मा सकलप्राणिभ्य उत्तम आत्मा। (समाधि टी. ६)। १२. चिद्रूपानन्दमयो निःशेषोपाधिवर्जितः शुद्धः। अत्यक्षोऽनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितः तज्ज्ञैः ॥ (योगशा. १२-८)। १३. गतनिःशेषोपाधिः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञैः। (अध्या. सा. २०-२१)। १४. यः केवलज्ञान-दर्शनोपयुक्तः शुद्धसिद्धः स परमात्मा सयोगी केवली सिद्धश्च सः परमात्मा उच्यते। (ज्ञा. सा. टी. १३-२)। १५. परा सर्वोत्कृष्टा मा अन्तरङ्ग-बहिरङ्गलक्षणा अनन्तचतुष्टयादिसमवसरणादिरूपा लक्ष्मीर्येषां ते परमाः, ते च ते आत्मानः परमात्मानः। (कार्तिके. टी. १९२)। १६. संसारिभ्यः परो ह्यात्मा परमात्मेति भाषितः। (आप्तस्व. १८)।

२ सर्व दोषों से रहित और केवलज्ञानादिरूप परमैश्वर्य से सम्पन्न शुद्ध आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

परमानन्द—सुस्वास्थ्यं च परमानन्दः। (ध. वि. ८-५१)।

अतिशय स्वास्थ्य को परमानन्द कहते हैं।

परमानन्ददोग्रन्थिकप्राभृत— तत्थ परमाणंददोगंथियपाहुडं जहा जिणवइणा केवलणाण-दंसणति-

(वि)लोयणेहिं पयासियासेसभुवणेण उज्झियरायदोसेण भव्वाणमणवज्जबुहायरियपणालेण पट्ठविददुवालसंगवयणकलावो तदेगदेसो वा। (जयध. पु. १, पृ. ३२५)।
केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप नेत्रों के द्वारा जिसने समस्त लोक को प्रकाशित किया है और जो राग-द्वेष दोषों से रहित हो चुका है ऐसे जिनेन्द्र के द्वारा निर्मल बुद्धि से सम्पन्न आचार्यरूप प्रणाली के द्वारा—आचार्यपरम्परा से—जिस द्वादशांगरूप अथवा उसके एकदेशरूप वाणी को प्रस्तुत किया गया है उसे परमानन्द-दोग्रन्थिकप्राभृत कहा जाता है।

परमार्थ काल—१. परमार्थकालः वर्तनालिङ्गः गत्यादीनां धर्मादिवत् वर्तनाया उपकारकः। स किस्वरूप इति चेत् उच्यते—यावन्तो लोकाकाशे प्रदेशास्तावन्तः कालाणवः परस्परं प्रत्यबन्धाः एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्यापिनः मुख्योपचारप्रदेशकल्पनाऽभावान्निरवयवाः। (त. वा. ५, २२, २४, पृ. ४८२)। २. परमट्ठो कालाणू लोयपदेसे हि संठिया णिच्चं। एक्केक्के एक्केक्का अपएसा रयणरासिव्व ॥ (भावसं. दे. ३१०)। ३. तत्र यावन्तो लोकाकाशप्रदेशास्तावन्तः कालाणवः परस्परं प्रत्यबन्धा एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्यापिनो मुख्योपचारप्रदेशकल्पनाभावान्निरवयवाः। (चा. सा. पृ. ८०)। ४. वर्तनालक्षणश्च परमार्थकालः इति। (बृ. द्रव्यसं. टी. २१)। ५. समयादिरूपसूक्ष्मव्यवहारकालस्य घटिकादिरूपस्थूलव्यवहारकालस्य च यद्युपादानकारणभूतकालस्तथापि समय-घटिकारूपेण या विवक्षिता व्यवहारकालस्य भेदकल्पना तया रहितस्त्रिकालस्थायित्वेनाद्यनिधनो लोकाकाशप्रदेशप्रमाणकालाणुद्रव्यरूपः परमार्थकालः। (पंचा. जय. वृ. २६)।
१ वर्तना जिसका हेतु है वह परमार्थकाल कहलाता है। जिस प्रकार धर्म आदि द्रव्य गति आदि के उपकारक हैं उसी प्रकार यह वर्तना का उपकारक है। लोकाकाश में जितने प्रदेश हैं उतने कालाणु परस्पर में बन्ध रहित हैं और एक एक आकाशप्रदेश पर एक एक स्थित होते हुए लोक को व्याप्त करते हैं।

परमार्थप्रत्याख्यान— ××× ततः संसार-शरीर-भोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणम्। पुनर्भाविकाले संभाविनां निखिलमोह-राग-द्वेषादिविविधविभावानां परिहारः परमार्थप्रत्याख्यानम्। अथवानागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्पपरित्यागः शुद्धं निश्चयप्रत्याख्यानम्। (नि. सा. वृ. १०५)।
संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति होना; यह निश्चय प्रत्याख्यान का कारण है। आगामी काल में उत्पन्न होने वाले समस्त राग-द्वेष-मोहादिरूप विविध विकारी भावों के परित्याग को परमार्थप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा भावी काल में उत्पन्न होने वाले विविध अन्तर्जल्प के परित्याग को शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान जानना चाहिये।

परमावगाढरुचि—१. परमावधि-केवलज्ञान-दर्शनप्रकाशितजीवाद्यर्थविषयात्मप्रसादाः परमावगाढरुचयः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. केवलावगमालोकिताखिलार्थगता रुचिः। परमाद्यवगाढासौ श्रद्धेति परमर्षिभिः ॥ (म. पु. ७४–४४६)। ३. कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा। (आत्मानु. १४)। ४. अवधि-मनःपर्यय-केवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावगाढम्। (उपासका. पृ. ११४)। ५. परमावगाढा अवधि-मनःपर्यय-केवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढा। (अन. ध. २–६२)।
१ परमावधि, केवलज्ञान और केवलदर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थविषयक आत्मप्रसन्नता जिनको प्राप्त है वे परमावगाढरुचि या परमावगाढसम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

परमावती—सत्त अवंतीगंगाओ सा एगा परमावती। (भगवती. १५–८८, पृ. २०५५)।
सात अवंती गंगाओं के परिमाणवाली गंगा को एक परमावती गंगा कहते हैं।

परमावधिज्ञान—परमा ओही मज्जाया जस्स णाणस्स तं परमोहिणाणं। किं परमं? असंखेज्जलोगमेत्तसंजमवियप्पा। (धव. पु. १३, पृ. ३२३)।
जिस ज्ञान की उत्कृष्ट मर्यादा असंख्यात लोक प्रमाण संयम के विकल्प हैं वह परमावधिज्ञान कहलाता है।

परमेश्वर—महत्त्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः। त्रैधातुकविनिर्मुक्तस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ (आप्तस्व. २७)।
जो महत्ता और ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण

महेश्वरत्व को प्राप्त है वह त्रिविध कर्म-मल से रहित परमेश्वर कहलाता है।

परमेष्ठिमुद्रा—उत्तानहस्तद्वयेन वेणीबन्धं विधायाङ्गुष्ठाभ्यां कनिष्ठिके तर्जनीभ्यां च मध्यमे संगृह्यानामिके समीकुर्यादिति परमेष्ठिमुद्रा। यद्वा वामकराङ्गुलीरूर्ध्वीकृत्य मध्यमां मध्यमे कुर्यादिति द्वितीया (परमेष्ठिमुद्रा)। (निर्वाणक. पृ. ३३)।

दोनों हाथों को ऊंचा उठाकर और उन्हें वेणी सदृश बांधकर दोनों अंगूठों से दोनों कनिष्ठिकाओं को, तथा दोनों तर्जनियों से दोनों मध्यमा अंगुलियों को संगृहीत कर दोनों अनामिकाओं के समीकरण को परमेष्ठिमुद्रा कहते हैं।

परमेष्ठी—१. जो मिच्चु-जरारहिदो मद-विब्भम-सेद-खेद-परिहीणो। उप्पत्ति-रदिविहूणो सो परमेट्ठी वियाणाहि॥ (जं. दी. प. १३–८६)। २. परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। (रत्नक. टी. १–७)। ३. परमेष्ठी परमे इन्द्रादिवन्द्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशील:। (समाधि. टी. ६)। ४. परमे इन्द्र-चन्द्र-नरेन्द्रपूजिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। (चारित्रप्रा. टी. १; भावप्रा. टी. १४६)।

१ जो मृत्यु, जरा, मद, विभ्रम, स्वेद और खेद से रहित होता हुआ उत्पत्ति और रति से विहीन है उसे परमेष्ठी जानना चाहिए।

परम्परसिद्धकेवलज्ञान—१. ततो द्वितीयादिसमयेष्वनन्तामप्यनागताद्धां परम्परसिद्धकेवलज्ञानमिति। (नन्दी. हरि. वृ., पृ. ५०)। २. सिद्धत्वद्वितीयादिसमयेषु वर्तमानं परम्परसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८३)।

१ सिद्ध होने के दूसरे समय से लगाकर आगे अनन्त काल तक रहने वाले सिद्ध जीवों के केवलज्ञान को परम्परसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं।

परम्परादृष्टान्त—यः खल्वनन्तरमुक्तोऽपि परोक्षत्वादागमगम्यत्वाद्दार्ष्टान्तिकार्थसाधनायालं न भवति तत्प्रसिद्धये चाध्यक्षसिद्धो योऽन्य उच्यते स परम्परादृष्टान्तः। (दशवै. नि. हरि. १४१)।

अव्यवहित पूर्व में कहा गया भी जो दृष्टान्त परोक्ष या आगमगम्य होने से अपने दार्ष्टान्तिक अर्थ की सिद्धि करने में समर्थ न हो तब उसकी सिद्धि के लिये जो प्रत्यक्षसिद्ध अन्य दृष्टान्त दिया जाता है उसे परम्परादृष्टान्त कहते हैं।

परम्पराबन्ध—बंधविदियसमयप्पहुदि कम्मपोग्गलक्खंधाणं जीवपदेसाणं च जो बंधो सो परंपरबंधो णाम। (धव. पु. १२, पृ. ३७०)।

बन्ध के दूसरे समय से लेकर जो कर्मरूप पुद्गल-स्कन्धों का और जीवप्रदेशों का बन्ध होता है उसे परम्पराबन्ध कहा जाता है।

परम्परालब्धि—लब्धीनां परम्परा यस्मादागमात् प्राप्यते, यस्मिन् तत्प्राप्त्युपायो निरूप्यते वा सा परम्परालब्धिः आगमः। (धव. पु. १३, पृ. २८३)।

जिस आगम से लब्धियों की परम्परा प्राप्त की जाती है, अथवा जिसमें उनकी प्राप्ति के उपाय की प्ररूपणा की जाती है उसे परम्परालब्धि कहते हैं। यह एक आगमविशेष है।

परम्परास्थापना—उब्भट्ठपरिन्नायं अन्नं लद्धं पओयणे घेत्थी। रिणभीया व अगारी दहित्ति दाहं सुए ठवणा॥ नवणीयमंथुतक्कं व जाव अत्तट्ठिया व गिण्हंति। देसूणा जाव घयं कुसणंपि य जत्तियं कालं॥ रसक्कब-पिंडगुला मच्छंडिय खंड-सक्कराणं च। होइ परंपरठवणा अन्नत्थ व जुज्जुए जत्थ॥ (पिण्डनि. २८१–८३)।

साधु के द्वारा किसी गृहिणी से दूध की याचना करने पर उसने थोड़ी देर से देने के लिए कहा। पश्चात् साधु को दूध अन्य घर से प्राप्त हो गया। उधर दूध को प्राप्त करके गृहिणी ने दूध ग्रहण करने के लिए प्रार्थना की। इस पर साधु ने कहा कि दूध मुझे प्राप्त हो गया है। यदि फिर कभी आवश्यकता हुई तो ले लूंगा। इस प्रकार साधु के कहने पर गृहिणी ने ऋण से भयभीत के समान उसका उपयोग स्वयं नहीं किया और दूसरे दिन दही देने के विचार से उसका दही बना लिया। पर साधु ने उसे नहीं लिया। इसी प्रकार आगे दही से मंथु (छांछ और मक्खन के बीच की अवस्था), मंथु से छांछ और छांछ से मक्खन बनाया गया, फिर भी अपने निमित्त स्थापित करने के कारण साधु ने उन्हें नहीं लिया। इसी प्रकार घी की याचना करने पर वह कुछ कम एक पूर्वकोटि काल प्रमाण (आयुस्थिति) स्थापित किया जा सकता है। पर साधु आधाकर्म जानकर उसे

नहीं ग्रहण करता। इस प्रकार से स्थापित करने पर परम्परास्थापना कहलाती है। इसी प्रकार ईख के रस से उत्तरोत्तर कक्कब, पिण्ड और गुड़ आदि को स्थापित किया जा सकता है।

परम्परोपनिधा— १. जत्थ दुगुण-चदुगुणादि-परिक्खा कीरदि सा परंपरोवणिधा। (**धव. पु. ११, पृ. ३५२**); जहण्णट्ठाणं पेक्खिदूण अणंत-भागब्भहियादिसरूवेण ट्ठिदट्ठाणाणं जा थोव-बहुत्त-परूवणा सा परंपरोवणिधा। (**धव. पु. १२, पृ. २१४**)। २. तत्र परम्परया उपनिधा मार्गणं परम्परोपनिधा। (**पंचसं. मलय. वृ. १-६**)।

१. जिस अधिकार में दुगुने व चौगुने आदि की परीक्षा की जाती है उसका नाम परम्परोपनिधा है। २. उपनिधा का अर्थ मार्गणा या अन्वेषण होता है, तदनुसार परम्परा से स्थानादिकों का जहां अन्वेषण किया जाता है, ऐसे प्रकरण को परम्परोपनिधा कहा जाता है।

परलोक—१. परलोको भवान्तरलक्षणः (**आव. नि. हरि. वृ. ५६६, पृ. २४१**)। २. पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा, तस्य लोकोऽव-लोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोक-शब्दस्यार्थः, अथवा लोक्यन्ते जीवादिपदार्थाः यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः, परश्चासौ लोकश्च परलोकः, व्यवहारेण पुनः स्वर्गा-पवर्गलक्षणः परलोको भण्यते। (**परमा. वृ. १-११०**) ३. परलोको भवान्तरगतिरन्यजन्म। (**प्रा. मो. वसु. वृ. ८**)।

१ अन्य भव में जीव के जाने को परलोक कहते हैं। २ वीतराग चिदानन्दरूप अनुपम स्वभाव वाले आत्मा का नाम पर है, उसका जो निर्विकल्प समाधि में अवलोकन या अनुभवन है उसे परलोक कहा जाता है। अथवा जिस परमात्मस्वरूप में या जिसके केवलज्ञान के द्वारा जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं उसे परलोक जानना चाहिए। व्यवहारनय से स्वर्ग-अपवर्ग आदि को परलोक कहा जाता है।

परलोकभय—१. परलोकभयं परभवात् (यत् प्राप्यते)। (**आव. भा. हरि. वृ. १८४, पृ. ४८३**)। २. लोकः शाश्वत एक एव सकलव्यक्तो विविक्ता-त्मनः, चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येक-कः। लोकोऽयं न तवापरस्तव परस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो, निःशंकं सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति॥ (**समय. क. १४६**)। ३. विजातीया-त्तिर्यग्देवादेः सकाशान्मनुष्यादीनां यद् भयं तत्परलो-कभयम्। (**ललितवि. मु. प., पृ. ३८**)। ४. यत् परभवादेवाप्यते, यथा मनुष्यस्य तिरश्चः, तिरश्चो मनुष्यात् तत्परलोकभयम्। (**आव. भा. मलय. वृ. १८५, पृ. ५७३**)। ५. परलोकभयम्—एवंविध-दुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न वा। (**रत्नक. टी. ५-८**)। ६. नर-तिर्यग्भ्यां देवस्य, देव-तिर्यग्भ्यां नरस्य, देव-नराभ्यां तिरश्चः, देवान्नारकस्य च यद् भयं तत्परलोकभयम्। (**गु. गु. षट्. स्वो. वृ. श्लो. ६, पृ. २५**)। ७. मनुष्यस्य देवा-देर्भयं परलोकभयम्। (**कल्पसू. वि. वृ. १५, पृ. ३०**)। ८. परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांश-भाक्। ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा॥ भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ। इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम्॥ (**पञ्चाध्यायी २, ५१६-१७; लाटीसं. ४-४० व ४१**)।

१ परभव के आश्रय से जो भय होता है उसका नाम परलोकभय है। २. लोक शाश्वत व एक ही है, जो सब को प्रगट है। शुद्ध चेतन आत्मा के केवलज्ञानस्वरूप लोक का स्वयं अकेला अवलोकन करता है। उस को छोड़कर दूसरा और कोई तेरा लोक है ही नहीं, तब भला उसका भय कहां से हो सकता है? नहीं हो सकता। इस प्रकार यहां निश्चयनय का आश्रय लेने वाले के लिए परलोक भय का निषेध किया गया है। ३ विजातीय तिर्यंच व देव आदि से मनुष्यों आदि को जो भय होता है वह परलोकभय कहलाता है। ५ इस प्रकारके दुर्धर अनुष्ठान का परलोक में कुछ विशेष फल होगा कि नहीं, इस प्रकार के भय को परलोकभय कहा जाता है।

परलोकसंवेजनीकथा—परलोगसंवेदणी जहा—इस्सा-विसाद-मद-कोह-माण-लोभादिएहिं दोसेहिं। देवावि समभिभूया तेसु वि कत्तो सुहं अत्थि॥ दट्ठु-जणविप्पओगो चेव चयं चेव देवलोगाउ। एतारि-साणि सग्गे देवा वि दुहाणि पावंति॥ जइ देवेसु एयारिसाइं दुक्खाइं पाविज्जंति, णरग-तिरिएसु पुण का कहा? (**दशवै. चू. पृ. १०८**)।

देव भी जब ईर्ष्या, विषाद, मद, क्रोध, मान और लोभादि दोषों से अभिभूत हैं; तब भला उनके सुख कहां से हो सकता है ? इष्ट जन का वियोग और देवलोक से च्युत होना, इस प्रकार के दुःखों को देव भी स्वर्ग में प्राप्त करते हैं। जब देवों में इस प्रकार के दुःख पाये जाते हैं तब मनुष्यों और तिर्यंचों का तो कहना ही क्या है, इस प्रकार की संवेगजनक कथा परलोकसंवेजनी कथा कहलाती है।

परलोकाशंसाप्रयोग—एवं परलोकाशंसाप्रयोगः, परलोको देवलोकः (तस्मिन्नाशंसाभिलाषः, तस्याः प्रयोगः) । (श्रा. प्र. टी. २०८) ।

परभव में देवलोक के पाने की इच्छा से व्रत-तप आदि के करने को परलोकाशंसाप्रयोग कहते हैं।

परवाद—मस्करी-कणभक्षाक्षपाद-कपिल-सौद्धोदनि-चार्वाक-जैमिनिप्रभृतयस्तद्दर्शनानि च प्रोद्यन्ते दूष्यन्ते अनेनेति परवादो राद्धान्तः । (धव. पु. १३, पृ. २७८) ।

जिस सिद्धान्त में मस्करी, कणभक्ष(कणाद), अक्षपाद, कपिल, शौद्धोदनिक (बुद्ध), चार्वाक और जैमिनि आदि एवं उनके सिद्धान्त को दूषित किया जाता है उसका नाम परवाद है।

परविवाहकरण—१. कन्यादानं विवाहः, परस्य विवाहः परविवाहः, परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम् । (स. सि. ७–२८) । २. **सद्वेद्य-चारित्रमोहोदयाद् विवहनं विवाहः** । सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद्विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते । परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम् । (त. वा. ७, २८, १; चा. सा. पृ. ६) । ३. परविवाहकरणमितीह स्वापत्यव्यतिरिक्तमपत्यं परशब्देनोच्यते, तस्य कन्याफललिप्सया स्नेहबन्धेन वा विवाहकरणमिति । (श्राव. हरि. वृ. अ. ६, पृ. ८२५) । ४. परविवाहकरणमन्यापत्यस्य कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धेन वा विवाहकरणम्, स्वापत्येष्वपि संख्याभिग्रहो न्याय्य इति । (श्रा. प्र. टी. २७३) । ५. परेषां स्वापत्यव्यतिरिक्तानां जनानां विवाहकरणं कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धादिना वा परिणयविधानं परविवाहकरणम् । इह च स्वापत्येष्वपि संख्याभिग्रहो न्याय्यः । (ध. बि. मु. वृ. ३–२६) । ६. परविवाहकरणं स्वापत्यव्यतिरिक्तानां कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धादिना वा परिणयविधानम् । (सा. ध. स्वो. टी. ४–५८) । ७. कन्यादानं विवाहः, परस्य स्वपुत्रादिकादन्यस्य विवाहः परविवाहः, परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम् । (त. वृत्ति श्रुत. ७–२८) ।

१ कन्यादान का नाम विवाह है, दूसरे के विवाह के करने को परविवाहकरण कहा जाता है। ३ पर शब्द से यहां अपनी सन्तान को छोड़कर अन्य की सन्तान को ग्रहण किया गया है, कन्यादान के फल की इच्छा से, अथवा स्नेह के सम्बन्ध से अन्य के पुत्र-पुत्री के विवाह करने को परविवाहकरण कहते हैं। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार है।

परविस्मापक—सुरजालमाइएहिं तु विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स । तेसु न विम्हयइ सयं आहट्ट-कुहेडएहिं च ॥ (बृहत्क. १३०१) ।

इन्द्रजाल, प्रहेली और वक्रोक्ति इत्यादि के द्वारा जो वैसे (मूर्ख) जनों को आश्चर्यचकित करता है, परन्तु स्वयं विस्मय को प्राप्त नहीं होता है, उसे परविस्मापक कहा जाता है।

परव्यपदेश—१. अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः । (स. सि. ७–३६) । २. **अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः** । अन्यत्र दातारः सन्ति, दीयमानोऽप्यन्यस्येति वा ऽर्पणं परव्यपदेश इति प्रतिपाद्यते । (त. वा. ७, ३६, ३) । ३. परव्यपदेश इति आत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तद्व्यपदेश इति समासः, साधोः पौषधोपवासपारणकाले भिक्षार्थं समुपस्थितस्य प्रकटमन्नादि पश्यतः श्रावकोऽभिधत्ते परकीयमिदमिति नात्मीयमतो न ददामि, किंचिद्याचितो वाभिधत्ते विद्यमान एवाऽमुकस्येदमस्ति, तत्र गत्वा मार्गय तद्यूयमिति । (श्रा. प्र. टी. ३२७) । ४. अयमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं परव्यपदेशः । (चा. सा. पृ. १४) । ५. परस्य आत्मव्यतिरिक्तस्य व्यपदेशः परव्यपदेशः, परकीयमिदमन्नादिकमित्येवमदित्सावतः साधुसमक्षं भणनं परव्यपदेशः । (ध. बि. मु. वृ. ३-३४) । ६. परव्यपदेशः परस्यान्यस्य सम्बन्धीदं गुड-खण्डादीति विशेषेणापदेशो व्याजाद्यदि वायमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं चतुर्थः । (सा. ध. स्वो. टी. ५-५४) । ७. अपरदातृदेयस्यार्पणम् मम कार्यं वर्तते, त्वं देहीति परव्यपदेशः, परस्य व्यपदेशः कथनं परव्यपदेशः । अथवा परेऽत्र दातारो वर्तन्ते, नाहमत्र दायको वर्ते इति

परव्यपदेशः। अथवा परस्येदं भक्ताद्यासं देयम्, न मया इदमीदृशं वा देयमिति परव्यपदेशः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३६)। ८. आस्माकीनं सुसिद्धान्नं त्वं प्रयच्छेति योजनम्। दोषः परोपदेशस्य करणाख्यो व्रतात्मनः॥ (लाटीसं. ६-२२६)।

१ अन्य दाता की देय वस्तु का देना, इसका नाम परव्यपदेश है। २ दाता दूसरे स्थान पर हैं, दी जाने वाली यह भोज्य वस्तु भी अन्य की है, इस प्रकार कहते हुए देना; यह परव्यपदेश नाम का अतिथिसंविभागव्रत का अतिचार है। ३ पौषधोपवास की पारणा के समय भिक्षा के निमित्त उपस्थित हुए साधु को, जो प्रत्यक्ष में अन्न आदि को देख रहा है, श्रावक जो यह कहता है कि यह वस्तु दूसरे की है, मेरी नहीं है; इसलिए नहीं देता हूं। अथवा कुछ याचना करने पर यह कहता है कि यह अमुक की वस्तु है, अतएव आप वहां जाकर खोजिए, यह परव्यपदेश नाम से प्रसिद्ध अतिथिसंविभागव्रत का अतिचार है।

परशरीरसंवेजनी कथा—एवं परसरीरसंवेयणी वि—परसरीरं एरिसं चेव असुई, अहवा परस्स सरीरं वण्णेमाणो सोयारस्स संवेगमुप्पाएइ। (दशवै. नि. हरि. वृ. १६६, पृ. ११२)।

दूसरे का शरीर ऐसा ही (अपने शरीर समान ही) अपवित्र है, अथवा पर के शरीर का वर्णन करने वाला उपदेशक चूंकि श्रोता के संवेग को उत्पन्न करता है, इसलिए इस प्रकार की चर्चा को परशरीरसंवेजनी कथा कहते हैं।

परशुमुद्रा—पताकावत् हस्तं प्रसार्य अङ्गुष्ठयोजनेन परशुमुद्रा। यद्वा पताकाकारं दक्षिणकरं संहताङ्गुलिं कृत्वा तर्जन्यङ्गुष्ठाक्रमणेन परशुमुद्रा द्वितीया। (निर्वाणक. पृ. ३२)।

पताका (ध्वजा) के समान दाहिने हाथ को पसार कर तर्जनी से अंगूठे के मिलाने को परशुमुद्रा कहते हैं।

परसमय—१. जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ। (पंचा. का. १५५)। २. पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं। (समयप्रा. २)। ३. संसारिणो हि जीवस्य ज्ञानदर्शनावस्थितत्वात् स्वभावनियतस्याप्यनादिमोहनीयोदयानुवृत्तिरूपत्वेनोपरक्तोपयोगस्य सतः समुपात्तभावस्वरूप्यत्वादनियतगुणपर्यायत्वं परसमयः, परचरितमिति यावत्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १५५)।

१ जीव यद्यपि ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव में नियत है—अवस्थित है, फिर भी मोहनीय के उदय से विभाव में उपयोगयुक्त होकर प्राप्त परस्वरूप होने से जो अनियत गुण-पर्यायों—कर्मजनित रागादि-भावों—को अपना मानता है, इसी का नाम परसमय है।

परसमयरत—१. अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो। हवदि त्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो॥ (पंचा. का. १६५)। २. अर्हदादिषु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिबलानुरञ्जिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसम्प्रयोगः। अथ खल्वज्ञानलवावेशाद्यदि यावज्ज्ञानवानपि ततः शुद्धसम्प्रयोगान्मोक्षो भवतीत्यभिप्रायेण खिद्यमानस्तत्र प्रवर्तते तदा तावत् सोऽपि रागलवसद्भावात् परसमयरत इत्युपगीयते। अथ न किं पुनर्निरङ्कुशरागकलिकलङ्कितान्तरङ्गवृत्तिरितरो जन इति। (पञ्चा. का. अमृत. वृ. १६५)।

१ ज्ञानी होकर भी जो किंचित् अज्ञान के वश जब तक यह मानता है कि शुद्ध सम्प्रयोग से—अरहन्त आदि में भक्तिवश अनुरागयुक्त हुए चित्त के व्यापार से—दुःख से छुटकारा (मुक्ति) होता है, तब तक अज्ञान का लेश बना रहने से उसे परसमयरत जानना चाहिए।

परसमयवक्तव्यता—परसमयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वण्णिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमयवत्तव्वं, तस्स भावो परसमयवत्तव्वदा णाम। (धव. पु. १, पृ. ८२)।

परसमय का अर्थ मिथ्यात्व है, जिस प्राभृत अथवा अनुयोग में उक्त परसमय का वर्णन या प्रज्ञापन किया जाता है उस प्राभृत या अनुयोग का नाम परसमयवक्तव्य है, उसके भाव को परसमयवक्तव्यता कहा जाता है।

परसंग्रह—अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः। (प्र. न. त. ७–१५; स्याद्वादमं. ३१७; नयप्र., पृ. १०२; जैनत., पृ. १२७)।

समस्त विशेषोंमें उदासीनता को स्वीकार करता हुआ

जो शुद्ध सन्मात्र द्रव्य को ग्रहण करता है उसे परसंग्रह नय कहते हैं।

परसंग्रहाभास—सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणस्तदाभासः। (नयप्र. पृ. १०२)। सर्व विशेषों का निराकरण करके केवल सत्ताद्वैत को ही विषय करने वाले नय को परसंग्रहनयाभास कहते हैं।

परस्परपरिहारलक्षणविरोध—परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राम्रफलादौ रूप-रसयोरिवानयोः सम्भवतोरेव स्यान्न त्वसम्भवतोः सम्भवदसम्भवतोर्वा। (प्रमेयक. ४–१०, पृ. ५३३)। एक आम्रफल आदि में रूप और रस के समान जो सम्भव हों उनमें परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध हो सकता है, असम्भव अथवा सम्भव-असम्भव में वह नहीं होता है।

परस्पराश्रयचक्रक—यदि स्वपक्षे प्रत्यक्षवृत्या तत्र व्यापकानुपलब्धिर्निर्णीयेत्, विपक्षव्यावृत्त्या पक्षे प्रत्यक्षवृत्तिः, पक्षे प्रत्यक्षवृत्त्या च विपक्षव्यावृत्तिरिति परस्पराश्रयं चक्रकम्। (सिद्धिवि. वृ. ६–२२, पृ. ४०८, पं. ७–६)।

यदि अपने पक्ष (अक्षणिक) में प्रत्यक्षवृत्ति से व्यापक (क्रम-अक्रम) की अनुपलब्धि का, विपक्षव्यावृत्ति से पक्ष में प्रत्यक्षवृत्तिका और पक्ष में प्रत्यक्षवृत्ति से विपक्षव्यावृत्ति का निर्णय होता है तो इस प्रकार से परस्पराश्रय चक्रकदोष होने वाला है।

परंज्योति—परं निवारण परमातिशयप्राप्तं ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ (परंज्योतिः) (रत्नक. १–७)। परं अर्थात् अतिशय को प्राप्त निवारण ज्ञान से युक्त आप्त को परंज्योति कहा जाता है।

पराघात—देखो परघातनाम। १. परत्रास-प्रतिघातादिजनकं पराघातनाम। (त. भा. ८–१२)। २. पराघातनाम यदुदयात् परानाहन्ति। (श्रा. प्र. टी. २१)। ३. यस्य कर्मण उदयात् कश्चिद्दर्शनमात्रेणैवौजस्वी वाक्सौष्ठवेन वाऽन्यसभामप्यभिगतः सभ्यानामपि त्रासमापादयति, आकर्षणं परप्रतिघातं वा करोति तत्पराघातनाम। (त. भा. हरि. वृ. ८–१२)। ४. यस्य कर्मण उदयात् कश्चिद्दर्शनमात्रेणैवौजस्वी वाक्सौष्ठवेनान्यां सभामप्यभिगतः सभ्यानामपि त्रासमापादयति परप्रतिभाप्रतिघातं वा करोति तत्पराघातनाम। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२, पृ. १५७)। ५. स्वशरीर-बलप्रतापादिभिः परस्याभिभवनं पराघातः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–६)। ६. तय-विस-दंतविसाई अंगावयवो य जो उ अन्नेसिं। जीवाण कुणइ घायं सो परघायस्स उ विवागो॥ (कर्मवि. ग. १२०)। ७. यतोऽङ्गावयव एव विषात्मको दंष्ट्रा-त्वगादिः परेषामुपघातको भवति तत्पराघातनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ८. यदुदयाद् दुःप्रघृष्यतया शरीराकृतिः परानाहन्त्यभिभवति तत्पराघातनाम। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ५१)। ९. यदुदयात् पुनरोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभामपि गतः सभ्यानामपि त्रासमापादयति प्रतिवादिनश्च प्रतिभाविघातं करोति तत्पराघातनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७३; धर्मसं. मलय. वृ. ६१८; सप्तति. मलय. वृ. ६; पंचसं. मलय. वृ. ३–७, पृ. ११६; कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ७)। १०. यदुदयात् परानाहन्ति दुष्प्रधृष्यतया शरीराकृतेरभिभवति तत्पराघातनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. २०)। ११. यदुदयादोजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा नृपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमापादयति प्रतिपक्षप्रतिघातं च विधत्ते तत्पराघातनाम। (प्रव. सारो. वृ. १२५१)। १२. परानाहन्ति पराघातनाम, यस्य कर्मण उदये आत्मावयवैः परं हन्ति। (कर्मवि. पू. व्या. ७२, पृ. ३३)। १३. यदुदयात् परेषां दुष्प्रधर्षः महौजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महाभूपसभामपि गतः सभ्यानामपि क्षोभमुत्पादयति प्रतिपक्षप्रतिभाप्रतिघातं च करोति तत्पराघातनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४३, पृ. ५३)।

१ जो दूसरों को कष्ट देनेवाला या उनका घात आदि करने वाला है उसे पराघातनामकर्म कहते हैं। ३ जिसके उदय से कोई दर्शन मात्र से ही ओजस्वी (दीप्तिमान्) होता है अथवा सभा में वचनचातुर्य से सभ्य जनों को भी दुःख देता है, आकर्षण या दूसरों का प्रतिघात करता है उसे पराघात नामकर्म कहते हैं।

पराङ्गनात्याग—मातृवत्परनारीणां परित्यागस्त्रिशुद्धितः। स स्यात् पराङ्गनात्यागो गृहिणां शुद्धचेतसाम्॥ (भावसं. वाम. ४५५)।

माता के समान परस्त्रियों के सेवन करने का मन,

वचन व काय से जो परित्याग किया जाता है वह परांगनात्यागव्रत कहलाता है।

पराजय—असिद्धिः पराजयः। (प्रमाणमी. २, १, ३४)।

वादी अथवा प्रतिवादी के अपने पक्ष की सिद्धि नहीं कर सकने का नाम पराजय है।

परात्मा—देखो परमात्मा। परात्मा संसारिजीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा। (समाधित. टी. ६)।

संसारी जीवों से उत्कृष्ट आत्मा को परात्मा या परमात्मा कहा जाता है।

परानवकाङ्क्षक्रिया—तथा चानाद्रियमाणः परमपि नावकाङ्क्षतीति परानवकाङ्क्षक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।

अनादरको प्राप्त होकर जो दूसरे को भी नहीं चाहता है, इसका नाम परानवकाङ्क्षक्रिया।

परा प्राप्ति—णीसेसकम्मणासे अप्पसहावेण जा समुप्पत्ती। कम्मजभावखए वि य सा वि य पत्ती परा होदि। (कार्तिके. १९९)।

सब कर्मों के नष्ट हो जाने पर जो शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति होती है उसे परा प्राप्ति कहते हैं। अथवा कर्मजनित औदयिकादि भावों का अभाव हो जाने पर जो प्राप्ति होती है उसे भी परा प्राप्ति कहा जाता है।

परार्थ (श्रुत)—परं पुनः शब्दप्रयोगरूपं परविप्रतिपत्तिनिराकरणफलत्वात् परार्थम्। (अन. ध. स्वो. टी. ३-५)।

जिस शब्दप्रयोग का फल दूसरों के विरोध को दूर करना है वह परार्थश्रुत कहलाता है। इसे द्रव्यश्रुत भी कहा जाता है।

परार्थ (गुण)—परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः। (लाटीसं. ३-५३)।

ज्ञान के अतिरिक्त जो शेष सुखादि गुण हैं वे परार्थ गुण माने जाते हैं।

परार्थ करण— विहितानुष्ठानपरस्य तत्त्वतो योगशुद्धिसचिवस्य। भिक्षाटनादिसर्वं परार्थकरणं यतेर्ज्ञेयम्॥ (षोडशक. १३-५, पृ. ८७)।

आगमोक्त अनुष्ठान का यथार्थतः पालन करते हुए जो साधु मन, वचन व काय की शुद्धि से सहित है उसके भिक्षा के लिये विचरण आदि सबको परार्थकरण—दाता के पुण्यबन्ध का कारण होने से परोपकरण—जानना चाहिए।

परार्थप्रत्यक्ष— प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थप्रत्यक्षं परप्रत्यक्षहेतुत्वात्। (प्र. न. त. ३-२४)।

प्रत्यक्ष से जाने हुए पदार्थ के प्रतिपादन करनेवाले वचन को परके प्रत्यक्ष में कारण होने से परार्थ प्रत्यक्ष कहा जाता है।

परार्थाधिगम—परार्थाधिगमः शब्दरूपः। (सप्तभं. पृ. १)

शब्दरूप ज्ञान को परार्थाधिगम कहते हैं।

परार्थानुमान—१. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः। परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः॥ साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्। परार्थमनुमानं तत्पक्षादिवचनात्मकम्॥ (न्यायाव. १० व १३)। २. तत्-(स्वार्थानुमान-) प्रतिपादकं वचो हेतुः, परार्थमित्यर्थः। (नन्दी. हरि. वृ., पृ. ६२)। ३. परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्। (परीक्षा. ३, ५०—५१)। ४. पक्ष-हेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्। (प्र. न. त. ३—२३)। ५. तत्प्रतिपादकं वचो हेतुः परार्थम्। (उपदे. मु. वृ. ४८)। ६. यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्। (प्रमाणमी. २, २, १)। ७. परोपदेशमपेक्ष्य साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्। प्रतिज्ञा-हेतुरूपपरोपदेशवशाच्छ्रोतुरुत्पन्नं साधनात्साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः। (न्यायदी., पृ. ७५)। ८. यल्लक्षणो मतो हेतुः स्वार्थसंवित्तये परम्। वाचाभिधीयमानस्तु परार्थं सानुमोच्यते॥ (प्रमाल. ५५)। ९. पक्ष-हेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्। (षड्द. स. गुण. वृ. ५५, पृ. २१०)।

१ अपने निश्चय के समान अन्य जनों के लिए निश्चय के उत्पादक वाक्य को उपचार से परार्थानुमान कहा जाता है। साध्य के अविनाभावी हेतु के प्रतिपादक वचन को परार्थानुमान कहते हैं जो पक्ष आदि के वचनस्वरूप है।

परावर्त—१. परावर्तोऽनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यात्मकः। स च द्रव्यादिभेदभिन्नः प्रवचनादवसेयः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६३)। २. परावर्तः पुद्गलपरावर्तः, स

थानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीप्रमाणः, ते अनन्ताः अतीतः कालः अनन्ता एवानागतः कालः। (आव. भा. मलय. वृ. २००, पृ. ५६३)।

१ परावर्त अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रमाण है जो द्रव्य-क्षेत्रादि के भेद से अनेक प्रकार का है।

परावर्त दोष—वीहीकूरादीहिं य सालीकूरादियं तु जं गहिदं। दातुमिति संजदाणं परियट्टं होदि णायव्वं ॥ (मूला. ६–१८)।

साधुओं को देने के लिए अपने व्रीहि धान के भात आदि को दूसरे के लिए देकर बदले में शालि धान के भात आदि का लेना और साधुओं को देना, यह संयतों (साधुओं) को परावर्त दोष का जनक होता है।

परावर्तन—ग्रन्थस्य पुनः पुनरभ्यसनं परावर्तनम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०)।

ग्रन्थ के पुनः पुनः अभ्यास करने को परावर्तन कहते हैं।

परावर्तमान प्रकृति— १. विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं च अन्नपगईए। सा हु परियत्तमाणी × × × ॥ (पंचसं. च. ३–४४)। २. विनिवार्य या गच्छति बन्धमुदयं वा अन्यप्रकृतेः, सा हु परावर्तमाना × × × विनिवार्य विनिवर्त्यान्यस्याः प्रकृतेर्या स्वतो बन्धमुदयमुभयं वा याति सा परावर्तमाना। (पंचसं. च. स्वो. वृ. ३–४४)। ३. या प्रकृतिरन्यस्याः प्रकृतेबन्धमुदयं वा निवार्य स्वयं बन्धमुदयं वा गच्छति सा हु निश्चितं परावर्तमाना। (पंचसं. मलय. वृ. ३–४४)। ४. याः प्रकृतयोऽन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वा विनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति ताः परावर्तमानाः। × × × यत् प्रत्यपादि— विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं च अन्नपगईए। सा हु परियत्तमाणी अणिवारंती अपरियत्ता ॥ (शतक. दे. स्वो. वृ. १, पृ. २)।

१ जो प्रकृति अन्य प्रकृति के बन्ध या उदय को रोक करके स्वयं ही बन्ध या उदय को प्राप्त होती है उसे परावर्तमान प्रकृति कहते हैं।

परावर्तित—देखो परावर्तदोष। यत्पुनः परावर्त्य गृही यतिभ्यो दत्ते तत् प्रा(परा)वर्तितम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४८)।

गृहस्थ जो किसी एक भोज्य वस्तु से दूसरी को परिवर्तित कर साधुओं के लिए देता है, इससे परावर्तित नाम का दोष उत्पन्न होता है।

परिकर्म—१. परिकर्म्म द्रव्यस्य गुणविशेषपरिणामकरणम्। (आव. नि. हरि. वृ. ७६, पृ. ५४; व्यव. भा. मलय. वृ. १, पृ. १; आव. नि. मलय. वृ. ७६, पृ. ६०)। २. परिकर्म नाम योग्यतापादनम्, तद्धेतुः शास्त्रमपि परिकर्म। (नन्दी. सू. मलय. वृ. ५६)। ३. ततः परितः सर्वतः कर्माणि गणितकरणसूत्राणि यस्मिन् तत्परिकर्म। (गो. जी. मं. प्र. टी. ३६१)। ४. तत्रावस्थितस्यैव द्रव्यस्य गुणविशेषापादनं परिकर्म। (जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ५)।

१ द्रव्य के गुणविशेष का जो परिणमन किया जाता है, इसका नाम परिकर्म है। २ योग्यता को उत्पन्न करना, इसे व इसके कारणभूत शास्त्र को भी परिकर्म कहा जाता है। ३ जिस ग्रन्थ में गणितविषयक करणसूत्र उपलब्ध होते हैं वह परिकर्म कहलाता है।

परिकर्मकालोपक्रम—कालस्योपक्रमः परिकर्मणि चन्द्रोपरागादेर्यथावस्थितमर्वागेव परिज्ञानकरणम्। (व्यव. मलय. वृ. १, पृ. २)।

चन्द्रग्रहण आदि के नियत काल से पहले ही जान लेने को परिकर्मविषयक कालोपक्रम कहते हैं।

परिकर्मक्षेत्रोपक्रम—तत्र परिकर्मणि क्षेत्रोपक्रमो नावा समुद्रस्योल्लंघनं हल-कुलिकादिभिर्वा इक्ष्वादिक्षेत्रस्य परिकर्मणा। (आव. नि. मलय. वृ. ७६, पृ. ६१)।

नावसे जो समुद्र का उल्लंघन किया जाता है इसे परिकर्मविषयक क्षेत्रोपक्रम कहते हैं। अथवा हल व कुलिक आदि से जो ईख आदि के खेत का परिकर्म (संस्कार) किया जाता है, इसे परिकर्मक्षेत्रोपक्रम जानना चाहिये।

परिकर्ममिश्रद्रव्योपक्रम—१. मिश्रद्रव्योपक्रमः परिकर्मणि कटकादिभूषितपुरुषादिद्रव्यस्य गुणविशेषकरणम्। (व्यव. मलय. वृ. १, पृ. २)। २. मिश्रद्रव्योपक्रमः परिकर्मणि कटकादिविभूषितपुरुषादिद्रव्यस्य शिक्षापादनम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७६, पृ. ६१)।

१ कटक आदि आभूषणों से विभूषित पुरुष के गुणविशेष के करने को परिकर्मविषयक मिश्रद्रव्योपक्रम कहते हैं।

परिकर्मसचित्तचतुष्पदद्रव्योपक्रम—१. तस्मिन् (परिकर्मणि) सचित्तचतुष्पदद्रव्योपक्रमो यथा हस्त्यादेः शिक्षापादनम् । (व्यव. मलय. वृ. १, पृ. २) । २. तथा चतुष्पदानां हस्त्यादीनां शिक्षागुण-विशेषकरणं चतुष्पदोपक्रमः । (आव. नि. मलय. वृ. ७६, पृ. ६१) ।

१ हाथी आदि चौपाये जानवरोंके लिए शिक्षा प्रदान करने को परिकर्मसचित्तचतुष्पदद्रव्योपक्रम कहते हैं ।

परिकर्मसचित्तद्विपदद्रव्योपक्रम—१. द्रव्यस्य गुणविशेषपरिणामकरणं परिकर्म, सचित्तद्विपदद्रव्यो-पक्रमो यथा पुरुषस्य वर्णादिकरणम् । (व्यव. मलय. वृ. १, पृ. १) । २. तत्र परिकर्मणि द्विपदोपक्रमो यथा पुरुषस्य वर्णादिकरणमथवा कर्ण-स्कन्धवर्द्ध-नादि । (आव. नि. मलय. वृ. ७६, पृ. ६१) ।

१ पुरुष के वर्ण आदि के करने को परिकर्मसचित्त-द्विपदद्रव्योपक्रम कहते हैं ।

परिकर्मसचित्तापदद्रव्योपक्रम—१. सचित्तापद-द्रव्योपक्रमो यथा वृक्षादेर्वृक्षायुर्वेदोपदेशात् वृद्धयावि-गुणकरणम् । (व्यव. मलय. वृ. १, पृ. २) । २. अपदानां वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोपदेशाद्वार्द्धक्यादि-गुणापादनमपदोपक्रमः । (आव. नि. मलय. वृ. ७६, पृ. ६१) ।

१ वृक्ष आदि विषयक आयुर्वेद के उपदेशानुसार उनकी वृद्धि आदि गुणों के करने को परिकर्मविष-यक सचित्त-अपदद्रव्योपक्रम कहते हैं ।

परिकर्माचित्तद्रव्योपक्रम—१. अचित्तद्रव्योप-क्रमः परिकर्मणि यथा पद्मरागमणेः क्षार-मृत्-पुटपा-कादिना नैर्मल्यापादनम् । (व्यव. मलय. वृ., पृ. २) । २. अचित्तद्रव्योपक्रमः परिकर्मणि यथा पद्म-रागमणेः क्षार-मृत्पुटपाकादिना वैमल्यापादनम् । (आव. नि. मलय. वृ. ७६, पृ. ६१) ।

पद्मरागमणि आदि अचेतन पदार्थों के क्षार (राख) व मिट्टी आदि के द्वारा निर्मल करने को परिकर्मा-चित्तद्रव्योपक्रम कहते हैं ।

परिखा—१. परिखा व्यञ्जनमध्यावस्थितान्नम् । (भ. आ. २२०) । २. परिखा उपरि विशाला अधः सङ्कुचिता । (जीवाजी. मलय. वृ. ११७; जम्बूद्वी. शा. वृ. १२) । ३. परिखा व्यञ्जनमध्यस्थितकूरम् । (भ. आ. मूला. २२०) ।

१ व्यंजनों के मध्य में स्थित अन्न को परिखा कहते हैं । २ जो ऊपर विस्तृत और नीचे संकुचित होती है वह परिखा कहलाती है । इसका निर्माण दुर्ग के सब ओर सुरक्षा के लिए कराया जाता है ।

परिगृहीता—१. या एकपुरुषभर्तृका सा परिगृही-ता । (स. सि. ७–२८; त. वा. ७, २८, २) । २. एकपुरुषभर्तृका या स्त्री भवति सधवा विधवा वा सा परिगृहीता संबद्धा । (त. वृत्ति श्रुत. ७, २८) ।

१ जिस स्त्री का स्वामी एक पुरुष होता है उसे परिगृहीता कहते हैं ।

परिग्रह—१. मूर्च्छा परिग्रहः । (त. सू. ७–१७; श्वे. त. सू. ७–१२) । २. ममेदंबुद्धिलक्षणः परि-ग्रहः । (स. सि. ६–१५) । ३. चेतनावत्स्वचेतनेषु च बाह्याभ्यन्तरेषु द्रव्येषु मूर्च्छा परिग्रहः । (त. भा. ७–१२) । ४. लोभकषायोदयान्मूर्च्छा परिग्रहः । कषायवेदनीयस्य उदयात् मूर्च्छा संकल्पः परिग्रह इत्या-लोभख्यायते । (त. वा. ४, २१, ३); ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः । ममेदं वस्तु, अहमस्य स्वामीत्या-त्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते । (त. वा. ६, १५, ३) । ५. मूर्च्छालक्षणा परिग्रहसंज्ञा । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. २–२५); सचित्ता-चित्त-मिश्रेषु द्रव्यादिषु शास्त्राननुमतेषु ममत्वं परि-ग्रहः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–१) । ६. मुच्छा परिग्गहो त्ति य ××× ॥ (जयध. १, पृ. १०५ उद्.) । ७. गवाश्व-मणि-मुक्तादौ चेत-नाचेतने धने । बाह्योऽबाह्यो च रागादौ हेयो मूर्च्छा-परिग्रहः । (ह. पु. ५८–१३३) । ८. चेतनाचेतन-वस्तुस्पर्शिनो मूर्च्छाविशेषाः परिग्रहाः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–७) । ९. ममेदंभावो मोहोदयजः परिग्रहः । (भ. आ. विजयो. ५७) । १०. ममेद-मिति संकल्परूपा मूर्च्छा परिग्रहः । (त. सा. ४, ७७) । ११. या मूर्च्छा नामेदं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः । मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥ (पु. सि. १११) । १२. ममेदमिति संकल्पो बाह्या-भ्यन्तरवस्तुषु । परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनिकुञ्च-नम् ॥ (उपासका. ४३२) । १३. परिग्रहः पापा-दानोपकरणकांक्षा । (मूला. वृ. ११–६) । १४. परिग्रहः स्वस्वामिभावेन मूर्च्छा, सा च प्राणिनाम-तिलोभात् सकलवस्तुविषयापि प्रादुर्भवति । (प्रश्न.प.

मलय. वृ. २८०, पृ. ४३८); परिग्रहो धर्मोपकरण-वर्जवस्तुस्वीकारः धर्मोपकरणमूर्च्छा च। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८४, पृ. ४४६)। १५. ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु। ग्रन्थः ××× ॥ (सा. ध. ४–५६)। १६. लोभकषायस्योदयेन विषयेष्वासंगः परिग्रहः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–२१); परिगृह्यते इति परिग्रहः ममेदम् इति बुद्धिलक्षणः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१५); परि समन्ताद् गृह्यते परिग्रहो मनोमूर्च्छालक्षणः ग्रहणेच्छालक्षणः परिग्रह उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–१); मूर्च्छनं मूर्च्छा, परिगृह्यते परिग्रहः, या मूर्च्छा सा परिग्रह इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–१७)। १७. परि समन्ताद् ग्रहः ग्रहणरूपः परिग्रहः। तत्र द्रव्यतः धन-धान्यादि, भावतः परवस्त्विच्छापरिणामः। (ज्ञा. सा. वृ. २५, पृ. ८४)। १८. सर्वभावेषु मूर्च्छा-लक्षणः परिग्रहः। (शास्त्रवा. टी. ३, पृ. ५)।

२ 'यह मेरा है' इस प्रकार की जो ममत्वबुद्धि होती है उसे परिग्रह कहा जाता है। ३ चेतन-अचेतन बाह्य और अभ्यन्तर द्रव्यों में होने वाली ममत्व-बुद्धि का नाम परिग्रह है। १४ धर्मोपकरणों को छोड़कर अन्य वस्तुओं को स्वीकार करना तथा धर्मोपकरणों से ममत्वभाव रखना, यह परिग्रह का लक्षण है।

परिग्रहक्रिया—देखो पारिग्राहिकी क्रिया। बहू-पायार्जन-रक्षण-मूर्च्छालक्षणा परिग्रहक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

विविध उपायों से भोगोपभोग की सामग्री के उपार्जन करने, उसका रक्षण करने और उसमें मूर्च्छा रखने को परिग्रहक्रिया कहते हैं।

परिग्रहत्याग प्रतिमा—१. बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः। स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः॥ (रत्नक. ५–२४)। २. जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतर-बाहिरं च साणंदो। पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी॥ (कार्तिके. ३८६)। ३. परिग्रहविनिवृत्तः—क्रोधादिकषायाणामार्त-रौद्रयोर्हिंसादिपंचपापानां भयस्य च जन्मभूमिः दूरोत्सारितधर्म्य-शुक्लः परिग्रह इति मत्वा दशविधबाह्यपरिग्रहाद्विनिवृत्तः स्वच्छः सन्तोषपरो भवति। (चा. सा. पृ. १९)। ४. यो रक्षणोपार्जन-नश्वरत्वैर्ददाति दुःखानि दुरुत्तराणि। विमुच्यते येन परिग्रहोऽसौ गीतोपसर्गैरपरिग्रहोऽसौ॥ (अमित. श्रा. ७–७५)। ५. मोत्तूण वत्थ-मेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं। तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो। (वसु. श्रा. २९९)। ६. दशधा ग्रन्थमुत्सृज्य निर्ममत्वं भजन् सदा। सन्तोषामृतसन्तृप्तः स स्यात्परिग्रहोज्झितः॥ (भावसं. वाम. ५४१)। ७. योऽष्टव्रतवृद्धो ग्रन्थान् मुञ्चतीमे न मेऽहकम्। नैतेषामिति बुद्ध्या स परि-ग्रहविरक्तधीः॥ (धर्मसं. श्रा. ८–३९)।

१ जो क्षेत्र-वास्तु आदि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह में ममता को छोड़कर निर्मम होता हुआ स्वस्थ होकर सन्तोष को धारण करता है वह परिग्रह से रहित—नौवीं प्रतिमा का धारक—होता है।

परिग्रहत्यागमहाव्रत—१. अहावरे पंचमे भंते महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं—सव्वं भंते परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परि-गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजा-णामि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पंचमे भंते महव्वए उवट्ठि-ओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। (दशवै. सू. ४–७, पृ. १४८–४९; पाक्षिकसू. पृ. २६)। २. सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्ख भावणापुव्वं। पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स॥ (नि. सा. ६०)। ३. ××× पंचम संगम्मि विरई य॥ (चा. प्रा. २९)। ४. जीवणिबद्धाबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव। तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्ममोऽसंगो॥ (मूला. १–९); गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्त बहु सपडिवक्खं। अज्झत्थ बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे॥ (मूला. ५–९६)। ५. अब्भंतर-बाहिरए सव्वे गंथे तुमं विवज्जेहि। कद-कारिदाणुमोदेहिं काय-मण-वयणजोगेहिं॥ (भ. आ. ११९७)। ६. बाह्याभ्यन्तरवर्तिभ्यः सर्वेभ्यो विर-तिर्यतः। स्वपरिग्रहदोषेभ्यः पंचमं तु महाव्रतम्॥ (ह. पु. २–१२१)। ७. पंचमगो गामादिसु अप्प-बहुविवज्जणेमेव। (धर्मसं. ८६०)। ८. बाह्यमा-भ्यन्तरं संगं कृत-कारित-मोदनैः। विमुंचस्व सदा

साधो मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ (भ. आ. अमित. ग. ११५४)। ९. दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरङ्गाश्चतुर्दश। तान् मुक्त्वा भव निःसंगो भावशुद्धया भृशं मुने ॥ (ज्ञाना. १६-३, पृ. १७६)। १०. एतस्मान्मनसः कृत-कारितानुमोदितेन, वचसः कृत-कारितानुमोदितेन, कायस्य कृत-कारितानुमोदितेन च विरतिरपरिग्रहलक्षणं व्रतम्। (चा. सा. ४३)। ११. चेतनेतरबाह्यान्तरंगसंगविवर्जनम्। ज्ञान-संयमसंगो वा निर्ममत्वमसंगता ॥ (आचा. सा. १–२०); या मूर्च्छाच्छेदिनी संगे चेतोवृत्तिरसंगता। यया साऽऽत्यन्तिकी मुक्ति-श्रीरुपैति यतिं स्वयम् ॥ (आचा. सा. ५–६४)।

१ पांचवें महाव्रत में परिग्रह से विरत होना पड़ता है—मैं अल्प व बहुत, अणु व स्थूल तथा सचेतन व अचेतन सब प्रकार के परिग्रह को न स्वयं ग्रहण करूंगा, न दूसरों को ग्रहण कराऊंगा और उसे ग्रहण करते हुए दूसरों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। मैं मन, वचन एवं काय तीन प्रकार से न स्वयं करता हूं, न कराता हूं, और न करते हुए अन्य की अनुमोदना करता हूं। उसके लिये मैं निन्दा व गर्हा करता हूं तथा उसका परित्याग करता हूं। इस प्रकार के नियमपूर्वक पूर्ण रूप से परिग्रह का त्याग करना, यह पांचवां महाव्रत है। २ क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य व सुवर्णादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह तथा मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह इस प्रकार समस्त परिग्रह के त्याग करने को परिग्रहत्याग महाव्रत कहते हैं।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—१. × × × परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ (चा. प्रा. २३)। २. धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता। परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ (रत्नक. ३–१५)। ३. धन-धान्य-क्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम्। (स. सि. ७–२०; चा. सा. पृ. ७)। ४. परिच्छिन्नधन-धान्य-क्षेत्राद्यवधिर्गृही। धन-धान्य-क्षेत्रादीनाम् इच्छावशात् कृतपरिच्छेदः गृहीति पञ्चममणुव्रतम्। (त. वा. ७, २०, ५)। ५. परिच्छिन्नधन-धान्य-क्षेत्राद्यवधिर्गृही प्रत्येतव्यः। (त. श्लो. ७–२०)। ६. अनन्तायाश्च गर्द्धायाः विरतिः। (पद्म. १४–१८५)। ७. स्वर्ण-दास-गृह-क्षेत्रप्रभृतेः परिमाणतः। बुद्धयेच्छापरिमाणाख्यं पंचमं तदणुव्रतम् ॥ (ह. पु. ५८–१४२)। ८. योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धन-धान्य-मनुष्य-वास्तु-वित्तादिः। सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥ (पु. सि. १२८)। ९. जो लोहं णिहणित्ता संतोस-रसायणेण संतुट्ठो। णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥ जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं। उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स ॥ (कार्तिके. ३३९–४०)। १०. वास्तु क्षेत्रं धान्यं दासी दासश्चतुष्पदं भाण्डम्। परिमेयं कर्तव्यं सर्वं सन्तोषकुशलेन ॥ (अमित. श्रा. ६–७३)। ११. सद्म-स्वर्ण-धरा-धान्य-धेनु-भृत्यादिवस्तुनः। या गृहीतिः प्रमाणेन पंचमं तदणुव्रतम् ॥ (सुभा. सं. ७८७)। १२. जं परिमाणं कीरइ धण-धण्ण-हिरण्ण-कंचणाईणं। तं जाण पंचमवयं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥ (वसु. श्रा. २१३)। १३. ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु। ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम् ॥ (सा. ध. ४–५९)। १४. हिंसानृतवचःस्तेय-स्त्रीमैथुन-परिग्रहात्। देशतो विरतिर्ज्ञेया पञ्चधाणुव्रतस्थितिः ॥ (धर्मश. २१, १४२)। १५. चेतनेतरवस्तूनां यत्प्रमाणं निजेच्छया। कुर्यात् परिग्रहत्यागं स्थूलं तत्पंचमं व्रतम् ॥ (धर्मसं. श्रा. ६–७२)। १६. धन-धान्यादिवस्तूनां संख्यानं मुह्यतां विना। तदणुव्रतमित्याहुः पंचमं गृहमेधिनाम् ॥ (भावसं. वाम. ४५६)। १७. दासी-दास-रथान्येषां स्वर्णानां योषितां तथा। परिमाणव्रतं ग्राह्यं पंचमं तदणुव्रतम् ॥ (पू. उपासका. २७)। १८. तत्र हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-कृत्स्नपरिग्रहात्। देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ (पंचाध्या. २–७२०)। १९. मुनिभिः सर्वतस्त्याज्यं तृणमात्रपरिग्रहम्। तत्संख्या गृहिभिः कार्या त्रसहिंसादिहानये ॥ (लाटीसं. ६–८३)। २०. धण-धण्ण-दुपय-चउप्पय-खेत्तण्णछादियाण दव्वाणं। जं किज्जइ परिमाणं पंचमयं अणुव्वय होई। (धर्मर. १४७)।

१ परिग्रह और आरम्भ का प्रमाण करना, यह परिग्रहपरिमाण नामक पांचवां अणुव्रत है। २ धन व धान्य आदि दस प्रकार के बाहिरी परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में इच्छा न रखने को परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं। इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतातिचार—१. क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-दासीदास-कुप्यप्रमाणातिक्रमाः। (त. सू. ७–२९)। २. अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मय-लोभातिभारवहनानि। परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते॥ (रत्नक. ३–१६)। ३. तयाणंतरं च णं इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, ण समायरियव्वा। तं जहा—खेत्त-वत्थुपमाणाइक्कमे हिरण्ण-सुवण्णपमाणाइक्कमे दुपय-चउप्पयपमाणाइक्कमे धण-धन्नपमाणाइक्कमे कुविय-पमाणाइक्कमे। (उवासगद. १–४९, पृ. १०)। ४. भेएण खित्त-वत्थू-हिरण्णमाईसु होइ नायव्वं। दुपयाईसु य सम्मं वज्जणमेयस्स पुव्वुत्तं॥ (श्रा. प्र. २७६)। ५. खेत्ताइ-हिरण्णाई-धणाइ-दुपयाइ-कुप्प-माणकमे। जोयणपमाणबंधणकारणभावेहिं णो कुणइ॥ (पंचाश. १–१८)। ६. वास्तुक्षेत्राष्टापद-हिरण्य-धनधान्य-दासदासीनाम्। कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पञ्च॥ (पु. सि. १८७)। ७. हिरण्य-सुवर्णयोः क्षेत्र-वास्तुनोः धन-धान्ययोः। दासी-दासस्य कुप्यस्य मानाधिक्यानि पञ्च ते॥ (त. सा. ४–९०)। ८. परिग्रहविरमणव्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति—क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्यमिति। (चा. सा. पृ. ७)। ९. कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादि.कसंग्रहः। पञ्चमाणुव्रतज्यानि करोति गृहमेधिनाम्॥ (उपासका. ४४४)। १०. धन-धान्यस्य कुप्यस्य गवादेः क्षेत्र-वास्तुनः। हिरण्य-हेम्नश्च संख्यातिक्रमोऽत्र परिग्रहे॥ (योगशा. ३–९५)। ११. वास्तु-क्षेत्रे योगाद् धन-धान्ये बन्धनात् कनक-रूप्ये। दानात् कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात्॥ (सा. ध. ६-६४)।

१ क्षेत्र-वास्तु (खेत व गृह आदि), चांदी-सोना, धन-धान्य, (पशु व गेहूं आदि अन्न), दासी-दास और कुप्य (सूती व रेशमी वस्त्र आदि); इनका जो प्रमाण किया गया है उसका उल्लंघन करना ये पृथक् पृथक् परिग्रहपरिमाणव्रत के पांच अतिचार होते हैं। २ अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारवहन ये पांच परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं।

परिग्रहसंज्ञा—१. उवयरणदंसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छियाए य। लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा॥ (प्रा. पंचसं. १–५५; गो. जी. १३७)। २. परिग्रहसंज्ञा—परिग्रहाभिलाषस्तीव्रलोभोदयप्रभव आत्मपरिणामः। इयमपि चतुर्भिः स्थानैरुत्पद्यते। तद्यथा—अविविक्तयाए १ लोहोदएणं २ मईए ३ तदट्ठोवओगेणं ४। (आव. सू. हरि. वृ. पृ. ५८०)। ३. परिग्रहसंज्ञा चारित्रमोहोदयजनिता परिग्रहाभिलाष इति। (स्थाना. अभय. वृ. ४, ४, ३५६, पृ. २७७)। ४. परिग्रहसंज्ञा लोभविपाकोदयसमुत्थ-मूर्च्छापरिणामरूपा। (जीवाजी. मलय. वृ. १३)। ५. स्यात् परिग्रहसंज्ञा च लोभोदयसमुद्भवा। अनाभोगाऽव्यक्तरूपा ××× ॥ (लोकप्र. ३–४४६)।

१ विषयभोग की सामग्री के देखने से, उधर उपयोग के जानेसे, आसक्ति से और लोभ कषाय की उदीरणा से ममत्वबुद्धिपूर्वक जो परिग्रहविषयक अभिलाषा होती है उसका नाम परिग्रहसंज्ञा है।

परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान—१. सद्दाइविसयसाहण-धणसारक्खणपरायणमणिट्ठं। सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं॥ (ध्यानश. २२)। २. बह्वारम्भ-परिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते, यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते, तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम्॥ (ज्ञाना. २६–२६, पृ. २६७)। ३. षड्विधे जीवनारणारम्भे कृताभिप्रायश्चतुर्थं रौद्रम्। (मूला. वृ. ५–१९९)। ४. ××× स्वं संरक्ष्य विपक्षदूरमुदिता तोषोग्रता या तु सं—रक्षानन्दमपि स्ववस्तुनिखिलं निर्वैरि कुर्व इति॥ (आचा. सा. १०–२१)।

१ शब्दादि विषयों के साधनभूत धन के संरक्षण में तत्पर रहने से जो कलुषित चित्त होता है वह विषयसंरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है। इसे परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान भी कहा जाता है। इस ध्यान में 'कौन कब क्या करेगा' इस प्रकार की आशंका सभी के प्रति बनी रहती है, जिससे वह सभी के घात में व्याकुलचित्त रहता है। ३ छह प्रकार के जीवघातविषयक आरम्भ के अभिप्राय को चौथा रौद्रध्यान कहते हैं।

परिचित—यत्र यत्र प्रश्नः क्रियते तत्र तत्र आशुतमवृत्तिः परिचितम्, क्रमेणोत्क्रमेणानुभयेन च भावागमाम्भोधौ मत्स्यवच्चटुलतमवृत्तिर्जीवो भावागमश्च परिचितम्। (धव. पु. ९, पृ. २५२)।

जिस जिस विषय में प्रश्न किया जाता है उस उस विषय से सम्बद्ध आवागमरूप समुद्र में मछली के समान जिसकी चंचलतापूर्ण प्रवृत्ति शीघ्रतापूर्वक क्रम से, अक्रम से या अनुभयरूप से हुआ करती है उस जीव को और आवागम को भी परिचित कहा जाता है। यह आगम के नौ अर्थाधिकारों में तीसरा है।

परिचितसूत्रता—परिचितसूत्रता उत्क्रम-क्रमवाचनादिभिः स्थिरसूत्रता। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५८, पृ. ३६)।

अक्रम या क्रम से प्रवृत्त वाचना आदि से सूत्र में स्थिरता का रहना, इसका नाम स्थिरसूत्रता है। यह चार प्रकार की श्रुत-सम्पत् में से एक है।

परिजित—देखो परिचित। अइतुरियाए गईए पडिक्खलणेण विणा आइद्धकुलालचक्कं व सगविसए परिब्भमणक्खमो कदिअणियोगो परिजिदं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६८)।

अतिशय शीघ्रगति से स्खलन के बिना जो कुम्हार के द्वारा प्रेरित चाक के समान अपने विषय में शीघ्र परिभ्रमण में समर्थ कृतिअनुयोग (विवक्षित अनुयोग) है उसका नाम परिजित है।

परिज्ञा—परिः समन्ताज्ज्ञानं पापपरित्यागेन परिज्ञासामायिकमिति। (आव. हरि. वृ. पृ. ८३४)।

परि अर्थात् सब ओर से पाप के परित्याग स्वरूप से जो ज्ञान होता है उसका नाम परिज्ञासामायिक है।

परिज्ञातकर्मा मुनि—जस्सेते लोगंसि कम्म-समारम्भा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिन्नायकम्मेत्ति बेमि। (आचारा. सू. १, १, १, १३, पृ. २५)।

जिस मुमुक्षु मुनि के कर्मसमारम्भ—क्रियाविशेष अथवा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म के उपादानहेतु—बन्ध के हेतुरूप से ज्ञात है वह परिज्ञातकर्मा मुनि कहलाता है। मुनि का निरुक्तार्थ है जगत् की त्रैकालिक अवस्था का जानने वाला।

परिणाम—१. तद्भावः परिणामः। (त. सू. ५, ४१)। २. द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। (स. सि. २–१); धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावस्तत्त्वं परिणाम इति आख्यायते। (स. सि. ५–४२)। ३. धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः। (त. भा. ५–४१)। ४. द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति नान्यन्निमित्तमस्ति स परिणाम इति परिभाष्यते। (त. वा. २, १, ५); द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोग-विस्रसालक्षणो विकारः परिणामः। द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्या.धिक[illegible] अविवक्षातो न्यग्भूतां स्वां द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः प्रयोग-विस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः। (त. वा. ५, २२, १०); धर्मादीनां येनात्मना भवनं स तद्भावः परिणामः। धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावः, तत्त्वं परिणाम इत्याख्यायते। (त. वा. ५, ४२, १)। ५. परिणामः अध्यवसायविशेषः। (आव. नि. हरि. वृ. ८२३); परिः समन्तान्नमनं परिणामः सुदीर्घकालपूर्वापरार्थविलोकनादिजन्य आत्मधर्म इत्यर्थः। (आव. नि. हरि. वृ. ६३८)। ६. परिणमनं परिणामः अपरित्यक्तपूर्वावस्थस्यैव तद्भावगमनमिति भावार्थः। उक्तं च—परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न तु सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः॥ (अनुयो. हरि. वृ. उद्. पृ. ६४)। ७. को परिणामो? मिच्छत्तासंजम-कसायादी। (धव. पु. १५, पृ. १७२)। ८. द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्देतरप्रयोगजपर्यायस्वभावः परिणामः। तद्यथा—अङ्कुरावस्थस्य वनस्पतेर्मूल-काण्ड-त्वक्-पत्र-स्कन्ध-शाखा-विटप-पुष्प-फलसद्भाववलक्षणः परिणामः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२२); अथवा कैश्चित् परिणामलक्षणमुक्तम्—अवस्थितस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरनिवृत्तिर्धर्मान्तरप्रादुर्भावश्च परिणामः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–४१)। ९. स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः। परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः॥ (त. सा. ३, ४६)। १०. द्रव्यात्मलाभहेतुकः परिणामः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ५६)। ११. परीति सर्वप्रकारं नमनं जीवानामजीवानां च जीवत्वादिस्वरूपानुभवनं प्रति प्रह्वीभवनं परिणामः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४८, पृ. ३३; षडशी. दे. स्वो. वृ. ६४)। १२. परिणामः अवस्थातोऽवस्थान्तरगमनम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २६५)। १३. परिणामः-अवस्थातोऽवस्थान्तरगमनानि। (समवा. अभय. वृ. १४०)।

१४. परिणामः कारणस्यान्यथाभावः वाग्गोचरातीतः। (आ. मी. वसु. वृ. ७१)। १५. परि समन्तात् श्रमनं यथावस्थितवस्त्वनुसारितया गमनं परिणामः। (आव. नि. मलय. वृ. ८३८, पृ. ४१६); परिणमनं परिणामः—कथञ्चित् पूर्वरूपापरित्यागेनोत्तररूपापत्तिः। उक्तं च—नार्थान्तरगमो यस्मात् सर्वथैव न चागमः। परिणामः प्रमासिद्धः इष्टश्च खलु पण्डितैः॥ (आव. नि. मलय. वृ. १०४०, पृ. ५७६); द्रव्यपरिणतिस्वभावः सर्वः परिणामः। (आव. भा. मलय. वृ. १८६, पृ. ५७८)। १६. परिणमनं परिणामः, कथञ्चिदवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थापरित्यागेनोत्तरावस्थागमनम्। (पञ्चसं. मलय. वृ. २–३, पृ. ४५)। १७. परिणामः स्वकार्यपर्यालोचनम्। (भग. व. स्वो. टी. ८–६८; भ. आ. मूला. ६५)। १८. परिणामो द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्देतरप्रयोगजपर्यायस्वभावः परिणामः। (षड्द. स. वृ. ४९, पृ. १६४)। १९. द्रव्याणां या परिणतिः प्रयोग-विस्रसादिजा। नवत्व-जीर्णताद्या च परिणामः स कीर्तितः॥ (लोकप्र. २८–८)। २०. द्रव्यस्य स्वभावान्तरनिवृत्तिः स्वभावान्तरोत्पत्तिश्च अपरिस्पन्दात्मकः पर्यायः परिणामः। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२२)। २१. परिणामस्तु सत एव प्रदेशपरिणामादिनाऽन्यथाभावः। (अष्टस. यशो. वृ. पृ. १५७)।

२ जिसका कारण द्रव्य का आत्मलाभ मात्र है उसे परिणाम कहते हैं। धर्म आदि द्रव्य जिस स्वरूप से हैं उसका नाम तद्भाव है, यही तद्भाव परिणाम का लक्षण है। ३ धर्म आदि द्रव्यों और गुणों का जो स्वभाव या निज तत्त्व है उसे परिणाम कहा जाता है। ४ अध्यवसायविशेष का नाम परिणाम है। १७ अपने कार्य का जो पर्यालोचन किया जाता है उसे परिणाम जानना चाहिए (यह भक्तप्रत्याख्यान मरण को स्वीकार करनेवाले क्षपक के अर्हादि लिंगों में से एक है)।

परिणामक साधु—जो दव्व-खेत्तकय-काल-भावओ जं जहा जिणक्खायं। तं तह सद्दहमाणं जाणसु परिणामयं साधुं॥ (बृहत्क. ७९३)।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जिनेन्द्र देव के द्वारा साधु के लिये जो कल्प्य-अकल्प्य (योग्य-अयोग्य) का कथन किया गया है उसका या उसी प्रकार से—उत्सर्ग-अपवाद के अनुसार—जो श्रद्धान करता है उसे परिणामक साधु जानना चाहिए।

परिणामतः आत्त पुद्गल—मिच्छत्तादिपरिणामेहि जे अप्पणो कदा ते परिणामदो अत्ता पोग्गला। (धव. पु. १६, पृ. ५१५)।

मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा जो पुद्गल अपने किये गये हैं—जिन्हें ग्रहण किया गया है—वे परिणामतः आत्त पुद्गल कहलाते हैं।

परिणामयोगस्थान—१. पज्जत्तपढमसमयप्पहुडि उवरि सव्वत्थ परिणामजोगो चेव। (धव. पु. १०, पृ. ४२१)। २. परिणामजोगठाणा सरीरपज्जत्तगा दु चरिमो त्ति। (गो. क. २२०)।

१ पर्याप्त होने के प्रथम समय से लेकर आगे सर्वत्र परिणामयोग ही हुआ करता है।

परिणामविशुद्धप्रत्याख्यान—१. रागेण व दोसेण व मणपरिणामेण दूसिदं जं तु। तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं॥ (मूला. ७–१४६)। २. रागपरिणामेन द्वेषपरिणामेन च न दूषितं न प्रतिहतं विपरिणामेन यत्प्रत्याख्यानं तत्पुनः प्रत्याख्यानं भावविशुद्धं तु ज्ञातव्यं। सम्यग्दर्शनादियुक्तस्य निःकांक्षस्य वीतरागस्य समभावयुक्तस्याहिंसादिव्रतसहितशुद्धभावस्य प्रत्याख्यानं परिणामशुद्धं भवेदिति। (मूला. वृ. ७–१४६)।

जो प्रत्याख्यान राग और द्वेषरूप चित्तवृत्ति से दूषित न हो उसे भावविशुद्ध या परिणामविशुद्ध प्रत्याख्यान जानना चाहिए।

परिणामानित्यता—तत्र परिणामानित्यता नाम मृत्पिण्डो हि विस्रसा-प्रयोगाभ्यामनुसमयमवस्थान्तरं प्रागवस्थाप्रच्युत्या समश्नुते। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–४)।

स्वभाव अथवा प्रयोग के वश मिट्टी का पिण्ड जो प्रत्येक समय में पूर्व पूर्व अवस्था को छोड़कर अन्य अन्य अवस्था को प्राप्त होता है, यही परिणाम-अनित्यता है।

परितापन—१. संतावजणणं परिदावणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ४६)। २. प्राणिनः सन्तापकरणं परितापनं व्याह्रियते। (भ.वप्रा. टी. ६६)।

१ प्राणि के लिए सन्ताप पहुंचाने का नाम परितापन है।

परितापनिकी—परितापनं परितापः, पीडाकरणमित्यर्थः, तस्मिन् भवा तेन वा निर्वृत्ता, परितापनमेव वा परितापनिकी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २७९, पृ. ४३५); परितापनिकी नाम खड्गाभिघातेन पीडाकरणम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८१, पृ. ४४८)।

खड्ग आदि के घातसे दूसरों के लिए पीडा पहुंचाना, यह परितापनिकी क्रिया कहलाती है।

परित्यजन दोष—देखो छोटितदोष। १. बहुपरिसाडणमुज्झिय आहारो परिगलंत दिज्जंतं। छंडिय भुंजणमहवा छंडियदोसो हवे णेओ॥ (मूला. ६, ५९)। २. छोडितं परित्यजनं भुंजानस्याप्यिरपाणिपात्रेणाहारस्य परिशातनं गलनं परित्यजनं यत्क्रियते तत्परित्यजननामाशनदोषः। (मूला. वृ. ६–४३)।

१ बहुत अन्न गिराकर भोजन करना, अथवा देते समय गिरते हुए को छोड़कर भोजन करना; यह परित्यजन नाम का दोष माना जाता है। इसे छोटित और त्यक्त दोष भी कहा जाता है।

परिदेवन—१. संक्लेशपरिणामावलम्बनं गुणस्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्व-परानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुरं रोदनं परिदेवनम्। (स. सि. ६–११)। २. संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रायं परिदेवनम्। संक्लेशपरिणामालम्बनं स्व-परानुग्रहविषयम् अनुकम्पाप्रचुरं परिदेवनमिति परिभाष्यते। (त. वा. ६, ११, ६)। ३. परिदेवनं मुहुर्मुहुर्नष्टचित्ततयैव समन्ताद्विलपनम्। (त. भा. हरि. वृ. ६-१२)। ४. संक्लेशश्र[प्र]वणं स्व-परानुग्रहणं हा नाथेत्यनुकम्पाप्रायं परिदेवनम्, तच्चासद्वेद्योदये मोहोदये च सति बोद्धव्यम्। (त. श्लो. ६–११)। ५. संक्लेशप्रवणः स्व-परानुग्रहलाघनमनुकम्पाप्रायं परिदेवनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–११)। ६. परिदेव्यते परिदेवनं संक्लेशपरिणामविहितावलम्बनं स्व-परोपकाराकांक्षालिंगं अनुकम्पाभूयिष्ठं रोदनमित्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–११)।

१ संक्लेश परिणाम के आश्रय से अपने व दूसरे के अनुग्रह से सम्बद्ध जो गुणों का स्मरण करते हुए रुदन किया जाता है, जिसे देखकर सुनने वाले का चित्त दयार्द्र हो उठता है, उसे परिदेवन कहते हैं।

परिधि—१. समवट्टवासवग्गे दहगुणिदे करणिपरिक्खेवो होदि। (ति. प. १–११७)। २. विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिट्ठि[र]ओ होदि। (धव. पु. ४, पृ. २०६ उद्.; त्रि. सा. ९६); व्यासं षोडशगुणितं षोडशसहितं त्रि-रूप-रूपैर्भक्तम्। व्यासत्रिगुणितसहितं सूक्ष्मादपि तद् भवेत् सूक्ष्मम्॥ (धव. पु. ४, पृ. ४२ उद्.)। ३. वासो तिगुणो परिही ×××। (त्रि. सा. १७)।

१ समान गोल क्षेत्र के विस्तार का वर्ग करके उसे दस से गुणित करने पर जो प्राप्त हो उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का प्रमाण प्राप्त होता है। २ विस्तार को सोलह से गुणा करके उसमें सोलह जोड़ दे, तत्पश्चात् उसे तीन, एक और एक (११३) अर्थात् एक सौ तेरह से भाजित करके लब्ध में तिगुने विस्तार के जोड़ देने पर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परिधि का प्रमाण प्राप्त होता है।

परिनिर्वाप्यवाचना—परीति सर्वप्रकारं निर्वापयतो निरो निर्दग्धादिषु भृशार्थस्यापि दर्शनात् भृशं गमयतः—पूर्वदत्तालापकादि सर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयतः शिष्यस्य सूत्रगताशेषविशेषग्रहणकालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचना—सूत्रप्रदानं परिनिर्वाप्यवाचना। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५८, पृ. ३९)।

पूर्व में प्रदान किये गये आलाप आदि को जो सब प्रकार से अपने में परिणत कर रहा है—उसे पूर्णतया हृदयंगम करता है—ऐसे शिष्य को सूत्रगत समस्त विशेषताओं के ग्रहण योग्य काल की प्रतीक्षा करके शक्ति के अनुरूप सूत्र के प्रदान करने को परिनिर्वाप्यवाचना कहा जाता है।

परिनिर्वृत—परिनिर्वृतः कर्मकृतविकारविरहात् स्वस्थीभूतः। (स्थाना. अभय. वृ. ३–५३)।

कर्मकृत रागादि विकारों (दोषों) को दूर कर जो सर्वथा स्वस्थ हो चुका है—केवलज्ञानादिरूप आत्मस्वरूप में स्थित होता हुआ सिद्धि को प्राप्त कर चुका है—वह परिनिर्वृत (सिद्ध) कहलाता है।

परिनिर्वृति (परं निर्वाण)— भवबन्धनमुक्तस्य या अवस्था परमात्मनः। परिनिर्वृतिरिष्टा सा परं निर्वाणमिष्यते॥ (म. पु. ३९–२०६)।

संसाररूप बन्धन से मुक्त हुए जीव की जो उत्कृष्ट

अवस्था होती है उसे परिनिर्वृति कहते हैं। इसे परनिर्वाण भी कहा जाता है।

परिपिण्डित—देखो परिपीडित। १. यत्र संपिण्डितान् एकत्र मिलितानाचार्यादीनेकवन्दनकेनैव वन्दते, न पृथक् पृथक्, तत्परिपिण्डितं वन्दनकमुच्यते। अथवा वचनानि सूत्रोच्चारणगर्भाणि, करणानि कर-चरणादीनि, संपिण्डितानि अव्यवच्छिन्नानि, वचनकरणानि यस्य स तथा। उर्वोरुपरि हस्तौ व्यवस्थाप्य संपिण्डितकर-चरणौ अव्यक्तसूत्रोच्चारणपुरस्सरं यत्र वन्दते तद्वा परिपिण्डितमिति भावः। (आव. हृ. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८८; प्रव. सारो. वृ. १५७)। २. संपिंडिए व वंदइ परिपिंडियवयणकरणओ वावि। (प्रव. सारो. १५७)। ३. परिपिण्डितं प्रभूतानां युगपद्वन्दनम्, यद्वा कुक्षेरुपरि हस्तौ व्यवस्थाप्य परिपिण्डितकर-चरणस्याऽव्यक्तसूत्रोच्चारणपुरस्सरं वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।

१ एक स्थान पर सम्मिलित हुए अनेक आचार्यादिकों की पृथक्-पृथक् वन्दना न करके एक ही वन्दना के रूप से वन्दना करने को परिपिण्डितवन्दनक कहते हैं। अथवा जांघों के ऊपर दोनों हाथ रख करके हाथ-पैरों को संकुचित कर अव्यक्त सूत्रोच्चारणपूर्वक वन्दना करने को परिपिण्डितवन्दनक कहते हैं। यह वन्दना के ३२ दोषों में चौथा है।

परिपीडित दोष—१. परिपीडितं कर-जानुप्रदेशः परिपीड्य संस्पर्श्य यः करोति वन्दनां तस्य परिपीडितदोषः। (मूला. वृ. ७-१०६)। २. हस्ताभ्यां जानुनो स्वस्य संस्पर्शः परिपीडितम्। (अन. ध. स्वो. टी. ८-६६)।

२ दोनों हाथों से अपने जानु (घुटने) का स्पर्श करते हुए वन्दना करने को परिपीडित दोष कहते हैं। यह कृतिकर्म के ३२ दोषों में चौथा है।

परिपूणक समान शिष्य—१. परिपूणगम्मि य गुणा गलंति दोसा य चिट्ठंति ॥ (विशेषा. १४६३; नन्दी. हरि. वृ. पृ. २२, ११ उद्.)। २. परिपूणको नाम सुघरीचिटिकाविरचितो नीडविशेषः, तेन च किल घृतं गाल्यते, ततस्तत्र कचवरमवतिष्ठते, घृतं तु गलित्वाऽधः पतति, एवं परिपूणकसदृशः शिष्योऽप्युपचारात् परिपूणकः। तत्र हि श्रुतसम्बन्धिनो गुणा सर्वेऽपि घृतवद् गलन्ति, दोषास्तु घृतगतकचवरवदवतिष्ठन्ते, श्रुतस्य दोषानेव गृह्णाति, गुणांस्तु सर्वथा परिहरति असौ, अतोऽयोग्य इति भावः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०५)। ३. परिपूणको नाम घृत-क्षीरगालनं सुगृहाभिधचटकाकुलायो वा, तेन ह्याभीर्यो घृतं गालयन्ति, ततो यथा स परिपूणकः कचवरं धारयति घृतमुज्झति तथा शिष्योऽपि यो व्याख्या-वाचनादौ दोषानभिगृह्णाति गुणांस्तु मुञ्चति स परिपूणकसमानः। × × ×। आह च चूर्णिकृत्—वक्खाणाइसु दोसं हिययंमि ठवेइ मुयइ गुणजालं। सो सीसो अ अजोग्गो भणितो परिपूणगसमाणो ॥१॥ (आव. नि. मलय. वृ. १३६, पृ. १४३)।

३ परिपूणक का अर्थ घी की छन्नी अथवा सुघरी नामक पक्षी का घोंसला होता है। जिस प्रकार ग्वालिनियां परिपूणक से जब घी को छानती हैं तब घी निकल जाता है और कचरा उसके भीतर रह जाता है, उसी प्रकार जो शिष्य परिपूणक के समान व्याख्या व वाचना आदि में दोषों को ग्रहण करता है और गुणों को छोड़ देता है उसे परिपूणक समान शिष्य कहा जाता है।

परिपूर्णेन्द्रियता—परिपूर्णेन्द्रियता अनुपहतचक्षुरादिकरणता। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५८)।

चक्षु आदि इन्द्रियों की अविनाशिता—उनके विषयग्रहणसामर्थ्य—को परिपूर्णेन्द्रियता कहते हैं।

परिभाषा—१. परिभाषणं परिभाषा—कोपाविष्करणेन मा यास्यसीत्यपराधिनोऽभिधानम्। (आव. भा. हरि. वृ. ३, पृ. ११४)। २. इयमत्र भावना—कोपाविष्करणे नरे इतः स्थानान्मा यासीरित्येयं यत् परिभाषणम्। (आव. नि. मलय. वृ. १६६)।

१ क्रोध को प्रगट करके नहीं जाओगे, अर्थात् अब आगे क्रोध नहीं करना, इस प्रकार अपराधी से कहना, यह भरत की चार दण्डनीतियों में प्रथम परिभाषा नाम की दण्डनीति रही है।

परिभोग—देखो उपभोग। १. आच्छादन-प्रावरणालंकार-शयनासन-गृह-यान-वाहनादिः। (स. सि. ७-२१)। २. परित्यज्य भुज्यत इति परिभोगः। सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते—आच्छादन-प्रावरणालङ्कार-शयनासन-गृह-यान-वाहनादिः। (त. वा. ७, २१, १०)। ३. परिभुज्यत इति परिभोगो वस्त्रादि, पुनः पुनः

भुज्यत इति भावः। परिशब्दस्याभ्यावृत्त्यर्थत्वात्। ××× बहिर्भोगो वा परिभोगः, परिशब्दस्य बहिर्भावकत्वात्। (श्रा. प्र. टी. २८४)। ४. पुनः पुनः परिभुज्यत इति परिभोगः स्त्री-वस्त्राभरणादिः। (धव. पु. ६, पृ. ७८)। ५. अशन-पान-गन्ध-माल्यादि सकृद् भुक्त्वा पुनरपि भुज्यत इति परिभोगः। (चा. सा. पृ. १२)। ६. भूषादिः परिभोगः स्यात् पौनःपुन्येन सेवनात्। (उपासका. ७५१)। ७. मुहुर्यो भुज्यते लोके परिभोगः स उच्यते। (धर्मसं. ७-१७)। ८. आच्छादन-प्रावरण-भूषण-शय्यासन-गृह-यान-वाहन-वनितादिकः परिभोग उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७-२१)। ९. परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः। यथा योषिदलंकार-वस्त्रागार-गजादिकम्॥ (लाटीसं. ६-१४७)।

२ जिसे एक बार भोगकर छोड़ दिया जाता है तथा फिर से भी भोगा जाता है वह परिभोग कहलाता है—जैसे आच्छादन, वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन, घर, सवारी और वाहन आदि।

परिभोगान्तराय—जस्स कम्मस्स उदएण परिभोगस्स विग्घं होदि तं परिभोगंतराइयं॥ (धव. पु. ६, पृ. ७८)।

जिस कर्म के उदय से परिभोग में विघ्न होता है वह परिभोगान्तराय कहलाता है।

परिमर्शन—१. समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शनं परिमर्शनम्। (भ. आ. विजयो. ६४६)। २. परिमर्शनं सर्वगात्रस्पर्शनम्। (भ. आ. मूला. ६४६)।

१ हाथ से समस्त शरीर के स्पर्श करने को परिमर्शन कहते हैं।

परिमितकाल सामायिक—स्वाध्यायादौ सामायिकग्रहणं परिमितकालम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६, १८)।

स्वाध्याय आदि में जो सामायिक ग्रहण की जाती है वह परिमितकाल सामायिक कहलाती है।

परिवर्तदोष—देखो परिवर्तित। १. मदीये वेश्मनि तिष्ठन्तु भवान्, युष्मदीयं तावद् गृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परियट्टमित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके. टी. ४४८-४९)। २. व्रीहिकूरादिभिः शालिकूरादेः परिवर्तनम्। यद्दास्यामीति यतये परिवर्तः प्रकीर्तितः॥ (आचा. सा. ८-३१)। ३. व्रीह्याद्यन्नेन शाल्यन्नाद्युपात्तं परिवर्तितम्। (अन. ध. ५-१४)। ४. मद्गृहे तिष्ठतु भवान्, स्वगृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परियट्टम्। (भ. आ. मूला. २३०)। ५. कस्यचिद् गृहस्थस्य व्रीहीन् दत्त्वा शालयो गृह्यन्ते, अथवा निजं कूरं दत्त्वा परकूरो गृह्यते, निजाभ्यूषान् दत्त्वा परेषामभ्यूषा गृह्यन्ते, एवं यत् परिवर्त्यते यतिभ्यो दीयते दास्यते वा स परिवर्तः कथ्यते। (भावप्रा. टी. ९९, पृ. २५०)।

१ आप मेरे घर में रहें और अपना घर साधुओं के रहने के लिए देवें। इस प्रकार कह कर साधु के लिए जो निवासस्थान ग्रहण किया जाता है वह परिवर्त नामक दोष से दूषित होता है। २ व्रीहि आदि से शालि धान के भात आदि को बदल कर साधु के लिये देना, वह परिवर्त नामक एक उद्गम दोष है।

परिवर्तन—१. परियट्टणं णाम परियट्टणंति वा अब्भसणंति वा गुणणंति वा एगट्ठा। (दशवै. चू. पृ. २८)। २. अविस्सरणट्ठं पुणो पुणो भावागमपरिमलणं परियट्टणं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६२); अवगयत्थस्स हियएण पुणो पुणो परिमलणं परियट्टणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ९)। ३. पूर्वाधीतस्य सूत्रादेरविस्मरणहेतवे। निर्जरार्थं च योऽभ्यासः स भवेत् परिवर्तना॥ (लोकप्र. ३०-९८)।

१ परिवर्तन, अभ्यसन और गुणन ये समानार्थक शब्द हैं। २ पठित भावागम का विस्मरण न हो, इसके लिये जो उसका बार बार परिशीलन किया जाता है इसे परिवर्तन कहते हैं।

परिवर्तना—देखो परिवर्तन।

परिवर्तमान परिणाम—जत्थ पुण ट्ठाइदूण परिणामंतरं गंतूण एग-दोआदिसमएहि आगमणं संभवदि ते परिणामा परियत्तमाणा णाम। (धव. पु. १२, पृ. २७)।

जिस परिणाम पर स्थित होकर दूसरे परिणाम को प्राप्त होते हुए एक-दो आदि समयों में पुनः उसी परिणाम को प्राप्त होना संभव है, ऐसे परिणामों को परिवर्तमान परिणाम कहते हैं।

परिवर्तित—देखो परिवर्त। १. यच्छाल्योदनादि कोद्रवादिना प्रातिवेशिकगृहे परिवर्त्य ददाति तत्परिवर्तितम्। (आचारा. सू. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७)। २. स्वद्रव्यमर्पयित्वा परद्रव्यं तत्सदृशं

गृहीत्वा यद्दीयते तत्परिवर्तितम् । (योगशा. स्वो. विव. १–३८) ।

१ शालि धान के भात आदि को पड़ोसी के घर में कोदों (एक क्षुद्र धान्य) आदि से बदल कर देने पर परिवर्तित दोष होता है।

परिवाद—परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदय-निःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम् । (रत्नक. टी. ३–१०) ।

स्वर्ग-मोक्ष की साधनभूत विशेष क्रियाओं के विषय में मिथ्या उपदेश देकर दूसरे को विपरीत प्रवर्ताना, इसका नाम परिवाद है। यह सत्याणुव्रत का एक अतीचार है।

परिव्राजक—परि समन्तात् पापवर्जनेन व्रजति गच्छतीति परिव्राजकः। (दशवै. हरि. वृ. पृ. ८४)।

जो 'परि' अर्थात् सब ओर पापों के परित्याग के साथ 'व्रजति' अर्थात् जाता है—प्रवृत्ति करता है—उसे परिव्राजक कहते हैं। यह परिव्राजक की सार्थक संज्ञा है।

परिशातनाकृति—तेसिं चेव अप्पिदसरीरपोग्गलक्खंधाणं संचएण विणा जा णिज्जरा सा परिसादणा कदी णाम । (धव. पु. ९, पृ. ३२७) ।

विवक्षित औदारिकादि शरीररूप पुद्गलस्कन्धों की संचय के बिना जो निर्जरा होती है उसे परिशातना कृति कहते हैं।

परिषह, परीषह—१. त एते बाह्याभ्यन्तरद्रव्यपरिणामाः शारीर-मानसप्रकृष्टपीडाहेतवः क्षुधादयो द्वाविंशतिः परीषहाः प्रत्येतव्याः । (त. वा. ९, ९, १) । २. परीति समन्तात् स्वहेतुभिरुदीरिता मार्गाच्यवननिर्जरार्थं साध्वादिभिः सह्यन्त इति परीषहाः । (उत्तरा. शा. वृ. २, पृ. ७२ उत्थानिका) । ३. परीषहाः क्षुत्तृट्शीतोष्णादयः । (मूला. वृ. ५, ११८) । ४. शारीर-मानसोत्कृष्टबाधाहेतून् क्षुदादिकान् । प्राहुरन्तर्बहिर्द्रव्यपरिणामान् परीषहान् ॥ (अन. ध. ६–८४) । ५. एते (क्षुदादयः) सर्वे वेदनाविशेषाः द्वाविंशतिपरीषहाः मुमुक्षुणा सहनीयाः । (त. वृत्ति श्रुत. ९–९) ।

१ शारीरिक एवं मानसिक उत्कृष्ट पीडा की हेतुभूत जो बाह्य व अभ्यन्तर परिणाम स्वरूप क्षुधादि हैं उन्हें परीषह कहा जाता है। ये संख्या में बाईस हैं।

परिष्ठापनासंयम—भक्त-पानादिकमनेषणीयं वस्त्र-पात्रादिकं चानुपकारकं संसक्तं वा निर्जन्तुके स्थण्डिले परिष्ठापयतः परिष्ठापनासंयमः । (योगशा. स्वो. विव. ४–९३) ।

नहीं ग्रहण करने के योग्य अन्न-पानादि को एवं शरीर के लिए अनुपयोगी अथवा सम्बद्ध ऐसे वस्त्र-पात्रादि को जन्तु रहित शुद्ध भूमि पर रखना, इसे परिष्ठापनासंयम कहते हैं।

परिहरण—वंतुच्चारसरिच्छं कम्मं सोउमवि कोविओ भीओ । परिहरइ सावि य दुहा विहि-अविहीए य परिहरणा ॥ (पिण्डनि. १९७) ।

जो आधाकर्म वान्ति या विष्ठा के समान है उसे सुनकर विद्वान् भयभीत होता हुआ जो विधि या अविधि के साथ उसका परित्याग करता है, यह उक्त आधाकर्म का परिहरण है।

परिहार—देखो पिच्छ । १. पक्ष-मासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः । (स. सि. ९–२२; त. श्लो. ९–२२; मूला. वृ. ११–१६) । २. परिहारो मासिकादिः । (त. भा. ९–२२) । ३. पक्ष-मासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः । पक्ष-मासादिविभागेन संसर्गमन्तरेण दूरतः परिवर्जनं परिहार इत्यवध्रियते । (त. वा. ९, २२, ९) । ४. परिह्रियते अस्मिन् सति वन्दनालापान्नपानप्रदानादिक्रियया साधुभिरिति परिहारः । स च मासादिकः षण्मासान्तः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–२२) । ५. परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम् । (त. सा. ७–२६) । ६. त्रिविधद् दूरात्त्यजनं परिहारो निजगणानुपस्थानम् । सपरगणोपस्थानं पारञ्चिकमित्ययं त्रिविधः ॥ (अन. ध. ७–५६) । ७. पक्ष-मासादिभेदेन दूरतः परिवर्जनम् । (प्रायश्चित्तस. टी. ७–२१) । ८. दिवसादिविभागेनैव दूरतः परिवर्जनं परिहारः । (भावप्रा. टी. ७८) । ९. दिवस-पक्ष-मासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारो नाम प्रायश्चित्तम् । (त. वृत्ति श्रुत. ९–२२) ।

१ अपराधी साधु को पक्ष-मास आदि के लिए संघ से दूर करने—उससे कुछ सम्बन्ध न रखने—को परिहार प्रायश्चित्त कहते हैं। ४ जिस प्रायश्चित्त में साधु जन अपराधी साधु का वन्दना, सम्भाषण और अन्न-पानप्रदानादि क्रिया से परिहार कर देते हैं—उससे वन्दना व सम्भाषण आदि नहीं किया करते हैं—

वह परिहार प्रायश्चित्त कहलाता है। वह कम से कम एक मास और अधिक से अधिक छह मास तक होता है।

परिहारविशुद्धि—१. परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः, तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। (स. सि. ९-१८)। २. पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं। पंचजमेयजमो वा परिहारयसंजदो साहू। (प्रा. पंचसं. १-१३१; धव. पु. १, पृ. ३७२ उद्.; गो. जी. ४७२)। ३. परिहरतु विसुद्धं तु पंचजामं अणुत्तरं धम्मं। तिविहेण फासयंतो परिहारियसंजतो स खलु॥ (व्याख्याप्र. २५, ७, ३, पृ. २८४८)। ४. परिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः, तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत् परिहारविशुद्धिचारित्रं प्रत्येतव्यम्। (त. वा. ९, १८, ८)। ५. परिहारः तपोविशेषः, तेन विशुद्धं परिहारविशुद्धम्, परिहारो वा विशेषेण शुद्धो यत्र तत्परिहारविशुद्धम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०४)। ६. परिहरणं परिहारः तपोविशेषः, तेन विशुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिकम्। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ११४)। ७. परिहारप्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारविशुद्धिसंयतः। त्रिंशद् वर्षाणि यथेच्छया भोगमनुभूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा संयममादाय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावगतपरिमितापरिमितप्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णवं सम्यगधिगम्य व्यपगतसकलसंशयस्तपोविशेषात् समुत्पन्नपरिहारर्द्धिस्तीर्थकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते। एवमादाय स्थान-गमन-चङ्क्रमणाशन-पानासनादिषु व्यापारेष्वशेषप्राणिपरिहरणदक्षः परिहारशुद्धिसंयतो नाम। (धव. पु. १, पृ. ३७०-३७१); सव्वसुही होदूण तीसं वस्साणि गमिय तदो वासपुधत्तेण तित्थयरपादमूले पच्चक्खाणणामधेयपुव्वं पढिदूण पुणो पच्छा परिहारसुद्धिसंजमं पडिवज्जिय ××× । (धव. पु. ७, पृ. १६७)। ८. परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धं परिहारविशुद्धिकम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-१८)। ९. विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि। शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत्॥ (त. सा. ६-४७)। १०. प्राणिवधान्निवृत्तिः परिहारस्तेन विशुद्धिर्यस्मिन् तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। (चा. सा. पृ. ३७)। ११. सावद्यपरिहारेण प्राप्यते यः समाहितैः। व्रत-गुप्ति-समित्याढ्यैः स परीहारसंयमः॥ (पंचसं. अमित. १-२४१)। १२. मिथ्यात्व-रागादिविकल्पमलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यं परिहारविशुद्धिश्चारित्रम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५)। १३. परिहारेण दोषाणां शुद्धिर्यस्मिन् स संयमः। परिहारविशुद्धिः स्याद् ऋद्धिरीदृग्विधस्य सा॥ (आचा. सा. ५-१४२)। १४. परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः, तेन विशिष्टा शुद्धिर्यत्र तत्परिहारविशुद्धिसंयमं चारित्रम्। (प्रा. चारित्रभ. टी. ३, पृ. १६४)। १५. परिहरणं परिहारः—विशिष्टतपोरूपस्तेन विशुद्धिरस्मिन्निति परिहारविशुद्धिकम्। (उत्तरा. ने. वृ. २८-३२; षडशी. मलय. वृ. १५; पंचसं. मलय. वृ. १-८, पृ. ११; भगवती. दा. वृ. ८-२, पृ. १२०)। १६. परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः, तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिन् स परिहारविशुद्धिः। (गो. जी. जी. प्र. ४७३)। १७. परिहरइ जो विसुद्धं पंचज्जामं अणुत्तरं धम्मं। तिविहेणं फासंतो परिहारियसंजओ स खलु॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ३, पृ.१३ उद्.)। १८. परिहरणं परिहारः प्राणिवधनिवृत्तिरित्यर्थः, परिहारेण विशिष्टा शुद्धिः कर्ममलकलंकप्रक्षालनं यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९, १८)।

१ प्राणिघात के परिहार से जो विशिष्ट शुद्धियुक्त संयम होता है उसे परिहारविशुद्धिसंयम कहते हैं। २ जो साधु पांच समितियों व तीन गुप्तियों से युक्त होता हुआ सदा पाप का परित्याग करता है तथा पांच यमरूप भेद संयम अथवा एक ही सामायिकरूप अभेदसंयम से विभूषित होता है उसे परिहारविशुद्धिसंयत कहा जाता है। ३ जो परिहारपूर्वक अनुपम पांच यमरूप धर्म का मन-वचन-काय से स्पर्श करता है—परिपालन करता है—वह पारिहारिकसंयत कहलाता है।

परिहारिक संयत, परिहारियसंयत— देखो परिहारविशुद्धि।

परीक्षण—परीक्षणं परीक्षा गण-परिचारकादिगोचरा। (अन. ध. स्वो. टी. ७-९८)।

परीक्षण से परीक्षा का अभिप्राय है। वह भक्त-

प्रत्याख्यान के अन्तर्गत अहीदि लिंगों में से एक है।

परीक्षा—१. उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च यथावल्लक्षणमुपपद्यते न वा इति प्रमाणतोऽर्थावधारणं परीक्षा। (न्यायकु. १–३, पृ. २१)। २. प्रमाणबलात्तल्लक्षणविप्रतिपत्तिपक्षनिरासः परीक्षा। (लघीय. अभय. वृ. पृ. ६)। ३. विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य-दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। (न्यायदी. पृ. ८)।

१ उद्दिष्ट और लक्ष्यभूत वस्तु का लक्षण यथार्थ में घटित होता है या नहीं; इस प्रकार प्रमाण से उसकी यथार्थता का विचार करना, इसका नाम परीक्षा है।

परीतसंसार (संसारपरीत)— १. जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण। असवल-असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा॥ (मूला. २, ७२)। २. संसारपरित्तेणं, पुच्छा। गोयमा! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। (प्रज्ञाप. १८, २४०)। ३. यस्तु सम्यक्त्वादिना कृतपरिमितसंसारः स संसारपरीतः। × × × संसारपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, तत ऊर्ध्वमन्तकृत्केवलित्वयोगेन मुक्तिभावात्। उत्कर्षतो अनन्तकालम्। तमेव निरूपयति—'अणंताओ' इत्यादि प्राग्वत्, तत ऊर्ध्वमवश्यं मुक्तिगमनात्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १८-२४०)। ४. परीतीकृतसंसारा नाम स्तोकावशेषसंसाराः। (आव. नि. मलय. वृ. १५, पृ. ४२)। ५. परीतः परिमितः संसारो यस्यासौ परीतसंसारिकः। (बृहत्क. क्षे. वृ. ७१४)।

१ जो जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरक्त होकर भक्तिपूर्वक गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं तथा जो मिथ्यात्व से विरहित होते हुए संक्लेशपरिणाम से भी रहित हैं वे परीतसंसारी परिमितसंसार वाले—होते हैं। ३ जिसने सम्यक्त्व आदि के द्वारा अपने संसार को परिमित कर दिया है, वह संसार-परीत या परीतसंसारी हो जाता है। वह जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल और उत्कर्ष से अनन्त काल—कुछ कम अपार्ध पुद्गलपरिवर्तकाल—तक ही संसार में रहता है—तत्पश्चात् नियम से मुक्त हो जाता है।

परीतसंसारिक—देखो परीतसंसार।

परीतानन्त—जं तं परित्ताणंतयं तं तिविहं—जहण्णपरित्ताणंतयं अजहण्णमणुक्कसपरित्ताणंतयं उक्कस्सपरित्ताणंतयं चेदि। × × × जं तं जहण्णपरित्ताणंतयं तं विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्स जहण्णपरित्ताणंतयं दादूण अण्णोण्णब्भत्थे कदे उक्कस्सपरित्ताणंतयं अदिच्छिदूण जहण्णजुत्ताणंतयं गंतूण पडिदं। एवदिओ अभवसिद्धियरासी। तदो एगरूवे अवणीदे जादं उक्कस्सपरित्ताणंतयं। (ति. प. ४, पृ. १८२–८३)।

परीतानन्त जघन्य, अजघन्य-अनुत्कृष्ट और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। जघन्य परीतानन्त का विरलन कर एक एक अंक के प्रति जघन्य परीतानन्त को देकर परस्पर गुणा करने पर जघन्य युक्तानन्त होता है। उसमें एक अंक कम कर देने पर उत्कृष्ट परीतानन्त होता है। अभव्य जीवराशि जघन्य युक्तानन्त प्रमाण है।

परीवर्त—परीवर्तः आम्नायः परिपाटिगणस्वाध्यायः। (प्रायश्चित्तस. टी. ७–२३)।

उच्चारण की शुद्धिपूर्वक आचार्य-परम्परागत परिपाटी के अनुसार स्वाध्याय करने को परीवर्त या आम्नाय नामक स्वाध्याय कहते हैं।

परीषहजय—तेषां क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि सुख-दुःख-जीवित-मरण-लाभालाभ-निन्दा-प्रशंसादि-समतारूपपरमसामायिकेन नवतरशुभाशुभकर्मसंवरण-चिरन्तनशुभाशुभकर्मनिर्जरणसमर्थनायं निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकारनित्यानन्दलक्षणसुखामृतसंवित्तेरचलनं स परीषहजयः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३५)।

भूख प्यास आदि की तीव्र वेदना के उदित होने पर भी सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ और निन्दा-प्रशंसा आदि में अतिशय समभावी बनकर नवीन कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा करते हुए निजात्मस्वरूप की भावनाजनित निर्विकार नित्यानन्दस्वरूप स्वानुभूति से चलायमान नहीं होने को परीषहजय कहते हैं।

परुष—परुषं रूक्षं स्नेहरहितं (निष्ठुरं) परपीडाकारि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६, पृ. १९६)।

जो वचन रूखा व स्नेह से रहित (निष्ठुर) होता हुआ दूसरे जीवों को कष्ट पहुंचाने वाला हो उसे परुष वचन कहा जाता है।

परुषदोष—खड्डे थेरे सेहे अमंबुहे दट्ठ कुणइ वा

पसं । ममकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परु-सेण । (भ. आ. ३८८) ।

स्वगण में रहते हुए आचार्य के द्वारा वृद्ध, स्थविर (वृद्ध), मार्ग से अनभिज्ञ और संयम से हीन साधुओं को देखकर ममत्वबुद्धि से कठोर वचन बोला जा सकता है तथा वे भी कठोर वचन का व्यवहार कर सकते हैं। इस प्रकार अपने संघ में रहते हुए आचार्य के समाधि का विरोधी वह परुषदोष सम्भव है, इसलिए आचार्य आराधना के लिए स्वगण को छोड़कर परगण में जाना ठीक समझते हैं।

परोक्ष—१. जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमट्ठेसु । (प्रव. सा. १–५८) । २. आद्ये परोक्षम् । (त. सू. १–११) । ३. कुतोऽस्य परोक्षत्वम् ? परायत्तत्वात् । ××× अतः पराणि इन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मति-श्रुतम् उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते । (स. सि. १–११) । ४. परतो पुण अक्खस्सा वट्टंतं होइ पारुक्खं ॥ (बृहत्क. २५); जं परतो आयत्तं तं परोक्खं हवइ सव्वं ॥ (बृहत्क. २६) । ५. अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विन्दिय-मणा परा तेणं । तेहिंतो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं वा ॥ (विशेषा. ६०) । ६. अक्खा इंदिय-मणा परा, तेसु जं णाणं तं परोक्खं, मति-श्रुते परोक्षमात्मनः परनिमित्तत्वात् अनुमानवत् । (नन्दी. चू. पृ. २२-२३)। ७. उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम् । उपात्तानुपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि परः (धव. 'परः' नास्ति), तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम् । यथा गतिशक्त्युपेतस्यापि स्वयमेव गन्तुमसमर्थस्य यष्ट्याद्यालम्बनप्राधान्यं गमनं तथा मति-श्रुतावरण-क्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वयमेवार्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात्तदुभयं (धव. 'तदुभयं' नास्ति) परोक्षमित्युच्यते । (त. वा. १, ११, ६; धव. पु. ९, पृ. १४३-४४) । ८. परोक्षं शेषविज्ञानम् ××× ॥ (लघीय. ३); इतरस्य (अविशदनिर्भासिनः) ज्ञानस्य परोक्षता । (लघीय. स्वो. विवृ. ३) । ९. परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि ××× ॥ (प्रमाणसं. २); व्यपेक्षातः तद्विधि-करणादि परापेक्षं परोक्षम् । (प्रमाणसं. स्वो. विव. ८७) । १०. परोक्षं पुद्गलमयेभ्य इन्द्रिय-मनोभ्यो यज्ज्ञानं रूपादिपदार्थपरिच्छेदनम् । (विशेषा. वृ. ९०, पृ. ४१) । ११. परैः इन्द्रियैरुक्षा—सम्बन्धनं यस्य ज्ञानस्य तत्परोक्षम् इन्द्रियादिनिमित्तमत्यादिः । (त. भा. हरि. वृ. १–१०); इन्द्रिय-मनोनिमित्तं विज्ञानं परोक्षम् । (त. भा. हरि. वृ. १–११) । १२. अक्षस्य आत्मनः द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते, पृथगित्यर्थः, तेभ्योऽक्षस्य यत् ज्ञानमुत्पद्यते तत्परोक्षम्, परनिमित्तत्वाद् धूमादिज्ञानवत्, अथवा परैरुक्षा—सम्बन्धनं विषय-विषयीभावलक्षणमस्येति परोक्षम् । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २७) । १३. ××× इतरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ (षड्दस. ५६, पृ. २२३) । १४. ××× पराणीन्द्रियाणि आलोकादिश्च, परेषामायत्तं ज्ञानं परोक्षम् । (धव. पु. १३, पृ. २१२) । १५. अक्षेभ्यो हि परावृत्तं परोक्षं श्रुतमिष्यते । (त. श्लो. १, ११, ७) । १६. परोक्षस्यावैशद्यं स्वरूपम् । (अष्टस. १५, पृ. १३२) । १७. परोक्षमविशद-ज्ञानात्मकम् । (प्रमाणप. पृ. ६६) । १८. पराणि च निर्माणाङ्गोपाङ्गोदयनिर्वृत्त्युपकरणरूपाणीन्द्रियाणि, मनश्च मनोवर्गणापरिणतिरूपं द्रव्येन्द्रियं परम्, तेभ्यो यदुपजायते ज्ञानं तन्निमित्तजं तत्परोक्षमुच्यते धूमादग्निज्ञानवत् । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–६) । १९. समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत् । पदार्थानां परिज्ञानं तत् परोक्षमुदाहृतम् । (त. सा. १–१६) । २०. यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात् परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत् परोक्षमित्यालक्ष्यते । (प्रव. सा, अमृत. १–५८)। २१. तस्मादन्तरङ्गमल-विश्लेषविशेषोदयनिबन्धनः कश्चिदस्पष्टत्वापरनामा स्वानुभववेद्यः प्रतिभासविशेष एव, तस्य परोक्षत्वम् । (प्रमाणनि. पृ. ३३) । २२. प्रतिपादितविशदस्वरूपविज्ञानाद्यदन्यदविशदस्वरूपं विज्ञानं तत्परोक्षम् । (प्र. क. मा. ३–१) । २३. अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम् । (सन्मति. अभय. वृ. २–१, पृ. ५६५; षड्द. स. वृ. ५५, पृ. २०९) । २४. परेभ्यः—अक्षापेक्षया पुद्गलमयत्वेन द्रव्येन्द्रिय-मनोभ्योऽक्षस्य जीवस्य यत्तत्परोक्षं निरुक्तवशादिति । आह च—अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदिय-मणा परा तेण । तेहिंतो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥

(स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७१) । २५. अस्पष्टं परोक्षम् ××× । (प्र. न. त. ३-१) । २६. इन्द्रिय-मनःपरोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूता-त्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्ति-रूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसंस्काराच्चान्तरंग-कारणभूतात् सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञानं तत्पराधीन-त्वात्परोक्षमित्युच्यते । (प्रव. सा. जय. वृ. १-५८)। २७. अक्षेभ्यः परतो वर्तते इति परेणेन्द्रियादिना चोक्ष्यत इति परोक्षम् । (प्रमाणमी. स्वो. वृ. १, १, १०); अविशदः परोक्षम् । (प्रमाणमी. १, २, १) । २८. द्रव्येन्द्रिय-मनांसि पुद्गलमयत्वात्पराणि, तेभ्यः पुनरक्षस्य वर्तमानं ज्ञानं भवति परोक्षम् । किमुक्तं भवति ? यदिन्द्रियद्वारेण मनोद्वारेण वा ऽऽत्मनो ज्ञानमुपजायते तत्परोक्षम् । ××× यदि वा परैर्द्रव्येन्द्रिय-मनोभिरक्षस्य सम्बन्धो यस्मिंस्तत्परो-क्षमिति व्युत्पत्तिः । (बृहत्क. मलय. वृ. २५) । २९. 'अशूङ् व्याप्तौ' अश्नुते—ज्ञानात्मना सर्वा-नर्थान् व्याप्नोतीत्यक्षः, यदि वा 'अश भोजने' अश्नाति—सर्वानर्थान् यथायोगं भुङ्क्ते पालयति वेत्यक्षो जीवः, उभयत्रापि 'मावावद्यमिकमिहनिक-व्यशी' त्यादिना उणादिकसप्रत्ययः, अक्षस्य—आत्मनो द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते, पृथग्वर्तन्त इति भावः, तेभ्यो यदक्षस्य ज्ञान-मुदयते तत्परोक्षम्, 'पृषोदरादयः' इति रूपनिष्पत्तिः, अथवा परैः इन्द्रियादिभिः सह उक्षा सम्बन्धो विषय-विषयिभावलक्षणो यस्मिन् ज्ञाने, न तु साक्षा-दात्मना, तत्परोक्षं धूमादग्निज्ञानवत् । ××× उक्तं च—अक्खस्स पोग्गलमया जं दव्वेंदियमणा परा होंति । तेहिंतो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥ (आव. नि. मलय. वृ. १, पृ. १३) । ३०. उपात्तानुपात्तपरप्रत्ययापेक्षं परोक्षम् । (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३६९) । ३१. शेषमवितथं ज्ञानं स्मृति-प्रत्यभिज्ञान-तर्कानुमानागमभेदभिन्नं परोक्षम् । (लघीय. अभय. वृ, पृ. १२) । ३२. अविशदप्रति-भासं परोक्षम् । (न्यायदी. पृ. ५१) । ३३. अक्षा-णां परम्—अक्षव्यापारनिरपेक्षं मनोव्यापारेणासा-क्षादर्थपरिच्छेदकं परोक्षमिति परशब्दसमानार्थेन 'परस्' शब्देन सिद्धम् । (षड्द. स. गु. वृ. ५५, पृ. २०४-५) । ३४. ××× मति-श्रुतज्ञानावरण-क्षयोपशमश्च परमुच्यते, तत्परं बाह्यनिमित्तमपेक्ष्य अक्षस्यात्मनः उत्पद्यते यत् ज्ञानद्वयं तत्परोक्षम् । (त. वृत्ति श्रुत. ११-१) । ३५. ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्यस्वरूपम् । (स.सत्. पृ. ४७) । ३६. अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तते इति परोक्षम्, अस्पष्टं ज्ञानमित्यर्थः । (जैनत. पृ. ११४) ।

१ जो पर से—इन्द्रिय, मन, परोपदेश एवं प्रकाश आदि के निमित्त से—पदार्थ का ज्ञान होता है उसे परोक्ष कहा जाता है । ४ अक्ष अर्थात् जीव के जो पर से—इन्द्रिय व मन के द्वारा—वर्तमान ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष कहलाता है । ५ अक्ष (जीव) की द्रव्य इन्द्रियां व मन चूंकि पुद्गलकृत हैं, अतएव वे पर हैं—उससे भिन्न हैं, उनसे जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है । जैसे—अनु-मान ज्ञान ।

परोक्ष-उपचारविनय—१. परोक्षेष्वप्याचार्यादि-ष्वंजलिक्रिया-गुणसंकीर्तनानुस्मरणाज्ञानुष्ठायित्वादिः काय-वाङ्मनोभिरवगन्तव्यः, राग-प्रहसन-विस्मरणै-रपि न कस्यापि पृष्ठमांसभक्षणं करणीयमेवमादिः परोक्षोपचारविनयः प्रत्येतव्यः । (चा. सा. पृ. ६५-६६) । २. ××× गुरुणा विणा वि आणाए । अणुवट्टिज्जए जं तं परोक्खविणओ त्ति वि-ण्णेओ ॥ (वसु. श्रा. ३३१) । ३. ज्ञान-विज्ञान-सत्कीर्तिर्नतिराज्ञानुवर्तनम् । परोक्षे गणनाथानां परोक्षप्रश्रयः परः ॥ (आचा. सा. ६-८२) ।

१ परोक्ष में अर्थात् आचार्यादि के सम्मुख न होने पर भी काय, वचन व मन से क्रमशः उन्हें हाथ जोड़ नमस्कार करने, गुणगान करने और उनकी आज्ञानुसार चलने को परोक्ष उपचारविनय कहते हैं ।

परोक्षदृष्टि—पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुण-पज्जएण संजुत्तं । जो ण य पेच्छदि सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥ (लि. सा. १६७) ।

जो अनेक गुणों और पर्यायों से संयुक्त मूर्त-अमूर्त एवं चेतन-अचेतन सब द्रव्यों को भले प्रकार (अथवा एक साथ) नहीं देखता है उसे परोक्षदृष्टि जानना चाहिए ।

परोक्षाभास—वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांस-कस्य करणज्ञानवत् । (परीक्षा. ६-७) ।

विशद प्रतिभास के होने पर भी उसे परोक्ष मानना

इसे परोक्षाभास कहा जाता है। जैसे—मीमांसक के यहां करणज्ञान।

परोपरोधाकरण—१. परेषामुपरोधाकरणम्। (स. सि. ७-६; त. वा. ७-६)। २. स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्यादुपलम्भितम्। परोपरोधाकरण-माहुः सूत्रविशारदाः॥ तत्स्वामिनमनापृच्छ्य स्यातव्यं न गृहिव्रतैः। स्यातव्यं च तमापृच्छ्य दीयमानं तदाज्ञया॥ (लाटीसं. ६, ४१-४२)।

१ दूसरों के ठहरने में बाधक न होना, अथवा दूसरों से ठहरने का आग्रह न करना, यह परोपरोधाकरण नाम की अचौर्यव्रत की भावना है। २ जो वसति (स्थान) आदि स्वामीरूप से दूसरों के द्वारा रोकी गई है, अणुव्रती श्रावक वहां स्वामी से पूछ कर ठहर सकते हैं, उसकी आज्ञा के बिना वहां न ठहरना, यह परोपरोधाकरण भावना है।

पर्यङ्कासन—१. स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति। पर्यंको नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः॥ (योगशा. ४-१२५)। २. वामान्तर्गुल्फवामस्य गुल्फो बाह्यः स्थितस्तयोः। पादयोरूरुमूलस्थं पल्यङ्के पार्ष्णियुग्मकम्॥ गुल्फस्योत्तानवामस्योत्तानावामकरः समः। पल्यङ्केऽत्रासने स्याच्चेत् कायोत्सर्गः सुसौष्ठवः॥ (आचा. सा. ६, ८५-८६)। ३. ××× उत्तराधरे। ते पर्यङ्कासनं ×××॥ (अन. ध. ८-८३)। ४. अन्तर्दक्षिणजंघोर्वोर्वामांह्रि यत्र निक्षिपेत्। दक्षिणं वामजंघोर्वोस्तत्पर्यंकासनं मतम्। (चैत्यवन्दन भा. वृ. १२ उद्.)।

१ दोनों जांघों के नीचे के भाग को पांवों के ऊपर करके नाभि के पास वाम हथेली के ऊपर दक्षिण हथेली के रखने पर पर्यंकासन होता है।

पर्याप्त, पर्याप्तक—१. षड्भिराहारादिपर्याप्तिभिर्ये पर्याप्तास्ते पर्याप्तकाः। (श्राव. नि. हरि. वृ. १५)। २. पर्याप्तकर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः। (धव. पु. १, पृ. २५३-५४); पर्याप्तनामकर्मोदय-जनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः पर्याप्ताः। (धव. पु. १, पृ. २६७); पज्जत्तणामकम्मोदयवंतो जीवा पज्जत्ता। (धव. पु. ३, पृ. ३३१); पज्जत्तणामकम्मोदयं पडुच्च पज्जत्ता। (धव. पु. ६, पृ. ४१६)। ३. स्वजात्युचितपर्याप्तिलब्धियोग्याः पर्याप्तकाः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-६)। ४. पर्याप्तनामकर्मोदयाज्जिताः पर्याप्ताः ये (पृथिव्यादयः) हि यतः स्वपर्याप्तीः पूरयन्तीति। एताः (आहारादयः) पर्याप्तयः पर्याप्तनामकर्मोदयेन निर्वर्त्यन्ते, तद् येषामस्ति ते पर्याप्तकाः। (स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७३)। ५. पर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते पर्याप्ताः। (पंचसं. मलय. वृ. १-५; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४८; षडशीति दे. स्वो. वृ. २, पृ. ११७)। ६. शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ताः, मतान्तरेण सर्वस्वयोग्यपर्याप्तिपर्याप्ताः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २००)। ७. पर्याप्तनामकर्मण उदये सति जीवः निज-निजपर्याप्तिभिः स्व-स्वयोग्यपर्याप्तिभिः, निष्ठितः निष्पन्नः पर्याप्तो भवति। शरीरपर्याप्तिनिष्पत्तिसमयादारभ्य इन्द्रियानपान-भाषा-मनःपर्याप्तीनां निष्पत्त्यभावेऽपि जीवः पर्याप्तक एव। (गो. जी. जी. प्र. १२१)। ८. पर्याप्तयः स्वयोग्या यैः सकलाः साधिताः सुखम्। पर्याप्तनामकर्मानुभावात् पर्याप्तकास्तु ते॥ (लोकप्र. ३-८)।

१ जो जीव आहारादि छह पर्याप्तियों से परिपूर्ण हो चुके हैं वे पर्याप्त या पर्याप्तक कहलाते हैं। २ जो पर्याप्तनामकर्म के उदय से युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहा जाता है। ३ जो अपनी जाति के योग्य पर्याप्तियों की प्राप्ति के योग्य हैं उन्हें पर्याप्तक जानना चाहिए।

पर्याप्तनाम, पर्याप्तकनाम—देखो पर्याप्तिनाम। १. पर्याप्तकनाम यदुदयादिन्द्रियादिनिष्पत्तिर्भवति। (श्रा. प्र. टी. २२)। २. जस्स कम्मस्स उदएण जीवो पज्जत्तो होदि तस्स कम्मस्स पज्जत्तेत्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६२); जस्स कम्मस्सुदएण जीवा पज्जत्ता होंति तं कम्मं पज्जत्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ३. एता यथास्वमेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-संज्ञिपंचेन्द्रियाणां चतुष्पंच-षट्संख्याः पर्याप्तयो यस्योदयाद् भवन्ति तत्पर्याप्तकं नाम। तद्विपाकवेद्यं कर्मापि पर्याप्तकनाम। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ५०; कर्मस्त. गो. वृ. ६-१०, पृ. ८७)। ४. यदुदये जीवः स्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः परिपूर्णो भवति तत्पर्याप्तनाम। (कर्मवि. ग. पू. व्या. ७३)। ५. पर्याप्तकनाम यदुदयात् सर्वपर्याप्तिनिष्पत्तिर्भवति। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१६)। ६. पर्याप्तकनाम यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थो

भवति । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २१-२९३, पृ. ४७४; पंचसं. मलय. वृ. ३-८; सप्तति. मलय. वृ. ६; प्रव. सारो. वृ. १२७२; कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ७) । ७. यदुदयात् स्वपर्याप्तियुक्ता भवन्ति जीवास्तत्पर्याप्तनाम । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४८) ।

१ जिसके उदय से इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति होती है उसे पर्याप्तक नामकर्म कहते हैं । २ जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्त होता है वह पर्याप्त नामकर्म कहलाता है । ३ जिसके उदय से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के यथायोग्य चार, पांच और छह पर्याप्तियां होती हैं उसे पर्याप्तक नामकर्म कहा जाता है ।

पर्याप्ता भाषा—१. पर्याप्ता या एकपक्षे निक्षिप्यते सत्या वा मृषा वेति तद्व्यवहारसाधनी । (दशवै. नि. हरि. वृ. ७-२७८, पृ. २१०) । २. अवहारेउं सक्कइ पज्जत्त × × × । (भाषार. १६, पृ. ७); तत्रावधारयितुं शक्यते या सा पर्याप्ता × × × तदुक्तं वाक्यशुद्धिचूर्णौ—पज्जत्तिगा णाम जा अवहारेतुं सक्कइ जहा सच्चा मोसा वा एसा पज्जत्तिगा । (भाषार. टी. १६, पृ. ७) ।

१ जिस भाषा का निक्षेप सत्य या असत्य में से किसी एक पक्ष में किया जाता है, व्यवहार की साधनभूत उस भाषा को पर्याप्ता भाषा कहते हैं ।

पर्याप्ति—१. पर्याप्तिः क्रियापरिसमाप्तिः आत्मनः । (त. भा. ८-१२) । २. इह पर्याप्तिर्नाम शक्तिः, सा च पुद्गलद्रव्योपचयादुत्पद्यते । × × × तत्र पर्याप्तिः क्रियापरिसमाप्तिः । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४३) । ३. आहार-शरीरेन्द्रियानापान-भाषा-मनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः । (धव. पु. १, पृ. २५६); अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते । (धव. पु. १, पृ. २५७) । ४. पर्याप्तिः पुद्गलरूपात्मनः कर्तुः करणविशेषः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२) । ५. आहार-सरीरिंदिय-णिस्सासुस्सास-भास-मणसाणं । परिणइवावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ ॥ तस्सेव कारणाणं पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ती । सा पज्जत्ती भण्णदि छब्भेया जिणवरिंदेहिं ॥ (कार्तिके. १३४-३५) । ६. यतो हि शरीरेन्द्रियादिनिष्पत्तिः सा पर्याप्तिः । (न्यायकु. ७६, पृ. ८५२) । ७. पर्याप्तीराहारादिकारणसम्पूर्णताः । (मूला. वृ. १२-१); पर्याप्तयः आहारादिकारणनिष्पत्तयः । (मूला. वृ. १२-२); पर्याप्तयः सम्पूर्णताहेतवः । (मूला. वृ. १२-४) । ८. इह च पर्याप्तिर्नाम शक्तिः सामर्थ्यविशेषः, सा च पुद्गलद्रव्योपचयाद् वर्तते । (स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७३) । ९. आहार-सरीरिंदिय-ऊसास-वउ-मणोऽभिनिव्वित्ती । होइ जओ दलिआओ करणं पइ सा उ पज्जत्ती ॥ (संग्रहणी. २६९) । १०. पर्याप्तिराहारादिपुद्गलदलिकग्रहण-परिणमनहेतुः पुद्गलोपचयजः शक्तिविशेषः । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८७) । ११. पर्याप्तिः स्वविषयग्रहणसामर्थ्यलक्षणा । (आव. नि. मलय. वृ. ८३१ [अन्यदीया १६ अ.] पृ. ४५१) । १२. पर्याप्तिर्नामाहारादिपुद्गलग्रहण-परिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः । स च पुद्गलोपचयादुपजायते । किमुक्तं भवति ? उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमं ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां तथाऽन्येषामपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्संपर्कतस्तद्रूपतया जातानां यः शक्तिविशेषः आहारादिपुद्गलखल-रसरूपतापादनहेतुः । यथोदरान्तर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलखल-रसरूपतापरिणमनहेतुः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१२; जीवाजी. मलय. वृ. १-१२; पंचसं. मलय. वृ. १-५) । १३. पर्याप्तिर्नाम पुद्गलोपचयजः पुद्गलग्रहण-परिणमनहेतुः शक्तिविशेषः । (षडशी. मलय. वृ. ३, कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४८, पृ. ५५; षडशी. दे. स्वो. वृ. २) । १४. पर्याप्तिराहारादिपुद्गलग्रहण-परिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः । (सप्तति. मलय. वृ. ६; प्रव. सारो. वृ. १३१७; संग्रहणी. दे. वृ. २६८; विचा. स. वृ. ४३, पृ. ९) । १५. पर्याप्ता व्यपदिश्यन्ते याभिः पर्याप्तयस्तु ताः । (लोकप्र. ३-७); याऽऽहारादिपुद्गलानामादान-परिणामयोः । जन्तोः पर्याप्तिनामोत्था शक्तिः पर्याप्तिरत्र सा ॥ (लोकप्र. ३-१५) ।

१ अपनी क्रिया की समाप्ति का नाम पर्याप्ति है । २ पर्याप्ति उस शक्ति का नाम है जो पुद्गलद्रव्य के उपचय से उत्पन्न होती है । ३ आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा और मन की शक्तियों की उत्पत्ति का जो कारण है उसे पर्याप्ति कहते हैं । अथवा इन्द्रियादि में स्थित जीवनहेतुता की अपेक्षा न करके शक्ति की निष्पत्तिमात्र को पर्याप्ति जानना चाहिए ।

पर्याप्तिनामकर्म—देखो पर्याप्तनाम। १. यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिः तत्पर्याप्तिनाम। (स. सि. ८-११; त. श्लो. ८-११; मूला. वृ. १२-१९५)। २. पर्याप्तिनिर्वर्तकं पर्याप्तिनाम। (त. भा. ८, १२)। ३. यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिस्तत्पर्याप्तिनाम। यस्योदयात् आहारादिपर्याप्तिभिरात्मा अन्तर्मुहूर्तं पर्याप्ति प्राप्नोति तत्पर्याप्तिनाम। (त. वा. ८, ११, ३१)। ४. पर्याप्तिः पुद्गलरूपा आत्मनः कर्तुः करणविशेषः येन कर्मविशेषेणाहारादिग्रहणसामर्थ्यमात्मनो निष्पद्यते, तच्च करणं यैः पुद्गलैर्निर्वर्त्यते ते पुद्गला आत्मनात्तास्तथाविधपरिणतिभाजः पर्याप्तिशब्देनोच्यन्ते। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ५. एयासिं (पज्जत्तीणं) निप्फत्ती उदएणं जस्स होइ कम्मस्स। तं पज्जत्तं नामं इयरुदये नत्थि निप्फत्ती॥ (कर्मवि. ग. १३७)। ६. षड्विधपर्याप्तिहेतुर्यत्कर्म तत्पर्याप्तिनाम। (मूला. वृ. १२–१९६)। ७. पर्याप्तकनाम—यदुदयवशात् स्वयोग्यपर्याप्तिनिर्वर्तनसमर्थो भवति तत्पर्याप्तिनाम—आहारादिपुद्गलग्रहण-परिणमनहेतुरात्मनः शक्तिविशेषः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४७४)। ८. आहारादिपर्याप्तिनिर्वर्तकं पर्याप्ताख्यं नामकर्म। (भ. आ. मूला. २१२१)।

१ जिस कर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है उसे पर्याप्तिनामकर्म कहते हैं। २ पर्याप्तियों के उत्पादक कर्म को पर्याप्तिनामकर्म कहा जाता है।

पर्याय—१. भावान्तरं संज्ञान्तरं च पर्यायः। (त. भा. ५-३७)। २. तस्य (द्रव्यस्य) मिथो भवनं प्रति विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वादर्पितव्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः। (त. वा. १, २९, ४); परि समन्तादायः पर्यायः। (त. वा. १, ३३, १)। ३. क्रमवर्तिनः पर्यायाः। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ९७८)। ४. परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः। (धव. पु. १, पृ. ८४); जं पुण कमेण उप्पाद-ट्ठिदि-भंगिल्लं सो पज्जाओ। (धव. पु. ४, पृ. ३३७)। ५. परि भेदं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदम् एति गच्छतीति पर्यायः। (जयध. १, पृ. २१७)। ६. उत्पाद-विनाशलक्षणः पर्यायः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-३०); पर्यायो भेदो विनाशलक्षणः × × × पर्यायो हि विनाशपर्यायः, यथा प्राप्तपर्यायो देवदत्त इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-३१, पृ. ४०१); अयुगपदवस्थायिनः पर्यायः, वस्तुतः पर्याया गुणा इत्यैकात्म्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-३७)। ७. × × × विसेसरूवो हवेइ पज्जावो। (कार्तिके. २४०)। ८. अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनो × × × व्यतिरेकिणः पर्यायाः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०)। ९. गुणविकाराः पर्यायाः। (आलापप. पृ. १३४); क्रमवर्तिनः पर्यायाः। (आलापप. पृ. १४०); स्वभाव-विभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः। (आलापप. पृ. १४०-४१)। १०. पर्यायाः क्रमभाविनः सुख-दुःखादयः (जीवस्य), शिवकादयश्च (पुद्गलस्य)। (सिद्धिवि. वृ. ३-२०, पृ. २१३, पं. १); भेदात्मकाः पर्यायाः × × × पर्यायाः परिणामाः। (सिद्धिवि. वि. १०-१, पृ. ६६२)। ११. एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्ष-विषादादिवत्। (परीक्षा. ४-८)। १२. क्रमभुवो विवर्ताः पर्यायाः। (न्यायकु. १-५, पृ. ११७)। १३. पर्यायाश्च क्रमभाविनः चेतनस्य सुख-दुःखादयः, अचेतनस्य कोश-कुशूलादयः। (न्यायवि. वि. १-११५, पृ. ४२८)। १४. × × × तद्विशेषास्तु पर्यायाः। (आचा. सा. ३-८); एकस्य वस्तुनो भावाः पर्यायाः क्रमभाविनः। तोष-रोषादयो भावा जीवे वा क्रमभाविनः॥ (आचा. सा. ४-६)। १५. पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा तत्रैव सुख-दुःखादिः। (प्र. न. त. ५-८)। १६. पर्याया मृदादेरन्वयिनो द्रव्यस्य क्रमेण प्रतिक्षणभवनादिक्रियाभिसम्बन्धाः। (धर्मसं. मलय. वृ. ३३८)। १७. ये तु क्रमवृत्तयः सुख-दुःख-हर्ष-विषादादयः ते पर्यायाः। (रत्नाकरा. ५-८, पृ. ८२); पर्येत्युत्पाद-विनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः। (रत्नाकरा. ७-५)। १८. पर्यायः स्वाभाविक औपाधिको वा फलानां पाकपरिणामः। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८३९)। १९. स्वभाव-विभावपर्यायरूपतया परि समन्तात् परिप्राप्नुवन्ति परिगच्छन्ति ये ते पर्यायाः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-३८)। २०. क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः। उत्पाद-व्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथंचिच्च॥ (पंचाध्या. १-१६५); अंशाः पर्याया इति × × ×। (पंचाध्या. १-५१९)। २१. × × × पर्यायो नयगो-

चरः। (प्रमाल. ३६५)। २२. गुणविकाराः पर्यायाः। (नयप्र. पृ. ६८); पर्येति उत्पादमुत्पत्तिं विपत्तिं च प्राप्नोतीति पर्यायः। ××× क्रमभाविनः पर्यायास्त्वात्मनः यथा सुख-दुःख-शोक-हर्षादयः। (नयप्र. पृ. ६६)। २३. क्रमभावी यथावद्द्रव्यभावी पर्यायः। ××× पर्यायः क्रमभावी। (द्रव्यानु. त. पृ. १२)।

१ इन्द्रन व शकनादि क्रियारूप भावान्तरों तथा इन्द्र व शक्र आदि संज्ञान्तरों को पर्याय कहा जाता है। २ उपात्तहेतुक—द्रव्य-क्षेत्रादि के निमित्त से होने वाले औदयिकादि भाव—तथा अनुपात्तहेतुक—स्वाभाविक चैतन्य आदि—जो धर्म एक साथ रहने में विरोधी भी हैं व अविरोधी भी हैं, उनकी विवक्षित व्यवहार की विषयभूत—व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन नयों स्वरूप—अवस्थाविशेष को पर्याय कहते हैं।

पर्यायच्छेद—तवभूमिमदिक्कंतो मूलट्ठाणं च जो ण संपत्तो। से परियायच्छेदो पायच्छित्तं समुद्दिट्ठं॥ (छेदपिण्ड २४३)।

तपोभूमि को छोड़ता हुआ जो मूल स्थान को प्राप्त नहीं होता है—पुनः दीक्षा को नहीं ग्रहण कर लेता है—उसको पर्यायच्छेद प्रायश्चित्त निर्दिष्ट किया गया है।

पर्यायज्ञान—१. खरणाभावा अक्खरं केवलणाणं, तस्स अणंतिमभागो पज्जाओ णाम मदिणाणं। तं च केवलणाणं व णिरावरणमक्खरं च। एदम्हादो सुहुमणिगोदलद्धिअक्खरादो जमुप्पज्जइ सुदणाणं तं पि पज्जाओ उच्चदि। (धव. पु. ६, पृ. २१-२२); लद्धिअक्खरे सव्वजीवरासिणा भागे हिदे लद्धं सव्वजीवरासीदो अणंतगुणं णाणाविभागपडिच्छेदेहि होदि। एदम्हि पक्खेवे लद्धिअक्खरम्हि पडिरासिदम्हि पक्खित्ते पज्जयणाणपमाणमुप्पज्जदि। (धव. पु. १३, पु. २६३)। २. पर्यायो ज्ञानस्यांशोऽविभागपलिच्छेद इत्यनर्थान्तरम्, (कर्मवि. 'शो विभागः पलिच्छेद इति पर्यायः') तत्रैको ज्ञानांशः पर्यायः, अनेके तु ज्ञानांशाः पर्यायसमासः। एतदुक्तं भवति—लब्ध्यपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत्सर्वजघन्यं श्रुतज्ञानमात्रं तस्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकः श्रुतज्ञानांशोऽविभागपलिच्छेदरूपो वर्तते स पर्यायः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४२; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)। ३. तत्र पर्यायो लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोतस्य प्रथमसमयजातस्य प्रवृत्तं सर्वजघन्यं ज्ञानम्, तद्धि लब्ध्यक्षराभिधानमक्षरश्रुतानन्तपरिमाणत्वात् सर्वज्ञानेभ्यो जघन्यं नित्योद्घाटं निरावरणं च। न हि तावतस्तस्य कदाचनाप्यभावो भवत्यात्मनोऽप्यभावप्रसङ्गादुपयोगलक्षणत्वात्तस्य। (अन. ध. ६-६)।

१ केवलज्ञान के समान निरावरण और अविनश्वर ऐसे सूक्ष्म निगोदजीव के लब्ध्यक्षररूप सर्वजघन्य मतिज्ञान से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह भी उक्त मतिज्ञान के समान पर्यायज्ञान कहलाता है। २ पर्याय, ज्ञान का अंश और अविभागप्रतिच्छेद ये समानार्थक हैं। सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त जीव के जो सबसे जघन्य श्रुतज्ञान मात्र होता है उसकी अपेक्षा दूसरे जीव में जो एक अविभागप्रतिच्छेदरूप श्रुतज्ञान का अंश होता है उसे पर्यायज्ञान कहा जाता है।

पर्यायज्ञानावरणीय—पज्जयसण्णिदस्स णाणस्स जमावरणं तं पज्जयणाणावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७७)।

१ जो कर्म पर्याय नामक ज्ञान को आच्छादित करता है उसे पर्यायज्ञानावरणीय कहते हैं।

पर्यायलोक—१. दव्वगुण-खेत्तपज्जय भावाणुभावो य भावपरिणामो। जाण चउव्विहमेयं पज्जयलोगं समासेण॥ (मूला. ७-५४)। २. दव्वगुणखित्तपज्जवभवाणुभावे अ भावपरिणामे। जाण चउव्विहमेअं पज्जवलोगं समासेण॥ वन्न-रस-गंध-संठाण-फास-ठाण-गइ-वन्नभेए अ। परिणामे ए बहुविहे पज्जवलोगं विआणाहि। (आव. भा. २०२-३, पृ. ४६६ हरि. वृ.)।

१ द्रव्यगुण, क्षेत्रपर्याय, भावानुभाव (भवानुभाव) और भावपरिणाम; इस प्रकार से पर्यायलोक संक्षेप में चार प्रकार का है। इनमें ज्ञान-दर्शन आदि तथा कृष्ण-नीलादि द्रव्यगुण अनेक हैं, सातवीं पृथिवी के प्रदेश व पूर्वापर विदेहादि को क्षेत्रपर्याय जानना चाहिए, आयु के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विकल्परूप भवानुभव है; जो भाव (परिणाम) कर्म के उपार्जन व उसकी निर्जरा का कारण होता है उसे भावपरिणाम कहा गया है। २ द्रव्य के गुणों—जैसे रूपादि, क्षेत्र की पर्यायों—

जैसे अगुरुलघु और भरतक्षेत्रादि भेद, नारक आदि भव के तीव्रतमादि दुःखों और जीवाजीवादि सम्बन्धी परिणामों रूप चार प्रकार का पर्यायलोक जानना चाहिए। इनमें से द्रव्य के गुण वर्ण, रस, गन्ध, संस्थान, स्पर्श, स्थान, गति व वर्णभेद (कृष्णादि) आदि हैं। परिणाम (चतुर्थ भेद) बहुत प्रकार के हैं। इन्हें पर्यायलोक जानना चाहिए।

पर्यायसमास—१. तदो (पज्जयणाणादो) अणंत-भागब्भहियं सुदणाणं पज्जयसमासो उच्चइ। अणंत-भागवड्ढी असंखेज्जभागवड्ढी संखेज्जभागवड्ढी संखेज्जगुणवड्ढी असंखेज्जगुणवड्ढी अणंतगुणवड्ढि त्ति एसा एक्का छवड्ढी। एरिसाओ असंखेज्जलोग-मेत्तीओ छवड्ढीओ गंतूण पज्जयसमाससुदणाणस्स अपच्छिमो वियप्पो होदि। (धव. पु. ६, पृ. २२); पुणो पज्जयणाणे सव्वजीवरासिणा भागे हिदे जं भागलद्धं तम्मि तत्थेव पज्जयणाणे पडिरासिदे पक्खित्ते पज्जयसमासणाणमुप्पज्जदि। पुणो एदस्सुवरि भावविहाणकमेण अणंतभागवड्ढि-असंखेज्जभागवड्ढि-संखेज्जभागवड्ढि-संखेज्जगुणवड्ढि-असंखेज्ज-गुणवड्ढि-अणंतगुणवड्ढिकमेण पज्जयसमासणाणट्ठाणाणि णिरंतरं गच्छंति जाव असंखेज्जलोगमेत्त-पज्जयसमासणाणट्ठाणाणं दुचरिमट्ठाणे त्ति। पुणो एदस्सुवरि एगपक्खेवे वड्ढिदे चरिमं पज्जयसमास-णाणट्ठाणं होदि। ××× णाणाविभागपडिच्छेद-पक्खेवो पज्जओ णाम। तस्स समासो जेसु णाणट्ठाणेसु अत्थि तेसिं णाणट्ठाणाणं पज्जयसमासो त्ति सण्णा। (धव. पु. १३, पृ. २६३–६४)। २. अनेके तु ज्ञानांशाः पर्यायसमासः। ××× ये बुद्ध्यादयः [द्व्यादयः] श्रुतज्ञानाविभागपलिच्छेदा नाना-जीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते ते समुदिताः पर्यायसमासः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४२; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)। ३. तदेव ज्ञानमनन्तासंख्येय-संख्येय-भागवृद्ध्या संख्येयासंख्येयानन्तगुणवृद्ध्या च वर्द्ध-मानमसंख्येयलोकपरिमाणं प्रागक्षरश्रुतज्ञानात् पर्याय-समासोऽभिधीयते। (अन. ध. स्वो. टी. ३–६)।

१ पर्यायज्ञान की अपेक्षा अनन्तवें भाग से अधिक श्रुत ज्ञान पर्यायसमास कहलाता है। अनन्तभागवृद्धि, असं-ख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धियां हैं। ऐसी छह वृद्धियों के असंख्यात लोक प्रमाण हो जाने पर उक्त पर्यायसमास ज्ञान का अन्तिम विकल्प होता है। २ सूक्ष्म निगोदजीव के सर्वजघन्य श्रुतज्ञान के आगे उसके जो दो आदि अविभागप्रतिच्छेद नाना जीवों में वृद्धिगत पाये जाते हैं वे सब पर्यायसमासज्ञान कहलाते हैं।

पर्यायसमासज्ञानावरणीय— पज्जयसमाससण्णि-दस्स जमावरणं तं पज्जयसमासणाणावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७७)।

जो कर्म पर्यायसमास श्रुतज्ञान को आवृत करता है उसका नाम पर्यायसमासज्ञानावरणीय है।

पर्यायस्थविर—१. पर्यायस्थविरो यस्य दीक्षितस्य विंशत्यादीनि वर्षाणि। (योगशा. स्वो. विव. ४, ६०)। २. विंशतिवर्षपर्यायः पर्यायस्थविरः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०–४६)।

१ जिसे दीक्षा लिये हुए २० आदि वर्ष हो गये हैं उस साधु को पर्यायस्थविर कहते हैं।

पर्यायाम—१. ××× अविपक्करसं तु पलियामं॥ (बृहत्क. ८४०)। २. पर्यायः स्वाभाविक औपाधिको वा फलानां पाकपरिणामः, तस्मिन् प्राप्तेऽपि यदामं तत् पर्यायामम्। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८३९); पर्यायामं पुनरविपक्वरसं फलादिकमुच्यते। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८४०)।

२ फलों के स्वाभाविक अथवा औपाधिक (पाल में रखने रूप) पाकपरिणाम का नाम पर्याय है, उसके प्राप्त होने पर भी जो फल कच्चा बना रहता है उसे पर्यायाम कहा जाता है।

पर्यायार्थिक—देखो पर्यायास्तिक। १. पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः। (स. सि. १–६)। २. पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवनं न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति, तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति पर्यायास्तिकः। अथवा ××× पर्याय एवार्थोऽस्य रूपाद्युत्क्षेपणादिलक्षणो न ततोऽन्यद् द्रव्यमिति पर्यायार्थिकः। अथवा ××× परि समन्तादायः पर्यायः, पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यमतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् स एवैकः कार्य-कारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः। अथवा ××× पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्य वाग्विज्ञानव्यावृत्तिनिबन्धनव्यवहारप्रसिद्धेरिति पर्यायार्थिकः। (त. वा. १, ३३, १)। ३. परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजन-

मस्येति पर्यायार्थिकः। (धव. पु. १, पृ. ८४); ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। × × × ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकसमयाद् वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति यावत्। (धव. पु. १, पृ. ८५); एष एव सदादिरविभागप्रतिच्छेदनपर्यन्तः संग्रहप्रस्तारः क्षणिकत्वेन विवक्षितः वाचकभेदेन च भेदमापन्नः विशेषप्रस्तारः पर्यायः, पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। (धव. पु. ६, पृ. १७०)। ४. जो साहेदि विसेसे बहुविहसामण्णसंजुदे सव्वे। साहणलिंगवसादो पज्जयविसम्रो णम्रो होदि। (कार्तिके. २७०)। ५. पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। (आलापप. पृ. १४५)। ६. व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः। पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिको मतः॥ (त. सा. १–४०)। ७. तौ (द्रव्य-पर्यायौ) एव अर्थौ, तौ यथासंख्येन विद्येते ययोः तौ तथोक्तौ (द्रव्य-पर्यायार्थिकौ)। (न्यायकु. ६७, पृ. ७८५)। ८. पर्याय एवार्थो यस्यास्त्यसौ पर्यायार्थिकः। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६७६)। ९. पर्यायो विशेषो भेदो व्यतिरेकोऽपवादोऽर्थो विषयो येषां ते पर्यायार्थिका इति निरुक्तेः। (लघीय. अभय. वृ. पृ. ५१)। १०. पर्येत्युत्पाद-विनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः, स एवार्थः, सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः। (रत्नाकरा. ७–५)। ११. पर्यायः विशेषः अपवादो व्यावृत्तिरिति यावत्, पर्यायो अर्थो विषयो यस्य स पर्यायार्थिकः। (त. वृत्ति श्रुत. १–३३)। १२. अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः। अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च॥ (पंचाध्या. १–५१९)। १३. प्राधान्येन पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः। (जैनत. पृ. १२७)। १४. पर्यायमात्रग्राही पर्यायार्थिकः, अयं ह्युत्पाद-विनाश-पर्यायमात्राभ्युपगमप्रवणः। (नयर. पृ. ८०)।

१ जिस नय का प्रयोजन पर्याय है अर्थात् जो पर्याय को विषय करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। ३ ऋजुसूत्र नय के वचन के विच्छेद से लेकर एक समय पर्यन्त वस्तु की स्थिति का निश्चय कराने वाले नय पर्यायार्थिकनय कहलाते हैं।

पर्यायास्तिक—देखो पर्यायार्थिक। १. पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवनं न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति, तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति पर्यायास्तिकः। (त. वा. १, ३३, १)। २. परि समन्तात् अवनम् अवः—पर्यवो विशेषः तज्ज्ञाता वक्ता वा, नयनं नयः नीतिः पर्यवनयः। अत्र छन्दभंगभयात् 'पर्यायास्तिक' इति वक्तव्ये पर्यवनयः इत्युक्तम्। तेनात्रापि पर्याय एव 'अस्ति' इति मतिरस्येति द्रव्यास्तिकवत् व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या। (सम्मति. अभय. वृ. ३, पृ. २७१)।

१ जिस नय की दृष्टि में केवल पर्याय ही है उसे पर्यायास्तिक नय कहा जाता है। कारण यह कि जन्मादिरूप पदार्थके विकार को छोड़कर उससे भिन्न द्रव्य है ही नहीं। २ पर्याय का जो ज्ञाता अथवा प्ररूपक है उसे पर्यायास्तिक नय कहते हैं।

पर्युषणकल्प—१. पज्जोसवणाकप्पोऽपेवं पुरिमेयराइभेएणं। उक्कोसेयरभेम्रो सो णवरं होइ विण्णेम्रो। चाउम्मासुक्कोसो सत्तरि राइंदिया जहण्णो उ। थेराण जिणाणं पुण णियमा उक्कोसम्रो चेव। (पंचाश. १७, ८३२–३३)। २. पज्जो समणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। स्थावर-जंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिः, तदा भ्रमणे महानसंयमः, वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना। पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यते इति विंशत्यधिकं दिवसशतमेकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वावस्थानम्, संयतानाम्, आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं वृष्टिबहुलतां श्रुतग्रहणं शक्त्यभावं वैयावृत्त्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः। मार्यां दुर्भिक्षे ग्राम-जनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति, अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा, एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशमः स्थितिकल्पः। (भ. आ. विजयो. व मूला. ४२१, पृ. ६१६)।

२ वर्षाकाल के चार मासों में अन्यत्र गमन न करके एक ही स्थान में रहना, यह पर्युषण नाम का दसवां स्थितिकल्प है। अन्यत्र गमन न करने का कारण यह है कि वर्षाकाल में पृथिवी स्थावर और त्रस जीवों से व्याप्त हो जाती है, जिससे अन्यत्र जाने में प्राणिविघात होने के कारण महान् असंयम होने

जाता है, वृष्टि के साथ ठण्डी वायु के चलने से आत्मा की विराधना सम्भव है, बावड़ी आदि में पतन भी हो सकता है, जल और कीचड़ से आच्छादित ठूंठ और कांटों आदि की बाधा भी हो सकती है। इसलिए वर्षाकाल में सामान्य से एक सौ बीस (१२०) दिन एक ही स्थान पर रहने का विधान है। यह उत्सर्ग-मार्ग है। अपवाद रूप में अन्यान्य कारणों के उपस्थित होने पर उसमें हीनाधिकता भी सम्भव है। यथा—विशेष कारणवश आषाढ़ की पौर्णमासी में स्थित हुए साधु कार्तिक मास की पौर्णमासी के आगे भी तीस दिन तक एक ही स्थान में रह सकते हैं, वृष्टि की अधिकता, आगम के अभ्यास, शक्ति के अभाव और वैयावृत्त्य करने के प्रयोजन से अधिक भी रहा जा सकता है। यह उत्कृष्ट काल है। गच्छ के विनाश के कारणभूत मारी (प्लेग आदि संक्रामक रोग), दुर्भिक्ष, गांव व जनपद के चलने तथा गच्छनाश के अन्य कारण के उपस्थित होने पर बीच में भी देशान्तर चले जाने का विधान है। कारण यह है कि ऐसे कारणों के उपस्थित होने पर वहां रहने में रत्नत्रय की विराधना हो सकती है। पौर्णमासी के बीत जाने पर प्रतिपदा आदि दिनों में गमन किया जा सकता है।

पर्व (तिथिविशेष)—१. पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः पूरणात्पर्व धर्मोपचयहेतुत्वादिति। ××× आहारादिनिवृत्तिनिमित्तं धर्मपूरणं पर्वेति भावना। (श्रा. प्र. टी. ३२१)। २. अट्ठमी चउद्दसी पुण्णिमा य तह मावसा हवई पव्वं। मासम्मि पव्वछक्कं तिन्नि य पव्वाइं पक्खम्मि॥ (पाइयसद्दमहण्णवो—'पव्व' शब्द)।

१ 'पूरणात् पर्व' इस निरुक्ति के अनुसार धर्मसंचय की कारणभूत अष्टमी आदि विशेष तिथियों को पर्व कहते हैं। २ अष्टमी, चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या ये पर्व माने गये हैं, जो मास में छह और पक्ष में तीन होते हैं।

पर्व (कालमान) — १. पुणो एदाणि (७०५६०००००००००) एगपुव्ववस्साणि ठुवेदूण लक्खगुणिदेण चउरासीदिवग्गेण गुणिदे पव्वं होदि। (धव. पु. १३, पृ. ३००)। २. पूर्वाङ्गं तु [तदभ्य-स्तमशीत्या चतुरग्रया॥ तत्तद्गुणं च पूर्वाङ्गं पूर्व भवति निश्चितम्। पू[प]र्वाङ्गं तद्गुणं तच्च पूर्व-[पर्व] संज्ञं तु तद्गुणम्॥ (ह. पु. ७, २४–२५)। ३. पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पूर्वाङ्गं[पर्वाङ्गं] परिभाष्यते। पूर्वाङ्गताडितं तत्तु पर्वाङ्गं पर्वमिष्यते॥ (म. पु. ३–२१९)। ४. पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पर्वाङ्गं परिभाष्यते। पूर्वाङ्गताडितं तत्तु पर्वाङ्गं पर्वमिष्यते॥ (लोकवि. ५–१२८)।

१ एक पूर्व वर्षों (७०५६०००००००००) को एक लाख से गुणित चौरासी के वर्ग से गुणा करने पर पर्व का प्रमाण होता है। ३ पर्वांग को पूर्वांग से गुणित करने पर पर्व का प्रमाण प्राप्त होता है।

पर्वतराजिसदृश क्रोध — तत्र पर्वतराजिसदृशो नाम। यथा प्रयोग-विस्रसा-मिश्रकाणामन्यतमेन हेतुना पर्वतराजिरुत्पन्ना नैव कदाचिदपि संरोहति, एवमिष्टवियोजनानिष्टयोजनाभिलषितालाभादीनामन्यतमेन हेतुना यस्योत्पन्नः क्रोधः आ मरणान्न व्ययं गच्छति जात्यन्तरानुबन्धी निरनुनयस्तीव्रानुशयोऽप्रत्यवमर्शश्च भवति सः पर्वतराजिसदृशः। (त. भा. ८–१०, पृ. १४४)।

जिस प्रकार पुरुष के प्रयत्न, स्वभाव और उभय इनमें से किसी एक कारण से उत्पन्न हुई पर्वत की रेखा कभी नहीं भरती इसी प्रकार इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग और अभिलषित की अप्राप्ति आदि में से किसी एक निमित्त से जिसके क्रोध उत्पन्न हुआ है उसके वह मरण पर्यन्त नहीं छूटता, प्रत्युत परभव में भी साथ जाता है। इस प्रकार का जो क्रोध जन्मान्तर से सम्बन्ध रखता हुआ अनुनय और पश्चात्ताप से रहित होता है उसे पर्वतराजिसदृश कहा जाता है।

पर्वराहु—१. पुह पुह ससिबिंबाणि छम्मासेसु च पुण्णिमंतम्मि। छादंति पव्वराहू णियमेण गदिविसेसेहिं॥ (ति. प. ७–२१६)। २. तत्थ णं जे से पव्वराहू से जहण्णेणं छण्हं मासाणं, उक्कोसेणं बायालीसाए मासाणं चंदस्स अडतालीसाए संवच्छराणं सूरस्स। (सूर्यप्र. २०–१०५, पृ. २८८)। ३. यस्तु पर्वणि—पौर्णमास्यां अमावस्यायां वा यथाक्रमं चन्द्रस्य सूर्यस्य वा उपरागं करोति स पर्वराहुः। ××× तत्र योऽसौ पर्वराहुः स जघन्येन षण्णां मासानामुपरि चन्द्रस्य सूर्यस्य चोपरागं करोति, उत्कर्षतो द्वाचत्वारिंशतो मासानामुपरि चन्द्रस्य

अष्टाचत्वारिंशतः संवत्सराणांमुपरि सूर्यस्य । (सूर्यप्र. मलय. वृ. २०–१०४, पृ. २९०) ।

१ पर्वराहु वे हैं जो छह मासों में पूर्णिमा के अन्त में अपनी गतिविशेष से चन्द्रबिम्बों को आच्छादित किया करते हैं । २ पर्वराहु वे हैं जो जघन्य से छह मासों में चन्द्र व सूर्य को तथा उत्कर्ष से ब्यालीस मासों में चन्द्र को व अड़तालीस वर्षों में—सूर्य को आच्छादित किया करते हैं ।

पल—१. करिसा चत्तारि पलम् ××× । (ज्योतिष्क. ११) । २. चत्वारः कंसाः पलम् । (त. वा. ३, ३८, ३१) । ३. चत्वारः कर्षाः पलम् । (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ११) । ४. चतुःकर्षं पलं ××× । (लोकप्र. २८–२५७) । ५. पले च दश गद्याणाः ××× । (कल्पसू. वि. वृ. ६, पृ. २१) ।

१ चार कर्षों का एक पल होता है । ५ दस गद्याणों का एक पल होता है ।

पलित—असंख्येययुगात्मकं पलितम् । (आव. नि. हरि. वृ. ६६३) ।

असंख्यात युग प्रमाण काल को पलित या पल्य कहते हैं ।

पल्य—१. प्रमाणांगुलपरिमितयोजनविष्कम्भायामावगाहानि त्रीणि पल्यानि, कुशूला इत्यर्थः । (स. सि. ३–३८; त. वा. ३, ३८, ७) । २. योजनविस्तीर्णं योजनोच्छ्रायं वृत्तं पल्यम् । (त. भा. ४–१५) । ३. विष्कम्भमानं खलु योजनं स्यात् परिक्षिपन्तं त्रिगुणाधिकं च । उत्सेधतो योजनमेव यस्य तत्पल्यमाहुर्गणितप्रधानाः ॥ (वरांगच. २७–१६) । ४. तत्रायाम-विष्कम्भाभ्यामवगाहेन चोत्सेधाङ्गुलप्रमितयोजनप्रमाणः पल्यः । (बृहत्सं. मलय. वृ. ४) ।

१ प्रमाणांगुल के प्रमाण से एक योजन विस्तार, आयाम और अवगाह (गहराई) वाले गोल गड्ढे को पल्य कहा जाता है । २ एक योजन विस्तृत और एक योजन ऊंचे गोल गड्ढे का नाम पल्य है ।

पल्यङ्कासन—देखो पर्यंङ्कासन ।

पल्योपम—१. जं जोयणविच्छिण्णं ओगाढं जोयणं तु बालस्स । एगदिणजायगस्स उ भरियं बालग्गकोडीणं ॥ वाससए वाससए एक्केक्के अवहियम्मि जो कालो । कालेण तेण एवं हवइ य पलिओवमं एक्कं ॥ (पउमच. २०, ६५–६६) । २. ततो (व्यवहारपल्यात्) वर्षशते वर्षशते गते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद् रिक्तं भवेत् तावान् कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः । तैरेव लोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटीसमयमात्रछिन्नैस्तत्पूर्णमुद्धारपल्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद् रिक्तं भवति तावान् काल उद्धारपल्योपमाख्यः । ××× पुनरुद्धारपल्योपमरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रछिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम् । ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद् रिक्तं भवति तावान् कालोऽद्धापल्योपमाख्यः । (स. सि. ३–३८; त. वा. ३, ३८, ८) । ३. योजनविस्तीर्णं योजनोच्छ्रायं वृत्तं पल्यमेकरात्राद्युत्कृष्टसप्तरात्रजातानामङ्गलोम्नां गाढं पूर्णं स्याद्, वर्षशताद्वर्षशतादेकैकस्मिन्नुद्ध्रियमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं स्यादेतत्पल्योपमम् । (त. भा. ४–१५, पृ. २९४) । ४. जं जोयणविच्छिण्णं तं तिउणं परिरएण सविसेसं । तं चेव य उव्विद्धं (ज्योतिष्क. व त्रि. सा. 'तं जोयणमुव्विद्धं') पल्लं पलिओवमं नाम ॥ (जीवस. ११८; ज्योतिष्क. ७८; त्रि. सा. ९५; बृहत्सं. मलय. वृ. ४ उद्.) । ५. उवमाणं—जं कालप्पमाणं ण सक्कइ घेत्तुं तं उवमियं भवति, घण्णपल्ल इव तेण उवमा जस्स तं पल्लोवमं भण्णति । (अनुयो. चू. पृ. ५७) । ६. धान्यपल्यवत्पल्यः, तेनोपमा यस्मिंस्तत् पल्योपमम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८४) । ७. असंखेज्जेहि वस्सेहि पलिदोवमं होदि । (धव. पु. १३, पृ. ३००) । ८. एकाह्निकं सप्तदिनानि यावज्जातस्य रोम्णां खलु बर्करस्य । अनेककल्पप्रतिखण्डितानां निरन्तरं तिन्दुसमं प्रपूर्णम् ॥ पूर्णे तथा वर्षशतं च तस्मादेकैकमुद्धृत्य हि लोमखण्डम् । निष्ठां प्रयाते खलु रोमराशौ पल्योपमं तं प्रवदन्ति कालम् ॥ (वरांगच. २७, १७–१८) । ९. तस्स (महाजोयणस्स) पमाणे खम्मइ खाणी, परिवट्टुलिय सपरियर तिउणी । कत्तरियहि अविहायहि सुहुमहुं, सा पूरिज्जइ सिसुअविरोमहुं ॥ होउ पहुच्चइ लेक्खें म गणहिं संवच्छरसइ एकु जि अवणहिं । जइयहुं रोमरासि सा खिज्जइ तइयहुं पलिओवमु ध्रुव पज्जइ ॥ (म. पु. पुष्प. १, २–७, पृ. २४) । १०. पल्येन योजनप्रमाणायाम-विष्कम्भावगाहेनोपमा यस्मिन् कालप्रमाणे तत्पल्योपमम् । (बृहत्सं. मलय. वृ. ४) । ११. तत्र

धान्यपल्यवत् पल्यस्तेनोपमा यस्य कालप्रमाणस्य तत्पल्योपमम् । (संग्रहणी दे. वृ. ४) ।

१ एक योजन विस्तीर्ण व गहरे गड्ढे को एक दिन के उत्पन्न बालक के बालाग्रकोटियों से भरकर सौ सौ वर्ष में एक एक बालाग्र के निकालने में जो काल लगता है उतने काल से एक पल्योपम होता है। २ व्यवहार, उद्धार और अद्धा के भेद से पल्योपम तीन प्रकार का है। उनमें एक दिन से लेकर सात दिन तक के मेढ़े के बालाग्रों से—जिनका दूसरा खण्ड न हो सके—भरे गये गड्ढे को व्यवहार-पल्य कहा जाता है। सौ सौ वर्षों के बीतने पर इन बालाग्रों में से एक एक रोमखण्ड को निकाला जाय। इस विधि से जितने समय में वह गड्ढा खाली होता है उतने समय का नाम व्यवहारपल्योपम होता है। उक्त रोमखण्डों में से प्रत्येक को असंख्यात करोड़ वर्षों के समयों का जितना प्रमाण हो उतने प्रमाण से खण्डित करके उनसे उक्त गड्ढे को भरना चाहिये, इस प्रकार उसे उद्धारपल्य नाम से कहा जाता है। इसमें से एक एक रोमखण्ड को एक एक समय में निकालने पर वह जितने समय में खाली होता है उतने समय को उद्धारपल्योपम कहा जाता है। पश्चात् उद्धारपल्य के रोमखण्डों में से प्रत्येक को सौ वर्ष के समयों से खण्डित करके उनसे उक्त गड्ढे के भरने पर उसका नाम अद्धापल्य होता है। उसमें से एक एक समय में एक एक रोमखण्ड के निकालने पर जितने समय में वह खाली होता है उतने समय का नाम अद्धापल्योपम होता है। ३ एक योजन विस्तीर्ण और एक योजन ऊंचे गोल गड्ढे को पल्य कहा जाता है। इसको एक व अधिक से अधिक सात दिन के उत्पन्न हुए बच्चों के शरीर के रोमों से सघन रूप में भर कर उसमें से सौ सौ वर्षों में एक एक रोम के निकालने पर जितने काल में वह खाली हो जाता है उतने काल को पल्योपम नाम से कहा जाता है।

पल्लक—पल्लको नाम लाटदेशे धान्याधारविशेषः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३-३१९) ।

लाट देश में धान्य रखने के कोठे को पल्लक कहते हैं।

पवन—उष्ण-शीतश्च कृष्णश्च वहंस्तिर्यगनारतम्। षडङ्गुलप्रमाणं च वायुः पवनसंज्ञितः ॥ (योगशा. ५-५०) ।

जिसका स्पर्श उष्ण-शीत हो, वर्ण कृष्ण हो और जो छह अंगुल प्रमाण हो, ऐसी निरन्तर तिरछी बहने वाली वायु को पवन कहते हैं।

पशु—सरोमन्थाः पशवः। (धव. पु. १३, पृ. ३९१) ।

जो तिर्यंच प्राणी रोमन्थ सहित होते हैं—घास आदि को खाकर पश्चात् चर्वण करते हैं—वे पशु कहलाते हैं।

पश्चात्संस्तव—१. पच्छा संथुदिदोसो दाणं गहिदूण तं पुणो किंत्ति। विक्खादो दाणवदी तुज्झ जसो विस्सुदो वेंति ॥ (मूला. ५-३७) । २. माय-पिइ-पुव्वसंथव सासू-सुसराइयाण पच्छाउ। गिहिसंथव-संबंधं करेइ पुव्वं च पच्छा वा ॥ (पिंडनि. ४८५); गुणसंथवेण पच्छा संतासंतेण जो थुणिज्जहि। दाया-रं दिन्नंमी सो पच्छासंथवो होइ ॥ (पिण्डनि. ४९२) । ३. वसनोत्तरकालं च गच्छन् प्रशंसां करोति पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति, एवमुत्पादिता (वसतिः) संस्तव-(पश्चात्संस्तव-) दोषदुष्टा। (भ. आ. विजयो. २३०) । ४. पश्चात्संस्तुतिदोषो दान-माहारादिकं गृहीत्वा ततः पुनः पश्चादेवं कीर्तिं ब्रूते—विख्यातस्त्वं दानपतिस्त्वं तव यशो विश्रुतमिति ब्रूते यस्तस्य पश्चात्संस्तुतिदोषः, कार्पण्यादिदर्शनात्। (मूला. वृ. ६-३७) । ५. दाता ख्यातस्त्वमित्याद्यैर्दृग्गोह्यानन्दनन्दनम्। पूर्वं पश्चात् भुक्तेस्तत् पूर्वं पश्चात्संस्तवद्वयम् ॥ (आचा. सा. ८-४१) । ६. स्तुत्वा दानपतिं दानं स्मरयित्वा च गृह्णतः। गृहीत्वा स्तुवतश्च स्तः प्राक्पश्चात्संस्तवौ क्रमात् ॥ (अन. ध. ५-२४) । ७. वसनोत्तरकालं गच्छन् पुनरपि वसतिं लप्स्य इति यत्प्रशंसति सा पश्चात्संस्तवदुष्टा ॥ (भ. आ. मूला. २३०) । ८. भुक्तेः पश्चात् स्तवन-विधानं पश्चात्स्तुतिः। (भावप्रा. टी. ९९) ।

१ दान को ग्रहण करके पश्चात् 'आप प्रसिद्ध हैं, दानपति हैं, आपकी कीर्ति फैली हुई है;' इस प्रकार से जो दाता की प्रशंसा की जाती है, वह पश्चात्संस्तुति (संस्तव) नामक एक उत्पादनदोष है। २ भिक्षा के लिये प्रविष्ट होता हुआ साधु गृहस्थों के साथ जो माता-पिता आदि के रूप से पूर्वसंस्तव-

सम्बन्ध (परिचयघटन) को करता है, इसे पूर्व-संस्तव कहा जाता है तथा उन्हीं के साथ पश्चात्-कालभावी सास-ससुर आदि के रूप से जो संस्तव-सम्बन्ध करता है, वह पश्चात्संस्तव कहलाता है। इस प्रकार भोजन आदि के देने पर जो साधु सत्य या असत्य गुणों के कीर्तन से दाता की प्रशंसा करता है, इसे पश्चात्संस्तव कहा जाता है (इसे यहां ४८४-९३ गाथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है)। ३ रहने के पश्चात् जाते समय पुनः वसति की प्राप्ति की इच्छा से जो प्रशंसा की जाती है, इसमें साधु पश्चात्संस्तव दोष का भागी होता है।

पश्चात्संस्तुति—देखो पश्चात्संस्तव।

पश्चादानुपूर्वी उपक्रम—जं उवरीदो हेट्ठा परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं—एस करेमि य पणमं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स। सेसाणं च जिणाणं सिवसुहकंखाविलोमेण ॥ (धव. पु. १, पृ. ७३); विलोमेण परूवणा पच्छाणुपुव्वी णाम। (धव. पु. ९, पृ. १३५)।

जो प्ररूपणा ऊपर से नीचे की परिपाटी से अर्थात् विपरीत क्रम से की जाती है, इसे पश्चादानुपूर्वी उपक्रम कहा जाता है। जैसे—मैं मोक्षसुख की इच्छा से वर्धमान जिनेन्द्र को तथा शेष जिनेन्द्रों को भी नमस्कार करता हूं, यह प्ररूपणा।

पश्चिमदिशा—जत्तो अ अत्थमेइ उ अवरदिसा सा उ णायव्वा। (आचारा. नि. ४७)।

जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है उसे पश्चिम दिशा जानना चाहिए।

पाक्षिक श्रावक—१. ××× तत्र पाक्षिकः। तद्धर्मगृह्यः ××× ॥ (सा. ध. १–२०); कोऽसौ पाक्षिकः, किंरूपः? तद्धर्मगृह्यः—तस्य श्रावकस्य, धर्मं एकदेशहिंसादिविरतिरूपं व्रतम्, गृह्यं पक्षः प्रतिज्ञाविषयो यस्यासौ प्रारब्धदेशसंयमः, श्रावकधर्मस्वीकारपर इत्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टी. १–२०)। २. सम्यग्दृष्टिः सातिचारमूलाणुव्रतपालकः। अर्चादिनिरतस्त्वग्रपदं कांक्षीह पाक्षिकः ॥ (धर्मसं. श्रा. ५–४)।

१ जिसने श्रावक के एकदेशहिंसादिविरतिरूप व्रत को प्रतिज्ञा का विषय बना लिया है—उसके पालन करने में जो उद्यत हुआ है—उसे पाक्षिक श्रावक कहा जाता है।

पाक्षिकापाक्षिक—पाक्षिकापाक्षिकः यस्य एकस्मिन् पक्षे कामोदयः, न द्वितीये। (श्रा. वि. पृ. ७५)।

मास के दो पक्षों में से जिसके एक पक्ष में कामभाव उदित होता है, पर दूसरे पक्ष में वह उदित नहीं होता, ऐसे व्यक्ति को पाक्षिकापाक्षिक कहते हैं।

पाखण्डिमूढता—१. सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्। पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम् ॥ (रत्नक. १–२४)। २. पाखण्डिमूढता दण्ड-पात्रामत्रादिसंगिषु। सन्मतिः स्वागमाभासभ्रान्तस्वान्तान्यलिंगिषु ॥ (आचा. सा. ३–४७)। ३. दृष्ट्वा मंत्रादिसामर्थ्यं पापिपाषण्डिचारिणाम्। उपास्तिः क्रियते तेषां सा स्यात् पाषण्डिमूढता ॥ (भावसं. वाम. ४०६)। ४. सग्रन्था हिंसनारम्भकृतो ये भववश्यगाः। तेषां भक्त्या परीष्टिर्यत् बोध्या पाखण्डमूढता ॥ (धर्मसं. श्रा. ४–४२)। ५. बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवतां पाषण्डिनां कुगुरूणां नमस्कारादिकरणं [पाषण्डिमूढम्]। (कार्तिके. टी. ३२६)।

१ जो परिग्रह और आरम्भ से सहित होकर संसार में परिभ्रमण कराने वाले विवाहादि कार्यों में तत्पर रहते हैं ऐसे ढोंगी साधुओं का आदर-सत्कार करना, इसे पाखण्डिमूढता कहा जाता है। ३ पापी पाखण्डियों की मंत्रादिविषयक शक्ति को देखकर उनकी जो उपासना की जाती है, वह पाखण्डिमूढता कहलाती है।

पाटकनिवसनपरिमाण—देखो नियंसण।

पाटच्चर — पाटच्चरश्चौरो वन्दिकारो वा। (नीतिवा. १४–१९)।

चोर अथवा बन्दिकार को पाटच्चर कहा जाता है।

पाठ—पठनं पाठः, पठ्यते वा तदिति पाठः, पठ्यते वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वा अभिधेयमिति पाठः, व्यक्तीक्रियत इति भावार्थः। (आव. नि. हरि. वृ. १३०)।

पठन मात्र क्रिया को अथवा जो कुछ पढ़ा जाता है, जिसके द्वारा पढ़ा जाता है, अथवा जिससे या जिसमें अभिधेय—प्ररूपणीय अर्थ को—स्पष्ट किया जाता है उसका नाम पाठ है। यह प्रवचन का समानार्थक नामान्तर है।

पाठक परमेष्ठी—देखो उपाध्याय। अज्झावय-गुणजुत्तो धम्मोवदेसयारि चरियड्ढो। णिस्सेसागम-कुसलो परमेट्ठी पाठओ झाओ ॥ (भावसं. दे. ३७८)।

जो अध्यापक के गुणों से युक्त होकर धर्मोपदेश को किया करता है तथा अपने अनुष्ठान में स्थित है—मुनिधर्म का पालन करता है, उसे पाठक (उपाध्याय) परमेष्ठी कहा जाता है।

पाडगणियंसण—देखो नियंसण।

पाणिजन्तुवध— ××× पाणिजन्तुवधः करे। स्वयमेत्य मृते जीवे ××× ॥ (अन. ध. ५, ५०)।

आहार ग्रहण करते समय हाथ के ऊपर स्वयं आकर किसी जीव के मर जाने पर पाणिजन्तुवध नाम का अन्तराय होता है।

पाणिपिण्डपतन— ××× ग्रासमात्रपातेऽश्नतः करात् ॥ स्यात् पाणिपिण्डपतनं ×××। (अन. ध. ५, ४९–५०)।

भोजन करते समय हाथ से ग्रास मात्र के गिर जाने पर पाणिपिण्डपतन नाम का अन्तराय होता है।

पाणिमुक्ता गति—१. पाणिमुक्तेव पाणिमुक्ता। कः उपमार्थः। यथा पाणिना तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। (त. वा. २, २८, ४)। २. यथा पाणिना तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। (धव. पु. १, पृ. २९९–३००); पाणिमुट्टा एयविग्गहा। (धव. पु. ४. पृ. २९)।

१ जिस प्रकार हाथ के द्वारा तिरछे फेंके गये द्रव्य की गति एक विग्रह वाली होती है, उसी प्रकार संसारी प्राणियों की जो एक विग्रह वाली गति होती है वह पाणिमुक्ता गति कहलाती है।

पाण्डित्य—पाण्डित्यं हि पदार्थानां गुण-दोषविनिश्चयः। (क्षत्रचू. ४–२०)।

पदार्थों के गुण और दोषों का निश्चय करना, यह पाण्डित्य का लक्षण है।

पाण्डुनिधि—देखो नैसर्पनिधि। १. काल-महकाल-पंडू ××× ॥ उडुजोग्गदव्व-भायण-धण्णायुह ××× देंति कालादिया कमसो ॥ (ति. प. ४, ७३९-४०)। २. काल-महकाल-माणव-पिंगल-णेसप्प-पउम- पांडु तदो। संखो णाणारयणं णवणिहिओ देंति फलमेदं ॥ उडुजोग्गकुसमदामप्पहुदिं भाजणयमाउहाभरणं। गेहं वत्थं धण्णं तूरं बहुरयणमणुकमसो ॥ (त्रि. सा. ८२१–२२)।

१ जो निधि धान्य को दिया करती है उसे पाण्डुनिधि कहते हैं।

पाण्डुकनिधि—देखो पाण्डुनिधि। १. गणिअस्स य उप्पत्ती माणुम्माणस्स जं पमाणं च। धण्णस्स य बीआण य उप्पत्ती पंडुए भणिआ ॥ (जम्बूद्वी. ६६, पृ. २५६)। २. मानोन्मानप्रमाणानां सर्वस्य गणितस्य च। धान्यानामथ बीजानां सम्भवः पाण्डुकानिधेः ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ४, ५७५)।

१ जिस निधि में गणित, मान-उन्मान के प्रमाण एवं धान्य और बीजों की उत्पत्ति कही गई है उसे पाण्डुकनिधि कहते हैं।

पात्र—१. जे नाण-संजमरया अणसदिट्ठी जिइंदिया धीरा। ते नाम होन्ति पत्तं समणा सव्वुत्तमा लोए ॥ सुह-दुक्खेसु य समया जेसिं माणे तहेव अवमाणे। लाभालाभे य समा ते पत्तं साहवो भणिया ॥ (पउमच. १४, ३९–४०); पंचमहव्वयकलिया निच्चं सज्झाय-झाण-तवनिरया। घण-सयणविगयसङ्गा ते पत्तं साहवो भणिया ॥ (पउमच. १०२, १३४)। २. व्यपेतमात्सर्यमदाभ्यसूयाः सत्यव्रताः क्षान्ति-दयोपपन्नाः। सन्तुष्टशीलाः शुचयो विनीता निर्ग्रन्थशूरा इह पात्रभूताः ॥ ज्ञानं तु येषां हि तपोधनानां त्रिकालभावार्थसमग्रदर्शि। त्रिलोकधर्मक्षपणप्रतिज्ञो यान् दग्धुमीशो न च कामवह्निः ॥ येषां तु चारित्रमखण्डनीयं मोहान्धकारश्च विनाशितो यैः। परीषहेभ्यो न चलन्ति ये च ते पात्रभूता यतयो जिताशाः ॥ (वरांगच. ७, ५०–५२)। ३. प्राणातिपातविरतं परिग्रहविवर्जितम्। उद्धमाचक्षते पात्रं राग-द्वेषोज्झितं जिनाः ॥ सम्यग्दर्शनसंशुद्धं तपसापि विवर्जितम्। पात्रं प्रशस्यते मिथ्यादृष्टेः कायस्य शोषनात् ॥ आपद्भ्यः पाति यस्तस्मात् पात्रमित्यभिधीयते। सम्यग्दर्शनशक्त्या च त्रायन्ते मुनयो जनान् ॥ दर्शनेन विशुद्धेन ज्ञानेन च यदन्वितम्। चारित्रेण च यत्पात्रं परमं परिकीर्तितम् ॥ मानापमानयोस्तुल्यस्तथा च सुख-दुःखयोः। तृण-कांचनयोश्चैव साधुः पात्रं प्रशस्यते ॥ सर्वग्रन्थविनिर्मुक्ता महातपसि ये रताः। श्रमणास्ते परं पात्रं तत्त्वध्यानपरायणाः ॥

(पद्मपु. १४, ५३-५८) । ४. पात्रं रागादिभिर्दोषैरस्पृष्टो गुणवान् भवेत् । तच्च त्रेधा जघन्यादिभेदैर्भेदमुपेयिवत् ॥ (म. पु. २०-१३६) । ५. पूजायाममसाने सौख्ये दुःखे समागमे विगमे । क्षुभ्यति यस्य न चेतः पात्रमसावुत्तमं साधुः ॥ (अमित. श्रा. १०, २३) । ६. पात्रमिव पात्रमतिशयवद्ज्ञानादिगुणरत्नानां प्राप्तो वा गुणप्रकर्षमिति गम्यते ॥ (स्थानां. अभय. वृ. १-३७) । ७. यत्तारयति जन्माब्धेः स्वाश्रितान् यानपात्रवत् । मुक्त्यर्थगुणसंयोगभेदात् पात्रं त्रिधा मतम् ॥ (सा. ध. ५-४३) ।

१ जो ज्ञान व संयम में लीन हैं, जिनकी दृष्टि दूसरी ओर नहीं है—जो एक मात्र आत्मा की ओर दृष्टि देते हैं, जितेन्द्रिय हैं, और धीर हैं; ऐसे लोक में जो सर्वश्रेष्ठ श्रमण (साधु) हैं वे पात्र माने गये हैं। जो सुख-दुःख, मान-अपमान और लाभ-अलाभ में सम—राग-द्वेष से रहित—हैं वे पात्र कहे गये हैं।

पात्रदत्ति—देखो पात्रदान । १. तपःश्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तितः । मुनिभ्यो ऽन्नौषधावास-पुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥ आर्यिकाः श्राविकाश्चापि सत्कुर्याद् गुणभूषणाः । चतुर्विधेऽपि संघे यत् फलमुप्तमनल्पशः ॥ धर्मार्थ-कामसध्रीची यथौचित्यमुपाचरन् । सुधीस्त्रिवर्गसम्पत्त्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥ (सा. ध. २-६६ व ७३-७४) । २. महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादिपूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञान-संयमोपकरणादिदानं च पात्रदत्तिः । (कार्तिके. टी. ३६१) ।

१ जो निर्दोष आहार, औषध, आवास और पुस्तक आदि तपश्चरण व श्रुतके अभ्यासमें उपयोगी हैं उनका भक्तिपूर्वक मुनियों के लिए देना; यह पात्रदत्ति या पात्रदान कहलाता है। साथ ही आर्यिकाओं, श्राविकाओं एवं त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) में सहायकों (कार्यपात्रों) का भी यथायोग्य आदर-सत्कार करना; यह भी पात्रदत्ति के अन्तर्गत है। २ महातपस्वियों को प्रतिग्रह (पडिगाहन) और पूजा के साथ निर्दोष आहार तथा ज्ञान एवं संयम के उपकरणों—शास्त्र व पीछी आदि—के देने का नाम पात्रदत्ति है।

पात्रदान—देखो पात्रदत्ति । १. महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरस्सरम् । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते । (म. पु. ३८-३७) । २. पात्रदत्तिर्महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादिपूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञानसंयमोपकरणादिदानं च । (चा. सा. पृ. २१) ।

१ महान् तपस्वी मुनि जनों के लिए पूजा व प्रतिग्रह के साथ भोजन आदि के देने को पात्रदान कहा जाता है।

पात्रविशेष—१. मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः । (स. सि. ७-३९; त. श्लो. ७-३९; चा. सा. पृ. १५) । २. पात्रविशेषः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपःसम्पन्नता इति । (त. भा. ७-३४) । ३. **मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः** । मोक्षकारणैः सम्यग्दर्शनादिभिः योगः पात्रविशेष इति प्रतीयते । (त. वा. ७, ३९, ५) ।

१ मोक्ष के कारणभूत गुणों के संयोग को पात्रविशेष—पात्र की विशेषता—माली जाती है। २ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से सम्पन्न होना; यह पात्र की विशेषता है।

पाद—१. छहिं अंगुलेहिं वादो ××× । (ति. प. १-११४; जं. दी. प. १३-३२) । २. एएणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाइं पाओ । (अनुयो. सू. १३३, पृ. १५७) । ३. ××× छच्च अंगुला पाओ । (जीवस. ६६; ज्योतिष्क. ७५) । ४. छ अंगुलाणि पादो । (व्याख्याप्र. ६, ७, ५, पृ. ८२६)। ५. तत्र षडङ्गुलः पादः । (त. वा. ३, ३८, ६) । ६. त्रिविधांगुलषट्कः स्यात् पादः ××× । (ह. पु. ७-४५) । ७. ××× छंगुलु पाउ । (म. पु. पुष्प. २-७, पृ. २४) । ८. अंगुलछक्कं पाओ ××× । (संग्रहणी २४७) । ९. पादः स्यादङ्गुलैः षड्भिः ××× । (लोकप्र. १-५९) । १०. षड्भिरङ्गुलैः पाद उच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ३, ३८) ।

१ छह अंगुल का एक पाद होता है। ६ उत्सेधांगुल प्रमाणांगुल और आत्मांगुल इन तीन प्रकार के अंगुलों के आश्रय से पृथक् पृथक् छह अंगुल प्रमाण उन उन नामों वाला एक पाद होता है।

पादग्रहण—पादेन ग्रहणे पादग्रहणं ××× । (अन. ध. ५-५८) ।

भूमि से पांव के द्वारा रत्न-सुवर्णादि के ग्रहण करने पर पादग्रहण नामक भोजन का अन्तराय होता है।

पादपतन—पादपतनं प्रणामादिगौरवम् । (प्रश्नव्या. अभय. वृ., पृ. १६३) ।

चरणों में गिरकर नमस्कारादि करने को पादपतन

कहते हैं। यह प्रणाम आदि की महानता का द्योतक है।

पादपोपगमन—देखो पादोपगममनमरण। १. निर्व्याघातं तु प्रव्रज्या-शिक्षापवादिक्रमेण जराजर्जरितशरीरः करोति— यदुपहितचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानो निर्जन्तुकं स्थण्डिलमाश्रित्य पादप इवैकेन पार्श्वेन निपतत्यपरिस्पन्दस्तावदास्ते प्रशस्तध्यानव्यापृतान्तःकरणो यावदुत्क्रान्तप्राणस्तदेतत् पादपोपगमनाख्यमनशनम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–१९)। २. तत्रानशनिनः परित्यक्तचतुर्विधाहारस्याधिकृतचेष्टाव्यतिरेकेण चेष्टान्तरमधिकृत्यैकान्तनिष्प्रतिकर्मशरीरस्य पादपस्येवोपगमनं सामीप्येन वर्तनं पादपोपगमनमिति। (दशवै. नि. हरि. वृ. १–४७, पृ. २६)। ३. पादपस्योपगमनम्—अस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम्। (औपपा. अभय. वृ. १८, पृ. ३८)।

१ जो चार प्रकार के आहार का परित्याग करता हुआ जन्तुरहित शुद्ध भूमिका आश्रय लेकर पादप (वृक्ष) के समान निश्चल रहता है व एक पार्श्वभाग से पड़ जाता है और प्रशस्त ध्यान में मन को लगाता हुआ तब तक उसी प्रकार से निश्चल रहता है जब तक प्राण नहीं निकल जाते। उसके इस अनशन को पादपोपगमन अनशन कहा जाता है।

पादान्तरपंचेन्द्रियागमन—पादान्तरेण पञ्चाक्षगमे तन्नामकोऽन्तरः॥ (अन. ध. ५–५१)।

दोनों पावों के अन्तराल से पंचेन्द्रिय प्राणी के आने पर पादान्तरपंचेन्द्रियागमन नामक भोजन का अन्तराय होता है।

पादपोपगमन अनशन—देखो पादपोपगमन।

पादोपगमनमरण—देखो पादपोपगमन अनशन। १. पायव इव (उवगमणं) पाओवगमनम्, हत्थाईहिं छिन्नो दुमो व न चलति। (उत्तरा. चू. ५, पृ. २९)। २. पादाभ्यामुपगमनं ढौकनम्, तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम्। ××× अथवा पाउग्गगमणमरणं इति पाठः। भवान्तकरणप्रायोग्यं संहननं संस्थानं च इह प्रायोग्यशब्देनोच्यते, अस्य गमनं प्राप्तिः, तेन कारणभूतेन यन्निर्वर्त्यं मरणं तदुच्यते पाउग्गगमनमरणमिति। (भ. आ. विजयो. २९)। ३. पादपो वृक्षः, तस्येव छिन्नपतितस्योपगमनम् अत्यन्तनिश्चेष्टतयाऽवस्थानं यस्मिन् तत् पादपोपगमनम्। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०२)। ४. पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं संघान्निर्गत्य योग्यदेशस्याश्रयणम्, तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणम्, स्व-परवैयावृत्त्यनिरपेक्षः प्राणत्याग उच्यते रूढिवशात्। यदा पाउग्गगमणमरणं इति पाठस्तदा प्रायोग्यस्य भवान्तकरणयोग्यस्य संहननस्य संस्थानस्य गमनेन प्राप्त्या निर्वर्त्यं मरणं प्रायोग्यगमनमरणम्। प्रायोगमनमित्यपीदमुच्यते, प्रायस्य सन्यासवदनशनस्योपगमनेन साध्यत्वात्। (भ. आ. मूला. २९)।

१ जिस प्रकार हाथ आदि से छेदा गया वृक्ष विचलित नहीं होता है उसी प्रकार जिस मरण में वृक्ष के समान शरीर को स्थिर रखा जाता है उसे पादोपगमनमरण कहा जाता है। २ पांवों से जाकर योग्य देश का आश्रय लेने पर जो मरण होता है उसे पादोपगमनमरण कहते हैं। अथवा—'पाउग्गगमनमरणं' ऐसा पाठ होने पर तदनुसार प्रायोग्य का अर्थ संसार के नष्ट करने योग्य—संहनन और संस्थान होता है और गमन का अर्थ प्राप्ति होता है, इस प्रकार संसार के विनाशक संहनन और संस्थान की प्राप्ति से जो मरण निर्मित होता है उसे प्रायोग्यमरण कहा जाता है। ४ मूलाराधनादर्पण टीका से भी यही अभिप्राय निकलता है। विशेष वहां इतना है कि उपलब्ध पाठ से पं. आशाधरने 'प्रायोगमन' की सूचना करते हुए 'प्राय' का अर्थ संन्यासयुक्त अनशन को ग्रहण किया है, उसके उपगमन (प्राप्ति) से सिद्ध होने वाले मरण को प्रायोगमन मरण जानना चाहिए। इसका एक अन्य नाम उन्होंने प्रायोपवेशन भी निर्दिष्ट किया है।

पाप—१. सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं। जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु॥ (मूला. ५–३७)। २. यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम्॥ (प्रशमर. २१९)। ३. पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। (स. सि. ६–३); अस्मात् पुण्यसंज्ञककर्मप्रकृतिसमूहादन्यत्कर्म पापमित्युच्यते। (स. सि. ८–२६)। ४. तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम्। तस्य पुण्यस्य प्रतिद्वन्द्विरूपं पापमिति विज्ञायते। पाति रक्षत्यात्मानम् अस्माच्छुभपरिणामादिति पापाभिधानम्। (त. वा. ६, ३, ५)। ५. पापं तद्विपरीतं तु ×× ×। (षड्द. ५०)। ६. अशुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च

पापम् । (पंचा. अमृत. वृ. १०८) । ७. पापं चाशुभकर्मस्वरूपपरिणतपुद्गलप्रचयो जीवस्यासुखहेतुः । (मूला. वृ. ५–६) । ८. हिंसादिरशुभपरिणामः पापहेतुत्वात् पापम् । (आ. मी. वसु. वृ. ४०) । ९. पापम् अशुभं कर्म । (समवा. अभय. वृ. १, पृ. ६) । १०. पाशयति गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मनः आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम् ।(स्थाना. अभय. वृ. १–१२, पृ. १८) । ११. ते (कर्म-पुद्गलाः) एव अशुभाः पापम् । (षड्द्र. गु. वृ. ४७, पृ. १३७) । १२. पात्यवति रक्षति आत्मानं कल्याणादिति पापम् । (त. वृत्ति. श्रुत. ६–३) । १३. ××× पापं तस्य विपर्ययः । (विवेकवि. ८–२५१) । १४. पापमशुभप्रकृतिलक्षणम् । (प्रमाल. वृ. ३०५) । १५. पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म । (स्याद्वाम. २७) । १६. ××× पापं दुष्कर्म-पुद्गलाः । (षड्द्र. राज. १३) । १७. ××× अशुभं पापमुच्यते । (अध्यात्मसार १८–६०) ।

१ जो जीव सम्यक्त्व, श्रुत, विरति और कषाय-निग्रह इन गुणों के विपरीत मिथ्यात्वादि से परिणत है उसे पाप—पाप से संयुक्त (पाप का बन्धक)—कहा जाता है । २ अशुभ पुद्गल कर्म को पाप कहते हैं । ३ जो शुभ से रक्षा करता है—उत्तम कार्य में प्रवृत्त नहीं होने देता है—वह पाप कहलाता है ।

पापकर्म—असुहपयडीओ पावं । तत्थ घाइचउक्कं पावं । अघाइचउक्कं मिस्सं, तत्थ सुहासुहपयडीणं संभवादो । (धव. पु. १३, पृ. ३५२) ।

अशुभ प्रकृतियों को पाप कर्म कहा जाता है । उनमें चार घातिकर्म पाप तथा चार अघातिकर्म मिश्र —पाप-पुण्य उभयस्वरूप—हैं, क्योंकि उनमें शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियां सम्भव हैं ।

पापकर्म-अबन्धक—१. जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये । जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ । (मूला. १०–१२२) । २. जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सये । जयं भुंजंतो भासंतो पाव कम्मं न बंधइ ।। सव्वभूयप्पभूअस्स सम्मं भूयाइं पासओ । पिहिआसवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधइ ।। (दशवै. सू. श्लो. ८–९, पृ. १५६) ।

१ जो प्रयत्नपूर्वक—प्राणिरक्षा में सावधान होकर—चलता है, प्रयत्नपूर्वक स्थित होता है, प्रयत्नपूर्वक सोता है, प्रयत्नपूर्वक भोजन करता है तथा प्रयत्नपूर्वक भाषण करता है उसके पाप का बन्ध नहीं होता है । २ जो प्रयत्नपूर्वक—आगमोक्त विधि से ईर्यासमितिपूर्वक—चलता है, प्रयत्नपूर्वक बैठता है—बैठा हुआ हाथ-पांव आदि को न फैलाता है न सिकोड़ता है, सावधानी से सोता है, यत्नपूर्वक भोजन करता है, और यत्नपूर्वक भाषण करता है; वह पापकर्म को नहीं बांधता है । इसी प्रकार जो सभी प्राणियों को अपने समान देखता है—अपने समान ही उनके सुख-दुःख की कल्पना करता है, वह इन्द्रियों व मनका दमन करता हुआ कर्मास्रव को रोकता है, अतएव वह पापकर्म को नहीं बांधता है ।

पापकर्मबन्धक—अजयं चरमाणो अ (उ), पाणभूयाइं हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ।। अजयं चिट्ठमाणो अ, पाणभूयाइ हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ।। अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइ हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ।। अजयं सयमाणो अ, पाणभूयाइ हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ।। अजयं भुंजमाणो अ, पाण-भूयाइ हिंसइ । बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुअं फलं ।। (दशवै. सू. श्लो. ४, १–६, पृ. १५६) ।

जो प्रयत्न के बिना—सूत्राज्ञा के विपरीत—चलता है, बैठता है, बैठा हुआ भी उपयोग के बिना हाथ पैरों को फैलाता व सिकोड़ता है, असावधानी से दिन में सोता है, निष्प्रयोजन या कौवे आदि से भक्षित भोजन करता है, तथा कठोर आदि भाषण करता है; वह द्वीन्द्रियादि प्राणियों व एकेन्द्रियादि भूतों (जीवों) को पीड़ित करता है, इसीलिए वह कडुए फलवाले पापकर्म को बांधता है ।

पापकर्मोपदेश—देखो पापोपदेश । पापकर्मोपदेशः—कृष्याद्युपदेशः प्रयोजनं विनेति । (औपपा. अभय. वृ. ४०, पृ. १०१) ।

प्रयोजन के बिना ही कृषि आदि के उपदेश को पापकर्मोपदेश कहते हैं ।

पापजुगुप्सा—पापजुगुप्सा तु तथा सम्यक्त्वपरिशुद्धचेतसा सततम् । पापोद्वेगोऽकरणं तदचिन्ता चेत्यनुक्रमतः ।। (षोडशक. ४–५) ।

निर्मल अन्तःकरण से निरन्तर पाप से उद्विग्न रहना

—पूर्व में किये गये पाप के विषय में पश्चात्ताप करना, वर्तमान में पाप को न करना, तथा भविष्य में पाप का चिन्तन न करना, इस सबका नाम पापजुगुप्सा है। अथवा पापोद्वेग का अर्थ काय से पाप का परित्याग करना, वचन से उसका न कहना और मन से चिन्तन न करना; इसे पापजुगुप्सा समझना चाहिए।

पापप्रकृति—पापप्रकृतयः कटुकरसा अशुभा उच्यन्ते। (शतक. दे. स्वो. वृ. १)।

कडुए रस वाली कर्मप्रकृतियां पापप्रकृतियां कही जाती हैं।

पापश्रमण—१. आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी। ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणो त्ति वुच्चदि दु ॥ (मूला. १०-६८)। २. सयं गेहं परिच्चज्ज परगेहंमि वावडे। निमित्तेणं ववहरइ पावसमणो त्ति वुच्चई ॥ दुद्ध-दही विगईओ आहारेइ अभिक्खणं। अरए य तवोकम्मे पावसमणो त्ति वुच्चई ॥ (सम्बोधस. ५३-५४)।

१ जो साधु आचार्यकुल को छोड़कर अकेला विहार करता है तथा उपदेश को नहीं ग्रहण करता है उसे पापश्रमण कहा जाता है। २ जो अपने घर को छोड़कर पर घर में व्यापृत होता है—आत्मा को छोड़कर पर पदार्थों में मुग्ध रहता है, निमित्तशास्त्र से आजीविका करता है, विकारजनक दूध-दही आदि का भक्षण करता है, तथा तपश्चरण में रत नहीं रहता है—उससे अरुचि रखता है; ऐसे साधु को पापश्रमण कहते हैं।

पापोपदेश—देखो पापकर्मोपदेश। १. तिर्यक्क्लेश-वणिज्या-हिंसारम्भ-प्रलम्भनादीनाम्। कथाप्रसङ्ग-प्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥ (रत्नक. ३-३०)। २. तिर्यक्क्लेश-वाणिज्य-प्राणिवधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। (स. सि. ७-२१)। ३. क्लेश-तिर्यग्वणिज्या-वधकारम्भादिषु पापसंयुतं वचनं पापोपदेशः। तद्यथा—अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभास्तानमुं देशं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या। गो-महिष्यादीन् अमुत्र गृहीत्वा अन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिक-सौकरिक-शाकुनिकादिभ्यो मृग-वराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुस्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरम्भकेभ्यः कृषीबलादिभ्यः क्षित्युदक-ज्वलन-पवन-वनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्यः इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः। इत्येवंप्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। (त. वा. ७, २१, २१; चा. सा. पृ. ९-१०)। ४. पापोपदेशः पापकर्मोपदेशः, पापं यत्कर्म कृष्यादि तदुपदेशो यथा कृष्यादि कुर्विति। (श्रा. प्र. टी. २८९)। ५. पापोपदेश आदिष्टो वचनं पापसंयुतम्। यद्वणिग्वधकारम्भपूर्वसावद्यकर्मसु ॥ (ह. पु. ५८-१४८)। ६. क्लेश-तिर्यग्वणिज्यादिवचनलक्षणात् पापोपदेशात् ××× । (त. श्लो. ७-२१)। ७. विद्या-वाणिज्य-मषी-कृषि-सेवा-शिल्पजीविनां पुंसाम्। पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्। (पु. सि. १४२)। ८. जो उवएसो दिज्जइ किसि-पसुपालण-वणिज्जपमुहेसु। पुरिसित्थीसंजोए अणत्थदण्डो हवे विदिओ ॥ (कार्तिके. ३४५)। ९. पापोपदेशो यद्वाक्यं हिंसा-कृष्यादिसंश्रयम्। तज्जीविभ्यो न तं दद्यान्नापि गोष्ठ्यां प्रसज्जयेत् ॥ (सा. ध. ५-७)। १०. वधकारम्भकादेशो वाणिज्यं तिर्यक्क्लेशयोः। एभिश्चतुर्विधैर्योगैर्मतः पापोदेशकः ॥ (धर्मसं. श्रा. ७-१०)।

१ गाय-भैंस आदि तिर्यंचों के व्यापारविषयक, क्लेशकर दासी-दास आदि के व्यापारविषयक, हिंसाविषयक, आरम्भविषयक और वंचनाविषयक कथावार्ता के प्रसंग से उत्पन्न होने वाले पाप के उपदेश को पापोपदेश कहा जाता है। ४ कृषि आदि कार्य पाप के कारण होने से पाप माने जाते हैं, ऐसी क्रियाओं के उपदेश का नाम पापोपदेश है—जैसे खेती करो, ऐसा उपदेश।

पामिच्च—देखो प्रामित्य।

पारञ्च—देखो पारञ्चिक। पारंचो नाम खेत्ततो देसतो वा निच्छुभइ। (दशवै. चू. पृ. २६)।

क्षेत्र या देश से पृथक् कर देना, इसे पारंच कहा जाता है।

पारञ्चिक—देखो अनुपस्थान। १. आचार्यादाचार्यान्तरप्रापणमातृतीयं पारञ्चिकम्। (त. वा. ९, २२, १०)। २. पुरुषविशेषस्य स्वलिङ्ग-राजपत्न्यासेवनायां पारञ्चिकं भवति, पारं प्रायश्चित्तान्तमञ्चति गच्छतीति पारञ्चिकम्। (आव. नि. हरि. वृ. १४१८, पृ. ७६४)। ३. जो सो पारंचिओ सो एवंविहो (अणवट्ठसंणिहो) चेव होदि, किंतु सा-

धम्मियवज्जियखेत्ते समाचरेयव्वो। एत्थ उक्कस्सेण छम्मासक्खवणं पि उवइट्ठं। एदाणि दो वि पायच्छित्ताणि णरिंदविरुद्धाचरिदे आयरियाणं नव-दस-पुव्वहराणं होदि। (धव. पु. १३, पृ. ६२-६३)। ४. सर्वगुणैः समग्रस्य देयं पारंचिकं भवेत्। व्युत्सृष्टस्यापि येनास्याशुद्धभावो न जायते। (प्रायश्चित्तस. ६-१५७)। ५. पारं अंचदि परदेसमेदि गच्छदि जदो तदो एसो। पारंचिगो त्ति भण्णदि पायच्छित्तं जिणमदम्मि॥ (छेदपिण्ड २८२)। ६. स्वधर्मरहितक्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते। चारः पारंचिकं जैनधर्मात्यन्तरतेर्मतम्॥ (आचा. सा. ६-६२)। ७. पारंचियारिहं—अञ्चु गइ-पूयणेसु; पारं अञ्चइ तवाईणं जम्मि पडिसेविए लिंग-खेत्त-कालविसिट्ठाणं, तं पारंचियारिहं। (जीतक. चू. गा. ४, पृ. ६)। ८. पारं तीरं तपसा अपराधस्य अञ्चति गच्छति ततो दीक्ष्यते यः स पाराञ्ची, स एव पाराञ्चिकस्तस्य यदनुष्ठानं तच्च पाराञ्चिकं लिंग-क्षेत्र-काल-तपोभिर्बहिष्करणम्। (जीतक. चू. वि. व्या. ६-२१, पृ. ३९)। ९. तथा पारमन्तं प्रायश्चित्तानाम्, तत उत्कृष्टतरप्रायश्चित्ताभावात्, अपराधानां वा पारमञ्चति गच्छतीत्येवंशीलं पाराञ्चि, तदेव पाराञ्चिकम्। तच्च महत्यपराधे लिंग-कुल-गण-संघेभ्यो बहिष्करणम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। १०. यस्मिन् प्रतिसेविते लिंग-क्षेत्र-काल-तपसां पारमञ्चति तत् पाराञ्चितमर्हतीति पाराञ्चितम्। (व्यव. मलय. वृ. १-५३)।

१ एक आचार्य से तीसरे आचार्य तक अन्य आचार्यों के पास पहुंचाना, इसका नाम पारञ्चिक प्रायश्चित्त है। ३ राजा के विरुद्ध आचरण करने पर जो प्रायश्चित्त नौ-दस पूर्वों के धारक आचार्यों से कराया जाता है उसका नाम पारंचिक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त साधर्मिक जन से रहित क्षेत्र में कराया जाता है। इसमें अपराधी आचार्य मुनियों के आश्रम से अलग रहता है, उसे कोई भी साधु प्रतिवन्दना नहीं करता, गुरु को छोड़कर वह अन्य सबसे मौन रखता है, तथा उपवास, आचाम्ल पुरिमार्ध (निर्विकृतिक तपविशेष), एकस्थान और निर्विकृति आदि के द्वारा रस, रुधिर एवं मांस को सुखाता है। ५ इस प्रायश्चित्त में चूंकि अपराधी दूसरे देश को जाता है, अत एव इसका नाम पारंचिक या पारांचिक प्रायश्चित्त है। ८ 'पारं अञ्चति' इस निरुक्ति के अनुसार अपराधी तप के द्वारा अपराध के पार जाता है व तत्पश्चात् उसे पुनः दीक्षा दी जाती है, इससे उसे पारांची या पारांचिक कहा जाता है। उसके लिंग, क्षेत्र, काल और तप से बहिष्कृत करने रूप अनुष्ठान को भी पारांचिक कहा जाता है।

पारञ्चित—देखो पारञ्चिक।

पारञ्ची—धर्मस्य पारं तीरमञ्चति गच्छति, तेन कारणेन पुरुषः पारञ्ची स्मृतः। (प्रायश्चित्त. ७, २७)।

इस प्रायश्चित्त में अपराधी धर्म के पार (किनारे) जाता है, इससे वह पारंची कहलाता है।

पारमार्थिक नोकर्मद्रव्यक्षेत्र—पारमत्थियं णोकम्मदव्वखेत्तं आगासदव्वं। (धव. पु. ४, पृ. ७)।

पारमार्थिक नोकर्मद्रव्यक्षेत्र आकाश कहलाता है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष—देखो मुख्य प्रत्यक्ष। १. पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम्। (प्र. न. त. २-१८)। २. परमार्थे भवं पारमार्थिकं मुख्यम्, आत्मसन्निधिमात्रापेक्षम्, अवध्यादि प्रत्यक्षमित्यर्थः। (रत्नाकरा. २-४); क्षय-क्षयोपशमविशेषविशिष्टमात्मद्रव्यमेवाऽव्यवहितं समाश्रित्य पारमार्थिकमेतदवध्यादिप्रत्यक्षमुन्मज्जति, न पुनः सांव्यवहारिकमिवेन्द्रियादिव्यवहितमात्मद्रव्यमाश्रित्येति भावः। (रत्नकरा. २-१८)। ३. सर्वतो विशदं पारमार्थिकं प्रत्यक्षम्। (न्यायदी. पृ. ३४)। ४. पारमार्थिकं त्वात्मसंनिधिमात्रापेक्षमवध्यादिप्रत्यक्षम्। (षड्दस. गु. वृ. ५५, पृ. २०८)। ५. स्वोत्पत्तावात्मव्यापारमात्रापेक्षं पारमार्थिकम्। (जैनत. पृ. ११८)।

१ जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में आत्मा मात्र की अपेक्षा करता है—इन्द्रियादि अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं करता—उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

पारमार्थिकप्रत्यक्षाभास—पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम्। (प्र. न. त. ६-२९)।

जो पारमार्थिक प्रत्यक्ष के समान दिखता है, पर वस्तुतः पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं है, वह परमार्थिकप्रत्यक्षाभास कहलाता है।

पाराञ्चिक—देखो पारञ्चिक।

पाराञ्चित—देखो पारञ्चित।

पारायण—पारायणं नाम सूत्रार्थ-तदुभयानां पारगमनम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–३) ।

सूत्र, अर्थ एवं दोनों के पारगमन को अर्थात् आद्योपान्त अध्ययन कर लेने को पारायण कहते हैं ।

पारिग्रहिकी—देखो परिग्रहक्रिया व पारिग्राहिकी क्रिया परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज्जवस्तुस्वीकारः धर्मोपकरणमूर्च्छा च, परिग्रह एव पारिग्रहिकी, परिग्रहेण निर्वृत्ता वा पारिग्राहिकी । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८४, पृ. ४४७) ।

धर्मोपकरणों को छोड़कर अन्य वस्तु को स्वीकार करना व धर्मोपकरणों में भी अनुराग रखना, इसका नाम परिग्रह है । इस परिग्रह से होने वाली क्रिया को पारिग्रहिकी क्रिया कहा जाता है ।

पारिग्राहिकी क्रिया— देखो परिग्रहक्रिया । १. परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया । (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ११) । २. परिग्रहाविनाशार्था स्यात् पारिग्राहिकी क्रिया । (त. इलो. ६, ५, २४) । ३. परिग्रहाणामविनाशे प्रयत्नः पारिग्राहिकी क्रिया । (त. वृत्ति श्रुत. ६–५) ।

१ परिग्रह के अविनाश के लिये—उसके संरक्षण के निमित्त—जो क्रिया की जाती है उसे पारिग्राहिकी क्रिया कहा जाता है ।

पारिणामिकत्व—भावान्तरोपादानं पारिणामिकत्वमुच्यते । ××× परिणामयतीति परिणामकः, परिणामक एव पारिणामिकः । (त. वृत्ति श्रुत. ५–३७) ।

अवस्थान्तर की प्राप्ति को पारिणामिकत्व या पारिणामिकता कहा जाता है ।

पारिणामिक भाव— १. द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः । ××× परिणामः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः । (स. सि. २–१) । २. **द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः** । यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति, नान्यन्निमित्तं स परिणाम इति परिभाष्यते । ××× परिणामः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः । (त. वा. २, १, ५–६); **अन्यद्रव्यासाधारणास्त्रयः पारिणामिकाः** । ××× **कर्मोदय-क्षयोपशम-क्षयोपशमानपेक्षत्वात्** । नहि एवंविधं कर्मास्ति यस्योदयात् क्षयात् उपशमात् क्षयोपशमाद्वा जीवो भव्योऽभव्य इति चोच्यते । तदभावादनादिद्रव्यभवनसम्बन्धपरिणामनिमित्तत्वात् पारिणामिका इति व्यपदिश्यन्ते । (त. वा. २, ७, १–२) । ३. कर्मोदयोपशम-क्षय-क्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नः पारिणामिकः । (धव. पु. १, पृ. १६१); जो चउहि (ओदइय-ओवसमिय-खइय-खओवसमिएहि) भावेहि पुव्वुत्तेहि वदिरित्तो जीवाजीवगओ सो पारिणामिओ णाम । (धव. पु. ५, पृ. १८५); जो कम्माणमुदय-उवसम-खइय-खओवसमेहि विणा अण्णेहिंतो उप्पण्णो परिणामो सो पारिणामिओ भण्णदि । (धव. पु. ५, पृ. १९६); भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जियो होदि ॥ (धव. पु. ७, पृ. ६; धव. पु. १२, पृ. २७९ उद्.) । ४. परिणमनं परिणामो जीवत्वाद्याकारेण यद् भवनं सः पारिणामिकः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५, पृ. ४८); पारिणामिकशब्देन च द्रव्यभावप्राणावस्थाख्यः परिणाम उच्यते । तथा सेधनयोग्यः परिणामो भव्यः, अभव्यस्तु न कदाचित् सेधनयोग्यः परिणाम इति । (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१, पृ. १४०)। ५. द्रव्यात्मलाभहेतुः स्यात् परिणामोऽनपेक्षिणः ॥ एतत्प्रयोजना भावाः सर्वोपशमिकादयः । इत्यौपशमिकादीनां शब्दानामुपवर्णिता (निरुक्तिः) ॥ (त. इलो. २, १, ४-५)। ६. सकलकर्मोपाधिविनिर्मुक्तः परिणामे भवः पारिणामिकभावः । (नि. सा. वृ. ४१) । ७. परिणमनं परिणामः—कथञ्चिदवस्थितस्य वस्तुनः पूर्वावस्थापरित्यागेनोत्तरावस्थागमनम्, स एव तेन वा निर्वृत्तः पारिणामिकः । (प्रव. सारो. वृ. १२९०) । ८. कारणणिरवेक्खभवो सहावियो पारिणामिओ भावो। (भावत्रि. २३) । ९. स्वभावः परिणामः स्यात्तद्भवः पारिणामिकः । (भावसं. वाम. ९) । १०. कर्मोपशमादिनिरपेक्षः चेतनत्वादिः जीवस्य स्वाभाविको भावः पारिणामिको निगद्यते । (त. वृत्ति श्रुत. २–१) । ११. कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् । आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात् पारिणामिकः ॥ (पंचाध्या. २–९६८) ।

१ जिस भाव का कारण द्रव्य का आत्मलाभ मात्र हो—अन्य कोई न हो—उसे पारिणामिक भाव कहते हैं । ७ कथंचित् अवस्थित वस्तु जो एक अवस्था को छोड़कर अगली दूसरी अवस्था को प्राप्त होती है, इसका नाम परिणाम है । इसी को अथवा इससे रचे गये को पारिणामिक कहा जाता है ।

पारिणामिकी—१. णिय-णियजादिविसेसे उप्पण्णा पारिणामिकी णामा ॥ (ति. प. ४, १०२०) । २. अणुमाण-हेउ-दिट्ठंतसाहिया वयविवागपरिणामा । हिअ-निस्सेअसफलवई बुद्धी परिणामिआ नाम ॥ (आव. नि. ९४८; नन्दी. सू. गा. ६९; उप. प. ४८) । ३. पारिणामिकी तु वयोविपाकलब्धजन्मा परमहित-निःश्रेयसफला पंचावयवादिसाधनानुसारिणी भवत्यभयकुमारादेरिव । (त. भा. हरि. वृ. ९–६) । ४. परिः समन्ताद्गमनं परिणामः—सुदीर्घकालपूर्वापरार्थावलोकनादिजन्य आत्मधर्म इत्यर्थः, स कारणमस्यास्तत्प्रधाना वा पारिणामिकी । (आव. नि. हरि. वृ. ९३८, पृ. ४१५) । ५. सग-सगजादिविसेसेण समुप्पण्णपण्णा पारिणामिया णाम । × × × जादिविसेसजणिदकम्मक्खओवसमसमुप्पण्णा पारिणामिया । (धव. पु. ९, पृ. ८२–८३) । ६. स्वकीय-स्वकीयजातिविशेषेण समुत्पन्ना पारिणामिकी चेति । (चा. सा. पृ. ९७) । ७. तथा परि—समन्तान्नमनम्— यथावस्थितवस्त्वनुसारितया गमनं परिणामः, सुदीर्घकालपूर्वापरार्थावलोकनादि जन्य आत्मधर्मविशेष इत्यर्थः, स कारणमस्याः पारिणामिकी, बुद्ध्यतेऽनयेति बुद्धिः । (आव. नि. मलय. वृ. ९३८) ।

१ अपनी अपनी विशेष जातिमें जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे पारिणामिकी बुद्धि कहा जाता है। २ जो बुद्धि अनुमान, हेतु और दृष्टान्त के द्वारा अभीष्ट की साधक होती है; आयु के परिपाक के अनुसार जिसका परिणमन होता है, तथा जो अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) से सफल होती है; वह पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है ।

पारितापनिकी क्रिया—१. दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया । (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ८) । २. दुःखोत्पत्तिः स्वतंत्रत्वात् क्रियाऽन्या परितापिकी । (ह. पु. ५८–६७) । ३. दुःखोत्पादनतन्त्रत्वं स्यात्क्रिया पारितापिकी । (त. श्लो. ६, ५, १०) । ४. परितापो दुःखम्, दुःखोत्पत्तिनिमित्ता क्रिया पारितापिकी क्रिया । (भ. आ. विजयो. ८०७) । ५. परितापनं ताडनादिदुःखविशेषलक्षणम्, तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी क्रिया । (स्थाना. अभय. वृ. ६०; समवा. अभय. वृ. ५) । ६. दुःखोत्पत्तौ परितप्तिपरवशत्वं पारितापिकी क्रिया । (त. वृत्ति श्रुत. ६–५) ।

१ जो दुःख की उत्पत्ति के अधीन किया की जाती है—उसकी उत्पत्ति का कारण है—उसे पारितापिकी क्रिया कहा जाता है । ५ ताड़नादि दुःखविशेष रूप परिताप से जो क्रिया निर्मित होती है उसका नाम पारितापनिकी या पारितापिकी क्रिया है ।

पारितापिकी क्रिया—देखो पारितापनिकी क्रिया ।

पारिव्राज्य—गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवं गृहवासाद्विरज्यतः । यद्दीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्ष्यते ॥ पारिव्राज्यं परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम् । तत्र निर्ममतावृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥ (म. पु. ३९–१५६, १५७) ।

गृहस्थ धर्म का पालन करने के पश्चात् गृहवास से विरक्त होते हुए जो दीक्षा ग्रहणकी जाती है उसे पारिव्राज्य—परिव्राजक का अनुष्ठान—कहा जाता है । परिव्राट् के भाव का नाम पारिव्राज्य है, जिसका अभिप्राय निर्वाणदीक्षा है । इसमें ममत्वबुद्धि को छोड़कर जातरूप—दिगम्बरवेष—धारण किया जाता है ।

पारिषद—देखो पार्षद्य । १. वयस्यपीठमर्दसदृशाः परिषदि भवाः पारिषदाः । (स. सि. ४–४) । २. पारिषद्याः वयस्यस्थानीयाः । (त. भा. ४–४) । ३. वयस्यपीठमर्दसदृशाः पारिषदाः । परिषदि जाता भवा वा पारिषदाः, ते वयस्यपीठमर्दसदृशाः वेदितव्याः । (त. वा. ४, ४, ४) । ४. भवाः परिषदीत्यासन् सुराः पारिषदाह्वयाः । ते पीठमर्दसदृशाः सुरेन्द्रैरतिलालिताः ॥ (म. पु. २२–२६)। ५. परिषदि साधवः पारिषद्याः मित्रसदृशाः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–४) । ६. परिषदि सभायां भवाः पारिषदाः पीठमर्दमित्रतुल्याः । (त. वृत्ति श्रुत. ४–४) ।

१ जो सभा में उपस्थित रहने योग्य होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं । ये देव मित्र अथवा पीठमर्द —कामपुरुषार्थ में सहायक—के समान होते हैं । २ जो देव मित्र के समान होते हैं उन्हें पारिषद्य कहा जाता है ।

पारिषद्य—देखो पारिषद ।

पार्थिव मण्डल—क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम् । स्याद् वज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥ (ज्ञानार्णव २९–१९, पृ. २८८) ।

पृथिवी बीज से सहित, पिघले हुए सुवर्ण के सदृश,

वज्र के चिह्न से चिह्नित और आकार में चौकोण धरापुर—पार्थिव मण्डल होता है।

पार्थिवी धारणा—तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत् क्षीराब्धि तत्र चाम्बुजम्। सहस्रपत्रं स्वर्णाभं जम्बूद्वीपसमं स्मरेत्॥ तत्केसरततेरन्तः स्फुरत्पिङ्गप्रभांचिताम्। स्वर्णाचलप्रमाणा च कर्णिकां परिचिन्तयेत्॥ श्वेत-सिंहासनासीनं कर्मनिर्मूलनोद्यतम्। आत्मानं चिन्त-येत्तत्र पार्थिवी धारणेत्यसौ॥ (योगशा. ७, १०–१२)।

ध्यान की अवस्था में मध्य लोक के बराबर क्षीर-सागर, उसके मध्य में जम्बूद्वीप के प्रमाण वाले सहस्रपत्रमय सुवर्णकमल, उसके पराग समूह के भीतर पीली कान्ति से युक्त सुमेरु के प्रमाण कर्णिका और उसके ऊपर एक श्वेत वर्ण के सिंहासन पर स्थित होकर कर्मों के नष्ट करने में उद्यत आत्मा का चिन्तन करे। यह पार्थिवी धारणा कहलाती है।

पार्श्व—पश्यति सर्वभावानिति निरुक्तात् पार्श्वः, तथा गर्भस्थे जनन्या निशि शयनस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मत्वा पश्यतीति पार्श्वः, पार्श्वोऽस्य वैयावृत्यकरस्तस्य नाथः, भीमो भीमसेन इति वत् पार्श्वः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

'पश्यति सर्वभावानिति पार्श्वः' इस निरुक्ति के अनु-सार जो समस्त पदार्थों को देखता है उसका नाम पार्श्व है, अथवा माता के गर्भ में स्थित होने पर शय्या पर स्थित माता ने अन्धकार में जो सर्पको देखा था, यह गर्भ का प्रभाव है, ऐसा मानकर 'पश्यति' इस निरुक्ति के अनुसार 'पार्श्व' कहलाये, अथवा पार्श्व-नामक यक्ष के स्वामी होने से तेईसवें तीर्थंकर का नाम पार्श्वनाथ प्रसिद्ध हुआ।

पार्श्वतः अन्तगत अवधिज्ञान—१. से किं तं पासओ अतगयं? पासओ अंतगयं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे गच्छिज्जा से तं पासओ अंतगयं। (नन्दी. सू. १०, पृ. ८२)। २. येन तु पार्श्वतः एकतो द्वाभ्यां वा संख्येयान्यसंख्येयानि वा योजनानि पश्यति स पार्श्व-तोऽन्तगतः इति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ. ५३७)।

१ जिस प्रकार कोई पुरुष उल्का (छोटा दीपक), चडुली (अन्त में जलता हुआ घास का पूला), अलात (अग्रभाग में जलती हुई लकड़ी), मणि, प्रदीप अथवा ज्योति को पार्श्वभाग में करके खींचता हुआ जाता है; इसी प्रकार जो अवधिज्ञान एक पार्श्व से अथवा दोनों पार्श्वों से संख्यात-असंख्यात योजनों को देखता है, वह पार्श्वतः अन्तगत अवधिज्ञान कह-लाता है।

पार्श्वमुद्रा—पराङ्मुखहस्ताभ्यां वेणीबन्धं विधाया-भिमुखीकृत्य तर्जन्यौ संश्लेष्य शेषाङ्गुलिमध्ये अङ्गु-ष्ठद्वयं विन्यसेदिति पार्श्वमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)। **उल्टे हाथों से वेणीबन्ध करके सामने करते हुए दोनों तर्जनियों के मिलाने और शेष अंगुलियों के मध्य में दोनों अंगूठों के रखने पर पार्श्वमुद्रा होती है।**

पार्श्वस्थ—१. दंसण-नाण-चरित्ते तवे य अत्तहितो पवयणे य। तेसिं पासविहारी पासत्थं तं वियाणेहि॥ (व्यव. भा. १–२२७, पृ. १११)। २. अयोग्यं सुख-शीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थः। (भ. आ. विजयो. १९५०)। ३. यो वसतिसु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी च श्रमणानां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। (चा. सा. पृ. ६३)। ४. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणां पार्श्वे समीपे तिष्ठ-तीति पार्श्वस्थः रत्नत्रयबहिर्भूतः। (प्रायश्चित्तस. टी. ७–२५)। ५. वसत्युपधिसंगस्थः पार्श्वस्थः स्यात् × × ×। (आचा. सा. ६–५०)। ६. पार्श्व-स्थोऽन्योद्गमादिभोजी शबलाचारः। (व्यव. मलय. वृ. ३, १६५, पृ. ३५)। ७. निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किन्तु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति, नैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयमः, सोऽभिधीयते पार्श्वस्थः। (भ. आ. मूला. १९५०)। ८. पार्श्वस्थः दर्शनादीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। (सम्बोधस. वृ. ६, पृ. १०)।

१ जो आत्महितकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और प्रवचनके पार्श्व में विहार करता है—उनके पूर्णतया पालन में प्रयत्नशील नहीं रहता—उसे पार्श्वस्थ मुनि कहा जाता है। २ जो सुखस्वभाव होने से कारण के बिना ही अयोग्य का सेवन करता है, वह पार्श्वस्थ कहलाता है।

पार्षद्य—देखो पारिषद्य। १. वयस्यप्रायाः पार्षद्याः × × ×। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७३)।

२. तथा पर्षदि साधवः पार्षद्याः, "पर्षदो ण्यणौ" इति ण्य-प्रत्ययः, ते च वयस्यस्थानीयाः मित्रसदृशा देवराजानामिति भावः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २)। ३. पर्षदि साधवः पार्षद्याः, देवराजानां मित्रप्रायाः। (संग्रहणी दे. वृ. १)।

१ मित्र के समान जो देव होते हैं वे पार्षद्य कहलाते हैं।

पार्ष्णिग्राह—यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः। (नीतिवा. २८-२६, पृ. ३१६)।

जो विजिगीषु के प्रस्थान कर चुकने पर अथवा प्रस्थान के समय पीछे क्रोध को उत्पन्न करता है उसे पार्ष्णिग्राह कहते हैं।

पालित—पालितं चेव—पुनः पुनरुपयोगप्रतिजागरणेन रक्षितम्। (आव. नि. हरि. वृ. १५९३, पृ. ८५१)।

बार-बार के उपयोग और जागरूकता से सुरक्षित वस्तु को पालित कहते हैं।

पालिभेद, पालीभेद—संजममहातलागस्स णाणवेरग्गसुपडिपुण्णस्स। सुद्धपरिणामजुत्तो तस्स उ अणइक्कमो पाली॥ संजमअभिमुहस्स वि विसुद्धपरिणामभावजुत्तस्स। विकहादिसमुप्पण्णो तस्स उ भेदो मुणेयव्वो॥ अहवा पालयतीति उवस्सयं तेण होति सा पाली। तीसे जायति भेदो अप्पाण-परोभयसमुत्थो॥ (बृहत्क. ३७०४-६)।

शुद्ध परिणाम से युक्त साधु ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण संयमरूप महासरोवर का जो उल्लंघन नहीं करता है, इसका नाम पालि है। संयम के अभिमुख होते हुए भी साध्वी के उपाश्रय में जाने पर विकथा आदि के कारण उक्त पालि का भेद (विनाश) होता है। अथवा 'पालयतीति पाली' इस निरुक्ति के अनुसार उपाश्रय का रक्षण करने वाली साध्वी को पाली कहा जाता है। संयत को देखकर उस अकेली का अपने द्वारा, पर के (जाने वाले साधु के) द्वारा अथवा दोनों के द्वारा भेद (विभाग) होता है। यह उपाश्रय में जाने का दोष है।

पाशमुद्रा—अंगुष्ठं तर्जनीं संयोज्य शेषाङ्गुलीप्रसारणेन पाशमुद्रा। परस्परोन्मुखौ मणिबन्धाभिमुखकरशाखौ करौ कृत्वा ततो दक्षिणाङ्गुष्ठ-कनिष्ठिकाभ्यां वाममध्यमानामिके तर्जनीं च तथा वामाङ्गुष्ठ-कनिष्ठिकाभ्यामितरस्य मध्यमानामिके तर्जनीं समाक्रमयेदिति पाशमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३२)।

दोनों हाथों की तर्जनी और अंगूठों को मिलाकर शेष अंगुलियों के पसारने को पाशमुद्रा कहते हैं।

पाशस्थ—१. पासोत्ति बंधणंति य एगट्ठं बंधहेयवो पासा। पासत्थिओ पासत्थो ××× ॥ (व्यव. भा. १-२२६, पृ. १११)। २. मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवस्ते पाशा इव पाशास्तेषु स्थितः पाशस्थः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-२२६, पृ. १११)। ३. मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशाः, पाशेषु तिष्ठतीति पाशस्थः। (सम्बोधस. वृ. ६, पृ. १०)।

१ पाश और बन्धन ये समानार्थक शब्द हैं, बन्धन के हेतुओं—मिथ्यादर्शनादिकों को—पाश कहा जाता है, इस प्रकार के पाश में जो स्थित है उसे पाशस्थ कहते हैं।

पाषण्डस्थापनानाम—१. समणे य पंडुरंगे भिक्खू कावालिए अ तावसए। परिवायगे, से तं पासंडनामे॥ (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४६)। २. इह येन यत् पाषण्डमाश्रितं तस्य तन्नाम स्थाप्यमानं पाषण्डस्थापनानामाभिधीयते। (अनुयो. सू. मल. हेम. वृ. १३०, पृ. १४६)।

२ श्रमण (निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गेरुक और आजीव ये पांच) पांडुरंग, भिक्षु, कापालिक, तापस और परिव्राजक; इनमें से जिसने जिस पाषण्ड का आश्रय लिया है उसके स्थापित किये जाने वाले उस नाम को पाषण्डस्थापना-नाम कहा जाता है।

पाषण्डिमूढता—देखो पाखण्डिमूढता।

पांशु—पांशवो नाम धूमाकारमापाण्डुरमचित्तं रजः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ७-२८२)।

धुएं के आकार वाली कुछ सफेद अचित्त धूलि का नाम पांशु है।

पिङ्गलनिधि—देखो पाण्डु। १. सव्वा आभरणविही पुरिसाणं जा य होइ महिलाणं। आसाण य हत्थीण य पिंगलगणिहिंमि सा भणिया॥ (जम्बूद्वी. ६६, पृ. २५६)। २. नराणामथ नारीणां हस्तिनां वाजिनामपि। सर्वोऽप्याभरणविधिर्निधेर्भवति पिंगलात्॥ (त्रि. श. पु. च. १, ४, ५७६)।

१ पुरुषों, स्त्रियों, घोड़ों और हाथियों के आभरणों की जो सब विधि है वह पिंगलनिधि में कही गई है।

पिच्छ—पिच्छः परिहारः, यतः परिहारप्रायश्चित्तं विदधानः अहं परिहारप्रायश्चित्तीति ज्ञापननिमित्त-

मग्रत: पिच्छं प्रतिदर्शयति ततः परिहारः पिच्छमित्युच्यते। (प्रायश्चित्तस. टी. ६-१८)।

'पिच्छ' यह परिहारप्रायश्चित्तका नाम है। कारण इसका यह है कि परिहारप्रायश्चित्त को स्वीकार करने वाला 'मैं परिहारप्रायश्चित्त वाला हूं' यह बतलाने के लिए आगे पिच्छी को दिखलाता है, इसी से परिहार को पिच्छ कहा जाता है।

पिण्डकल्पिक—पढिए य कहिय अहिगय परिहरति पिंडकप्पितो एसो। तिविहं तीहिं विसुद्धं परिहरनवगेण भेदेणं॥ (बृहत्कल्प. ५३२)।

जो दशवैकालिक के अन्तर्गत पिण्डैषणा अध्ययन के पढ़ लेने, अर्थ के कहने, उसके समझ लेने और समझकर तदनुसार श्रद्धा के कर लेने पर उद्गम, उत्पादन व एषणा दोषों से शुद्ध तथा मन, वचन एवं काय से विशुद्ध इन परिहारविषयक नौ से परिहार करता है—मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुमोदना से अशुद्ध आहार को ग्रहण नहीं करता है—वह पिण्डकल्पिक कहलाता है।

पिण्डप्रकृति—१. एवमेदाम्रो (गदि-जादिपहुडिम्रो) याम्रो वादालीसं पिंडयडीम्रो। को पिंडो णाम? बहूणं पयडीणं संदोहो पिंडो। (धव. पु. १३, पृ. ३६६)। २. अनेकावान्तरभेदपिण्डात्मकाः प्रकृतयः पिण्डप्रकृतयः। (सप्तति. मलय. वृ. ६)।

१ बहुत प्रकृतियों के समूहरूप प्रकृतियां पिण्डप्रकृतियां कहलाती हैं। २ अवान्तर अनेक भेदवाली कर्म-प्रकृतियों को पिण्डप्रकृति कहते हैं।

पिण्डस्थध्यान—१. जीवपएसप्पचयं पुरिसायारं हि णिययदेहत्थं। अमलगुणं झायंतं झाणं पिंडत्थअहिहाणं॥ (भावसं. दे. ६२२)। २. णियणाहिकमलमज्झे परिट्ठियं विप्फुरंतरवितेयं। झाएह अरुहरूवं झाणं तं मुणह पिंडत्थं॥ झायह णियकर (?) मज्झे भालयले हियय-कंठदेसम्मि। जिणरूवं रवितेयं पिंडत्थं मुणह झाणमिणं॥ (ज्ञानसार १९-२०)। ३. पिण्डस्थो ध्यायते यत्र जिनेन्द्रो हतकल्मषः। तत् पिण्डपङ्कजकध्वंसि पिण्डस्थं ध्यानमिष्यते॥ (अमित. श्रा. १५-५३)। ४. सियकिरणविप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरियं। झाइज्जइ जं णिययं पिण्डत्थं जाण तं झाणं॥ अहवा णाहिं च वियप्पिऊण मेरु अहोविहायम्मि। झाइज्ज अहोलोयं तिरियम्मं तिरिए वीए॥ उड्ढम्मि उड्ढलोयं कप्पविमाणाणि संधपरियंते। गेविज्जमया गीवं अणुद्दिसं हणुपएसम्मि॥ विजयं च वैजयंतं जयंतमवराजियं च सव्वत्थं। झाइज्ज मुहपएसे णिलाडदेसम्मि सिद्धसिला॥ तस्सुवरि सिद्धणिलयं जहसिहरं जाण उत्तमंगम्मि। एवं जं णियदेहं झाइज्जइ तं पि पिण्डत्थं॥ (वसु. श्रा. ४५९-६३)। ५. पिण्डो देह इति तत्र तत्रास्त्यात्मा चिदात्मकः। तस्य चिन्तामयं सद्भिः पिण्डस्थं ध्यानमीरितम्॥ (भावसं. वाम. ६६१)। ६. नाभिपद्मादिरूपेषु ध्यानं स्थानेषु योगिनाम्। यदिष्टदेवतादीनां तत्पिण्डस्थं निगद्यते॥ (गु. गु. ष. स्वो. वृ. २, पृ. १०)। ७. अन्तःकरणसंस्थं यच्छरीरे निश्चलं भवेत्। तन्मयत्वादिशुद्धं तत् पिण्डस्थं ध्यानमुच्यते॥ (बुद्धिसा. ११७, पृ. २४)।

१ अपने शरीर में पुरुष के आकार जो निर्मल गुण वाला जीवप्रदेशों का समुदाय स्थित है उसके चिन्तन का नाम पिण्डस्थ ध्यान है। ६ नाभिकमलादिरूप स्थानों में जो इष्ट देवता आदिकों का ध्यान किया जाता है, वह योगियों का पिण्डस्थध्यान कहलाता है।

पिता—पाति रक्षत्यपत्यमिति पिता। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५७)।

सन्तान के पालन करने वाले को पिता कहते हैं।

पितामह—यस्य वाक्यामृतं पीत्वा भव्या मुक्तिमुपागताः। दत्तं येनाभयं दानं सत्त्वानां स पितामहः। (आप्तस्व. ३६)।

जिसके वचनामृत को पीकर—उपदेश को हृदयंगम करके—भव्य जीवों ने मुक्ति को प्राप्त किया है तथा जिसने जीवों को अभयदान दिया है, उसे पितामह कहा जाता है।

पिपासापरीषहजय—देखो तृषापरीषहजय। पिपासितः पथिस्थोऽपि तत्त्वविद्दैन्यवर्जितः। शीतोदकं नाभिलषेन्मृगयेत् कल्पितोदकम्॥ (आव. नि. हरि. वृ. ६१८, पृ. ४०३)।

मार्ग में स्थित तत्त्वज्ञ साधु प्यास से पीड़ित होता हुआ भी दीनता से रहित होकर शीतल जल की इच्छा नहीं करता, किन्तु कल्पित (ग्राह्य) जल की ही जो अपेक्षा करता है, यह पिपासापरीषहजय है।

पिपासासहन—देखो तृषापरीषहजय। १. जलस्नानावगाहन-परिषेकपरित्यागिनः पतत्रिवदनियता-

सनावसथस्यातिलवण-स्निग्ध-रूक्षविरुद्धाहार-ग्रैष्मातप-पित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यनाद्रियमाणप्रतिकारस्य पिपासानलशिखां धृतिनवमृद्घटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिवारिणा प्रशमयतः पिपासासहनं प्रशस्यते। (स. सि. ९–९)। २. उदन्योदीरकहेतूपनिपाते तद्वशाप्राप्तिः पिपासासहनम्। (त. वा. ९, ९ ३; त. श्लो. ९–९); स्नानावगाहन-परिषेकत्यागिनः पतत्रिवदध्रुवासनावसथस्यातिलवण-स्निग्ध-रूक्षविरुद्धाहार-ग्रैष्मातप-पित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारमनसो निदाघे पटुतपनकिरणसन्तापिते अटव्यामासन्नेष्वपि ह्रदेष्वप्कायिकजीवपरिहारेच्छया जलमनाददानस्य सलिलसेकविवेकम्लानां लतामिव ग्लानिमुपगतां गात्रयष्टिमवगणय्य तपःपरिपालनपरस्य भिक्षाकालेऽपीङ्गिताकारादिभिः योग्यमपि पानमचोदयतो धैर्यकुम्भावधारितशीलसुगन्धिप्रज्ञा-तोयेन विध्यापयतः तृष्णाग्निशिखां संयमपरत्वं पिपासासहनमित्यवसीयते। (त. वा. ९, ९, ३; चा. सा. पृ. ४९)। ३. अतीवोत्पन्नपिपासां प्रति प्रतिकारमकुर्वतो भिक्षाकालेऽपीङ्गिताकारादिभिरपि योग्यमपि पानमप्रार्थयतो धैर्य-प्रज्ञाबलेन पिपासासहनम्। (आरा. सा. टी. ४०)।

१ जिसने स्नान व जलसिंचन आदि का परित्याग कर दिया है तथा जिसके रहने का स्थान कोई नियत नहीं है ऐसा साधु अत्यन्त खारे, चिकने व रूखे विपरीत भोजन से तथा ग्रीष्म ऋतु के आतप एवं पित्तज्वर से उत्पन्न व शरीर और इन्द्रियों को पीड़ित करने वाली प्यास के प्रतीकार के लिए उत्सुक न होकर जो उसे धैर्य के साथ सहता है, यह उसका पिपासासहन प्रशंसनीय है।

पिशाच—१. पिशाचाः सुरूपाः सौम्यदर्शना हस्तग्रीवासु मणि-रत्नविभूषणाः कदम्बवृक्षध्वजाः। (त. भा. ४–१२)। २. पिशाचाः स्वभावतः सुरूपाः सौम्यदर्शना हस्त-ग्रीवासु मणि-रत्नमयविभूषणाः। (बृ. संग्रहणी मलय. वृ. ५८)।

१ सुरूप, सौम्यदर्शन, हाथ और गले में मणियों व रत्नों के आभूषणों के धारक तथा कदम्ब वृक्ष से चिह्नित ध्वजाओं के धारण करने वाले व्यन्तर देवों को पिशाच कहते हैं।

पिशुन—पिशुनं प्रीतिविच्छेदकारि द्वयोर्बहूनां वा सत्यासत्यदोषाख्यानात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६, पृ. १९६)।

दो या बहुत से व्यक्तियों के सत्य या असत्य दोषों के कहने को पिशुन वचन कहते हैं। ऐसा वचन प्रीति को नष्ट करने वाला होता है।

पिशुल—एदस्स सगलपक्खेवअणंतिमभागस्स पिसुल इदि सण्णा होदि। (धव. पु. १२, पृ. १५८)।

सकल प्रक्षेप के अनन्तवें भाग प्रमाण उसके एक खण्ड का नाम पिशुल है।

पिशुलापिशुल—पुणो तेणेव (सव्वजीवरासिणा) भागहारेण एगपिसुले भागे हिदे एगं पिसुलापिसुलमागच्छदि। (धव. पु. १२, पृ. १६०)।

एक पिशुल में उसी सब जीवराशिरूप भागहार का भाग देने पर एक पिशुलापिशुल आता है।

पिहित—१. सच्चित्तेण व पिहिदं अथवा अचित्तगुरुगपिहिदं च। तं छंडिय जं देयं पिहिदं तं होदि बोधव्वो॥ (मूला. ६–४७)। २. सचित्तपृथिव्या अपां हरितानां बीजानां त्रसानामुपरि स्थापितं पीठफलकादिकम् अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते सा पिहिता। (भ. आ. विजयो. २३०)। ३. तथा पिहितश्छादितः अप्रासुकेन प्रासुकेन च महता यदवष्टब्धमाहारादिकं तदावरणमुत्क्षिप्य दीयमानं यदि गृह्णाति तदा तस्य पिहितनामाशनदोषः। (मूला. वृ. ६–४३)। ४. सचित्तेन फलादिना स्थगितं पिहितम्। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)। ५. सचित्तेनाब्जपत्रादिना वृतं पिहिताशनम्। (आचा. सा. ८–४७)। ६. पिहितं देयमप्रासु गुरु प्रास्वपनीय वा॥ (अन. ध. ५–२९)। ७. हरितकण्टक-सचित्तमृत्तिकापिधानम् आकृष्य दीयमाना पिहिता। (भ. आ. मूला. २३०)। ८. सचित्तेन पद्मपत्रादिना यत्पिहितं तदन्नं पिहितम्। (भा. प्रा. टी. ९९)।

१ सचित्त पत्ते आदि से अथवा किसी भारी अचित्त (प्रासुक) वस्तु से ढके हुए भोज्य पदार्थ के ऊपर से उसे हटाकर जो दिया जाता है उसमें पिहितदोष जानना चाहिए। २ सचित्त पृथिवी, जल, हरित, बीज अथवा त्रस जीवों के ऊपर शय्या के रूप में स्थापित आसन या पाटे आदि के देने पर पिहितदोष होता है।

पिहिता—सचित्तमृत्तिकापिधानमपाकृष्य या (वस-

ति:) दीयते सा पिहिता। (कार्तिके. टी. ४४८-४९, पृ. ३३८)।

सचित्त मिट्टी आदि के आवरण को हटाकर जो वसति दी जाती है वह पिहित दोष से दूषित होती है।

पीठमर्दक—कामशास्त्राचार्य: पीठमर्दक:। (नीतिवा. १४-२२)।

कामशास्त्र के आचार्य को पीठमर्दक कहा जाता है।

पीडा—पीडा दण्ड-कशाद्यभिघात:। (रत्नक. टी. टी. ३-८)।

लाठी या चाबुक आदि से ताडित करने का नाम पीडा है।

पीडाजनित आर्तध्यान—१. अर्तिर्दु:खमसातजातजनितं स्यादार्तमर्तौ भवम्, पापाऽऽदाननिदानमार्द्रसिचयं यद्वद्रज:संश्रयम्। मिथ्यादृष्टिगुणादिषड्गुणपदं येन प्रमादास्पदं—दुर्लेश्याश्रयजं सुदु:खजनकं तिर्यग्गतिप्रापकम्॥ (आचा. सा. १०-१९)। २. सन्तापेन पीडाचिन्तनेन वात-पित्त-श्लेष्मोद्भवकुष्ठंवर-भगंदर-शिरोर्ति-जठरपीडावेदनानां सन्तापेन पीडितेन प्रवृत्त: विकल्प: चिन्ताप्रबन्ध: कथं वेदनाया विनाशो भविष्यतीति पुन: पुनश्चिन्तनम्, अंगविक्षेपाक्रन्दकरणादि पीडाचिन्तनं तृतीयमार्तध्यानम्। (कार्तिके. टी. ४७३-७४)।

१ अर्ति नाम दु:ख का है जो असातावेदनीय के उदय से होता है, इस दु:ख में जो चिन्तन होता है वह आर्तध्यान कहलाता है; यह उसका निरुक्त लक्षण है। जिस प्रकार गीला वस्त्र धूलि के आश्रय का कारण है उसी प्रकार यह आर्तध्यान पाप के आने का कारण है, मिथ्यादृष्टि आदि छह गुणस्थानों में रहने वाला है, प्रमाद का स्थान है, तीन अशुभलेश्याओं के निमित्त से होता है, अतिशय दु:ख को उत्पन्न करने वाला है, तथा तिर्यंचगति की प्राप्ति का कारण है।

पीतलेश्य—विद्यावान् करुणासिन्धु: कार्याकार्यविचारक:। लाभालाभे सदाप्रीतस्तेजोलेश्य उदाहृत:॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ५, पृ. २०)।

विद्यावान्, दया के समुद्र (दयालु), कर्तव्य-अकर्तव्य के विचारक तथा लाभ-अलाभ में सदा प्रसन्न रहने वाले पुरुष को पीतलेश्य (पीतलेश्या वाला) कहा जाता है।

पीतलेश्या—पीतवर्णद्रव्यावष्टम्भात् पीतलेश्या। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-६)।

पीतवर्ण वाले द्रव्य के आश्रय से होने वाली आत्मपरिणति पीतलेश्या कहलाती है।

पुण्डरीक—१. पुंडरीयं देवेसु असुरेसु णेरइएसु च तिरिक्ख-मणुस्साणमुववादं छक्कालविसेसिदं परूवेदि। (धव. पु. ९, पृ. १९१)। २. भवनवास्यादिदेवेषु उत्पत्तिकारणतप:प्रभृतिप्रतिपादकं पुण्डरीकम्। श्रुतभ. टी. २६, पृ. १८०)। ३. पुण्डरीकं नाम शास्त्रं भावन-व्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासिविमानेषु उत्पत्तिकारणदान-पूजा-तपश्चरणाकामनिर्जरा-सम्यक्त्व-संयमादिविधानं तत्तदुपपादस्थान-वैभवविशेषं च वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. २६८)। ४. देवपदप्राप्तिपुण्यनिरूपकं पुण्डरीकम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-२०)। ५. पुंडरियणामसत्थं णमामि णिच्चं सहावेण॥ भावण-वितर-जोइस-कप्पविमाणेसु जत्थ वण्णिज्जइ। उप्पत्तीकारण खलु दाणं पूयं च तवयरणं॥ सम्मत्त संजमादि अकामणिज्जरणमेव जत्थ पुणो। तमुवा-[मुववा-] दट्ठाण-वेहव-सुह-संपत्ती च जीवाणं॥ (अंगप. ३१-३३, पृ. ३१०)।

१ जो अंगबाह्य श्रुत सुषमसुषमादि छह कालों के आश्रय से तिर्यंच और मनुष्यों की देवों, असुरों और नारकियों में उत्पत्ति का निरूपण करता है उसे पुण्डरीक कहा जाता है।

पुण्य—१. सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं। जो परिणदो स पुण्णो ××× ॥ (मूला. ५-३७)। २. पुद्गलकर्म शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासते दृष्टम्। ((प्रशमर. २१९)। ३. पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। (स. सि. ६-३)। ४. पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। कर्मण: स्वातंत्र्यविवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्, पारतंत्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्ते: पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत् सद्वेद्यादि। (त. वा. ६, ३, ४,)। ५. ××× पुण्यं सत्कर्मपुद्गला:। (षड्द. स. ४९, पृ. १३८)। ६. सुहपयडीओ पुण्णं। (धव. पु. १३, पृ. ३५२)। ७. शुभपरिणामो जीवस्य तन्निमित्त: कर्मपरिणाम: पुद्गलानां च पुण्यम्। (पंच. का. अमृत. वृ. १०८)। ८. पुण्यं शुभकर्मप्रकृतिलक्षणम्। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ५, १६, पृ. १२७)। ९. पुण्णं शुभप्रकृतिस्वरूपपरिणत-

पुद्गलपिण्डो जीवाह्लादननिमित्तः। (मूला. वृ. ५, ६)। १०. पुण्यं शुभं कर्म। (समवा. अभय. वृ. १, पृ. ६)। ११. पुणति शुभीकरोति, पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यं शुभकर्म। (स्थाना. अभय. वृ. १-११)। १२. सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं ×××॥ (विवेकवि. ८-२५; षड्द. राज. १३)। १३. पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म। (स्याद्वादम. २७)। १४. पुण्यं शुभाः कर्मपुद्गलाः। (षड्दस. गु. वृ. ४७, पृ. १३७)। १५. पुण्यं शुभप्रकृतिलक्षणम्। (प्रमाल. ३०५)। १६. पुनात्यात्मानमिति पुण्यं पूयते पवित्रीक्रियते अनेनेति वा पुण्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६-३)। १७. पुण्यं कर्म शुभं प्रोक्तं। (अध्यात्मसा. १८-६०)।

१ जो सम्यक्त्व, श्रुत, विरति और कषायनिग्रह इन गुणों से परिणत है उसे पुण्य कहा जाता है। २ शुभ पुद्गल कर्म का नाम पुण्य है।

पुण्यप्रकृति—पुण्यप्रकृतयो जीवाह्लादजनकाः शुभा उच्यन्ते। (शतक. वे. स्वो. वृ. १)।

जीव को आह्लादजनक सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों को पुण्यप्रकृति कहते हैं।

पुत्र—१. यः उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः। (नीतिवा. ५-११, पृ. ४५)। २. पुनाति पितुराचारवर्तितयाऽऽत्मानमिति पुत्रः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५७)। ३. यः पुनाति निजाचारैः पितरः पूर्वजानिति। पुत्रः स गीयते वप्तुः ×××॥ (धर्मसं. श्रा. ८-४२)। ४. तथा च भागुरिः—कुल पाति समुत्थो यः स्वधर्मं प्रतिपालयेत्। पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृ-मातृपरायणः॥ (नीतिवा. टी. ५-११, उद्.)।

१ जो उत्पन्न होकर वंश को पवित्र करता है वह पुत्र कहलाता है। २ जो पिता के आचरण का अनुसरण करके अपने आपको पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं।

पुद्गल—१. खंधा देस-पदेसा अणु त्ति वि य पोग्गला रूवी। (मूला. ५-३५)। २. रूपिणः पुद्गलाः। (त. सू. ५-५); स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः। (त. सू. ५-२३); शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च। (त. सू. ५-२४; भ. आ. मूला. ३६२)। ३. स्पर्शः रसः गन्धः वर्ण इत्येवंलक्षणाः पुद्गलाः भवन्ति। (त. भा. ५, २३); तत्राधोगौरवधर्माणः पुद्गलाः। (त. भा. १०-६)। ४. ××× रूपिणः पुद्गला प्रोक्ताः॥ (प्रशमर. २०७)। ५. सद्दंधयार-उज्जोओ पहा छायाऽऽतवेइ वा। वण्ण-रस-गंध-फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं॥ (उत्तरा. २८-१२; नवत. ११)। ६. पूरण-गलनधर्माणः पुद्गलाः। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ६६२; स्थाना. अभय. वृ. ५१; शतक. वे. स्वो. वृ. ८६)। ७. मुत्ता पुण पुग्गला णेया। (प्रनाविंशतिका २)। ८. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दा मूर्तस्वभावकाः। संघात-भेदनिष्पन्नाः पुद्गला जिनदेशिताः॥ (श्रा. प्र. टी. ७८, उद्.)। ९. छव्विह-संठाणं बहुविहदेहेहि पूरदि गलदि त्ति पोग्गलो। (धव. पु. १, पृ. ११९); रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवन्तः पुद्गलाः। (धव. पु. ३, पृ. २); पोग्गलदव्वस्स वण्ण-गंध-रस-फासविसेसेहि परिणामो सब्भावकिरिया। (धव. पु. १३, पृ. ४३); रूव-रस-गंध-पास-लक्खणं पोग्गलदव्वं। (धव. पु. १४, पृ. ३३); पूरण-गलणसहावा पोग्गला णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३६)। १०. रूव-रस-गंध-पासवंतो पोग्गला। (जयध. १, पृ. २८६ उद्.)। ११. वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शैः पूरणं गलनं च यत्। कुर्वन्ति स्कन्धवत्तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः॥ (ह. पु. ७-३६)। १२. वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः। पूरणाद् गलनाच्चैव सम्प्राप्तान्वर्थनामकाः॥ (म. पु. २४, १४५)। १३. पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः—परमाणुप्रभृतयोऽनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धपर्यवसानाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-४); पूरण-गलनलक्षणाः पुद्गलाः स्कन्धीभूताः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-२ व १०-६)। १४. पुद्गलास्तु रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवन्तः अणु-स्कन्ध-रूपभेदाद् द्विविधाः। (भ. आ. विजयो. ३६)। १५. जं इंदिएहिं गिज्झं रूव-रस-गंध-फासपरिणामं। तं चिय पुग्गलदव्वं अणंतगुणं जीवरासीदो। (कार्तिके. २०७)। १६. भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद् गलनादपि। पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति॥ (त. सा. ३-५५)। १७. वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः। (समय. क. २-१२)। १८. रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दवान् पुद्गलः स्मृतः। अणु-स्कन्धप्रभेदेन द्विस्वभावतया स्थितः॥ (चन्द्र. च. १८-७८)। १९. रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दवन्तोऽत्र पुद्गलाः। (अमित. श्रा. ३-३०)। २०. पूरण-गलनस्वभावत्वात् पुद्गलः। (बृ. द्रव्यसं. टी. १५;

त. वृत्ति श्रुत. ५–५) । २१. रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवन्तो हि पुद्गलाः । (न्यायकु. १–५, पृ. १५५) । २२. रूपाद्यात्मकत्वं पुद्गलस्यैव लक्षणम् । (सिद्धिवि. वृ. ४–८, पृ. २५४) । २३. पुद्गलाः स्युः स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णस्वरूपिणः । (योगशा. १–१६) । २४. गलन-पूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः । (नि. सा. वृ. ६) । २५. रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्दवन्तश्च पुद्गलाः । (धर्मशं. २१–६०) । २६. पूर्यन्ते गलन्ति च पुद्गलाः । (त. वृत्ति श्रुत. ५–२३) । २७. वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः । (जम्बू. च. ३, ४५) । २८. द्रव्यं मूर्तिमदाख्यया हि तदिदं स्यात्पुद्गलः संमतः । (अध्यात्मक. ३–१६) ।

१ स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और अणु ये रूपी—रूप, रस, गन्ध व स्पर्श वाले द्रव्य—पुद्गल कहलाते हैं । ५ शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप इत्यादि पर्यायें तथा वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये गुण; यह सब पुद्गलों का लक्षण है ।

पुद्गलक्षेप—देखो बहिःपुद्गलक्षेप । १. लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः । (स. सि. ७–३१; त. श्लो. ७–३१) । २. लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः । कर्मकरान् पुरुषानुद्दिश्य लोष्ठ-पाषाणनिपातः पुद्गलक्षेप इति कथ्यते । (त. वा. ७, ३१, ५) । ३. बहिःपुद्गलप्रक्षेपः अभिगृहीतदेशाद् बहिः प्रयोजनभावे परेषां प्रबोधनाय यः लोष्ठादिक्षेपः पुद्गलप्रक्षेप इति भावना । (आव. नि. हरि. वृ. ६, पृ. ८३५) । ४. कर्मकरानुद्दिश्य लोष्ठ-पाषाणादिनिपातः पुद्गलक्षेपः । (चा. सा. पृ. ६) । ५. पुद्गलस्य शर्करादेर्नियमितक्षेत्राद् बहिर्वर्तिनो जनस्य बोधनाय तदभिमुखं प्रक्षेपः पुद्गलप्रक्षेपः । (ध. बि. मु. वृ. ३–२२) । ६. तेषामेव लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः । (रत्नक. टी. ४–६) । ७. तथा पुद्गलाः परमाणवस्तत्संघातसमुद्भवा बादरपरिणामं प्राप्ता लोष्टेष्टकाः काष्ठ-शलाकादयोऽपि पुद्गलास्तेषां क्षेपणं प्रेरणम् । (योगशा. स्वो. विव. ३–११७)। ८. पुद्गलक्षेपणं परिगृहीतदेशाद् बहिः स्वयमगमनात् कार्यार्थितया व्यापारकारकाणां चोदनाय लोष्ठादिप्रेरणम् । (सा. ध. ५–२७) । ९. पुद्गलस्य लोष्ठादेः क्षेपो निपातः पुद्गलक्षेपः । (त. वृत्ति श्रुत. ७–३१) । १०. अस्ति पुद्गलनिक्षेपनामा दोषोऽत्र संयमे । इतो वा प्रेषणं तत्र पत्रिकाहेमवाससाम् ॥ (लाटीसं. ६–१३३) ।

२ काम करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके कंकड़-पत्थर आदि पुद्गलों का फेंकना, यह पुद्गलक्षेप नामक देशावकाशिक व्रत का एक अतिचार है । ३ नियमित देश के बाहिर प्रयोजन के उपस्थित होने पर दूसरों को प्रबोधित करने के लिए कंकड़ आदि के फेंकने का नाम पुद्गलप्रक्षेप है ।

पुद्गलक्षेपण—देखो पुद्गलक्षेप ।

पुद्गलगति—जं णं परमाणुपोग्गलाणं जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं गती पवत्ती से तं पोग्गलगती । (प्रज्ञाप. २०५, पृ. ३२७) ।

परमाणुरूप पुद्गलों से लेकर अनन्तप्रदेश वाले स्कन्धों तक जो पुद्गलों का गमन (प्रवृत्ति) होता है इसका नाम पुद्गलगति है ।

पुद्गलनोभवोपपातगति—जण्णं परमाणुपोग्गले लोगस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ पच्चत्थिमिल्लं चरमंतं एगसमएणं गच्छति, पच्चत्थिमिल्लाओ वा चरमंताओ पुरत्थिमिल्लं चरमंतं एगसमएणं गच्छति, दाहिणिल्लाओ वा चरमंताओ उत्तरिल्लं चरमंतं एगसमएणं गच्छति, एवं उत्तरिल्लाओ दाहिणिल्लं, उवरिल्लातो हेट्ठिल्लं, हिट्ठिल्लाओ उवरिल्लं; से तं पोग्गलणोभवोववायगती । (प्रज्ञाप. २०५, पृ. ३२७) ।

परमाणु पुद्गल जो एक समय में पूर्व दिशा के अन्त से पश्चिम दिशा के अन्त तक, पश्चिम दिशा के अन्त से पूर्व दिशा के अन्त तक, दक्षिण दिशा के अन्त से उत्तर दिशा के अन्त तक, उत्तर दिशा के अन्त से दक्षिण दिशा के अन्त तक, इसी प्रकार ऊपर के अन्त भाग से नीचे के अन्त भाग तक और नीचे से ऊपर तक जाता है; यह सब पुद्गल की नोभवोपपातगति कहलाती है ।

पुद्गलपरावर्त—१. पुद्गलपरावर्तो नाम त्रैलोक्यगतपुद्गलानामौदारिकादिप्रकारेण ग्रहणम् । (श्रा. प्र. टी. ७२) । २. यदौदारिक-वैक्रिय-तैजस-भाषा-आनापान-मनःकर्मसप्तकेन संसारोदरविवरवर्तिनः पुद्गलाः आत्मसात्परिणामिता भवन्ति तदा पुद्गलपरावर्त इति । (आचारा. शी. वृ. २, ३, ७८) ।

३. ओसप्पिणी अणंता पोग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो। ते ऽणंता तीयद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा। (प्रव. सारो. १६२)। ४. पुद्गलानां परमाणूनामौदारिकादिरूपतया विवक्षितैकशरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्तः परिणमनं यावति काले स तावान् कालः पुद्गलपरावर्तः। (पंचसं. मलय. वृ. २–३८, पृ. ७४)। ५. पुद्गलानां चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिसमस्तपरमाणूनां परावर्त औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचनं यस्मिन् कालविशेषे स पुद्गलपरावर्तः। (शतक. दे. स्वो. वृ. ८६)।

१ तीनों लोकों में स्थित समस्त पुद्गलों को औदारिकादि शरीररूप से ग्रहण कर लेने का नाम पुद्गलपरावर्त है। २ जब संसार के मध्यगत समस्त पुद्गल औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, भाषा, आनपान, मन और कर्म इन सात के रूप में आत्मसात् करके परिणमा लिए जाते हैं तब पुद्गलपरावर्त पूरा होता है।

पुद्गलपरिवर्तसंसार—सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण। असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे॥ (द्वादशानु. २५; स. सि. २–१०, उद्.; धव. पु. ४, पृ. ३२६, उद्.)।

जीव ने पुद्गलपरिवर्तरूप संसार में सभी पुद्गलों को निरन्तर अनन्त बार भोगकर छोड़ा है।

पुद्गलप्रक्षेप—देखो पुद्गलक्षेप।

पुद्गलबन्ध—१. फासेहिं पोग्गलाणं बंधो ××× । (प्रव. सा. २–८५)। २. दो-तिण्णिआदिपोग्गलाणं जो समवाओ सो पोग्गलबंधो णाम। ××× जेण णिद्ध-ल्हुक्खादिगुणेण पोग्गलाणं बंधो होदि सो पोग्गलबंधो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४७)। ३. यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्ध-रूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–८५)। ४. मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बन्धः स केवलपुद्गलबन्धः। (कार्तिके. टी. २०६)।

२ दो-तीन आदि पुद्गलों का जो समवाय होता है उसका नाम पुद्गलबन्ध है। जिस स्निग्ध व रूक्ष आदि गुण से पुद्गलों का बन्ध होता है उसे पुद्गलबन्ध कहा जाता है। ३ कर्मों का जो स्निग्ध और रूक्ष स्पर्शविशेषों के आश्रय से एकतारूप परिणमन होता है उसे केवल पुद्गलबन्ध जानना चाहिए।

पुद्गलयुति—वाएण हिंडिज्जमाणपण्णाणं व एक्कम्हि देसे पोग्गलाणं मेलणं पोग्गलजुडी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४८)।

वायु से घूमने वाले पत्तों के समान जो पुद्गलों का एक स्थान में मिलाप होता है, इसे पुद्गलयुति कहा जाता है।

पुद्गलविपाक—पुद्गलेषु पुद्गलविषये विपाकः फलदानाभिमुख्यं पुद्गलविपाकः। (पंचसं. मलय. वृ. ३–२४, पृ. १२८)।

पुद्गलों के विषय में फल देने की अभिमुखता को पुद्गलविपाक कहते हैं।

पुद्गलविपाकिनी प्रकृति—१. आयावं संठाणं संघयण-सरीर-अंग-उज्जोयं। नामधुवोदय-उव-परघायं पत्तेय-साहारं॥ उदइयभावा पोग्गलविवागिणो ×××॥ (पंचसं. ३, २३–२४, पृ. १२८); आतपं संस्थानानि संहनन-शरीराङ्गोद्योतं नामध्रुवोदयोपघात-पराघातं प्रत्येक-साधारणम्। औदयिकभावाः पुद्गलविपाकिन्यः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–२४); कर्मपुद्गलद्रव्योदये यासामकर्मपुद्गलास्तथाविधपरिणामाः तद्भावे तद्भावमुपेत्योपचयहेतुत्वेन वर्तन्ते ताः पुद्गलविपाकिन्यः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–४६, पृ. १४३)। २. पुद्गलेषु पुद्गलविषये विपाकः फलदानाभिमुख्यं पुद्गलविपाकः, स विद्यते यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः। (पंचसं. मलय. वृ. ३–२४, पृ. १२८)। ३. पुद्गले पुद्गलविषये विपाकः फलदानाभिमुख्यं यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. १२)।

१ आतप, छह संस्थान, छह संहनन, औदारिक आदि तीन शरीर, तीन अंगोपांग, उद्योत, ध्रुवोदयी नामप्रकृतियां—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, तैजस व कार्मण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, शुभ और अशुभ ये बारह; उपघात, पराघात, प्रत्येक और साधारण इन छत्तीस प्रकृतियों का विपाक चूंकि पुद्गल के विषय में है, अतएव वे पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियां कहलाती हैं।

पुद्गलानुभाग—जर-कुट्ठक्खयादिविणासणं तदुप्पायणं च पोग्गलाणुभागो। जोणिपाहुडे भणिदमंत-तंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो। (धव. पु. १३, पृ. ३४९)।

ज्वर, कोढ और क्षय आदि रोगों को नष्ट करना और उत्पन्न करना; यह पुद्गलानुभाग—पुद्गलों का सामर्थ्य है। योनिप्राभृत में निर्दिष्ट मंत्र-तंत्र शक्तियों को पुद्गलानुभाग जानना चाहिए।

पुनरुक्त—१. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम्। (आव. नि. हरि. वृ. ८८१, पृ. ३७५)। २. शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पौनरुक्त्यमन्यत्रानुवादात्, अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं च। (आव. नि. मलय. वृ. ८८१, पृ. ४८३)।

१ शब्द व अर्थ के फिर से कहने का नाम पुनरुक्त है।

पुमान्—देखो पुरुष। १. प्रसूते स्वान् पर्यायान् इति पुमान्। (लघीय. स्वो. वि. ५-४७)। २. पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्। (त. सि. २-५२; त. वा. २, ५२, १)। ३. प्रसूते जनयति स्वानात्मीयान् पर्यायानिनि पुमान्। (न्यायकु. ५-४७, पृ. ६४८)। ४. कुरुते पुरुकर्माणि गर्भं रोपयते स्त्रियाम्। यतो भजति रामस्यं श्रेयः सद्भिस्ततः पुमान्। (पंचसं. अमित. १-२००)।

१ जो अपनी पर्यायों को—अपने जैसी सन्तान को—उत्पन्न करता है वह पुमान् (पुरुष) कहलाता है।

पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान—१. पुरओ अंतगयं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणि वा पईवं वा जोइं वा पुरओ काउं पणुल्लेमाणे २ गच्छेज्जा, से तं पुरओ अंतगयं। (नन्दी. सू. १०, पृ. ८२)। २. अयमत्र भावार्थः—स हि गच्छन् उल्काद्यः सकासात् पुरत एव पश्यति, नान्यत्र; एवं यतोऽवधिज्ञानाद् विविधक्षयोपशमनिमित्तत्वात् देशपुरत एव पश्यति नान्यत्र; तत् पुरतोऽन्तगतमभिधीयते, इत्येतावतांशेन दृष्टान्त इत्येवं सर्वत्र योज्यम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ३२)। ३. यथा कश्चित् पुरुषो हस्तगृहीतया दीपिकया पुरतः प्रेर्यमाणया पुरत एव पश्यति, नान्यत्र; एवं येनावधिना तथाविधक्षयोपशमभावतः पुरत एव संख्येयान्यसंख्येयानि वा योजनानि पश्यति नान्यत्र सोऽवधिः पुरतो ऽन्तगत इत्यभिधीयते। ××× उक्तं च नन्द्यध्ययनचूर्णौ—पुरतो गएणं पुरतो चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ. ५३७)।

१ जिस प्रकार कोई पुरुष उल्का (दीपिका), चडुलिका (अन्त में जलती हुई घास की पूलिका), अलात (उल्मुक), मणि, प्रदीप अथवा ज्योति को आगे करके प्रेरणा करता हुआ आगे ही देखकर जाता है, इसी प्रकार जिस अवधिज्ञान से आगे के देश को ही देखता-जानता है उसे पुरतः अन्तगत अवधिज्ञान कहते हैं।

पुरस्कार—पुरस्कारः सद्भूतगुणोत्कीर्तनं वन्दनाभ्युत्थानासनप्रदानादिव्यवहारश्च। (आव. सू. हरि. वृ. पृ. ६५८; त. भा. सिद्ध. वृ. ९-९; पंचसं. मलय. वृ. ४-२३, पृ. १९०)।

विद्यमान समीचीन गुणों की प्रशंसा करना तथा वन्दना करना, उठ कर खड़े हो जाना और आसन देना; इत्यादि व्यवहार का नाम पुरस्कार है।

पुराख्यान—भरतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणम्। पुराख्यानमितीष्टं तत् पुरातनविदां मते॥ (म. पु. ४-६)।

भरत आदि क्षेत्रों में राजधानी का वर्णन करना, इसे पुराख्यान कहा जाता है।

पुराण—१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराणम्। (रत्नक. टी. २-२)। २. पुराणं पुराभवमष्टाभिधेयं त्रिषष्टिशलाकापुरुषकथाशास्त्रम्। यदार्षम्—लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानं तपोद्वयम्। पुराणस्याष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि॥ (अन. ध. स्वो. टी. ३-९)।

१ त्रेसठ शलाकापुरुषों के आश्रित कथा का नाम पुराण है। २ उक्त शलाकापुरुषों के आश्रित कथाशास्त्र में इन आठ का वर्णन होना चाहिए—लोक, देश, पुर, राज्य, तीर्थ, दान, दोनों तप और गतिरूप फल।

पुराणस्कन्ध—त्रयः षष्टिरिहार्थाधिकाराः प्रोक्ताः महर्षिभिः। कथापुरुषसंख्यायास्तत्प्रमाणानतिक्रमात्॥ त्रिषष्ट्यवयवः सोऽयं पुराणस्कन्ध इष्यते। (म. पु. २, १२५-२६)।

महर्षियों ने पुराण में कथापुरुषसंख्या के अनुसार—वहां वर्णनीय शलाकापुरुषों की तिरेसठ संख्या के अनुसार—तिरेसठ अर्थाधिकारों का निर्देश किया है। इसीलिए वह पुराणस्कन्ध तिरेसठ अवयवों वाला—तिरेसठ अधिकारों से युक्त—माना जाता है।

पुरुष—देखो पुमान्। १. पूर्णः सुख-दुःखानामिति पुरुषः, पुरि शयनाद्वा पुरुष इति। (आव. नि. हरि.

वृ. ६७)। २. पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः। सुषुप्तपुरुषवदनुगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः, अङ्गनाभिलाष इति यावत्। पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुषः। ××× उक्तं च—पुरुगुणभोगे सेदे करेदि लोगम्मि पुरुगुणं कम्मं। पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो ॥ (धव. पु. १, पृ. ३४१); पुरुकर्मणि शेते, प्रमादयतीति पुरुषः। (धव. पु. ६, पृ. ४६)। ३. पुरौ प्रकृष्टे कर्मणि शेते प्रमादयति तानि करोतीति वा पुरुषः। (मूला. वृ. १२-१९२)। ४. पुरि शरीरे शयनात् पुरुषाः विशिष्टकर्मोदयाद्विशिष्टसंस्थानवत्शरीरवासिनः। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२३, पृ. २१८)। ५. यस्मात् कारणात् लोके यो जीवः पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाद्यधिकगुणसमूहे शेते स्वामित्वेन प्रवर्तते, पुरुभोगे नरेन्द्र-नागेन्द्र-देवेन्द्राद्यधिकभोगचये भोक्तृत्वेन प्रवर्तते च। पुरुगुणवत् कर्म धर्मार्थ-काम-मोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनमनुष्ठानं शेते करोति च, पुरौ उत्तमे परमेष्ठिपदे च शेते तिष्ठति च, तस्मात् कारणात् स जीव पुरुष इति वर्णितः। (गो. जी. म. प्र. २७३)।

१ जो सुख-दुःखोंसे पूर्ण होता है, अथवा जो पुर् अर्थात् शरीर में सोता है वह पुरुष कहलाता है। २ जो महान् गुणों और भोगों के विषय में सोता है उसे पुरुष कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिसके उदय से जीव सोते हुए पुरुष के समान गुणों से अनुगत रहता है—उनका सदुपयोग नहीं कर पाता है—और भोगों की प्राप्ति से रहित होता है उसे पुरुष कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो स्त्रीविषयक इच्छा करता है उसे पुरुष जानना चाहिए।

पुरुषकार—देखो पुरुषार्थ।

पुरुषज्ञान—पुरुषज्ञानम्—किमयं प्रतिवादी पुरुषः सांख्यः सौगतोऽन्यो वा तथा प्रतिभादिमानितरो वेति परिभावनम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ५८)।

यह प्रतिवादी पुरुष क्या सांख्य है, बौद्ध है या अन्य किसी मत का अनुयायी है तथा प्रतिभावान् है या नहीं—इत्यादि रूप से पुरुष की विशेषताओं के जानने को पुरुषज्ञान कहते हैं।

पुरुषलिंग—देखो पुमान् व पुंवेद।

पुरुषलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान—पुरुषलिङ्गे सिद्धानां केवलज्ञानं पुरुषलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८५)।

पुरुषलिङ्ग के रहते सिद्ध हुए जीवों के केवलज्ञान को पुरुषलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं।

पुरुषवेद—देखो पुमान्। १. पुरुषस्य पुरुषवेदोदयात् स्त्र्यभिलाषः। (का. अ. टी. १८)। २. जेसिं (कम्मक्खंधाणं) उदएण महेलियाए उवरि आकंखा उप्पज्जइ तेसिं पुरिसवेदो त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); पुरिसवेदोदएण पुरिसवेदो। (धव. पु. ७, पृ. ७९); जस्स कम्मस्स उदएण मणुस्सस्स इत्थीसु अहिलासो उप्पज्जदि तं कम्मं पुरिसवेदो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ३. इत्थीए पुण उवरिं अस्सिह उदएण रागमुप्पज्जे। सो तणदाहसमाणो होइ विवागो पुरिसवेए ॥ (कर्मवि. ग. ५२)। ४. यदुदये पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियामभिलाषो भवति स तृणाग्निज्वालासमानः पुंवेदः। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८; कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८४)। ५. पुरुषस्य वेदः पुरुषवेदः, पुरुषस्य स्त्रियं प्रत्यभिलाष इत्यर्थः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि पुरुषवेदः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३)। ६. पुंसः स्त्रियामभिलाषः पुंवेदः। (जीवाजी. मलय. वृ. १३; पंचसं. मलय. वृ. १-८, पृ. ११)। ७. यदुदयाच्च पुंसः स्त्रियामभिलाषः श्लेष्मोदये अम्लद्रव्याभिलाषवत्, स तृणज्वालासमानः पुंवेदः। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१५)। ८. यदुदयवशात् पुंसः स्त्रियामभिलाषः, श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत्, स पुरुषवेदः। (पंचसं. मलय. वृ. ३-५, पृ. ११३; कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ५)। ९. यत्पुनः पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियामभिलाषो भवति स पुंवेदः॥ (बृहत्क. मलय. वृ. ८३१)।

१ पुरुषवेद के उदय से पुरुष के स्त्रीविषयक अभिलाषा होती है। २ जिन पुद्गल कर्मस्कन्धों के उदय से महिला (स्त्री) के ऊपर आकांक्षा उत्पन्न होती है उनका नाम पुरुषवेद है।

पुरुषवेदोत्कृष्टप्रदेशसत्कर्मस्वामी—यो गुणितकर्मांशः क्षपकः स्त्रीवेदं सर्वसंक्रमेण पुरुषवेदे संक्रमयति, स पुरुषवेदस्योत्कृष्टसत्कर्मस्वामी। (पंचसं. च. स्वो. व मलय. वृ. ५-१५९)।

जो गुणितकर्मांशिक क्षपक स्त्रीवेद को सर्वसंक्रमण के द्वारा पुरुषवेद में संक्रमित करता है वह पुरुषवेद के उत्कृष्ट प्रदेशसत्कर्म का स्वामी होता है।

पुरुषार्थ—१. ××× विवरीयं तु पुरुषकारो मुणेयव्वो ॥ (उपदे. प. ३५०); अहवप्पकम्महेऊ ववसाओ होइ पुरिसगारो त्ति । (उपदे. प. ३५१) । २. विपरीतं तु यदनुदग्रं बहुना प्रयासेन परिणमति पुनस्तत्पुरुषकारो मुणितव्यः । अथवा ××× अल्पं तुच्छं कर्म दैवं पुरुषकारापेक्षया हेतुर्निमित्तं फलसिद्धौ यत्र स तथाविधो व्यवसायः पुरुषप्रयत्नो भवति पुरुषाकार इति । (उपदे. प. मु. वृ. ३५०, ३५१) ।

१ दैव से विपरीत—जिसमें बहुत प्रयत्न के द्वारा कर्म सातावेदनीय आदिरूप परिणत होता है उसे—पुरुषकार या पुरुषार्थ जानना चाहिए । अथवा फल की सिद्धि में जहां पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा दैव की सहायता अल्प रहती है उसका नाम पुरुषार्थ समझना चाहिए ।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् । यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ (पु. सि. १५) ।

विपरीत अभिप्राय को नष्ट करके आत्मस्वरूप का यथार्थ निश्चय करना और उससे विचलित नहीं होना, यही पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है ।

पुरुषोत्तम—सर्वोत्तमगुणैर्युक्तं प्राप्तं सर्वोत्तमं पदम् । सर्वभूतहितो यस्मात्तेनाऽसौ पुरुषोत्तमः ॥ (आप्तस्व. ३४) ।

समस्त प्राणियों के हित का अभिलाषी होते हुए जिसने अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों से युक्त उत्तम पद (कैवल्य अवस्था) को प्राप्त कर लिया है उसे पुरुषोत्तम समझना चाहिए ।

पुरोहित—१. पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत । (नीतिवा. ११–१, पृ. १६०) । २. पुरोहितः शान्तिकर्मकारी । (स्थाना. अभय. वृ. २४८; व्यव. मलय. वृ. (भा.) द्वि. वि. ३३, पृ. १२) ।

१ जिसका कुल-शील उत्तम हो तथा जो षडंग वेद, दैव (ज्योतिषशास्त्र), निमित्तशास्त्र और दण्डनीति में पारंगत होता हुआ दैविक एवं मनुष्यनिर्मित आपत्तियों का प्रतीकार करने वाला हो वह पुरोहित कहलाता है । राजा को ऐसे पुरोहित के लिए पास में रखना चाहिए । २ शान्तिकर्मक अनुष्ठान का कराने वाला पुरोहित कहलाता है ।

पुलवि—१. आवासब्भंतरे संट्ठिदाओ कच्छउडंडरवक्खारंतोट्ठियपिसिविदाहि समाणाओ पुलवियाओ णाम । (धव. पु. १४, पृ. ८६) । २. जंबूदीवं भरहो कोसल-सागेद-तग्घराइं वा । खंधंडर-आवासा-पुलवि-सरीराणि दिट्ठंता ॥ (गो. जी. १९४) ।

१ कच्छ उडंडर वक्षार (?) के भीतर पिसिवियों (?) के समान जो आवासों के भीतर निगोदजीवस्थान हैं उनका नाम पुलवि है । २ जिस प्रकार जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र, उसमें कोशलदेश, उसमें साकेत नगरी और उसमें घर हैं उसी प्रकार स्कन्ध, उनके भीतर अण्डर, उनके भीतर आवास, उनके भीतर पुलवि और उनके भीतर निगोदजीवों के शरीर होते हैं ।

पुलाक—१. उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित्पूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाका इत्युच्यन्ते । (स. सि. ९–४६; चा. सा. पृ. ४५)। २. सततमप्रतिपातिनो जिनोक्तादागमान्निर्ग्रन्थपुलाकाः । (त. भा. ९–४८; ×× × पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनविरतिषष्ठानां पराभियोगाद् बलात्कारेणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति, मैथुनमित्येके । (त. भा. ९–४९, पृ. २८७)। ३. अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीना पुलाकाः । उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित् कदाचित् परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तः अविशुद्धपुलाकसादृश्यात् पुलाकव्यपदेशमर्हन्ति । (त. वा. ९, ४६, १) । ४. पुलाका भावनाहीना ये गुणेषूत्तरेषु ते । न्यूनाः क्वचित् कदाचिच्च पुलाकाभा व्रतेष्वपि ॥ (ह. पु. ६४–५९) । ५. अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः ईषद्विशुद्धिपुलाकसादृश्यात् । (त. श्लो. ९-४६)। ६. पुलाको निःसार इति प्रख्यं लोके । पलञ्जिस्तण्डुलकणशून्या पुलाकः । एवं निर्ग्रन्थोऽपि लब्धिमुत्पन्नां तपःश्रुताभ्यां हेतुभ्यामुपजीवन् सकलसंयमगलनात् पञ्जलिरूपं निःसारमात्मानं करोति । ज्ञानदर्शन-चरणानि च सारः तदपगमान्निःसारः । जिनप्रणीतादागमाद्धेतुतः सदैवाप्रतिपातिनः, आगमाश्च सम्यग्दर्शनमूलज्ञान-चरणे निर्वाणहेतू इत्यस्मादपरिभ्रष्टाः अद्दधाना ज्ञानानुसारेण क्रियानुष्ठायिनो लब्धिमुपजीवन्तो निर्ग्रन्थाः पुलाका भवन्ति । उप-

जीवन्तश्च निःसारतामात्मनः कुर्वन्तीति ग्राह्यम्। सततमप्रमादिन इत्यपरे पठन्ति। जिनोक्तादागमाद्धेतुभूतान्मुक्तिसाधनेषु न प्रमाद्यन्ति जातुचिदिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४८); ××× तदेवमन्यतमं मूलगुणं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४९)। ७. पुलाकशब्देनासारं निःसारं धान्यं तण्डुलकणशून्यं पलञ्जिरूपं भण्यते, तेन पुलाकेन समं सदृशं यस्य साधोश्चरणं चारित्रं भवति स पुलाकः, पुलाक इव पुलाक इति कृत्वा। अयमर्थः—तपःश्रुतहेतुकायाः सङ्घादिप्रयोजने सबलवाहनस्य चक्रवर्त्यादेरपि चूर्णने समर्थाया लब्धेरुपजीवनेन ज्ञानाद्यतिचारासेवनेन वा सकलसंयमसारगलनात् पलञ्जिवन्निःसारो यः स पुलाकः। (प्रव. सारो. वृ. ७२३)। ८. उत्तरगुणभावनारहिताः क्वचित् कदाचित् कथंचिद् व्रतेष्वपि परिपूर्णत्वमलभमाना अविशुद्धपुलाकसदृशत्वात् पुलाकाः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-४६)।

१ जिन मुनियों का मन उत्तरगुणों की भावनाओं में संलग्न नहीं है और जो व्रतों में भी कहीं व किसी समय परिपूर्णता से रहित होते हैं उन मुनियों को कण से रहित—निरुपयोगी—अशुद्ध धान्य के समान निःसार होने से पुलाक कहा जाता है। २ जो जिनप्रणीत आगम से तो पतित नहीं है—उस पर श्रद्धा रखता है, पर अहिंसादि पांच मूलगुण और छठा रात्रिभोजन व्रत इनमें से किसी एक व्रत का दूसरे की प्रेरणा से पालन करता है वह पुलाक मुनि कहलाता है।

पुल्लिङ्ग—देखो पुरुषलिङ्ग।

पुल्लिङ्गसिद्ध—पुल्लिङ्गे शरीरनिर्वृत्तिरूपे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्ते पुल्लिङ्गसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ७, पृ. २२)।

जो शरीर की रचनारूप पुल्लिग में—पुरुषशरीर में—अवस्थित रहते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए हैं वे पुल्लिगसिद्ध कहलाते हैं।

पुष्टि—पुष्टिः पुण्योपचयः ×××। (षोडश. ३-४)।

पुण्य के संचय को पुष्टि कहते हैं।

पुष्पचारण—१. अविराहिदूण जीवे तल्लीणे बहुविहाण पुप्फाणं। उवरिम्मि जं पसप्पदि सा रिद्धी पुप्फचारणा णाम॥ (ति. प. ४, १०३९)। २. नानाद्रुम-लता-गुल्म-पुष्पाण्युपादाय पुष्पसूक्ष्मजीवानविराधयन्तः कुसुमतलदलावलम्बनसङ्क्रमतयः (प्रव. 'कुसुमदलपटलमवलम्बमानाः') पुष्पचारणाः। (योगशा. स्वो. विव. १-९, पृ. ४१; प्रव. सारो. वृ. ६०१, पृ. १६८)। ३. पुष्पमस्पृश्य पुष्पोपरि गमनं पुष्पचारणत्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३, ३६)।

१ जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु बहुत प्रकार के पुष्पों में स्थित जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से चलते हैं उसे पुष्पचारण ऋद्धि कहते हैं।

पुष्पदन्त—पुष्पकलिकामनोहरदन्तत्वात् पुष्पदन्त इति। (योगशा. स्वो. विव. ३-१२४)।

पुष्प-कलिका के समान मनोहर दांतों के धारक नौवें तीर्थंकर को पुष्पदन्त कहते हैं।

पुष्पदन्त कुम्भ—ह्रस्वोष्ठः पुष्पदन्तः। (निर्वाणक. पृ. ८)।

जिस घड़े का मुख छोटा हो वह पुष्पदन्त नामक कुम्भ कहलाता है। आचार्य के अभिषेक के समय मण्डल पर लिखे जाने वाले १६ कुम्भों में वह बारहवां है।

पुष्पोपहित—१. पुप्फोवहिदं च व्यञ्जनमध्ये पुष्पवलिरिव अवस्थितसिक्थम्। (भ. आ. विजयो. २२०)। २. पुष्पोपहितं पुष्पप्रकरवद्व्यञ्जनमध्यप्रकीर्णसिक्थम्। (भ. आ. मूला. २२०)।

पुष्पसमूह के समान व्यंजनों के मध्य में स्थित सिक्थ (धान्यकण) को पुष्पोपहित कहा जाता है।

पुंवेद—देखो पुरुषवेद। १. यस्योदयात् पौंस्नान् भावानास्कन्दति स पुंवेदः। (स. सि. ८-९; त. वा. ८, ९, ४)। २. पुरुषवेदमोहोदयात् अनेकाकारासु स्त्रीष्वभिलाषः आम्रफलाभिलाषः इवोद्रिक्तश्लेष्मणः, तथा सङ्कल्पजास्वपीत्यादि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८, १०, पृ. १४२)। ३. येषामुदयेन पुद्गलस्कन्धानां वनितायामाकांक्षा जायते तेषां पुंवेद इति संज्ञा। (मूला. वृ. १२-१९२)। ४. पुंवेदं पुंभावापत्तिनिमित्तं पुंवेदाख्यं नोकषायवेदनीयम्। (भ. आ. मूला. २०९७)। ५. यदुदयात् पुंस्त्वपरिणामान् प्राप्नोति स पुंवेदः। (त. वृत्ति श्रुत. ८-९)।

१ जिसके उदय से जीव पुरुष के भावों को प्राप्त करता है उसे पुंवेद कहते हैं। २ पुरुषवेदमोहनीय के उदय से अनेक आकार वाली स्त्रियों के विषय

में इस प्रकार अभिलाषा होती है जिस प्रकार कि कफ के उद्रेक से आम्र फल की अभिलाषा हुआ करती है। उक्त पुंवेद के उदय से संकल्पजात स्त्रियों के विषय में भी अभिलाषा होती है।

पूजक—१. भव्यात्मा पूजकः शान्तो वेश्यादिव्यसनोज्झितः। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः स शूद्रो वा सुशीलवान् ॥ (भावसं. वाम. ४६५)। २. नित्यपूजाविधायी यः पूजकः स हि कथ्यते। द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥ ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्य आद्यः शीलव्रतान्वितः। सत्य-शौच-दृढाचारो हिंसाद्यव्रतदूरगः ॥ जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धु-सुहृज्जनैः। गुरूपदिष्टमंत्रेण युक्तः स्यादेष पूजकः ॥ (धर्मसं. श्रा. ९, १४२-४४)।

१ जो भव्य जीव शान्त—क्रोधादि कषायों से रहित—होकर वेश्यादि व्यसनों का त्याग कर चुका है वह पूजक—पूजा का अधिकारी होता है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा उत्तम शीलवान् शूद्र होना चाहिए।

पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य)—इदानीं पूजकाचार्यलक्षणं प्रतिपाद्यते। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षितः ॥ कुल-जात्यादिसंशुद्धः सद्दृष्टिर्देशसंयमी। वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्यः श्रुतबहुश्रुतः ॥ ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गम्भीरो विनयान्वितः। शौचाऽऽचमनसोत्साहो दानवान् कर्मकर्मठः ॥ साङ्गोपाङ्गयुतः शुद्धो लक्ष्य-लक्षणवित् सुधीः। स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः ॥ वारिमंत्रव्रतस्नातः प्रोषधव्रतधारकः। महाभिमानी मौनी च त्रिसन्ध्यं देववन्दकः ॥ श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षा-शिक्षागुणान्वितः। क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः। न हीनाङ्गो नाधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः ॥ न कुरूपी न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः ॥ न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च। न [ना]न्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ श्रावकेषु न संयमी ॥ ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत्। तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राजादिः प्रलयं व्रजेत् ॥ कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम्। ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥ (धर्मसं. श्रा. ९-१४५ से १५४)।

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा वैश्य होकर अनेक लक्षणों से युक्त हो; कुल व जाति आदि से शुद्ध हो, सम्यग्दृष्टि होकर देशव्रती हो, जिनागम का ज्ञाता हो, आलस्य से रहित हो, बहुत श्रुत को सुन चुका हो, सरल हो, वक्ता हो, प्रसन्न होता हुआ भी गम्भीर हो, विनयशील हो; शौच व आचमन में उत्साहसहित हो, दाता हो, क्रियाशील हो, अंग-उपांगों से युक्त हो; लक्ष्य-लक्षण का जानकार हो, विवेकी हो, स्वदारसन्तोषी या ब्रह्मचारी हो, नीरोग हो, सदाचारी हो; जलस्नान से युक्त होकर मंत्र का ज्ञाता व व्रत से सहित हो; प्रोषधव्रत का धारी हो, महा अभिमानी हो—स्वाभिमानी होकर दैन्यभाव से दूर रहने वाला हो, मौन रखता हो, तीनों सन्ध्याओं में देववन्दना करने वाला हो, श्रावक के आचार का परिपालक हो, दीक्षा-शिक्षागुण से युक्त हो, सोलह क्रियाओं से पवित्र हो, ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) आदि संस्कारों से सहित हो, न हीनांग हो और न अधिक अंग वाला हो; न लम्बा हो, न बौना हो; न कुरूप हो, न मूर्ख हो, न बुड्ढा हो, न बालक हो, क्रोधादिकषायों वाला न हो, अनार्थी न हो, व्यसनी न हो, ग्यारह श्रावकों में न अन्तिम तीन—परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी आदि—हों, न आदि के दो (दर्शनिक व व्रती) हों; तथा संयमी (मुनि) न हो। यदि आचार्य उक्त दोषों (हीनांगादि) से दूषित होता है तो राष्ट्र, नगर, राज्य व राजा आदि का नाश हो सकता है; तथा वैसा होने पर न कर्ता ही फल को पाता है और न कराने वाला भी, इसी कारण पूजक आचार्य उपर्युक्त लक्षणों से श्रेष्ठ माना जाता है।

पूजन—देखो पूजा।

पूजा—१. पूजा च द्रव्य-भावसंकोचः, तत्र कर-शिरःपादादिसन्यासो द्रव्यसंकोचः, भावसंकोचस्तु विशुद्धस्य मनसो नियोग इति। (ललितवि. पृ. ९); पूजनं गन्ध-माल्यादिभिः समभ्यर्चनम्। (ललितवि. पृ. ७७)। २. वस्त्र-माल्यादिजन्या पूजा। (आव. नि. हरि. वृ. ९२१, पृ. ४०६)। ३. स्नान-विलेपन-सुसुगन्धिपुष्प-धूपादिभिः शुभैः कान्तम्। विभवानुसारतो यत् काले नियतं विधानेन ॥ अनुपकृतपरहितरतः शिवदस्त्रिदशेशपूजितो भगवान्। पूज्यो हितकामानामिति भक्त्या पूजनं पूजा ॥ (षोडशक. १-२)। ४. एदाहि (चरु-बलि-पुप्फ-फल-गंध-धूव-दीवादीहि) सह अइंदधय-कप्परुक्ख-महामह-सव्वदोभद्दादिमहिमाविहाणं पूजा णाम। (धव. पु.

८, पृ. ६२) । ५. पूजा च सेवाऽञ्जल्यासनाभ्युत्थानादिलक्षणा । (योगशा. स्वो. विव. १–५४) ।
१ द्रव्य और भाव के संकोच का नाम पूजा है। उनमें हाथ, शिर और पांवों आदि के संकोच को द्रव्यसंकोच और निर्मल मन के नियमन को भावसंकोच कहा जाता है। ४ चरु, बलि, पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप आदि के द्वारा इन्द्रध्वज, कल्पतरु, महामह और सर्वतोभद्र आदि के माहात्म्य के विधान का नाम पूजा है।

पूज्य—१. पूज्यः शतेन्द्रवन्द्यांह्रिर्निर्दोषः केवली जिनः । (भावसं. वाम. ४६४) । २. पूज्योऽर्हन् केवलज्ञान-दृग्वीर्य-सुखधारकः । निःस्वेदत्वादिनैर्मल्यमुख्यकैः संयुतो गुणैः ॥ (धर्मसं. श्रा. ६–३४) ।
२ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख के धारक होकर जो निःस्वेदत्व आदि गुणों से युक्त हैं वे अरहन्त भगवान् पूज्य हैं—पूजा के योग्य हैं।

पूति, पूतिक—१. अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं । (मूला. ६–६) । २. पूतिकर्म—संभाव्यमानाधाकर्मावयवसंमिश्रलक्षणम् । (दशवै. सू. हरि. वृ. ५–५५, पृ. १७४) । ३. आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीयाल्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते । (भ. आ. विजयो. २३०; भ. आ. मूला. २३०; कार्तिके. टी. ४४८–४६, पृ. ३३७) । ४. यदाधाकर्माद्यवयवसंमिश्रं तत्पूतीकर्म । (आचारा. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३४७) । ५. प्रासुकमप्यप्रासुकेन सचित्तादिना मिश्रं यदाहारादिकं पूतिदोषः । (मूला. वृ. ६–६) । ६. पूति प्रासुकपात्रादि मिश्रमप्रासुकेन यत् । मिश्रसंगे हि पाखण्डियतिभ्यो यद्वितीर्यते ॥ (आचा. सा. ८–२५) । ७. आधाकर्मिकावयवसंमिश्रं शुद्धमपि यत्तत् पूतिकर्म शुचिद्रव्यमिवाशुचिद्रव्यसम्मिश्रम् । (योगशा. स्वो. १–३८) । ८. पूति प्रासु यदप्रासु मिश्रं योज्यमिदं कृतम् । नेदं वा यावदार्येभ्यो नादायि च कल्पितम् ॥ (अन. ध. ५–६)। ९. यदुद्गमकोटिदोषदुष्टसङ्गात् शुद्धमपि अपवित्रं तत्पूतिकर्म । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४८) । १०. यदप्रासुकं पात्रं कांस्यपात्रादिकं मिथ्यादृष्टिप्रातिवेशैर्मिथ्यागुर्वर्थं दत्तं तत्पात्रस्थमन्नादिकं महामुनीनामयोग्यं पूत्युच्यते । (भावप्रा. टी. ९९) ।
१ अप्रासुक (सचित्त) से मिश्रित प्रासुक द्रव्य (भोज्य पदार्थ) पूतिदोष से दूषित होता है। २ यदि आधाकर्म के अवयव से मिश्रित होने की सम्भावना हो तो दिया जाने वाला वैसा अन्नादि पूतिकर्म दोष से दुष्ट होने के कारण साधुओं के लिए अग्राह्य होता है। ३ अपने गृहनिर्माण के लिए लाये गये बहुत से काष्ठ आदि के साथ साधु के लिए लाये गये काष्ठादि को मिलाकर जो घर निर्मित किया जाता है वह पूतिक दोष से युक्त होता है।

पूतिकर्मिका—पूतिकर्मिका आधाकर्मिकसुधादिना पूरितच्छिद्रा । (बृहत्क. क्षे. वृ. १७५३) ।
आधाकर्मयुक्त सफेदी आदि के द्वारा जिस सौवीरिणी (कांजी या अम्लिनी) के छेद भरे गये हैं वह पूतिकर्मिका कहलाती है।

पूरक—१. द्वादशान्तात् समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते । स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥ (ज्ञानार्णव २६–४) । २. समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः । (योगशा. ५–७) । ३. द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं समाकृष्य समीरणम् । पूरयत्यतियत्नेन पूरकध्यानयोगतः । (भावसं. वाम. ६९७) ।
३ वायु को बारह अंगुल पर्यन्त खींचकर जो पूर्ण किया जाता है उसे पूरक प्राणायाम कहते हैं।

पूरिम—तलावालि-जिणहराहिट्ठाणादिदव्वं पूरणकिरियाणिप्फण्णं पूरिमं णाम । (धव. पु. ९, पृ. २७३) ।
पूरणक्रिया से सिद्ध तालाब के बांध और जिनालय के अधिष्ठान (नीव) आदि द्रव्य को पूरिम कहा जाता है।

पूर्णगेय—यत् स्वर-कलाभिः पूर्णं गीयते तत् पूर्णम् । (रायप. मलय. वृ. पृ. १३१; जम्बूद्वी. शा. वृ. ६, पृ. ४०) ।
जो स्वर-कलाओं से परिपूर्ण गान गाया जाता है उसे पूर्णगेय कहते हैं।

पूर्व—१. चउरासीतिपुव्वंगसयसहस्साइं से एगे पुव्वे । (भगवती. ६, ७, ४, पृ. ८२६; जम्बूद्वी. १८, पृ. ८९; अनुयो. सू. १३७, पृ. १७९) । २. पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं । छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वस्सकोडीणं ॥ (स. सि. ३–३१, उद्.; धव. पु. १३, पृ. ३०० उद्.; जं. दी. प. १३–१२) । ३. पूर्वाङ्गशतसहस्रं

चतुरशीतिगुणितं पूर्वम्। (त. भा. ४-१५)। ४. पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु हुंति कोडिलक्खाओ। छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीणं॥ (बृहत्सं. ३१६, पृ. १२२; प्रव. सारो. १३८७; संग्रहणी २१८)। ५. पुव्वंगसयसहस्सा चुलसीइगुणं हवइ पुव्वं। पुव्वस्स उ परिमाणं सयरी खलु होंति सयसहस्साइं (जीवस. 'होंति कोडिलक्खाओ') छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ (ज्योतिष्क. ६२-६३; जीवस. ११२-१३)। ६. चतुरशीतिपूर्वाङ्गशतसहस्राणि पूर्वम्। (त. वा. ३, ३८, ८, पृ. २०६)। ७. तं एगं पुव्वंगं चुलसीए सतसहस्सेहिं गुणितं एगं पुव्वं भवति। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४)। ८. सत्तरिकोडिलक्ख-छप्पण्णसहस्सकोडिवरिसेहिं पुव्वं होदि। (धव. पु. १३, पृ. ३००)। ९. तत्तद्गुणं च पूर्वांगं पूर्वं भवति निश्चितम्। (ह. पु. ७-२५)। १०. पूर्वाङ्गलक्षाः चतुरशीतिगुणिताः पूर्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४, १५)। ११. पुव्वंगसदसहस्सा चुलसीदिगुणं हवे पुव्वं। (जं. दी. प. १३-११)। १२. पूर्वांगं चतुरशीतिगुणितं पूर्वं भवति, पूर्वस्य तु प्रमाणं सप्ततिकोटीशतसहस्राणि कोटीनां तु षट्पंचाशतसहस्राणि चेति। (मूला. वृ. १२-६६)। १३. वरिसाणं लक्खेहिं चुलसीसंखेहिं होइ पुव्वंगं। एयं चिय एयगुणं जायइ पुव्वं तयं तु इमं॥ (प्रव. सारो. १३८६)। १४. चतुरशीतिः पूर्वाङ्गलक्षाणि पूर्वम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६१)। १५. पूर्वस्य परिमाणं वर्षकोटीनां सप्ततिः कोटिलक्षाः षट्पञ्चाशत्सहस्राणि, ७०-५६०००००००००० पूर्वाङ्गं च पूर्वाङ्गेन गुणितं पूर्वं भवति। (बृहत्सं. मलय. वृ. ३१६, पृ. १२२)। १६. चतुरशीतिः पूर्वाङ्गशतसहस्राणि एकं पूर्वम्। (जीवाजी. मलय. वृ. २-१७८)। १७. पूर्वाङ्गं चतुरशीतिवर्षलक्षैर्गुणितं पूर्वं भवति। (षडशीति दे. स्वो. वृ. ६६)। १८. पूर्वाङ्गलक्षैश्चतुरशीत्या पूर्वं प्रकीर्तितम्॥ पूर्वे च वर्षकोटीनां लक्षाणि किल सप्ततिः। षट्पञ्चाशत्सहस्राणि निर्दिष्टानि जिनेश्वरैः॥ (लोकप्र. २६, ४-५)।

१ चौरासी लाख पूर्वाङ्गों का एक पूर्व होता है। २ सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ (७०५६०००००००००००) वर्ष प्रमाण एक पूर्व होता है।

पूर्वकृत, पूर्वगत—देखो पूर्वश्रुत। १. पुव्वगयं पंचाणउदिकोडि-पण्णासलक्ख-पंचपदेहिं ९५५००-०००५ उप्पाय-वय-धुवत्तादीणं वण्णणं कुणइ। (धव. पु. १, पृ. ११२-१३; पूर्वकृते पञ्चनवतिकोटिपञ्चाशच्छतसहस्र-पञ्चपदे ९५५०००००५ उत्पादव्यय-ध्रौव्यादयो निरूप्यन्ते। (धव. पु. ६, पृ. २०६)। २. पुव्वगयं उप्पाय-वय-धुवत्तादीणं णाणाविहपत्थाणं वण्णणं कुणइ। (जयध. १, पृ. १३८)। ३. पूर्वमुत्पादादि प्रतीतम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८)। ४. पूर्वमुत्पादपूर्वादि पूर्वोक्तस्वरूपम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)। ५. पञ्चनवतिकोटिपञ्चाशल्लक्ष-पञ्चपदपरिमाणं निखिलार्थानामुत्पादव्यय-ध्रौव्याद्यभिधायकं पूर्वगतम् ९५५०००००५। (श्रुतभ. टी. ९, पृ. १७४)।

१ जिस श्रुत में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि की प्ररूपणा की जाती है उसे पूर्वगत श्रुत कहा जाता है। यह दृष्टिवाद के पांच भेदों में चौथा है। इसमें ९५५०००००५ पद होते हैं।

पूर्वदिशा—जस्स जओ आइच्चो उदेइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा। (आचा. नि. ४७, पृ. १३)।

जिस दिशा से सूर्य का उदय होता है उसे पूर्वदिशा कहते हैं।

पूर्व-पश्चात्संस्तवपिण्ड—पूर्वसंस्तवं जननी-जनकादिद्वारेण पश्चात्संस्तवं श्वश्रू-श्वशुरादिद्वारेणात्मपरिचयानुरूपं सम्बन्धं भिक्षार्थं घटयतः पूर्व-पश्चात्संस्तवपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८)।

माता-पितादि के सम्बन्ध के बतलाने को पूर्वसंस्तव और सास-ससुर के सम्बन्ध के बतलाने को पश्चात्संस्तव कहते हैं। इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों को बतलाते हुए भिक्षा के ग्रहण करने से क्रमशः पूर्व-पश्चात्-संस्तवपिण्ड नामका दोष होता है।

पूर्वरतानुस्मरण—१. पूर्वं च तत् रतं च पूर्वरतं पूर्वकालभुक्तभोगः, तस्य अनुस्मरणमनुचिन्तनं पूर्वरतानुस्मरणम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-७)। २. रतं मोहोदयात् पूर्वं सार्द्धमन्याङ्गनादिभिः। तत्स्मरणमतीचारं पूर्वरतानुस्मरणम्॥ (लाटीसं. ६-६६)।

१ पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना, इसका नाम पूर्वरतानुस्मरण है, यह ब्रह्मचर्यव्रत की

पांच भावनाओं में से एक है।

पूर्वविदेह—मेरोः सकाशात् पूर्वं क्षेत्रं पूर्वविदेहः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-१०)।
मेरु पर्वत से पूर्व की ओर जो क्षेत्र है वह पूर्वविदेह कहलाता है।

पूर्वश्रुतज्ञान—एदस्स (वत्थुसमासस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे पुव्वं णाम सुदणाणं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २५); पुणो एदस्स (वत्थुसमाससुदणाणस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे पुव्वसुदणाणं होदि। × × × पुव्वगयस्स जे उप्पादपुव्वादिचोद्दसअहियारा तेसिं पुध पुध पुव्वसुदणाणमिदि सण्णा। (धव. पु. १३, पृ. २७१)।
वस्तुसमास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर पूर्व नाम का श्रुतज्ञान होता है।

पूर्वश्रुतप्रत्याख्यान—तत्र पूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानसंज्ञितं पूर्वम्। (आव. नि. मलय. वृ. १०५४; पृ. ५७९)।
प्रत्याख्यान नामक पूर्व को पूर्वश्रुतप्रत्याख्यान कहा जाता है।

पूर्वश्रुतावरणीय — पुव्वसुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तं पुव्वावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७९)।
पूर्व श्रुत के आवारक कर्म को पूर्वश्रुतावरणीय कर्म कहते हैं।

पूर्वसमासश्रुतज्ञान—१. तस्स (पुव्वसुदणाणस्स) उवरि एगक्खरे वड्ढिदे पुव्वसमासो होदि। एवं पुव्वसमासो गच्छदि जाव लोगबिंदुसारचरिमक्खरं ति। (धव. पु. ६, पृ. २५); उप्पादपुव्वसुदणाणस्सुवरि एगक्खरे वड्ढिदे पुव्वसमाससुदणाणं होदि। एवमेगेगक्खरुत्तरवड्ढीए पुव्वसमाससुदणाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव अंगपविट्ठंगबाहिरसगलसुदणाणक्खराणि सव्वाणि वड्ढिदाणि त्ति। (धव. पु. १३, पृ. २७१)। २. तद्द्व्यादिसंयोगस्तु पूर्वसमासः। (शतक. मल. हे. वृ. ३८; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७)।
१ पूर्व श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर पूर्वसमासश्रुतज्ञान होता है। २ दो पूर्व आदि के संयोग का नाम पूर्वसमास है।

पूर्वसमासावरणीयकर्म — पुव्वसमाससुदणाणस्स × × × जमावारयं कम्मं तं पुव्वसमासावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७९)।
जो पूर्वसमास श्रुत को आच्छादित करता है उसे पूर्वसमासावरणीय कहते हैं।

पूर्वसंस्तव—१. दायगपुरदो कित्ती तं दाणवदी जसोधरो वेत्ति। पुव्वीसंथुदिदोसा विस्सरिदे बोधणं चावि॥ (मूला. ६-३६)। २. माय-पिइ पुव्वसंथव × × ×। गुणसंथवेण पुव्विं संतासंतेण जो थुणिज्जाहि। दायारमदिन्नंमी सो पुव्विसंथवो हवइ॥ एसो सो जस्स गुणा वियरंति अवारिया दसदिसासु। इहरा कहासु सुणिमो पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि॥ (पिण्डनि. ८५ व ९०-९१)। ३. गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रयः इतीयं वार्ता दूरादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा सा पूर्वसंस्तवदोषदुष्टा। (भ. आ. विजयो. व मूला. २३०)। ४. ददातीति दायको दानपतिः, तस्य पुरतः कीर्तिं ख्यातं ब्रूते। कथम्? त्वं दानपतिर्यशोधरः, त्वदीयकीर्तिविश्रुता लोके, यद्दातुरग्रतो दानग्रहणात् प्रागेव ब्रूते तस्य पूर्वसंस्तुतिदोषो नाम जायते। विस्मृतस्य च दानसम्बोधनम्—त्वं पूर्वं महादानपतिरिदानीं किमिति कृत्वा विस्मृत इति सम्बोधनं करोति यस्तस्यापि पूर्वसंस्तुतिदोषो भवतीति। (मूला. वृ. ६-३६)। ५. दाता ख्यातस्त्वमित्याद्यैर्यद् गेह्यानन्दनन्दनम्। पूर्वं पश्चाच्च भुक्तेस्तत् पूर्वं पश्चात् स्तवद्वयम्॥ (आचा. सा. ८-४१)। ६. स्तुत्वा दानपतिं दानं स्मरयित्वा च गृह्णतः। गृहीत्वा स्तुवतश्च स्तः प्राक्-पश्चात्संस्तवौ क्रमात्। (अन. ध. ५-२४)। ७. अहो जिनदत्त, त्वं जगति विख्यातो दाता वर्तसे इत्यादिभिर्वचनैर्गृहस्थस्यानन्दजननं भुक्तेः पूर्वं तत्पूर्वस्तवनम्। (भावप्रा. टी. ९९)।
१ तुम दानपति हो व तुम्हारी कीर्ति दान के विषय में फैली हुई है, अथवा तुम प्रसिद्ध दाता रहे हो, इस समय तुम उसे कैसे भूल गये हो, इत्यादि प्रकार से स्तुति करना व विस्मृत होने पर उसे पुनः सम्बोधित करना; यह पूर्वसंस्तुति दोष कहलाता है। यह साधु के आहारविषयक सोलह उत्पादन दोषों में है। २ दान ग्रहण करते समय माता-पिता आदि के रूप से परिचय देना, यह पूर्वसंस्तव दोष है; कारण यह कि माता-पिता आदि पूर्वकालभावी हैं। यह सम्बन्धसंस्तव है। वचनसंस्तव इस प्रकार है—दाता से भोजन आदि के ग्रहण करने पर सत्य या असत्य रूप उदारता आदि गुणों की प्रशंसाविषयक वचनसमूह के

द्वारा दाता की स्तुति करने पर पूर्वसंस्तव नामक उत्पादन दोष होता है।

पूर्वसंस्तुति—देखो पूर्वसंस्तव।

पूर्वाङ्ग—१. वर्षशतसहस्रं चतुरशीतिगुणितं पूर्वाङ्गम्। (त. भा. ४–१५)। २. चउरासीइं वाससयसहस्साणि से एगे पुव्वंगे। (भगवती. ६, ७, ४, पृ. ८२६; जम्बूद्वी. १८, पृ. ८९; अनुयो. सू. १३७, पृ. १७९)। ३. वाससहस्साइं चुलसीइगुणाइं होज्ज पुव्वंगं॥ (ज्योतिष्क. ६२)। ४. वाससयसहस्सं पुण चुलसीइगुणं हवेज्ज पुव्वंगं। (जीवस. ११२)। ५. लक्ष्या ह्यशीति त्वधिका चतुर्भिः पूर्वाङ्गमेकं मुनिभिः प्रदिष्टम्॥ (वराङ्ग. २७–८)। ६. चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि पूर्वाङ्गम्। (त. वा. ३, ३८, ७)। ७. पुव्वंगे परिमाणं पचसुण्णं चउरासी य। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४ उद्.)। ८. ज्ञेयं वर्षसहस्रं तु तच्चापि दशसंगुणम्। पूर्वाङ्गं तु तदभ्यस्तमशीत्या चतुरग्रया। (म. पु. ७–२४)। ९. चउरासीलक्खहिं पुव्वंगउ। (म. पु. पुष्प. २–६, पृ. २३)। १०. तच्चतुरशीतिगुणितमेकं पूर्वाङ्गम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ११. वाससदसहस्साणि चुलसीदिगुणं हवेज्ज पुव्वंगं। (जं. दी. प. १३–११)। १२. वरिसाणं लक्खेहिं चुलसीसंखेहिं होइ पुव्वंगं। (प्रव. सारो. १३८६)। १३. वर्षलक्षं चतुरशीतिरूपगुणितं पूर्वांगं भवति। (मूला. वृ. १२–६९)। १४. पूर्वाङ्गं चतुरशीतिवर्षलक्षाणि। (बृहत्सं. मलय. वृ. ३१६)। १५. चतुरशीतिर्वर्षलक्षाण्येकं पूर्वाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. ६१; जीवाजी. मलय. वृ. २–१७८)। १६. चतुरशीत्या च वर्षलक्षैः पूर्वाङ्गं भवति। (षडशी. दे. स्वो. वृ. ६९)। १७. वर्षलक्षाणि चतुरशीतिः पूर्वाङ्गमुच्यते। (लोकप्र. २९–४)।

१ चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग होता है।

पूर्वातिपूर्वश्रुतज्ञान—बहुषु पूर्वेषु वस्तुषु इदं श्रुतज्ञानं अतीव पूर्वमिति पूर्वातिपूर्वं श्रुतज्ञानम्। (धव. पु. १३, पृ. २८९)।

बहुत पूर्व वस्तुओं में यह श्रुतज्ञान अत्यन्त प्राचीन है, इसीलिए यह पूर्वातिपूर्व श्रुतज्ञान कहलाता है। यह श्रुत के ४१ पर्याय नामों में से एक है।

पूर्वानुज्ञा—इह योऽवग्रहः पुरातनसाधुभिरनुज्ञापितः सः यत् पाश्चात्यैरेवमेव परिभुज्यते न भूयोऽनुज्ञाप्यते सा पूर्वानुज्ञा। यथा—चिरन्तनसाधुभिर्देवेन्द्रो यदवग्रहमनुज्ञापितः सैव पूर्वानुज्ञा साम्प्रतसाधूनामप्यनुवर्तते, न पुनर्भूयोऽप्यनुज्ञाप्यते। (बृहत्क. क्षे. वृ. ६७०)।

इन्द्रादि पांच प्रकार के अवग्रह में जिस अवग्रह की प्राचीन साधुओं ने अनुज्ञा दी है उसका जो उत्तरकालीन साधुओं के द्वारा फिर से अनुज्ञा न लेकर उसी प्रकार से उपभोग किया जाता है, यह पूर्वानुज्ञा कहलाती है। जैसे—प्राचीन साधुओं ने देवेन्द्र के लिए जिस अवग्रह की अनुज्ञा दी है वही वर्तमान साधुओं की भी अनुज्ञा है, वे फिर से उसे अनुज्ञा नहीं देते।

पूर्वानुपूर्वी—१. जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। (धव. पु. १, पृ. ७३); उद्दिट्ठकमेण भत्थाहियारपरूवणा पुव्वाणुपुव्वी णाम। (धव. पु. ९, पृ. १३५)। २. जं जेण कमेण सुत्तकारेहिं ठइदमुप्पण्णं वा तस्स तेण कमेण गणणा पुव्वाणुपुव्वी णाम। (जयध. पु. १, पृ. २८)।

१ मूल से—उद्देश के अनुसार—जो क्रम से प्ररूपणा की जाती है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

पृच्छना—देखो प्रच्छना। १. पुच्छणा सुत्तस्स अत्थस्स वा भवति। (दशवै चू. पृ. २८)। २. संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छनम्। आत्मोन्नति-परातिसन्धानोपहास-संघर्ष-प्रहसनादिवर्जितः संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा परं प्रत्यनुयोगः पृच्छनमिति भाष्यते। (त. वा. ९, २५, २)। ३. तत्थ आगमे अमुणिदत्थपुच्छा वा उवजोगो (आगमे अमुणिदत्थपुच्छा पुच्छणा णाम)। (धव. पु. ९, पृ. २६२); अणिच्छिदट्ठाणं पण्हवावारो पुच्छणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ९)। ४. संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना। (त. श्लो. ९–२५)। ५. आत्मोन्नतिप्रकटनार्थं पराभिसन्धानार्थमुपहास-संघर्ष-प्रहसनादिवर्जितः संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य परं प्रति पर्यनुयोगः पृच्छना। (चा. सा. पृ. ६७)। ६. पृच्छना प्रश्नः अनुयोगः, शास्त्रस्यार्थं जानन्नपि गुरुं पृच्छति। किमर्थम्? सन्देहविनाशाय। निश्चितोऽप्यर्थः किमर्थं पृच्छ्यते? बलाधाननिमित्तं ग्रन्थार्थप्रबलतानिमित्तम्, सा पृच्छना। (त. वृत्ति श्रुत.

६–२५) । ७. सूत्रादौ शङ्किते प्रश्नो गुरूणां पृच्छना मता । (लोकप्र. ३०–६७) ।

१ सूत्र या अर्थ के विषय में पूछना, इसका नाम पृच्छना है। ३ आगमप्ररूपित अर्थ के अज्ञात (अनिश्चित) होने पर उसके विषय में जो प्रश्न किया जाता है, इसे पृच्छना कहा जाता है। यह आगमाधिकारविषयक उपयोग का एक भेद है।

पृच्छनी भाषा—पृच्छनी अविज्ञातस्य सन्दिग्धस्य कस्यचिदर्थस्य परिज्ञानाय तद्विदः पार्श्वे चोदना। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११–१६५, पृ. २५६)।

अज्ञात अथवा सन्दिग्ध किसी पदार्थ के परिज्ञानार्थ तद्विषयक अज्ञान को दूर करनेवाले किसी विद्वान् के पास में जिस भाषा में पूछा जाता है वह पृच्छनी भाषा कहलाती है।

पृच्छाविधि—द्रव्य-गुण-पर्यय-विधि-निषेधविषय—प्रश्नः पृच्छा, तस्याः क्रमः अक्रमप्रायश्चित्तं च विधीयते अस्मिन्निति पृच्छाविधिः श्रुतम्। अथवा पृष्टोऽर्थः पृच्छा, सा विधीयते निरूप्यतेऽस्मिन्निति पृच्छाविधिः श्रुतम्। (धव. पु. १३, पृ. २८५)।

द्रव्य, गुण, पर्याय, विधि और निषेधविषयक प्रश्न का नाम पृच्छा है। उसके क्रम, अक्रम और अक्रम-प्रायश्चित्त का जिस श्रुत में विधान किया जाता है उसे नाम से पृच्छाविधि कहा जाता है। अथवा पूछे गये अर्थ का नाम पृच्छा है, उसका जिस श्रुत में निरूपण किया जाता है उसे पृच्छाविधि समझना चाहिए।

पृच्छाविधिविशेष—विधानं विधिः, पृच्छायाः विधिः पृच्छाविधिः। स विशिष्यतेऽनेनेति पृच्छाविधिविशेषः। अर्हदाचार्योपाध्याय-साधवोऽनेन प्रकारेण पृष्टव्याः, प्रश्नभङ्गाश्च इयन्त एवेति यतः सिद्धान्ते निरूप्यन्ते ततस्तस्य पृच्छाविधिविशेष इति संज्ञेत्युक्तं भवति। (धव. पु. १३, पृ. २८५)।

अरहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु से इस प्रकार से प्रश्न करना चाहिए तथा प्रश्न के भंग इतने हैं, इस प्रकार जिस श्रुत में प्रश्न की विधि का विशेष रूप से निरूपण किया जाता है उसे नाम से पृच्छाविधिविशेष कहा जाता है।

पृथक्त्व—पुधत्तमिति तिण्हं (कोडीणं) उवरि नवण्हं (कोडीणं) हेट्ठदो जा संखा सा घेत्तव्वा। (धव. पु. ३, पृ. ८९)।

तीन से आगे और नौ से पूर्व की जो संख्या ४-५ आदि है वह संख्या पृथक्त्व के अन्तर्गत मानी जाती है।

पृथक्त्वविक्रिया—पृथक्त्वविक्रिया स्वशरीरादन्यत्वेन प्रासाद-मण्डपादिविक्रिया। (त. वा. २, ४७, ४)।

अपने शरीर से भिन्न जो भवन एवं मण्डप आदि रूप विविध क्रिया की जाती है उसका नाम पृथक्त्वविक्रिया है।

पृथक्त्ववितर्कवीचारशुक्लध्यान—१. दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति। उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणिया ॥ जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य। ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण तं झाणं ॥ अत्थाण वंजणाण य जोगाणं य संकमो हु वीचारो। तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥ (भ. आ. १८८०–८२; धव. पु. १३, पृ. ७८ उद्.)। २. द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः अर्थ-व्यञ्जने काय-वचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता मनसाऽपर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग्भवति। (स. सि. ९–४४)। ३. तत्थ पुहुत्तवितक्कं सविचारि णाम—पृथग्भावः पृथक्त्वम्, तिहि वि जोगेसु पवत्तइत्ति वुत्तं भवइ, अहवा पुहुत्तं णाम वित्थारो भण्णइ, सुयणाणोवउत्तो अणेगेहिं परियाएहिं झायइत्ति वुत्तं भवइ, बियक्को सुतं, विचारो णाम अत्थ-वंजण-जोगाण संकमणं, सह विचारेण सविचारं, अत्थ-वंजण-जोगाणं जत्थ संकमण तं सवियारं भण्णइ, तं च झायमाणो चोद्दसपुव्वी सुयनाणोवउत्तो अत्थओ अत्थंतरं गच्छइ, वंजणाओ वंजणंतरं, वंजणं अक्खरं भण्णइ, जोगाउ जोगंतरं, जोगो मण-वयण-कायजोगो भण्णइ। भणियं च—सुयनाणे उवउत्तो अत्थंमि य वंजणंमि सविचारं। झयइ चोद्दसपुव्वी पढमं झाणं सरागो उ ॥ अत्थसंकमणं चेव तहा वंजणसंकमं। जोगसंकमणं चेव पढमे झाणे निगच्छइ ॥ (दशवै. चू. पृ. ३४–३५)। ४. एकाग्रमना उपशान्तराग-द्वेष-मोहो नैपुण्यान्निगृहीतशरीरक्रियो मन्दोच्छ्वासनिःश्वासः सुनिश्चिताभिनिवेशः क्षमावान् बाह्याभ्यन्तरान् द्रव्य-पर्यायान् ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यः अर्थ-व्यञ्जने काय-वचसी च

पृथक्त्वेन संक्रामता मनसाऽपर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनानिशितेनापि शस्त्रेण चिरात् तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग् भवति। पुनर्वीर्यविशेषहानेर्योगाद् योगान्तरं व्यञ्जनाद् व्यञ्जनान्तरमर्थादर्थान्तरमाश्रयन् ध्यानविधूतमोहरजाः ध्यानयोगान्निवर्तते इति। उक्तं पृथक्त्ववितर्कवीचारम्। (त. वा. ९–४४)। ५. पृथक्त्वं भेदः, वितर्कः श्रुतं द्वादशांगम्, वीचारः संक्रान्तिः अर्थ-व्यञ्जन-योगेषु पृथक्त्वेन भेदेन वितर्कस्य श्रुतस्य वीचारः संक्रान्तिः यस्मिन् ध्याने तत् पृथक्त्ववितर्कवीचारम्। (धव. पु. १३, पृ. ७७)। ६. पृथक्त्वेन भेदेन वितर्कस्य श्रुतस्य द्वादशाङ्गादेर्वीचारो ऽर्थ-व्यञ्जन-योगेषु सङ्क्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तत् पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानम्। (जयध. १, पृ. ३४४)। ७. द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति पर्यायं चान्यपर्ययात्। व्यञ्जनाद् व्यञ्जनं योगाद्योगान्तरमुपैति यत्॥ शुक्लं तत् प्रथमं शुक्लतरलेश्याबलाश्रयम्। (ह. पु. ५६, ६२–६३)। ८. पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः। सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वयम्॥ पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते। अर्थ-व्यञ्जन-योगानां वीचारः संक्रमो मतः॥ अर्थादर्थान्तरं गच्छन् व्यञ्जनाद् व्यञ्जनान्तरम्। योगाद् योगान्तरं गच्छन ध्यायतीदं वशी मुनिः॥ त्रियोगः पूर्वविद् यस्माद् ध्यायत्येनन्मुनीश्वरः। सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमम्॥ (म. पु. २१, १७० व १७२–७४)। ९. कृतगुप्त्याद्यनुष्ठानो यतिर्वीर्यातिशायनः। अर्थ-व्यञ्जन-योगेषु संक्रान्तौ पृथगुद्यतः॥ तदोपशमनान्मोहप्रकृतीः क्षपयन्नपि। यथापरिचयं ध्यायेत् क्वचिद्वस्तुनि सक्रियः॥ सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वेनादिमं मुनिः। ध्यानं प्रक्रमते ध्यातुं पूर्ववेदी निराकुलः। (त. श्लो. ९, ४४, ३–५)। १०. द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत् त्रिभिः। शान्तमोहस्ततो ह्येतत् पृथक्त्वमिति कीर्तितम्॥ श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः। पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत्। अर्थ-व्यजन-योगानां वीचारः संक्रमो मतः। वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेत्॥ (त. सा. ७, ४५–४७)। ११. पज्जायं च गुणं वा जम्हा दव्वाण मुणइ भेएण। तम्हा पुहुत्तणामं भणियं झाणं मुणिदेहिं॥ भणियं सुयं वियक्कं वट्टइ सह तेण तं खु अणवरयं। तम्हा तस्स वियक्कं सवियारं पुण भणिस्सामो॥ जोएहिं तीहिं वियरइ अक्खर-अत्थेसु तेण सवियारं। पढमं सुक्कज्झाणं अतिक्खपरसोवमं भणियं॥ (भावसं. दे. ६४४ से ६४६)। १२. पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते। सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते॥ (ज्ञानार्णव ४२-१३, पृ. ४३३)। १३. पृथक्त्वम् नानात्वम्, वितर्को द्वादशांगश्रुतज्ञानम्, वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः, व्यञ्जनमभिधानम्, तद्विषयोऽर्थः, मनोवाक्कायलक्षणो योगः, अन्ये[न्यो]ऽन्यतः परिवर्तनं संक्रान्तिः, पृथक्त्वेन वितर्कस्यार्थ-व्यञ्जन-योगेषु संक्रान्तिवी[वी]चारो यस्मिन्नस्तीति तत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमं शुक्लम्। (चा. सा. पृ. ९१)। १४. द्रव्य-गुण-पर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते, अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते। अत्रायमर्थः—यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८, पृ. १७८)। १५. पृथक्त्वेन एकद्रव्याश्रितानामुत्पादादिपर्यायाणां भेदेन, वितर्को विकल्पः पूर्वगतश्रुतालम्बनो नानानयानुसरणलक्षणो यत्र तत् पृथक्त्ववितर्कम्, तथा विचारः अर्थाद् व्यञ्जने व्यञ्जनादर्थे मनःप्रभृतियोगानां चायस्मादन्यतरस्मिन् विचरणम्, सह विचारेण यत् तत् सविचारि। (औपपा. अभय. वृ. पृ. ४४)। १६. एकत्र पर्यायाणां विविधनयानुसरणं श्रुताद्द्रव्ये। अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेषु संक्रमणयुक्तमाद्यं तत्॥ (योगशा ११–६)। १७. द्रव्याण्यनेकभेदभिन्नानि त्रिभिर्योगैर्यतो ध्यायति ततः पृथक्त्वमित्युच्यते। वितर्कः श्रुतम्, यस्माद्वितर्केण श्रुतेन सह वर्तते यस्माच्च नव-दश-चतुर्दशपूर्वधरैरारभ्यते तस्मात् सवितर्कं तत्। विचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रमणः। ××× अस्य त्रिप्रकारस्य (पृथक्त्व-वितर्क-विचाररूपस्य) ध्यानस्योपशान्तकषायः स्वामी। (मूला. वृ. ५–२०७)। १८. आद्यं शुक्लमनेकधा स्वविषये वृत्त्या पृथक्त्वेन यत्, सर्वद्रव्यगतश्रुतस्य परमस्यास्मिन् वितर्कस्य यः। संचारोऽर्थ-वचस्त्रियोग-

ग्राहवे वीचार एषो भवेत्, ध्यानं सार्थकनामधाम तदिदं स्यादिष्टसंपत्प्रदम् ॥ (भावा. सा. १०-४८)। १९. द्रव्यात् पर्यायार्थे पर्यायाच्च द्रव्यार्थे संक्रमणं अर्थसंक्रान्तिः, श्रुतवचनाच्छ्रुतवचनान्तरे संक्रमणं व्यञ्जनसंक्रान्तिः, कायवर्गणाजनितकायपरिस्पन्दात् योगान्तरे स्ववर्गणाजनितपरिस्पन्दाख्यात् योगान्तरात् काययोगे संक्रमणं योगसंक्रान्तिः सविचार इत्याख्यायते, विविधचरणस्य विचारत्वात्। तदनेन प्रथमशुक्लध्यानं पृथक्त्ववितर्कमुक्तं भवति। द्रव्य-पर्याययोः पृथक्त्वेन भेदेन वितर्को विचारश्चास्मिन्निति व्याख्यानात् सविचारं सवितर्कं संप्रतिपत्तेः। × × × तत्र ध्याता तत्त्वार्थज्ञः कृतगुप्त्यादिपरिकर्माऽऽविर्भूतवितर्कसामर्थ्यः पृथक्त्वेनार्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रमणात् संयतमना मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयन् वा ध्येये द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वा पृथक्त्ववितर्कविचारं ध्यानमारभते (त.सुखबो. वृ. ९-४४)। २०. गुप्त्यादिषु कृतपरिकर्मा विहिताभ्यासः सन् परद्रव्यपरमाणुं द्रव्यस्य सूक्ष्मत्वं भावपरमाणुं पर्यायस्य सूक्ष्मत्वं वा ध्यायन् सन् समारोपितवितर्कसामर्थ्यः सन्नर्थ-व्यञ्जने काय-वचसी च पृथक्त्वेन संक्रमता मनसा असमर्थशिशूद्यमवत् प्रौढार्भकवदव्यवस्थितेन अतीक्ष्णेन कुठारादिना शस्त्रेण चिराद् वृक्षं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयंश्च मुनिः पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानं भजते। (त. वृत्ति श्रुत. ९-४४)। २१. उत्पादादिपर्यायाणामेकद्रव्यविवर्तिनाम्। विस्तारेण पृथग्भेदैर्वितर्को यद्विकल्पनम् ॥ नानानयानुसरणात्मकात्पूर्वगतश्रुतात्। तत्र ध्याने तत्पृथक्त्ववितर्कमिति वर्णितम् ॥ अत्र च व्यञ्जनादर्थे तथार्थाद् व्यञ्जनेऽसकृत्। विचारोऽस्ति विचरणं सविचारं तदीरितम् ॥ मनःप्रभृतियोगानामेकस्मादपरत्र च। विचारोऽस्ति विचरणं सविचारं ततोऽप्यदः ॥ एवं च—यत् पृथक्त्ववितर्काढ्यं सविचारं भवेदिह। तत् स्यादुभयधर्माढ्यं शुक्लध्यानं किलादिमम् ॥ (लोकप्र. ३०, ४८०-८४, पृ. ४४२)।

१ पृथक्त्ववितर्क-वीचार शुक्लध्यान का ध्याता उपशान्तमोह—ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती संयत—अनेक द्रव्यों का तीनों ही योगों के आश्रय से ध्यान करता है। इसीलिए इस ध्यान का उल्लेख पृथक्त्व शब्द के द्वारा किया जाता है। वह चूंकि पूर्वगत श्रुत के अर्थ में कुशल—पूर्वों का ज्ञाता श्रुतकेवली—होता है, इसलिए श्रुत का बोधक होने से उस ध्यान को सवितर्क शब्द से कहा जाता है। तथा वह ध्यान अर्थ, व्यञ्जन और योगों के परस्पर परिवर्तनरूप वीचार से सहित होता है, इसी से उसे सविचार भी कहा गया है। ३ तीनों योगों में प्रवृत्त होना, इसका नाम पृथक्त्व है, अथवा पृथक्त्व नाम विस्तार का जानना चाहिए, इस ध्यान का ध्याता श्रुतज्ञान में उपयुक्त होता हुआ अनेक पर्यायों के आश्रय से ध्यान करता है; यह पृथक्त्व का अभिप्राय समझना चाहिए। वितर्क का अर्थ श्रुत और वीचार का अर्थ है अर्थ, व्यञ्जन (श्रुतवाक्य) एवं योगों का संक्रमण। इसका ध्याता श्रुतज्ञान में उपयुक्त चतुर्दशपूर्ववित् होता है, इससे उसे सवितर्क कहा गया है। वह एक अर्थ से दूसरे अर्थ को, एक व्यञ्जन से दूसरे व्यञ्जन को, तथा एक योग से दूसरे योग को प्राप्त होता है; इसीलिए उसे अर्थ, व्यञ्जन योगों के संक्रमणरूप वीचार से सहित होने के कारण सविचार कहा गया है। इस प्रकार से उक्त ध्यान पृथक्त्ववितर्क-सविचारी कहलाता है।

पृथग्विमात्रा— पृथग्विमात्रा हास्येन प्रारब्धाः प्रद्वेषेण निष्ठाङ्गता। (जीतक. चू. वि. व्या. ५-२१, पृ. ३९)।

जो उपसर्ग हास्य से प्रारब्ध होकर द्वेष से समाप्त होते हैं वे पृथग्विमात्रा कहलाते हैं।

पृथिवी—१. पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं। (दशवै. सू. ४-१, पृ. १३६)। २. तत्र अचेतना वैश्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्य-(त. वा. 'काठिन्यादि'-) गुणात्मिका पृथिवी। (स. सि. २-१३; त. वा. २, १३, १)। ३. पृथिवी काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता। (दशवै. सू. हरि. वृ. ४-१, पृ. १३८)। ४. तत्राध्वादिस्थिता धूलिः पृथिवी। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

१ अपना अपना पृथक् अस्तित्व रखने वाले अनेक जीवों से युक्त पृथिवी चित्तवती—चेतना से युक्त (सजीव), अथवा चित्तमात्रा—अल्पचेतना वाली—कही गई है। विशेष इतना जानना चाहिए कि शस्त्रपरिणत पृथिवी चित्तवती (सजीव) नहीं है। शस्त्र द्रव्यशस्त्र आदि (जैसे—शस्त्र, अग्नि, विष, क्षार और नमक आदि) के भेदसे अनेक प्रकार का है। २ स्वाभाविक परिणाम से निर्मित जो

अचेतन और कठिन भूमि है वह पृथिवी कहलाती है।

पृथिवीकाय— १. कायः शरीरम्, पृथिवीकाय-जीवपरित्यक्तः पृथिवीकायः। (स. सि. २-१३; त. वा. २-१३)। २. इष्टकादिः पृथिवीकायः, पृथिवीकायिकजीवपरिहृतत्वात् इष्टकादिः पृथिवीकायः कथ्यते मृतमनुष्यादिकायवत्। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

१ काय का अर्थ शरीर है, पृथिवीकायिक जीव के द्वारा जो शरीर छोड़ा जा चुका है उसे पृथिवीकाय कहा जाता है।

पृथिवीकायिक—१. कायाणुवादेण पुढविकाइओ णाम कधं भवदि? पुढविकाइयणामाए उदएण। (षट्खं. २, १, १८-१९—धव. पु. ७, पृ. ७०)। २. पृथिवी कायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः। (स. सि. २-१३; त. वा. २-१३)। ३. सैव (पृथिवी एव) कायः शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः, पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिकाः। स्वार्थिकष्ठक्। (दशवै. सू. हरि. वृ. ४-१, पृ. १३८)। ४. पुढविकाइय-णामकम्मोदयवंतो जीवा पुढविकाइया त्ति वुच्चंति। (धव. पु. ३, पृ. ३३०)। ५. पृथिवी कायो विद्यते यस्य स पृथिवीकायिकः। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

१ जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से युक्त होते हुए पृथिवी को शरीररूप से ग्रहण किये हुए हैं वे पृथिवीकायिक कहलाते हैं।

पृथिवीजीव — १. समवाप्तपृथिवीनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत् पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति सः पृथिवीजीवः। (स. सि. २-१३; त. वा. २-१३)। २. पृथिवीं कायत्वेन यो गृहीष्यति प्राप्तपृथिवीनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थः स पृथिवीजीवः। (त. वृत्ति श्रुत. २-१३)।

१ जो जीव पृथिवीकाय नामकर्म के उदय से युक्त होकर कार्मण काययोग में स्थित होता हुआ—विग्रह-गति में वर्तमान होता हुआ—पृथिवी को शरीररूप से ग्रहण नहीं करता है—आगे ग्रहण करने वाला है—उसे पृथिवीजीव कहते हैं।

पृथिवीमण्डल—देखो भौममण्डल। क्षितिबीज-समाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम्। स्याद्वज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम्॥ (ज्ञानार्णव २६-१९, पृ. २८८)। जो पृथिवी बीजाक्षर से युक्त होकर पिघले (तपाये) सुवर्ण के समान कान्तिवाला, वज्रचिह्न से संयुक्त और आकार में चौकोण होता है वह धरापुर या पृथिवीमण्डल कहलाता है।

पृथिवीराजिसदृश क्रोध— देखो भूमिराजिसदृश क्रोध।

पृथ्वी—देखो पृथिवी। वर्णाश्रमवती धान्य-हिरण्य-पशु-कुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी। (नीतिवा. ५-५)।

जो ब्राह्मणादि वर्णों एवं ब्रह्मचारी आदि आश्रमों से युक्त होती हुई धान्य (अन्न), हिरण्य (सुवर्ण आदि), पशु और कुप्य—सुवर्ण-चांदीभिन्न; इनका वर्षण करती है—उन्हें प्रदान करती है—वह पृथ्वी कहलाती है। इसका पालन राजा किया करता है।

पृथ्वीतत्त्व—अविरलमरीचिमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरित-भासुरतरशिरोमणिमण्डलीसहस्रमण्डितविकटतरफूत्कारमारुतपरम्परोत्पातप्रेङ्खोलितकुलाचलसम्मिलितशिखिशिखासन्तापद्रवत्काञ्चनकान्तिकपिशनिजकाय-कान्तिच्छटापटलजटिलितदिग्वलयक्षत्रियभुजंगपुंगव-द्वितयपरिक्षिप्तक्षितिबीजविसृष्टप्रकटपविपञ्जरपिनद्धसघनणिरिचतुरस्रमेदिनीमण्डलावलम्बनगजपतिपृष्ठ-प्रतिष्ठितपरिकलितकुलिशकरशचीप्रमुखविलासिनी-शृंगारदर्शनोल्लसितलोचनसहस्रश्रीत्रिदशपतिमुद्रालंकृतसमस्तभुवनावलम्बिसुनासीरपरिकलितजानुद्वय इति पृथ्वीतत्त्वम्। (ज्ञानार्णव २१-१०, पृ. २२३)। देखो पृथिवीमण्डल।

पृष्ठतः अन्तगत अवधि—येनावधिना पृष्ठत एव संख्येयान्यसंख्येयानि वा योजनानि पश्यति स पृष्ठतोऽन्तगतः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ. ५३७)।

जिस अवधिज्ञान के द्वारा पीछे की ओर ही संख्यात या असंख्यात योजन पर अवस्थित पदार्थों को देखता है उसे पृष्ठतः अन्तगत अवधि कहते हैं।

पेटा—१. अत्र च सम्प्रदायः—पेडा पेडिका इव चउक्कोणा। (उत्तरा. ने. वृ. ३०-१९)। २. यस्यां तु साधुः क्षेत्रं पेटावत् चतुरस्रं विभज्य मध्यवर्तीनि च गृहाणि मुक्त्वा चतसृष्वपि दिक्षु समश्रेण्या भिक्षामटति सा पेटा। (बृहत्क. क्षे. वृ. १५४९)।

२ जिस गोचरभूमि में साधु पेटा (पेटी) के समान गोचरक्षेत्र को चौकोण आकार में विभाजित करके मध्यवर्ती गृहों को छोड़कर चारों ही दिशाओं में

समश्रेणी से अवस्थित घरों में भिक्षा के लिए परिभ्रमण करता है उसे पेटा गोचरभूमि कहते हैं। यह आठ गोचरभूमियों में पांचवीं है।

पेलविय—देखो पेटा। १. पेलवियं वंशदलादिभिर्निष्पादितं वस्त्र-सुवर्णादिनिक्षेपणार्थं पिधानसहितं यत्तद्वच्चतुरस्राकारं भ्रमणम्। (भ. आ. विजयो. २१८)। २. पेलवियं पेट्टावच्चतुरस्रं भ्रमणम्। (भ. आ. मूला. २१८)।

१ वस्त्र व सुवर्णादि के रखने के लिए बांस की कमचियों या बेंत आदि से निर्मित और ढक्कन सहित पेटी के समान चारों ओर गोचरी (भिक्षा) के लिए भ्रमण करना, यह पेलविय या पेलविक गोचरी कहलाती है। इत्यादि प्रकार का नियम वृत्तिपरिसंख्यान तप में किया जाता है।

पैशाचविवाह—१. सुप्त-प्रमत्तकन्यादानात् पैशाचः। (नीतिवा. ३१–११; ध. बि. मु. वृ. १–१२)। २. सुप्त-प्रमत्तकन्याग्रहणात् पैशाचः। (योगशा. स्वो. विव. १–४७; श्राद्धगु. ३, पृ. १४; धर्मसं. मान. स्वो. टी. १, पृ. ५)।

सोई हुई या प्रमादयुक्त (असावधान या पागल) कन्या के ग्रहण करने को पैशाचविवाह कहा जाता है।

पैशून्य—१. पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशून्यम्। (त. भा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. पैशून्यं पिशुनकर्म प्रच्छन्नं सदसद्दोषाविर्भावनम्। (स्थाना. अभय. वृ. १–४८)। ३. पैशुन्यं प्रच्छन्नं सद्दोषाविष्करणम्। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७६)। ४. पैशून्यं परस्यादोषस्य वा सदोषस्य वा दोषोद्भावनं पृष्ठमांसभक्षित्वम्। (मूला. वृ. ११–९)। ५. पैशून्यम् अङ्गविकार-भ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनम्, साकारमंत्रभेद इत्यर्थः। (रत्नक. टी. ३–१०)। ६. कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णमति चैकपुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महद्विपत्कारणं वचः पैशून्यम्। (नि. सा. वृ. ६२)। ७. पैशून्यं परोक्षे सतोऽसतो वा दोषस्योद्घाटनम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८०, पृ. ४३८)। ८. पिट्ठओ दोससूयणं पेसुण्णवाया। (अंगप. २-७८)। ९. पैशून्यं प्रच्छन्नं परदोषप्रकटनम्। (कल्पसू. विन. वृ. ११८, पृ. १७४)।

१ पीछे किसी के दोषों को प्रकट करना, इसका नाम पैशून्य है। २ गुप्तरूप से किसी के विद्यमान या अविद्यमान दोषों के प्रगट करने को पिशुनकर्म या पैशून्य कहा जाता है।

पोत—१. किञ्चित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोतः। (स. सि. २–३३; गो. जी. जी. प्र. ८४)। २. सम्पूर्णावयवः परिस्पन्दादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः। किञ्चित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोत इत्युच्यते। (त. वा. २, ३३, ३)। ३. पूर्णावयवः परिस्पन्दादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः। (त. श्लो. २, ३३)। ४. अण्डज-जरायुजवर्जिताः संजातमात्रव्यक्तांगोपेताः पोताः। (गो. जी. म. प्र. ८४)। ५. यद् योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः परिपूर्णप्रतीकः आवरणहितः स पोतः इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २–३३)।

१ जो बिना किसी प्रकार के आवरण के ही परिपूर्ण शरीरावयवों से युक्त होता हुआ योनि से निकलते ही—जन्म लेते ही—चलने-फिरने आदिरूप क्रिया में समर्थ होता है, उसे पोत कहते हैं।

पोतायिक—मार्जारादिगर्भविशेषः पोतः, तत्र कर्मविशेषादुत्पत्त्यर्थमाय आगमनं पोतायः। पोतायो विद्यते येषां ते पोतायिकाः। × × × श्व-मार्जार-सिंह-व्याघ्र-चित्रकादयोऽनावरणजन्मानः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१४)।

पोत का अर्थ गर्भ और आय का अर्थ है आगमन, इस प्रकार जो उत्पत्ति के लिए गर्भ में आते हैं वे पोतायिक कहलाते हैं।

पोत्तकर्म—पोत्तं वस्त्रम्, तेण कदाओ पडिमाओ पोत्तकम्मं। (धव. पु. ९, पृ. २४९); हय-हत्थि-णर-णारि-वय-वग्घादिपडिमाओ वत्थविसेसेसु उड्डाओ पोत्तकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. ९); विविहवत्थेसु कयपडिमाओ पोत्तकम्माणि णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०२); वत्थेसु पाण-सालिय-कोसट्टादीहिं जाणि वूणणकिरियाए णिप्पाइदाणि रूवाणि छिपएहि वा कदाणि पोत्तकम्माणि णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५)।

पोत्त का अर्थ वस्त्र है, उसके ऊपर जो घोड़ा व हाथी आदि की प्रतिमाओं की रचना की जाती है—

उन्हें शिथिल किया जाता है, इसका नाम पोसह-कर्म है।

पोषधव्रत—देखो पौषधोपवास।

पोषधोपवास—देखो पौषधोपवास।

पौनरुक्त्य—शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पौनरुक्त्यमन्यत्रानुवादात्, अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं च। (आव. नि. हरि. वृ. ८८१)।

अनुवाद को छोड़कर पहले कहे हुए शब्द या अर्थ के पुनः कथन करने को पौनरुक्त्य दोष कहते हैं तथा अभिप्राय से ही प्रतीत होने वाले तत्त्व को अपने शब्दों के द्वारा पुनः कहने को भी पौनरुक्त्य कहा जाता है। यह शब्दपुनरुक्त और अर्थपुनरुक्त के भेद से दो प्रकार का है।

पौरुष—पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम्। (अष्टश. ८८)

पुरुष की चेष्टा या प्रयत्न को पौरुष कहा जाता है। इसका दूसरा नाम दृष्ट भी है।

पौर्णमासी—पूर्णो मासो यस्यां सा पौर्णमासी, अन्ये तु व्याचक्षते पूर्णो माः—चन्द्रमा अस्यामिति पौर्णमासी। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १५६, पृ. ३०५)।

जिस तिथि में मास पूर्ण होता है उसे पौर्णमासी कहते हैं। दूसरे आचार्य 'मास्' का अर्थ चन्द्र ग्रहण करके यह कहते हैं कि जिस तिथि में चन्द्रमा पूर्णता को प्राप्त होता है उसका नाम पौर्णमासी है।

पौषधप्रतिमा—१. सा च मासचतुष्टयं यावदष्टमीचतुर्दश्योः चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानरतस्य चतुर्विधपौषधकृतो भवति। द्रव्यादिभेदतः द्विमासादिकालमानेन यथास्थितं ते। अथ नन्दिव्रतनियमादिविधिः, स एव प्रस्तदभिलापेन इति पौषधप्रतिमा चतुर्थी। (आ. पृ. ५२)। २. अट्ठमीमाइपव्वेसु सम्मं पोसहपालणं। सेसाणुट्ठाणजुत्तस्स चउत्थी पडिमा इय॥ (वृ. षड्. स्वो. वृ. १५ उद्.)। ३. पौषधं पर्व-चतुर्दश्यादिपर्वदिनानुष्ठेयोऽनुष्ठानविशेषः, प्रतिमा च कायोत्सर्गः। × × × यस्यां चतुर्दश्यादिषु दिवसेषु चतुर्दश्यष्टम्यमावस्या-पौर्णमासीषु पर्वतिथिषु च चतुर्विधमप्याहार-शरीर-सत्कार-ब्रह्मचर्याव्यापारपरिवर्जनरूपं पौषधं परिपूर्णम् × × अनुपालयन्नेव आसेवते। (सम्बोधस.वृ. ६१, ४५–४६)।

१ जिस प्रतिमा का धारक अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या इन पर्वतिथियों में चार प्रकार के आहार का परित्याग करता हुआ शरीरसंस्कार, अब्रह्मचर्य और अन्य छोटे व्यापार को छोड़ देता है वह पौषधप्रतिमा कहलाती है। श्रावक की १२ प्रतिमाओं में यह चौथी है।

पौषधोपवास—१. पौषधोपवासो नाम पौषधे उपवासः। पौषधः पर्वेत्यनर्थान्तरम्। सोऽष्टमीं चतुर्दशीं पञ्चदशीमन्यतमां वा तिथिमभिगृह्य चतुर्थाद्युपवासिना व्यपगतस्नानानुलेपन-गन्ध-माल्यालंकारेण न्यस्तसर्वसावद्ययोगेन कुशसंस्तार-फलकादीनामन्यतमं संस्तारमास्तीर्य स्थानं वीरासन-निषद्यानां वान्यतममास्थाय धर्मजागरिकापरेणानुष्ठेयो भवति। (त. भा. ७–१६)। २. इह पौषधशब्दो रूढ्या पर्वसु वर्तते, पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः, पूरणात् पर्व, धर्मोपचयहेतुत्वादित्यर्थः, पोषधे उपवसनं पौषधोपवासः नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवास इति। (आव. हरि. वृ. ६, पृ. ८३५)। ३. पौषधः अष्टम्यादिपर्वदिनम्, तत्रोपवसनमाहार-शरीरसंस्कारादित्यागः पौषधोपवासः। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ४. पौषधोपवासः अष्टम्यादिपर्वदिनेषूपवसनम्, आहारादित्याग इत्यर्थः। (औपपा. अभय. वृ. ४०, पृ. १०१)। ५. पोषं धत्ते पोषधः अष्टमी-चतुर्दश्यादिः पर्वदिवसः, उपेति—सह उपावृत्तदोषस्य सतो गुणैराहारपरिहारादिरूपैर्वासः उपवासः, यथोक्तम्—उपावृत्तस्य दोषेभ्यः सम्यग्वासो गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम्॥ ततः पौषधेषूपवासः पौषधोपवासः। (ध. बि. मु. वृ. ३–१८, पृ. ३५)। ६. चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि: कुव्यापारनिषेधनम्। ब्रह्मचर्यक्रियास्नानादित्यागः पोषधव्रतम्॥ (योगशा. ३–८५, पृ. ५११; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६४१); पोषं पुष्टिम्, प्रक्रमाद्धर्मस्य, धत्ते पोषधः, स एव व्रतं पोषधव्रतम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–८५)। ७. पोषं धर्मपोषं दधाति करोतीति पोषधमष्टम्यादिपर्व, तस्मिन्नुपवासः पोषधोपवासः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२८, पृ. ३६६)।

१ पौषध का अर्थ पर्व है, पर्व में जो उपवास किया जाता है वह पौषधोपवास कहलाता है। अष्टमी, चतुर्दशी और पंचदशी ये पर्व कहलाते हैं। इनमें व इनके अतिरिक्त अन्यतम—प्रतिपदा आदि—तिथियों में

भी वह किया जा सकता है, पर पर्वतिथियों में उसे अवश्य करना चाहिए। उपवास के समय सावद्य-कर्म के साथ स्नान आदि रूप संस्कार आदि का परित्याग करना चाहिए, तथा कांस अथवा चटियों आदि को बिछा कर कायोत्सर्ग से अथवा वीरासन आदि से स्थित होकर धर्मजागरण करना चाहिए। २. पौषध शब्द पर्व के अर्थ में रूढ है, अष्टमी आदि (चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या) तिथियों को पर्व माना जाता है, क्योंकि वे धर्मोपचय के कारण हैं। उक्त पर्व दिनों में उपवास करना, इसे पौषधो-पवास या पौषधोपवास कहा जाता है।

पौष्णकाल—जन्म-ऋक्षगते चन्द्रे समसप्तगते रवौ। पौष्णनामा भवेत्कालो मृत्युनिर्णयकारणम् ॥ (योग-शा. ५-८७)।

जन्मनक्षत्र में चन्द्रमा के प्राप्त होने पर तथा सूर्य के सम सातवें में प्राप्त होने पर पौष्ण नामक काल होता है, यह मृत्यु का निश्चायक है।

लक्षणावली में उपयुक्त ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१	अध्यात्मक.	अध्यात्मकमलमार्तण्ड	कवि राजमल्ल	वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा	ई. १९४४
२	अध्यात्मत.	अध्यात्मतरंगिणी	सोमदेव	अहिंसामन्दिर, दिल्ली	ई. १९६०
३	अध्यात्मर.	अध्यात्मरहस्य (योगोद्दीपन शास्त्र)	पं. आशाधर	वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली	ई. १९५७
४	अध्यात्मसा.	अध्यात्मसार	उ. यशोविजय	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	वि. १९६५
५	अध्यात्मोप.	अध्यात्मोपनिषद् (योगशास्त्र)	हेमचन्द्र सूरि	,,	ई. १९२६
६	अन. ध.	अनगारधर्मामृत	पं. आशाधर	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	ई. १९१९
७	अन. ध. स्वो. टी.	अनगारधर्मामृत टीका	,,	,,	,,
८	अनादिवि.	अनादिविंशिका (विंशिका)	हरिभद्रसूरि	—	—
९	अनुयो.	अनुयोगद्वार सूत्र	आर्यरक्षित स्थविर	आगमोदय समिति बम्बई	ई. १९२४
१०	अनुयो. मल. हेम. वृ.	अनुयोगद्वार टीका	मलधारगच्छीय हेमचन्द्र	,,	,,
११	अनुयो. चू.	अनुयोगद्वार चूर्णि	जिनदास गणिमहत्तर	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम	ई. १९२८
१२	अनुयो. हरि. वृ.	अनुयोगद्वार टीका	हरिभद्र सूरि	,,	,,
१३	अने. ज. प.	अनेकान्तजयपताका	,,	सेठ भगुभाई तनुज मनसुख भाई अहमदाबाद	—
१४	अमित. श्रा.	अमितगति श्रावकाचार (भागचन्द्रकृत टीका सहित)	आचार्य अमितगति	दि. जैन पुस्तकालय, सूरत	वी. नि. २४८४ वि. २०१५
१५	अष्टक.	अष्टकानि	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १९६४
१६	अभि. रा.	अभिधान राजेन्द्रकोष (सात भाग)	श्री विजय राजेन्द्र सूरीश्वर	श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम	ई. १९१३-३४
१७	अष्टश.	अष्टशती	भट्टाकलंकदेव	भा. जैन सिद्धान्त प्र. संस्था	ई. १९१४

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१८	अष्टस.	अष्टसहस्री	आ. विद्यानन्द	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९१५
१९	अष्टस. वृ.	अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण	उ. यशोविजय	जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा राजनगर	ई. १९३७
२०	अंगप.	अंगपण्णत्ति	शुभचन्द्राचार्य	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. सं. १९७९
२१	आचारदि.	आचारदिनकर	वर्धमान सूरि	—	—
२२	आचा. सा., आ. सा.	आचारसार	वीरनन्दी सैद्धान्तिकचक्रवर्ती	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. १९७४
२३	आचारा. सू.	आचाराङ्गसूत्र (प्रथम व द्वितीय श्रुतस्कन्ध)	—	सिद्धचक साहित्य प्रचारक समिति, मुम्बई	वि. सं. १९३५
२४	आचारा. नि.	आचाराङ्गनिर्युक्ति	भद्रबाहु आचार्य (द्वि.)	,,	,,
२५	आचारा. शी. वृ.	आचारांग वृत्ति	शीलांकाचार्य	,,	,,
२६	आचार्यभ.	आचार्यभक्ति (क्रियाक.)	आ. पूज्यपाद	संपा. पं. पन्नालाल जी सोनी	वि. सं. १९९३
२७	आत्मप्र.	आत्मप्रबोध	कुमारकवि	जैन सि. प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता	—
२८	आत्मानु.	आत्मानुशासन	गुणभद्राचार्य	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. १९६१
२९	आत्मानु. वृ.	आत्मानुशासन वृत्ति	प्रभाचन्द्राचार्य	,,	,,
३०	आ. मी.	आप्तमीमांसा (देवागम)	समन्तभद्राचार्य	भा. जैन सि. प्रकाशिनी संस्था काशी	ई. १९१४
३१	आ. मी. वृ.	आप्तमीमांसा पदवृत्ति	वसुनन्दी सैद्धान्तिक-चक्रवर्ती	,,	,,
३२	आप्तस्व.	आप्तस्वरूप	—	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७९
३३	आरा. सा.	आराधनासार	देवसेनाचार्य	,,	वि. सं. १९७३
३४	आरा. सा.टी.	आराधनासार टीका	श्री रत्नकीर्तिदेव	,,	,,
३५	आलाप.	आलापपद्धति	देवसेनाचार्य	,,	वि. सं. १९७७
३६	आव. सू.	आवश्यकसूत्र (अध्ययन १)	—	दे. ला. जैन. पुस्तको. फंड सूरत	वि. १९७६
३७	आव. नि.	आवश्यक निर्युक्ति ,,	आ. भद्रबाहु (द्वि.)	,,	,,
३८	आव. भा.	आवश्यक भाष्य ,,	—	,,	,,

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३९	आव. वृ.	आवश्यक वृत्ति (अध्य. १)	हरिभद्रसूरि	दे. ला. जैन पुस्तको. फंड सूरत	वि. १९७६
४०	आव. सू.	आवश्यकसूत्र (अध्य. २, ३, ४)	—	आगमोदयसमिति मेहसाना	ई. १९१७
४१	आव. नि.	आवश्यक नियुक्ति „	आ. भद्रबाहु	„	„
४२	आव भा.	आवश्यक भाष्य „	—	„	„
४३	आव. वृ	आवश्यक वृत्ति „	हरिभद्रसूरि	„	„
४४	आव. सू.	आवश्यकसूत्र (भा. १, २)	—	आगमोदय समिति बम्बई	ई. १९२८-१९३२
४५	आव. वृ.	आवश्यकसूत्र वृत्ति	आ. मलयगिरि	„	„
४६	आव. सू.	आवश्यकसूत्र (भा. ३)	—	दे. ला. जैन पुस्तको. फंड सूरत	ई. १९३६
४७	आव. वृ.	आवश्यकसूत्र वृत्ति	आ. मलयगिरि	„	„
४८	आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि.	आवश्यकसूत्र हरिभद्रविरचित वृत्ति पर टिप्पण	मलधारगच्छीय हेमचन्द्र सूरि	„	ई. १९२०
४९	इष्टोप.	इष्टोपदेश	पूज्यपादाचार्य	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. १९७५
५०	इष्टोप. टी.	इष्टोपदेश टीका	पं. आशाधर	„	„
५१	उत्तरा. सू.	उत्तराध्ययन सूत्र	—	पुष्पचन्द खेमचन्द, वलाद	—
५२	उत्तरा. ने. वृ.	उत्तराध्ययन सुबोधा वृत्ति	नेमिचन्द्राचार्य	„	—
५३	उत्तरा. सू.	उत्तराध्ययन सूत्र (प्रथम विभाग, अध्य. १-४)	—	दे. ला. जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत	ई. १९१६
५४	उत्तरा. नि.	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	भद्रबाहु	„	„
५५	उत्तरा. शा. वृ.	उत्तराध्ययन नि. वृत्ति	शान्तिसूरि	„	„
५६	उपदे. प., उप. प.	उपदेशपद (प्रथम वि.)	हरिभद्र सूरि	श्रीमन्मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ोदा	वि. १९७९
५७	उपदे. प. वृ.	„ टीका	मुनिचन्द्र सूरि	„	„
५८	उपदे. प., उप. प.	„ (द्वितीय वि.)	हरिभद्र सूरि	„	वि. १९८१
५९	उपदे. प. वृ.	„ टीका	मुनिचन्द्र सूरि	„	„
६०	उपदे. मा.	उपदेशमाला	धर्मदास गणी	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. जैन संस्था, रतलाम	ई. १९२८

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
६१	उपासका.	उपासकाध्ययन	सोमदेव सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६४
६२	उपासग.	उवासगदसाओ	—	डा. पी. एल. वैद्य, पूना	ई. १९३०
६३	ऋषिभा.	ऋषिभाषित सूत्र	—	ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम	ई. १९२७
६४	ओघ. नि.	ओघनिर्युक्ति	आ. भद्रबाहु	आ. विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत	ई. १९५७
६५	ओघनि. वृ.	ओघनिर्युक्ति (सभाष्य)	वृत्तिकार द्रोणाचार्य	"	"
६६	औपपा.	औपपातिक सूत्र	—	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९१६
६७	औपपा.अभय. वृ.	औपपातिकसूत्रवृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"
६८	कर्मप्र.	कर्मप्रकृति	वाचक शिवशर्म सूरि	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात)	ई. १९३७
६९	कर्मप्र. चू.	कर्मप्रकृति चूर्णि	—	"	"
७०	कर्मप्र.मलय. वृ.	कर्मप्रकृति वृत्ति	आ. मलयगिरि	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात)	ई. १९३७
७१	कर्मप्र. यशो. टी.	कर्मप्रकृति टीका	उपाध्याय यशोविजय	"	"
७२	कर्मवि. ग.	कर्मविपाक	गर्ग महर्षि	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. १९७२
७३	कर्मवि. पू. व्या.	कर्मविपाक व्याख्या	—	"	"
७४	कर्मवि. ग. परमा. वृ.	कर्मविपाक वृत्ति	परमानन्द सूरि	"	"
७५	कर्मवि. दे.	कर्मविपाक	देवेन्द्रसूरि	"	ई. १९३४
७६	कर्मवि. दे. स्वो. वृ.	कर्मविपाक वृत्ति	"	"	"
७७	कर्मस्त.	कर्मस्तव	—	"	वि. १९७२
७८	कर्मस्त. गो. वृ.	कर्मस्तव वृत्ति	गोविन्द गणी	"	"
७९	कल्पसू.	कल्पसूत्र	भद्रबाहु	प्राचीन पुस्तकोद्धारफंड, सूरत	ई. १९१४
८०	कल्पसू. स. वृ.	कल्पसूत्र वृत्ति	समयसुन्दर गणी	"	"
८१	कल्पसू. विनय. वृ.	"	विनयविजय गणी	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	ई. १९१५

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशन	प्रकाशन काल
८२	कसायपा.	कसायपाहुडसुत्त	गुणधराचार्य	वीर शासन संघ, कलकत्ता	ई. १९५५
८३	कसायपा. चू.	कसायपाहुड चूर्णिसूत्र	यतिवृषभाचार्य	"	"
८४	जयध.	कसायपाहुड टीका (जयधवला)	वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य	दि. जैन संघ चौरासी, मथुरा	ई.१९४४ आदि
८५	कार्तिके.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामिकुमार	राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास	वि. सं. २०१६
८६	कार्तिके. टी.	" टीका	शुभचन्द्राचार्य	"	"
८७	क्षत्रचू.	क्षत्रचूडामणि	वादीभसिंह सूरि	टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री, तंजोर	ई. १९०३
८८	गणितसा.	गणितसारसंग्रह	महावीराचार्य	जैन सं. सं. संघ, सोलापुर	—
८९	गद्यचि.	गद्यचिन्तामणि	वादीभसिंह सूरि	टी. एस. कुप्पू स्वामी शास्त्री तंजोर	ई. १९१६
९०	गुण. श्रा.	गुणभूषण श्रावकाचार	भ. गुणभूषण	मूलचन्द कि. कापडिया	वी. नि. २४५१
९१	गुण. क्र.	गुणस्थानक्रमारोह	रत्नशेखर सूरि	आत्मतिलक ग्रन्थ सोसायटी, अहमदाबाद	वि. सं. १९७५
९२	गु. गु. ष.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका	"	जैन आत्मानन्द सभा भावनगर	वि. सं. १९७१
९३	गु. गु. ष. स्वो. वृ.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका वृत्ति	"	"	"
९४	गो. जी.	गोम्मटसार—जीवकाण्ड	आ. नेमिचन्द्र सि. च.	भा. जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता	—
९५	गो. जी. मं. प्र. टी.	गो. जी. मन्दप्रबोधिनी टीका (ज्ञानमार्गणा पर्यन्त)	अभयचन्द्राचार्य	"	—
९६	गो. जी. जी. प्र. टी.	गो. जी. जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका	केशववर्णी [भट्टारक नेमिचन्द्र]	"	—
९७	गो. क.	गोम्मटसार—कर्मकाण्ड	आ. नेमिचन्द्र सि. च.	"	—
९८	गो. क. जी. प्र. टी.	गो. क. जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका	केशववर्णी [भट्टारक नेमिचन्द्र]	"	—
९९	चन्द्र. च.	चन्द्रप्रभचरित	आ. वीरनन्दी	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९१२
१००	चारित्रप्रा.	चारित्रप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बंबई	वि. सं. १९७७
१०१	चा. सा. पृ.	चारित्रसार	चामुण्डराय	"	वि. सं. १९७४
१०२	चैत्यवं. भा.	चैत्यवन्दनभाष्य	देवेन्द्र सूरि	आत्मानन्द सभा भावनगर	वि. सं. १९६९
१०३	छेदपिण्ड	छेदपिण्ड	इन्द्रनन्दि योगीन्द्र	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई	वि. सं. १९७८

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१०४	जम्बूद्वी.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र	—	जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई	ई. १९२०
१०५	जम्बूद्वी. शा. वृ.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति	शान्तिचन्द्र	"	"
१०६	जम्बू. च.	जम्बूस्वामिचरित	पं. राजमल्ल	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. सं. १९९३
१०७	जसहरच.	जसहरचरिउ	पुष्पदन्त कवि	कारंजा सीरीज, कारंजा	—
१०८	जं. दी. प.	जंबूदीव-पण्णत्ति-संगहो	आ. पद्मनन्दी	जैन संस्कृति संरक्षक, संघ सोलापुर	" २०१४
१०९	जिनदत्तच.	जिनदत्तचरित्र	गुणभद्राचार्य	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला	—
११०	जिनसहस्र. श्रुत. वृ.	जिनसहस्रनाम टीका	भ. श्रुतसागर	भारतीय ज्ञानपीठ काशी	ई. १९५४
१११	जीतक.	जीतकल्पसूत्र	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	जैन साहित्य संशोधक समिति अहमदाबाद	ई. १९२६
११२	जीतक. चू.	जीतकल्पसूत्र चूर्णि	सिद्धसेन सूरि	"	"
११३	जीतक. वि. व्या.	जीतकल्पचूर्णि विषम-पदव्याख्या	श्रीचन्द्र सूरि	"	"
११४	जीव. च.	जीवन्धरचम्पू	कवि हरिचन्द्र	टी. एस. कुप्पूस्वामी, तंजोर	ई १९०५
११५	जीववि.	जीवविचार	शान्तिसूरि	—	—
११६	जीवस.	जीवसमास (मूल)	—	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था, रतलाम	ई. १९२८
११७	जीवाजी.	जीवाजीवाभिगम	—	जैन पुस्तकोद्धारफंड, बम्बई	ई. १९१९
११८	जीवाजी. मलय. वृ.	जीवाजीवाभिगम वृत्ति	आ. मलयगिरि	"	"
११९	जैनत.	जैनतर्कपरिभाषा	उ. यशोविजय	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १९६५
१२०	जैनेन्द्र.	जैनेन्द्र-व्याकरण	पूज्यपाद (देवनन्दी)	भारतीय ज्ञानपीठ काशी	ई. १९५६
१२१	ज्ञानबिन्दु	ज्ञानबिन्दु प्रकरण	उ. यशोविजय	—	—
१२२	ज्ञा. सा.	ज्ञानसार	पद्मसिंह मुनि	मा. दि. जैनग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७५
१२३	"	ज्ञानसार सूत्र	उ. यशोविजय	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७१
१२४	ज्ञा. सा. टी.	ज्ञानसार टीका	देवभद्र मुनीश	"	"
१२५	ज्ञाना.	ज्ञानार्णव	शुभचन्द्र आचार्य	परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई	ई. १९०७

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१२६	ज्योतिष्क.	ज्योतिष्करण्डक	—	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था, रतलाम	ई. १९२८
१२७	ज्योतिष्क. मलय. वृ.	ज्योतिष्करण्डक वृत्ति	मलयगिरि आचार्य	"	"
१२८	त. सा.	तत्त्वसार	श्री देवसेन	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७५
१२९	तत्त्वानु.	तत्त्वानुशासन	रामसेन मुनि	"	"
१३०	त. भा.	तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (भाग १, २)	स्वोपज्ञ (उमास्वाति)	दे. ला. जैन पुस्तको. फंड, बंबई	वि. १९८२, १९८६
१३१	त. भा. सिद्ध. वृ.	तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	सिद्धसेन गणी	"	"
१३२	त. भा. हरि. वृ.	"	हरिभद्र सूरि	ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम	वि. १९९२
१३३	त. वा.	तत्त्वार्थवार्तिक (भा. १,२)	अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५३, १९५७
१३४	त. वृत्ति श्रुत.	तत्त्वार्थवृत्ति	श्रुतसागर सूरि	"	ई. १९४९
१३५	त. श्लो.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	विद्यानन्द आचार्य	नि. सागर यन्त्रालय, बम्बई	ई. १९१८
१३६	त. सा.	तत्त्वार्थसार (प्र. गुच्छक)	अमृतचन्द्र सूरि	"	ई. १९०५
१३७	त. सुखबो.	त. सूत्र सुखबोधा वृत्ति	भास्करनन्दी	ओरियण्टल लायब्रेरी मैसूर	ई. १९४४
१३८	त. सू.	तत्त्वार्थसूत्र (प्र. गुच्छक)	उमास्वामी	निर्णय सागर यन्त्रालय	ई. १९०५
१३९	ति. प.	तिलोयपण्णत्ती (प्र. भाग)	यतिवृषभाचार्य	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. १९४३
१४०	"	" (द्वितीय भाग)	"	"	ई. १९५१
१४१	त्रि. सा.	त्रिलोकसार	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रव.	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बंबई	वी. नि. २४४४
१४२	त्रि. सा. वृ.	त्रिलोकसार टीका	माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव	"	"
१४३	त्रि. श. पु. च.	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (पर्व १, आदीश्वरचरित्र)	हेमचन्द्राचार्य	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १९६१
"	"	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (पर्व २, अजितनाथचरित्र)	"	"	"
"	"	पर्व ३-६ (३-१९ तीर्थंकरों का चरित्र)	"	"	वि. सं. १९६२
"	"	पर्व ७ (जैन रामायण, नमिनाथ आदि का चरित्र)	"	"	वि. सं. १९६३
"	"	पर्व ८, ९ (नेमिनाथ आदि का चरित्र)	"	"	वि. सं. १९६४

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१४३	त्रि. श. पु. च.	त्रिषष्टिश. पर्व १० (महावीर आदि का चरित्र)	हेमचन्द्राचार्य	जैनधर्म प्रसारक सभा (भावनगर)	वि. सं. १९६५
"	"	परिशिष्ट पर्व (स्थविरावली चरित्र)	"	"	वि. सं. १९६८
१४४	दण्डकप्र.	दण्डकप्रकरण	गजसार मुनि	—	—
१४५	दशवै. सू.	दशवैकालिकसूत्र	शय्यम्भव सूरि	जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई	ई. १९१८
१४६	दशवै. नि.	दशवैकालिक निर्युक्ति	भद्रबाहु	"	"
१४७	दशवै. नि. हरि. वृ.	दशवैकालिक वृत्ति	हरिभद्र	"	"
१४८	दशवै. चू.	दशवैकालिक चूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था रतलाम	ई. १९३३
१४९	द्रव्यस.	द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक देव	जैन हितैषी पुस्तकालय बंबई	ई. १९००
१५०	द्रव्यस्व प्र. नयच.	द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र	माइल्लधवल	भारतीय ज्ञानपीठ काशी	ई. १९७१
१५१	द्रव्यानु. त.	द्रव्यानुयोगतर्कणा	भोजकवि	परमश्रुतप्रभावक मंडल बंबई	वी. नि. २४३२
१५२	द्वात्रिं.	द्वात्रिंशतिका (तत्त्वानुशासनादिसंग्रह में)	अमितगतिसूरि	मा. दि. जैनग्रन्थमाला समिति बम्बई	वि. सं. १९७५
१५३	द्वात्रिं. सिद्ध.	द्वात्रिंशिका	सिद्धसेन दिवाकर	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	वि. सं. १९६५
१५४	द्वादशानु.	द्वादशानुप्रेक्षा	कुन्दकुन्दाचार्य	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बंबई	वि. सं. १९८७
१५५	धम्मर.	धम्मरसायण	पद्मनन्दी मुनि	"	वि. सं. १९७९
१५६	धर्मप.	धर्मपरीक्षा	अमितगत्याचार्य	जैन हितैषी पुस्तकालय बंबई	ई. १९०१
१५७	ध. बि.	धर्मबिन्दुप्रकरण	हरिभद्रसूरि	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९२४
१५८	ध. बि. मु. वृ.	धर्मबिन्दु वृत्ति	मुनिचन्द्र सूरि	"	"
१५९	धर्मरत्नप्र.	धर्मरत्नप्रकरण	शान्तिसूरि	—	—
१६०	धर्मश.	धर्मशर्माभ्युदय	कवि हरिचन्द्र	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	ई. १८९९
१६१	धर्मसं.	धर्मसंग्रह (दो भागों मे)	उपाध्याय मानविजय	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९१५, १९१८
१६२	" स्वो. वृ.	धर्मसंग्रह टीका	स्वोपज्ञ (मानविजय)	"	"
१६३	धर्मसं.	धर्मसंग्रहणी	हरिभद्र सूरि	"	ई. १९१६
१६४	" मलय. वृ.	धर्मसंग्रहणी वृत्ति	आ. मलयगिरि	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१६५	धर्मसं श्रा.	धर्मसंग्रह श्रावकाचार	पं. मेधावी	बा. सूरजभान वकील, देववन्द	वी. नि. २४३६
१६६	ध्यानश.	ध्यानशतक (आव. हरि. वृत्ति में पृ. ५८२-६११)	—	आगमोदय समिति, मेहसाना	ई. १९१७
१६७	नन्दी. सू., नन्दी गा.	नन्दीसूत्र	देववाचक गणी	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९१७
१६८	नन्दी. मलय. वृ.	नन्दीसूत्र वृत्ति	आ. मलयगिरि	"	"
१६९	नन्दी. चू.	नन्दीसूत्र चूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	ऋ. के. जैन श्वे. संस्था, रतलाम	ई. १९२८
१७०	नन्दी.हरि.वृ.	नन्दीसूत्र वृत्ति	हरिभद्रसूरि	"	"
१७१	ल. न. च.	नयचक्र	आ. देवसेन	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. सं. १९७७
१७२	नयप्र.	नयप्रदीप	उ. यशोविजय	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	वि. १९६५
१७३	नयर.	नयरहस्य प्रकरण	"	"	"
१७४	नयोप.	नयोपदेश	यशोविजय गणी	आत्मवीर सभा, भावनगर	ई. १९१९
१७५	" स्वो. वृ.	नयोपदेश वृत्ति	"	"	"
१७६	नवत.	नवतत्त्वप्रकरण	—	भीमजी भीमसिंह माणके, बंबई	ई. १९४९
१७७	नंदी. चू.	नंदीसुत्त चुण्णि	जिनदास गणी	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी	ई. १९६६
१७८	नारदाध्ययन	नारदाध्ययन (ऋषिभाषित सूत्र)	—	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम	ई. १९२७
१७९	नि. सा.	नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य	जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बंबई	ई. १९१६
१८०	नि. सा. वृ.	नियमसार वृत्ति	पद्मप्रभ मलधारी देव	"	"
१८१	निर्वाणक.	निर्वाणकलिका	पादलिप्ताचार्य	नथमल कन्हैयालाल, रांका बंबई	ई. १९२६
१८२	निशीथचू.	निशीथचूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	—	—
१८३	नीतिवा.	नीतिवाक्यामृत	सोमदेव सूरि	मा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति, बंबई	वि. १९७९
१८४	नीतिवा. टी.	नीतिवाक्यामृत टीका	—	"	"
१८५	नीतिसा.	नीतिसार	भट्टारक इन्द्रनन्दी	"	वि. सं. १९७५
१८६	न्यायकु.	न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग	प्रभाचन्द्राचार्य	"	ई. १९३८
१८७	"	" द्वितीय भाग	"	"	ई. १९४१

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१८८	न्यायदी.	न्यायदीपिका	अभिनव धर्मभूषण	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली	ई. १९४५
१८९	न्यायवि.	न्यायविनिश्चय	भट्टाकलंकदेव	सिंघी जैनग्रंथमाला, कलकत्ता	ई. १९३९
१९०	न्यायवि. वि.	„ विवरण प्र. भाग	वादिराज सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९४९
१९१	„	„ „ द्वि. भाग	„	„	ई. १९५४
१९२	न्यायाव.	न्यायावतार	सिद्धसेन दिवाकर	श्वे. जैन महासभा, बंबई	वि. सं. १९८५
१९३	न्यायाव. वृ.	न्यायावतार वृत्ति	सिद्धर्षि गणी	„	„
१९४	पउमच.	पउमचरिउ	विमलसूरि	जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा राजनगर	ई. १९१४
१९५	पद्म. पं.	पद्मनन्दि-पंचविंशति	पद्मनन्दी मुनि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. १९६२
१९६	पद्मपु.	पद्मपुराण (भा. १,२, ३)	रविषेणाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५४, १९५९
१९७	परमा.	परमात्मप्रकाश	योगीन्द्रदेव	परमश्रुतप्रभावक मंडल, बंबई	वि. सं. १९९३
१९८	परमा. वृ.	परमात्मप्रकाश वृत्ति	ब्रह्मदेव	„	„
१९९	परीक्षा.	परीक्षामुख (प्र. र. मा. सहित)	माणिक्यनन्द्याचार्य	बालचन्द्र शास्त्री, बनारस	ई. १९२८
२००	पंचव.	पंचवस्तुकग्रन्थ	हरिभद्र सूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९२७
२०१	पंचव. वृ.	पंचवस्तुकवृत्ति	„	„	„
२०२	प्रा. पंचसं.	पंचसंग्रह (प्राकृतवृत्ति, संस्कृतटीका व हि. अनु.)	अज्ञात	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६०
२०३	पंचसं.	पंचसंग्रह	चन्द्रर्षि महत्तर	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९२७
२०४	पंचसं. स्वो. वृ.	पंचसंग्रह वृत्ति	„	„	„
२०५	पंचसं.	पंचसंग्रह (प्र. व द्वि. भाग)	„	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई	ई. १९३८, १९३७
२०६	पंचसं. स्वो. वृ.	पंचसं. वृत्ति	„	„	„
२०७	पंचसं. मलय वृ.	„	आ. मलयगिरि	„	„
२०८	पंचसं. अमित.	पंचसंग्रह (संस्कृत)	आ. अमितगति	मा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई	ई. १९२७
२०९	पंचसू.	पंचसूत्र	अज्ञात	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७०
२१०	पंचसू. वृ.	पंचसूत्र वृत्ति	हरिभद्र सूरि	„	„

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२११	पंचाध्या.	पंचाध्यायी	कवि राजमल्ल	ग. वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी	वी. नि. २४७६
२१२	पंचाश.	पंचाशक (मूल)	हरिभद्र सूरि	जैन श्वे. संस्था, रतलाम	ई. १६२८
२१३	पंचाश. वृ.	पंचाशक टीका	अभयदेव सूरि	—	—
२१४	पंचा. का.	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्दाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	वि. सं. १६७२
२१५	पंचा. का. अमृत. वृ.	पंचास्तिकाय वृत्ति	अमृतचन्द्राचार्य	"	"
२१६	पंचा. का. जय. वृ.	"	जयसेनाचार्य	"	"
२१७	पाक्षिकसू.	पाक्षिक सूत्र	—	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत	ई. १६११
२१८	" वृ.	पाक्षिकसूत्र वृत्ति	यशोदेव	"	"
२१९	पिडनि.	पिण्डनिर्युक्ति	भद्रबाहु (द्वितीय)	"	ई. १६१८
२२०	पिडनि. मलय. वृ.	पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति	मलयगिरि	"	"
२२१	पुरु. च.	पुरुदेव चम्पू	अर्हद्दास	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला	वि. सं. १६८५
२२२	पु. सि.	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	अमृतचन्द्राचार्य	परमश्रुत प्रभावकमण्डल, बम्बई	वी. नि. २४३१
२२३	पू. उपासका.	पूज्यपादउपासकाचार	पूज्यपाद	कल्लप्पा भरमप्पा निटवे नावणीकर कोल्हापुर	ई. १६०४
२२४	सं. प्रकृति. वि. जयति.	प्रकृतिविच्छेद प्रकरण (सं.)	जयतिलक	—	—
२२५	प्रज्ञाप.	प्रज्ञापना	श्यामाचार्य	आगमोदयसमिति मेहसाना	ई. १६१८
२२६	प्रज्ञाप. मलय. वृ.	प्रज्ञापना वृत्ति	मलयगिरि	"	"
२२७	प्रतिष्ठासा.	प्रतिष्ठासारोद्धार	पं. आशाधर	जैन ग्रन्थ उ. कार्यालय बम्बई	वि. सं. १६७४
२२८	प्रत्या. स्व.	प्रत्याख्यानस्वरूप	यशोदेव आचार्य	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. जैन संस्था, रतलाम	ई. १६२७
२२९	प्र. न. त.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	वादिदेवसूरि	यशो. श्वे. जैन पाठशाला, काशी	ई. १६०४
२३०	प्रमाणनि.	प्रमाणनिर्णय	वादिराजसूरि	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. सं. १६७४
२३१	प्रमाणप. पृ.	प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द स्वामी	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था काशी	ई. १६१४
२३२	प्रमाणमी., प्र. मी.	प्रमाणमीमांसा (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित)	श्री हेमचन्द्राचार्य	सिंघी ग्रंथमाला, कलकत्ता	ई. १६३६

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२३३	प्रमाणसं.	प्रमाणसंग्रह	अकलंकदेव	सिंघी ग्रंथमाला, कलकत्ता	ई. १९३९
२३४	प्रमाल.	प्रमालक्षण	—	मनसुखभाई, भगुभाई, अहमदाबाद	—
२३५	प्र. क. मा.	प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्राचार्य	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९४१
२३६	प्र. र. मा.	प्रमेयरत्नमाला	अनन्तवीर्य आचार्य	बालचन्द्र शास्त्री, बनारस	ई. १९२८
२३७	प्रव. सा.	प्रवचनसार	कुन्दकुन्दाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	वि. सं. १९६९
२३८	प्रव. सा. अमृत. वृ.	प्रवचनसार वृत्ति	अमृतचन्द्राचार्य	"	"
२३९	प्रव. सा. जय. वृ.	"	जयसेनाचार्य	"	"
२४०	प्रव. सारो.	प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्र सूरि	जीवनचन्द साकरचन्द जव्हेरी, बंबई	ई. १९२६
२४१	प्र. सारो. वृ.	प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	सिद्धसेनसूरि	"	"
२४२	प्रशमर.	प्रशमरतिप्रकरण	उमास्वाति आचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	ई. १९५०
२४३	प्रश्नव्या.	प्रश्नव्याकरणांग	—	—	—
२४४	प्रश्नो. मा.	प्रश्नोत्तररत्नमालिका	राजर्षि अमोघवर्ष	जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई	ई. १९०८
२४५	प्रायश्चित्तचू.	प्रायश्चित्तचूलिका	गुरुदास	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७८
२४६	प्रायश्चित्त चू. वृ.	—	—	—	—
२४७	बन्धस्वा.	बन्धस्वामित्व (तृतीय कर्मग्रन्थ)	—	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७२
२४८	बन्धस्वा. वृ.	बन्धस्वामित्व वृत्ति	हरिभद्र सूरि	"	"
२४९	बन्धस्वा.	बन्धस्वामित्व (तृतीय कर्मग्रन्थ)	देवेन्द्रसूरि	"	ई. १९३४
२५०	बुद्धिसा.	बुद्धिसागर	संग्रामसिंह	ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम	ई. १९३६
२५१	बृहत्क.	बृहत्कल्पसूत्र, निर्युक्ति व भाष्यसहित (छह भाग)	आ. भद्रबाहु	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	ई. १९३३-४२
२५२	बृहत्क. वृ.	बृहत्कल्पसूत्रवृत्ति	मलयगिरि-क्षेमकीर्ति	"	"
२५३	बृहत्स.	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	अनन्तकीर्ति	मा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति बम्बई	ई. १९७२
२५४	बृ. द्रव्यसं.	बृहद्द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेव	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	वी. नि. २४३३

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२५५	बृ. द्रव्यसं. टीका	बृहद्‌द्रव्यसंग्रह टीका	ब्रह्मदेव	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	वी. नि. २४३३
२५६	बोधप्रा.	बोधप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	मा.दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. स. १९७७
२५७	बोधप्रा. टी.	" टीका	भ. श्रुतसागर	"	"
२५८	भक्ता.	भक्तामर	मानतुङ्गाचार्य	वीरेन्द्रकुमार देवकुमार जैन, बम्बई	ई. १९६०
२५९	भ. आ.	भगवती-आराधना	शिवकोटि आचार्य	बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा	ई. १९३५
२६०	भ. आ. विजयो.	" टीका	अपराजित सूरि	"	"
२६१	भ. आ. मूला.	" "	पं. आशाधर	"	"
२६२	भ.आ. अमित.	भगवती आराधना अमितगति की पद्यमय टीका	आ. अमितगति	"	"
२६३	भगवती.	भगवतीसूत्र (भाषानुवाद)	—	सु. ज्वा. जौहरी व. हैदराबाद	—
२६४	भगवती.	भगवतीसूत्र (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) प्रथम खण्ड श. १-२.	—	जिनागम प्र. सभा अहमदाबाद	वि. सं. १९७४
२६५	भगव. वृ.	" टीका	अभयदेव सूरि	"	"
२६६	भगव.	भगवतीसूत्र सटीक (व्याख्याप्रज्ञप्ति तृ. खण्ड ७-१५ श.)	—	नरहरिद्वारकादासपारेख महामात्य गुजरात वि., अहमदाबाद	वि. सं. १९८५
२६७	भगव.	भगवतीसूत्र सटीक (व्याख्याप्रज्ञप्ति चतु. खण्ड १६-४१ श.)	—	गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन सा. प्र. ट्र. अहमदाबाद	वि. स. १९८८
२६८	भगव. सू. वृ.	भगवती सूत्र वृत्ति	दानशेखर सूरि	—	—
२६९	भावत्रि.	भावत्रिभंगी	श्रुतमुनि	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बंबई	वि. सं. १९७८
२७०	भावप्रा.	भावप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	"	वि. सं. १९७७
२७१	प्रा. भावसं. दे.	भावसंग्रह (प्राकृत)	देवसेन सूरि	"	वि. सं. १९७८
२७२	भावसं. वाम.	" (संस्कृत)	वामदेव सूरि	"	"
२७३	भाषार.	भाषारहस्य	यशोविजयगणी	मनुभाई भगुभाई, अहमदाबाद	—
२७४	म. पु.	महापुराण (भा. १, २)	जिनसेनाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५१
२७५	"	महापुराण (उत्तर पुराण)	गुणभद्राचार्य	"	ई. १९५४
२७६	म. पु. पुष्प.	महापुराण प्रथम खण्ड (१-३७ प.)	महाकवि पुष्पदन्त	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	ई. १९३७

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२७७	म. पु. पुष्प.	महापुराण द्वितीय खण्ड (३८-८० प.)	महाकवि पुष्पदन्त	मा. दि. जैनग्रन्थमाला, बम्बई	ई. १६४०
२७८	"	महापुराण तृतीय खण्ड (८१-१०२ प.)	"	"	ई. १६४१
२७९	मूला.	मूलाचार (प्र. भा. १-७ अधिकार)	वट्टकेराचार्य	"	वि. सं. १९७७
२८०	मूला. वृ.	मूलाचार वृत्ति	वसुनन्द्याचार्य	"	"
२८१	मूला.	मूलाचार (द्वि. भा. ८-१२ अधिकार)	वट्टकेराचार्य	"	वि. सं. १९८०
२८२	मूला. वृ.	मूलाचार वृत्ति	वसुनन्द्याचार्य	"	"
२८३	मोक्षपं.	मोक्षपंचाशिका	—	"	वि. सं. १९७५
२८४	मोक्षप्रा.	मोक्षप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	"	वि. सं. १९७७
२८५	मोक्षप्रा. श्रुत. वृ.	मोक्षप्राभृत वृत्ति	भ. श्रुतसागर	"	"
२८६	यतिधर्मवि.	यतिधर्मविंशिका	हरिभद्र सूरि	—	—
२८७	यशस्ति.	यशस्तिलक (पूर्व खण्ड १-३ आश्वास)	सोमदेव सूरि	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १६०१
२८८	यशस्ति. वृ.	यशस्तिलक वृत्ति	भट्टारक श्रुतसागर	"	"
२८९	यशस्ति.	यशस्तिलक (उत्तर खण्ड)	सोमदेव सूरि	"	ई. १६०३
२९०	युक्त्यनु.	युक्त्यनुशासन	समन्तभद्राचार्य	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. सं. १९७७
२९१	युक्त्यनु.टी.	युक्त्यनुशासन टीका	विद्यानन्दाचार्य	"	"
२९२	योगदृ., योगबि.	योगदृष्टिसमुच्चय व योगबिन्दु (स्वो. वृत्ति सहित)	हरिभद्र सूरि	जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अहमदाबाद	ई. १६४०
२९३	योगविं.	योगविंशिका	"	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रभावक मंडल, आगरा	ई. १९२२
२९४	"	योगविंशिका व्याख्या	यशोविजय गणी	"	"
२९५	योगशा.	योगशास्त्र १-३ प्र. (तृ. प्रकाशके १२० श्लो. तक)	हेमचन्द्राचार्य	—	—
२९६	योगशा.स्वो. विव.	योगशास्त्रविवरण	"	—	—
२९७	योगशा.	योगशास्त्र	"	जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर	ई. १९२६
२९८	योगशा.स्वो. विव.	योगशास्त्र विवरण	"	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२९९	योगशा.	योगशास्त्र (गुजराती भाषान्तर सहित)	हेमचन्द्राचार्य	श्रीभीमसिंह माणेक बम्बई	ई. १८९९
३००	योगसारप्रा.	योगसार-प्राभृत	अमितगति प्रथम	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६८
३०१	प्रा. योगिभ.	प्रा. योगिभक्ति (क्रियाक.)	कुन्दकुन्दाचार्य	संपा. पं. पन्नालालजी सोनी	वि. सं. १९९३
३०२	"	सं. योगिभक्ति "	आ. पूज्यपाद	"	"
३०३	रत्नक.	रत्नकरण्डश्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बंबई	वि. सं. १९८२
३०४	रत्नक. टी.	" टीका	प्रभाचन्द्राचार्य	"	"
३०५	रत्नाकरा.	रत्नाकरावतारिका	श्रीरत्नप्रभाचार्य	श्रेष्ठि हर्षचन्द्र भूराभाई, वाराणसी	वी. नि. २४३७
३०६	रायप.	रायपसेणी	—	Khadayata Book Depott Ahmedabad	—
३०७	लघीय.	लघीयस्त्रय	भट्टाकलंकदेव	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७२
३०८	लघीय. अभय.	लघीयस्त्रय वृत्ति	अभयचन्द्र	"	"
३०९	लघुस.	लघुसर्वज्ञसिद्धि	अनन्तकीर्ति	"	"
३१०	लब्धिसा.	लब्धिसार (क्षपणासार-गर्भित)	नेमिचन्द्राचार्य सि.च.	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	ई. १९१६
३११	ललितवि.	ललितविस्तरा	हरिभद्र सूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९१५
३१२	ललितवि.मु.	ललितविस्तरा पंजिका	मुनिचन्द्र	"	"
३१३	लाटीसं.	लाटीसंहिता	राजमल्ल कवि	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. सं. १९८४
३१४	लोकप्र.	लोकप्रकाश (भा. १,२,३)	विनयविजय गणी	द. ला. जैन पुस्तकोद्धारफण्ड, बम्बई	ई. १९२६,२८, १९३२
३१५	वरांगच.	वरांगचरित्र	जटासिंहनन्दी	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वी. नि. २४६५
३१६	वसु. श्रा.	वसुनन्दिश्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५२
३१७	वाग्भ.	वाग्भटालंकार	वाग्भट कवि	नि. सागर यन्त्रालय, बम्बई	ई. १८९५
३१८	विचारस.	विचारसप्ततिका	महेन्द्रसूरि	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९६९
३१९	विचा. स. वृ.	विचारसप्ततिका वृत्ति	विनयकुशल	"	"
३२०	विपाक.	विपाकसूत्र	—	गुर्जर ग्रन्थरत्न-कार्यालय, अहमदाबाद	ई. १९३५
३२१	विपाक. अभय. वृ.	विपाकसूत्रवृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३२२	भगवती., व्याख्याप्र.	विवाहप्रज्ञप्तिसूत्र (हिन्दी अनुवाद सहित)	—	ला. सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी, द. हैदराबाद	—
३२३	विवेकवि.	विवेकविलास	जिनदत्तसूरि	परी. बालाभाई रामचन्द्र अहमदाबाद	वि. सं. १६५४
३२४	विशेषा.	विशेषावश्यक भाष्य (भा. १, २)	जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. जैन संस्था, रतलाम	ई. १६३६, १६३७
३२५	विशेषा. को. वृ.	विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति	कोटयार्य	"	"
३२६	व्यव. भा.	व्यवहारसूत्र भाष्य पीठिका (सटीक)	—	—	—
"	मलय. वृ.	"	आ. मलयगिरि	—	—
"	"	" पी. द्वितीय. वि. (अपूर्ण पृ. १-२८, गा. १-६१)	—	—	—
"	"	" तृ. उद्देश (अपूर्ण, पी.च.वि.पृ. १-३७, गा. १-१७६)	—	—	—
"	"	" द्वितीय उ. (च. विभाग)	—	वकील केशवलाल प्रेमचंद अहमदाबाद	—
"	"	" चतुर्थ उद्देश	—	वकील त्रिकमलाल उगरचन्द्र अमदावाद	ई. १६२८
"	"	" पंचम उ.	—	"	"
"	"	" षष्ठ उ.	—	—	—
"	"	" सप्तम उ.	—	व. केशवलाल प्रेमचंद अमदा.	—
"	"	" अष्टम उ.	—	"	—
"	"	" नवम उ.	—	व. त्रिकमलाल उगरचन्द्र	ई. १६२८
"	"	" दशम उ.	—	"	—
३२७	शतक. दे.	शतक (पंचम कर्मग्रन्थ)	देवेन्द्रसूरि	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	ई. १६४१
३२८	" स्वो. वृ.	शतक वृत्ति	"	"	"
३२९	शतक.	शतकप्रकरण	शिवशर्म सूरि	वीरसमाज, राजनगर	ई. १६२३
३३०	शतक. मल. हे. वृ.	शतकप्रकरण वृत्ति	मलधारीय हेमचन्द्र	"	"
३३१	शतक. चू.	शतकप्रकरण चूर्णि	—	—	—
३३२	शास्त्रवा.	शास्त्रवार्तासमुच्चय	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १६६४
३३३	श्राद्धगु.	श्राद्धगुणविवरण	महोपाध्याय जिनमण्डन गणी	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १६७०
३३४	श्रा. प्र. विं.	श्राद्धप्रतिमाविंशिका	हरिभद्रसूरि	—	—
३३५	श्रा. प्र.	श्रावकप्रज्ञप्ति	"	ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई	वि. सं. १६६१
३३६	श्रा. प्र. टी.	श्रावकप्रज्ञप्ति टीका	"	"	"
३३७	बृ. श्रुतभ.	बृहत् संस्कृत श्रुतभक्ति (क्रियाक.)	आ. पूज्यपाद	संपा. पं. पन्नालालजी सोनी	वि. सं. १६६३
३३८	श्रुत.	श्रुतस्कन्ध	ब्रह्महेमचन्द्र	मा. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	" १६७५
३३९	षट्खं.	षट्खण्डागम (भा. १-१६)	श्रीभगवत् पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य	जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती	ई. १६३६ से १६५८

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३४०	षव. पु.	षट्खण्डागम टीका (धवला)	वीरसेनाचार्य	जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती	ई. १६३६ से १६५८
३४१	षडशी.	षडशीति च. कर्मग्रन्थ	जिनवल्लभगणि	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १६७२
३४२	षडशी.हरि.वृ.	षडशीति वृत्ति	हरिभद्र	"	"
३४३	षडशी.मलय. वृ.	"	मलयगिरि	"	"
३४४	षडशी. दे.	षडशीति (चतुर्थ क.ग्र.)	देवेन्द्रसूरि	"	ई. १६३४
३४५	" स्वो. वृ.	षडशीति वृत्ति	"	"	"
३४६	षड्द. स.	षड्दर्शनसमुच्चय	हरिभद्रसूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	वि. १६६४
३४७	षष्ठ. क.	षष्ठ कर्मग्रन्थ (सप्ततिका)	चन्द्रर्षि महत्तर	"	वि. सं. १६६८
३४८	षष्ठ.क.मलय. वृ.	" वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३४९	षोडश.	षोडशकप्रकरण	हरिभद्र सूरि	जैन श्वे. संस्था, रत्नपुर	वि. सं. १६६२
३५०	षोडश. वृ.	" वृत्ति	यशोभद्रसूरि	"	"
३५१	सन्मति.	सन्मतितर्कप्रकरण (१, २, ३, ४, ५ विभाग)	सिद्धसेन दिवाकर	गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर अहमदाबाद	सं. १६८०-८७
३५२	सन्मति. वृ.	सन्मतितर्कप्रकरण टीका	अभयदेव सूरि	"	"
३५३	सप्तति.	सप्ततिकाप्रकरण	चन्द्रर्षि महत्तर	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	ई. १६४०
३५४	सप्तति. मलय. वृ.	" वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३५५	सप्तभ.	सप्तभंगीतरंगिणी	विमलदास	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	वी. नि. २४३१
३५६	समयप्रा.	समयप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	भा. जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, काशी	ई. १६१५
३५७	समयप्रा. अमृत. वृ.	समयप्राभृत वृत्ति	अमृतचन्द्र सूरि	"	"
३५८	समयप्रा. जय. वृ.	" वृत्ति	आ. जयसेन	"	"
३५९	समय. क.	समयसारकलश (प्रथम गुच्छक)	अमृतचन्द्र सूरि	निर्णय सागर यन्त्रालय बम्बई	ई. १६०५
३६०	समवा.	समवायांग सूत्र	—	झवेरचन्द ठे. भट्टीनीबारी, अहमदाबाद	ई. १६३८
३६१	समवा.अभ. वृ.	" वृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"
३६२	समाधि.	समाधितन्त्र	पूज्यपाद	वीरसेवामन्दिर, सरसावा	ई. १६३६
३६३	समाधि.टी.	समाधितन्त्र टीका	प्रभाचन्द्राचार्य	"	"
३६४	सम्बो. स.	सम्बोधसप्ततिः	रत्नशेखर सूरि	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	वि. १६७२
३६५	सम्बो.स.टी.	" टीका	गुणविनयवाचक	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३६६	स. सि.	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५५
३६७	संग्रहणी.	संग्रहणीसूत्र	श्रीचन्द्र सूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९१५
३६८	" दे. वृ.	संग्रहणी वृत्ति	देवभद्र मनीश	"	"
३६९	सा. ध.	सागारधर्मामृत	पं. आशाधर	मा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति, बंबई	वि. सं. १९७२
३७०	" स्वो.टी.	" टीका	"	"	"
३७१	सावयध.	सावयधम्मदोहा	देवसेन (?)	कारंजा सीरीज, कारंजा	ई १९३२
३७२	सिद्धप्रा.	सिद्धप्राभृत	—	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	ई. १९२१
३७३	सिद्धिवि.	सिद्धिविनिश्चय (भा. १-२)	अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५९
३७४	" वृ.	सिद्धिविनिश्चय वृत्ति	अनन्तवीर्य	"	"
३७५	सुभा. सं.	सुभाषितरत्नसंदोह	अमितगत्याचार्य	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९०३
३७६	सूत्रकृ.	सूत्रकृताङ्ग (प्रथम व द्वि. विभाग)	—	श्री गोडी जी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढो, बंबई	ई. १९०५, १९५३
३७७	" नि.	" निर्युक्ति	भद्रबाहु	"	"
३७८	" शी.वृ.	" वृत्ति	शीलांकाचार्य	"	"
३७९	सूर्यप्र.	सूर्यप्रज्ञप्ति	—	आगमोदयसमिति मेहसाना	ई. १९१९
३८०	" मलय. वृ.	" वृत्ति	मलयगिरि	"	"
३८१	स्थाना.	स्थानाङ्गसूत्र	—	सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल व कान्तिलाल चुन्नीलाल अह्.बा.	ई. १९३७
३८२	" अभय. वृ.	" वृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"
३८३	स्या. मं.	स्याद्वाद मंजरी	हेमचन्द्र सूरि	परमश्रुत प्रभावकमण्डल, बम्बई	ई. १९३५
३८४	स्या. र.वृ.	स्याद्वादरत्नाकर प्र. परि.	वादिदेव सूरि	मोतीलाल लाधा जी, पूना	वी. नि. २४५३
३८५	"	" द्वि., च. व पं.परि.	"	"	" २४५४-५७
३८६	स्वयंभू.	स्वयम्भूस्तोत्र	समन्तभद्राचार्य	दोशी सखाराम नेमिचन्द, सोलापुर	—
३८७	स्वयंभू. वृ.	"	प्रभाचन्द्राचार्य	"	—
३८८	स्वरूपसं.	स्वरूपसंबोधन (लघीय.)	अकलंक देव	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. सं. १९७२
३८९	"	स्वरूपसंवेदन	"	प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन सर्राफ, दिल्ली	—
३९०	ह. पु.	हरिवंशपुराण	जिनसेनाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६२

ग्रन्थकारानुक्रमणिका

ग्रन्थकारों में अधिकांश का समय अनिश्चित है। यहाँ उसका निर्देश अनुमान के आधार पर किया जा रहा है—

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
१	अकलंकदेव	८-९वीं शती (ई. ७२०-७८०)
२	अजितसेन	१४वीं शती
३	अनन्तकीर्ति	१०-११वीं शती
४	अनन्तवीर्य (सिद्धिवि. के टीकाकार)	११वीं शती
५	अनन्तवीर्य (प्र.र.मा.)	११-१२वीं शती
६	अपराजित सूरि	९वीं शती
७	अभयचन्द्र (लघीय.टी.)	१३-१४वीं शती
८	अभयचन्द्र (मन्दप्र.)	१३-१४वीं शती (ई. १२७९ में स्वर्गवास)
९	अभयदेव सूरि (सन्मति. टीका)	१०-११वीं शती
१०	अभयदेव सूरि (आगमों के टीकाकार)	१२वीं शती
११	अमितगति (प्रथम)	१०-११वीं शती
१२	अमितगति (द्वितीय)	११वीं शती (१०५० में सु. र. सं. और १०७० में ध. प. रची)
१३	अमृतचन्द्र सूरि	१०वीं शती
१४	अमोघवर्ष (प्रथम)	९वीं शती (जिनसेन के समकालीन)
१५	आर्यरक्षित स्थविर	वि. की २री शती
१६	आशाधर	१३वीं शती (ई. ११८८ से १२५०)
१७	इन्द्रनन्दी (छेदपिण्ड)	१०वीं शती
१८	इन्द्रनन्दी (नीतिसार)	१३वीं शती
१९	उमास्वाति	२-३री शती
२०	कुन्दकुन्दाचार्य	प्रथम भाग
२१	कुमारकवि (आ. प्र.)	१४५० के लगभग
२२	कोटयाचार्य	सम्भवतः हरिभद्र के पूर्ववर्ती
२३	कोटयार्य	जिनभद्र के बाद व हरिभद्र के पूर्ववर्ती
२४	क्षेमकीर्ति (बृहत्क. के टीकाकार	१३-१४वीं शती (वि. सं. १३३२ में टीका समाप्त)
२५	गजसार मुनि	१६वीं शती
२६	गर्गर्षि	सम्भवतः १०वीं शती
२७	गुणधराचार्य	प्रथम शती
२८	गुणभद्र	९-१०वीं शती
२९	गुणभूषण	१५वीं शती
३०	गुणरत्न सूरि	१५वीं शती (१४५९)
३१	गुणविनय	—
३२	गुरुदास	—
३३	गोविन्द गणि	१३वीं शती (सम्भवतः १२८८ के पूर्व)
३४	चक्रेश्वराचार्य	११९७ में शतक का भाष्य पूर्ण किया)
३५	चन्द्रर्षि महत्तर	सम्भवतः १०वीं शती
३६	चामुण्डराय	११वीं शती

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
३७	जटासिंह नन्दी	८वीं शती
३८	जयतिलक	१५वीं शती का प्रारम्भ
३९	जयसेन	१२वीं शती
४०	जिनदत्तसूरि (विवेकवि.)	१३वीं शती उदयसिंह के के राज्य में ई. १२३१)
४१	जिनदास गणि महत्तर	६५०-७५० (जिनभद्र के पश्चात् व हरिभद्र के पूर्व)
४२	जिनभद्र क्षमाश्रमण (भाष्यकार)	७वीं शती (६००-६६० के के पूर्व)
४३	जिनमण्डन सूरि	१५वीं शती (१४९६)
४४	जिनवल्लभ गणि	१२वीं शती
४५	जिनसेन (हरि. पु.)	९वीं शती (शक सं. ७०५)
४६	जिनसेन (महापुराण)	९वीं शती (शकसं. ७०० से ७६०)
४७	जिनेश्वर सूरि	—
४८	दानशेखर	अज्ञात
४९	देवगुप्त सूरि	११वीं शती (१०७३)
५०	देवनन्दी (पूज्यपाद)	५-६वीं शती
५१	देवभद्र सूरि	१३वीं शती (श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य)
५२	देवर्द्धिगणी	५वीं शती (इन्होंने वी. नि. ९८० के पश्चात् श्रुत का संकलन किया)
५३	देववाचक गणि	छठी शताब्दी (५२३ के पूर्व)
५४	देवसेन	१०वीं शती (९९० में दर्शन-सार रचा)
५५	देवेन्द्रसूरि	१३-१४वीं शती (वि. सं. १३२७ में स्वर्गवास)
५६	द्रोणाचार्य	११-१२वीं शती
५७	धर्मदास गणि	९१३ के पूर्व
५८	धर्मभूषण यति	१४-१५वीं शती
५९	नेमिचन्द्र सिद्धान्तच. (गोम्मटसार)	११वीं शती

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
६०	नेमिचन्द्र (द्रव्यसं.)	११-१२वीं शती
६१	नेमिचन्द्र (गो. के टीकाकार)	१६वीं शती
६२	नेमिचन्द्र (देवेन्द्रगणी) (उत्तरा. टी.)	१२वीं शती (वि. ११२९ में टीका समाप्त की)
६३	नेमिचन्द्र (प्रव. सारो.)	१२वीं शती (आम्रदेव के शिष्य और जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य)
६४	पद्मनन्दी (धम्मरसा.)	अज्ञात
६५	पद्मनन्दी (जम्बूद्वीप.)	सम्भवतः ११वीं शती
६६	पद्मनन्दी (पद्म. पञ्च.)	१२वीं शती
६७	पद्मप्रभ मलधारी	१३वीं शती (१२४२)
६८	पद्मसिंह मुनि	११वीं शती (१०८६)
६९	परमानन्द सूरि	१२-१३वीं शती
७०	पादलिप्त सूरि	अज्ञात
७१	पुष्पदन्त	प्रथम शती
७२	पुष्पदन्त कवि	१०वीं शती
७३	पूज्यपाद (उपा.)	१६वीं शती
७४	प्रभाचन्द्र (प्र. क. मा.)	११वीं शती (ई. ९८० से १०६५)
७५	प्रभाचन्द्र (र. क. आदि के टीकाकार	१३वीं शती (आशाधर के पूर्व)
७६	प्रभाचन्द्र (श्रुतभ. टीका)	अज्ञात
७७	ब्रह्मदेव	११-१२वीं शती
७८	ब्रह्म-हेमचन्द्र (श्रुतस्कन्ध के कर्ता)	सम्भवतः १२-१३वीं शती
७९	भद्रबाहु (द्वितीय)	छठी शती (वराहमिहिर के सहोदर)
८०	भास्करनन्दी	१३-१४वीं शती
८१	भूतबलि	प्रथम शती
८२	भोजकवि	१८वीं शती (१७८५ से १८०९)

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
८३	मलधारीय हेमचन्द्र	१२वीं शती
८४	मलयगिरि	१२-१३वीं शती (हेमचन्द्र सूरि के समकालीन)
८५	महावीराचार्य	९-१०वीं शती
८६	महासेन (स्व. सं.)	९वीं शती
८७	महेन्द्रसूरि	१३वीं शती
८८	माइल्लधवल	१२-१३वीं शती
८९	माणिक्यनन्दी	११-१२वीं शती (९९३ से १०५३ ई.)
९०	मानतुंगाचार्य	छठी शती
९१	माधवचन्द्र त्रैविद्य	१३वीं शती
९२	मानविजय महोपाध्याय	१८वीं शती
९३	मुनिचन्द्र (उ.प.टी.)	१२वी शती (११७४ में उप. प., व ११८१ में धर्मबिन्दु की टीका रची)
९४	मुनिचन्द्र (ललितवि. पंजिका)	१२वीं शती (११६८ से ११७६)
९५	मेधावी	१६वीं शती (१५४१)
९६	यतिवृषभ	छठी शती
९७	यशोदेव (प्रत्या. स्व.)	१२वीं शती
९८	यशोभद्र (षोड. वृ.)	१२वीं शती (११८२)
९९	यशोविजय	१८वीं शती
१००	योगीन्दुदेव	७वीं शती (ई. छठी श.)
१०१	रत्नकीर्ति (आरा. सा. टीका)	१५वीं शती
१०२	रत्नप्रभ	१२-१३वीं शती
१०३	रत्नशेखर सूरि	१५वीं शती (१४४८, वज्रसेन सूरि के शिष्य)
१०४	रविषेण	७-८वीं शती
१०५	राजमल	१७वीं शती (१६३५)
१०६	रामसेन	१०वीं शती
१०७	रूपचन्द्र मुनि	१७वीं शती
१०८	वट्टकेराचार्य	१-२री शती
१०९	वर्धमानसूरि (आ.दि.)	१५वीं शती
११०	वसुनन्दी	१२वीं शती
१११	वाग्भट	१२वीं शती
११२	वादिदेव सूरि	१२वीं शती (ई. १०८६ से ११३०)
११३	वादिराज	११वीं शती
११४	वादीभसिंह	११वीं शती
११५	वामदेव	१५वीं शती का पूर्वार्ध
११६	विद्यानन्द	९वीं शती (ई. ७७५-८४०)
११७	विनयकुशल सूरि	१७वीं शती (१६९६)
११८	विमलदास	प्लवग संवत्सर वैशाख शुक्ल ८, बृहस्पतिवार
११९	विमलसूरि	प्रथम शती
१२०	वीरनन्दी (चन्द्रप्र.)	११वीं शती (नेमिचन्द्र सि. च. के गुरुभाई)
१२१	वीरनन्दी (आ.सा.)	१२-१३वीं शती
१२२	वीरसेन	९वीं शती (शकसं. ७१७ से ७४५)
१२३	शय्यम्भव सूरि	जम्बूस्वामी के बाद प्रभव और तत्पश्चात् शय्यम्भव हुए
१२४	शान्तिचन्द्र गणि (जं. द्वी. प्र. के टीकाकार)	१७वीं शती (सं. १६६० में टीका पूरी की)
१२५	शान्तिसूरि (वादिवेताल)	११वीं शती (वि. सं. १०९६ में स्वर्गवासी हुए)
१२६	शिवशर्म	सम्भवतः वि. की ५वीं शती
१२७	शिवार्य	२-३री शती
१२८	शीलांकाचार्य	९-१०वीं शती
१२९	शुभचन्द्र (ज्ञाना.)	संभवतः ११वीं शती

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
१३०	शुभचन्द्र (कार्ति. टी.)	१६-१७वीं शती (१५७३ से १६१३)
१३१	श्यामार्य वाचक	विक्रम पूर्व १३५-९४ (वी. नि. ३३५-३७६ के पश्चात्)
१३२	श्रीचन्द्रसूरि	१२-१३वीं शती (जीतक. विषम पदव्याख्या सं. १२२७ में पूर्ण की)
१३३	श्रुतमुनि (भावत्रि.)	१४वीं शती (१३९८)
१३४	श्रुतसागर	१६वीं शती
१३५	समन्तभद्र	२री शती
१३६	समयसुन्दर गणी	—
१३७	संघदास गणि	७वीं शती (जिनभद्र के पूर्ववर्ती)
१३८	सिद्धर्षि गणि (न्यायाव. वृ.)	११वीं शती
१३९	सिद्धसेन दिवाकर (सम्मति)	६-७वीं शती
१४०	सिद्धसेनसूरि (न्यायाव.)	७-८वीं शती
१४१	सिद्धसेन गणि	९वीं शती
१४२	सिद्धसेन सूरि (जी. क. चूर्णि)	१२२७ के पूर्व
१४३	सिद्धसेन सूरि (प्र. सारो. टीका)	१३वीं शती (१२४८ या १२७८)
१४४	सोमदेव सूरि	११वीं शती
१४५	स्वामिकुमार	सम्भवतः ११वीं शती
१४६	हरिचन्द्र	१३वीं शती
१४७	हरिभद्र सूरि	८-९वीं शती (ई. ७०० से ७७०)
१४८	हरिभद्रसूरि (षड. वृ.)	१२वीं शती
१४९	हेमचन्द्रसूरि (कलिकाल सर्वज्ञ)	११४५-१२३० (ई. १०८८-११७३)
१५०	हेमचन्द्रसूरि (मलधारीय)	१२वीं शती (अभयदेव के पश्चात्)
१५१	हेमचन्द्र देशयति	—